संस्कृत साहित्य का इतिहास

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
२८

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्राक्कथन
डॉ० बहादुरचन्द छाबड़ा
जॉइंट डाइरेक्टर जनरल, आर्कियोलॉजी, भारत सरकार

लेखक
वाचस्पति गैरोला
अध्यक्ष : पाण्डुलिपि-विभाग, हिन्दी संग्रहालय,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

महामना

पं० मदनमोहन मालवीय

की

पुण्य स्मृति में

प्राक्कथन

बड़ी खुशी की बात है कि संस्कृत का आज पुनरभ्युदय हो रहा है। चक्रनेमिक्रमेण इसकी दशा पुनः ऊपर को उठ रही है। राष्ट्र की इस अप्रमेय एवं अक्षय्य निधि का विराट् रूप शनैः-शनैः जनता के सामने आ रहा है। लोग इसके गौरव को फिर से पहचानने लगे हैं। इसके प्रति उपेक्षा एवं अवहेलना के भाव दूर होते जा रहे हैं, और उनके स्थान पर श्रद्धा एवं अभिरुचि की भावनाओं का उन्मेष हो रहा है। किं बहुना, इसकी मांग दिनोंदिन बढ़ रही है।

संस्कृत आज भारत भर में कामधेनु बनी हुई है। प्रत्येक प्रादेशिक भाषा स्वच्छन्दता से इसका संदोहन कर अपने आपको सुतरां सम्पन्न, समृद्ध एवं संवर्धित कर रही है। विकासशील विज्ञान एवं आधुनिक जीवन के विविध व्यवसाय उद्योग, कला-कौशल आदि के क्षेत्रों में अभीष्ट पारिभाषिक शब्दों के लिए प्रादेशिक भाषाओं को, सिवाय संस्कृत की शरण जाने के और कोई चारा नहीं। किंच, संस्कृत के होते हुए उन्हें और किसी का मुँह ताकने की आवश्यकता भी नहीं।

इधर स्वतन्त्रताप्राप्ति के अनन्तर लोगों में अपने गौरवमय अतीत को जानने की उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। दूसरे देशों की देखा-देखी भारतवासी भी अपने पूर्वजों के चरित्र एवं अपनी पुरानी संस्कृति के विषय में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए सब प्रकार से प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। प्राचीन भारत में कला और विज्ञान की समुन्नत दशा के प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप देश भर में विद्यमान मूर्ति-चित्र-स्तम्भ-मन्दिर-स्तूप-

विहार-दुर्ग-प्रासाद आदिक पुरातत्त्वसंबन्धी आश्चर्यजनक विविध प्रत्न वस्तुओं और प्रत्न केतनों को देख-देख कर लोगों के मन में स्वभावतः उनके पूरे-पूरे इतिहास को जानने की अभिलाषा उत्पन्न होती है; और इस अभिलाषा की तृप्ति केवल संस्कृत-साहित्य से ही संभव है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारत का समूचा इतिहास—क्या धार्मिक और क्या सांस्कृतिक, क्या सामाजिक और क्या राजनीतिक—संस्कृत-वाङ्मय में ही संनिहित है।

कहने का अभिप्राय यह है कि आज प्रत्येक भारतवासी के लिए, विशेष कर भावी संतान के लिए, संस्कृत भाषा का ज्ञान तथा तद्गत विशाल साहित्य का परिचय (एवं परिशीलन) दोनों ही अत्यावश्यक हैं। संस्कृत भाषा सीखने के लिए जहाँ विविध उपाय और ग्रन्थ रचे गये हैं और रचे जा रहे हैं वहाँ संस्कृत-साहित्य का परिचय कराने वाले प्रकाशन हिन्दी में इने-गिने ही हैं। इस दृष्टि से पण्डित वाचस्पति गैरोला कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक यह ग्रंथ हिन्दी जगत् में एक बड़े अभाव की पूर्ति करेगा। यद्यपि इस विषय पर हिन्दी में दो-चार अच्छी पुस्तकें—मूल अथवा अनुवाद रूप में—विद्यमान हैं, तो भी प्रस्तुत ग्रंथ अधिक व्यापक और गवेषणापूर्ण प्रतीत होता है। लेखक की भाषा संस्कृतमयी अवश्य है, परन्तु वह सरल, सुबोध, प्राञ्जल तथा अनुकरणीय है। विषय के प्रतिपादन में लेखक ने स्थान-स्थान पर अन्यान्य—भारतीय तथा विदेशीय—विद्वानों के मतों की सूक्ष्म समीक्षा करते हुए अपने मत की स्थापना बड़ी गंभीरता से तथा युक्तिप्रमाणपूर्वक की है। ग्रंथ के आरम्भ में लेखक ने 'मनुष्य की जन्मभूमि', 'आर्यों का आदि देश', 'आर्य भाषाओं का उद्गम और विकास' जैसे सामान्य विषयों का तर्क पूर्ण सिंहावलोकन किया है, जो कालसंपूजित अमर संस्कृत-साहित्य के इतिहास की उपयुक्त पृष्ठभूमि है। आशा है यह ग्रंथ विद्वत्समाज में समुचित आदर पाएगा।

नई दिल्ली
बुधवार, ९ दिसंबर १९५९

—**बहादुरचन्द छाबड़ा**

उपोद्घात

इतिहास का क्षेत्र अनन्त और दुर्गम है। संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखनेवाले विद्वानों को इतिहास की इस अनन्तता और दुर्गमता से जूझने के लिए बड़ा श्रम करना पड़ा; क्योंकि सहस्रों वर्षों तक श्रुति और स्मृति द्वारा संरक्षित संस्कृत-वाङ्मय की उन सुचिन्तित विचारधाराओं के मूल तक पहुँचना साधारण कार्य नहीं था।

इस विषय पर अनेक अच्छी पुस्तकों के होते हुए भी प्रस्तुत पुस्तक को लिखने की आवश्यकता मुझे इसलिए प्रतीत हुई कि आर्यों के आदि निवास एवं आर्य-भाषाओं के उद्गम तथा विकास से लेकर आगे की सहस्राब्दियों में संस्कृत-वाङ्मय की जो अनेक विचारधारायें प्रकाश में आईं उन सब का प्रामाणिक एवं संक्षिप्त अध्ययन मैं किसी एक पुस्तक में राष्ट्रभाषा के माध्यम से प्रस्तुत कर सकूँ।

इस दृष्टि से संस्कृत के बृहद् वाङ्मय के उद्गम और उसके विकास तथा ह्रास की जो वास्तविक परिस्थितियाँ रही हैं उनका समुचित विश्लेषण करने में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय पाठकों पर निर्भर है।

पुस्तक के उपोद्घात में पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने की परम्परा रही है; किन्तु संस्कृत के किसी अध्येता एवं संस्कृतप्रेमी के समक्ष आज संस्कृत की अभ्युन्नति तथा उसको वैज्ञानिक ढंग से समसामयिक लोकरुचि के अनुसार ढालने की जो समस्या उपस्थित है, मेरी दृष्टि से वह अधिक महत्त्वपूर्ण है और उसी को इस प्रसंग में पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत करना मैं अधिक उपयुक्त समझ रहा हूँ।

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में वर्तमान युग का आरम्भ १६वीं शताब्दी से होता है, जब कि यूरॅप के देशों में साहित्यिक नव जागरण का शंखनाद हुआ; किन्तु संस्कृत पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने का सूत्रपात १७वीं १८वीं शताब्दी के लगभग हुआ। आधुनिक युग के विद्वानों पर यह प्रतिक्रिया यद्यपि संस्कृत की प्रकाशित पुस्तकों के अध्ययन-अनुशीलन के फलस्वरूप हुई; किन्तु उसका व्यापक प्रभाव तब लक्षित हुआ जब कि संस्कृतप्रेमी विद्वानों का ध्यान हस्तलेखों के रूप में देश के विभिन्न अंचलों में बिखरी पोथियों के संग्रह तथा संरक्षण की ओर आकर्षित हुआ। इन पोथियों के अध्ययन-अनुशीलन से विदेशी विद्वानों को संस्कृत के

अगाध वाङ्मय का पता लगा। तब से लेकर अब तक संस्कृत की जो स्थिति रही है और देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद उसको जो पोषण तथा संरक्षण मिला उससे परिचित हो जाने के बाद ही हम संस्कृत की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में कुछ विचार कर सकते हैं।

इस दृष्टि से पुस्तक के आदि में जुड़ा यह उपोद्घात यदि पुस्तक के अन्त से जुड़ कर संस्कृत-साहित्य के इतिहास की परम्परा को आज तक पहुँचाने में एक कड़ी का कार्य कर सका तो लेखक और पाठक, दोनों के लिए निःसन्देह वह अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित होगा।

संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों का संग्रह और संरक्षण

भारतीय ज्ञान की अति प्राचीन परम्परा को आज हम तक पहुँचानेवाले पुरातत्व और इतिहास के जितने भी साधन हैं, उनमें हस्तलिखित पोथियों का प्रमुख स्थान है। वेदों के गम्भीर-ज्ञान से लेकर 'पंचतंत्र' की छोटी-छोटी कथाओं तक जितना भी संस्कृत का विशाल वाङ्मय हमारे सामने विद्यमान है, वह सहस्रों वर्षों से इन हस्तलिखित पोथियों के रूप में जीवित रहता हुआ, आज हम तक पहुँचा है। वास्तविकता तो यह है कि इन पोथियों का इतिहास ही ज्ञानजीवी भारत की आत्मकथा है।

मनुष्य ने जब से अपने विचारों को वाणी दी, अपनी भावनाओं, कल्पनाओं और चिन्ताधाराओं को भाषा में प्रकट करने का प्रयास किया, उसी उषःकाल से ही लेखन-कला का भी अभ्युदय हुआ; किन्तु उस आदिम युग में लिखने के जो साधन थे, वे आज की अपेक्षा सर्वत्र भिन्न और आज की दृष्टि से सर्वथा विचित्र थे। ये पोथियाँ श्रुति और कण्ठ में लिखी गयीं। अर्थात् वे एक की वाणी से दूसरे की श्रुति तक और दूसरे की वाणी से तीसरे की श्रुति-स्मृति तक पहुँचीं।

इस दृष्टि से सारा पुराना ज्ञान श्रुतजीवी एवं स्मृति-संरक्षित था। गुरु-शिष्य और वंश-परम्परा के क्रम से वह कण्ठस्थ रूप में सुरक्षित मौखिक ज्ञान ही श्रुति, स्मृति और पुराण आदि अनेक अभिधानों से कहा गया। ज्ञानविचारणा की इस परंपरा का अभ्युदय अरण्यों में अधिष्ठित ऋषि-मुनियों के पवित्र आश्रमों से हुआ।

बल, विक्रम और आयु के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य की मेधा-स्मृति में ह्रास होता गया, त्यों-त्यों ज्ञान की विपुल परंपरा को सुरक्षित रखने और उसको भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने के उसके पुराने माध्यमों में भी परिवर्तन हुआ। एक युग ऐसा था, जब कि ज्ञान को लिपिबद्ध करना धर्मानुगत नहीं समझा जाता था; किन्तु 'गागर में सागर' की भाँति सूत्रग्रंथों के सूक्ष्म ज्ञान ने एवं युग के अनुरूप परिवर्तित परिस्थितियों ने तत्कालीन विद्या-निकेतनों और

अध्येताओं को ऐसी विकट स्थिति में ला पहुँचाया कि समग्र कंठाग्र ज्ञान को लिपिबद्ध करने के लिए उन्हें विवश होना पड़ा। तभी से सारा मौखिक ज्ञान, सारी मौखिक विद्याएँ और सारे कंठाग्र शास्त्र पत्रों पर, अर्थात् भोजपत्रों, ताड़पत्रों या ताम्र-मृत्तिकापत्रों अथवा वृक्ष की छालों पर लिखे जाने लगे।

संप्रति हमें सर्वाधिक प्राचीन पोथियाँ भोजपत्रों और ताडपत्रों पर लिखी हुई मिलती हैं। ताडपत्र की पोथियाँ स्योलमुखी कलम या लौह-लेखनी से लिखी जाती थीं। भोजपत्र पर लिखी हुई पोथियाँ, तालपत्र पर लिखी हुई पोथियों की अपेक्षा कम संख्या में उपलब्ध होती हैं। ताड़पत्रीय और भोजपत्रीय पोथियों को लिखने के लिए बड़ी सूझबूझ एवं साधना की आवश्यकता है। इन पोथियों के लेखक विद्वान् होने के साथ-साथ निपुण कलाकार भी होते थे।

आज अधिकांश पोथियाँ हमें मांडपम अर्थात् देशी हाथ के बने कागज पर लिखी हुई मिलती हैं। यद्यपि चीन में कागज १०५६ ई० में ही बनाना आरंभ हो गया था; किन्तु निर्यात में वह इतना कम था कि दूसरे देश बहुत समय तक उसके लाभ से वंचित रहे। भारत में देशी हाथ के कागज पर पोथियाँ आज से लगभग दस-बारह सौ वर्ष पूर्व अर्थात् आठवीं-दसवीं शताब्दी ईसवी में लिखी जाने लगी थीं; फिर भी इस प्रकार की पोथियाँ हमें चौदहवीं शताब्दी से पहिले की कम मिलती हैं।

अति प्राचीनकाल में संरक्षित-संगृहीत भारत की यह विपुल ग्रन्थ-संपदा धर्मद्रोहियों द्वारा अनेक बार विनष्ट किए जाने पर और बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार से लेकर आंग्ल-शासन के अन्तिम दिनों तक सहस्रों की संख्या में विदेशों को प्रवासित होने पर भी आज हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारत के सभी अंचलों में अपरिमित संख्या में बिखरी हुई हैं। हमें यह जानकर विस्मय होता है कि आज ऐसी भी अनेक पोथियाँ हमें चीन, जापान, जर्मनी और ब्रिटेन प्रभृति देशों में सुरक्षित मिलती हैं, जो न तो अपनी जन्मभूमि भारत में और न अपनी मूलभाषा संस्कृत में ही हैं। संसार का ऐसा बृहत् पुस्तकालय कोई भी शेष नहीं है, जहाँ भारत के ये मूल्यवान् ग्रन्थरत्न सुरक्षित और अतिशय रूप में सम्मानित नहीं हो रहे हैं।

किन्तु इस दृष्टि से यदि हम अपने देश की इस ज्ञान-थाती के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो हमें निरुत्साहित और निराश ही होना पड़ता है। भारतीय-साहित्य के शोध संस्कार और वैज्ञानिक विधियों से परीक्षित उसकी जितनी भी दिशाएँ आज तक प्रकाश में आई हैं, उनको प्रकाशित करने का बहुत बड़ा श्रेय विदेशी विद्वानों को ही दिया जाना चाहिए। इन मूल्यवान् पुरानी पोथियों और दुर्लभ कलाकृतियों का पता लगाने में भी पाश्चात्य विद्वान् अधिक उत्सुक रहे हैं; और यद्यपि पाश्चात्यों की यह निष्ठा और लगन परिणाम में भारत के लिए उतनी

शुभंकर नहीं रही है, फिर भी उनके ज्ञानानुराग, विद्याव्यसन और परिशीलन ने इस दिशा में हमें पर्याप्त प्रोत्साहित किया ।

भारतीय साहित्य के परम अनुरागी जर्मनदेशीय वेदविद् विद्वान् मैक्समूलर (१८२३-१९००) ने अपनी पुस्तक 'भारत से हम क्या शिक्षा ले सकते हैं' (इंडिया : ह्वाट केन इट टीच अस) में एक जगह कहा है कि 'सारे संसार में ज्ञानियों और पण्डितों का देश भारत ही एकमात्र ऐसा है जहाँ कि विपुल-ज्ञान-संपदा हस्तलिखित पोथियों के रूप में सुरक्षित है ।' मैक्समूलर महोदय की यह वाणी पाश्चात्य विद्वानों को वरदानस्वरूप सिद्ध हुई और अदम्य उत्साह से वे भारतीय ज्ञान की खोज में जुट गए ।

१७८४ ई० में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई । उसके द्वारा भारत में संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों का खोजकार्य आरम्भ हुआ । रायल एशियाटिक सोसाइटी के ग्रन्थ-संग्रह की प्रथम सूची १८०७ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुई, जिसको सर विलियम जोन्स और लेडी जोन्स ने तैयार किया था ।

संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् हेनरी टामस कोलब्रुक (१७६५-१८३७ ई०) ने अपनी खोजपूर्ण अभिरुचि के कारण १८०७ ई० में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल का सभापति नियुक्त होते ही सहस्रों भारतीय पोथियों को नष्ट होने से बचाया । उनके द्वारा एकत्र और संप्रति इण्डिया ऑफिस लन्दन में सुरक्षित पोथियों पर उनके द्वारा लिखी हुई खोजपूर्ण विवरणिकाएँ बड़े महत्व की हैं । इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये अकेले ही उन्होंने एक बृहत् निधि व्यय करके इस दिशा में अपने अनुराग का परिचय दिया । उसके बाद रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल (कलकत्ता) के ग्रन्थ-संग्रह के प्रथम सात भागों का संपादन १८१७-१९३४ ई० के बीच विभिन्न विद्वानों द्वारा संपन्न हुआ, जिनमें पं० हरप्रसाद शास्त्री का मुख्य हाथ था । उसके आठवें भाग का संपादन १९३९-४० के बीच श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने और दसवें भाग का १९४५ में श्री चन्द्रसेन गुप्त ने किया ।

डा० बूलर (१८३७-१८९८ ई०) पेरिस, आक्सफोर्ड और लंदन आदि के बृहत् भारतीय पोथियों के संग्रहों का अध्ययन-अनुशीलन करने के उपरान्त मैक्समूलर साहब की प्रेरणा से भारत आए, और शिक्षा विभाग बंबई में नियुक्त होते ही सरकार की ओर से संस्कृत के पंडितों के हितार्थ सर्वप्रथम उन्होंने 'बंबई संस्कृत सीरीज' नामक ग्रंथमाला का प्रकाशन किया । उनके जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग भारतीय हस्तलिखित पोथियों की खोज करते बीता । १८६६ ई० में सरकार की ओर से बंगाल, बंबई और मद्रास में शोध-संस्थान कायम हुए और बूलर साहब को बंबई शाखा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया ।

उन्होंने अपने इस कार्यकाल में लगभग २३०० महत्वपूर्ण पोथियों को खोज निकाला, जिनमें से आज कुछ पोथियाँ एलिफिंसटन कालेज के पुस्तकालय में, कुछ बर्लिन विश्वविद्यालय में और शेष इण्डिया आफिस में सुरक्षित हैं।

डॉ० वेबर (१८२५–१९०१ ई०) ने बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत संस्कृत पोथियों का एक बृहत् सूचीग्रंथ तैयार किया था तथा डॉ० बूलर द्वारा बर्लिन पुस्तकालय को प्रेषित ५०० जैन पोथियों का अनुशीलन करके, जैन-साहित्य पर अन्वेषणात्मक प्रकाश डाला।

१८६८ में संस्कृत की पाण्डुलिपियों की खोज के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक अलग विभाग की स्थापना की। इससे पूर्व कोलब्रुक, बूलर तथा वेबर आदि विद्वान् इस दिशा में कार्य कर चुके थे। इसी वर्ष ह्विटली स्टोक्स ने, जो उस समय भारतीय काउंसिल के मंत्री थे, २४००० रु० की निधि संस्कृत की पोथियों की खोज के लिए बजट में स्वीकार किया।

विदेशी विद्वानों ने और विशेष रूप से आंग्ल तथा जर्मन विद्वानों ने इस दिशा में बड़ी उत्सुकता से कार्य किया। त्रिनीति कालेज कैंब्रिज के संग्रह की सूची को आफ्रेक्ट ने १८६९ में प्रकाशित कराया। इसके बाद ही १८७० में जेम्स डी' अलीज ने कोलम्बो से भारतीय संस्कृत-ग्रंथों की एक सुन्दर सूची छपवाई। रायल एशियाटिक सोसाइटी के बाद भारतीय संस्कृत-ग्रंथों की खोज तथा संरक्षण का कार्य इण्डिया ऑफिस के द्वारा हुआ। सर्वप्रथम १८७० में ए० सी० बर्नेल ने इण्डिया ऑफिस, लंदन के संग्रह में सुरक्षित संस्कृत-ग्रंथों की सूची का संपादन करके उसको छपवाया। उसके बाद दो भागों में (लंदन १८८७-१८९६) जूलियस एगलिंग की सूचियाँ, तदनन्तर कीथ तथा थोम्स की सूची (लन्दन १९३५) और अन्त में ओल्डेनबर्ग की सूची (लन्दन १९८२) प्रकाशित हुई। इण्डिया ऑफिस लन्दन में आज भी इस क्षेत्र में कार्य हो रहा है।

डॉ० बूलर का उल्लेख पहले किया जा चुका है उन्होंने इस क्षेत्र में अविस्मरणीय कार्य किया। उनके निरीक्षण में गुजरात, काठियावाड़ और सिन्ध आदि विभिन्न अंचलों के संस्कृत-ग्रंथों का बारीकी से अनुसन्धान हुआ और १९७१–७३ के बीच बंबई से उनका सूचीपत्र छपा। इसी भाँति संस्कृत ग्रंथों की खोज के सबंध में डॉ० बूलर की १८७५ में प्रकाशित रिपोर्ट भी बड़े महत्व की है। बूलर के बाद यह कार्य विभिन्न प्रदेशों में बड़ी तीव्र गति से अनेक विद्वानों द्वारा संपन्न हुआ। १९७१–१९९० के बीच ११ खंडों में 'नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' के नाम से विवरण छपे। संभवतः प्रथम नौ खंडों का संपादन राजेन्द्रलाल मित्रा ने और दसवें तथा ग्यारहवें खंड का संपादन हरप्रसाद शास्त्री ने किया। मध्यभारत के संस्कृत-ग्रंथों की सूची को १८७४ में नागपुर से प्रकाशित कराके एफ० कीलहार्न ने उल्लेखनीय कार्य किया। इसी कड़ी में बूलर ने काश्मीर, राजपूताना और

मध्यभारत के कुछ क्षेत्रों के ग्रन्थों की रिपोर्ट तैयार कर उसे १८७७ में बंबई से छपवाया। १८७७-७८ तथा १८८१ में सरकार द्वारा क्रीत संस्कृत पोथियों की सूची कीलहार्न ने तैयार की। ए० सी० बर्नेल ने 'ए क्लासीफाइड इण्डेक्स टु दि संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि पैलेस एट तंजोर' नाम से तंजोर पुस्तकालय का सूचीपत्र तैयार करके उसे १८८० में लन्दन से छपवाया। उसके बाद तंजोर के राजकीय सरस्वती महल के ग्रन्थों की सूची पी० पी० एस० शास्त्री ने १९ खंडों में तैयार की। संप्रति वहाँ २५००० संस्कृत पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। १८८०-८१ की बंबई प्रदेश के ग्रंथों की रिपोर्ट कीलहार्न ने बंबई से १८८१ में छपवाया। यह रिपोर्ट बड़े महत्व की है। संस्कृत-ग्रंथों की एक रिपोर्ट पं० काशीनाथ कुन्ते ने १८८०-८१ के बीच तैयार की।

संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों के अन्वेषण, अनुसंधान और संरक्षण का यह कार्य धीरे-धीरे भारत के विभिन्न प्रदेशों में फैला। इसी के फलस्वरूप गुस्तव ओपर्ट ने दक्षिण भारत के व्यक्तिगत संग्रहों की दो सूचियाँ तैयार कीं, जो कि मद्रास से क्रमशः १८८० और १८८५ में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार अवध के संस्कृत-ग्रन्थों की सूचियाँ पं० देवीप्रसाद ने तैयार कीं, जिनका प्रकाशन १८८१-१८९३ तक होता रहा।

इस दिशा में ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन के ग्रन्थों की १८८३ में प्रकाशित सूची बड़ी उपयोगी है। इसी प्रकार १८८३ में जोसिल बेंडाल और राइस डेविड्स ने कैंब्रिज यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी के संस्कृत तथा पालि भाषाओं के ग्रन्थों की सूचियाँ निकालीं।

बूलर और कीलहार्न के बाद बंबई प्रदेश के संस्कृत-ग्रन्थों की खोज पर पीटर्सन ने छह जिल्दों में विस्तार से प्रकाश डाला, जिनका प्रकाशन-समय १८८३-१८९८ है। मैसूर और कुर्ग के ग्रन्थों की सूची लेबीज राइस ने तैयार की और वह १८८४ में बँगलोर से प्रकाशित हुई।

मद्रास की गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी के द्वारा इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य हुआ। उसकी प्रथम सूची १८९३ में छपी थी। वहाँ से अब तक लगभग २९ भाग छप चुके हैं, जिनका संपादन शेषगिरि शास्त्री, एम० रंगाचार्य, एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, पी० पी० एस० शास्त्री और ए० शंकरन् आदि विभिन्न विद्वानों ने किया।

बंबई की विस्तृत रिपोर्ट तैयार करने के अतिरिक्त पीटर्सन ने १८९२ में अलवर महाराज के संग्रह की सूची तैयार की। उनके बाद १९८४-८७ के बीच बंबई प्रदेश के ग्रन्थों की खोज का कार्य रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के निरीक्षण में हुआ। उनके द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट १९८४ में बंबई से छपी। उधर रायल एशियाटिक

सोसाइटी में भी ग्रन्थों के संग्रह का कार्य पूर्ववत् होता रहा और १८९५ में, उसके ११वें भाग का संपादन हरप्रसाद शास्त्री ने तैयार किया।

भारत के राजा-महाराजाओं के संग्रह हस्तलिखित पोथियों के इतिहास के क्षेत्र में बड़ा महत्व रखते हैं। अलवर महाराज के संग्रह की सूची पीटर्सन महोदय तैयार कर चुके थे। महाराज जम्बू-काश्मीर के रघुनाथ मंदिर लाइब्रेरी के ग्रन्थों की सूची डॉ० स्टीन ने तैयार की, जिसका प्रकाशन १८९४ में बंबई से हुआ। डॉ० स्टीन ने 'राजतरंगिणी' की प्राचीनतम प्रतियों की खोज करते समय काश्मीर से कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संग्रह किया था, जो संप्रति इण्डियन इन्स्टिट्यूट, आक्सफोर्ड में हैं।

१८८७–१८९१ के बीच के, आर० जी० भंडारकर द्वारा बंबई प्रदेश के ग्रंथों की रिपोर्ट १८९७ में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार ई० हल्टज ने दक्षिण भारत के संस्कृत ग्रंथों की सूचियाँ क्रमशः १८९५–१८९६ और १९०५ में प्रकाशित करवाईं। १९०१ में प्रकाशित बंबई प्रदेश के संस्कृत ग्रंथों की रिपोर्ट भी अवलोकनीय है। १८९०–१९११ के बीच इसी प्रकार की तीन रिपोर्ट कलकत्ता से छपीं। १८९५-१९०६ के बीच कलकत्ता संस्कृत कालेज लाइब्रेरी के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची हृषीकेश शास्त्री और शिवचन्द्र गुई ने तैयार की।

बोडलियन लाइब्रेरी के संग्रह की सूची विंटरनित्स ने आरंभ की थी, जिसको पूरा किया कीथ ने (आक्सफोर्ड १९०५)। इसके अतिरिक्त वहाँ के पालि ग्रन्थों की सूची (१८८२) फेंकफर्टर ने तैयार की थी। डॉ० स्टीन द्वारा संगृहीत और इण्डियन इंस्टीट्यूट, आक्सफर्ड में सुरक्षित ग्रंथों की सूची डॉ० कीथ ने तैयार की, जो कि १९०३ में क्लेरेंडन प्रेस (आक्सफर्ड) से प्रकाशित हुई।

विभिन्न प्रदेशों में संस्कृत ग्रंथों की खोज का कार्य आगे बढ़ता गया। राजस्थान और मध्यभारत के ग्रंथों की रिपोर्ट श्रीधर आर० भंडारकर ने तैयार की, जो कि १९०७ में बंबई से प्रकाशित हुई।

१८१६–१९३९ के बीच भंडारकर ओरियण्टल लाइब्रेरी के संस्कृत ग्रन्थों की सात सूचियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। सिंधिया भवन, आरा के संग्रह की सूची १९१९ में प्रकाश में आ चुकी है। इसी प्रकार गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर से दो भागों में प्रकाशित (क्रमशः १९२२–१९२८) सूचियाँ भी महत्व की हैं। जी० के० श्रीगोंडेकर और के० एस० रामास्वामी शास्त्री ने बड़ौदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी के ग्रंथों की सूची तैयार की, जो कि गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में १९२५ में छपी।

'ए कैटलाग ऑफ दि संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट' इस नाम से आडियार लाइब्रेरी के ग्रंथ-संग्रह के प्रथम भाग का प्रकाशन १९२६ और दूसरे भाग का प्रकाशन

१९१८ में हुआ। उसके बाद डॉ० सी० कुन्हन राजा के निरीक्षण में के० माधव- कृष्ण शर्मा ने वैदिक भाग (१९४२) की और पं० बी० कृष्णमाचार्य ने व्याकरण भाग (१९४७) की सूचियाँ तैयार कीं।

रायबहादुर हीरालाल शास्त्री ने मध्य भारत और बरार के ग्रन्थों की रिपोर्ट तैयार करके उनको १९२६ में नागपुर में छपवाया। महाराज जम्मू काश्मीर के पुस्तकालय की एक सूची रामचन्द्र काक और हरभट्ट शास्त्री द्वारा संपादित होकर १९२७ में पूना से छपी।

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल तथा ए० बनर्जी शास्त्री ने मिथिला के हस्त- लिखित ग्रन्थों की चार भागों में सूचियाँ तैयार कीं, जिनको कि १९२७ १९४० के बीच 'बिहार तथा उड़ीसा रिसर्च सोसायटी' से प्रकाशित किया गया। बिहार में हस्तलिखित ग्रन्थों का खोजकार्य सम्प्रति बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के द्वारा हो रहा है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय से १९३० में प्रकाशित 'आसामीज मैन्युस्क्रिप्ट' (भाग २) के अन्तर्गत संस्कृत की पोथियों का विवरण भी सम्मिलित है। ओरि- यन्टल-मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, उज्जैन से १९३६ और १९४१ में दो सूचियाँ छप चुकी हैं। वहाँ आज भी यह कार्य हो रहा है। सी० डी० दलाल द्वारा तैयार की गई पाटन के जैन-भण्डारों की ताड़पत्रीय ग्रन्थों की सूची को एल० बी० गांधी ने पूरा किया और वह गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा से १९३७ में प्रकाशित हुई। ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा के संग्रह की एक सूची १९४२ में छपी। इसी प्रकार एच० डी० बेलंकर द्वारा रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई शाखा के संग्रह की सूचियाँ १९२६-१९२८ और १९३० में छपीं। एच० आई० पोलमैन द्वारा प्रस्तुत और अमेरिकन ओरियन्टल सीरीज १२ में १९३८ को प्रकाशित संस्कृत की पोथियों की सूची भी अवलोकनीय है। बीकानेर संस्कृत लाइब्रेरी के संग्रह की एक सूची १९४७ में भी प्रकाशित हुई।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारत में संस्कृत की जितनी भी हस्तलिखित पोथियों की सूचियाँ तैयार हो चुकी थीं उन सब को क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित कर और बड़ी तत्परता से व्यक्तिगत घरों तथा मठ-मन्दिरों में सुरक्षित ग्रन्थ- संग्रहों की छान-बीन करके डॉ० आफ्रेक्ट ने तीन भागों में एक बृहद् सूची तैयार की थी, जिसका नाम है 'कैटेलोगस कैटेलोगोरम्'। इस बृहद् ग्रन्थ के तीनों भाग क्रमशः १८९१, १८९६ और १९०३ ई० में लिपजिग से प्रकाशित हुए। डॉ० आफ्रेक्ट का यह कार्य बड़े ही महत्व का है।

इसी बृहद् सूची को परिवर्द्धित एवं परिवर्त्तित रूप में तैयार करने का कार्य डॉ० सी० कुन्हन राजा और डॉ० वे० राघवन ने किया। इन दोनों विद्वानों के

सम्पादकत्व में 'न्यू कैटेलोगस कैटेलोगोरम्' का प्रथम भाग मद्रास यूनिवर्सिटी की संस्कृत सीरीज सं० १८ से १९४९ में प्रकाशित हो चुका है, जिसमें 'अ' वर्ण तक के ग्रंथों का समावेश है। डॉ० राघवन ने एक सूची और तैयार की है, भारत सरकार जिसके प्रकाशन का विचार कर रही है।

सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी की ओर से इस दिशा में अच्छा कार्य हो रहा है। वहाँ सम्प्रति लगभग सवा लाख संस्कृत की हस्तलिखित पोथियाँ संगृहीत हैं। उनमें से १७९१-१९५० तक के बीच संगृहीत लगभग १६००० ग्रंथों की सूचियाँ १९५३-५८ के बीच आठ जिल्दों में प्रकाशित हो चुकी हैं। आगे भी वहाँ कार्य हो रहा है।

इनके अतिरिक्त जैसलमेर के ग्रन्थ भंडारों की सूची गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज सं० २१ में और त्रिवेन्द्रम् राजकीय पुस्तकालय के ग्रन्थों की सूची आठ भागों में प्रकाशित हो चुकी है।

भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों, मठों, मंदिरों, व्यक्तिगत घरों, संस्कृत की दिशा में कार्य करने वाली संस्थाओं, सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी पुस्तकालयों एवं ग्रन्थ-संग्रहों की सैकड़ों सूचियाँ अभी तक प्रकाश में नहीं आई हैं। केंद्रीय सरकार और विभिन्न राज्य सरकारों की ओर से राष्ट्र की इस बहुमूल्य ज्ञान-संपदा को शीघ्रातिशीघ्र संरक्षण देने तथा उसका उद्धार करने के लिये योजनाबद्ध कार्य हो रहे हैं।

जिन विद्वानों के कार्यों का ऊपर उल्लेख हो चुका है उनके अतिरिक्त जिन विद्वानों ने इस क्षेत्र में कार्य किया तथा कार्य कर रहे हैं उनके नाम हैं: एस० जैकोबी, वी० फासबोल, मैक्समूलर, पं० राधाकृष्ण, म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, एच० आर० रंगस्वामी ऐयंगर, जोहन सी० नेसफेल्ड, पं० देवीप्रसाद, मंक, फ्रेडरिक लेवीज, के० भुजबली शास्त्री, डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, रामा शास्त्री, मुनि जिनविजय, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, डॉ० रघुबीर, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी और आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री।

इस राष्ट्रीय और सांस्कृतिक-साहित्यिक महत्त्व के कार्य को अब अविलंब संपन्न हो जाना चाहिए। भारत के ओर छोर तक बिखरी हुई ये पोथियाँ समुचित सुरक्षा के अभाव में नष्ट हो रही हैं। व्यक्तियों और संस्थाओं की अपेक्षा इन ग्रन्थरत्नों के संरक्षण का उत्तरदायित्व सरकार पर अधिक है। केंद्रीय सरकार की ओर से प्रादेशिक सरकारों के नाम प्रेषित उत्तर प्रदेश सरकार के सामान्य प्रशासन विभाग द्वारा प्रचारित एवं प्रकाशित १६ जून, १९५६ के अर्द्धशासकीय पत्र (सं०४४८३।३।८९-१९५६) को पढ़कर और १७ सितम्बर १९५७ को भारत सरकार के सूचना विभाग कार्यालय से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ प्रेषित अलभ्य

पांडुलिपियों के संरक्षण की योजनाएँ पढ़कर आशा है कि सरकार इस दिशा में अविलम्ब ही एक निश्चित व्यवस्था करने जा रही है।

आधुनिक युग में संस्कृत का अध्ययन और अनुशीलन

जहाँ तक संस्कृत की वर्तमान स्थिति का सम्बन्ध है, हमें उसकी दूरभूत गहराइयों का विश्लेषण न करके उसके उन मूल उपादानों तथा कारणों का पता लगाना है, जिनसे उसने वर्तमान रूप को प्राप्त किया। उसके वर्तमान रूप का यह इतिहास हमें लगभग १७ वीं शताब्दी के मध्य भाग तक ले जाता है। यद्यपि आज हमारे पास कोई भी ऐसे प्रमाण नहीं हैं कि हम आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व के भारत में संस्कृत के अध्ययन की स्थिति का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत कर सकें। फिर भी इतना सुविदित है कि धर्मप्रचारार्थ भारत में आई ईसाई मिशनरी के पादरियों ने भारतीय धर्मग्रन्थों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अब्राहम रोजर जैसे प्राच्यविद्याप्रेमी विद्वान् १६५१ में भर्तृहरि के कुछ ललित श्लोकों का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद करके संस्कृत के महत्त्व को यूरप के देशों में फैला चुका था। हेनरिच नामक जर्मन विद्वान् ने १६६४ ई० में संस्कृत का अध्ययन किया। वारेन हेस्टिंग्स ने १७८५ में संस्कृत के पण्डितों के समन्वित प्रयास से धर्मशास्त्र पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ का संकलन कराया और उसका स्वयं अंग्रेजी में अनुवाद किया। चार्ल्स विल्किन्स द्वारा 'भगवद्गीता' की जिस अनूदित कृति ने यूरप भर में खलबली मचा दी थी वह १७८५ में इङ्गलैंड से प्रकाशित हुई। 'हितोपदेश' और 'शकुन्तलोपाख्यान' का भी इस संस्कृतप्रेमी विद्वान् ने सफल अंग्रेजी अनुवाद किया था। सर विलियम जोन्स ने ग्यारह वर्ष तक भारत में रहकर संस्कृत की प्रशंसनीय सेवा की। उन्हीं के प्रयास से कलकत्ता में १७८४ में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना हुई। इस प्रतिष्ठान के द्वारा एक ओर तो संस्कृत की बहुमूल्य हस्तलिखित पोथियों का उद्धार हुआ और दूसरी ओर भारत में संस्कृत के अनुसंधान संबंधी कार्य का आरंभ हुआ। जोन्स ने १७८९-९२ के बीच 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मनुस्मृति' और 'ऋतुसंहार' का अंग्रेजी अनुवाद भी किया। जोन्स के अनुवाद से प्रभावित होकर जर्मन विद्वान् जार्ज फोर्स्टर ने १७९१ में 'शाकुन्तल' का जर्मनी में अनुवाद किया। इसी अनुवाद को देखकर महाकवि गेटे ने कहा था कि शकुंतला के तरुण सौन्दर्य ने मंगलमय परिणति में सफलता लाभ करके मर्त्य को स्वर्ग के साथ मिला दिया है।

संस्कृत के लिए विदेशी विद्वानों का अटूट प्रेम वर्षों तक बना रहा और आज भी उनकी निष्ठा में कोई अन्तर नहीं आया है। कोलब्रुक, अलेक्जेंडर हैमिल्टन, श्लेगल, उसका भाई आगस्ट डब्ल्यू० श्लेगल, शेजी, बौप, हंबोल्ट, उसका भाई अलेक्जेंडर हंबोल्ट, शेलिंग, कॉट, शिलर, फ्रेडरिक रुकार्ट, फर्गुसन

जेम्स, मैक्समूलर, विल्सन, राथ, ग्रासमन, रुडोल्फ, गेल्डनर, लुड्विग, रेक्थ, पिशल, वेबर, मेक्डोनेल, कीथ, थीबो, रोजी, जैकोबी, बोटलिंग, गोल्डस्टकर, आफ्रेक्ट, मुइर, विलियम ह्वाइट ह्विटनी, लैनमन, गार्वे, ओल्देनबर्ग, ब्लूमफील्ड, हिलेब्रांत, बोटलिंग, राइस डेविड्स, मारिस हार्डी, स्पेयर, एस० एस० लांगलोआ, ग्रिफिथ, मार्टिन हाग, लिंडनर, स्टेन्स्लर, श्रोडर, कैलेंड, कुहे, सोलोमन, एगलिंग, वेनफे, स्टीवेन्सन, बर्नेल, अटल, सायमन, पर्ट्स, रूटर, गाष्ट्रा, वालिंग, नेगलिंग, ग्रिल, हेनरी, रेनो, फ्रेजर, म्योर, स्टेन कोनो, स्ट्रैंगवेने, रेले फोरबेन्स प्रभृति जर्मन, ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और रूस के संस्कृतज्ञ सैकड़ों विद्वानों ने वैदिक संहिताओं से लेकर 'पंचतन्त्र' की कथाओं तक संस्कृत वाङ्मय की जितनी भी वीथियाँ हैं उन पर अभूतपूर्व कार्य किया।

उन्होंने संस्कृत भाषा का समुचित मूल्यांकन किया और संसार भर के देशों को उसकी महानताओं के सन्देश दिए। उन्होंने भारत के विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों एवं व्यक्तिगत घरों के संग्रहों में रखी हुई संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों का उद्धार कर उनका अनुवाद, प्रकाशन और संपादन किया। इस दिशा में उन्होंने भारतीय विद्वानों को अनुसंधान की विधियाँ सुझाईं।

किन्तु संस्कृत-अध्ययन की वर्तमान स्थिति का पोषण किस ढंग से होता आया, यह बात कुछ भिन्न है। अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व मुगल सल्तनत के जमाने में संस्कृताध्ययन की कोई उल्लेखनीय सुव्यवस्था नहीं रही है। अधिकतर मुगल बादशाहों ने प्रजा की खुशहाली और विशेष रूप से धर्मप्राण भारत की धर्म भावनाओं को सुरक्षित बनाये रखने की दिशा में अपना ध्यान केन्द्रित रखा। उनके शासन की सबसे बड़ी देन भारतीय संस्कृति की दिशा में है। कलाप्रेमी मुगल सल्तनत को शिल्प, स्थापत्य और चित्र आदि कलाओं के पुनर्जागरण का युग कहा जा सकता है। ज्ञान के क्षेत्र में उसकी कोई देन नहीं है।

विद्याप्रेमी ब्रिटिशवासियों ने संस्कृताध्ययन और संस्कृत भाषा के समुचित सुधारों पर ध्यान दिया; किन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने नीति से कार्य लिया। जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं, संस्कृत-वाङ्मय के प्रति उनमें अगाध अनुराग था किन्तु उनका उद्देश्य भाषा की उन्नति करना न होकर अपने शासन को दृढ़ बनाना था। इसलिए संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में उन्होंने नीति से भी कार्य लिया।

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में पहले तो अरबी के अध्ययन के लिए १७८२ में मुसलमानों के लिए 'कलकत्ता मदरसा' स्थापित हुआ और उसके बाद संस्कृत के अध्ययन के लिये १७९१ ई० में काशी में संस्कृत कालेज की नींव डाली गई। इसके साथ ही अंग्रेजी के अध्ययन की ओर भी कम्पनी के संचालकों का ध्यान आकर्षित हुआ और उसके फलस्वरूप कलकत्ता (१८५४),

मद्रास (१८५७), बम्बई (१८५८), लाहौर (१८८२) और प्रयाग (१८८७) आदि नगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

यदि संस्कृताध्ययन के आधुनिक इतिहास का सर्वेक्षण किया जाय तो ज्ञात होता है कि १८२२ से पूर्व इस दिशा में कोई विधिवत् कार्य नहीं हुआ। उसके बाद लार्ड विलियम बेंटिक ने इस दिशा में कुछ अच्छे कार्य किए और उन्हीं की प्रेरणा से १८३५, १८३६ तथा १८३८ में एडिम महोदय ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसी का परिणाम था कि पूना, कलकत्ता, बंबई, मद्रास, लाहौर और प्रयाग आदि अनेक नगरों में कालेजों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

इन विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त १८२१ ई० में मौन्स्टुअर्ट एलिफन्स्टन के द्वारा पूना में संस्कृत कालेज की स्थापना हुई। इसके बाद १९३७ में उसका पुनर्गठन हुआ और उसमें अंग्रेजी तथा अन्य आधुनिक विषयों के अध्ययन की व्यवस्था के साथ-साथ उसको 'डेक्कन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट ऐण्ड रिसर्च इंस्टिट्यूट' के नये नाम से कहा जाने लगा। १९५६ से वहाँ संस्कृत का अध्ययन समाप्त कर दिया गया। १८१७ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा कलकत्ता में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई और १८२६ से उसमें संस्कृत का अध्ययन भी आरंभ किया गया। इससे पूर्व १८२४ में 'कलकत्ता संस्कृत कालेज' की स्थापना होकर उसमें न्याय, स्मृति, व्याकरण, ज्योतिष और आयुर्वेद आदि अनेक विषयों के अध्ययन की व्यवस्था की गई। १८५१ में इस कालेज के प्रिंसिपल ईश्वरचन्द्र विद्यासागर नियुक्त हुए और उन्होंने संस्कृताध्ययन की आधुनिक विधियों को सुझाया। बाद में उसको कलकत्ता विश्वविद्यालय में मिला दिया गया। कलकत्ता हिन्दू कालेज के द्वारा १८३० में १५ संस्कृत की पुस्तकें छपीं; किन्तु बाद में यह सिलसिला समाप्त हो गया। १८५० के बाद कलकत्ता, बम्बई और मद्रास आदि विश्वविद्यालयों में भी संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था की गई। १९१४ ई० में आशुतोष मुखर्जी के प्रयत्न से संस्कृत से एम० ए० करने की व्यवस्था कलकत्ता विश्वविद्यालय में हुई।

इस दिशा में ओरियण्टल कालेज, लाहौर का नाम अग्रणी है। उसकी स्थापना १८६९ में हुई और १८८२ में लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना हो जाने के बाद उसको उसी में मिला दिया गया। उसमें सभी प्राच्य भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था की गई और संस्कृत का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उन्हें विशेष सुविधायें दी गई। ए० सी० वुल्नर और डॉ० रघुबीर जैसे विद्वान् ओरियण्टल कालेज के प्रिंसिपल रहे। वुल्नर महोदय ने संस्कृत के छात्रों के आवास के लिए सर्वसुविधासंपन्न एक होस्टल की भी स्थापना की जिसका नाम वुल्नर होस्टल पड़ा। विश्वविद्यालय के बाहर प्रमुख मार्ग पर वुल्नर की विशाल प्रस्तर प्रतिमा भी स्थापित की गई थी। आज उस प्रतिमा की क्या स्थिति है कहा नहीं जा सकता।

इनके अतिरिक्त दरभंगा, विजयनगरम् , ट्रावनकोर, बड़ौदा, जयपुर, इन्दौर ग्वालियर, मैसूर, ट्रावनकोर, कपूरथला, पटियाला, जम्बू, काश्मीर और काशी आदि की तत्कालीन रियासतों के संरक्षण में भी संस्कृत विद्यालयों की स्थापना हुई और उनके द्वारा अच्छा कार्य हुआ।

यद्यपि १८५४ के बाद कम्पनी के संचालकों की ओर से संस्कृत के सुधार-उद्धार के लिए वाराणसी, पूना, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और लाहौर आदि भारत के विभिन्न बड़े नगरों में विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी और संस्कृत की दिशा में कार्यरत अन्य संस्थाओं की ओर भी संचालकों का ध्यान आकर्षित हो चुका; फिर भी लार्ड मैकाले की भारतीय शिक्षा-सम्बन्धी सुधार की योजना ने प्राच्य विद्याओं की प्रगति में बड़ी बाधा उपस्थित की। उनकी इस शिक्षा-सम्बन्धी पुनर्गठित योजना में प्राचीन भाषाओं एवं प्राचीन साहित्य के सुधार की अपेक्षा आधुनिक विज्ञान और आधुनिक भाषाओं की दिशा में सुधार की आवश्यकता बतायी गयी थी। वास्तव में लार्ड मैकाले का उद्देश्य भारत में अंग्रेजी का प्रचार-प्रसार करना था। इसीलिए उस युग में थोड़ी-सी भी अंग्रेजी जाननेवाले व्यक्तियों को अच्छी-अच्छी नौकरियों पर नियुक्त किया गया। उधर संस्कृत के पंडितों और प्राच्य विद्याओं की सर्वथा उपेक्षा की जाने लगी।

संस्कृत के सम्बन्ध में पूर्वापेक्षया आज जो अवनति की स्थिति दिखाई दे रही है उसका आरंभ आंग्ल-शासन में ही हुआ। अंग्रेजों ने अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार के लिए देश के विभिन्न अंचलों में विश्वविद्यालयों की स्थापना की और साथ ही भारत की क्षेत्रीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन पर भी ध्यान दिया। इस नीति के विरोध में हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति के पक्षपाती कुछ रईसों एवं संस्थाओं ने संस्कृत की सुरक्षा के लिए अनेक पाठशालाओं की स्थापना की; किन्तु उन पाठशालाओं को संस्कृत भाषा के वास्तविक उद्धार का कारण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनकी जो प्रणालियाँ थीं, उनके ऊपर जिन लोगों का हाथ था, वे संस्कृत की सम-सामयिक वैज्ञानिक उन्नति से अपरिचित थे। ऐसा तो केवल प्रतिस्पर्धा एवं प्रतिक्रिया के कारण हुआ।

राष्ट्र के तत्कालीन कर्णधारों से अंग्रेजों की यह नीति अविदित नहीं थी कि उनके द्वारा स्थापित इन थोड़े-से विश्वविद्यालयों से इतने बड़े देश में शिक्षा का स्तर ऊँचा नहीं उठ सकता है। संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा, उसके पुनरुद्धार, और उसको समुचित स्थान दिलाने के लिए भारत में उस समय जिन महापुरुषों ने अथक यत्न किया उनमें दयानन्द सरस्वती, तिलक, देशमुख, वैद्य, बीजापुरकर, एनीबेसेण्ट, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अरविन्द घोष, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, पं० सुन्दर लाल और पं० मदनमोहन मालवीय का नाम उल्लेखनीय है। इन महापुरुषों के द्वारा आर्यसमाज, विश्वभारती (शांति-निकेतन) थियोसाफिकल सोसाइटी, पाण्डिचेरी आश्रम और हिन्दू विश्वविद्यालय

जैसे बृहद् विद्यानिकेतनों की प्रतिष्ठा हुई, जो आज भी इस दिशा में कार्यरत हैं। गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी की इस क्षेत्र में वही देन है, जो महामना मालवीय जी की वि० वि० की स्थापना में रही। उसकी स्थापना हुये अब तक ६० वर्ष हो चुके हैं। गुरुकुल से अबतक ७०० के लगभग स्नातक निकल चुके हैं। उस युग में दक्षिण भारत का 'समर्थ महाविद्यालय' उच्च आदर्श का नमूना था। इन महापुरुषों के सक्रिय शिक्षा-आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक रईसों, राजाओं और नवाबों ने मुक्तहस्त से धन दिया, जिसके फलस्वरूप अमृतसर, राँची, अलीगढ़, बरेली आदि स्थानों में विभिन्न विद्यालयों की स्थापना हुई। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि १७वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी के आरम्भ तक संस्कृत का अध्ययन, संरक्षण और पोषण घरेलू पाठशालाओं या टोलों के रूप में ही होता रहा। उनका एकमात्र संचालन ब्राह्मण पंडितों द्वारा दान-दक्षिणा पाकर और ब्राह्मण वटुकों द्वारा अन्नक्षेत्रों से भोजन प्राप्त करके होता रहा। आधुनिक युग के इतिहास में संस्कृत के इन पोषकों का नाम अमर है।

संस्कृत भाषा के आधुनिक विकास की यह कड़ी १९ वीं शताब्दी में वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास के साथ जुड़कर आगे बढ़ी। १९वीं शताब्दी के आरम्भिक दिनों में पं० मदनमोहन मालवीय और पं० सुन्दर लाल जी प्रयाग में रहकर एक ऐसे स्वप्न को साकार करने की चिन्ता में व्यग्र थे, जिससे भारत में किसी ऐसे शिक्षा-संस्थान की स्थापना हो सके, जिसके द्वारा शिक्षा के साथ-साथ भारतीय युवकों के धर्म और चरित्र का भी निर्माण हो सके। १९०४ में अपने उद्देश्य की विधिवत् रूपरेखा तैयार करके १९०५ में मालवीय जी ने उसको पूरा करने के लिए सन्यास ले लिया। उसी वर्ष कांग्रेस महासभा के अध्यक्ष माननीय गोपालकृष्ण गोखले ने हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रस्ताव को स्वीकृत कर दिया और फलतः उसकी रूपरेखा को छपवाकर देश के विद्वानों, राजनीतिज्ञों, रईसों, राजाओं और नवाबों के पास भेजा गया। १९०६ के कांग्रेस अधिवेशन में विश्वविद्यालय को खड़ा करने की घोषणा की गई। इधर इसी समय प्रयाग में परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु शंकराचार्य के सभापतित्व में बृहद् साधु-सम्मेलन हुआ जिसमें हिन्दू विश्वविद्यालय की उक्त घोषणा का स्वागत किया गया और उसके लिये कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किए गये।

बीच-बीच में बड़ी रुकावटें और बाधायें आती गयीं; किन्तु उसका कार्य पूर्ववत् चलता रहा। इसी बीच १९११ में श्रीमती एनीबेसेण्ट प्रयाग में मालवीय जी से मिलीं। उन दोनों ने विचार विनिमय करके यह स्थिर किया कि हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना काशी में ही हो। पंजाबकेशरी लाला लाजपत राय ने मालवीयजी की योजना को सफल बनाने के लिए लाहौर में अपील की और उस योजना के विरोधी तत्कालीन शिक्षामन्त्री श्री हारकोर्ट बटलर को खुलेआम चुनौती

दी। अन्त में विश्वविद्यालय के फंड में एक करोड़ रुपया एकत्र हो जाने के बाद १९११ में विश्वविद्यालय की कार्यसमिति की रजिस्ट्री हुई और १९१५ में उसका बिल भी स्वीकार हो गया। १४ फरवरी, १९१६ को वसंतपञ्चमी के दिन लार्ड हार्डिंग्ज ने हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया।

इस प्रकार हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का इतिहास राष्ट्रीय इतिहास था। इसलिए उसको इतनी मान्यता प्राप्त है।

पंजाब में जिन शिक्षा-संस्थाओं द्वारा संस्कृत का अध्ययन और संरक्षण होता रहा उनमें दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय का नाम भी स्मरणीय है। इस महाविद्यालय की स्थापना आचार्य विश्वबन्धु ने १९२१ में लाहौर में की थी। १९३४ तक वे इसके आचार्य एवं संचालक रहे और उनके बाद भी यह महाविद्यालय, लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने तक कार्य करता रहा। इसकी स्वतंत्र परीक्षायें थीं, जिनको कि कई सरकारों एवं विश्वविद्यालयों से मान्यता प्राप्त थी।

संस्कृत विश्वविद्यालय का इतिहास

संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से जिस शिक्षा-प्रतिष्ठान का रूप हमारे सामने वर्तमान है, उसका विकास एक छोटी-सी पाठशाला से हुआ, जिसकी स्थापना कि लार्ड कार्नवालिस के समय २८ अक्टूबर, १७९१ ई० में प्रिंसिपल काशीनाथ तर्कालंकार के निरीक्षण में हुई थी। उसके जीवन में अनेक परितंन हुए। 'बनारस पाठशाला' के बाद वह 'हिन्दू कालेज', 'बनारस कालेज' और 'संस्कृत कालेज' आदि नामों से कहा जाता रहा। कैप्टेन फेल के बाद लगभग १८२९ में कैप्टेन थोरेसवी विद्यालय की प्रबन्ध-समिति के मंत्री नियुक्त हुए। उन्होंने संस्कृत विद्यालय के सुधार के लिए अच्छी योजनायें बनाईं। १८४३ ई० में शिक्षा-व्यवस्था का समग्र भार जब प्रान्तीय सरकार को सौंपा गया। १८४४ ई० में जे० क्योर और उनके बाद केम्सन उसके प्रिंसिपल नियुक्त हुए। उन्हीं के कार्यकाल में विद्यालय के वर्तमान भवन का निर्माण आरंभ हुआ। १९५३ में अंग्रेजी और संस्कृत दोनों विद्यालयों को मिला कर एक कर दिया गया और उनका संमिलित नामकरण हुआ 'क्वीन्सकालेज'। १८६१ से १८७८ ई० तक डॉ० टी० आर० ग्रिफिथ विद्यालय के प्रिंसिपल रहे। वे स्वयमेव संस्कृतज्ञ थे और संस्कृत की उन्नति के हार्दिक पक्षपाती थे। उन्होंने 'रामायण' का अंग्रेजी में पद्यबद्ध अनुवाद करके अपनी विद्वत्ता को और संस्कृतनिष्ठा को प्रमाणित किया। ए० ई० गफ और परमादास मित्र, बापूदेव शास्त्री, म० म० पं० रामशास्त्री जैसे विद्वान् उन्हीं के कार्यकाल में संस्कृत विद्यालय के प्रोफेसर रहे। उनके समय का एक महत्त्वपूर्ण कार्य 'पंडित' नामक पत्रिका के प्रकाशन (१८६६) का है। उनके बाद १८८० में

डॉ० थीबो और फिर १८८८ में डॉ० ए० वेनिसन प्रिंसिपल नियुक्त हुए। इन दोनों विद्वानों के कार्यकाल में विद्यालय की अभूतपूर्व उन्नति हुई। डॉ० थीबो ने वेदान्तसूत्रों के शांकरभाष्य का सफल अंग्रेजी अनुवाद करने के अतिरिक्त 'विजयानगरम् संस्कृत ग्रन्थमाला' का संपादन करके भारत में संस्कृत की दिशा में अच्छा कार्य किया। उन्होंने विद्यालय की उन्नति के लिए महा० म० पं० गंगाधर शास्त्री और म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी जैसे विद्वानों की सक्रिय सेवायें प्राप्त कीं। डॉ० वेनिसन के कार्यकाल में सरस्वती भवन पुस्तकालय (१९१४-१९१८) का निर्माण हुआ। उनके बाद १९१८ में डॉ० गंगानाथ झा नियुक्त हुए और उनके प्रयास से संस्कृत की परीक्षाओं के संचालन के लिए संस्कृत शिक्षा परिषद का गठन किया गया। डॉ० गंगानाथ झा के बाद १९३५ में म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, फिर १९३८ में डॉ० मंगलदेव शास्त्री, १९४२ में महामहोपाध्याय पं० नारायण शास्त्री खिस्ते, १९५० में प्रो० के० ए० एस० अय्यर, १९५१ में पं० त्रिभुवन उपाध्याय और तदनन्तर १९५४ में पं० कुबेरनाथ शुक्ल उस स्थान पर नियुक्त हुए।

१९५८ में विश्वविद्यालय घोषित किए जाने के बाद उसके प्रथम कुलपति श्री आदित्यनाथ झा नियुक्त हुए। यही उसके १६७ वर्षों का इतिहास है।

राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रीय संस्थायें

राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं द्वारा संस्कृत की अभ्युन्नति की दिशा में प्रशंसनीय कार्य हुआ और आज भी हो रहा है। संस्कृत की मान-मर्यादा और उसके अस्तित्व की परम्परागत लोकव्यापी निष्ठा को सुरक्षित बनाये रखने और उसको आगे बढ़ाने के लिए इस प्रकार की संस्थाओं ने बहुत बड़ा कार्य किया। ये संस्थायें अनेक रही हैं; फिर भी अखिल भारतीय संस्कृत-साहित्य सम्मेलन, अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन, प्राच्यविद्या प्रेमियों की अन्तर-राष्ट्रीय महासभा और संस्कृत विश्वपरिषद् का नाम उल्लेखनीय है।

संस्कृत साहित्य सम्मेलन

यद्यपि संस्कृत भाषा की उन्नति और उसके शिक्षा-सम्बन्धी-पुनर्गठन के लिए देश के महान् पुरुष सचेष्ट थे और उसको राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में माना जा रहा था; किन्तु परतंत्रता के उस युग में उन लोगों के समक्ष कुछ दूसरी ही समस्यायें थीं। फिर भी संस्कृत की तत्कालीन गिरती एवं उपेक्षित दशा से वे चिन्तित थे।

संभवतः यही कारण था कि मेकाले महोदय की तत्कालीन शिक्षा-योजना ने देश भर के मूर्धन्य लोगों को उत्तेजित कर दिया और फलतः कुछ प्राच्यविद्याप्रेमी विदेशी शासकों एवं देश के तत्कालीन कर्णधारों का ध्यान ऐसे कार्यों को

कार्यरूप देने की ओर प्रवृत्त हुआ, जिनसे संस्कृत की उन्नति के लिए विधिवत् कार्य हो सके। यही कारण था कि ऋषिकुल, गुरुकुल और अन्य अनेक पाठशालाओं की स्थापना के साथ-साथ काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव पड़ी, जिसका इतिहास अन्यत्र बताया गया है।

किन्तु देश में संस्कृत की सार्वभौमिक प्रतिष्ठा कैसे हो और संस्कृत के हितेच्छु विद्वानों के विचारों का एक साथ बैठ कर आदान-प्रदान कैसे हो, इसके लिए १९७० वि० (१९१४ ई०) में अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन का जन्म हुआ। जिन विचारवन्त विद्वानों के द्वारा सम्मेलन की प्रतिष्ठा हुई उनमें महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री पंचाम्बुभूषण, पं० बुलाकीराम शास्त्री, महामहोपाध्याय पं० हरनारायण शास्त्री, पं० सूर्यनारायण शास्त्री और महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। सम्मेलन की स्थापना हो जाने के बाद प्रायः प्रति-वर्ष देश के विभिन्न भागों में उसके अधिवेशन हुए, जिनमें संस्कृतप्रेमी शासकवर्ग के अतिरिक्त देश के मूर्धन्य विद्वानों ने बड़ी उत्सुकता से भाग लिया। जिन विद्वानों ने सम्मेलन की प्रतिष्ठा को बढ़ाने और उसकी स्थापना के उद्देश्य को फलीभूत करने के लिए अपना सक्रिय योग दिया उनमें डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, म० म० डॉ० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० टी० गणपति शास्त्री, डॉ० प्रमथ नाथ भट्टाचार्य, महामना मदनमोहन मालवीय, महामान्य सर रंगास्वामो आयंगार, महामान्य ए० सी० वुलनर, पं० कुप्पूस्वामी शास्त्री, श्री नरहरि विष्णु गाडगिल, डॉ० चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख और डॉ० सम्पूर्णानन्द का नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों के अतिरिक्त स्व० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत का नाम सम्मेलन के इतिहास के साथ अमर है। सम्मेलन की सफलता और उसको आज तक जीवित रखने के लिए जिन व्यक्तियों ने जीतोड़ श्रम किया उनमें पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत पहले व्यक्ति थे। उनके निधन से सम्मेलन की और सारे संस्कृत-जगत् की अपूरणीय क्षति हुई।

सम्मेलन की स्थापना हो जाने पर उसके द्वारा आयोजित अधिवेशनों में समय समय पर देश के विद्वद्वर्ग ने एकत्र होकर सामयिक प्रश्नों पर विचार किया; यथा, संस्कृत के पण्डितों के जीवन-यापन का प्रश्न, संस्कृत-शिक्षा-पद्धति में परिष्कार, संस्कृत की उन्नति के लिये योजनाबद्ध कार्यों की रूपरेखा तैयार करना, संस्कृत की प्रचलित परीक्षा-प्रणाली में परिवर्तन, संस्कृत के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार के लिए यत्न और उसकी नियमावली तथा उसके उद्देश्यों को क्रियान्वित करना आदि।

सम्मेलन की चेष्टा का परिणाम यह हुआ कि आज भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में राज्य-संस्कृत-सम्मेलनों की स्थापना होकर सर्वत्र संस्कृत की अभ्युन्नति के लिए कार्य हो रहा है।

अन्ताराष्ट्रिय प्राच्यविद्या महासभा

लगभग १८ वीं शताब्दी के मध्य से भारतीय साहित्य के प्रति विदेशी विद्वानों में उत्सुकता जगी। उनकी यह उत्सुकता निरन्तर बढ़ती गई और उसके फलस्वरूप ऐसे अपूर्व ग्रन्थ देखने को मिले, जिनमें संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया। इस समय आवश्यकता इस बात की प्रतीत हुई कि विचार-विनिमय के लिये कोई ऐसा माध्यम होना चाहिये, जिससे देश और विदेश के प्राच्यविद्याप्रेमी विद्वान् एक साथ बैठकर सामयिक प्रश्नों का समाधान कर सकें और अन्वेषण की भावी रूपरेखा के सम्बन्ध में सुनिश्चित मानदण्ड निर्धारित कर सकें। इसी के फलस्वरूप प्राच्यविद्याप्रेमियों की अन्ताराष्ट्रिय महासभा (International Congress of Orientalist) की स्थापना हुई। इस महासभा के अधिवेशन समय-समय पर भारत के अतिरिक्त वियना, लंदन, आक्सफर्ड, पेरिस और बर्लिन आदि नगरों में आयोजित होते गये। यह महासभा आगे भी कार्य करती गयी। किन्तु उसके भावी प्रवर्तकों द्वारा उसका समुचित एवं नियमित संचालन न हो सका।

अन्ताराष्ट्रिय प्राच्यविद्या महासभा के उद्देश्यों एवं कार्यों से प्रभावित होकर स्व० सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर एवं बटलर महोदय के संयुक्त प्रयत्न से अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन (All india oriental confrence) का जन्म हुआ और उसका पहला अधिवेशन १९१९ में, सर रा० गो० भंडारकर के सभापतित्व एवं बटलर महोदय के संयोजकत्व में शिमला में सम्पन्न हुआ। दूसरा अधिवेशन १९२२ ई० को कलकत्ता में हुआ, जिसके सभापति पेरिस विश्वविद्यालय के संस्कृत के आचार्य सिल्वेन लेवी थे। १९२४ ही में तीसरा अधिवेशन महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा के सभापतित्व में, मद्रास में हुआ। चौथा अधिवेशन १९२६ ई० में प्रयाग में हुआ, जिसके कर्णधार एवं संयोजक शम्स-उल-उलेमा डॉ० जीवनजी जमशेदजी मोदी थे। इस अधिवेशन में यह भी निश्चित हुआ कि सम्मेलन का अधिवेशन प्रति तीसरे वर्ष हुआ करे।

इसी निश्चय के अनुसार १९२८ ई० में पांचवाँ अधिवेशन महामहोपाध्याय डॉ० हरप्रसाद शास्त्री की अध्यक्षता में लाहौर में, छठा अधिवेशन १९३० ई० में रायबहादुर बाबू हीरालाल की अध्यक्षता में पटना में और सातवाँ अधिवेशन १९३२ ई० में बड़ौदा में हुआ। इन अधिवेशनों में जो निबन्ध पढ़े गये वे बड़े महत्व के थे।

अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन का निरन्तर विकास होता गया और देश भर के मूर्धन्य विद्वानों ने उसमें भाग लेकर संस्कृत की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए चेष्टा की। १९३७ ई० में उसका नवम अधिवेशन हुआ जिसके अध्यक्ष डॉ० एफ० डब्ल्यू टामस थे। इस सभा के आयोजन अब भी होते हैं, किन्तु अब उसका स्वरूप उसके मूल उद्देश्यों से कुछ भिन्न हो गया है।

अन्य संस्थाओं का जन्म

१९१४ में स्थापित अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन और १९१९ में स्थापित अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन की प्रेरणा से ही अनेक आयोजनों, व्यक्तियों एवं सभा-संस्थाओं ने इस दिशा में कार्य करने का निश्चय किया। इस प्रकार की संस्थाओं में 'भारतीय दार्शनिक कान्फ्रेंस' (१९२५), ग्रियर्सन की 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया' (१९२६) और 'भारतीय इतिहास कांग्रेस' (१९३६) जैसी संस्थाओं के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने संस्कृत की वैज्ञानिक गवेषणा का कार्य प्रशस्त किया।

संस्कृत विश्व परिषद्

संस्कृत भाषा के संरक्षण के हेतु और उसके द्वारा राष्ट्रीय एकता बनाये रखने तथा अन्ताराष्ट्रिय विचार-सम्बन्धों की दिशा में अधिक जागरूकता लाने के उद्देश्य से ११ मई, १९५१ को पाटण (सौराष्ट्र) में, देश के प्रतिष्ठित विद्वानों एवं संस्कृत भाषा का सम्मान करने वाले शासकवर्ग के लोगों को आमन्त्रित करके 'संस्कृत विश्व परिषद्' (वर्ल्ड अकादेमी ऑफ संस्कृत) की स्थापना हुई। अखिल भारतीय या अन्ताराष्ट्रिय स्तर की जिन सभाओं, सोसाइटियों या सम्मेलनों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है, 'संस्कृत विश्व परिषद्' के भी प्रायः वे ही उद्देश्य हैं। इस परिषद् को जन्म देने, अब तक उसकी क्रमशः उन्नति करने और उसका समुचित संचालन करने का सारा श्रेय यद्यपि श्रद्धेय कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी को है; किन्तु उसके निर्माण की आवश्यकता पर स्व० वल्लभभाई पटेल की प्रेरणा का बड़ा हाथ रहा है। इन दो महानुभावों के अतिरिक्त उ० नवलराय ढेबर, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और तिरुकोची के महाराज श्री पद्मनाभदास बालाराम वर्मा जैसे संस्कृतप्रेमी वरिष्ठ व्यक्तियों का सहयोग उल्लेखनीय है। इतनी कम अवधि में परिषद् के द्वारा जो कार्य हुआ वह पर्याप्त संतोषजनक है। उसको आज देश-विदेश के अनेक संस्कृतज्ञ मनीषियों का सहयोग प्राप्त हुआ।

परिषद् के अब तक भारत के विभिन्न नगरों में छह अधिवेशन आयोजित हो चुके हैं। पाटण (१९५१) के अतिरिक्त वाराणसी (१९५२), नागपुर (१९५४), तिरुपति (१९५५), कुरुक्षेत्र (१९५७) और जगन्नाथपुरी (१९५९) में उसके भव्य अधिवेशन आयोजित हो चुके हैं।

१३ नवम्बर, १९५५ को तिरुपति अधिवेशन में संस्कृत के प्रचार-प्रसार और उसकी वैज्ञानिक शिक्षा के पुनर्गठन के हेतु एक प्रस्ताव पारित किया गया, जिसके अनुसार परिषद् की ओर से संप्रति प्रवेशिका, पूर्व मध्यमा, उत्तर मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और वाचस्पति आदि उच्च परीक्षाओं के अतिरिक्त प्रारम्भ, प्रवेश, परिचय और कोविद आदि सरल संस्कृत-परीक्षाओं का भी संचालन होता रहा है। इन

परीक्षाओं को अनेक विश्वविद्यालयों और प्रादेशिक सरकारों ने मान्यता दे दी। और निकट भविष्य में ही उनके अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिष्ठित होने की आशा की जाती है। इन परीक्षाओं में प्रतिवर्ष लगभग चालीस हजार तक विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं। भारती विद्याभवन, बम्बई द्वारा परिषद् का संचालन होता है।

इस परिषद् की ओर से नियुक्त उच्चकोटि के विद्वानों का शिष्ट-मण्डल समस्त देश का भ्रमण कर संस्कृत के प्रचार-प्रसार और समाज को संस्कृताध्ययन की ओर प्रवृत्त करने का कार्य करता रहा है। परिषद् द्वारा प्रायः प्रतिवर्ष व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि संस्कृत के प्राणभूत मनस्वियों की जयन्तियाँ आयोजित होती हैं; और इस प्रकार आज भी उन महापुरुषों के गौरवमय व्यक्तित्व की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया जाता है। परिषद् की यह भी योजना है कि संस्कृत के पण्डितों की एक ऐसी परिचायिका तैयार की जाय, जिससे समाज को उनकी जानकारी प्राप्त हो और उनमें भी पारस्परिक परिचय का सम्बन्ध स्थापित हो सके।

साहित्य अकादेमी

भारत सरकार ने १२ मार्च, १९५४ को साहित्य अकादेमी की स्थापना कर उसके उद्देश्य की घोषणा इन शब्दों में की थी 'भारतीय साहित्य के विकास में कार्य करनेवाली एक राष्ट्रीय संस्था, जिसका उद्देश्य होगा ऊँचे साहित्यिक मानदण्ड कायम करना, सभी भारतीय भाषाओं में जो साहित्यिक कार्य हो रहे हैं उन्हें आगे बढ़ाना और उनमें मेल पैदा करना और इस प्रकार से देश की सांस्कृतिक एकता को और सुदृढ़ करना।' अकादेमी के उपाध्यक्ष डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने उद्घाटनावसर पर जिन महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत किया था वे थीं 'इस अकादेमी का उद्देश्य है साहित्य के क्षेत्र में विख्यात व्यक्तियों का सम्मान करना, उदीयमान साहित्यकारों को प्रोत्साहन देना, जनता की अभिरुचि को शिक्षित करना और साहित्य तथा साहित्यालोचन की इयत्ता (स्टैंडर्ड) को ऊँचा उठाना।'

इन महान् उद्देश्यों और सुयोजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये यदि अकादेमी की ओर से वास्तविक कार्य होता जाय तो निश्चित ही भारतीय साहित्य तथा भारतीय साहित्यकारों का स्तर ऊँचा उठ सकता है। अकादेमी की ओर से इन छह वर्षों के भीतर जो कार्य हुआ उसकी अपूर्वता निर्विवाद है; किन्तु उसके द्वारा जो आशान्वित राष्ट्रव्यापी परिणाम प्रकाश में आने थे वे नहीं आए।

अकादेमी का एक कार्य, संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह भारतीय भाषाओं में-से किसी एक भाषा में विरचित उच्चतम कृतियों को अन्य तेरह भाषाओं में प्रकाशित करना भी है। इस उद्देश्य से अकादेमी के द्वारा संस्कृत की दिशा में जो कार्य हुए और जो हो रहे हैं उनका विवरण १९५८–५९ की रिपोर्ट के अनुसार इस प्रकार है :

प्रकाशित

मेघदूत : कालिदास; भूमिका और अंग्रेजी टिप्पणियाँ सहित पाठशुद्ध संस्करण : एस० के० दे। प्रस्तावना : डॉ० स० राधाकृष्णन्।

सुनीतिकुमार मुखोपाध्याय द्वारा संपादित अशोकावादन।

पुराणेतिहास-संग्रह (महाकाव्यों तथा पुराणों से संकलित); संपादक : एस० के० दे तथा० सी० हजारा।

विक्रमोर्वशीय (कालिदास का नाटक) अंग्रेजी में टिप्पणियाँ तथा भूमिका : एच० डी० वेलणकर।

इनके अतिरिक्त

बौद्धग्रन्थों का सम्पादन (खण्ड ४); नलिनाक्षदत्त द्वारा संपादित, प्रेस में दिया जा चुका है।

और

भारतीय साहित्य-ग्रन्थ-सूची (२० वीं श०) के अन्तर्गत संस्कृत-ग्रन्थों की सूची का कार्य नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता में हो रहा है।

कालिदास की कृतियों के पाठशुद्ध संस्करण

उक्त 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशीय' के अतिरिक्त स्व० श्री पु० मं० लाड द्वारा 'ऋतुसंहार' के संपादन-कार्य को डॉ० वी० राघवन् पूरा कर रहे हैं।

शाकुन्तल : डॉ० एस० के० वेलवलकर, भंडारकर इंस्टिट्यूट, पूना।

मालविकाग्निमित्र : डॉ० सी० कुन्हन राजा, आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर।

कुमारसंभव : डॉ० सूर्यकान्त, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रघुवंश : डॉ० वी० राघवन्, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।

कालिदास के ग्रन्थों की मूलपाठशुद्धि के अतिरिक्त सात खण्डों में संस्कृत-साहित्य के बृहद् संकलन तैयार हो रहे हैं। उपरिनिर्दिष्ट पुराणेतिहास और बौद्ध ग्रन्थ, दोनों संकलन इसी कड़ी के क्रमशः दूसरे तथा पाँचवें खण्ड हैं। अन्य पाँच खण्डों का विवरण इस प्रकार है :

(१) खण्ड १ (वेद-ब्राह्मण-सूत्रादि), संपादक : आचार्य विश्वबन्धु तथा डॉ० सूर्यकान्त।

(२) खण्ड ३ (प्राचीन साहित्य), संपादक : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल तथा डॉ० वी० राघवन्।

(३) खण्ड ४ (जैनग्रन्थ-संग्रह), संपादक : डॉ० हीरालाल जैन, नागपुर।

(४) खण्ड ६ (शिलालेख), संपादक : डॉ० बहादुरचन्द छाबड़ा, केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग, नई दिल्ली।

(५) खण्ड ७ (सुभाषित-संग्रह), संपादक : डॉ० वी० राघवन् तथा प्रो० के० ए० एस० ऐयर।

संस्कृत की पुस्तकों के प्रकाशन, पुरस्कारार्थ भी अकादेमी सहायता देती है। इस दिशा में यद्यपि नगण्य-सा कार्य हुआ है; फिर भी श्री के० पी० चित्तले को 'तिलकचरित' के प्रकाशनार्थ, श्री वाई० महालिंग शास्त्री को 'प्रतिराजसूयम्' नाटक, श्री के० कृष्ण को 'श्रीमन्नारायणीयम्' और डॉ० पी० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री को 'पतंजलिमहाभाष्य-व्याख्यान' के क्रयार्थ सहायता दी गई। श्री वल्लातोल मेनन द्वारा प्रस्तुत ऋग्वेद का मलयालम् भाष्य तथा वाल्मीकि कृत 'रामायण' के प्रकाशनार्थ भी अनुदान दिया गया।

विदेशी भाषाओं में अनुवादार्थ यूनेस्को के लिए सुझाये गये भारतीय श्रेष्ठ ग्रन्थों में संस्कृत के भी दो ग्रन्थ हैं।

(१) प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का संकलन
(२) अनतिप्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का संकलन (६००–१६०० ई०)

अकादेमी की ओर से प्रतिवर्ष संस्कृत की मौलिक कृति और अंग्रेजी अथवा अन्य किसी भी भारतीय भाषा में संस्कृत पर आलोचनात्मक पुस्तक लिखने वाले विद्वानों के लिए दो पुरस्कारों की व्यवस्था है। १९५५ से लेकर १९५८ तक के पुरस्कारों में १९५६ में महामहोपाध्याय पी० वी० काणे की पुस्तक 'धर्मशास्त्रस्येतिहासः' (भाग ५) पर पुरस्कार दिया गया। इस खेदजनक स्थिति का श्रेय अकादेमी की संस्कृत-समिति को है।

अकादेमी की ओर से डॉ० राघवन् के संपादकत्व में जून १९५९ से 'संस्कृत प्रतिभा' नामक एक अर्धवार्षिकी पत्रिका का प्रकाशन भी आरंभ हो गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत की लोकप्रियता के लिए आकाशवाणी के लगभग २० केंद्रों द्वारा संस्कृत के रुचिकर कार्यक्रमों को प्रसारित करने की व्यवस्था भी की गई है।

कंटेंपरेरी इंडियन लिटरेचर

भारत सरकार की साहित्य अकादेमी ने संविधान द्वारा स्वीकृत चौदह भारतीय भाषाओं के आज के साहित्य पर विभिन्न अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लिखवाये और उसको 'कंटेंपरेरी इण्डियन लिटरेचर' (आज का भारतीय साहित्य) नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित करवाया। इस पुस्तक के कुछ निबन्धों को अनावश्यक तूल दिया गया और इसी प्रकार कुछ निबन्धों के संबन्ध में समालोचक सर्वथा मौन रहे।

डॉ० वी० राघवन् द्वारा संस्कृत पर लिखा हुआ निबन्ध बड़ा ही खोजपूर्ण है। आज ही नहीं, अपितु सभी युगों में संस्कृत की तत्कालीन संपूर्ण प्रगति को बताना संभव नहीं रहा है, क्योंकि उसका जितना विकास ग्रन्थरूप में निबद्ध होकर

हुआ उससे अधिक वाणी द्वारा संरक्षित रहकर हुआ। ऐसी स्थिति प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य की रही है; किन्तु संस्कृत के लिए इसका विशेष महत्व रहा है।

आज जब कि, संस्कृत की अद्यतन स्थिति को प्रकाश में लाने के लिए संतोषजनक साधनों का अभाव है, तब यह बताना कि आज राष्ट्र में संस्कृत की क्या स्थिति है, निश्चित ही दुष्कर कार्य है।

डॉ० राघवन् ने अपने इस निबन्ध में संस्कृत भाषा की देशव्यापी वर्तमान स्थिति के बारे में जो सूचनाएँ दी हैं, वे बड़े महत्व की हैं। फिर भी उसमें कुछ ऐसी कमियाँ हैं, जिनके कारण संस्कृत-साहित्य की आज की स्थिति का उसके द्वारा पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए उसको पढ़कर ऐसा लगता है, जैसे संस्कृत की थाती को सुरक्षित रखने का एकमात्र गौरव दक्षिण भारत को ही प्राप्त है। डाक्टर साहब का संभवतः यह दृष्टिकोण न रहा हो; किन्तु उनके निबन्ध की स्थिति ऐसी हो गई कि उसमें न केवल दक्षिण की प्रधानता है; बल्कि संस्कृत के कुछ अच्छे कृतिकारों को छोड़कर कुछ ऐसे कृतिकारों तथा कृतियों का समावेश भी किया गया है, जिन्हें महज स्थानपूर्ति के लिए रखा गया प्रतीत होता है। तारतम्य और मूल्यांकन का यह दृष्टिकोण सभी अध्येताओं के लिए रुचिकर तथा उचित नहीं है।

फिर भी, डॉ० राघवन् के इस निबन्ध के सम्बन्ध में चुनौती देकर यह कहा जा सकता है कि पत्र-पत्रिकाओं में उस संग्रह के जिन अनेक अन्य निबन्धों की स्तुति और निन्दा की निरन्तर चर्चायें हुईं उन अधिकांश में-से वह श्रेष्ठ है, खोजपूर्ण है और संस्कृत-साहित्य के वर्तमान स्वरूप को अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में समर्थ है।

अकादेमी द्वारा मान्यता-प्राप्त संस्थायें

केन्द्रीय सरकार की साहित्य अकादेमी भारत के विभिन्न भागों में संस्कृत के लिए कार्यरत संस्थाओं को आर्थिक अनुदान या मान्यता देकर प्रोत्साहित करती रही है। १९५९-६० की रिपोर्ट में इस प्रकार की संस्थाओं की नामावली है :

१ अखिल केरल संस्कृत परिषद्, एरनाकुलम्
२ अखिल भारतीय पंडित महापरिषद्, धर्मसंघ शिक्षामंडल, दुर्गाकुंड, वाराणसी
३ अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन, दिल्ली
४ कामरूप संस्कृत संजीवनी सभा, नलबारी
५ कुप्पूस्वामी शास्त्री रिसर्च इंस्टिटयूट, मद्रास, मद्रास संस्कृत कालेज, मद्रास
६ कौंसिल ऑफ संस्कृत एजूकेशन श्रीरंगनिलयम्, हैदराबाद
७ गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिटयूट, इलाहाबाद
८ गीर्वाण वाग्वर्धिनी, पूना
९ गौतमी विद्यापीठम्, राजमुन्द्री

१० चित्रोदय पण्डित परिषद्, त्रिवेन्द्रम्
११ देशीय पण्डित मण्डल, मण्डलेश्वरम् , बंगलोर
१२ भण्डारकर रिसर्च इंस्टिटयूट, पूना
१३ मद्रास संस्कृत अकादेमी, मद्रास संस्कृत कालेज, मद्रास
१४ संस्कृत परिषद्, बीकानेर
१५ संस्कृत भाषा प्रचारिणी सभा, मोर हिन्दी भवन, नागपुर
१६ संस्कृत विद्वत्सभा, द्वारकाधीश भवन, नरसिंह रोड, बड़ौदा
१७ संस्कृत विद्वत्परिषद्, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
१८ संस्कृत साहित्य परिषद्, तिरुचिरापल्ली
१९ संस्कृत साहित्य परिषद्, श्याम बाजार, कलकत्ता
२० संस्कृत साहित्य सम्मेलन, भद्रवाणी, वाराणसी
२१ स्वाध्याय मण्डल, पार्डी, सूरत

प्रमुख प्रकाशन संस्थान

संस्कृत-ग्रन्थों के प्रकाशन के क्षेत्र में जिन संस्थानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, और जिनके कारण संस्कृत-वाङ्मय की सेवा-सुरक्षा हुई है उनमें से अधिकतर संस्थान आज भी कार्य कर रहे हैं; किन्तु कुछ शिथिल पड़ गये हैं और कुछ तो सर्वथा समाप्त हो गये। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से उन सभी का महत्त्व है। इस प्रकार के संस्थानों तथा प्रकाशनों के नाम हैं :

अद्वैतमंजरी सीरीज, कुंभकोणम्। अनन्तकीर्ति ग्रन्थ-माला, बम्बई। आडियार लाइब्रेरी, सीरीज, मद्रास। आत्मकमल जैन लाइब्रेरी सीरीज, काम्बे। आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला, भावनगर। आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना। आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, मद्रास। इण्डिया-एशिया कल्चर सोसाइटी, कलकत्ता। ओरिएण्टल सीरीज, कलकत्ता। ओरिएण्टल सीरीज, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना। कालिदास समारोह-समिति, मध्यप्रदेश। काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई। काशीराज ट्रस्ट, वाराणसी। काश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर। गंगा ओरिएण्टल सीरीज, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर। गवर्नमेंट ओरिएण्टल लाइब्रेरी सीरीज, मद्रास। गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा। गीता प्रेस, गोरखपुर। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी। जैनधर्म प्रसारक सभा सीरीज, भावनगर। त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम्। दरभंगा अनुष्ठान प्रतिष्ठान, दरभंगा। नव-नालन्दा प्रतिष्ठान, नालन्दा। पञ्जाब संस्कृत सीरीज, मोतीलाल बनारसीदास–दिल्ली। पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जोधपुर। प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी, दिल्ली। प्राकृत तथा संस्कृत सीरीज, बम्बई। बिब्लियोथिका इण्डिका, रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता। बिब्लियोथिका संस्कृतिका, मैसूर। बुद्धिस्टिक टैक्स्ट सोसाइटी, कलकत्ता। भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च

इंस्टिटयूट, पूना। भारती मन्दिरम् सीरीज, कुंभकोणम्। भारतीय विद्या भवन, बम्बई। मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज, मद्रास। माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई। यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर। रिसर्च इंस्टिट्यूट ऑफ तिब्तोलाजी, सिक्किम। विक्रम विश्वविद्यालय सीरीज, उज्जैन। विजयनगरम् संस्कृत सीरीज, वाराणसी। विशिष्टाद्वैत वैजयन्ती सीरीज, कुम्भकोणम्। विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियारपुर। वेंकटेश्वर ओरियण्टल इंस्टिट्यूट, तिरुपति। शास्त्रमुक्तावली, कांजीवरम्। संस्कृत परिषद्, लखनऊ। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी। सस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता। सस्कृत सीरीज, संस्कृत कालेज, कोचीन। सेक्रेड बुक्स ऑफ दी जैन्स, लखनऊ। सिंधिया ओरियण्टल इंस्टिटयूट, उज्जैन। सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी।

इनके अतिरिक्त विदेशों में संस्कृत पर कार्य करने वाली संस्थाओं में अमेरिकन ओरियण्टल सीरीज, अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, न्यू हेवेन कानेक्टिकट, यू० एस० ए०। पालि टैक्स्ट सोसाइटी, लन्दन। बिब्लियोथिका बुद्धिका, एस० एस० आर०, लेनिनग्राद। रायल एशियाटिक सोसाइटी, ब्रिटेन; और सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज, आक्सफर्ड।

केन्द्रीय संस्कृत आयोग

संस्कृत के प्रचार-प्रसार, संस्कृत-शिक्षा के पुनर्गठन, उसके सामयिक पाठ्यक्रम और उसकी मान्यता के लिए विभिन्न प्रादेशिक सरकारों की ओर से नियुक्त समितियों के द्वारा इस दिशा में सुयोजित कार्य होते रहे। इस प्रकार की समितियाँ उत्तर प्रदेश (१९३८, १९४७), बिहार (१९३९), पश्चिमी बंगाल (१९४८), त्रिवांकुर (१९४८), मद्रास (१९४९), बम्बई (१९५०), मैसूर (१९५३), मध्य प्रदेश (१९५५), राजस्थान (१९५५) और पंजाब (१९५६) आदि प्रदेशों में गठित हुईं और उन्होंने संस्कृत की उन्नति के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे।

इसी हेतु भारत सरकार ने १ अक्टूबर, ११५६ को 'केन्द्रीय संस्कृत आयोग' की स्थापना की। यह आयोग माननीय मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के मंत्रित्वकाल में नियुक्त हुआ था। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी (बंगाल) उसके अध्यक्ष और जुगपतराय ह० दवे (बम्बई), प्रो० एस० के० दे (कलकत्ता), प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति (वाराणसी), प्रो० वी० राघवन् (मद्रास), पंडितराज वी० एस० रामचन्द्र शास्त्री (बंगलोर), प्रो० विश्वबन्धु शास्त्री (होशियारपुर) और प्रो० आर० एन० दांडेकर (पूना) उस आयोग के सदस्य नियुक्त किए गये। ३० नवम्बर, ५७ को इस आयोग ने शिक्षामन्त्री को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और २० फरवरी, १९५९ को वर्तमान शिक्षामन्त्री डॉ० कालूराम श्रीमाली ने उसकी संक्षिप्त रूपरेखा सदन में प्रस्तुत की। १९५८ में पूरी रिपोर्ट प्रकाशित हुई।

केन्द्रीय संस्कृत आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जो सुझाव दिये थे उन पर विचार करने तथा उनको क्रियान्वित करने के लिए केन्द्रीय संस्कृत मण्डल की स्थापना की गई है। संस्कृत की अनिवार्य शिक्षा, संस्कृत की परम्परागत अध्यापन प्रणाली, संस्कृत के अध्यापकों का प्रशिक्षण, संस्कृत का पृथक् निदेशालय और संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना आदि के सम्बन्ध में आयोग ने जो सुझाव दिए और केन्द्रीय संस्कृत मण्डल, राज्य सरकारों, केन्द्र शासित प्रदेशों तथा विश्वविद्यालयों ने उन सुझावों पर अपनी जो राय दी उसका संक्षिप्त लेखा केन्द्रीय शिक्षामन्त्री डॉ० कालूराम श्रीमाली ने २० नवम्बर, ५९ को सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जो सुझाव दिये थे उनका सारांश इस प्रकार है:

१. माध्यमिक स्कूलों में संस्कृत की अनिवार्य शिक्षा कर दी जाय और उसके साथ मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा पढ़ाई जाय। केन्द्रीय संस्कृत मण्डल ने भी इसको स्वीकार किया है। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार मण्डल ने भी उसको मान्यता दी है।

२. परम्परागत रीति से संस्कृत-अध्ययन-प्रणाली का संरक्षण हो और संस्कृत की पाठशालाओं में पाठ्यक्रम का पुनर्गठन किया जाय।

३. संस्कृत के अध्यापकों के लिये अध्यापन के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय और उसको विश्वविद्यालयों में एक विषय स्वीकार किया जाय।

४. पाठशालाओं के विद्यार्थियों को अनुसन्धान करने का प्रोत्साहन दिया जाय और पाठशालाओं में अनुसन्धान-विभाग की व्यवस्था की जाय।

५. संस्कृत और भारतीय विद्या-सम्बन्धी अनुसन्धान में लगी हुई गैर सरकारी संस्थाओं को आर्थिक अनुदान दिया जाय।

६. संस्कृत की पाण्डुलिपियों की खोज, पड़ताल, संरक्षण, संग्रह करने और उनकी सूची तैयार करने के लिए केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वे की स्थापना की जाय।

७. आयुर्वेद और आयुर्वेद के ग्रन्थों के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाय।

८. मन्दिरों, मठों और अन्य संस्थानों को संस्कृत तथा वेदों के अध्ययन, अनुसन्धान एवं संरक्षण के लिए जो अनुदान दिए जाते हैं उनके लिए सरकार उचित कानून बनाये।

९. संस्कृत-शिक्षा की व्यवस्था के लिए सरकार को पृथक् निदेशालय स्थापित करना चाहिए।

१०. संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिए, प्राइवेट परीक्षाओं की उन्नति के लिए संस्कृत के नाटकों, संगीत-आयोजनों और वाद-विवाद-प्रतियोगिताओं के

लिए विशिष्ट आयोजन होने चाहिएँ। आयोग के इन सुझावों पर केन्द्रीय संस्कृत मण्डल ने यह संस्तुति की है कि संस्कृत की पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशकों को प्रोत्साहित करके अच्छी पुस्तकों के प्रकाशन हेतु पुरस्कार देने चाहिएँ।

११. संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिए आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों के फिल्म डिवीजन को हर संभव उपाय करने चाहिए।

१२. जनता के चरित्र-निर्माण के लिए सामुदायिक विकासखण्डों में पुराणों की कथाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए।

१३. विशिष्ट समारोहों में संस्कृत भाषा के प्रयोग को अतिरिक्त राजभाषा के रूप में घोषित किया जाना चाहिए।

१४. भारतीय प्रशासन, विदेश सेवा में भर्ती होने वाले और विदेशों में अध्ययन के लिए जाने वाले विद्यार्थियों को संस्कृत तथा भारतीय संस्कृति का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।

१५. संस्कृत के विश्वविद्यालयों की अधिक-से-अधिक स्थापना होनी चाहिए।

१६. प्राचीन पद्धति की संस्कृत-परीक्षाओं का स्तर निश्चित करने और नये शिक्षाक्रम में उनका स्थान निर्धारित करने का कार्य हो जाना चाहिए। केन्द्रीय संस्कृत-मण्डल ने आयोग के इस सुझाव को क्रियान्वित करने के लिए एक समिति की स्थापना की है।

१७. वैज्ञानिक और शिल्पिक शब्दों के अंग्रेजी-संस्कृत और संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश तैयार किए जाने चाहिए।

केन्द्रीय संस्कृत आयोग ने वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार संस्कृत की सर्वांगीण अभ्युन्नति और विशेष रूप से संस्कृत-शिक्षा के पुनर्गठन के सम्बन्ध में अपने जो सुझाव दिए थे उनकी अच्छी प्रतिक्रिया हुई और तब से अब तक इस दिशा में निरन्तर ही कुछ-न-कुछ कार्य हो रहा है।

१४ फरवरी, १९५८ को नई दिल्ली में भारतीय विद्या-समिति की छठी बैठक हुई, जिसके अध्यक्ष श्री पी० एन० कृपाल थे। इस बैठक में समिति ने दुर्लभ पाण्डुलिपियों के प्रकाशन की योजना बनाने के बारे में विचार किया। उपलब्ध पाण्डुलिपियों में-से २० पाण्डुलिपियाँ प्रकाशनार्थ छाँटी गईं, जिनमें अधिकांश संस्कृत की थीं। विदेशों में भारतीय विद्या-सम्बन्धी जो सामग्री है उसको एकत्र करने के प्रश्न पर भी विचार किया गया। समिति ने मद्रास विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० राघवन द्वारा संकलित संस्कृत की पाण्डुलिपियों की सूची के प्रकाशनार्थ भी संस्तुति की।

संस्कृत एवं प्राच्य विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान के लिए भारत सरकार ने 'इंस्टिट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी' की स्थापना की योजना बनाई है, जिसके लिए

भूमि की व्यवस्था कर दी गई है। दिसम्बर १९५९ की एक मीटिंग में यह भी निश्चय किया गया कि कुछ विद्वानों को प्रशिक्षण के लिए जर्मनी, ब्रिटेन तथा अमेरिका आदि देशों को भेजा जाय।

देश में संस्कृत के विकासार्थ २४ मार्च, १९६० को केन्द्रीय संस्कृत मंडल की दूसरी बैठक श्री पतंजलि शास्त्री की अध्यक्षता में आयोजित हुई। उसमें बीकानेर के श्री शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ को १०,२०० रु० राजस्थान सरकार द्वारा पुरस्कार-स्वरूप देने के लिए स्वीकार किए गए।

किन्तु संस्कृत आयोग द्वारा सुझाये गये प्रश्नों को कार्यान्वित कराने के लिए सरकार ने जिस संस्कृत मंडल की स्थापना की थी उसके द्वारा अब तक ऐसा कोई भी कार्य नहीं हुआ है, जिससे कि संस्कृत की वर्तमान स्थिति में कोई विशेष सुधार हुआ हो। योजनायें बनाना कुछ और बात है और उनको कार्यान्वित करना कुछ और ही बात है। केन्द्रीय संस्कृत मंडल की सार्थकता इसी में है कि वह योजनायें बनाने की अपेक्षा उन्हें कार्यान्वित करके की दिशा में सचेष्ट हो।

विभिन्न राज्यों में संस्कृत की वर्तमान स्थिति

इतिहास के अध्येता से यह बात अप्रत्यक्ष नहीं है कि प्राचीन समय से ही संस्कृत भाषा के लिए दक्षिण के विद्वानों का कितना योग रहा है। इस दृष्टि से यदि दक्षिण में संस्कृत की वर्तमान दशा पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि आज भी वहाँ विद्वानों की इस परम्परा का बड़ी निष्ठा के साथ निर्वाह हो रहा है।

आधुनिक ढंग से संस्कृत की गवेषणा का कार्य यद्यपि १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से आरम्भ हुआ; तथापि इससे पूर्व अब्राहम रोजर नामक डच पादरी और वार्थेलोमियो नामक एक आस्ट्रियन ईसाई संत संस्कृत की दिशा में कार्य कर चुके थे। १८८६ ई० में कर्नल आलाकाट ने आडियार में थियोसाफिकल सोसाइटी के निरीक्षण में आडियार लाइब्रेरी की स्थापना की, जिससे मद्रास में आधुनिक ढंग से संस्कृत-गवेषणा की दिशा में बड़ा ही प्रोत्साहन मिला। आडियार लाइब्रेरी के द्वारा मद्रास में संस्कृत-ग्रन्थों के संरक्षण और दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन की दिशा में बड़ा अच्छा कार्य हुआ। पुस्तकालय का पहला सूची-ग्रन्थ १८९३ में प्रकाशित हुआ और उसके बाद १८९६ में प्रो० शेषगिरि शास्त्री और रंगाचार्य जैसे उच्चकोटि के विद्वानों ने पुस्तकालय की हस्तलिखित पोथियों के विवरण छापने और संस्कृत-पोथियों की सुरक्षा के लिए बड़े यत्न से कार्य किया। आडियार लाइब्रेरी में आज लगभग २५,००० हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित हैं। १८४० में प्रेसीडेन्सी कालेज की स्थापना हुई, जिसमें वेरेंट पी० परसिवल (१८५६), जे० पिकार्ट (१८६८),

जी० ओफ्ट (१८७२) और बाद में संस्कृत के कुछ विद्वानों द्वारा उक्त कालेज में संस्कृत के अध्ययन का सिलसिला आगे बढ़ता रहा।

१८५७ ई० में मद्रास विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और वहाँ संस्कृत की परीक्षाओं की व्यवस्था की गई। १९०९-१० में प्राच्य विभाग (ओरिएण्टल फैकल्टी) की स्थापना से यह योजना आगे बढ़ी। इस प्रकार मद्रास संस्कृत कालेज और प्रेसीडेन्सी कालेज, इन दो संस्थाओं के द्वारा संस्कृत का संवर्धन होता गया। १९११ में विश्वविद्यालय द्वारा संस्कृत में आनर्स कक्षा की व्यवस्था के बाद यह योजना निरन्तर आगे बढ़ती रही।

१९१४ ई० में एक ओर तो विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में डॉ० मार्क कोलिन्स नियुक्त हुए और दूसरी ओर प्रेसीडेंसी कालेज में प्रो० रंगाचार्य के स्थान पर प्रो० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री के नियुक्त होते ही संस्कृत की प्रकृत और आधुनिक पाठ्य-शैलियों की वैज्ञानिक व्यवस्था हुई। स्व० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने दक्षिण भारत में संस्कृत के सुधार, संस्कार, पुनर्गठन और अनुसंधान के लिए लगभग पच्चीस वर्षों तक जो निरन्तर कार्य किया वह अविस्मरणीय है।

१९२६ में मद्रास विश्वविद्यालय के अन्तर्गत प्राच्य संस्थान की स्थापना हुई। डॉ० सी० कुन्हन राजा ने (जो संप्रति वाल्टेयर, आंध्र विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक हैं), मद्रास में संस्कृत की उन्नति और आडियार पुस्तकालय के पुनर्गठन की दिशा में बड़ा अच्छा कार्य किया। इसी प्रकार एस० के० पं० रामनाथ शास्त्री, प्रो० टी० आर० चिन्तामणि और उनके बाद डॉ० वी० राघवन् के द्वारा संस्कृत के लिए किए गये कार्यों का उल्लेखनीय स्थान है। विश्वविद्यालय के वर्तमान कनिष्ठ प्राध्यापक पंडित एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री का योग भी उल्लेखनीय है।

डॉ० राघवन् १९३५ में विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग में नियुक्त हुए थे और अब तक उन्होंने बड़ी योग्यता, रुचि और कर्मठता के साथ संस्कृत की, आधुनिक विधि से, उन्नति के लिए कार्य किया है। डॉ० सी० कुन्हन राजा और डॉ० वी० राघवन् के संपादकत्व में डॉ० आफ्रेक्ट के महासूचीपत्र 'कैटलागस कैटलागरम' का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण भी संस्कृत की वर्तमान गवेषणा की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

मद्रास में संस्कृत-साहित्य की अभ्युन्नति की दिशा में श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा आरम्भित 'जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च' नामक पत्रिका (१९२७), विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'एनल्स ऑफ ओरिएण्टल रिसर्च' (१९३६), 'आडियार लाइब्रेरी बुलेटिन' और विश्वविद्यालय की संस्कृत ग्रन्थमाला, जिसमें अब तक लगभग २३-२४ दुर्लभ एवं महत्त्वपूर्ण संस्कृत के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

दक्षिण भारत में संस्कृत के प्रचार-प्रसार और अध्ययन-अध्यापन की परम्परा

आज भी पूर्ववत् विद्यमान है। वेंकटेश्वर (तिरुपति) विश्वविद्यालय, आंध्र (वाल्टेयर) विश्वविद्यालय और उस्मानिया (हैदराबाद) विश्वविद्यालय, आंध्र प्रदेश के ये तीन मुख्य विद्या-संस्थान हैं। उनमें संस्कृताध्ययन की पूरी सुविधा है। आदि के दो विश्वविद्यालयों से १४ संस्कृत कालेज और १८ ओरिएण्टल हाई स्कूल संबद्ध हैं।

केरल में एक संस्कृत कालेज और ३२ संस्कृत हाई स्कूल हैं। वहाँ के संस्कृत कालेज में अनेक विषयों का अध्ययन होता है और उसके द्वारा अपनी स्वतंत्र परीक्षाओं का संचालन होता है, जिन्हें मान्यता प्राप्त है। केरल विश्वविद्यालय में लगभग चालीस हजार पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। वहाँ से संस्कृत की एक त्रैमासिक पत्रिका तथा संस्कृत की पुस्तकों का भी प्रकाशन होता है।

इसी प्रकार असम के गोहाटी विश्वविद्यालय में भी एम० ए० तक संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त असम के विभिन्न अंचलों में वर्तमान लगभग १०३ संस्कृत पाठशालाओं को सरकार ने मान्यता दे दी है।

बिहार सरकार संस्कृत की उन्नति के लिए विशेष रूप से यत्नशील है। उसकी भाषा-सम्बन्धी नीति सदा ही अनुकरणीय रही है। सरकार प्रतिवर्ष लगभग १६ लाख रुपयों की निधि संस्कृत के अध्यापन और उन्नयन में व्यय करती है। वहाँ के विभिन्न चार जिलों में चार राजकीय संस्कृत कालेज संचालित हो रहे हैं। इनके अतिरिक्त ८३ संस्कृत हाई स्कूलों को सरकार से मान्यता प्राप्त है। स्वतंत्र रूप से संचालित होने वाले संस्कृत विद्यालयों की संख्या ३६७ और महाविद्यालयों की संख्या १२ है। सरकार इन्हें भी अनुदान देती है। भागलपुर में स्थापित शिक्षण महाविद्यालय में संस्कृत पंडितों के प्रशिक्षणार्थ १५ स्थान सुरक्षित हैं। दरभंगा में संस्कृत विश्वविद्यालय खोलने की सारी रूपरेखा तैयार की जा चुकी है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उत्तरप्रदेश सरकार ने सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं शिक्षा-सम्बन्धी सुव्यवस्था के साथ-साथ संस्कृत की दयनीय एवं उपेक्षित अवस्था की ओर भी ध्यान दिया। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। किन्तु क्वीन्स कालेज को विश्वविद्यालय का रूप देने तक का इतिहास बहुत ही संघर्षमय रहा है। १९३५ ई० के नये विधान के अनुसार प्रान्तीय स्वशासन प्राप्त हो जाने के बाद १९३७ ई० में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन शिक्षामंत्री ने डॉ० भगवानदास और श्री यज्ञनारायण दीक्षित की अध्यक्षता में संस्कृत शिक्षा और राजकीय संस्कृत विद्यालय के पुनर्गठन के लिए दो समितियों का निर्माण किया। इन दोनों समितियों ने बड़ी सुन्दर योजनायें प्रस्तुत कीं; किन्तु १९३९ में कांग्रेस के त्यागपत्र प्रस्तुत किए जाने के कारण ये योजनायें क्रियान्वित न हो सकीं। १९४६ में कांग्रेस का पुनर्गठन हुआ और उसके बाद उत्तर प्रदेश में उक्त दोनों समितियों के सुझावों को तत्कालीन शिक्षामंत्री ने क्रियान्वित किया।

फलतः १९४७ में दीक्षान्त समारोह के साथ उपाधि-वितरण का प्रथम उत्सव मनाया गया। इसी समारोह में संस्कृत महाविद्यालय को संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित कर देने की भी घोषणा हुई। इसी समय एक महत्वपूर्ण सुधार संस्कृत के अध्यापकों के वेतन-क्रम की दिशा में किया गया। १९४७ की वेतन समिति के सुझावों के अनुसार अध्यापकों की तीन श्रेणियाँ बनाई गई और उनका कम-से-कम वेतन डेढ़-सौ से आरंभ किया गया।

१९४७ तक राजकीय संस्कृत महाविद्यालय से १,२०० पाठशालायें संबद्ध हो चुकी थीं। १९४८ में शासन की ओर से संस्कृत महाविद्यालय में देश की समस्त पाठशालाओं के अध्यापकों को विचार-विनिमय के लिए बुलाया गया और उसमें संस्कृत के स्नातकों के जीवन-यापन की दृष्टि से पाठ्यक्रम में कुछ परिवर्तन किया गया। १९५० में सरकार ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में संस्कृत की दशा को अभ्युन्नत बनाने के उद्देश्य से अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें सभी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन द्वारा अन्य सुधारकार्यों के साथ-साथ यह भी सुझाव दिया गया कि केन्द्रीय प्रशासन को अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् की स्थापना करनी चाहिए, जो कि अन्तर्विश्व-विद्यालय परिषद् की भाँति अखिल भारतीय स्तर पर संस्कृत की शिक्षा तथा गवेषणा के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर सके। १९५१ में शासन ने समग्र पाठ्यक्रम के परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृत की परीक्षाओं को अंग्रेजी की परीक्षाओं के समकक्ष मान्यता प्रदान करने की घोषणा की और छात्रों के रहन-सहन, निवास, चरित्र, छात्रवृत्ति आदि का भी समुचित प्रबन्ध कर दिया।

उत्तर प्रदेश की राजकीय सहायताप्राप्त पाठशालाओं में पर्याप्त सुधार किया गया। १९४६-४७ में राज्य की सहायताप्राप्त पाठशालाओं की संख्या ४६३ थी और उनके लिए सहायनार्थ निधि १३३२०० निर्धारित थी, जब कि १९५६-५७ की दूसरी और तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं में १९६ विद्यालयों को सम्मिलित किया गया और सहायता की निधि बढ़ा कर ४८१०५६ कर दी गई। इसके अतिरिक्त भवन निर्माण और पुस्तकालय आदि के लिए अलग से आर्थिक सहायता दी गई। वैसे देश भर में प्रायः एक सहस्र विद्यालयों द्वारा संस्कृत का अध्यापन होता है। १९४७ में विभिन्न परीक्षाओं में प्रविष्ट होने वाले छात्रों की संख्या १४,६२७ थी, जब कि १९५७ तक यह संख्या १६,५६७ हो गई।

तदनन्तर ३९,००,००० की धनराशि स्वीकार करके मार्च १९५७ में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की गई।

उत्तर प्रदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जहाँ तक संस्कृत की वर्तमान स्थिति का सम्बन्ध है, यद्यपि वह सन्तोषजनक नहीं है; फिर भी पहले की अपेक्षा इस क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई है। केन्द्रीय संस्कृत कमीशन की रिपोर्ट से ज्ञात होता

है कि आगरा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध १५ कालेजों में एम. ए. तक संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था है और पी-एच. डी. के लिए उसको शोधकार्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इन कालेजों से १९५७-५८ में २२५० विद्यार्थियों ने संस्कृत से बी० ए० और ३०० विद्यार्थियों ने एम० ए० किया। स्नातकोत्तर ४० छात्रों को शोधकार्य के लिए संस्कृत के विभिन्न विषय दिए गये हैं। इलाहाबाद और अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों में एम० ए० तक संस्कृत विषय लेने की व्यवस्था की गई है। १९५९ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत विषय लेकर ६५० विद्यार्थी बी० ए० में सम्मिलित हुए थे। गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा संस्कृत के अध्येताओं के लिए डिप्लोमा देने की योजना बनाई गई है। इसी प्रकार बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, गुजरात आदि विश्वविद्यालयों के द्वारा संस्कृत के अध्ययन और साथ ही संस्कृत की पोथियों का पाठशोध, संपादन तथा प्रकाशन आदि का भी महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है।

इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश सरकार ने पुराणों की पारिभाषिक शब्दावली तैयार करने के लिए एक समिति का गठन किया है। संस्कृत की नवीन कृतियों के प्रकाशनार्थ अनुदान की व्यवस्था और प्रकाशित कृतियों को पुरस्कृत करके सरकार इस दिशा में अच्छा कार्य कर रही है।

संस्कृत के परम्परागत ज्ञान की रक्षा के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने राज्य के उन संस्कृतज्ञ विद्वानों को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया है, जो प्राचीन अध्ययन शैली के परिपोषक हैं और जिन्होंने स्कूलों एवं कालेजों से सम्बन्ध न रखते हुए भी गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा संस्कृत-साहित्य के उस ज्ञान को सुरक्षित एवं अक्षुण्ण बनाये रखा, जो ज्ञान की पुस्तकों के रूप में उपलब्ध नहीं था।

इस निश्चय के अनुसार राज्य सरकार ने अपने १९५८ के बजट में दस हजार रुपयों का आवर्तक अनुदान स्वीकार किया है ।

इसी प्रकार स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद देश में जिन साहित्यिक संस्थाओं ने संस्कृत की दिशा में कार्य किया 'राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर' का उनमें उल्लेखनीय स्थान है। राजस्थान में १९५० ई० को 'संस्कृत मण्डल' के नाम से एक संस्था की स्थापना की गई थी। १९५५ में उसी संस्था का कार्यक्षेत्र बढ़ा दिया गया और उसका नया नामकरण किया गया 'राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर'। १९५६ में इस संस्थान को राजस्थान सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हो गई और इसलिए उसका कार्यक्षेत्र बढ़ा दिया गया। इस संस्थान का प्रमुख उद्देश्य देश भर में और विशेषतः राजस्थान के विभिन्न अंचलों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी और देश्य भाषाओं के जो हस्तलिखित ग्रन्थ नष्ट हो रहे हैं या अनुपयोगी अवस्था में पड़े हैं उनका उद्धार करके उन्हें प्रकाश में लाना है। फलतः वहाँ आज लगभग १२,००० हस्तलिखित पोथियाँ एकत्र हो चुकी हैं।

१९५८ तक यह संस्थान जयपुर में कार्य करता रहा; किन्तु अब उसको जोधपुर में उसके अपने नये भवन में स्थानान्तरित किया गया है। 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' के नाम से एक प्रकाशन-व्यवस्था की योजना बनाकर अब तक (१९५९) उसमें विभिन्न भाषाओं के २४ दुर्लभ एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और लगभग ३० ग्रन्थ प्रकाशनार्थ प्रेस में हैं। राजस्थान सरकार ने इस प्रकाशन के लिए संस्थान को १४,००० का अनुदान दिया है। यह संस्थान विगत अनेक वर्षों से प्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजय के सञ्चालकत्व एवं निर्देशन में कार्य करता आ रहा है।

इस संस्थान द्वारा जो संस्कृत-ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं उनकी संख्या १७ है और वे दर्शन, तन्त्र, इतिहास, व्याकरण, कोश, काव्य, नाटक, महाकाव्य, नाट्य, सूक्ति, स्तोत्र और अलंकार आदि अनेक विषयों से संबद्ध हैं। इसी प्रकार संस्कृत के लगभग २३ ग्रन्थ संपादित होकर प्रेस में छप रहे हैं।

इसके अतिरिक्त श्री आर० एस० भंडारकर द्वारा लिखित पुस्तक का 'राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज' नाम से हिन्दी में अनुवाद हो चुका है।

संस्कृत का सम्मान और संरक्षण

आज जिस भारतीयता, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य का अपने को हम दावादार समझते हैं, अतीत काल से उसकी थाती को हम तक पहुँचने में जिन विशिष्ट व्यक्तियों का हाथ रहा है, वे वही लोग थे, जिन्हें आज हम पंडित या विद्वान् कहते हैं। यद्यपि इन पंडितों या विद्वानों की आज जो अवस्था है उससे सभी लोग परिचित हैं; फिर भी इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि ये पंडित और विद्वान् सैकड़ों नहीं, सहस्रों वर्षों से इस देश की सभी तरह से रक्षा करते आये हैं। इस सचाई को यद्यपि आज हमारी अंग्रेजी सभ्यता नहीं मानती है; किन्तु इस अंग्रेजी सभ्यता को गुलामी के रूप में दान देने वाले अंग्रेज इस बात को भली भाँति जानते रहे हैं। सुदूर अतीत के सहस्रों वर्षों तक राष्ट्र की एकता और एशिया तथा यूरोप के देशों के साथ अपने उन्नत सम्बन्ध बनाये रखने का कार्य यदि किसी भारतीय भाषा ने किया है तो वह संस्कृत ही है।

संस्कृत के सम्बन्ध में आज हमारे समक्ष कुछ नये और मौलिक प्रश्न उपस्थित हैं। उनमें से एक प्रश्न यह भी है कि उसे राष्ट्रभाषा के रूप में माना जाना चाहिए। यदि हम इतिहास की दृष्टि से अतीत की ओर लौटकर इस प्रश्न का समाधान करना चाहें तो हमें ज्ञात होगा कि वह किसी भी युग में राष्ट्रभाषा नहीं रही। वह लोकभाषा भी नहीं रही। किन्तु वह विद्वत्समाज की भाषा के रूप में तत्कालीन राष्ट्रभाषाओं से अधिक सम्मान अर्जित कर अपना विकास करती रही। भारत ही नहीं, अपितु, विश्व की प्राचीनतम ग्रीक, लेटिन आदि भाषाओं की अपेक्षा

संस्कृत भाषा में यह विशेषता रही है कि वह भले ही दरबारी भाषा रही हो; किन्तु राजभाषा कभी भी न हुई। संस्कृत भाषा का उन्मुक्त वाङ्मय किसी भी युग में बन्दी बनकर रहा ही नहीं।

संस्कृत को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर आज हम न केवल देश की सुरक्षा को ही खतरे में डाल रहे हैं; बल्कि संस्कृत का भी बड़ा अहित कर रहे हैं। संस्कृत की उन्नति और उसकी समसामयिक लोकप्रियता के लिए उसको आज क्या रूप दिया जाय, जिससे कि राष्ट्र के उत्थान में वह सहायक सिद्ध हो सके और इस देश की कोटि-कोटि जनता स्वयमेव उसकी ओर अग्रसर हो, मौलिक प्रश्न यह है।

संस्कृत के संरक्षण के लिए आवश्यकता आज इस बात की है कि देश के शिक्षाविद् उसका पाठ्यक्रम निर्धारित करके उसको माध्यमिक और उच्च कक्षाओं के लिए अनिवार्य कर दें। पाठ्यक्रम के लिये नये सिरे से ऐसी पुस्तकें लिखवाई जाँय जिनको हमारे बालक-बालिकायें सुगमता से ग्रहण कर सकें।

संस्कृत के सम्मान और संरक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि संस्कृत की शिक्षा देनेवाली पाठशालाओं और उनमें शिक्षा पाने वाले छात्रों और शिक्षा देने वाले अध्यापकों की वर्तमान दशा में आमूल परिवर्तन हो। एक या दो विश्वविद्यालय स्थापित करके इस समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता है। इस समस्या को तभी हल किया जा सकता है जब कि देश के विभिन्न अचलों में सैकड़ों सस्कृत पाठशालाओं और उनमें हजारों की सख्या में शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों के स्तर को ऊँचा उठाया जाय।

संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य की अभ्युन्नति के वास्तविक आकांक्षी विद्वानों एवं राष्ट्रनायकों ने इस सम्बन्ध में अपने जो विचार प्रकट किए हैं उनको पढ़कर हमें यह ज्ञात होता है कि आज यदि हम संस्कृत की उन्नति के इच्छुक हैं तो उस पर हमें कुछ दूसरी ही दृष्टि से विचार करना होगा। उन्होंने जो सुझाव प्रस्तुत किए हैं उनको कार्यान्वित करने के लिए हमें यत्नशील होना पड़ेगा।

अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन (आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस) के नवम अधिवेशन (१९३८) के अध्यक्ष संस्कृत के सुपरिचित विद्वान् एवं संस्कृत के हितेच्छु डॉ० एफ० डब्लू० टामस ने अन्य भाषाओं की समकक्षता में संस्कृत के महत्व और उसकी पुनः प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में अपने भाषण (कान्फ्रेन्स का विवरण, पृ०४०५, १९९७ वि०) में कहा था :

'किसी देश्य भाषा की अपेक्षा संस्कृत से विशेष लाभ यह है कि वह बहुतेरी आर्य तथा द्राविड़ भाषाओं में परस्पर-स्पर्धी व्युत्पन्न शब्दों की एक ही प्रकृति के रूप में प्रसिद्ध है। संस्कृत की वाक्य-रचना का अपेक्षित विधान किसी देश्य भाषा

से बड़ा होना आवश्यक नहीं है। संस्कृत के माध्यम से भारत के बाहर उन देशों के साथ अन्तःसम्बन्ध सरल बनाने में सुविधा होगी, जिनका धार्मिक साहित्य संस्कृतमूलक है; और जिन देशों में कि मध्य और पूर्वीय एशिया का एक बहुत बड़ा भाग सम्मिलित है।

'इसलिए मैं इस तर्क को स्वीकार नहीं करता कि भारतवर्ष के लिए, संस्कृत का, एक सामान्य साहित्यिक माध्यम का स्थान पुनः ग्रहण करना एक सर्वथा नई या बीती बात है।' (कान्फ्रेंस का विवरण, पृ० ४०५, १९८७ वि०)

डॉ० टामस के इस मन्तव्य से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि अन्य भारतीय भाषाओं के विकास-विस्तार के साथ संस्कृत को भी कैसे जीवित रखा जा सकता है; और दूसरी यह कि मध्य और पूर्वी एशिया के अनेक देशों के साथ, जिनका धार्मिक-साहित्य संस्कृतमूलक है, संस्कृत के माध्यम से सरलता से सम्बन्ध बनाये जा सकते हैं।

✓इस प्रकार संस्कृत की महत्ता न केवल उसके अगाध वाङ्मय के कारण है, बल्कि भारत की विदेश नीति के लिए भी उसका महत्त्व है।

सर मिर्जा इस्माइल के पाण्डित्य और बुद्धिमत्ता के सम्बन्ध में सुविदित है; किन्तु उनके सम्बन्ध में इस बात को विरले ही लोग जानते हैं कि वे आधुनिक ढङ्ग से संस्कृत के वैज्ञानीकरण के भी कट्टर पक्षपाती हैं। बंगलोर के वीर भद्रप्पा (संस्कृत विद्यापीठ) के रजतजयन्ती महोत्सव के अवसर पर १० फरवरी, १९४० को उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने जो विचार व्यक्त किये हैं वे संस्कृत के पक्षपाती भारतीय विद्वानों और सम्पूर्ण संस्कृत जगत् के लिए ध्यान देने योग्य हैं। उन्होंने अपने भाषण में कहा 'मैं नहीं जानता कि यह अत्युक्ति मानी जायगी या नहीं, यदि मैं कहूँ कि संस्कृत का अध्ययन बुद्धिविलास से बढ़कर भी कुछ वस्तु है। यदि यह मानना स्पष्टतः कठिन होगा कि इस भाषा या इसके साहित्य का ज्ञान साधारण जन के व्यावहारिक जीवन में अपेक्षित है, तो मैं समझता हूँ कि यह कुछ भी अयुक्त न होगा, यदि मैं कहूँ कि हमारे शिक्षित युवक अपने समय तथा शक्ति का एक भाग इस महिमामयी तथा आश्चर्यमयी भाषा का एक अच्छा-सा ज्ञान उपार्जन करने में लगाकर अपना हित ही करेंगे और इतिहास के अध्यवसायी विद्यार्थी के सम्बन्ध में तो, जो भारत के अतीत की महत्ता समझना चाहता है, मुझे सन्देह है कि वह संस्कृत के बिना सचमुच काम चला सकता है; क्योंकि भारत की प्राचीन सभ्यता का सार ही संस्कृत-साहित्य है और इसमें हिन्दू धर्म का सार तत्त्व प्रतिष्ठित है।

'यद्यपि हिन्दूधर्म और संस्कृत विद्या का इस प्रकार सहयोग है, तथापि यह भाषा तथा इसका साहित्य स्वयं जो आकर्षण वहन करते हैं वह भौगोलिक और धार्मिक सीमाओं को पार कर जाता है।'

मेरा अभिमत है कि सर स्माइल ने जो कुछ भी कहा है वह उपेक्षा योग्य नहीं है। संस्कृत की महानता के सम्बन्ध में, जब कि आज उस पर अनेक प्रकार के आक्रमण हो रहे हैं, सर मिर्जा स्माइल का ऐसा कहना बड़ा महत्त्व रखता है।

इसी प्रकार राष्ट्रपिता के बारे में भी कम ही लोग इस बात को जानते हैं कि संस्कृत भाषा की अभ्युन्नति और सम्प्रति उसको समुचित पद मिलने की आवश्यकता के प्रति उनके मन में कितनी निष्ठा थी। वे किसी बात को कहते कम थे; किन्तु समय आने पर वे जिन बातों को कहते थे, वे अपूर्व होती थीं, उनमें कुछ तथ्य हुआ करता था। १७ मार्च १९४० ई० में रामगढ़ से उन्होंने संस्कृत की उपेक्षा किए जाने के सम्बन्ध में 'हरिजन' पत्र में जोरदार शब्दों में यह अपील की थी कि 'मैं नहीं जानता कि पटना विश्वविद्यालय ने क्या किया है। पर मैं आप से इस बात में पूर्णतः सहमत हूँ कि संस्कृत के अध्ययन की खेदजनक उपेक्षा हो रही है। मैं उस पीढ़ी का हूँ, जो प्राचीन भाषाओं के अध्ययन में विश्वास रखती है। मैं नहीं मानता कि ऐसा अध्ययन समय और उपयोग का अपव्यय है। मैं तो मानता हूँ कि यह आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में सहायक है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है यह बात किसी और प्राचीन भाषा की अपेक्षा संस्कृत के पक्ष में अधिक सत्य है और प्रत्येक राष्ट्रवादी को इसका अध्ययन करना चाहिए; क्योंकि इससे प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन अन्य उपायों की अपेक्षा सुगमतर होता है। यह वह भाषा है, जिसमें हमारे पूर्व पुरुष सोचते और लिखते थे। किसी हिन्दू बालक या बालिका को संस्कृत के प्राथमिक ज्ञान से हीन नहीं रखना चाहिए; यदि उसे अपने धर्म की आत्मा का सहज बोध पाना है। यों गायत्री अनुवाद्य नहीं है। किसी अनुवाद में उसके मूल की संगति नहीं मिल सकती, जो, मैं मानता हूँ कि, अपना ही अर्थ रखती है। मैंने जो कहा है उसका गायत्री एक उदाहरण है।'

राष्ट्रपिता ने गायत्री का उदाहरण प्रस्तुत करके उन लोगों को सचेत किया है, जो अंग्रेजी के माध्यम से संस्कृत का मूल्यांकन करना चाहते हैं। उन्होंने बालक-बालिकाओं के लिए संस्कृत की शिक्षा का आरंभिक अध्ययन इसलिए आवश्यक बताया है कि हमारे चरित्र और आचार-विचार की शुद्धता तभी बनी रह सकती है, जब हम आचार-विचार-प्रधान और चरित्र को ऊँचा बनाने वाली भाषा संस्कृत को स्वयं पढ़ें और अपने घरों की संस्कृति को उसके अनुरूप बनायें।

नेहरू जी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'सबसे बड़ा रत्नकोश, जो कि भारत के पास है और जो उसका श्रेष्ठ उत्तराधिकार है, वह है संस्कृत भाषा और उसका साहित्य और वह सब कुछ जो उसमें है, यह हमारा शानदार उत्तराधिकार है और जब तक यह विद्यमान है और राष्ट्र के जीवन को प्रभावित कर रहा है तबतक भारत की मौलिक प्रतिभा भी बनी रहेगी।'

संस्कृत की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में, जब कि प्रादेशिक या क्षेत्रीय भाषाओं के लिए बड़ा संघर्ष हो रहा है, संस्कृत की चर्चा भी नहीं है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जब कि यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है कि भारत के समग्र अंचलों की भाषाओं तथा बोलियों को साहित्यिक रूप देने का कार्य संस्कृत ने ही किया है; इसलिए संस्कृत के संरक्षण और अध्ययन का यह भी अर्थ हो जाता है कि भारत के सभी अंचलों की भाषाओं की भावी उन्नति संस्कृत पर ही निर्भर है। आज जो लोग संस्कृत के विरोधी हैं उन्हें भी यह भूलना नहीं चाहिए कि वे जिस भाषा के पक्षपाती हैं उस पर भी संस्कृत का ऋण है।

राम, सीता, कृष्ण, राधा, भीम, युधिष्ठिर, नल, दमयन्ती आदि हमारे राष्ट्रीय चरित्रनायक रहे हैं। उनकी कथायें समग्र भारत की सभी भाषाओं के साहित्य में पाई जाती हैं। वे संस्कृत के माध्यम से ही सभी भाषाओं के साहित्य में गई।

किन्तु संस्कृत के हिमायती लोगों और विशेषतः पण्डितवर्ग में संस्कृत के प्रति जो परम्परायें, पूर्वाग्रह और दावेदारी की भावनायें हैं; जो कट्टरपंथीपन है; और जो संकीर्णतायें हैं उनका परित्याग किये बिना संस्कृत की उन्नति सम्भव नहीं है। उसको सर्वप्रिय, आधुनिक और प्रगतिशील बनाने के लिए यह आवश्यक है, कि 'संस्कृत के सभी प्रेमियों, विशेषतः प्राचीन पंडितों को, स्पष्टतः तथा साहसपूर्वक यह घोषणा करनी चाहिए कि संस्कृत सबके लिए है; वेद का पठन-पाठन कोई भी कर सकता है, तथा गायत्री-जैसे मंत्र भी किसी की बपौती नहीं हैं।'

श्रद्धेय श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर के उक्त अभिमत को कार्यान्वित करने से ही आज संस्कृत का उद्धार संभव है। अपने एक लेख (भारती, अप्रैल १९५९) में उन्होंने संस्कृत की अवरोधक परिस्थितियों पर चिन्ता प्रकट करते हुए आगे लिखा है : स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को पूरा अधिकार दिया जाना चाहिए। वे समकक्ष होकर वेदों और संस्कृत के समग्र वाङ्मय को पढ़ें। इसके अतिरिक्त उसके अध्यय-अध्यापन की ऐसी वैज्ञानिक रीतियाँ निकाली जायँ, जिससे वह सरलता से बोधगम्य हो सके। ऐसा करने पर ही संस्कृत अतीत की भाँति वर्तमान में भी अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है।'

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में

इस पुस्तक को मैंने 'संस्कृत-साहित्य की भूमिका' के रूप में तैयार किया था और इसी नाम से उसके प्रकाशन की व्यवस्था साहित्यकार संसद्, प्रयाग से प्रायः निश्चित हो चुकी थी। पुस्तक के प्रकाशनार्थ केन्द्रीय सरकार के शिक्षामंत्रालय ने अपने १९५८-५९ के बजट में २,७०० रु० अनुदान के रूप में स्वीकार किया था; किन्तु इसी बीच कुछ ऐसी परिस्थितियाँ घटित हुईं, जिनके कारण मुझे संसद् को पुस्तक न देने के लिए विवश होना पड़ा।

'भूमिका' को 'इतिहास' का रूप देने के लिए उसमें मुझे आमूल परिवर्तन करना पड़ा और तदनन्तर मेरे आग्रह पर उसके प्रकाशन का भार चौखम्बा संस्कृत सीरीज के व्यवस्थापक आदरणीय श्रीकृष्णदास गुप्त जी ने सहर्ष स्वीकार कर अपनी उदारता का परिचय दिया।

इस पुस्तक के वास्तविक श्रेयभागी वे विद्वान् हैं, जिन्होंने संस्कृत-वाङ्मय पर इतिहास लिखने की परिपाटी का समारंभ किया। इस प्रकार के विद्वानों में वेबर, मेक्डोनेल, मैक्समूलर, विंटरनित्स और कीथ के नाम प्रमुख हैं। रायस डेविड्स, गायगर और स्मिथ प्रभृति विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त जिन भारतीय विद्वानों ने आंशिक या व्यापक रूप से इस क्षेत्र में कार्य किया उनमें श्री काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, श्री रामदास गौड, पं० भगवद्दत्त, पं० रघुनन्दन शर्मा, म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय, श्री वी० वरदाचार्य, श्री नाथूराम प्रेमी, म० म० वासुदेव विष्णु मिराशी, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, कविराज सूरमचन्द्र, डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण, डॉ० विमलाचरण लाहा, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, डॉ० राधाकृष्णन्, म० म० पाण्डुरंग वामन काणे, डॉ० पं० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, पं० बलदेव उपाध्याय, डॉ० एस० एन० दास गुप्ता, डॉ० एस० के० दे, डॉ० देवराज, श्री भरतसिंह उपाध्याय, पं० उदयवीर शास्त्री और श्री अत्रिदेव विद्यालंकार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अपनी इस पुस्तक के लिए मैं इन विद्वानों की पुस्तकों तथा इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर उद्धृत अन्य विद्वानों के विचारों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से ऋणी हूँ।

नेशनल लाइब्रेरी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष अपने मित्र श्री कृष्णाचार्य जी का मैं आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा से मैं इस पुस्तक की रूपरेखा तैयार करने में समर्थ हो सका। व्याकरणाचार्य पं० रामचन्द्र झा जी के स्नेह और सहयोग के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ।

म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज, म० म० डॉ० उमेश मिश्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और पं० बलदेव उपाध्याय ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि देख कर तथा उस पर अपने मन्तव्य लिखने एवं परामर्श प्रदान करने की जो कृपा की है उसके लिए मैं इन विद्वान् महानुभावों का कृतज्ञ हूँ।

इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर कृपालु विद्वान् डॉ० बहादुरचन्द छाबड़ा ने मेरी जो सहायता की है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

३२ ९ करेलाबाग कॉलोनी,
इलाहाबाद

—लेखक

विषयानुक्रम

आर्यों का आदि देश

संस्कृत, भारत की अपनी मूल भाषा है, जिसका 'देववाणी' दूसरा नाम अपनी अति प्राचीनता का द्योतक है। भारत के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक जीवन की पूरी व्याख्या संस्कृत भाषा के वाङ्मय में समाविष्ट है। वेदों के अति रहस्यमय ज्ञान से लेकर सामान्य जन-जीवन के मनोविनोद से संबंधित 'पंचतंत्र' की कथाओं तक जितना भी साहित्य-वैभव विद्यमान है, वह सब संस्कृत-भाषा में ही सुरक्षित है। भारत के उन ज्ञानमना महामनस्वियों के व्यक्तित्व एवं अध्यवसाय का आज हम अंदाजा तक नहीं लगा सकते, जिन्होंने ऐसे सहस्रों ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें से एक ही ग्रन्थ के आमूल अध्ययन के लिए हमें एक समस्त दीर्घायु जीवन की आवश्यकता है।

दुनिया के इतिहासकारों के समक्ष एक बहुत बड़ी जटिल समस्या आदि से ही, बिना समाधान हुए, यह रही है कि जिस बृहद्-वाङ्मय का उत्तराधिकार, जिस बहुमूल्य वसीयत का स्वामित्व आज भारत को उपलब्ध है, उसका मूल अधिकारी कौन था, और भू-मण्डल के किस छोर से उठकर उसने इस भारत भूमि में कब पदार्पण किया? इस जिज्ञासा का अभी तक अंतिम रूप से समाधान नहीं हो पाया है और भविष्य में भी इस संबंध में एक सर्व-संमत हल देखने-सुनने को मिलेगा, कदाचित्, इसकी भी संभावना कम है। इस संबंध में इतना अवश्य है कि इतिहासकारों की यह बिना समाधान पाई जिज्ञासा ही समय की मोटी परत से विलुप्त सच्चाइयों को खोज निकालने में सदा सक्रिय रही है और भविष्य में भी निरंतर नये अनुसंधानों का कारण बनी रहेगी।

मनुष्य की जन्मभूमि

भारतीय साहित्य के आदि निर्माताओं को खोज निकालने से पूर्व भारत भूमि को आबाद करने वाली और इससे भी आगे बढ़कर इस पृथिवी में मानव की प्रतिष्ठा करने वाली आदिम जाति कौन थी, इस जिज्ञासा का समाधान होना आवश्यक है। मनुष्य की मूल जन्म-भूमि को खोज निकालने के लिए इतिहासकारों, पुरातत्त्वज्ञों, भाषा-वैज्ञानिकों और जन-विज्ञान-वेत्ताओं ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अलग-अलग मान्यतायें स्थापित की हैं। सीरिया, पश्चिम एशिया, मध्य एशिया, बर्मा, अफ्रीका, उत्तरी ध्रुव, भारत, दक्षिण भारत, पंजाब, कश्मीर और सिंधु के पठारों आदि संसार के विभिन्न भू-भागों को मनुष्य का उत्पत्ति-स्थल सिद्ध किया गया है। विद्वानों का एक संप्रदाय आदि मनुष्य को लोम-रहित सिद्ध करने के पक्ष में है; एक मत विकासवाद के सिद्धान्त पर आधारित लोम-संयुक्त बंदर को मनुष्य जाति का आविर्भावक मानता है; कोई अस्थि-विज्ञान को आधार मानते हैं और एक सिद्धान्त कृषिसभ्यता के विकास को आधार बनाकर मनुष्य के मूल निवास का हवाला पेश करता है।

विद्वानों का एक बहुमत-समर्थित संप्रदाय मनुष्य की मूल नस्ल को पहचानने के लिए उसकी भाषा, रंग-रूप और छोटाई-ऊँचाई को मान्यता देता है। भाषा-विज्ञान (Philology) और जन-विज्ञान (Anthropology) इस शास्त्र-द्वय द्वारा वैज्ञानिक वर्गीकरण के आधार पर विद्वानों ने भारतीय जनता की रचना के लिए औष्ट्रिक (आग्नेय), द्राविड़ और हिन्द-यूरोपियन (हिन्द-जर्मन), इन तीन जातियों को मूल कारण सिद्ध किया है। इस सिद्धान्त के मानने वाले विद्वानों के अनुसार निग्रो से लेकर आर्य जाति तक जितनी भी विभिन्न जातियाँ भारत में प्रविष्ट हुईं, वे सब इन्हीं तीन नस्लों में विलयित हो गईं और इन्हीं सम्मिलित जातियों के द्वारा संस्कृत भाषा का निर्माण हुआ।

कुछ प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक आधारों को साक्षी मानकर यदि हम थोड़ी देर के लिए इस मन्तव्य को सत्य भी मान लें कि मानव-सृष्टि का अभ्युदय भारतभूमि में ही हुआ, तो कदाचित् इस मन्तव्य को स्थायी रूप देने के लिए हम ऐसे समर्थ आधार और प्रामाणिक सामग्री कथंचित् ही पेश कर सकें, जिसको स्वीकार करने में किसी को अड़चन न पड़े। इस सम्पूर्ण

आर्यों का आदि देश

भू-मण्डल के ओर-छोर तक मानव-समाज का बिखर जाना इस बात का स्वतः प्रमाण है कि जिस भी दिशा में जिस मानव-समूह को सुख-सुविधायें एवं आवास की अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध हुईं, वहीं वह स्थायी रूप से बस गया। इसके विपरीत जहाँ-जहाँ सुख-सुविधाओं का अभाव होता गया वहीं-वहीं से वे समूह चलते बने। भारत जैसी शस्य-श्यामला और उर्वर भूमि की स्थायी सुविधाओं को त्याग कर मानव-समूहों का सुदूर देशों को प्रवासित हो जाना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। एतदर्थ हमें इस सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मानव जाति का मूल-निवास भारत भूमि में न होकर कहीं अन्यत्र ही था।

भारत के विरोध में ये दलीलें या इन्हीं से मिलती-जुलती कुछ बातें विदेशियों ने बार-बार कही हैं, और उन्हीं का अंधानुकरण कर थोड़े-से भारतीय विद्वानों ने भी भारत को मनुष्य की जन्म-भूमि मानने में आपत्तियाँ प्रकट की हैं। किन्तु इधर की स्वतन्त्र खोजों से जो-जो नई मान्यताएँ प्रतिष्ठित हुई हैं, वे दिलचस्प होने के साथ-साथ सचाई के भी अधिक समीप जान पड़ती हैं।

यद्यपि तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर विद्वानों ने इस संशय का स्पष्टीकरण कर दिया है कि दुनिया की विभिन्न जातियों के साहित्य में सैकड़ों शब्द समानार्थक हैं, जिनको प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र भी स्वीकार करते हैं;[१] तथापि, इस आधार पर भी तो यह प्रमाणित नहीं हो पाता है कि मूलतः कौन जाति दूसरी जातियों की जन्मदात्री थी!

आर्यों के मूल निवास के संबंध में विभिन्न मत[२]

संसार के सुप्रसिद्ध इतिहासकारों की धारणाएँ इस विषय में एक जैसी नहीं हैं कि आर्य कहे जानेवाले संपूर्ण मानव-समाज का मूल निवास धरती का अमुक भाग था। गाइगर का कथन है कि मध्य-पश्चिम जर्मनी से आर्य समस्त भू-भाग में बिखरे; बेन्फे की धारणा है कि कृष्ण सागर के उत्तरी मैदान से

---

१. कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड १, पृ० ६६।

२. आइजक टेलरी : दि ओरिजन आफ दि आर्यन्स (लंदन १८८९); जी० चाइल्डे : दि आर्यन्स; ए० सी० दास : ऋग्वैदिक इंडिया (कलकत्ता १९२७); तिलक : आर्किटक होम इन दि वेदाज (पूना १९०३); लक्ष्मीधर : दि होम आफ दि आर्यन्स (दिल्ली १९३०); पावगी : दि आर्यावर्तिक होम ऐंड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिंधुज; सम्पूर्णानन्द : आर्यों का आदिदेश (१९९७ वि०)।

आर्य जाति विभिन्न समूहों में बँटकर धरती भर में बिखरी; गाइल्स आर्यों का आदि निवास आष्ट्रिया, हंगरी तथा बोहेमिया के भू-भाग को सिद्ध करता है, और मैक्समूलर मध्य एशिया को आर्यों की जन्मदात्री भूमि बताता है।

इस संबंध में चार मत प्रमुख हैं; कुछ जर्मन विद्वान् आर्यों का आदि देश, जर्मन एवं रूस के बीच; यूरोपियन विद्वान् मध्य एशिया; पारसी विद्वान् ईरान और भारतीय विद्वान् भारत में सिद्ध करते हैं।

कुछ विद्वानों की राय में आर्यों की आदि भूमि का एक सर्वमान्य हल खोज निकालना कठिन है; किन्तु उनकी दृष्टि में संभावित रूप से आर्य मूलतः मध्य एशिया के थे।[1] सुप्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् मैक्समूलर ने 'साइंस आफ दि लैंग्वेज' के समय तक तो आर्यों की आदि भूमि मध्य एशिया को स्वीकार किया; किन्तु अकस्मात् ही उसके बाद उन्होंने अपना मंतव्य कुछ संशोधन के साथ यों प्रकट किया कि 'जिस प्रकार मैंने ४० वर्ष पूर्व कहा था, उसी प्रकार आज भी कहता हूँ कि आर्यों की जन्मभूमि कहीं एशिया थी।'[2]

डब्ल्यू ब्रांदेंश्ताइन (W. Brandenstein) का एक गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ था 'Die Crste indogermanesche wande rung' नाम से, जिसका कि कीथ ने अंग्रेजी में संक्षिप्तीकरण किया था। अपने इस बृहद् लेख में ब्रांदेंश्ताइन महोदय ने भाषा की दृष्टि से आद्य-भारतीय यूरोपीय इतिहास को दो भागों में बाँटा था : प्राथमिक-काल और उत्तर-काल। उन्होंने उस लेख में सप्रमाण स्पष्ट किया था कि भारतीय आर्यों का मूल-निवास मध्य-एशिया था। उनके मतानुसार यूराल पर्वतमाला का दक्षिण भाग भारतीय आर्यों की मातृ-भूमि था।[3]

भारत के विपक्ष में विदेशियों को एक आपत्ति यह भी है कि कुछ वैदिक ऋचाओं के उल्लेखानुसार सप्त-सिंधु (पंजाब) को यदि आर्यों की आदि भूमि स्वीकार की जाय तो उसमें सबसे पहिले अड़चन यह उपस्थित होती है कि उन्हें सप्त-सिन्धु के किनारे किन दस्युओं और निषादों से लड़ाई लड़नी पड़ी थी? दूसरी बात यह कि ईरान, फारस और यूरोपीय भाषाओं में संस्कृत शब्द कैसे प्रविष्ट हुए? इस आधार पर उक्त विद्वानों की राय है कि आर्य बाहर से भारत में आये और उसके लिए प्रमाण दिया जा सकता है कि ऋग्वेद में

---

१. आई० बी० आई० डी०, पृ० ३२१। २. गुड वर्ड्स, अगस्त, १८८७।
३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता, मार्च १९३७।

सिंह का तो उल्लेख मिलता है; किन्तु व्याघ्र का नहीं। इसी प्रकार वहाँ मृगहस्ती का तो वर्णन है; किन्तु हाथी का नहीं। हाथी और व्याघ्र भारत के विशिष्ट जीव हैं जो मध्य-एशिया में नहीं होते। इसलिए निश्चित रूप से आर्यों की मूल भूमि भारत नहीं थी।[1]

इस मत के विपरीत कुछ विद्वानों ने सहानुभूति दर्शित करते एवं उदारता दिखलाते हुए कहा कि जब भारतीय आर्यों के किसी भी संस्कृत-ग्रंथ, या किसी भी प्राचीन उल्लेख, या किसी भी इतिवृत्त में कहीं भी कोई इस प्रकार की चर्चा नहीं की गई है कि वे किस भू-भाग से भारत में आये, तो, उनके संबंध में एक निश्चित धारणा बना लेना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।[2]

अपने मन से अपनी बातों को कोई भी गलत नहीं कहता है, किन्तु उस सच्चाई की परीक्षा तभी होती है, जब दूसरे लोग भी उसको स्वीकार करें। अनेक विवादास्पद प्रश्न विद्वानों के सामने ऐसे आते गए हैं, जिनके सम्बन्ध में एक सर्वसंमत हल निकालना असंभव-सा हो गया। मनुष्य के मूल निवास की समस्या का प्रश्न भी ऐसा ही जटिल रहा है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए बहुत विद्वान् तो स्वार्थवश अपनी हठ पर अंत तक अड़े रहे; किन्तु ज्यों-ज्यों सच्चाइयाँ खुलती गईं, कुछ विद्वानों को अपनी पूर्वोक्त बातों को वापस लेना पड़ा।

भारतीय साहित्य की ही भाँति भारतीय निवासियों के इतिवृत्त का वैज्ञानिक अध्ययन पहिले विदेशियों ने आरंभ किया और उसके बाद भारतीयों का ध्यान उधर आकर्षित हुआ। भारतीयों के उस दिशा में आकर्षित होने के पूर्व ही भारत के संबंध में तथा वहाँ के निवासियों के संबंध में विदेशियों ने जो अनाप-शनाप बातें खोज निकाली थीं, उनका बहुत कुछ निराकरण तभी हो चुका था। भारतीय विद्वानों ने अपने देश के तथा अपने साहित्य के संबंध में जब नये सिरे से विचार करना आरंभ किया और फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले, उनसे भारत का ही नहीं, बल्कि दुनिया के इतिहास का एक नया आलोक स्तंभ मुखरित हो उठा।

भारतीयों के आदिम जीवन पर गंभीरतापूर्वक विचार करने वाले विद्वानों में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, नारायण भवनराय पावगी, डा० अविनाश-चंद्र दास, पं० भगवद्दत्त, पं० रघुनंदन शर्मा और बाबू संपूर्णानन्द जी का नाम

---

१. आई० बी० आई० डी०, पृ० ७९। २. संस्कृत टेक्स्ट बुक, वाल्यूम २, पृ० ३२३।

उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने अपनी स्वतंत्र सूझें भारत की परिस्थितियों, वहाँ की प्राकृतिक बनावटों और वहाँ के साहित्य को आधार बनाकर सर्वथा मौलिक रूप में पाठकों के सामने रखीं, अपने प्राक्स्वत्वों के विलुप्त सत्यों और उन पगडंडियों को, जिन पर पड़े हमारे पूर्वजों के पदचिह्न यद्यपि आज धुँधले पड़ गए; किन्तु अपने साक्षात्कृत महान् सत्यों को जिस भारी ज्ञान-विरासत के रूप में वे हमें दे गए, उनको खोज लाने में उक्त विद्वानों की पुस्तकें हमारे लिए मार्ग-निर्देशन का एक बहुत बड़ा जरिया, अथ च, हमारे देश तथा हमारी जाति के संबंध में विदेशियों द्वारा उड़ाई गई दोषपूर्ण अफवाहों को दूर करने के लिए प्रबल प्रमाण सिद्ध हुई हैं। इन पुस्तकों में प्रकट की गई बातें निश्चित ही भारत के संबंध में दुनिया के विद्वानों को नये सिरे से पुनर्विचार करने को बाध्य करती हैं।[1]

आर्यों की मूल भूमि : भारत

भारतीय विद्वानों का अभिमत है कि आर्यजाति की मूल भूमि भारत थी और वहीं से उसका विस्तार संसार भर में हुआ। इस मत के पहिले प्रतिष्ठापक स्व० बालगंगाधर तिलक थे, जिनके अनुसार आर्यजाति का मूल निवास उत्तरी ध्रुव था। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे प्रामाणिक तथ्य विद्यमान हैं, जिनके अनुसार विदित होता है कि आरंभ में आर्यजाति विभिन्न संप्रदायों में विभाजित होकर कंबोज, जावा, सुमात्रा आदि बस्तियों तक विस्तारित थी। सभी संप्रदाय विशुद्ध भारतीय थे; उनमें विदेशी रक्त का लेशमात्र भी संमिश्रण नहीं था।

भारत के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के विधि-व्यवस्थापक महापुरुष मनु ने इस बात का विस्तार से उल्लेख किया है कि भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के अन्तर्गत पौण्ड्र, चौड़, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक,

---

१. इन महत्वपूर्ण पुस्तकों के नाम हैं :
तिलक : दि ओरायन तथा आर्किटक होम इन दि वेदाज।
पावगी : दि आर्यावर्तिक होम ऐंड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिंधुज।
दास : ऋग्वैदिक इंडिया।
भगवद्दत्त : भारतवर्ष का बृहद् इतिहास।
शर्मा : वैदिक संपत्ति।
संपूर्णानन्द : आर्यों का आदि देश।

पारद, पह्लव, चीन, किरात और खश जातियों का निवास था[1]। ब्राह्मण-ग्रंथ भी इस तथ्य का साक्षित्व प्रकट करते हैं।[2] 'मनुस्मृति' में प्राचीन भारत को ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश और यहाँ तक कि आर्यदेश आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।[3] महर्षि वाल्मीकि ने सुप्रसिद्ध एवं लोकविश्रुत अयोध्या नाम की नगरी का निर्माता मनु को बताया है।[4]

लोकमान्य तिलक का मत

लोकमान्य तिलक का मत बड़े महत्त्व का है। तिलक ने अपने ग्रंथ 'ओरायन' में आर्य-जाति के अभ्युदय और वैदिक साहित्य के निर्माणार्थ जिन गवेषणापूर्ण तथ्यों का दिग्दर्शन किया है, वे अत्यधिक श्रमसाध्य, विचारपूर्ण और अवलोकनीय हैं। उनके प्रमुख सिद्धान्तों का निष्कर्ष इस प्रकार है :

लोकमान्य तिलक उत्तरी ध्रुव के कटिबंध प्रदेश को आर्यों की मूल भूमि मानते हैं और ज्योतिषशास्त्र के आधार पर उन्होंने आर्य-जाति के उत्कर्ष को तीन विभिन्न युगों में विभाजित किया है। उन तीन युगों का नाम हैं १ आदि-युग अर्थात् मृगशीर्ष-पूर्वकाल, २ मृगशीर्ष-युग और ३ वसंत संपात-युग। आदि-युग की अवधि के लिए उन्होंने ६०००–४००० ई० पूर्व का समय निश्चित किया है। इस युग के निर्धारणार्थ उनके आनुमानिक आधार हैं और उनकी मान्यता है कि इस युग तक वैदिक ऋचाओं का निर्माण होना आरंभ नहीं हुआ था। दूसरे मृगशीर्ष-युग की मर्यादा को तिलक ने ४०००–२५०० ई० पूर्व स्थिर किया है और उनकी दृष्टि में इन डेढ़ हजार वर्षों का समय आर्यसभ्यता के महान् उत्कर्ष का समय रहा है। ठीक उन्हीं के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'This is most important period in the history of the Aryan civilization, A good many Suktas in the Regveda'; आर्यजाति के उत्कर्ष का तीसरा वसंतसंपात-युग २५००-१४०० ई० पूर्व है, तिलक के मतानुसार जिस युग में 'तैत्तिरीयसंहिता' और ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना हुई।[5]

---

१. मनुस्मृति १०।४३–४६। २. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८।
३. मनुस्मृति २।१७–२२।
४. अयोध्या नाम तत्रासीन्नगरी लोकविश्रुता।
मनुना मानवेंद्रेण यत्नेन परिनिर्मिता॥ रामायण ५।२।
५. तिलक : दि ओरायन, पृ० २०६–२०७, १८९३।

आर्यजाति के अभ्युदय के संबंध में लोकमान्य तिलक का उक्त सिद्धान्त कुछ दिनों तक अंतिम निष्कर्ष के रूप में मान्यता प्राप्त करता रहा; किन्तु इधर नई खोजों एवं नये सिद्धान्तों के कारण वह प्रभावहीन-सा हो गया है। उसकी प्रामाणिकता पर विविध विद्वानों ने आपत्ति प्रकट की है[१]। फिर भी कुछ विदेशी विद्वानों के साथ भारतीय विद्वानों का यही समर्थित मत है कि आर्यों की आदि भूमि भारत ही थी। भारत के विभिन्न भागों को अपनी-अपनी दृष्टि से विद्वानों ने आर्यों का निवासस्थान निर्धारित किया है।

भारत के संबंध में विभिन्न मत

अल्बरुनी के मतानुसार अति प्राचीन समय में आर्य लोगों का निवास हिमालय पर था। वहाँ की विपरीत जल-वायु के कारण वे पीछे आर्यावर्त्त में आकर बस गए, जहाँ से अनेक जातियों, संप्रदायों में विभक्त होकर वे अनेक भू-भागों में बिखर गए।[२] अपने एक भाषाशास्त्री मित्र को लक्ष्य करके टेलर महोदय ने भी यही स्वीकार किया है कि मनुष्य जाति की जन्मभूमि स्वर्ग-तुल्य कश्मीर थी।[3] उन्होंने जोर देकर इस बात को कहा कि आर्यों का मूल स्थान वही देश रहा है, जहाँ संस्कृत और जेंद भाषाएँ बोली जाती थीं।[४]

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता एवं इतिहासज्ञ विद्वान् बाबू अविनाशचंद्र दास ने इस संबंध में नई खोज की है। उन्होंने भी टेलर महोदय के अनुसार कश्मीर और सप्तसिन्धु को ही आर्यों का आदि निवास सिद्ध किया : 'That this beautiful mountainous country (Kashmir) and the plains of saptasindhu were the cradle of the aryan race.'[५] अविनाश बाबू ने अनेक प्रमाणों को उद्धृत कर इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि वेदों में जिन नक्षत्रों का वर्णन है उनका दर्शन ऋषियों ने कश्मीर से ही किया था।[६]

---

१. अविनाशचंद्र दास : ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० ७; रघुनंदन शर्मा : वैदिक संपत्ति, पृ० ९१-१११।

२. अल्बरुनी का भारत।

३. टेलर : ओरिजन ऑफ दि आर्यन्स, पृ० ९।

४. वही, पृ० ३८, ४२, ४३।

५. अविनाशचन्द्र दास : ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० ५५।

६. वही, पृ० ३७६।

मेगस्थनीज (४०० ई० पूर्व) का पूरा ग्रंथ संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु उसके अवतरण कई ग्रंथों में पाये जाते हैं। इन सब अवतरणों को एकत्र करके पहिले-पहिल उनको जर्मन भाषा में प्रकाशित किया गया और बाद में उनका अंग्रेजी अनुवाद हुआ। भारतीय जन-जीवन और उसकी प्राचीनतम स्थिति पर प्रकाश डालते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत अनगिनत जातियों में बसा है। इन जातियों में मूलरूप में कोई भी विदेशी नहीं थी; प्रत्युत स्पष्ट ही सारी ही इसी देश की थी। भारत के बाहर से आकर कोई भी जाति-संघ यहाँ नहीं बसा है, और न ही भारत ने अपने से भिन्न किसी जाति में कोई उपनिवेश बनाया।[1]

भारत के प्राचीनतम जन-जीवन और उसके आवास-निकास के संबंध में पुरातत्त्ववेत्ताओं ने कुछ प्रामाणिक आधार खोज निकाले हैं। उन्होंने उपलब्ध अस्थिपंजरों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि भारत में अति प्राचीन काल से शव-दाह की प्रथा प्रचलित थी। मोहेजोदड़ो से प्राप्त अस्थिपंजरों को उन्होंने पाँच सहस्र वर्ष या उससे पुराना सिद्ध किया है।[2] और साथ ही अब यह भी प्रमाणित हो चुका है कि बयाना एवं स्यालकोट से जो अस्थिपंजर प्राप्त हुए हैं, वे आर्यों के ही थे और उनकी अति प्राचीनता भी असंदिग्ध है।[3]

इसके साथ-साथ मध्य योरप से प्राचीनतम दाह-संस्कार की प्रथा को चाइल्डे ने केवल २४००–१८०० ई० पूर्व की अवधि के बीच माना है।[4] यूनानियों के संबंध में अलबरुनी ने लिखा है कि वहाँ भी कभी-कभी मृत-दाह की प्रथा प्रचलित थी; किन्तु उसकी भी अधिकतम प्राचीनता ३००–२०० ई० पूर्व के पहिले न थी।[5]

---

१. It is said that India, is peopled by races both numerous and diverse, of which not even one was originally of foreign discent, but all were evidently indigenous, and moreover that India neither received a colony from abroad nor sent out a colony to any other nation.

—एम. क्रिंडल : ऐंश्येंट इण्डिया मेगस्थनीज ऐण्ड आर्यन्स.

२. मोहेनजोदारो ऐण्ड दि इण्डूज सिविलाइजेशन' पृ० ७९–८९, १९३१।

३. प्र-हिस्टोरिक इण्डिया, पृ० ३७८–३८२, १९२७।

४. वी० जी० चाइल्डे : दि आर्यन्स, पृ० १४५, १९२७।

५. अल्बरुनी का भारत, अध्याय ७३।

मैक्समूलर साहब, जो कि अपने मध्यएशियावाद या एशियावाद को बार-बार दुहराते रहे; उन्हें भी अन्त में यह स्वीकार करना पड़ा कि भारत ही एकमात्र ऐसा महान् देश है, मानवजाति ने जिसके सुसंस्कारों का दाय लेकर अपनी सभ्यता, संस्कृति और अपने साहित्य का निर्माण किया। उन्होंने कहा 'हम लोगों ने इस प्राचीन देश के संबंध में, जो गोरी जाति का उत्पत्तिस्थान है और जो जगत की उत्पत्ति का मूल है, सत्य की खोज करनी प्रारंभ की।'[१] पुनः वे कहते हैं '......तब तुम परिचित हो जाओगे और तुम्हें लगेगा कि भारत-वसुंधरा मानवजाति की माता, हमारी सारी परंपराओं की उद्गमभूमि है।'[२]

इसी बात को कुछ व्याख्यात्मक ढंग से एम० लुई जैकोलियट यों कहते हैं 'भारत संसार का मूल स्थान है; इस सार्वजनिक माता ने अपनी संतान को नितांत पश्चिम में भेजकर हमारी उत्पत्तिसंबंधी जिज्ञासा को अपने-आप प्रमाणित कर दिया; उसी ने हम लोगों को अपनी भाषा, अपने कानून, अपना चरित्र, अपना साहित्य और अपना धर्म प्रदान किया'।[3]

कुछ विद्वानों के मतों की हम पहिले चर्चा कर चुके हैं, जिनका कथन है कि मानवजाति का मूल स्थान यदि भारत होता तो मनुष्य सुदूर पश्चिम को क्यों कर जा पाता; इसका सप्रमाण उत्तर हमें प्रो० डान के भौगोलिक अध्ययन पर निकाले गये निष्कर्षों से पूरी तरह मिल जाता है। जेम्स डी० डान (Jeimes D. Daun) प्रसिद्ध भू-गर्भवेत्ता विद्वान् हुए हैं। उनका कथन है कि 'प्राच्य, उन्नति का महादेश रहा है। यह बात सारे भूतकालिक प्रमाणों से सिद्ध होती है कि मनुष्य सर्वप्रथम विशाल प्राच्य के किसी भाग में उत्पन्न हुआ होगा, और उसको स्वतः इधर-उधर फैलने तथा आत्मोन्नति के लिये दक्षिण-पश्चिम एशिया की अपेक्षा अधिक उपयुक्त कोई दूसरा स्थान मालूम नहीं पड़ा होगा, क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से वही एक ऐसा केन्द्र है,

---

१. मैक्समूलर : इण्डिया : ह्वाट इट कैन टीच अस, पृ० १७८।

२. वही, पृ० १७।

३. जैकोलियट : दि जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, वाल्यूम १६, पृ० ७।

जहां से योरॅप, एशिया तथा अफ्रीका के तीन विशाल विभाग निश्चित होते हैं।'[1]

इस संबंध में क्रूजर साहब का मत भी ध्यान देने योग्य है, जिसको कि पावगी जी ने अपनी पुस्तक में उतारा है। क्रूजर साहब का मंतव्य है कि 'यदि पृथ्वी पर ऐसा कोई देश है, जो मानवजाति का मूल स्थान या कम-से-कम आदिम सभ्यता का लीलाक्षेत्र होने का दावा न्यायतः रखता है, और जिसकी वे समुन्नतियाँ, और उससे भी परे, जिसकी विद्या की वे न्यामतें, जो मनुष्य-जाति का दूसरा जीवन है, प्राचीन जगत् के सम्पूर्ण भागों में पहुँचाई गई हैं; तो वह देश निःसंदेश भारत ही है।'[2]

लोकमान्य तिलक के आर्यदेश 'उत्तरी ध्रुव' वाले सिद्धान्त पर बाद में बहुत आपत्तियाँ प्रकट की गईं; किन्तु उसका समर्थन भी कुछ कम नहीं हुआ। आज भी, जब कि इस सम्बन्ध में नये तथ्य प्रकाश में आ चुके हैं, लोकमान्य की स्थापनाएँ सहसा भुलाई जाने योग्य नहीं हैं। उत्तरी ध्रुव को मनुष्य-जाति की जन्मभूमि सिद्ध करने वाले विद्वानों में एम० डी० सपोरटा का नाम प्रमुख है, और यद्यपि इनके विचारों का प्रो० रे (Rhy) ने भरपूर खण्डन करने का यत्न किया[3], तथापि सुप्रसिद्ध भू-गर्भवेत्ता विद्वान् मेडलीकट एवं ब्लैन्फर्ड[4], डा० डान,[5] डा० इसाक टेलर[6] और दूसरे विद्वानों[7] ने यही स्वीकार किया कि उत्तरी ध्रुव, अथच, सप्तसिन्धु ही आर्यों का आदि देश था।

सप्तसिन्धुवाद

भारतीय पक्ष को लेकर आर्यों के मूल स्थान के सम्बन्ध में सप्तसिन्धुवाद का बोल-बाला अनेक विद्वान् करते आ रहे थे; किन्तु उसके लिए समर्थ दलीलें और व्यापकता से उसकी मौलिक गवेषणाएँ प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में नारायण भवनराय पावगी का नाम पहिले आता है। इस प्रसंग में उन्होंने लोकमान्य तिलक की कुछ बातों का और विशेषतः यूरोपीय विद्वानों के मतों

---

१. डान : आई. बी. आई. डी, पृ० ५८५, ५८६.

२. पावगी : दि आर्यावर्तिक होम ऐण्ड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिंधुज (हिन्दी अनुवाद) पृ० ७३।

३. रे : हिब्बर्त लिटरेचर (Hibbert literature), पृ० ६३१-६३३।

४. मेडलीकट ब्लैन्फर्ड : मेनुअल आफ जेयोलॉजी आफ इण्डिया, पृ० २२।

५. डा० डान : मेनुअल आफ जेयोलॉजी, पृ० ३८५ (१८६३)।

६. डा० टेलर : दि ओरिजन आफ दि आर्यन्स, पृ० २०१ (द्वितीय संस्करण)।

७. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वाल्यूम १०, पृ० ३६९ (नवाँ संस्करण)।

का आमूल खण्डन किया। जेम्स डी० डान, एस० मेडलीकट, ब्लैन्फर्ड, प्रो० जड, डा० नोइटलिंग, डा० कार्ल ए० रेडलिच, प्रो० लापवर्थ आदि भू-गर्भ-वेत्ता प्रकांड विद्वानों द्वारा वर्षों की गम्भीर खोजों के फलस्वरूप निकाले गए निष्कर्षों और वेदमन्त्रों एवं वैदिक साहित्य में सुरक्षित तत्सम्बन्धी स्थलों को प्रमाण रूप में उद्धृत कर पावगी जी ने आर्यों के मूल निवास के सम्बन्ध में अपने सर्वथा नये विचार प्रकट किये[1]।

उनका कथन है कि महाहिमयुग के समय, जब जलप्लावन ने उत्तरी ध्रुव देशों को आप्लावित कर लिया था, और वहाँ की भूमि को हिम तथा तुषार की मोटी-मोटी परतों के नीचे दबा लिया था, तब हमारे तृतीयकालीन पूर्वपुरुष आर्यावर्त की ओर, हिमालय के ही मार्ग से लौटने को बाध्य हुये थे। वे लोग सप्तसिन्धव देश के अपने मूल स्थान से वहाँ गये थे और उन अत्यन्त दूरस्थ भागों में बसकर उन्होंने उन भागों को आबाद किया था। यही कारण है कि हम इस विलक्षण हिमालय पर्वतमाला को महान् जलप्लावन के वर्णनों के साथ सप्तसिन्धव देश की उत्तरी सीमा के रूप में, बहुलता से वैदिक ग्रन्थों और ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित पाते हैं, जिसकी प्राचीनता २५०० ई० पूर्व से भी पहिले बैठती है[2]।

समीक्षा

वैदिक साहित्य की अधिकतम आयु २५००–३०० ई० पूर्व के भीतर है[3], लोकमान्य तिलक के 'ओरायन' तथा 'दि आर्क्टिक होम इन दि वेदाज' इन दो ग्रंथों की चर्चा करते हुए, वेदों के आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर, जिनकी ओर कि विदेशियों ने ध्यान तक नहीं दिया, यह सिद्ध किया है कि 'सिन्धु' शब्द समुद्रवाची और नदीवाची दोनों है। वेदोक्त 'सप्तसिंधव' शब्द का आधार भी यही 'सिन्धु' शब्द है। पाश्चात्यों के कथनानुसार क्योंकि

---

१. पावगी जी ने मराठी में एक पुस्तक लिखी थी: 'सप्तसिन्धु या प्रांत अथवा आर्यावर्त्तातील आमची जन्मभूमि आणि उत्तरध्रुवाकडील आमच्या वसाहती' नाम से, जिसका उन्होंने अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किया: 'दि आर्यावर्त्तिक होम ऐण्ड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिन्धुज'। पं० देवीदत्त शुक्ल ने उसका हिन्दी अनुवाद किया है; किन्तु यह अनुवाद अशुद्धियों से भरपूर है।

२. पावगी: 'दि वैदिक फादर्स आफ जेयोलॉजी', पृ० ७२ (ए) १४९, १५५; उन्हीं का 'दि आर्यावर्त्तिक होम ऐण्ड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिन्धुज', पृ० २४-२५ तथा तिलक: 'आर्क्टिक होम इन दि वेदाज, प्रफेस', पृ० १।

३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ७०, १९२२।

आर्य मध्यएशिया से भारत आये थे, अतएव वे समुद्र से अपरिचित थे इसलिए सिन्धु शब्द से उन्होंने सर्वत्र नदी को ही लिया है। किन्तु ऋग्वेद के कुछ मंत्रों को पढ़कर यह विदित हो जाता है कि आर्य समुद्र से सुपरिचित थे[1], एवं उनके संबंध में विदेशियों की उक्त धारणाएँ उनकी अज्ञानता की परिचायिका हैं।

अपने एक निबन्ध में बाबू संपूर्णानन्द जी ने लोकमान्य के सिद्धान्तों, उनकी सूझ-बूझ एवं उनकी ज्योतिष गणना के अनुसार वसन्त-संपात मार्गशीर्ष में होना स्वीकार किया है। लोकमान्य के मतानुसार मार्गशीर्ष महीने का यह वसंत-संपात का समय ज्योतिष के आधार पर आज से १७,००० वर्ष पहिले बैठता है।[2]

श्री क० मा० मुंशी ने भी अपने एक 'भगवान् परशुराम' शीर्षक लेख में बताया है कि सप्तसिन्धु आर्यावर्त्त का ही दूसरा नाम था; क्योंकि उसमें सात नदियाँ बहती थीं और उसकी सीमा वर्तमान काबुल से लेकर दिल्ली तक फैली हुई थी।[3]

कुछ लोगों ने पौराणिक आख्यानों या वंशावलियों के आधार पर वैदिक युग का संभावित काल २००० वर्ष ई० पूर्व या उससे भी पहिले-पीछे का माना है। वे स्वभावतया भारत में आर्यों के आगमन या आक्रमण की कालगणना के लिए इतनी प्राचीन तिथियों को मानने से इनकार करेंगे; किन्तु 'पौराणिक परम्पराओं का बहुत-सा भाग अत्यन्त प्राचीन हो भी सकता है; परन्तु उनके आधार पर आर्यों के आक्रमण-काल को अत्यन्त प्राचीन गिनना सर्वथा असंगत होगा, क्योंकि पौराणिक परम्पराओं का पूर्वार्धकाल के अनार्य द्रविड़ (तथा दक्षिणदेशीय) राजाओं और वंशों से संबंधित होना केवल संभव ही नहीं, नितान्त विश्वसनीय भी हो सकता है।'[4]

कुछ विद्वानों का कहना है कि वैदिक आर्य जिस रीति से भारत में प्रविष्ट हुए, उसका कहीं भी कोई उल्लेख उनके प्राचीनतम साहित्य में उपलब्ध नहीं होता है[5]। इन विद्वानों की ये धारणाएँ, भारतीय साहित्य

१. ऋग्वेद १।११६ ३–५; ऋग्वेद के नदीसूक्त (मडल १० सू० ७५) पर विस्तृत समीक्षा के लिए देखिए–वैद्य : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ९०।

२. नवनीत, सितम्बर १९५६। ३. भारती, बम्बई, सितम्बर ९, १९५६।

४. डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ५७।

५. आई. बी. आई. डी, पृ० ७९।

तथा वेदों के प्रति उनके अधूरे ज्ञान की परिचायिका हैं[1]। ऋग्वेद के वसिष्ठ-सूक्त में तृत्सु-वंशीय राजा सुदास के साथ जिन आर्य और अनार्य जातियों का युद्ध हुआ था उनके नाम हैं : तुर्वश, मत्स्य, भृगु, द्रुह्यु, पक्थ, भलान, अलिन, शिव, विषणिन् , वैकरण, अनु, अज, शिग्रु और यक्षु ।[2] ऋग्वेद के इस विवरण से विदित होता है कि ऋग्वेद के निर्माण से भी पहिले एशिया माइनर की कुछ जातियाँ आर्य-समूहों के साथ ही भारत में प्रविष्ट हो चुकी थीं। इन आर्य-जातियों से उत्पन्न अधुं, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिव आदि आधुनिक जातियाँ विश्वमित्र की संतानें कही गई हैं[3]।

डा० कीथ ने अपने एक पांडित्यपूर्ण व्याख्यान में अनेक प्रामाणिक आधारों के बल पर यह सिद्ध किया कि मानवजाति की जन्मभूमि उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त थी। उनके इस व्याख्यान पर बाद में कई दिनों तक बड़ी चर्चाएँ हुईं।[4] इसी प्रकार श्री जे० बी० हालडेन ने भी अपने एक व्याख्यान में मानवजाति की उत्पत्ति के लिए पृथ्वी के विभिन्न चार केन्द्रस्थल सिद्ध किए, जिनमें से पंजाब और मध्य अफगानिस्तान को भी उन्होंने मानवजाति की उत्पत्ति का एक केन्द्र माना है। हालडेन साहब के मतानुसार इन विभिन्न केन्द्रों में मनुष्य-जाति के विभिन्न तरीकों का अलग-अलग रूप से विकास हुआ।[5]

डा० अविनाशचंद्र दास ने आर्य-भूमि की भौगोलिक स्थिति के विश्लेषण पर एक बृहद् निबन्ध लिखा : 'ऋग्वेदोक्त आर्यनिवास का भौगोलिक विवरण'। अपने इस निबंध में डा० दास ने स्पष्ट किया कि ऋग्वेद संहिता के निर्माण-काल में आर्यगण पंचनद, काश्मीर, बाह्लीक, गांधार (अफगानिस्तान), उत्तरी बिलोचिस्तान और पश्चिम हिमालय प्रभृति प्रदेशों में पूर्णतया बस चुके थे और यही प्रदेश आर्यों का आदि निवास था। इन्हीं आर्यों की एक शाखा धार्मिक मत-भेद के कारण ईरान में जाकर बसने लगी थी। डा० साहब ने यह भी प्रकट किया कि सप्तसिन्धु वही भाग था, फारसियों के धर्मग्रन्थ

---

१. विस्तार के लिए देखिए—वैद्य : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट० वैदिक पीरियड, तथा उन्हीं का 'वेद में प्राचीन आर्य निवास' शीर्षक लेख, गंगा, वेदांक, प्रवाह २, तरंग १, पृ० १६३; रुद्रदेव शास्त्री : 'वेद में आर्यों का आदि निवास' लेख उक्त अंक में, पृ० १६६।

२. ऋग्वेद ७।१८। ३. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८।

४. ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० ११६।

५. दि स्टेट्समैन कलकत्ता, २२. २. ३१।

'अवेस्ता' में जिसको सप्तहिन्द कहा गया है। उस समय आर्य-भूमि के चारों ओर चार समुद्र थे, जो सप्तसिन्धु, अर्थात् सात नदियों की भाँति किन्हीं प्राकृतिक कारणों से संप्रति विलुप्त हो चुके हैं। डा० साहब ने आर्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया कि 'मेरे विचार में ऐसा जँचता है कि पंजाब और गांधार में ही आर्यों की उत्पत्ति हुई थी, एवं यही प्रदेश इनका आदि उत्पत्ति-स्थल (Cradle) है। सृष्टिकाल में आर्य-जाति यहीं बसती थी, पीछे भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली।'[1]

डा० अविनाशचन्द्र दास के बाद बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने इस विषय पर एक बड़े महत्त्व की पुस्तक लिखी है। उन्होंने भी यही सिद्ध किया है कि आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धव था। रंग, रूप, वाणी, विद्या, विचार और आकार-प्रकार से मनुष्य भले ही असमान दीख पड़ें; किन्तु प्रकृत्या वे अभिन्न हैं, क्योंकि उनकी स्थायी वंश-परम्परा एक जैसे ढंग से चली है। इसलिए हमारे समक्ष प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी मनुष्यों का पूर्वज एक ही था, या कि भिन्न-भिन्न थे? इसकी जगह यह भी कहा जा सकता है कि आरम्भ में मनुष्यजाति किसी एक देश या एक स्थल में पैदा होकर सारे भू-मण्डल में फैली अथवा एक ही साथ संसार के विभिन्न छोरों में मनुष्य अलग-अलग पैदा हुए?

इसका एक सर्वसम्मत उत्तर देना कठिन है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य की जन्म-भूमि किसी एक स्थान में रही हो तो, उसको फैले आज लाखों नहीं तो सहस्राब्दियाँ अवश्य ही बीत गईं।[2] पृथ्वी पर कई बार भौगोलिक उपद्रव हुए, ऋतु-विपर्यय हुआ। जहाँ आज ठंड है वहाँ गर्मी थी; जहाँ आज गर्मी है वहाँ बर्फ जमी थी। इतना ही नहीं, जहाँ आज समुद्र है वहाँ स्थल-भाग था और आज के स्थल-भाग में तब समुद्र था। इस दृष्टि से विभिन्न भू-भागों में मनुष्य-जाति का यह विकेन्द्रीकरण ४०-५० हजार वर्ष पहिले हो चुका था, क्योंकि १०-१२ हजार वर्ष तो उपजातियों को बने ही हो गए हैं।[3]

मनुष्य जब एक स्थान में रहकर अपना निर्माण कर रहा था, तब उसका एक ही समूह था। जब मूल मनुष्यजाति के फिरके विभिन्न भू-भागों में फैले

---

१. गंगा, पुरातत्त्वांक, जनवरी १९३३।

२. डॉ० सम्पूर्णानन्द: आर्यों का आदि देश, पृ० ३-४; लीडर प्रेस, प्रयाग, १९९७ वि०।

३. वही, पृ० १४।

तो वे अनेक उपजातियों में विभक्त हो गए। ये उपजातियाँ कितनी थीं, इसके सम्बन्ध में एक जैसी बातें देखने को नहीं मिलती हैं। उनकी संख्या तीन से लेकर डेढ़-सौ तक गिनाई गई है।[1] आर्य, सेमेटिक, मंगोल और हब्शी आदि भी उन्हीं आदिम उपजातियों में से थीं। इन उपजातियों में विद्वेष की भावना जन्मतः ही थी। वैदिक युग में जब सर्वप्रथम सप्तसिन्धु (पंजाब) की सीमा पर आर्यों का सामना अनार्यों से हुआ तो दोनों उपजातियों में लड़ाई ठन गई। आर्यों के बहुत यत्न करने पर भी बहुसंख्यक अनार्य सर्वथा नष्ट न हो सके; किन्तु आर्यों ने अनार्यों का एकदम बहिष्कार कर दिया; उन्हें विवाह, सहभोज आदि में शामिल नहीं होने दिया।

त्रेता युग में आर्य जब विन्ध्य को लाँघकर दक्षिण में प्रविष्ट हुए तो वहाँ भी अनार्यों से उनका सामना हुआ। यद्यपि तब तक वे अनार्य भी काफी सभ्य और संस्कृत हो चुके थे; किन्तु तब भी आर्य उन्हें मनुष्य मानने को तैयार न हुए। उनमें से कुछ ने अनेक अपमानों के बावजूद भी आर्यों का साथ दिया, कुछ ने नहीं भी दिया। जिन्होंने साथ दिया वे आर्यों की भाषा में वानर कहलाये और जिन्होंने शत्रुता रची, वे राक्षस कहलाये। इन वानरों और राक्षसों के सम्बन्ध में जैसा भी पढ़ने-सुनने को हमें मिलता है, उससे हमें यही पता चलता है कि वे भी मनुष्य थे, जो कि तत्कालीन सत्ताधारी जाति के अनुकूल न रहने के कारण वानर या राक्षस कहलाए।[2]

आर्य कौन थे ?

मूल मनुष्यजाति अनेक उपजातियों में विभक्त तो हुई, किन्तु उनमें आर्य उपजाति कौन थी, यह बात विचारणीय है। अनेक मतभेदों के बावजूद अन्ततः यह बात बहुमत से स्वीकार की गई कि आर्यजन वही थे, जो वेदकालीन भारत के निवासियों और प्राचीन पारसियों (ईरानियों) के पूर्वज थे। साथ ही यह भी सिद्ध हो चुका है कि पश्चिमी यूरोप के बहुसंख्यक अधिवासी अफ्रीका को प्रवासित आदिम उपजाति की सन्तानें हैं। आर्य उपजाति की दो शाखाओं में, एक का सम्बन्ध भारत और दूसरी का ईरान से था। मूलतः ये दोनों अभिन्न थीं।[3]

मध्यएशियावाद का खण्डन

बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने क्यूनों तथा मैक्समूलर आदि विद्वानों की सम्भावनाओं से विपरीत, कि आर्यजाति का मूल निवास यूरोप के उत्तरी

---

१. वही, पृ० ७। २. वही, पृ० १०। ३. वही, पृ० २६-२७।

भाग यूराल तथा मध्य एशिया में कहीं था, अपना अभिमत दिया है कि आर्यों का मूल निवास सप्तसिन्धव था। उनके मतानुसार वेद और अवेस्ता के निर्माणक लोगों का बहुत दिनों तक साथ ही नहीं रहा, वरन्, उनका इतिहास भी एक ही था। उनका आदिम स्थान किसी ऐसी जगह रहा, जो संस्कृत और जेंद भाषा-भाषी लोगों के अधिक निकट था। इसी जगह से मनुष्यों का एक फिरका (शाख) ईरान, एक भारत और एक पश्चिम गया। बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने जेंद अवेस्ता और वैदिक संहिताओं में वर्णित भौगोलिक सीमाओं-सम्बन्धी और खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन, सभ्यता-संस्कृति-सम्बन्धी बातों की छान-बीन करके यह सिद्ध किया कि सिन्धु नदी से सरस्वती नदी के बीच का भाग, जिसमें काबुल, गन्धार, काश्मीर, पंजाब आदि सम्मिलित हैं, सप्तसिन्धव ही उनका मूल घर था।[1]

सप्तसिन्धव

सप्तसिन्धव देश की सात नदियों के नाम थे : सिंधु, विपाशा (व्यास), शुतुद्रि या शतद्रु (सतजल), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चुनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इनके अतिरिक्त उस प्रदेश में दृषद्वती, तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुंभा, गोमती, मेहत्नु और क्रुमु आदि और भी नदियाँ थीं, किन्तु ये सभी नदियाँ उक्त सप्तनदियों में ही विलयित हो जाती थीं। अतः प्रधानता वहाँ सात ही नदियों की रही। इसीलिए उस प्रदेश का नाम सप्तसिन्धव पड़ा।[2] आर्यावर्त का वह भू-भाग, जिसमें पंजाब की नदियाँ बहती थीं और जो सिंधु तथा सरस्वती के बीच में स्थित था, ऋग्वेद में 'देवनिर्मित देश' कहा गया है[3]। यह देश यागप्रेमी आर्यों का देश था।[4] सप्तसिंधव वही प्रदेश था, जिसे आजकल पंजाब-काश्मीर कहा जाता है।

सप्तसिंधु की यह पवित्र भूमि आर्यों को बहुत ही पसंद थी। वेदों में और विशेषतया ऋग्वेद[5] में तथा जेंद अवेस्ता[6] में उसकी पावन महिमा का विस्तार से वर्णन है।

---

१. वही, पृ० ३०-३३। २. वही, पृ० ३८। ३. ऋग्वेद : ३।३३।४। ४. वही, ६।६१।९।

५. ऋग्वेद : १।३२।३ ; १।३३।११,१२; ३।१०।७५; १।३।११; ६।६१।२; ६।६१।१२; ७।९५।४।

६. जेंदअवेस्ता के उद्धरण : आर्यों का आदि देश, पृ० ४७-५३; विशेष : बाबू संपूर्णानन्द जी की पुस्तक की अपेक्षा पावगी जी की पुस्तक में वेदों और अवेस्ता के प्रमाण विस्तार से दिए गए हैं। देखिए :
वैदिक प्रमाणों के लिए पृ० ७६-१२१, आवेस्तिक प्रमाणों के लिये पृ० १४६-१६६।

इसके अतिरिक्त डा० गंगानाथ झा ने ब्रह्मर्षि देश, डा० एस० त्रिवेद ने देविका नदी के तट मुलतान, श्री एल० डी० कल्ला ने हिमालय की उपत्यका तथा कश्मीर, बाबू सम्पूर्णानंद ने डा० दास के मतानुसार कश्मीर या पंजाब और डा० राजबली पांडेय ने मध्यदेश (उत्तरप्रदेश-विहार) को आर्य जाति के उद्भव एवं प्रसार की मूल भूमि माना है।

आर्य-अनार्य जातियों के समन्वयवादी दृष्टिकोण के उपादान

वेद भारतीय संस्कृति के दिव्य ज्ञान-ग्रन्थ हैं, और आज, संसार का प्रत्येक विद्वान् बिना सोच-संकोच किए यह मान बैठा है कि भारत के इन अति प्राचीन ज्ञान-ग्रन्थों में विश्व-सभ्यता के आदि सूत्र विद्यमान हैं। भारत की सार्वजनीन संस्कृति के बारे में विचार करते हुए हमारा पहिला ध्यान वेदों की ओर आता है, और हमें लगता है कि वेदों में मानव जाति की वे अति प्राचीन समन्वयवादी विचारधाराएँ समाविष्ट हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि धरती का समग्र जन-जीवन एक ही परिवार, एक ही कबीले के द्वारा प्रसूत और प्रसारित हुआ है।

यद्यपि आज हमारे सम्मुख कुछ ऐसी परिवर्तित परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, जिनका इतिहास बताने में वेद भी मौन है और यद्यपि वेदों में वे बहुत सारी बातें, जो आज आचार-विचार, धर्म-कर्म एवं सभ्यता-संस्कृति के क्षेत्र में बरती जा रही हैं, कहीं भी नहीं मिलतीं, फिर भी वेदों की अधिकांश बातें युग के अनुरूप हैं। वे बहुत सारी वैवाहिक सम्बन्धों की बातें, जिनका धर्मग्रंथों ने भरपूर विरोध किया, महाभारत-युग में अतिक्रांत हो गईं और अनुलोम-प्रतिलोम, सवर्ण-असवर्ण एवं आर्य-अनार्य का भेद मिट कर वैदिक युग से लेकर मुसलमानी आक्रमण के पूर्व जितनी भी औष्ट्रिक (आग्नेय), निग्रो, तिब्बती, बर्मी, मंगोल, यूनानी, शक, आभीर, युची, हूण और तुर्क आदि जातियाँ भारत-भूमि में प्रविष्ट हुईं, वे सब आर्यों के साथ एक होकर 'हिन्दू' शब्द के अन्तर्गत समा गईं।

आर्य जाति के साथ दूसरी जातियों के समागम और समन्वय से अपने आप उन बातों का निराकरण हो जाता है, जो हमें वेदों में नहीं मिलतीं। निश्चित ही उन्न रीति-रिवाजों एवं आचार-विचारों का आविर्भाव आर्य और आर्येतर उक्त जातियों के मेल से हुआ। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति का आज जो रूप है, उसके भीतर प्रधानता उन बातों की नहीं है, जो ऋग्वेद में

लिखी मिलती हैं, बल्कि हमारे समाज की बहुत सी रीतियाँ और हमारे धर्म के बहुत से अनुष्ठान ऐसे हैं, जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता है। और जिन बातों का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता है उनके बारे में विद्वानों का मत है कि या तो वे आर्येतर सभ्यता की देन हैं, अथवा उनका विकास आर्यों के आने के बाद, आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के मेल से हुआ है।[1]

हिन्दू-संस्कृति के मूल उपादान अनार्य लोगों के सम्बन्ध में सुनीति बाबू का कथन है कि "संक्षेप में, कर्म तथा परलोक के सिद्धान्त; योग-साधना, शिव, देवी तथा विष्णु के रूप में परमात्मा को मानना; वैदिक 'हवन'–पद्धति के समक्ष नई 'पूजा'-रीति का हिन्दुओं में आना आदि तथा अन्य भी बहुत-सी वस्तुओं का हिन्दू-धर्म और विचार में आना; वास्तव में अनार्यों की देन है। बहुत सी पौराणिक, तथा महाकाव्यों में आई हुई कथाएँ, उपाख्यान और अर्ध-ऐतिहासिक विवरण भी आर्यों से पहिले के हैं।"[2]

विभिन्न जातियों का भारत में प्रवेश करने का क्रम

भारत के मूल अधिवासियों में निग्रो (Negro) सबसे पुरानी जाति है। प्रागैतिहासिक युग में ही अफ्रीका से चलकर ये अरब, ईरान और बलोचिस्तान के समुद्री तट से होते हुए भारत में प्रविष्ट हुए। इन्हें उपः-प्रस्तर युग (Eolithic) का माना गया है। इस जाति की विरासत दाक्षिणात्य जातियों–इरूला (Irula), कादिर (Kadir), करुम्बा (Kurumba) और पनियन (Paniyan) प्रभृति जातियों में देखी जाती है। निग्रो-रक्त का कुछ संमिश्रण असम की नागा जाति में भी दिखाई देता है, किन्तु सामान्यतया भारत के किसी भी भाग में आज निग्रो जाति का अविमिश्रित विशुद्ध मूल-वंश तथा उसकी भाषा का कोई जीवित रूप नहीं है। इनका अविमिश्रित रूप और इनकी भाषा का शुद्ध स्वरूप आज न्यू गिनि और अन्दमन द्वीपों में वर्तमान है।

निग्रो के बाद पूर्व-भूमध्यसागर के फिलस्तीन से प्रोटो अस्ट्रालायड (Proto-Australoid) जाति भारत में आई। इस आदिम जाति के वंशधर आज भी भारत में निम्न श्रेणी के लोगों में वर्तमान हैं। ऑष्ट्रिक इसी

---

१. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४८-४९ (१९५६ ई०)।
२. चाटुर्ज्या : भारत की भाषायें और भाषा संबंधी समस्याएँ, पृ० ३५–३६।

की एक अति प्राचीन शाखा थी, जिसने कि मेसोपोतामिया होकर भारत में प्रवेश किया। सिंहल में इनके वंशधर व्याध के नाम से विख्यात हैं। आस्ट्रेलिया के आदि निवासी भी इन्हीं के वंशधर थे। बाद में प्रागैतिहासिक काल में ही इनकी नाना शाखाएँ इन्दोचीन (बर्मा, स्याम, कम्बोज आदि), मलय प्रायद्वीप, द्वीपमय भारत और उसके पूर्व काले द्वीपपुंज तथा बहुद्वीपपुंज में फैल गई थीं। तब इनकी सभ्यता अधिक संस्कृत हो चुकी थी। ईसा के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ये ऑष्ट्रिक जन आर्य-भाषी हो गए थे। इनके पड़ोसी द्राविड़-भाषी जनों की भी यही स्थिति थी। दक्षिण-भाषी जातियों के वंशधर पंजाब से आसाम तक और सारे उत्तर भारत की जनता में अपना विलय कर आज आर्य-भाषी हिन्दू-मुसलमानों के रूप में वर्तमान हैं। इन दक्षिणजातीय जनों को आर्य लोग प्राचीन समय में निषाद कहा करते थे।

दक्षिण-भाषियों के बाद भारत में द्राविड़-भाषियों के अस्तित्व का पता चलता है। ये लगभग ३५०० ई० पू० में ही यहाँ आ चुके थे। भू-मध्यसागर की ईजियन (Aegean) और पश्चिम एशिया माइनर की आर्मेनायड (Armenoid) जातियों ने आपस में विलयित होकर द्राविड़ जाति को जन्म दिया और इस विलयित रूप में ही उसने भारत में प्रवेश कर द्राविड़ नाम से अपनी ख्याति कायम की। भारत में आकर इन्होंने ने ही सिन्धु प्रदेश, दक्षिण पंजाब की सभ्यता का निर्माण किया। मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त ध्वंसावशेषों से हमें इस सभ्यता की प्राचीनता का पता लगता है। इस सभ्यता का गौरवमय युग लगभग ३२५०-२७५० ई० पू० के बीच था। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के प्रतिष्ठापक ये लोग भाषा में द्राविड़ थे। ये प्रथम तो पश्चिम और दक्षिण में फैले। बाद में ये उत्तरभारत में निषादों से मिले, बाद में आर्यों से भी इनका मिलन हुआ। इस प्रकार प्राचीन भारत की हिन्दू-सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माणकों में अनार्य, निषाद और द्राविड़ जाति की देन मुख्य है।

आर्यजन द्राविड़ों को 'दास' या 'दस्यु' के नाम से पुकारते थे। बाद में ये शब्द 'क्रीत दास' के अर्थ में प्रयुक्त हुए या 'भृत्य' और 'तस्कर' रूप में अवमानित हुए। शनैः-शनैः निषाद, द्राविड़ और आर्यों का मिलन हुआ और इन तीन जातियों ने मिलकर एक नई जाति की नींव डाली, जो उत्तर भारत

की आर्य-भाषी हिन्दू-जाति के नाम से विख्यात हुई। यह बात १००० ई० पू० के लगभग की है।[1]

तदनन्तर आर्यों के आगमन के बाद उत्तर-पश्चिम चीन से मंगोल (Mongol) जाति भारत में आई। इन्हीं की एक शाखा ने होआङ् नदी के तीर २००० ई० पू० के लगभग चीनी सभ्यता की नींव डाली। लगभग १००० ई० पू० में पहुँचकर इसने साहित्य, लिपि, दर्शन और कला में प्रतिष्ठा प्राप्त की और उसके बाद बौद्धधर्म के चीन-प्रवेश ने इस सभ्यता को और भी आगे बढ़ाया।

इसी भोट जाति की एक दूसरी शाखा—थाई (Thai) जाति १००० ई० पूर्व में भारतीय धर्म, साहित्य तथा सभ्यता से अनुप्राणित होकर स्याम देश की स्यामी जाति में परिणत हो गई। उसी प्रकार भारतीय धर्म-सभ्यता से दीक्षित होकर ब्यम्मा (Byamma) नामक एक जाति वर्मी में परिवर्तित होकर वर्मा में बस गई। भोट जाति की एक शाखा १००० ई० पू० के आसपास तिब्बत में आकर बस गई थी और इन्हीं से संबन्धित कुछ जातियाँ आसाम, उत्तर-पूर्व बंगाल तथा नेपाल में बस गईं। तिब्बत में बसे हुए भोटों ने ईसा की सातवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म को तथा भारतीय लिपि को ग्रहण कर, तथा भारतीय साहित्य से अच्छी-अच्छी कृतियों का अनुवाद कर अपने साहित्य को समृद्ध किया। इन अनूदित कृतियों में से कुछ आज भी वहाँ हस्तलिखित पोथियों के रूप में वर्तमान हैं, जो कि संप्रति न तो अपनी मूल भाषा संस्कृत में और न ही अपनी जन्मभूमि भारत में उपलब्ध हैं।

मंगोल जाति का उल्लेख यजुर्वेद में मिलता है। आर्यजन इन्हें 'किरात' कहा करते थे। भारत में इनका प्रवेश लगभग १००० ई० पू० में हो चुका था। हिन्दू-जाति के इतिहास में और हिन्दू-सभ्यता के निर्माण में मंगोल जाति का अतिशय सहयोग रहा है।[2]

हिन्दू-धर्म एक व्यापक समन्वयवादी भावना का प्रतीक धर्म है। 'हिन्दू' एक जातिविशेष का पर्यायवाची शब्द न होकर उन विविध आर्य एवं अनार्य जातिसमूहों का विलयित स्वरूप है, जो जातियाँ समय-समय पर इस आर्य-भूमि में प्रविष्ट हुईं। सातवीं शताब्दी के चीनी पर्यटक

---

१. चाटुर्ज्या : भारत की भाषायें और भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ, पृ० २३–२४।
२. वही, पृ० १–३२।

ईत्सिंग का कथन है कि मध्य एशिया के लोग 'हिन्दू' शब्द को किसी जाति-विशेष का अभिधान न मानकर समग्र भारतवर्ष को ही हिन्दू कहते हैं। ईत्सिंग भी इस बात का हवाला देता है कि भारत के जन-जीवन में हिन्दुत्व की भावना अपने प्राचीन रूप में एक व्यापक भावना का प्रतीक रही है। इस एक ही शब्द में भारतीय संस्कृति का अति उदार दृष्टिकोण समाविष्ट है।

विभिन्न जातियों का भारत-भूमि में प्रवेश करने का ऐतिहासिक क्रम है : निग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और सबसे अन्त में आर्य। इसके बाद भी मंगोल, युची, शक, आदि अनेक जातियों का आगमन-निष्क्रमण होता गया। भारत में प्रथम प्रवेश करने वाली जाति निग्रो थी, जिसका मूल निवास अफ्रीका था और जो अरब-ईरान होकर भारत में प्रविष्ट हुई। निग्रो के बाद औष्ट्रिक, द्रविड़ और तदनन्तर आर्य भारत में आये। औष्ट्रिक (आग्नेय) जाति का मूल निवास यूरोप का अग्निकोण था, जो कि पूरब-पश्चिम मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुई। 'भारतवर्ष के कोल और मुंडा जाति के लोग, आसाम, वर्मा और हिन्दचीन की मौन-खमेर जाति, निकोबर द्वीप के निकोबरी तथा इंडोनेशिया, मलेनेशिया और पोलीनेशिया के बहुत से काले लोग इसी औष्ट्रिक-वंश की मिश्रित संतानें हैं।'[१]

संस्कार, धर्म, कर्म, भाव, विचार और रीति-रिवाज की दृष्टि से द्रविड़ों के साथ आर्य-जाति की पर्याप्त समीपता थी। आर्य-संस्कृति की बहुत-सी मूल बातें द्रविड़-जाति से मिलती-जुलती हैं। अतएव यही समीचीन है कि द्रविड़ों का भारत-प्रवेश आर्यों से पूर्व हुआ। 'अब सभी इतिहासकार मानने लगे हैं कि द्रविड़ जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत में भी सभ्यता का वास्तविक आरंभ इसी जाति ने किया।'[२] द्रविड़ों के बाद आर्य जाति ने आते ही अपने पराक्रम, कूटनीति और बुद्धि-बल के कारण औष्ट्रिक एवं द्रविड़ों को स्वायत्त कर लिया और धीरे-धीरे सभी जातियों के बीच एकता की भावना बढ़ती गई। मुसलमानी सल्तनत के स्थापित होने से पूर्व उक्त सभी जातियाँ हिन्दू समाज के चार वर्णों में विभाजित होकर एक ही ढाँचे में ढल चुकी थीं।

इन सभी ऐतिहासिक विवरणों को जानकर विदित होता है कि इस हिन्दू समाज के द्वारा जिस व्यापक भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ,

---

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० २४। २. वही पृ० २७।

उसमें समान रूप से उक्त सभी आर्य एवं आर्येतर जातियों का योगदान था। इस हिन्दू-संस्कृति की सर्वाभिभूत भावना का इतना प्रभाव पड़ा कि पीछे से मुसलमान भी सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय रीति-रिवाजों में एकप्राण हो गए। भारत की इस समन्वय-भावना को लक्ष्य कर 'दिनकर' जी ने लिखा है कि "यह विश्वजनीनता, विभिन्न जातियों को एक महाजाति के साँचे में ढालने का यह अद्भुत प्रयास और अनेक वादों, विचारों और धर्मों के बीच एकता लाने का यह निराला ढंग सभी युगों में भारतीय समाज की विशेषता रही है।[1]" सुनीति बाबू की खोजों से विदित होता है कि उक्त सभी आर्य-अनार्य जातियाँ १५०० ई० पू० के बीच एक संस्कृति और एक समाज में विलयित हो चुकी थीं। श्री शैलेंद्रनाथ सेन गुप्त ने १९५१ ई० में पश्चिमी बंगाल की जनगणना रिपोर्ट में २०९ ऐसी जातियों का उल्लेख किया है, जो आचार-विचार और वैवाहिक जीवन में हिन्दू-समाज के साथ एकप्राण हो चुकी थीं।

इसलिए आर्यों को भारतभूमि का आदि निवासी और एकाधिकारी मानना या उन्हें ही केवल हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति का एकमात्र निर्माणक स्वीकार करना कदाचित् उपयुक्त न होगा। वेदों को छोड़कर संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में जितना भी उत्तराधिकार आज भारत को उपलब्ध है, उसके निर्माण और अभ्युत्थान में अनार्य जातियों का उतना ही हाथ रहा, जितना कि आर्य जाति का।

---

१. वही, पृष्ठ १९

आर्यभाषाओं का उद्गम और निकास

आर्य भाषा का उद्गम

बहुत प्राचीन समय से ही विभिन्न विदेशी जातियाँ भारत में आने लग गई थीं। उन्होंने यहाँ आकर, पूर्णतया बस जाने के बाद, अपनी संस्कृति और अपनी रुचियों के अनुसार अपनी स्थिति को कायम किया। भारत की आदिवासी जाति नेग्रिटो या निग्रोटु थी। बाद में पश्चिमी एशिया से ऑस्ट्रिक जाति के लोग और तदनन्तर उसी पश्चिम दिशा से द्रविड़ भारत में प्रविष्ट हुए। ये ऑस्ट्रिक लोग 'निषाद' के नाम से और द्रविड़ 'दास' या 'दस्यु' के नाम से प्रसिद्ध हुए। द्रविड़ों के बाद आर्य और तदनन्तर 'किरात' कहलाने वाले तिब्बती-चीनी जनों ने भारत में प्रवेश किया। निषाद, द्रविड़, आर्य और किरात, यही चार जातियाँ यहाँ की मूल आदिम जातियाँ थीं।

किन्तु भारतीय जीवन और उसके संस्कारों, विचारों को निर्माण करने का प्रमुख हाथ आर्य जाति तथा उसकी भाषा का ही रहा है। संस्कृत, पालि, प्राकृत (गान्धारी), अर्धमागधी, अपभ्रंश, हिन्दी और भारत की समग्र प्रान्तीय भाषाओं तथा बोलियों के साथ आर्य भाषा का सम्बन्ध सदा ही बना रहा।

आर्य भाषा बहुत ही प्राचीन भाषा रही है। भारत में उसका ऐतिहासिक अस्तित्व लगभग ई० पू० ३५०० वर्ष पुराना है। इससे भी लगभग दो हजार वर्ष पूर्व संसार के भिन्न-भिन्न अञ्चलों में उसका अस्तित्व प्रकाश में आ चुका था। भारत में उसकी अविच्छिन्न परम्परा ३५०० ई० पू० से अबतक संस्कृत, प्राकृत और भाषा-बोलियों के रूप में अटूट बनी रही।

आज से लगभग डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व भाषा-कुल-विषयक सिद्धान्त के अद्भुत खोजी सर विलियम जन्स तथा हीगेल आदि विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन करते हुए उसमें ग्रीक, लेटिन, जर्मन, और केल्टिक प्रभृति भाषाओं के शब्दों में आश्चर्यजनक एकरूपता का आभास पाकर यह निष्कर्ष निकाला कि संस्कृत उन सब में अधिक सम्पन्न एवं विकासोन्मुख भाषा रही है और उन प्राचीन साहित्यिक भाषाओं का उद्गम-स्रोत कदाचित् एक ही था, और साथ ही वर्तमान में प्रयुक्त होने वाली बँगला, गुजराती, मराठी, हिन्दी, पश्तो, ईरानी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, इटालियन, स्पैनिश, पुर्तगाली तथा डच आदि भाषाओं का जन्म उन्हीं से हुआ।[1] इस आश्चर्यजनक भाषा-साम्य को देखकर विद्वानों को यह भी स्वीकार करना पड़ा कि इन भाषा-भाषियों के पूर्वज एक ही थे।[2]

संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, जर्मन, स्लावोनिक और अंग्रेजी आदि भाषाओं के शब्द-साम्य को देखकर हमारी यह जिज्ञासा और भी बलवती हो जाती है कि उनके मूल में अवश्य ही ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं, जिनके आपसी सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ थे। यह शब्दसाम्य हमें पदान्त की दृष्टि से और ध्वनि-नियमों की दृष्टि से दोनों प्रकार का देखने को मिलता है।

पदान्त की समानता :

संस्कृत	ग्रीक	लेटिन	जर्मन	अंग्रेजी
पितर् (पितृ)	पतेर (Pater)	पतेर (Pater)	वातेर (Vater)	फादर (Father)

ध्वनि-नियमों की समानता :

संस्कृत	ग्रीक	लेटिन	अंग्रेजी	प्रा० स्लावोनिक
भरामि	फेरो (Pharo)	फेरो (Fero)	बीयर (Bear)	बेरन (Beran)

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की इस अन्विति के सम्बन्ध में विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। स्टर्टेवेण्ट, मार और मेथेवस आदि भाषा-शास्त्रियों ने अनेक विधियों से परीक्षण एवं विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि

१. सम्पूर्णानन्द : आर्यों का आदि देश, पृ० २०–२१; विस्तार के लिए देखिए : ए कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ संस्कृत, ग्रीक, ऐण्ड लेटिन, वाल्यूम १, २, लन्दन, १८६९; मैक्समूलर : लेक्चर्स ऑन दि साइंस आफ लैंग्वेज सीरीज, लन्दन, १८६४

२. सम्पूर्णानन्द : आर्यों का आदि देश, पृ० २१–२२

आरम्भ में वे भाषाएँ मिले-जुले रूप में थीं और उनकी वर्तमान भिन्नता की बात तो बहुत बाद की है।[1]

भाषा-साम्य की इस समस्या पर अनेक विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से विचार किया है। अपने-अपने निष्कर्ष दिए हैं। उनमें अधिकांश विद्वानों के अभिमत अतिरञ्जना, एकपक्षीय और स्वार्थपूर्ण हैं। अतएव उनकी चर्चा करना ही व्यर्थ है।

यहाँ जिन कुछ विद्वानों के मतों को दिया जा रहा है उनमें मैक्समूलर का पहिला स्थान है। मैक्समूलर जैसा विद्वान्, जिसने कि आजीवन संस्कृत का अध्ययन किया है, और यद्यपि उसकी कुछ स्थापनाएँ बहुत ही निर्बल सिद्ध हुई हैं, फिर भी उसके भारत-विषयक गम्भीर ज्ञान पर इससे कोई आँच नहीं आती है। इस सम्बन्ध में उसका कथन है कि :

'यदि आदिम से हमारा अभिप्राय उन लोगों से है, जो आर्य जाति से पहिले हुए हैं, और जो अपने अस्तित्व के साहित्य-चिह्न अपने पीछे पृथ्वी पर छोड़ गए हैं, तो मैं कहता हूँ कि वैदिक कवि आदिम हैं, वैदिक भाषा आदिम है, वैदिक धर्म आदिम है, और जिस सत्य को हम अपनी जाति के इतिहास में कदाचित् ही प्राप्त कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा अधिक आदिम वही है।'[2]

इसी प्रसंग में मैक्समूलर लिखता है :

'···तब यह कौन-सी ऐसी बात है, जिससे संस्कृत भाषा की ओर बरबस हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है, और इतिहासकारों की निगाहों में उसका बहुत अधिक महत्त्व निरख उठता है? इसके कुछ मौलिक कारण हैं। पहिली बात तो उसकी प्राचीनता है, क्योंकि हम जानते हैं कि ग्रीक भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा प्राचीन है। किन्तु उसकी इस ऐतिहासिक प्राचीनता की अपेक्षा उसके संरक्षण की अवस्था अधिक महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, गाथ, ऐंग्लोसेक्सन, केल्ट, स्लाव आदि भाषाओं के बीच घुस पड़ी। अतएव उनसे प्रकाश, प्रभाव और पारस्परिक परिचय हुआ। उनमें संस्कृत सबसे बड़ी

---

१. Strurtevant : इण्डो-हित्तित लैंग्वेजिज, चैप्टर १; इण्डो-हित्ति (लैंग्वेज, १९२६, वाल्यूम २, पृ० ३०); सोवियत कण्ट्रोवर्सी इन लैंग्वेजिज; W. K. Mathewes : सोवियत कण्ट्रीब्यूशन टु लैंग्विस्टिक्स (आर्किवम लैंग्विस्टिकम, वाल्यूम २, पृ० १-११, २३, ९७–१२१)।

२. मैक्समूलर : इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस, (सीरीज) पृ० १२३–१२४, (१८८३)

बहिन थी, और अनेक बातों के विषय में केवल वही प्रकाश डाल सकी। उसके परिवार की दूसरी बहिनों ने उन बातों को बिल्कुल भुला ही दिया।[1]

'उसके सम्बन्ध में इतना ही समझ लेना पर्याप्त नहीं है। वह आदिम आर्यभाषा बहुत लम्बे समय के विचारों के विकास का परिणाम है। उसकी रचना उन भग्नांशों या भाषा-बोलियों के उन अपभ्रंश रूपों से की गई, जो भारत, ग्रीक, इटली और जर्मनी में इधर-उधर बिखरे हुए थे।[2]

'यही बात है, जो मैं कहता हूँ कि इतिहास अपने शब्द के सच्चे अर्थ में कुछ ऐसी वस्तु है, जो वास्तव में राज-दरबारों के दोषों या जातियों के संहार की अपेक्षा बहुत ही जानने योग्य वस्तु है।[3]

'भूमिका ढंग से इस प्रकार की जो सब बातें मैं तुम्हारे मन में जमाना चाहता हूँ, वे हैं भाषा-विज्ञान के निष्कर्षों की, जो संस्कृत की सहायता के बिना कभी भी प्राप्त न किए गए होते। वे हम लोगों द्वारा कही जाने वाली उदार शिक्षा के, अर्थात् ऐतिहासिक शिक्षा के, आवश्यक अंग बने, वह शिक्षा, जो मानव-जाति को वह कार्य करने के लिए समर्थ बनायेगी, जिसे एस० ओरिएण्टर (S' orienter) कहते हैं, अर्थात् अपना प्राच्य खोजने को, अपना यथार्थ प्राच्य खोजने को वह योग्य बनायेगी। इस तरह जगत् में अपना वास्तविक स्थान निश्चित करने को वह हमें उपयुक्त पात्र बनायेगी।[4]

अन्त में वह कहता है :

'हम सब लोग प्राच्य देश से आये हैं। वह सब कुछ जिसे हम अत्यन्त मूल्यवान् समझते हैं, हम लोगों के पास प्राच्य से ही आया'।[5]

मैक्समूलर के अतिरिक्त टेलर ने तो यहां तक कहा है कि संस्कृत यूरोप की श्रेष्ठतम भाषाओं की बड़ी बहिन ही नहीं, जननी है। टेलर का कथन है है कि 'राज्यों के परिवर्तन और समय के उथल-पुथल के बावजूद भी भारत में एक संपन्न तथा विचित्र भाषा तब भी बनी रही, यह एक चकित कर देने वाली खोज की बात है। वह भाषा उन बोलियों की जननी है, जिन्हें यूरोप शौक से श्रेष्ठ भाषाओं की श्रेणी में गिनता है'।[6]

---

१. वही, पृ० २२–२३ २. वही, पृ० २५ ३. वही, पृ० २५–२७
४. वही, पृ० ३१ ५. वही, पृ० ३२
६. टेलर : पेपर ऑन संस्कृत लिटरेचर, जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, वाल्यूम २, १८३४

उधर जैकोलिट कुछ लोगों के उस भ्रम का निराकरण करता है, जिसके अनुसार भारत पर मिस्र का ऋण लादा गया है। उसकी स्पष्टोक्ति है कि 'कुछ लोग ऐसे हैं, जो ढोंग करते हैं कि भारत ने मिस्र से उसकी वर्णव्यवस्था, उसकी भाषा तथा उसके कानून अंगीकार किए; जब कि इसके विपरीत स्वयं मिस्र ही सर्वथा भारतीय उत्पत्ति है।'[1]

और कर्जन साहब भरपूर मन से इस बात का समर्थन करते हैं कि जेंद, ग्रीक, लेटिन आदि भाषाएँ वैदिक आर्यों की भाषा से प्रसूत हैं। वे लिखते हैं 'मैं समर्थन करने का साहस करता हूं कि जेंद, ग्रीक, लेटिन, गाथ इत्यादि सब भाषाएँ विभिन्न ऐतिहासिक युगों में संस्कृत से निकली हैं, जो आर्य जातियों या भारत के पुरातन हिन्दुओं की आदिम लिखित भाषा थी।'[2]

इस दृष्टि से आर्य भाषा की अतिप्राचीनता और संस्कृत के बृहद् परिवेश की बात स्पष्ट हो जाती है। साथ ही संसार की सर्वोच्च पुरातन भाषाओं में संस्कृत की क्या स्थिति रही है, इसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

यूरोप, एशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, ऑशेनिया और अमेरिका आदि देशों की जितनी भी भाषाएँ-बोलियाँ हैं, उन सब में भारतीय आर्य भाषा का प्रमुख स्थान है। इसका महत्व इसलिए भी अधिक है कि पहिले तो इस पृथ्वी भर में उसके बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक है और दूसरे में उसके अन्तर्गत ऐसी सभी भाषाएँ आ जाती हैं, जिनका मानवजाति के पिछले पच्चीस-सौ वर्षों से अटूट संबन्ध रहा है।

विरोस् और विरास्[3]

भाषाविद् विद्वानों ने दुनियाँ के जिस भाषा-समूह का नाम विरोस्, (Wiros) दिया है, वह वैदिक; प्राचीन फारसी तथा अवेस्ता; ग्रीक; गॉथिक तथा अन्य जर्मन; लेटिन; प्राचीन आइरिश तथा अन्य केल्ट बोलियाँ; स्लाव एवं बाल्टिक भाषाएँ; आरमीनियन; हित्ती; तुखारी आदि आद्य-भारतीय-यूरोपीय समाज द्वारा प्रयुक्त होने वाली भाषाओं का सामूहिक नाम था। और इस दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि भारतीय-यूरोपीय भाषा-कुल के अन्तर्गत गिने जाने

---

१. एम० लोनिस जैकोलिट : दि बाइबिल इन इण्डिया, ऐण्ड दि हिन्दू ओरिजन ऑफ हेब्रू ऐण्ड क्रिश्चियन, पृ० २०, १८७०
२. कर्जन : एशिप ऑन दि ओरिजिनल एक्सटेंशन आफ दि संस्कृत लैंग्वेज, जर्नल आर० ए० एस० आफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैंड, वाल्यूम, XVI, पृ० १, १७७
३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड १, पृ० ६६

वाली उक्त बोलियों के बोलने वालों का वंशज भी एक ही था। उसी को भाषाविदों ने 'विरास्' नाम दिया है।

इस भारतीय-यूरोपीय भाषा-कुल का विकास किन-किन रूपों एवं कारणों में होकर आज तक पहुँचा है; और वे अपने वैदिक, गाथा (अवेस्ता) तथा होमर आदि नाम-रूपों में छूटकर कहाँ से अलग हुईं, इसका इतिहास कुछ भी नहीं मिलता है। साथ ही भारतीय-यूरोपीय भाषा-कुल के पूर्वज विरोस् कहाँ से आये और कहाँ जाकर वे पहिले-पहिल बसे, इस संबन्ध में भी ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता है।

इतिहास के अध्ययन से हमें पता चलता है कि मिस्री, सुमेरी, अक्कदी, असीरी, एलामी और एशिया माइनर के ग्रीस और पूर्वीय भू-मध्य सागर के ईजानियों, हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की संस्कृति के निर्माता पूर्व आर्यों एवं चीनी संस्कृति का निर्माण हो जाने के बाद 'विरोस्' शब्द का उल्लेख हुआ है। फिर भी इतना तो विदित ही है कि ये लोग लेखन-प्रणाली से अनभिज्ञ थे और उनके द्वारा किसी उच्चकोटि की संस्कृति का निर्माण नहीं हुआ था।

आर्य भाषा की आदिम कृतियाँ

भारतीय आर्य अपनी आर्य भाषा का ही प्रयोग करते थे और अपने देवताओं की स्तुतियों तथा वीर-गाथाओं (नाराशंसियों) की रचना भी उन्होंने उसी भाषा में की थी। आर्यों की तथा आर्य भाषा के इतिहास की आरंभिक सामग्री यही है। भारतीय-ईरानी आर्यों और दास, दस्यु अनार्यों के संपर्क से आर्य-भाषा में कई परिवर्तन एवं संशोधन हुए। उस का विकसित रूप लगभग ऋग्वेद की भाषा जैसा था। उक्त जातियों के इस सामंजस्य के कारण आर्य भाषा से धीरे-धीरे भारतीय-ईरानीपन दूर होता गया, और फलस्वरूप वह विशुद्ध भारतीय आर्यभाषा के ढांचे में ढलती गई। अब तक भारतीय-ईरानी भी विशुद्ध भारतीय आर्य हो चुके थे। इन्हीं भारतीय आर्यों ने ही हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति के साथ-साथ वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत और भारत की समग्र प्रादेशिक भाषाओं को जन्म दिया।[1]

किन्तु पूर्वार्यकाल की पौराणिक गाथाओं या आख्यान-उपाख्यानों में अनार्यों अर्थात् द्रविड़ों के राजवंशों की बातें भी सम्मिलित थीं। बाद में उन कथाओं का भी आर्यीकरण हुआ और वे आर्यभाषा संस्कृत तथा प्राकृत में

---

१. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ३२ (१९५४)

अनुवादित कर ली गई। इस प्रकार एक भाषा में एकीकृत दोनों जातियों की दन्त-कथाएँ ऐसी एकाकार हो गईं कि आज उनको अलग-अलग चीन कर बताना असंभव है। आर्यों के मेसोपोटामिया, ईरान और भारत में प्रवेश करने के समय लगभग २०००–१००० ई० पूर्व के बीच की जितनी भी भारतीय कही जाने वाली पौराणिक कथाएँ हैं, उनमें आर्यों-अनार्यों, दोनों के संस्कारों, संबन्धों और रुचियों का समान रूप से समावेश है।

आर्यगोष्ठी की भाषाओं का विकास[1]

आर्यगोष्ठी की भाषाओं के निर्माण में आदिम इन्दो-यूरोपियन (Indo-European) या भारत-यूरोपीय जाति का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस जाति की संस्कृति का निर्माण ३००० ई० पूर्व में ही हो चुका था। वैदिक संस्कृत, प्राचीन हित्ती, प्राचीन ग्रीक, रोमन या लातीन और दूसरी इतालीय, गाथिक तथा दूसरी प्राचीन जर्मनिक, आयरलैंड की प्राचीन भाषा, प्राचीन स्लाव, कूची या तुखारी आदि विभिन्न आर्य-गोष्ठीय भाषाएँ इसी संस्कृति की देन है। इसी जाति की एक शाखा दो-सवा-दो हजार वर्ष ई० पूर्व उत्तरी मेसोपोटामिया में बस चुकी थी। लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष ई० पूर्व में आर्यों ने वहां अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

भारत में जो आर्य जातियां आकर बस गई थीं, उनमें नार्दिक (Nordic) और आल्प-पर्वतीय (Alpine) दो जातियां प्रमुख थीं। इनमें भी नार्दिक विशुद्ध आर्य और आल्पिन मिश्रित आर्य थे। इनके बाद भी कई जातिसमूह भारत में प्रविष्ट हुए। उन सभी में भाषा, आकार-प्रकार और रहन-सहन आदि में अन्तर होते हुए भी साहित्य में और कविता में अत्यधिक समानता थी, जिसका परिचय हमें ऋग्वेद से मिलता है। उत्तर पञ्जाब आर्यों का मूल निवास था। तदनन्तर ज्यों ही उन्होंने पूर्व में तथा भारत के विभिन्न अंचलों में अपना प्रसार किया, और अपनी भाषा के अस्तित्त्व को स्थापित किया कि द्राविड़ और ऑस्ट्रिक भाषायें क्षीण पड़ती गईं। भगवान् तथागत के समय तक आर्य भाषा अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर चुकी थी।

आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद है। वेदों की प्राचीनता का संस्करण करने और नई साहित्यिक भाषा का निर्माण करने के हेतु उत्तर-पश्चिम पंजाब

---

१. चाटुर्ज्या : भारत की भाषाएँ और भाषा संबन्धी समस्याएँ पृ० ३२–३७

के निवासी ऋषि पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की और इस नई साहित्यिक भाषा को 'लौकिक' भाषा का नाम दिया। प्राचीन और मध्ययुग की सारी शिक्षा-दीक्षा, सारा दर्शन, विज्ञान और सारी संस्कृति का माध्यम यही संस्कृत भाषा रही है। संस्कृत ने ही एक बृहद् संस्कृति का निर्माण किया और अपनी सार्वभौमिक महानताओं के कारण वह इन्दोचीन, द्वीपमय भारत, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान आदि देशों में भी प्रविष्ट एवं प्रतिष्ठित हुई।

बुद्धदेव के पूर्व लगभग ६०० ई० पू० में बोल-चाल की आर्यभाषा की बोलियों में कुछ परिवर्तन हुआ, और उसका यही परिवर्तित रूप मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (Middle-indo-aryan) के नाम से विख्यात है। जिसकी समय-सीमा ६०० ई० पू० से १००० ई० के आसपास रखी जा सकती है। इस बोलचाल की आर्यभाषा का साहित्यिक प्रयोग बौद्धों और जैनों के पालि-प्राकृत में दृष्टिगत होता है।

लगभग १००० ई० में आर्यभाषा ने अपना स्वरूप कुछ बदला और अपने परिवेश को बढ़ाया। उसके इस विस्तृत एवं परिवर्तित स्वरूप ने आधुनिक भारत की जीवित भाषाओं को जन्म दिया, जिसको कि नवीन आर्यभाषा युग (New-Indo-Aryan) कहा जाता है। क्योंकि मध्यकालीन आर्यभाषा (संस्कृत) के कारण भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म हुआ। इसलिए आजतक उनके पीछे संस्कृत की छाया बनी है।

आर्यभाषा ने तीन रूपों में अपना विकास किया। उसका पहिला सर्वाधिक प्रौढ रूप आधुनिक या नवीन भारतीय भाषाओं के रूप में वर्तमान है; उसका दूसरा रूप सिंहली या तदन्तर्गत मालद्वीपीय भाषाओं के रूप में जीवित है; और तीसरा रूप रोमनी (Romani) या जिप्सी (Gipsy) भाषाओं में प्रचलित है, जो पश्चिम एशिया तथा यूरोप के नाना देशों में प्रचलित है।

आर्यभाषा की ईरानी शाखा में १ भारतीय, २ पैशाची और ३ ईरानी आर्यभाषा, ये रूप है। पैशाची भाषा उत्तर-पश्चिम तथा अफगानिस्तान में बोली जाती है। कश्मीरी भी उसी की एक शाखा है।

वर्तमान भारत की भाषायें चार विशिष्ट भाषा-गोष्ठियों के अन्तर्गत आ जाती है। वे गोष्ठियाँ हैं (१) ऑस्ट्रिक या दक्षिण या निषाद (२) द्रविड़, (३) इण्डो-यूरोपियन और (४) भोट-चीन या मंगोल या किरात।

आर्यभाषाओं का उद्गम और विकास

'आर्य' शब्द जाति-बोधक न होकर भाषा का पर्यायवाची था

वैदिक साहित्य का अनुशीलन करने पर विद्वानों ने एक बात का यह भी पता लगाया है कि 'आर्य' शब्द जातिवाचक या समुदायवाचक न होकर भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होता था। यद्यपि मैक्समूलर साहब ने आरंभ में आर्य शब्द का अर्थ जाति के लिए भी किया है ; किन्तु बाद में उन्हें कहना पड़ा कि आर्य शब्द का एकमात्र अर्थ 'भाषा' है; यदि हम आर्य जाति की बात करते हैं तो उसका वास्तविक अर्थ आर्य भाषा है। मैक्समूलर ने यह भी विकल्प दिया है कि आर्य हल चलाने वाले भी थे। उन्होंने अपने लिए यह विशेषण यायावर जातियां से अलग रखने के अर्थ में प्रयुक्त किया था।

भारतीय विधान के निर्माता डा० अम्बेडकर ने ऋग्वेद में प्रयुक्त 'अर्य' और 'आर्य' दोनों शब्दों का बारीकी से अध्ययन कर यह निष्कर्ष दिया है कि इन दोनों शब्दों का व्यवहार क्रमशः ८८ स्थलों तथा ३१ स्थलों पर हुआ है। 'अर्य' शब्द के अर्थ (१) शत्रु, (२) सम्माननीय व्यक्ति, (३) भारतवर्ष के नाम, (५) वैश्य, स्वामी या नागरिक; और 'आर्य' शब्द का प्रयोग जातीय अर्थ में कहीं भी नहीं किया गया है।

दूसरे भी विद्वानों ने इन दोनों शब्दों पर शोध किया है और सभी की एक राय यही रही कि आर्य शब्द जातीय अर्थ में प्रयुक्त न होकर भाषा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1]

संस्कृत का नामकरण

संस्कृत, ग्रीक और लेटिन, ये तीन भाषाएँ संसार के बृहद् भाषा-परिवार की आदिम भाषाएँ हैं। इनकी मूल स्थिति बोल-चाल की भाषाओं के रूप में थी। तत्कालीन बोल-चाल की भाषाओं की एक तरह से ये उपभाषाएँ या प्रशाखाएँ थीं। पुरातन जीवित भाषाओं के शब्दों को लेकर उन्हें विशिष्ट नियमों से बाँधकर स्थिर किया गया, और उनका वही नियमबद्ध स्थिर स्वरूप ही संस्कृत, ग्रीक तथा लेटिन के निर्माण-विकास का कारण हुआ।[2]

प्राचीनकाल में देववाणी अव्याकृत अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभागों से रहित थी। तब उसका उपदेश प्रतिपद-पाठ की अवैज्ञानिक विधि से दिया

---

१. इन सभी विद्वानों के मतों का उद्धरण—हिन्दी और प्रा. भा. वै. इति. पृ० २१-२२।
२. डब्ल्यू० आर० लाकवुड: लैंग्वेज एण्ड राइज आफ नेशन्स, साइंस ऐण्ड सोसाइटी, १८, संख्या १, ग्रीष्म १९५४

जाता था। उसका परिणाम यह होता था कि जिज्ञासु को कठिन परिश्रम तो करना ही पड़ता था, वरन् उसका समय भी अधिक लग जाता था। इस हेतु देवों ने, परम शब्दवेत्ता विद्वान् इन्द्र के निकट जाकर प्रार्थना की, कि वे अध्ययन की कुछ वैज्ञानिक परिपाटी सुझाएँ। देवराज ने देवताओं एवं तत्कालीन अध्येताओं की इस कठिनाई को गम्भीरतापूर्वक हृदयंगम किया। उन्होंने देवभाषा में, प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग द्वारा, प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त कर, शब्दोपदेश एवं अध्ययन की सरल, सुगम प्रक्रिया का निर्माण किया। इसी प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग के पुनः संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का नाम 'संस्कृत' पड़ा।[१] बाद में वाल्मीकि,[२] पाणिनि[३] भरत[४] और दण्डी[५] प्रभृति संस्कृत के प्राणभूत कवियों, वैयाकरणों और आचार्यों ने 'संस्कृत' का प्रयोग इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया।

वाक्य-विश्लेषण तथा उसके तत्वों का समीक्षण दर्शित करना ही संस्कार है, जो कि संस्कृत का मुख्य उद्देश्य है; और इसी संस्कार-प्रवृत्ति के कारण प्राचीन वैयाकरणों ने उसका नाम संस्कृत रखा है। संस्कार पर आधारित व्याकरण की इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हो जाने पर ही पवित्र (संस्कृत) ग्रन्थों की भाषा का नाम 'संस्कृत' हुआ।[६]

ऋग्वेद को वैदिक साधु-भाषा तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की साहित्यिक भाषा के पश्चात्, भारतीय आर्यभाषा का तीसरा रूप 'साहित्यिक संस्कृत' प्रतिष्ठित हुआ। मूलतः वह उदीच्य बोलियों पर आधारित थी और मध्यप्रदेश, पूर्व तथा दक्षिण के भी सारे ब्राह्मण-वर्ग ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार एक महान् भाषा की स्थापना हुई, जो तीन सहस्राब्दियों से अधिक तक भारत में आर्यभाषा के सबसे महान् तथा महत्त्वपूर्ण रूप में बनी रही। वही भाषा भविष्य में सांस्कृतिक धाराओं एवं सभ्य विचार तथा अनुशीलन का एक सर्व-श्रेष्ठ माध्यम, और आज तक जीवित, विश्व की कतिपय मौलिक संस्कृतियों में से एक का बाहरी व्यक्त रूप बनने में समर्थ हुई। उसके विजयी जीवन का आरम्भ उसके जन्म से तभी हो गया था, जब उसने भारत तथा बृहत्तर भारत की दिग्विजय का श्रीगणेश किया, और एक वास्तविक 'देवभाषा'

१. तैत्तिरीय संहिता ६।३।७ ; सायण का ऋग्वेदभाष्य उपोद्घात, भाग १, पृ० २६ (पूना संस्करण): शिक्षाप्रकाश. शिक्षासंग्रह, पृ० ३८७ ३; महाभाष्य १।१।१ ॥
२. रामायण, सुंदर ३०।१७ ॥ ३. अष्टाध्यायी ६।१।१७९ ॥ ४. नाट्यशास्त्र १८।१।२५ ॥ ५. काव्यादर्श १।३।३ ॥ ६. डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : लिंग्विष्टिक स्पेकुलेशन आफ दि हिन्दूज

के रूप में उसका गंभीर प्रभाव अत्यंत दूरवर्ती देशों पर भी पड़ा।[1]

इसके विकास के तीन युग

बोल-चाल की दृष्टि से और साहित्य-निर्माण की दृष्टि से संस्कृत भाषा के विकास को तीन विभिन्न युगों में विभाजित किया जा सकता है। उसकी इन तीन अवस्थाओं के क्रमबद्ध इतिहास को इस प्रकार रखा जा सकता है :

१. वेद और वैदिक साहित्य का युगः ४५००–८०० ई० पू० तक
२. स्मृतियों और काव्यों का युगः ८०० ई० पू० से ८०० ई० तक
३. भाष्यों और प्रकीर्ण रचनाओं का युगः ८००–१५०० ई० तक

वैदिक युग की भाषा संस्कृत थी। प्राकृत भाषा का अस्तित्व भी पुरातन है; किन्तु पंजाब में आर्यों द्वारा पारिमार्जित होकर, उसने संस्कृत भाषा का रूप धारण कर लिया था और उसी प्रांत में सर्वप्रथम वह बोल-चाल की भाषा बनी। यह बहुत पीछे की स्थिति है।

पंजाब की कुछ सभ्य आर्य जातियाँ दक्षिण तथा पूर्व की ओर फैली और अनार्य जातियों के साथ उनके विवाह सम्बन्ध भी होने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि अनार्यों के संसर्ग से आर्यों की भाषा में कुछ भिन्नताएँ आ उपस्थित हुईं, जिससे दक्षिण तथा पूर्व की प्रचलित प्राकृत भाषा ने चार रूपों में अपना विकास किया। वे चार रूप थे मागधी (मगध और बंगाल) शौरसेनी (उत्तरप्रदेश, राजस्थान और गुजरात), मराठी (महाराष्ट्र) एवं पैशाची (उत्तर पंजाब)।

आर्य-अनार्यों के अन्तर्विवाह-काल ८०० ई० पूर्व तक संस्कृत बोल-चाल की भाषा बनी रही। आर्य घरों में ब्याही अनार्य कन्याएँ प्राकृत में ही बोलतीं और अनार्य परिवारों में ब्याही आर्य कन्याएँ संस्कृत का ही व्यवहार करती थीं। यद्यपि मध्यकाल में जैन-बौद्धों ने अर्ध मागधी (आंध्र मागधी) मागधी तथा पालि का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया; फिर भी इतना निश्चित है कि संस्कृत तब भी एक सीमा में बोल-चाल की भाषा बनी रही।

आधुनिक बोल-चाल की भाषाओं की पूर्ण प्रतिष्ठा, शंकराचार्य के बाद में (८०० ई० लगभग) हुई, और संस्कृत की परंपरागत धारा तब एकाएक रुक गई। भाष्यकाल की संस्कृत भाषा शंकराचार्य से लेकर सायणाचार्य (अर्थात् ८००–१४०० ई०) तक बनी रही। १००० ई० के पूर्व दक्षिण भारत के

१. चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० ६६

सभी रजवाड़ों में बही-खाते, सनदें आदि संस्कृत में ही लिखी जाती थीं। तदनंतर मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने पर संस्कृत भाषा की गति मंद पड़ी।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उक्त तीनों युगों में वैदिक साहित्यकाल की भाषा, पतञ्जलि के समय की भाषा और शंकराचार्य के बाद की भाषा को हम क्रमशः तीन नाम इस प्रकार दे सकते हैं :

१. वैदिक संस्कृत भाषा
२. पातञ्जल संस्कृत भाषा
३. आधुनिक संस्कृत भाषा

संस्कृत विद्वत्समाज की ही भाषा रही

यह प्रश्न आज तक बड़े ही उलझे हुए रूप में चला आ रहा है कि संस्कृत, अपनी वैभवावस्था में राष्ट्रभाषा का स्थान ले चुकी थी, या समाज के कुछ ही हिस्सों में उसका अस्तित्व बना रहा। कीथ, गोल्डस्टकर और लीबिच आदि प्राच्य विद्याप्रेमी यूरोपीय विद्वानों के मतानुसार पाणिनि के समय (५०० ई० पूर्व) तक संस्कृत भाषा शिष्टसमाज की बोल-चाल की भाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती प्रभृति विद्वानों का अभिमत भी यही है कि लगभग यास्क (७०० ई० पूर्व) से लेकर कात्यायन (४०० ई० पूर्व) और पतञ्जलि (२०० ई० पूर्व) के समय तक संस्कृत बोल-चाल की भाषा बनी रही। फिर भी इतना तो निश्चित है कि संस्कृत का प्रवेश केवल शिष्टसमाज तक ही था; और यदि कहा जाय कि, शिष्टसमाज की भी वह मातृभाषा नहीं रही, तो सच्चाई है। वह भी तत्कालीन दूसरी भाषाओं की भाँति बोलचाल की एक प्रशाखा या एक अपभाषा रही। डा० चक्रवर्ती प्रभृति विद्वानों की इस मान्यता के फलस्वरूप भी कि, यदि संस्कृत उस समय की बोलचाल की भाषा न होती तो पाणिनि का इतना बृहद् व्याकरण प्रकाश में न आया होता,[1] इसके बावजूद भी दूसरे विद्वानों का यह कहना है कि इतने जटिल नियमों और इतने दुर्बोध्य ध्वनि-सिद्धांतों में जकड़ी हुई भाषा न तो बोलचाल की भाषा हो सकती है, महज इसके कि वह तत्कालीन विद्वद्वर्ग की भाषा थी।[2] सम्पूर्ण भारत के किसी भी भाग की गृहभाषा संस्कृत किसी भी युग में नहीं रही है,[3] यह निश्चित है।

---

१. डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : दि लैंग्वीस्टिक स्पैक्युलेशन आफ दि हिन्दूज, कलकत्ता पूर्ववत् विश्वविद्यालय ॥ २. शमशेरसिंह नरूला : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास पृ० २७-२८ ॥ ३. चाटुर्ज्या: इंडो आर्जन ऐण्ड हिन्दी

आर्यभाषाओं का उद्गम और विकास

वैदिक और लौकिक

यास्क के 'निरुक्त' और पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में इसकी पर्याप्त चर्चाएँ हैं कि वैदिकयुगीन साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषाओं में पर्याप्त अन्तर था। पतञ्जलि ने भी 'शब्दानुशासन' में इस बात को स्वीकार किया है कि वैदिक शब्दों को केवल वेदों को पढ़कर ही अवगत किया जा सकता है और उसके अतिरिक्त साधारण व्यवहारोपयोगी शब्दों का आधार प्रचलित लोकभाषा है। इसी अर्थ वेदों की साहित्यिक भाषा को 'छंदस' या 'नैगम' तथा जन-समाज के प्रचलित लोकभाषा को 'लौकिक' नाम से कहा जाता रहा है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार वैदिक युग की साहित्यिक 'छंदस्' भाषा भारत के उत्तर-पश्चिम में बसे हुए आर्य परिवारों की भाषाओं के संमिश्रण से निर्मित हुई।[1] कुरुक्षेत्र में बसे हुए कुरु जनपद की भाषा से ही संस्कृत का निर्माण हुआ, ऐसा भी एक मत है।[2] भारत के आर्यों का प्रवेश अलग-अलग समूहों और कुछ बदले हुए संस्कारों को साथ लेकर हुआ। उनकी भाषाओं में भी उनके सम्प्रदायों एवं परिवर्तित संस्कारों की विभिन्नताएँ थीं। वैदिक संस्कृत का विकास इन्हीं आर्य-परिवारों की विभिन्न भाषाओं के विलय हो जाने से हुआ।[3]

वैदिक भाषा का विकास

ऋग्वेद संहिता, अन्य तीनों मंत्र-संहिताओं की अपेक्षा प्राचीन है। इसके भी कुछ मंत्र अति प्राचीन हैं। इन प्राचीनतम मंत्रों का निर्माण कब हुआ तथा कब तक होता रहा और अन्य तीनों मंत्र-संहिताओं की भाषा से एवं इन चारों मंत्र-संहिताओं का तदुत्तरकालीन वैदिक साहित्य से, भाषा की दृष्टि से, क्या सम्बन्ध रहा है, आज की इतनी दूरी पर बैठे हुए इस सम्बन्ध में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है। फिर भी इतना तो विद्वत्संमत है ही कि संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता के निर्माण एवं उसके प्रकाश में आने तक के लिए कई सौ वर्ष लगे होंगे; इसके साथ ही ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का शेष मंत्रों से अवश्य पूर्वापर संबंध था; और यद्यपि आज हमें ऋग्वेद के प्रथम मंत्रों के रचयिता मधुछंदस् महर्षि के समय का पता नहीं चलता है, और न ही गायत्री मंत्र के

---

१. शमशेरसिंह नरूला : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास पृ० ३०

२. डा० धीरेंद्र वर्मा : मधुकर, अप्रेल, अगस्त १९४४।

३. चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी

रचयिता महर्षि विश्वमित्र की ही निश्चित कालावधि हमें विदित है, फिर भी इतना मान लेने में कोई विशेष अड़चन नहीं पड़ती कि ऋग्वेद-मंत्र-संहिता के संकलन होने से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व उसके मंत्र रचे जा चुके होंगे, जो कि समय की सुदीर्घ दूरी के कारण आज जैसे-के-तैसे रूप में हमें देखने को नहीं मिलते हैं। जिस भाषा में ऋग्वेद के मंत्रों का निर्माण हुआ, वह ऋक्संहिताओं की भाषा से भिन्न थी और उसका कोई भी चिह्न आज अवशिष्ट नहीं है। ऋग्वेद के अधिकांश मंत्र प्राग्वैदिक समाज का वर्गों में विशृङ्खलित होने से पूर्व रचे गए थे। और इसमें आश्चर्य नहीं कि ऋक्संहिताओं के पूर्ण प्रकाश के आ जाने के कारण, समाज पर उनका यह प्रभाव पड़ा कि उसने अलग-अलग वर्गों में विभाजित होना आरंभ कर दिया। क्योंकि वैदिक संस्कारों या साहित्य का निर्माण एक व्यक्ति द्वारा न होकर सामूहिक रूप से हुआ था; अतः ऋग्वेद में हमें व्यष्टिमय धर्म की बात कम ही देखने को मिलती है। अब काव्यकर्म, मंत्र-गायन एक समुदाय विशेष की विरासत बन गई थी।

आरंभ में आर्यजनों की अनेक बोलियों से कलात्मक प्रयोजन के लिए जिस साहित्यिक भाषा का निर्माण हुआ एवं जिसमें पहिले-पहिल कवि-बुद्धि वाले वैदिक युगीन ऋषियों ने स्तुति-विषयक कविताओं का सृजन किया, उन्हीं का संस्करण, संशोधन लगभग १००० ई० पूर्व में वेदों के रूप में संकलित हुआ।[1] यह संकलन कार्य तत्कालीन चरकों, चरणों, सूतों या व्रात्यों के द्वारा संपन्न हुआ।[2] वैदिक कविता की यह छन्दस् भाषा साधुभाषा के नाम से प्रख्यात हुई, जिसमें कि तत्कालीन अध्ययन-अध्यापन का सारा कार्य संपन्न होता रहा।

मंत्र-संहिताओं की छन्दस् भाषा के बाद ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा का क्रम आता है। ब्राह्मणग्रन्थों की गद्यप्रधान भाषा तत्कालीन विद्वत्समाज के बोल-चाल की भाषा थी, जिसका निर्माण ऋषि-मुनियों के विभिन्न भागों तथा अरण्यों में अधिष्ठित विद्या-निकेतनों में हुआ। इन विद्या-निकेतनों में जो-जो छन्द या शाखा-ग्रन्थ जिन-जिन शिष्यों या चरणों के द्वारा कंठस्थ कराये गए, बाद में उनका अभिधान उन्हीं के नाम से प्रचलित हुआ। उदाहरण के लिए शत-अध्यायी 'शतपथ ब्राह्मण' यद्यपि याज्ञवल्क्य की रचना मानी

---

१. वही। २. शमशेरसिंह नरूला : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास पृ० ३५–३६

जाती है; किन्तु इसके काण्ड अलग-अलग चरणों के नाम से निर्मित हैं, और बाद में यह सारा ग्रन्थ संकलित होकर उन विभिन्न चरणों के एकमात्र स्रष्टा-द्रष्टा महामुनि याज्ञवल्क्य के नाम से प्रचलित किया गया।

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा, संहिताओं की शब्दावली से उद्धृत, जनबोली के अधिक समीप थी, फिर भी उसकी स्थिति जन-सामान्य से दूर पंडित-समाज के ही बीच बनी रही। इस बीच जन-सामान्य की बोलचाल की भाषा ने अनेक अनार्य तत्वों को ग्रहण करके अपनी स्थिति को, पहिले की अपेक्षा बहुत ही बदले हुए रूप में संपन्न कर लिया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद रचे जाने वाले आरण्यक-ग्रन्थों की भाषा पर भी जनबोली के उक्त परिवर्तित रूप की छाया पड़ी। किन्तु अब स्थिति यह आ गई थी कि साहित्यिक भाषा और जनबोली के बीच की खाई गहरी होती जा रही थी। इस अन्तर या असमानता का प्रभाव व्याकरण के क्षेत्र पर सर्वाधिक रूप में दृष्टिगत हुआ।

व्याकरण का निर्माण करने वाला यह वर्ग, वैदिक-संस्थाओं से संबन्धित होता हुआ भी सर्वथा स्वतंत्ररूप से तत्कालीन भाषाओं एवं बोलियों का वैज्ञानिक अन्वेषण करने पर दत्तचित्त था। भारतीय साहित्य के आचार्यों की एक पृथक् श्रेणी के जन्मदाता ये ही व्याकरणकार थे। शाकटायन, आपिशलि, स्फोटायन और भारद्वाज इस नये युग के निर्माता थे, जिनके निर्माणकार्यों और भाषा के वैज्ञानिक परीक्षणों का दर्शन हमें सूत्र-ग्रन्थों में हुआ। सूत्रग्रन्थों का यह युग 'सूत्र' युग के ही नाम से विख्यात है, जिसकी शैली एवं जिसके प्रतिमान सर्वथा अपने थे। विद्वानों के अनुसार 'गागर में सागर' की भाँति जिनकी शैली बहुत ही दुर्बोध और नितांत पारिभाषिक थी। यह भाषा, जिसमें कि वेदांगग्रन्थों की रचना हुई और जिसका निर्माण वैयाकरण पाणिनि से भी पहिले हो चुका था, बोलचाल की भाषा न होकर वर्षों के शिक्षण एवं अध्ययन से बोधगम्य होने वाली भाषा थी।[1]

वैदिकी संस्कृत का लौकिकीकरण

वेदांग साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होनेवाले उक्त सूत्रग्रन्थों की शैली का प्रभाव तत्कालीन पंडितसमाज पर अत्यधिक रूप से पड़ा, क्योंकि उसमें चौंका देने वाले रहस्य भरपूर थे। इसका प्रभाव गांधार (पश्चिमी सीमाप्रांत) निवासी महावैयाकरण पाणिनि (बुद्ध के कुछ ही समय बाद, ५०० ई० पू०)

---

१. नरूलाः हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास पृ० ३७-३८।

के ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' पर लक्षित होता है। पाणिनि का यह व्याकरण-ग्रन्थ वेदांग के सूत्रग्रन्थों से सर्वथा पृथक् और भारतीय भाषाशास्त्र के क्षेत्र में आज तक का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। पाणिनि के इस ग्रन्थ से भाषाशास्त्र के क्षेत्र में एक नये युग का निर्माण हुआ, जिसे हम वैदिकी भाषा का लौकिकीकरण का युग कह सकते हैं।

पाणिनि का युग वह युग था, जब कि लौकिक संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत बोलियों का भी तीव्र गति से निर्माण हो रहा था। फिर भी इतिहास के अध्ययन से हमें यह विदित होता है कि संस्कृत या उसके साहित्य का स्वर्ण-युग वैयाकरण पाणिनि में लगभग चार-पाँच शतक बाद, ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी या ईसा की प्रथम शताब्दी से आरम्भ होता है; यद्यपि यह युग ऐसा था कि ब्राह्मण वर्ग तक के लोग भी संस्कृत बोलना भूल चुके थे।

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि संस्कृत किसी भी युग में सामान्य जनता की बोल-चाल की भाषा नहीं रही है। संस्कृत के हिमायती लोग कुछ थोड़े से नगण्य प्रसंगों को उद्धृत करके उसको जो बोल-चाल की भाषा सिद्ध करते हैं, वह संस्कृतभाषा की प्रकृति के अनुरूप नहीं बैठता है; और तब हमें कहना पड़ेगा कि संस्कृत को जन-सामान्य की बोलचाल की भाषा के रूप में मानना, उसके महत्त्व को बढ़ाने के बदले, कम करना है। संस्कृत सभी युगों में, वैदिक युग से लेकर, विद्वत्समाज की भाषा रही है; वह साहित्य-निर्माण के लिए अति ही उपयुक्त भाषा रही है और दुर्बोध्य होने पर भी उसके मोह में जो बँध गया, भले ही वह रथ-सञ्चालक सूत हो या सामान्य श्रेणी का व्यक्ति, उसके ज्ञान को बिना प्राप्त किए नहीं रह सका।

लौकिक अभिधान की संस्कृतभाषा के पहिले ग्रंथ रामायण और महाभारत हैं। भाषा की दृष्टि से ये दोनों ग्रन्थ बहुत ही संकरता लिए है। इनके अध्ययन से पता चलता है कि इनके अपाणिनीय प्रयोग जन-सामान्य की बोलचाल की भाषाओं से किस रूप में प्रभावित है। इन दोनों ग्रन्थों की भाषा में आर्ष प्रयोगों की भी कमी नहीं; फिर भी तत्कालिन युग की लोकप्रिय भाषा के ये प्रतिनिधि-ग्रन्थ हैं। इनमें आर्य-भाषाओं के प्रकार-सूत्र भी वर्तमान है। इन दोनों ग्रन्थों की मुख्य कथायें या उपकथायें लगभग वैदिक युगीन हैं, तथापि प्राक् पाणिनि भाषा के कोई भी अवशेष उनमें नहीं है।

रामायण, महाभारत को यद्यपि काव्यों की कोटि में रखा जाता है; किन्तु

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में अपनी कोटि के वे अलग ही ग्रन्थ हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने उन्हें इपिक विदिन इपिक (महाकाव्यों के भीतर महाकाव्य) कहा है। वे स्वयमेव महाकाव्य हैं और अनेक काव्यों, नाटकों एवं महाकाव्यों के जन्मदाता भी। भास, कालिदास, अश्वघोष आदि की कृतियों से लेकर संस्कृत-साहित्य के परवर्ती लगभग १५-१६ शतकों में संस्कृत भाषा ने अपना पूर्ण विकास किया।

आज सारा संसार संस्कृत भाषा की महानताओं पर मोहित है और यद्यपि अपनी जन्मभूमि भारत में ही उसको आज मृतभाषा के रूप में कहा जा रहा है, तथापि एक महान् भाषा का स्वामी होने के कारण विदेशों में भारत के संमान की स्थिति आज पहिले की अपेक्षा बहुत बदली हुई हालत में है।

संस्कृत भाषा का विकास

ऐतिहासिक अध्ययन से विदित होता है कि भारत में आर्य-भाषा ने दो रूपों में अपना विकास किया। उसका पहला रूप तो हमें तत्कालीन जन-समाज की बोलचाल की भाषा के रूप में और दूसरा साहित्य की भाषा के रूप में मिलता है। बोलचाल की भाषाएँ प्रादेशिक भाषाएँ थीं और साहित्य की भाषा संस्कृत थी। प्रादेशिक भाषाओं के प्रबल पक्षपती जैन-बौद्धों के लोक-भाषा-सम्बन्धी उद्योगों ने बहुत चाहा कि संस्कृत के प्रभाव को वे अपने अन्दर समा लें, किन्तु हुआ इसके विपरीत ही, संस्कृत का निरन्तर विकास होता गया। संस्कृत ने अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए दो बातों को अपने साथ रखा। पहले तो उसने शब्दों तथा व्याकरण के बाहरी रूपों को अपने से दूर नहीं होने दिया और दूसरे में मध्यकालीन आर्य-भाषा के वाक्य-विन्यास एवं शब्दावली का अनुसरण करना उसने पूर्ववत् स्थायी रखा। बहुत सारी बातों में वह यहाँ तक बढ़ गई थी कि आर्य-भाषाओं की व्यवस्थित विधियों को भी उसने ज्यों-की-त्यों आत्मसात् कर लिया।

यद्यपि पाणिनि-व्याकरण की रचना के बाद संस्कृत के मान-परिणामों का परिसीमित करने के लिए बड़े उद्योग हुए; किन्तु संस्कृत की सतत विकासोन्मुख प्रवृत्ति पर पाणिनि-व्याकरण भी रोक न लगा सका। यही कारण है कि संस्कृत के ग्रन्थों को सामने रखकर हम बहुधा, उसकी भाषा, वाक्य-विन्यास और उसकी प्रकृति का अध्ययन करके, यह निष्कर्ष निकाल सकने में बहुत हद तक सफल हो सकते हैं कि वह किस समय की रचना है।

संस्कृत-साहित्य के ओर-छोर तक भाषा, विचार, रचना और शैली की जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसका कारण उसकी सतत विकासोन्मुख प्रकृति का ही परिणाम है।

ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास रचे गए संस्कृत के नाटकों का अध्ययन करने पर हमें पता चलता है कि अभिजात पात्रों की भाषा संस्कृत और कमसीन वर्ग के, जैसे स्त्री, भृत्य आदि के, मुँह से प्राकृत का प्रयोग कराया गया है। ये दोनों बातें तत्कालीन समाज के भाषा-सम्बन्धी व्यवहार के बहुत बड़े प्रमाण हैं। इनसे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय संस्कृत को समझते सभी थे, चाहे वह पूर्वी भारत का ही क्यों न हो, किन्तु बोल-चाल की भाषा की रूढ़ि बनाने के लिए प्राकृत का मोह भी उनसे दूर नहीं हुआ था। यदि तत्कालीन संस्कृत की तुलना आधुनिक हिन्दी और तत्कालीन लोक-भाषा की तुलना आधुनिक हिन्दुस्तानी से किया जाय तो अनुचित न होगा।

रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इन ग्रन्थों में जो कथाएँ और उपकथाएँ आज हमें देखने को मिलती हैं, उनके रचयिताओं के सम्मुख वे ठीक वैसे ही रूप में वर्तमान नहीं थीं, या उनके रचयिताओं ने ही उनको मूल रूप में वैसे ही नहीं रचा था। वस्तुतः ये ऐतिहासिक वीरतापूर्ण तथा धार्मिक गाथाएँ बहुत पहिले से समाज में प्रचलित थीं। विशुद्ध आर्यों, मिश्रित आर्यों, अनार्यों और आर्यीभूत अनार्यों के उद्योग से ये कथाएँ समाज में तत्कालीन लोकभाषा के रूप में वर्तमान थीं। उन्हीं को वाल्मीकि, व्यास आदि ने अपनी बुद्धि से साहित्यिक रूप-रंग में संजो कर संस्कृत भाषा में उतार दिया। पुराण-ग्रन्थों में आज भी जो लोकभाषा के शब्द बहुलता से उपलब्ध होते हैं, उनके मूल में यही बात थी।

भारत के विभिन्न हिस्सों में उत्तरी भारत में जहाँ एक ओर अनार्य संस्कारों का पूर्णतया आर्यीकरण होकर एक समन्वित संस्कृति का, जिसे हिन्दू-संस्कृति कहा जा सकता था, प्रतिष्ठा हो चुकी थी, वहाँ दूसरी ओर धर्म, दर्शन और कथाओं के निर्माणार्थ संस्कृत को ही एक मत से अपनाया जाने लगा था। यह क्रम ईसा पूर्व की पहली सहस्राब्दी तक चलता रहा और इस काल के द्वितीयार्ध में वह पूरी तरह से सम्पन्न भी हो चुका था। इसी बीच समग्र भारत में आर्य-भाषा आर्य-अनार्यों में एकीकरण की स्थापना कर एक बृहद् भारतीय जनों की सर्वसम्मत संस्कृति के निर्माण में लगी हुई थी।

आर्य-भाषा की यह सबसे बड़ी विजय थी कि उसने अपने अञ्चल के नीचे भारत के जन-जन को समेट लिया था। पश्चिम में गांधार से लेकर पूरब में विदेह एवं मगध तक, उत्तर में हिमालय से लेकर मध्यभारत तक और पश्चिम में सागर तट गुजरात से लेकर दक्षिण तक आर्य-भाषा की समृद्धि की यह स्थिति लगभग ६०० ई० पूर्व में पूर्णतः कायम हो चुकी थी।

दक्षिण में यद्यपि आर्य-भाषा के दोनों रूप प्राकृत और संस्कृत, अभी तक पूर्णतः अपना स्थान नहीं बना सके थे। इसके उपरान्त आर्यजन द्रविड़ों के बीच उसको ले गए। पहिले तो वे लोग संस्कृत को अपनाने में झिझके; किन्तु धीरे-धीरे सुसभ्य द्रविड़ों ने उसको अपना लिया और फलस्वरूप तेलगु, कन्नड़ एवं मलयालम तीनों भाषाओं का साहित्य संस्कृत के तत्सम और तद्भव रूपों से भर गया। तमिल ने अवश्य ही आर्य-भाषा के शब्दों को अपनाने में संकोच किया; किन्तु तेलगु, कन्नड़ और मलयालम से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण आर्य-भाषा के प्रभाव से वह भी अछूती न रह सकी।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि धीरे-धीरे संस्कृत भाषा ने भारत की समग्र प्रकृति पर अपना एकछत्र अधिकार प्राप्त कर लिया।

लौकिक श्रेणी में आने से पूर्व संस्कृत का नाम दैवी वाक् या देववाणी था। इस दैवी वाक् या देववाणी का पाणिनि व्याकरण के संस्कार के बाद संस्कृत नाम पड़ा। देववाणी का यह संस्कार या परिष्कार युग पाणिनि (५०० ई० पू०) से पतञ्जलि (२०० ई० पू०) के बीच निरन्तर होता रहा।

यहाँ यह न समझना चाहिये कि पणिनि से पूर्व देववाणी का प्रयोग असंस्कृतावस्था में था। वस्तुतः वैदिक पार्श्व में ही लौकिक भाषा संस्कृत का निर्माण आरम्भ होने लग गया था और उसी को संयत रूप देने के लिए पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि ने अपने-अपने व्याकरणों की रचना की।

व्याकरण का कार्य भाषा का निर्माण करना नहीं है; अपितु भाषा में शुद्ध स्वरूप की रचना करना है। भाषा या शब्दों का आस्तित्व पाणिनि, पतञ्जलि आदि से भी बहुत पहिले था; किन्तु इन वैयाकरणों ने समाज को बताया कि 'षष' के स्थान पर 'शश', 'पलाष' के स्थान पर 'पलाश' और 'मंजक' के स्थान पर 'मञ्चक' प्रयोग शुद्ध है[2]।

---

१. चाटुर्ज्या : भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी पृ० ६८-७९। २. महाभाष्य

इन व्याकरण ग्रन्थों की रचना के बाद शिक्षित समाज जिस भाषा का प्रयोग करने लगा था, वह संस्कृत कहलाई और अशिक्षित, जन साधारण के बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' नाम से कही जाने लगी। प्राकृत भाषा पर संस्कृत का पूर्ण प्रभाव रहा और संस्कृत से ही उसको जीवनदायी तत्व मिलते रहे।

संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भी अपना विकास करती रही। ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी समाज ने संस्कृत को अपनाया और महावीर एवं गौतम जैसे ब्राह्मधर्म-विरोधी समाजसुधारक नेताओं ने लोकभाषा को अपना कर प्राकृत की परंपरा को आगे बढ़ाया। आगे चलकर जब विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों ने अपना विकास करना आरम्भ किया तो ब्राह्मण, जैन, बौद्ध सभी धर्मों के अनुयायी आचार्यों एवं दर्शनकारों ने अपनी-अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं के लिए बिना हिचक संस्कृत में ही ग्रंथ-रचना करना आरम्भ किया। संस्कृत भाषा की अभ्युन्नति की दृष्टि से दर्शनशास्त्र का युग बड़ा ही शुभ रहा है।

प्राकृत-भाषा के परिपोषक जैन-बौद्ध विद्वानों ने भी जब संस्कृत को ही अपनी ग्रन्थ-रचना की भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया तब भी प्राकृत जन साधारण के बीच अपना निर्माण करती रही। मागधी, अर्धमागधी और शौरसेनी रूपों में प्राकृत भाषा विच्छिन्न होकर भारत के विभिन्न प्रदेशों की प्रादेशिक भाषाओं के निर्माण का कारण बनी।

इसी बीच लगभग ४०० ई० में प्राकृत की एक विभाषा का जन्म हुआ, जिसका नाम कि अपभ्रंश पड़ा। प्राकृत और कुछ प्रादेशिक भाषाओं के संयोग से अपभ्रंश का निर्माण हुआ और बाद में अपभ्रंश के द्वारा कई प्रादेशिक भाषायें प्रसूत हुई।

प्राकृत : पालि : अपभ्रंश : व्युत्पत्ति एवं विविक्ति

लोकभाषा का अस्तित्व

भाषा या वाणी का अस्तित्व पहिले लोक में प्रचलित था और तब व्याकरण के नियमों से परिबद्ध होकर वह साहित्य में ढली। ऋषियों ने आरम्भ में ही ऐसी सर्वव्यापी भाषा में उपदेश दिया था, जो कि सबके व्यवहार योग्य थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि देवगण जिस दिव्यवाणी (देववाणी संस्कृत) को प्रकट करते हैं, साधारण जन उसी को बोलते हैं।[1] इस दृष्टि से यह सिद्ध

---

१. ऋग्वेद ८।१००।११

होता है कि आरम्भ में लोकभाषा अर्थात् बोली और दिव्यवाणी अर्थात् साहित्यिक या वैदिक भाषा में कोई अन्तर न था। इसी का इतिहास पूर्व-मीमांसा दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि ने समझाया है[1], जिसकी व्याख्या की है शबरस्वामी ने।[2]

शब्दार्थ-तत्त्व के परम ज्ञाता यास्क का कथन है कि वैदिक शब्द अर्थवान् हैं, क्योंकि वे लौकिक शब्दों के समान हैं : 'अर्थवन्तः शब्दसाम्यात्'[3]। इससे यह ज्ञात होता है कि लौकिक शब्दों के बिना वैदिक शब्दों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। कात्यायन ने भी इसी का समर्थन किया है। उनका कहना है कि लौकिक और वैदिक शब्दों के समान होने से वैदिक शब्द, लौकिक शब्दों के स्वर-संस्कार-नियमों के अभ्युदय के हेतु हैं, यह बात ठीक नहीं है[4]। इसी सूत्र की व्याख्या में उब्बट और अनन्तदेव लिखते हैं कि जो वैदिक शब्द है, वही लौकिक शब्द भी है और वही उनका भी अर्थ है[5]।

अतिव्यापी लोकभाषा कालान्तर में शब्दार्थ, दोनों विधाओं से धीरे-धीरे सिमिटती गई और वर्तमान में वह और भी संकुचित हो गई। जैनशास्त्रों में भाषा के संयमन और उसके मितत्व पर विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ भाषा के प्रमुख चार भेद माने गये हैं : सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्या। इनके भी क्रमशः दस, दस, दस और बारह भेद, कुल मिलाकर ४२ भाषाओं तथा बोलियों के प्रकारों का वर्णन है[6]।

स्पष्ट है कि पहिले जन-बोलियों का निर्माण हुआ और तदुपरान्त कृत्रिम भाषाओं का जन्म हुआ। भाषा-विज्ञान का यह सिद्धान्त दुनिया की समस्त भाषाओं की उत्पत्ति एवं उनके विकास पर एक समान दृष्टि से चरितार्थ होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को तीन युगों में अलग किया जा सकता है, जिनकी सीमायें इस प्रकार हैं[7]:

१. आर्यभाषा युग : वैदिक काल से ५०० ई० पूर्व तक
२. मध्यकालीन आर्यभाषा युग : ५०० ई० पूर्व से ११०० ई० तक
३. आधुनिक आर्यभाषा युग : ११०० ई० से अब तक

---

१. मीमांसासूत्र १।३।३० ॥ २. शिक्षासंग्रह, पृ० ३८६ ३. निरुक्त १।१६ ॥ ४. वाजसनेय प्रातिशाख्य १।३ ॥ ५. वही १।३।९ (व्याख्या) ॥ ६. गंगा, प्रवाह २, तरंग ११, पृ० १२७६ ॥ ७. भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ११, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००८ वि०

प्राकृत

भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की ये तीन स्थूल अवस्थायें हैं। इनमें मध्ययुग, जिसकी आनुमानिक सीमा कुछ विद्वानों के मत से ६०० ई० पूर्व तक पहुँचती है,[१] विभिन्न भाषाओं के निर्माण का महत्त्वपूर्ण युग रहा है। लगभग डेढ़ सहस्राब्दि के इस भाषा-निर्माण को भी तीन अलग-अलग वर्गों में विभक्त किया गया है[२] :

१. पूर्वकालीन प्राकृत (पालि और प्राचीन मागधी) ५०० ई० पूर्व से १०० ई० तक।

२. मध्यकालीन प्राकृत (शौरसेनी, मागधी और उसके भेद) १००–६०० ई० तक।

३. उत्तरकालीन प्राकृत (अपभ्रंश) ६००–११०० ई० तक।

कतरे साहब ने प्राकृत भाषाओं के विकास को सात भागों में वर्गीकृत किया है, जिनके नाम हैं : १. धार्मिक प्राकृत, २. साहित्यिक प्राकृत, ३. नाटकीय प्राकृत, ४. वैयाकरणों की प्राकृत, ५. भारतेतर प्राकृत, ६. शिलालेखों की प्राकृत और ७. जनप्रिय संस्कृत।[3] उनकी सीमाएँ इस प्रकार निर्धारित की हैं :

१. धार्मिक प्राकृत : इस वर्ग के अन्तर्गत पालि, दक्षिणी धर्म-शास्त्रों और उनके बाद की कृतियों की भाषा; अर्ध-मागधी, जैनसूत्रों की प्राचीनतम भाषा, आरसा, महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश, जिसका जैन-ग्रन्थों में प्राचुर्य है।

२. साहित्यिक प्राकृत : इस वर्ग में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश तथा उनकी शाखाएँ सम्मिलित हैं।

३. नाटकीय प्राकृत : इस तीसरे वर्ग में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी,

---

१. नरूला : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ४३।

२. वही, पृ० ४४–४५; उपाध्याय जी ने मध्ययुग का भाषा-विभाजन इस प्रकार दिया है :

(१) पालि और अशोक की धर्मलिपियों की भाषा ५००–१०० ई० पूर्व

(२) प्राकृत भाषायें : १००–५०० ई० तक

(३) अपभ्रंश भाषायें : ५००–१००० ई० तक

—पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १२।

३. एस० एम० कतरे : प्राकृत लैंग्वेज ऐण्ड देयर कंट्रिब्यूशन टु इण्डियन कल्चर

उनकी शाखाएँ, अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त प्राचीन अर्धमागधी, ढक्की, तक्की आदि हैं।

४. वैयाकरणों की प्राकृत : इस वर्ग में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, कुलक पैशाची और अपभ्रंश तथा उसकी शाखाएँ; भरत के नाट्यशास्त्र तथा नमिसाधुकृत 'काव्यालंकारटीका' में प्रयुक्त प्राकृत आदि का समावेश है।

५. भारतेतर प्राकृत : 'धम्मपद' की उस प्रति की भाषा जो खोतान से खरोष्ठी लिपि में प्राप्त हुई है; चीनी तुर्किस्तान में प्राप्त निया और खोतानी प्राकृत के अभिलेख।

६. शिलालेखों की प्राकृत : इस वर्ग में अशोक और तदुत्तरकालीन ब्राह्मी, खरोष्ठी के अभिलेख, ताम्रपत्र, प्रशस्तियाँ और सिक्के सम्मिलित हैं।

७. जनप्रिय संस्कृत : इस सातवें वर्ग में प्राकृत के वे प्रयोग आते हैं, जो हिन्दू , बौद्ध और जैनों में अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुए; किन्तु संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से जिनका प्रयोग वर्जित है।

इस प्रकार ५०० ई० पूर्व से लेकर ग्यारहवीं शती तक के समय की जिन विभिन्न भाषाओं को ऊपर दर्शाया गया है, काल-क्रम की दृष्टि से भले ही उनमें पूर्वापर का सम्बन्ध रहा हो; किन्तु उनमें रक्त का संमिश्रण है। यह रक्त-संमिश्रण न केवल प्राकृत और अपभ्रंश में ही था, बल्कि संस्कृत के साथ भी उनका सहोदरीय सम्बन्ध था। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश, मध्य-युगीन आर्य-भाषाओं का यह क्रम बड़े ही संश्लिष्ट रूप में विकसित हुआ।

जैन और बौद्ध धर्मों के पूर्णतः विकास में आ जाने से भी पहले भारत में कुछ धार्मिक सम्प्रदाय उदित हो चुके थे। इन सम्प्रदायों के ज्ञानमना महा-पुरुषों में कुछ ऐसे भी हुए जो परिव्राजकों के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जा-जाकर नीति और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद या शास्त्रार्थ किया करते थे। इनमें महिलाएँ और ज्ञान की विरासत को आगे बढ़ाने वाले विद्यार्थी भी सम्मिलित हुआ करते थे। इन विद्वान् परिव्राजकों के निवास के लिए पहिले ही व्यवस्था की जाती थी। इन परिव्राजक विद्वानों की गणना न तो प्राचीनकाल के मुनियों या व्रात्यों में आती है और न ही भविष्य के वानप्रस्थी अथवा संन्यासियों में। इनका कोई विशिष्ट सम्प्रदाय नहीं था। यह युग लोक-कथाओं को संग्रह करके जातकों का निर्माण युग और सूत-चारण-वंशों से मौखिक रूप में चले आते वीर-वृत्तों को 'रामायण' तथा 'महाभारत' के

रूप में रचे जाने का युग था। वैदिक धर्म के पौराणिक धर्म में रूपान्तरित होने का भी यही युग था[1]।

इस युग में प्राकृत ने अपना सर्वांगीण रूप निर्मित किया। उसने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की और साहित्य के क्षेत्र में भी उसको बहुतायत से अपनाया गया। भारत के कला-धरातल पर भी उसका प्रभाव रहा और फलस्वरूप कला के क्षेत्र में उसके कलाकारों ने अच्छी कृतियाँ दीं।

प्राकृत भाषा के प्रथम वैयाकरणों में उज्जैन के विक्रमादित्य की राजसभा के प्रमुख विद्वान् वररुचि का नाम आता है। उज्जैन का शाक्य-वंश संस्कृत भाषा को अपनाने वाला प्रथम राजवंश था, जिसका प्रमाण गिरनार का शिलालेख है। ज्यों-ज्यों साहित्यिक भाषाओं में समृद्धि आती गई त्यों-त्यों प्राकृत बोलियों में भी कृत्रिमता की वृद्धि हुई और फलस्वरूप साहित्यिक और प्राकृत भाषाओं के सम्मिलन से कभी तो 'संकर-संस्कृत' और कभी 'मिश्रित प्राकृत' आदि के रूप में बोलियों तथा भाषाओं के नये-नये रूप देखने को मिले।

बोलचाल की भाषायें ज्यों-ज्यों संस्कृतमय होती गईं, अनेक साहित्यिक शैलियाँ प्रकाश में आने लगीं। प्राकृत जैसे-जैसे जन-भाषाओं से अलग हटती गई वैसे-वैसे उसका साहित्यिक रूप भी संस्कृत ने ले लिया; और हम देखते हैं कि आगे-आगे सभी संकर-भाषाओं के साहित्य-रूपों को संस्कृत ने स्वायत्त कर लिया और गुप्तयुग में पहुँच कर संस्कृत भाषा ने अपनी पूरी स्थिति कायम कर ली।

लगभग पाँचवीं शताब्दी (गुप्तकाल) तक भारतीय भाषाओं का जो संवर्धन और निर्माण हुआ उसका क्रम इस प्रकार है: आदिम आर्यों की बोलियाँ; द्राविड़ तथा कोलारियन; वैदिक भाषा; कश्मीर से नैपाल एवं सिन्धु घाटी से अवंतिपुर के बीच की अनेक बोलियाँ; ब्राह्मणों और उपनिषदों की भाषा; गान्धार से मगध तक की बौद्ध-युगीन भाषायें; कोशल की उपभाषा; पालि; अशोककालीन बोलियाँ; जैन अंगों की उपभाषा अर्धमागधी; लेना बोलियाँ; संस्कृत; प्रादेशिक भाषायें; और प्राकृत।[2]

गुप्तकाल के बाद भारत के विशाल साम्राज्य का स्वामित्व हर्ष के हाथों

---

१. नरूला: हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास ४६-४८।
२. हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ५२-५२ के फुटनोट में राइस डेविड्स की सूची। बुद्धिस्ट इण्डिया।

में आया। उस समय मथुरा के आस-पास का प्रदेश शौरसेन नाम से विख्यात था। सम्राट् हर्ष से भी पहिले यद्यपि मध्ययुगीन प्राकृत बोलियों के उत्थान की स्थिति पूरी तरह निर्मित हो चुकी थी; फिर भी शौरसेनी की अभ्युन्नति के लिए उसके राज्यकाल में काफी प्रयत्न हुए। शौरसेनी को अपभ्रंश रूप में प्रतिष्ठित होने का सुयोग पुनः गुर्जर-प्रतिहारों द्वारा कान्यकुब्ज में राज्य स्थापित करने के बाद मिला।

यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि प्राकृतें आम बोल-चाल की सार्वदैशिक भाषाएँ न होकर विभिन्न वर्गों या श्रेणियों की भाषाएँ थीं। भास, कालिदास, अश्वघोष, शूद्रक या विशाखदत्त प्रभृति संस्कृत के नाटककारों ने अपने नाटकों में जो प्राकृतें प्रयुक्त की हैं, वे प्रादेशिक भाषाओं के रूप में न होकर वर्ग-भाषाओं के रूप में हैं। शौरसेनी, शाकारी, शाबदी और चाण्डाली ऐसी ही थीं।

शौरसेनी, अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है और महाराष्ट्री भी उसी का एक रूप थी[1], जो गङ्गा-यमुना दोआब के विस्तृत भू-भाग की राजभाषा थी[2]। उनके स्वतन्त्र रूपों का विकास पीछे हुआ। गद्य के लिए शौरसेनी और पद्य के लिए महाराष्ट्री अधिक उपयुक्त थीं। ये मध्यकालीन प्राकृतें ज्यों-ज्यों प्रामाणिक संस्कृत के निकट आती गईं त्यों-त्यों आम बोलचाल की रही-सही वर्ग-भाषाओं से उनकी दूरी बढ़ती गई।

पालि

ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों पहिले भारतीय विचारों, संस्कारों, रीति-रिवाजों और मान-मर्यादाओं के क्षेत्र में जो एक महान् परिवर्तन का समय आया था और जिसकी स्थिति भारत में ईसवी पश्चात् कई शताब्दियों तक बनी रही, उसी का सर्वाङ्गीण इतिहास पालि के वाङ्मय में सुरक्षित है। वास्तविकता तो यह है कि ई० पूर्व ५०० से लेकर ईसा के ५०० बाद तक की एक सहस्राब्दि में भारत की जो कुछ भी ज्ञान-सम्पदा है, उसकी प्रायः सारी की सारी विरासत पालि-साहित्य में सुरक्षित है।

पालि : बुद्ध वाणी के अर्थ में प्रयुक्त

'पालि' का अस्तित्व बौद्धधर्म के अस्तित्व से प्राचीन है; किन्तु भाषा के

१. प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन आव दि हिन्दूज।

२. डा० वुलनर : इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत; नोट्स ऑन मेडवियल मराठी लिट्रेचर इण्डियन लिट्रेचर, नं० २ (१९५२).

अर्थ में उसका प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। लङ्का में रचे गये 'दीपवंश' (४०० ई०) में पालि का प्रयोग बुद्धवाणी के पर्याय में हुआ है[1]। आचार्य बुद्धघोष (४००–५०० ई०) आचार्य धम्मपाल (५००–६०० ई०) के ग्रन्थों एवं 'चूलवंस' (१३०० ई०) और 'सद्धमसंगह' (१३००–१४०० ई०) प्रभृति ग्रन्थों में 'पालि' शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया।[2] किन्तु भाषा के अर्थ में उसका प्रयोग नहीं मिलता है।

पालि की व्युत्पत्ति

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विद्वानों की अलग-अलग मान्यतायें हैं। कुछ विद्वान् परियाय-पलियाय-पालियाय-पालि, से उसकी निरुक्ति करते हैं;[3] कुछ विद्वान् पाठ–पाळि या पालि से उसकी निष्पत्ति बताते हैं[4]; एक मत विद्वानों का 'पंक्ति' से 'पालि' शब्द की व्युत्पति सिद्ध करता है।[5] डा० मैक्स वेलेसर ने पाटलिपुत्र की भाषा 'पाडलि' से 'पालि' की विविक्ति की है, जिसका खण्डन डा० थामस ने किया।[6] इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने ग्रामवाची 'पल्लि' शब्द से 'पालि' को सिद्ध किया है, कुछ ने उसकी उत्पत्ति प्राकृत-पाकट-पाअड-पाअल-पालि और कुछ ने प्रतिवेशवाची प्रालेय या प्रालेपक को पालि का मूल रूप बताया है।[7]

पालि शब्द की व्युत्पत्ति और उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में 'अभिधानप्प-दीपिका' में एक बहुत ही उपयोगी बात सुझाई गई है। उसमें लिखा है कि 'पा = पालेति, रक्खतीति पालि'; अर्थात् जो रक्षा करती है या पालन करती

---

१. दीपवंश २०।२० : ओल्डेनवर्ग द्वारा संपादित संस्करण।
२. भरतसिंह उपाध्याय : पालि-साहित्य का इतिहास, पृ० १–३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००८ वि०।
३. डा० मनमोहन घोष : इण्डो-एशियन कल्चर, अप्रैल, १९५६; भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महा व्याकरण, पृ० ८–१२।
४. डा० लाहा : बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० ६४१–६५६।
५. विधुशेखर भट्टाचार्य : भिक्खु-भिक्खुनी पालिमोक्ख, भूमिका तथा श्रीमती रायस डेविड्स : शाक्य ऐंड बुद्धिस्ट अपरीजिन्स, पृ० ४२९–३०।
६. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, पृ० ७७३, दिस० १९२८; विंटरनित्स : हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचरभाग २, पृ० ६०५; डा० लाहा : पालि लिट्रेचर, भाग १, भूमिका पृ० १८; डा० लाहा : बुद्धिस्ट स्टडीज, पृ० ७३०–७३१।
७. जहाँगीरदार : कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी ऑव दि इण्डो-आर्यन लैंग्वेज (पालि विवेचन)।

है वह पालि है। सचमुच ही पालि ने त्रिपिटकों तथा अन्य ग्रन्थों के रूप में बुद्ध-वचनों की रक्षा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस दृष्टि से उसके उक्त नाम की सार्थकता सिद्ध होती है। पालि शब्द की इस सापेक्ष्य व्युत्पत्ति को ही आज प्रामाणिक माना जाता है।[1]

पालि : भाषा के अर्थ में

आज जिस पालि भाषा के नाम से हम एक बृहद् वाङ्मय का अर्थबोध करते हैं, चौदहवीं शताब्दी यावत् रचे गए किसी भी ग्रन्थ में उसको इतने व्यापक अर्थ का या इतनी व्यापक अर्थ वाली भाषा का पर्यायवाची नहीं माना गया है। एक सिंहली परम्परा के अनुसार, जिसे आज हम 'पालि' कहते हैं, वह बुद्धयुगीन भारत में बोली जाने वाला मगध की भाषा मागधी थी, जिसमें त्रिपिटक संकलित हैं। मध्य मण्डल में बोली जाने वाली जिस सभ्य भाषा 'मागधी' में भगवान् तथागत ने अपने उपदेश दिये थे, जिसके कुछ रूप हमें अशोक की धर्मलिपियों में भी देखने को मिलते हैं उसी का विकसित रूप पालि है। छन्दोबद्ध गाथाओं, सुत्तकों, निकायों, मिलिन्दपह्ह आदि के गद्य और गद्य-पद्य-मिश्रित संस्कृत की कृतियों में पालि का विकास हुआ। त्रिपिटक और अशोक के शिलालेखों की मागधी में पर्याप्त अन्तर है। त्रिपिटकों का संकलन ४०० ई० पूर्व में हुआ; किन्तु उनमें संकलित तथागत के वचनों की भाषा संकलन-काल से भी प्राचीन है।

पालि भाषा मगध की मूल भाषा थी, जो कि बुद्धकालीन मगध की लोक-भाषा रही है। उसका निर्माण मध्यदेश, मथुरा और उज्जैन की बोलियों के संमिश्रण से बताया गया है[2], किन्तु प्रामाणिक खोजों के अनुसार यह सिद्ध हो चुका है कि मगध की राजभाषा मागधी का ही नाम पालि है और इस दृष्टि से 'पालि' का भाषा के अर्थ में प्रयोग होना त्रिपिटक के संकलन (४०० ई० पूर्व) काल से ही सिद्ध होता है।[3]

पालि का उद्गम और उसकी शाखायें

वैदिकयुगीन आर्यभाषा के विकास की प्रमुख दो शाखायें थीं। एक का निर्माण साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ, जिसका नाम संस्कृत है; और दूसरी जन-बोलियों के रूप में आगे बढ़ी, जिसमें कि पालि का प्रमुख स्थान है।

---

१. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ८-९ ॥ २. नरूला : हिन्दी और प्रा० मा० वे० इति०, पृ० ५०-५१ ॥ ३. उपाध्याय : पा० सा० इति० पृ० ९-२८

पालि, बुद्धकालीन भारत की सर्वाधिक प्रभावशाली भाषा रही है। उसके व्यापक प्रभाव और उसके प्रकट शुभ परिणामों के फलस्वरूप भी उसका उद्गम स्थान कौन था, इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कौशल, उज्जयिनी, मध्य-प्रदेश, कलिंग आदि अनेक स्थानों को पालि का उद्गम स्थान सिद्ध किया गया है।[1]

किन्तु अधिकांश आधुनिक विद्वान् आज इस पक्ष का समर्थन करते हैं कि पश्चिम में उत्तर कुरु से पूर्व में पाटलिपुत्र तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवन्ती तक के विस्तारित मध्यमण्डल में प्रयुक्त होने वाली भाषा को यद्यपि मगध, कोशल और अवन्ती के निवासी एक ही प्रकार से नहीं बोलते थे, तथापि वह एक ही भाषा थी, जिसको कि 'मागधी' नाम दिया गया है। मागधी किसी जनपदविशेष की भाषा नहीं थी, किन्तु तत्कालीन सभ्य समाज उसी का प्रयोग करता था और उसका अस्तित्व बुद्ध के पहिले से था। भगवान् तथागत का अधिकांश जीवन मगध में बीता, इसलिए उनके उपदेशों की भाषा में मगध अञ्चल की भाषा का अविकल रूप न होकर भी वह मागधी से ही प्रभावित है। पालि, जिसमें तथागत के उपदेश संगृहीत है, नाना प्रदेशों की बोलियों का मिश्रित रूप होने पर भी, मागधी के ही अधिक निकट है।[2]

उत्तरकालीन प्राकृत के वैयाकरणों ने जिस मागधी का विवेचन किया है, पालि उससे भिन्न है। इसलिए मागधी के विकास से पूर्व और प्राकृत व्याकरणों, अभिलेखों और नाटकग्रन्थों की रचना से पूर्व की पालि को मागधी पर आधारित कहा जा सकता है।[3]

---

१. इन विद्वानों के मतों की विस्तृत समीक्षा के लिए देखिए : रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १५३-१५४; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जिल्द १, पृ० १८७; डा० लाहा : पालि लिटरेचर, जिल्द १, पृ० ५०-५६ (भूमिका); बुद्धिस्ट स्टडीज, पृ० २३३; गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, भूमिका ३-४; विन्टरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० ६०४; ओल्देनवर्ग : विनयपिटक, जिल्द १, पृ० १-५६; ई० मुलर : सिंप्लिफाइड ग्रामर आफ दि पालि लैंग्वेज, भूमिका, पृ० ३; कीथ : इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली सित० १९२५।

२. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ४-५ (भूमिका) तथा उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १२-२८।

३. वही पृ० १७

आर्य भाषाओं का उद्गम और विकास

पालि भाषा का विकास प्राकृत बोलियों में हुआ। इन प्राकृत बोलियों की प्रमुख शाखायें हैं : मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची और महाराष्ट्री। यद्यपि इन प्राकृत बोलियों का अस्तित्व पहले से था, किन्तु उनका जो साहित्यिक विकास हुआ उसकी सीमा पहली शताब्दी ईसवी से पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी के बीच है। अशोक के समय में जन-सामान्य की बोली के तीन रूप थे : पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। पूर्वी बोली से मागधी तथा अर्धमागधी, पश्चिमी बोली से शौरसेनी और पश्चिमोत्तरी बोली से पैशाची आदि प्राकृतों का विकास हुआ। साहित्य-निर्माण की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत का भी अपना एक स्थान है, प्राकृत वैयाकरणों ने जिसको अधिक महत्त्व दिया है। भरतमुनि (१०० ई० पूर्व) के समय तक सात प्राकृतें अस्तित्व में आ चुकी थीं, जिनके नाम हैं : मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीक और दाक्षिणात्य। मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची ही पालि के अधिक निकट हैं।[1]

अपभ्रंश

प्राकृत भाषाओं का तीसरा संस्करण अपभ्रंश के रूप में सामने आया, जो कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ मध्यकालीन आर्य-भाषाओं का सम्बन्ध जोड़ती है। इसके निर्माण और प्रसार की स्थिति ६००–१२०० ई० के बीच की है। इस बीच अपभ्रंश भाषा काव्य-रचना का माध्यम रही और उसकी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने भी कुछ यत्न किये। अपभ्रंश भाषा के निर्माण के सम्बन्ध में डा० ग्रियर्सन के मत की आलोचना करते हुए श्री नरूला जी का कथन है कि 'अपभ्रंश कई संभाषणेतर भाषाओं का सामान्य नाम था जो आभीरों और सम्बन्धित कबीलों की बोलियों तथा उत्तरी, पच्छिमी और मध्यभारत की उन उपजातियों की भाषाओं के मिश्रण के परिणामतः बनी थीं जिन पर उन्होंने शासन किया'।[2]

भरत ने अपभ्रंश का उल्लेख यायावर लोगों की बर्वरी भाषा के लिए[3] तथा भामह ने उसको कविता की भाषा के रूप में स्वीकार किया है।[4] अपभ्रंश के इस व्यापक रूप के दर्शन वलभी के राजा धरसेन द्वितीय

१. पालि के साथ इनके तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए : उपाध्याय जी का उक्त ग्रन्थ, पृ० ३२–७०।

२. नरूला : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ५८।

३. नाट्यशास्त्र—१७। ४७। ४८। ५५।

४. काव्यालंकार १।१६।२६

के काठियाबाड़ से उपलब्ध ताम्रपत्र में होते हैं। इसी प्रकार कणाद ने अपने प्राकृत व्याकरण में तथा रुद्रट, राजशेखर, पुरुषोत्तम, नृसिंहदेव आदि संस्कृत के ग्रन्थकारों ने भी अपभ्रंश की स्थिति पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[1]

गुजरात का आभीर वंश अपभ्रंश भाषा का पहिला आश्रयदाता रहा है। बाद में गुर्जर प्रतिहार राज्य के अद्वितीय शासक मिहिरभोज और महेन्द्रपाल ने अपभ्रंश की अभ्युन्नति में बड़ा योग दिया। अपभ्रंश भाषा की प्रायः सम्पूर्ण प्राचीनतम कृतियाँ इसी काल की लिखी हुई मिलती हैं।[2] बाद में ही दिगम्बर जैनियों का बृहद् साहित्य अपभ्रंश में निर्मित हुआ और उसकी उपयोगितायें बढ़ती ही गईं तथा उसने दूसरी शिष्ट समुदाय की भाषाओं में स्थान पा लिया।

संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

वर्तमान युग में प्रयुक्त होने वाली संसार की प्रायः समस्त भाषाओं का मूल-उद्गम एक ही भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार था। ग्रीक, लेटिन, प्राचीन चर्च स्लावोनिक और अवेस्ता आदि भाषाओं की संस्कृत भाषा से मौलिक समानता का कारण यही है कि ये सभी भाषाएँ अपने पूर्व रूप में सापेक्ष्य भाषाएँ थीं। पारसियों की धर्म-पुस्तक 'अवेस्ता' की भाषा से वैदिक संस्कृत का मिलान करने पर दोनों भाषाओं की प्रकृति में अतिशय साहचर्य को देख कर आश्चर्य होता है। १९ वीं शताब्दी में संस्कृत भाषा का प्रचार जब विदेशों में हुआ तो दुनिया के प्रमुख भाषा-वैज्ञानिकों ने वर्णनात्मक पद्धति (Descriptive Method), ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) और तुलनात्मक पद्धति (Comparative method) के आधार पर दुनिया की प्राचीनतम भाषाओं के साथ उसके मौलिक तत्त्वों का विश्लेषण कर एक मत से यही स्वीकार किया कि निश्चित ही दुनिया का सम्पूर्ण मानव-समाज एक ही इकाई का अंश और एक ही प्रकृति की उपज है।

किन्तु एक ही परिवार से सम्बद्ध एवं एक ही मूल से उद्गमित भाषा का यह महानद अलग-अलग कूलों-उपकूलों में विभक्त होकर आज इतनी भिन्नता धारण कर चुका है कि उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों को पहचानना दुष्कर हो गया है। दुनिया के इस बृहद् भाषा-परिवार की विभिन्न इकाइयों को हम कुछ विशिष्ट समूहों में इस प्रकार छाँट सकते हैं :

१. नरूला : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास; पृ० ५८-५९ तथा जी० बी० टैगोर : हिस्टॉरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश।

२. नरूला : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वै० इति०, पृ० ६०

१. व्यासप्रधान भाषाएँ (Isolating Languages) : चीनी, तिब्बती, स्यामी, बर्मी आदि ।

२. प्रत्ययप्रधान भाषाएँ (Agglutinating Languages) : दक्षिण की द्राविड़-परिवार की भाषाएँ ।

३. समासप्रधान भाषाएँ (Incorporative Languages) : अमेरिका के आदिवासी रेड इंडियन्स की भाषाएँ ।

४. विभक्तिप्रधान भाषाएँ (Inflexional Languages) : सेमेटिक हेमेटिक एवं भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाएँ ।

हमारा अभिप्रेत विषय संस्कृत भाषा के अभ्युदय का पता लगाना है । इसलिए चौथे भाषा-समूह का ही विश्लेषण करेंगे । भाषावैज्ञानिकों ने भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं को पहिले दो वर्गों में विभाजित किया : सतम् और केन्तुम् ।

१. सतम् वर्ग—भारत-ईरानी शाखा, आल्बेनियन शाखा, आर्मेनियन शाखा, हित्ताइत शाखा और बाल्तोस्लाविक शाखा ।

२. केन्तुम् वर्ग—ग्रीक शाखा, इतालिक शाखा, केल्तिक शाखा, जर्मनिक या ट्यूटोनिक शाखा और तोखारी शाखा ।

दोनों वर्गों से उद्भूत भाषा-शाखाओं का विकास :

सतम् वर्ग

(क) भारत-ईरानी शाखा—इस परिवार की दो उपभाषाएँ हैं : पहिली भारतीय आर्य शाखा और दूसरी ईरानी शाखा । भारतीय आर्य शाखा की भाषाओं का मूल स्रोत संस्कृत भाषा है, जिसके साहित्य का प्राचीनतम अंश वेद हैं । वेदमन्त्रों का सम्भावित समय २०००–१५०० ई० पूर्व है । वैदिक संस्कृत का विकास लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से होकर आधुनिक भारतीय भाषाओं में हुआ है । इसी प्रकार ईरानी शाखा की भाषाओं का मूल उद्गम अवेस्ता है । इसकी जन्म-अवधि लगभग ८०० ई० पूर्व की है । अवेस्ता के प्राचीनतम रूप पहलवी, सोग्दी, साका आदि भाषाओं ने विकसित होकर आधुनिक फारसी आदि भाषाओं का निर्माण किया ।

(ख) आल्बेनियन शाखा—यह शाखा साहित्यिक विकास एवं स्वरूप-विकास की दृष्टि से अवनत रही है ।

(ग) आर्मेनियन शाखा—इस शाखा के साहित्य की उपलब्धि ५०० ई० से होती है।

(घ) हित्ताइत शाखा—हित्ताइत साम्राज्य की राजधानी बोगाजकुई में इस भाषा के ईंटों पर उत्कीर्णित प्राचीनतम लेख उपलब्ध हुए हैं।

(ङ) बाल्तोस्लाविक शाखा—इसकी दो उपशाखाएँ हैं : बाल्तिक और स्लावोनिक। पहिली उपशाखा ने अपना विकास लिथुआनियन, लेतिश और प्रशियन आदि भाषाओं के रूप में किया। दूसरी उपशाखा ने प्रथम बल्गेरिया, जेकोस्लेवाकिया, पौलेण्ड, यूगोस्लाविया, यूक्रेन आदि में अपना विकास किया और मध्य युग में स्लावोनिक या बल्गेरियन, सर्बो-क्रोट, स्लोवेन, पोलेबियन, हेलेनिस्टिक, जेक, स्लोवाक, पोलिश, सोर्बियन और आधुनिक युग में रूसी, सफेद रूसी, छोटी रूसी (यूक्रेनियन) आदि रूपों में अपना विकास किया।

केन्तुम् वर्ग

(क) ग्रीक शाखा—भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार में केन्तुम् वर्ग की ग्रीक शाखा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके साहित्य की परम्परा का आरम्भ लगभग ८५० वर्ष ई० पूर्व से होकर, एतिक या आयोनिक, कोइन या दोरिक आदि उपभाषाओं के जरिए अक्षुण्ण रूप से बनता हुआ आधुनिक युग तक पहुँचा है।

(ख) इतालिक शाखा—यूरोप के पार्श्व भाग की उपभाषाओं के निर्माण में इतालिक या ट्यूटोनिक शाखा का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस शाखा की प्राचीनतम भाषा लेटिन है, जिसका महत्त्व संस्कृत और ग्रीक से किसी प्रकार कम नहीं है। लेटिन का विकास फ्रेंच, स्पेनिश, पोर्चुगीज, इटालियन तथा रूमानियन आदि आधुनिक भाषाओं के रूप में हुआ।

(ग) केल्तिक शाखा—केल्तिक और इतालिक की पारस्परिक समानता के कारण इनको एक ही शाखा की दो उपशाखाएँ भी माना गया है। केल्तिक ने गेलिक, ब्रितेनिक तथा गॉलिश आदि उपशाखाओं में अपना विस्तार कर आयरिक, स्काट, गेलिक, मांख, वेल्स, ब्रेतन आदि भाषाओं के रूप में अपना सर्वाङ्गीण निर्माण किया।

(घ) जर्मनिक या ट्यूटोनिक शाखा—इस शाखा की भाषाएँ जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, आइसलैंड, हालैण्ड और इङ्गलैण्ड में बोली जाती हैं।

(ङ) तोखारी शाखा—इस भाषा को तुषार या तुखार जाति के लोगों

के नाम पर तोखारी, तोखरिक, तोखरिग, तोखारियन या तोखारिश आदि कई नामों से अभिहित किया जाता है[1]।

संस्कृत का परवर्ती विकास

आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय

संस्कृत भाषा के परवर्ती विकास के तीन सोपान हैं : प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भाषाएँ। संस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक मन्त्रों में है। उससे लौकिक संस्कृत का उदय हुआ और तदन्तर प्राकृत ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम किया।

वस्तुतः प्राकृत भाषा का अभ्युदय बहुत पुराने समय में हो चुका था। आर्यजनों के अनार्यजनों के सम्पर्क में आने के कारण आर्यों की भाषा संस्कृत का प्रभाव अनार्यों पर पड़ा। अनार्यों ने अपनी रुचि के अनुकूल संस्कृत की ध्वनियों का विकृत प्रयोग किया, जिससे एक मिली-जुली भाषा, जिसको कि प्राकृत नाम दिया जा सकता है, का निर्माण हुआ। संस्कृत के इन विकृत प्रयोगों को रोकने के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई।

ब्राह्मण युग में प्राकृत ने अच्छा विकास किया। उसने उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य तीन रूपों में फैलकर अपनी परम्परा को अधिक समृद्ध किया। उदीच्य प्राकृत ने तो इतनी सर्वाङ्गीणता अर्जित कर ली थी कि, पीछे चलकर पाणिनि ने उसके आधार पर अपने बृहद् आठ अध्यायों वाले व्याकरण-ग्रन्थ की रचना कर डाली। प्राकृतों की यह परम्परा अशोक तक पहुँची। प्रियदर्शी अशोक के शिलालेखों में हमें प्राकृतों के प्रयोग प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं।

लगभग द्विशताब्दी ई० पूर्व में आकर इन प्राकृतों में कुछ हेर-फेर हुआ, जिसकी पूर्ण रचना हम पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी में देखते हैं। प्राकृत भाषाओं के विकास की यह स्थिति लगभग छठी शताब्दी ईसवी तक बनी रही। विद्वानों ने इस अवधि को प्राकृतों का द्वितीय विकासकाल नाम दिया है।

प्राकृत भाषाओं के इस द्वितीय विकास काल में एक नई भाषा ने जन्म लिया जिसको पालि कहा जाता है। पालि वस्तुतः प्राकृत का साहित्यिक रूप है, जिसका मूल उद्गम मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत है। पालि भी एक प्रचलित लोकभाषा थी, जिसमें कि तथागत भगवान् बुद्ध के उपदेश और बौद्ध साहित्य का प्राचीनतम अंश सुरक्षित है।

---

१. आधारित, डा० व्यास : संस्कृत का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २४-२५ (१९५७)

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की तीसरी स्थिति छठी शताब्दी से दशवीं शताब्दी के बीच रखी जा सकती है, जब कि संस्कृत और प्राकृत से अलग एक तीसरी ही भाषा 'अपभ्रंश' ने जन्म लिया और अपना निर्माण किया।

यद्यपि अपभ्रंश भाषा के अस्तित्व का पता लगभग आचार्य भरत (२०० ई०) के समय से चलता है, तथापि नवम शताब्दी ई० से जैनों के अपनाये जाने के कारण उसका रूप सामने आया। लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में पुरुषोत्तम और हेमचन्द ने व्याकरणों ग्रंथों का निर्माण कर अपभ्रंश को अधिक साहित्योपयोगी बनाया। प्राकृत व्याकरणों में यद्यपि अपभ्रंश के रूप २७ तक गिनाये गये हैं, किन्तु नागर, उपनागर और ब्राचड़, ये तीन रूप उसके प्रमुख हैं।

अपभ्रंश के बाद आधुनिक भारतीय भाषाओं का युग आता है, जिसके निर्माण की पहिली स्थिति १०००-१४०० ई० के बीच है, जो कि हिन्दी के आविर्भाव की पहिली सीढ़ी है। भारतीय आर्य-वर्ग की प्रादेशिक भाषाओं की प्रथम पाँच स्थितियाँ हैं: उदीच्य, मध्यदेशीय, पाश्चात्य, दाक्षिणात्य और पूर्वीय। उदीच्य से सिंधी, लहँदा, पंजाबी; मध्यदेशीय से पश्चिमी हिन्दी; पाश्चात्य से गुजराती, एवं राजस्थानी; दाक्षिणात्य से मराठी और पूर्वीय से बंगाली, आसामी, बिहारी, उड़िया तथा पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ। नीचे के चित्र से यह स्थिति पूर्णतः समझी जा सकती है[1]:
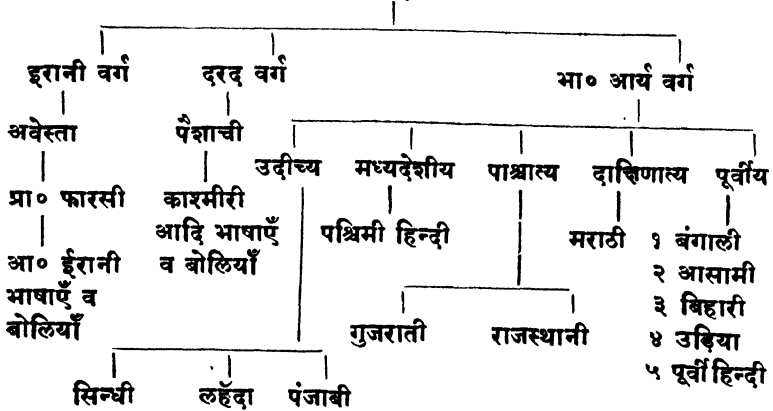
१. देखिए—डा० चटर्जी: ओरिजन ऐण्ड डेवलपमेंट आफ बङ्गाली लैंग्वेज, वाल्यूम १, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३०-३१; डा० भोलाशंकर व्यास: संस्कृत का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन पृ० २६३-२८८

भारतीय आर्य भाषा का विदेशों में प्रसार

ईसा की कुछ शताब्दियों पहिले भारत में जिस समय आर्य-अनार्य-सम्मिलन के कारण एक व्यापक हिन्दू-संस्कृति का निर्माण हो रहा था, ठीक उसी समय आर्य भाषा का प्रसार उत्तर, पश्चिम और दक्षिण से विदेशों में होने लगा था। उत्तर और पश्चिम की ओर से तो यह प्रसरण-कार्य केवल स्थल मार्ग से ही हुआ; किन्तु पूर्व और दक्षिण से जल-स्थल दोनों मार्गों से हुआ। बहुत सारे इतिहासकारों ने इस प्रसार को व्यापारिक उद्देश्य दिया है; किन्तु तत्कालीन ब्राह्मण-बौद्धों ने भारत ही के ऊँचे विचारों को विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वजनहिताय विदेशों में प्रचलित किया।

३०० ई० पू० में प्रवासियों के रूप में भारतीय पंजाब से अपनी प्राकृत भाषा को साथ लेकर खोतान में बस चुके थे। एक दूसरी प्राकृत भाषा ६०० ई० पू० में गुजरात से सीलोन या लंका में गई। यह कार्य भारत से लंका में बस जाने वाले सर्वप्रथम प्रवासी राजकुमार विजय के द्वारा हुआ। यह राजकुमार पश्चिम-भारत का रहने वाला था।[1] यद्यपि ब्रह्म देश में उपलब्ध होने वाले प्राचीनतम पालि और आर्य-शिलालेख पाँचवीं छठी शताब्दी के मिलते हैं; फिर भी अनेक प्रमाणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि भारतीय भाषा और संस्कृति का प्रवेश ब्रह्मदेश में खिष्टपूर्व से ही हो चुका था और ईस्वी पश्चात् एक सहस्राब्दी तक पालि और संस्कृत तथा भारतीय लिपि के द्वारा ब्रह्मदेश के निवासी मंञ् (Rman) और प्यू (Pyu) जनों में आर्यीकरण बड़े जोरों से होता रहा। इस बीच पालि और संस्कृत के अतिरिक्त वहां प्राकृत और तमिल तेलगु भाषायें भी प्रविष्ट हो चुकी थीं। ब्रह्मदेश में संप्रति पालि भाषा प्रमुख धार्मिक भाषा के रूप में विद्यमान है।

इसी प्रकार दूसरी शताब्दी ईस्वी के उपलब्ध संस्कृत के अनेक शिला-लेखों से प्रतीत होता है कि कम्बोडिया, चम्पा और श्याम आदि देशों में खिष्टपूर्व में ही संस्कृत का प्रचार हो चुका था। इन्दोचीन, ब्रह्मदेश, स्याम, कम्ब्रज, लाओस् तथा कोचीन चीन की भांति, सुमात्रा, जावा तथा बाली में वहां के स्थानों का नाम संस्कृत में उल्लिखित है। प्राचीन मलय, सुमात्रा, यवद्वीप, बाली और बोर्निओ द्वीपों में ऐसे अनेक संस्कृत के शिलालेख मिलते

१. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : ओरिजन ऐण्ड डेवलपमेण्ट आफ बंगाली लैंग्वेज, कलकत्ता, १९२६, पृ० १५, ७२-७३, १७६

हैं, जिनका समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी है। यह परम्परा वहां सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ तक वर्तमान रही। सुमात्रा और यवद्वीप तो संस्कृत अध्ययन के लिये इतने विश्रुत हो चुके थे कि भारत से भी विद्यार्थी वहां विद्याध्ययन के लिये जाने लगे थे। कम्बोडिया संस्कृत के तन्त्रविद्याविषयक ग्रन्थों के अध्ययन के लिए विख्यात हो चुका था। यवद्वीप और बालीद्वीप की भाषाएँ संस्कृत शब्दों से आकण्ठ भरपूर हैं।

मध्य एशिया में व्यवहृत होने वाली ईरानी शाखा की प्राचीन खोतानी आदि कुछ भाषायें, जो सम्प्रति विलुप्त हो गई हैं, ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारतीय वर्णमाला में लिखी जाती थीं। इन भाषाओं में संस्कृत के कई ग्रन्थों का अनुवाद होने के कारण स्वभावतया उनमें संस्कृत के शब्द मिलते गए।

ईरान में बौद्ध धर्म के प्रवेश से तथा ईरान का भारत से सम्पर्क होने के कारण फारसी में भी कुछ आर्य भाषाओं के शब्द मिले और फारसी के माध्यम से वे शब्द अरबी तक में गए। और अन्त में फारसी-अरबी के माध्यम से वे भूमध्य-प्रदेश के देशों तक पहुंचे। इसी प्रकार ग्रीक-भारत-सम्पर्क के कारण दोनों भाषाओं में शब्दों का हेर-फेर हुआ। इस सम्बन्ध में वेबर साहब का 'ग्रीक में संस्कृत तथा संस्कृत में ग्रीक शब्द' शीर्षक निबन्ध बड़ा ही खोजपूर्ण एवं द्रष्टव्य है।[1]

ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश हो गया था और उसके प्रभाव से तिब्बती भाषा पर संस्कृत का प्रभाव पड़ने लग गया था। इस सम्बन्ध में सुनीति बाबू का कथन है कि 'परन्तु तिब्बती, चीनी की तरह एक स्वतः सम्पूर्ण भाषा है, अतएव उसमें संस्कृत शब्दों के तिब्बती प्रतिशब्द अपने उपादानों से ही बनाने की प्रवृत्ति रही, फिर मूल शब्द का भाव चाहे कितना ही विषम और जटिल अथवा विदेशी तथा निगूढ़ क्यों न रहा हो। यहाँ तक कि व्यक्तिवाचक नामों का भी तिब्बती में अनुवाद कर लिखा गया।[2]

चीन-भारत का सम्बन्ध ईसा पूर्व की कुछ शताब्दियों से ही रहता आया है। विद्वानों के मतानुसार मध्य-एशिया वासियों के माध्यम से चीन-भारत का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में हो चुका था। लगभग तीसरी

१. ए. वेबर : इण्डियन एण्टीक्वेरी, १८७२। २. डॉ० चाटुर्ज्या : भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्यायें, पृ० ७८

शताब्दी ई० पू० से ही चीनी भाषा को संस्कृत का संपर्क मिल चुका था।[1]

फिर चीन के साथ यह मैत्री ईसा की प्रथम शताब्दी से, जब कि चीन सम्राट् ने भारतीय बौद्ध-भिक्षु काश्यप मातंग (Kia-yeh-Mo-tang) और फा-लान (Fa-Lan) को चीन आमन्त्रित किया, दृढ़ होने लगी। आगे चलकर यह संपर्क घना होता गया और फलस्वरूप चीनी-भारतीय विद्वानों के सहकार्य के फलस्वरूप चीनी बौद्ध-साहित्य का विपुल निर्माण हुआ। यही कारण था कि सातवीं-आठवीं शती में विरचित संस्कृत-चीनी-शब्दकोश और उनकी अविकल प्रतिलिपि जापान से आठरहवीं शताब्दी में प्रकाशित हुई।

कोरिया और जापान में संस्कृत का प्रवेश चीन से हुआ। कोरियाई और जापानी विद्यार्थी पहिले संस्कृत के अध्ययन के लिए चीन जाया करते थे, किन्तु बाद में इन दोनों देशों में चीन से भी बढ़कर संस्कृत का सम्मान हुआ। बौद्ध-धर्म के प्रचार के बाद इन देशों में संस्कृत का खूब प्रचार हुआ।

यूरोप में संस्कृत भाषा का प्रचार हो जाने के बाद उसने संसार भर में अपनी पूरी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। भाषा-शास्त्र के अध्ययन की सुगमता के लिए यूरोप के अधिकांश विश्वविद्यालयों में संस्कृत को भी स्थान दिया गया। विशेषतः ग्रीक और लातीन भाषा-तत्त्व के अध्ययन के लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य हो गया। यूरोप के प्राचीनतम साहित्य के साथ-साथ वेदों की भाषा के रूप में संस्कृत को भी पूरा संमान मिला। नात्सी (Nazi) लोग अपने नॉर्डिक (Nordic = जात्यभिमान, मैत्री, अपनी शिष्टता के प्रतीक) को संस्कृत के 'स्वस्तिक' शब्द से ही पुकारते थे।

---

१. सर ई० डेनिसन रॉस् स्मारक-ग्रन्थ, पूना १९३९, पृ० ७१-७४

वैदिक युग

वेद : संहिताएँ : काल-मर्यादा

वेद : सम्पूर्ण वाङ्मय का बोधक

'वेद' शब्द वैदिक युग में वाङ्मय के पर्यायवाची शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होता था। जिस प्रकार आज भी शास्त्रों के नाम पर धर्म-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र आदि से अनेक विषयों का बोध होता है और 'शास्त्र' शब्द किसी विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन न करके अपने पूर्व में जुड़े हुए शब्द की सम्पूर्णता का ही द्योतन करता है, उसी प्रकार 'वेद' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय में सामान्य रूप से सभी विषयों के लिए किया जाता था। जैसा ब्राह्मणयुगीन सारा साहित्य ब्राह्मण-ग्रन्थों के नाम से अभिहित हुआ, जिस प्रकार सूत्र-युग में श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, व्याकरण और यहाँ तक कि दर्शन की प्रतिपादन-शैली का नाम भी 'सूत्र' ही कहा गया, जैसे स्मृति-युग की सभी छोटी-बड़ी कृतियाँ स्मृतियों के नाम से अभिहित हुईं और जिस प्रकार पौराणिक युग के अनेक ग्रन्थ पुराणों के नाम से प्रचलित हुए, ठीक उसी प्रकार, वैदिक युग में 'वेद' शब्द के अन्तर्गत ब्राह्मण-ग्रन्थों तक का समावेश किया गया : मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है। इतना ही नहीं, वरन्—ताभ्यः पंचवेदान्निरमिमत सर्ववेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति—अर्थात् उनसे सर्ववेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद निर्मित हुए[1]। इसी प्रकार 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य नामक पंचम वेद के निर्माण का उल्लेख है, जिसको ब्रह्मा ने स्वयं ऋग्यजुसाम और अथर्व चारों से सार-संकलन कर निर्मित किया।[2]

१. गोपथ ब्राह्मण : १।१० ।

२. भरत : नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक ८–१८

कालक्रम के अनुसार पीछे चलकर वेद शब्द केवल चार वेदों : ऋग्, यजु, साम और अथर्व का ही सूचक रह गया। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि विषय वेद की मर्यादा के अन्तर्गत होते हुए भी मूल वेदों से सर्वथा अलग किए गए, जैसा कि 'तैत्तिरीय संहिता' की भाष्य-भूमिका में सायणाचार्य ने स्पष्टीकरण किया है : यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मंत्र-व्याख्यानस्वरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः—अर्थात् यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण, दोनों वेद कहलाए, तथापि ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रों के व्याख्यानरूप थे, अतः उनका स्थान मन्त्रों के बाद में आता है। ब्राह्मणग्रन्थ, व्याख्याग्रंथ होने की वजह मन्त्रों पर सर्वथा आधारित हैं। उनका अपना वैसा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं जैसा कि मन्त्रों का है। अतः वेद नाम से मन्त्र ही अभिप्रेत है, न कि ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थ जो कि मन्त्रों की व्याख्यायें एवं उनके महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं।

यद्यपि वेद और ब्राह्मण आदि, वेद के व्याख्यान-ग्रन्थ, आज पृथक् रूप में परिचित हैं और वेद शब्द से हम केवल चार मन्त्र-संहिताओं को ही स्मरण करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि हमारी सारी क्रियाओं का मूल उक्त वेद ही है। संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि जितने भी विषय हैं उनकी नींव वेदों पर टिकी है। इसीलिए मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है[1] और यही कारण है कि मैक्समूलर[2] तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती[3] प्रभृति आधुनिक युग के वेदज्ञ विद्वानों ने वेद के उक्त सर्वज्ञानमय स्वरूप को स्वीकार किया है।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति

अति प्राचीन समय से लेकर आज तक हिन्दू जाति का वेदों पर एक जैसा विश्वास है। वेद, हिन्दू-जाति की सबसे पुरानी और सबसे पवित्र पुस्तक है। यह पुस्तक न तो 'कुरान' की तरह एकमात्र धर्म-पुस्तक है और न ही 'बाइबिल' की भांति अनेक महापुरुषों की वाणियों का संग्रह मात्र ही। वह तो एक पूरा साहित्य है। पुराने आचार्यों ने 'वेद' शब्द से उस युग के समग्र ग्रन्थों को अभिहित किया है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों की चार संहितायें हैं : ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता,

---

१. मनुस्मृति २।७ पर मेधातिथि की टीका।

२. मैक्समूलर : इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस, लेक्चर ३।

३. दयानन्द सरस्वती : ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका

सामवेद-संहिता और अथर्ववेद-संहिता। संहिता, संकलन या संग्रह के लिए कहते हैं। प्रत्येक संहिता में अलग-अलग वेदों के मंत्र संकलित हैं।

'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति पर संहिताओं से लेकर उपनिषद्, आयुर्वेद, नाट्यशास्त्र, कोश, कल्प और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों तक व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है।[1] 'वेद' शब्द चार धातुओं से निष्पन्न होता है विद्-ज्ञाने, विद्-सत्तायाम्, विद्लृ-लाभे और विद्-विचारणे। उक्त सभी ग्रन्थों में वेद शब्द का प्रयोग मंत्र-संहिताओं के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेद' शब्द का विवेचन इस प्रकार किया है : विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते, लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। अर्थात् जिनसे सभी मनुष्य सत्यविद्या को जानते हैं, अथवा प्राप्त करते हैं, अथवा विचारते हैं, अथवा विद्वान् होते हैं, अथवा सत्य-विद्या की प्राप्ति के लिए जिनमें प्रवृत्त होते हैं, वे वेद हैं।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है

वैदिक साहित्य की सम्यक् जानकारी के लिए 'वेद' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। संस्कृत-साहित्य के बृहद् भाण्डागार का एक-एक शब्द अपना निजी अर्थ रखता है। उसका प्रत्येक शब्द सापेक्ष्य है। पिता को 'जनक' इसलिए कहा जाता है कि वह जन्म देने वाला होता है। 'जनक' शब्द की निष्पत्ति उत्पत्यर्थक 'जनि' धातु से होती है। इसी प्रकार जनक को 'पिता' इसलिए कहा जाता है कि वह रक्षक होता है। रक्षणार्थक 'पा' धातु से 'पिता' शब्द निष्पन्न होता है। इसीलिए हम पिता शब्द से न तो भाई को सम्बोधित कर सकते हैं और न ही चाचा, ताऊ आदि को। संस्कृत-भाषा के सभी शब्द ऐसे ही सार्थक हैं। इन शब्दों की सार्थकता सिद्ध करने वाला शास्त्र व्याकरण है। संसार की सभी भाषाओं का अपना-अपना व्याकरण है। व्याकरणशास्त्र से ही शब्दों की व्युत्पत्ति होती है और व्युत्पत्ति के ही आधार पर हम किसी भी शब्द का शास्त्रीय अर्थ जान सकते हैं।

'वेद' शब्द का व्याकरण-निष्पन्न शास्त्रीय अर्थ 'ज्ञान' है, क्योंकि 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से है। 'ज्ञान' शब्द व्यापक अर्थ का प्रतिपादक है। इतिहास भी एक ज्ञान है, भूगोल भी एक ज्ञान है और गणित

---

१. तैत्तिरीय संहिता १।४२०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।३।९।६९; सुश्रुत (सूत्रस्थान) १।१४; नाट्यशास्त्र १।१; अमरकोष १।५।३; आपस्तम्ब गृह्यसूत्र १।३३

भी एक ज्ञान है,। ज्ञानार्थ-प्रतिपादक 'वेद' शब्द से इतिहास, भूगोल और गणित प्रभृति विषयों का ज्ञान अभिप्रेत नहीं है, यद्यपि (प्रासंगिक रूप से) वैदिक साहित्य का अनुसंधान करने पर भले ही हमें इतिहास, भूगोल एवं गणित की चर्चायें वेदों में मिल जायँ, उसकी बात दूसरी है। 'वेद' कहने से हमें वह ईश्वरीय ज्ञान अभिप्रेत है, हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार जिसको पहले-पहल ऋषि-महर्षियों ने खोजा अथवा जिससे उन्होंने साक्षात्कार किया था। अतः यह स्पष्ट हो गया कि तपःपूत ऋषि-महर्षियों द्वारा दृष्ट ज्ञान ही 'वेद' शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है।

वेद मंत्र और ऋषि

बहुत पुराने जमाने से यह विश्वास चला आ रहा है कि ऋषियों ने योगबल एवं तपोबल से प्रथम बार वेदों का दर्शन किया। वेद-मंत्रों का प्रथम बार दर्शन करने वालों का नाम पीछे चलकर 'ऋषि' पड़ा, जिनमें पुरुष और महिलायें दोनों थे। अंग्रेजी में इस वेदार्थक ज्ञान को wit (to know) और लेटिन में video (to see) इन पारिभाषिक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है।

मंत्र

यह वैदिक ज्ञान ऋचाओं अर्थात् मंत्रों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। जैसे दर्शन-ग्रन्थों का ज्ञान कारिकाओं के द्वारा प्रतिपादित हुआ है, जिस प्रकार व्याकरण ग्रन्थों का समग्र ज्ञान उसके सूत्रों में समाविष्ट है और जैसे काव्यों–महाकाव्य-ग्रन्थों का विषय-प्रतिपादन-माध्यम श्लोक है, उसी भांति, वेदार्थ ज्ञान के प्रतिपादक मंत्र हैं। पूर्वोक्त ऋषियों ने जिस महान् ईश्वरीय ज्ञान का साक्षात्कार किया, वह ज्ञान जिन शब्द-नियमों या वाक्य-समूहों में निबद्ध है, उन्हीं शब्द-समूहों एवं वाक्य-समूहों का अभिधान मंत्र है।

'मंत्र' शब्द की व्युत्पत्ति

जिस प्रकार 'वेद' शब्द का एक-एक पारिभाषिक निजी अर्थ है, उसी प्रकार 'मंत्र' शब्द का भी अपना शास्त्र-व्युत्पन्न स्वतंत्र अर्थ है। वैयाकरणों ने 'मंत्र' शब्द का परम्परागत संगत्यर्थ तीन प्रकार से किया है: ज्ञानार्थक, विचारार्थक और सत्कारार्थक।

दिवादि-गण की ज्ञानार्थप्रतिपादक 'मन्' धातु में ष्ट्रन् प्रत्यय जोड़ देने से 'मंत्र' शब्द व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ निकलता है—मन्यते (ज्ञायते)

ईश्वरादेशः अनेन इति मंत्रः। अर्थात् मंत्र उसको कहते हैं, जिससे ईश्वरीय आदेशों की जानकारी प्राप्त हो। हिन्दू-धर्म के वेदों को ईश्वरीय आदेशों के रूप में शिरोधार्य माना गया है।

तनादि-गण की विचारार्थक 'मन्' धातु में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़ देने से भी 'मंत्र' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है—मन्यते (विचार्यंते) ईश्वरादेशो येन स मंत्रः। अर्थात् मंत्र वह है, जिसमें ईश्वरीय आदेशों का सम्यक् विचार, चिन्तन-मनन किया गया है। क्योंकि मन्त्रों में ईश्वर-संबंधी आदेशों का ही विधान वर्णित है, अतः 'मंत्र' शब्द की यह व्युत्पत्ति भी विषयसंमत है।

तनादि-गण की 'मन्' धातु का एक अर्थ सत्कार करना भी व्याकरण में वर्णित है। इस सत्कारार्थक 'मन्' धातु से भी 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़ देने से 'मन्त्र' शब्द के अभिप्रेत अर्थ में कोई व्यतिक्रम नहीं आने पाता है। उसका अर्थ होता है मन्यते (सत्क्रियते) देवताविशेषः अनेन इति मन्त्रः। अर्थात् मन्त्र वह है, जिसमें किसी देवताविशेष की सम्मानार्थक विधियाँ वर्णित हैं। क्योंकि वेदों में अलग-अलग देवताओं की स्तुति में पृथक्-पृथक् मन्त्र वर्णित हैं। अतः वेद-मन्त्र की यह व्युत्पत्ति भी उपयुक्त है।

'मन्त्र' शब्द की विभिन्नविध उक्त व्याख्याओं का एक ही निष्कर्ष यह निकलता है कि वेदमन्त्र उनको कहते हैं, जिनमें ईश्वरीय ज्ञान का प्रतिपादन हो।

वेदमंत्रों का त्रिधा वर्गीकरण

वेद-मन्त्र सहस्रों हैं और विषय की दृष्टि से भी उनमें असमानता है। बहुत पुराने समय में समग्र वेद मंत्रों को संख्या और विषय की दृष्टि से क्रमबद्ध किया गया और तदनन्तर उनको अलग-अलग वर्गों में विभाजित किया गया। पहले-पहल वेद-मंत्रों को तीन वर्गों में छाँटा गया। इन तीन वर्गों के अलग-अलग नामकरण हुए—ऋच्, यजुस् और साम। इन तीनों का सामूहिक नाम 'त्रयी' कहा गया।

'ऋच्' प्रार्थना या स्तुति का पर्यायवाची शब्द है। उसकी व्याकरण-संमत व्युत्पत्ति है—ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋच्। अर्थात् ऐसे मंत्र, जो वैदिक देवताओं की स्तुति या प्रार्थना से सम्बन्धित हैं उन्हें 'ऋच्' कहते हैं। वेद-मन्त्रों के इस 'ऋच्' नामक प्रथम वर्ग में ऐसे मंत्रों को विभाजित किया

गया, जो प्रार्थनापरक या स्तुतिपरक थे। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि वेद-मन्त्र गद्य और पद्य दोनों में हैं। इस प्रथम 'ऋच्' वर्ग में केवल पद्यबद्ध ऋचायें हैं। मन्त्र का दूसरा नाम ही ऋचा है।

छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् अथवा ऋचा कहते हैं; मन्त्र शब्द का अर्थ गुप्त-कथन है। वेद 'विद्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है ज्ञान। संहिता संग्रह को कहते हैं। इसलिए 'ऋग्वेद-संहिता' का शाब्दिक अर्थ हुआ उस देव-विषयक अतिगूढ़ ज्ञान का प्रतिपादन जो छन्दों में संगृहीत है।

'यजुष्' नाम के दूसरे वर्ग में ऐसे मन्त्रों को क्रमबद्ध किया गया, जिनका अपना अलग ही विषय था। इन मन्त्रों का विषय पूजा (to worship) था। 'यजुष्' की व्याकरणसंमत व्याख्या है—यजति यजते वा अनेन इति यज् + उसि : यजुष्। अर्थात् जिन मन्त्रों में पूजा-अर्चना का विधान वर्णित है उन्हें 'यजुष्' कहते हैं। जिस प्रकार प्रथम ऋच्-वर्ग में केवल पद्यात्मक मन्त्र ही संगृहीत हैं, उसी प्रकार दूसरे यजुष्-वर्ग में केवल गद्यात्मक मन्त्र ही संकलित हैं।

उक्त दो वर्गों में जिन मन्त्रों का अन्तर्भाव न हो सका उन अवशिष्ट मन्त्रों को 'सामन्' नामक तीसरे वर्ग में क्रम-बद्ध किया गया। 'सामन्' वर्ग के अन्तर्गत वे मन्त्र संगृहीत हैं, जिनको ऋषिजन यज्ञों के अवसर पर देवताओं की प्रसन्नता के लिए गाते थे। इनमें कुछ मन्त्र यज्ञ की निर्विघ्न-परिसमाप्ति से भी सम्बन्धित हैं। व्याकरण के अनुसार 'सामन्' शब्द की व्युत्पत्ति विघ्न-शांति और देव-तुष्टि, दोनों अर्थों में है : स्यति नाशयति विघ्नं इति सामन्; और समयति सन्तोषयति देवान् अनेन इति सामन्। अर्थात् सामन्-मन्त्र वे हैं, जो यज्ञों के समय प्रत्यूह-निवारण के लिए गाये जाते हैं या जिनमें देवों की प्रसन्नता के लिए कामना की गई होती है। ये सामन् मन्त्र स्वर-ताल-बद्ध होने के कारण गेयात्मक हैं।

इस प्रकार समस्त वैदिक मन्त्रों के तीन भागों में वर्गीकृत करने के अनन्तर वेदों के तीन नाम पड़े : ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद। इन तीनों वेदों की तीन मन्त्र-संहिताएँ कहलाईं : ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता और सामवेद-संहिता।

किन्तु आज वेदों की संख्या चार है। वेदत्रयी का चतुर्धा विभाग क्यों हुआ और उसके मूल में कोई ऐतिहासिक आधार विद्यमान है; अथच, तीन

मन्त्र-संहिताओं की अपेक्षा चौथी मन्त्र-संहिता नवीन है, इन सभी बातों का निराकरण हो जाना आवश्यक है।

वेदमंत्रों का चतुर्धा वर्गीकरण

वेदमन्त्र मूल रूप में अविभक्त थे। वे पद्य और गद्य में थे। उनमें प्रधानतया तीन प्रकार की पाठ्य-सामग्री विद्यमान थी। ऋचा (पद्य), यजुष् (गद्य) और साम (गीति), ऋग्यजुसाम इन तीनों के सामूहिक स्वरूप की वजह से ही उसको 'त्रयी' कहा गया। मनु ने इन तीनों वेदों के आविर्भाव के सम्बन्ध में कहा है कि 'परमात्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋक्, यजु और साम इन तीन लक्षण वाले सनातन वेदों को अग्नि वायु और सूर्य के लिए प्रकट किया'।[1] किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थ में कहा गया है कि अग्नि, वायु और सूर्य ने तपस्या करके स्वयं ही ऋक्, यजु और साम इन तीनों वेदों को उत्पन्न किया।[2]

कुछ मन्त्र ऐसे भी अवशिष्ट थे, जो उक्त 'त्रयी' में समन्वित नहीं हो सकते थे। वे मन्त्र मारण, मोहन, उच्चाटन-विषयक थे। ऐसे मन्त्रों का अभिधान 'अथर्व' हुआ और बाद में वेदों की संख्या तीन की जगह चार हो गई। किन्तु वेदों के इस चतुर्धा वर्गीकरण में अथर्व की सत्ता 'त्रयी' जितनी ही सनातन है। वेदमन्त्रों के चतुर्धा विभाग की सूचना एवं अथर्व की सत्ता का उल्लेख यजुर्वेद में ही मिलता है। यजुर्वेद में लिखा हुआ है कि उस परम पूज्य परमात्मा से ऋक्, यजु, साम और अथर्व उत्पन्न हुए।[3] अथर्ववेद के एक मन्त्र में चारों वेदों के अस्तित्व की कथा इस प्रकार वर्णित है : हे विद्वन्, तू उस जगदाधार परमपिता परमात्मा का वर्णन कर जिससे ऋषियों ने ऋक् और यजु को प्राप्त किया, जिसके लोमसदृश सर्वव्यापक साम और मुखसदृश ज्ञानोपदेशक अथर्व है। वह कौन सा तत्त्व है, हमें बता![4]

---

१. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृगयजुस्सामलक्षणम्॥ मनुस्मृति १।२३

२. तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेः ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। शतपथ ११। अ० ५

३. तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्माद-जायत। यजुर्वेद अ० ३१। मं० ७

४. यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। अथर्ववेद, का० १०, प्रपा० २३, अनु० ४, मं० २०

वेद अपने मूलरूप में एक था, तीन थे या चार थे, इस सम्बन्ध में पुरातन काल से ही विवाद रहा है। यास्कीय 'निरुक्त' के टीकाकार दुर्गाचार्य का कथन है कि वेद, मूलतः एक था। उस दुरध्येय वेद को सुगम बनाने के लिए शाखाओं में विभाजित किया गया। यह कार्य व्यास ने किया।[1] भास्कर भट्ट ने भी अपने भाष्य में ठीक इसी बात को दुहराया है। उसका कथन है कि मूलरूप में वेदमन्त्र मिली-जुली अवस्था में थे। भगवान व्यास ने लोकोपकारार्थ उनको विभाजित कर पुनः उनकी शाखाएँ भी नियत कीं।[2]

वेद-भाष्यकार इन प्रामाणिक विद्वानों की बातों से यह पता चलता है कि वेद न तो तीन थे, और न चार ही; बल्कि सभी वेदमन्त्र एक साथ मिले-जुले थे। इस दृष्टि से किसी भी वेद के पूर्वापर होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

भाष्यकार महीधर हमें एक नई बात सुझाता है। उसका कथन है कि ब्रह्मा से वेद की जो परम्परा चली आ रही थी, उसी को ग्रहण कर वेदव्यास ने उस वेद को मन्दमति मनुष्यों के लिए ऋग्, यजु, साम और अथर्व, इन चार भागों में विभक्त कर उनका उपदेश क्रमशः पैल, वैशंपायन, जैमिनि और सुमंत को दिया।[3]

वेद-विभाजन की यह समस्या यहीं सीमित नहीं हो जाती है। पूर्वोक्त भाष्यकारों ने इतना भर कह दिया है कि वेदमन्त्रों को चार भागों या तीन भागों में विभाजित कर दिया गया। किन्तु पुराणग्रन्थ तो इस सम्बन्ध में एक अलग ही सूचना देते हैं। 'विष्णुपुराण' में लिखा है कि वेद आरम्भ से ही चतुष्पाद थे, अर्थात् एक वेद की पहिले ही से चार संहिताएँ थीं। प्रत्येक द्वापर के अन्त में चतुष्पाद वेद पुनः चार भागों में विभक्त किया गया। इस प्रकार का वेद-विभाजन अब तक २८ बार हो चुका है। जिसने भी वेद-विभाजन का यह कार्य सम्पन्न किया, उसी का नाम व्यास पड़ा[4]। 'मत्स्यपुराण' में भी यही बात लिखी हुई मिलती है।[5]

---

१. निरुक्त १।२०

२. पूर्वं भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थमेकीभूयास्थिता वेदा व्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्नाः। तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य का आरम्भिक अंश।

३. तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश। यजुर्वेद-भाष्य।

४. विष्णुपुराण ३।३।१९,२०   ५. मत्स्यपुराण १४४।११

इन विवरणों को पढ़कर दो बातों का निष्कर्ष निकलता है। पहिला तो यह कि वेदमन्त्र अपनी मूल स्थिति में मिले-जुले थे, और कालान्तर में उनको चार या इससे अधिक भागों में विभाजित किया गया; दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि मूलावस्था में वेद मिले-जुले न होकर अलग-अलग चार की संख्या में थे, न कम न अधिक।

पुराणों के साक्ष्य को छोड़कर अधिक प्रमाण हमें वेदों के चतुर्धा होने के ही पक्ष में मिलते हैं। पुराणों का कथन भी असत्य नहीं कहा जा सकता है; किन्तु उसकी सङ्गति के लिए लम्बी समीक्षा की आवश्यकता है।

अथर्ववेद के दूसरे भी नाम हैं, जैसे अथर्वांगिरस, भृग्वांगिरस, ब्रह्मवेद और छन्दस्। उसके ये विभिन्न नाम उसके विषय की व्यापकता को सूचित करते हैं। ऋग्वेद के 'शतपथ-ब्राह्मण' में[1] तैत्तिरीय संहिता में[2] तैत्तिरीय आरण्यक में[3] और श्रौतसूत्रों[4] आदि में अथर्ववेद की स्थिति अन्य तीनों वेदों के समान मानी गई है।

'अष्टाध्यायी' में एक सूत्र आता है,[5] जिसका आशय है कि कम स्वर वाले शब्द पहिले और अधिक स्वर वाले शब्द बाद में रखे जाते हैं। इस दृष्टि से अथर्व में ऋग्-यजु-साम से अपेक्षया अधिक स्वर हैं, जिससे उसका स्थान बाद में रखा गया। यह बात न भी हो; किन्तु इस सम्बन्ध में जैमिनीय मीमांसा-सूत्रों की कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। उसमें कहा गया है कि वेद के विधिवाक्यों का नाम मन्त्र है।[6] मन्त्र को छोड़कर अवशिष्ट वेद भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं।[7] जिन मन्त्रों में अर्थ के वश चरण की व्यवस्था हो उन्हें ऋक्[8], गीतियों का नाम साम[9] और शेष मन्त्रों को यजु[10] कहा जाता है। ये तीनों तरह के मन्त्र चारों वेदों में मौजूद हैं। इस दृष्टि से चारों वेदों की एकरूपता का ही प्रधानतया उल्लेख मिलता है।[11]

अथर्ववेद के एक मन्त्र में उल्लिखित 'वेदाः' शब्द का भाष्य, सायणाचार्य ने 'वेदाः साङ्गाश्चत्वारः' किया है।[12] 'काठक ब्राह्मण' के ब्रह्मौदन प्रकरण के

---

१. शतपथब्राह्मण, अध्याय ११,१४॥ २. तैत्तिरीयसंहिता १०।७।३॥ ३. तैत्तिरीय आरण्यक, अध्याय २,८॥ ४. श्रौतसूत्र १०।१८॥ ५. अष्टाध्यायी २।२।३४॥ ६. मीमांसा सूत्र २।१३२॥ ७. वही २।१।३३॥ ८. वही २।१।३५॥ ९. वही २।१।३६॥ १०. वही २।१।३७॥ ११. ऐतरेय ब्राह्मण ५।३३; गोपथ ब्राह्मण १।९; २।१६; ३।२॥ १२. अथर्ववेद १९।९।७२ सायण भाष्य

आरम्भ में भी चारों वेदों का उल्लेख है। 'महाभारत' भी चारों वेदों के अस्तित्व की बात कहता है।[1]

इसलिए जिन विद्वानों का यह अभिमत है कि 'चार वेद गिनने की शैली नई है; वह सूत्रग्रन्थों के बाद की है। पुरानी गणना में ऋग्-यजु-साम यह त्रयी ही गिनी जाती और जब सम्पूर्ण वेद गिनना होता तब त्रयी के अतिरिक्त अथर्व और इतिहास, दोनों को एक ही दर्जे पर गिना जाता।'[2] अथवा जो विद्वान् यह मानते हैं कि 'अथर्ववेद बहुत बाद की, 'शतपथ ब्राह्मण' के बाद की रचना है। उसका नामकरण ईरानी भाषा के शब्द 'अथ्रवन' से हुआ और उसमें ईरानियों की तन्त्र-मन्त्र विद्या का प्रभाव है',[3] वे लोग बहुत ही भ्रम में हैं और उनकी ये बातें नितान्त कल्पित एवं आधारहीन हैं।

अथर्ववेद का फारसी अनुवाद

मुसलमानों के अभ्युदय काल में बागदाद में संस्कृत के जिन अनेक ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ, उनमें प्रधानता चिकित्सा, ज्योतिष और कथा-कहानी के ग्रन्थों की थी; किन्तु धर्मविषयक ग्रंथों में रामायण-महाभारत के अतिरिक्त अथर्ववेद के फारसी अनुवाद का भी पता चलता है। अबुलफजल की 'आइ-ने-अकबरी' पुस्तक से ज्ञात होता है कि अथर्ववेद का यह फारसी अनुवाद अकबर के शाही पुस्तकालय में सुरक्षित था। इस अनुवाद के विषय में ऐसा कहा जाता है कि दक्षिण से बहावन या भावन नामक एक विद्वान् ब्राह्मण सन् १५७५ ई० में अकबर के यहाँ गया था। उसने मुसलमान धर्म ग्रहण कर लिया था। मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी की सहायता से उस ब्राह्मण मुसलमान ने इस फारसी अनुवाद को पूरा करने का यत्न किया था; किन्तु उसके विफल हो जाने पर यह कार्य संस्कृत-फारसी के प्रकांड विद्वान् फैजी व हाजी इब्राहीम सरहिन्द ने पूरा किया था[4]।

उपनिषद् ग्रंथों में वेद को ब्रह्मा ने प्रकट किया ऐसा बताया गया है, या वैदिक ज्ञान का प्रथम ज्ञाता ब्रह्मा को कहा गया है।[5] ब्रह्मा से लेकर अपान्तरतमा

१. महाभारत, द्रोणपर्व ५१।२२ ॥ २. जयचंद्र विद्यालङ्कार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृ० २१२ का फुटनोट १ ॥ ३. गङ्गा (मासिक) वेदाङ्क, प्रवाह २, तरङ्ग १, पृ० २३०,२४३–२४५

४. प्रो० महेशप्रसाद मौलवी : 'अथर्ववेद का फारसी अनुवाद' गङ्गा का वेदांक, प्रवाह २, तरङ्ग १, पृ० ९४ ॥ ५. श्वेताश्वतर ६।१०८; मुण्डक १।१।१२

वशिष्ठ, पराशर, शक्ति आदि ऋषि-महर्षि-मुनियों ने समय-समय पर वेदों का विभाग किया, जिससे तत्कर्मानुसार उनको वेदव्यास भी कहा गया। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से लेकर कृष्णद्वैपायन वेदव्यास तक लगभग ३२ वेदव्यास हो चुके हैं। आज वैदिक संहितायें जिस रूप में उपलब्ध हैं उनका विभाग सबसे अन्तिम वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ने किया, जिसका स्थितिकाल कलि-द्वापर का संधिकाल था, आधुनिक इतिहासकारों ने जिसका संभावित समय पन्द्रहवीं शती ई० पूर्व के मध्य में रखा है।[1]

चारों वेदों की मन्त्र-संहिताओं का एक जैसा महत्त्व है एवं एक जैसी प्राचीनता। बारीक समीक्षा करने पर देखा जाय तो ऋग्वेद की ऋचाओं में भी भाषा-वैषम्य देखने को मिलता है। इस भाषा-वैषम्य का कदापि भी यह प्रयोजन नहीं है कि ऋग्वेद के कुछ मंत्रों को कुछ दूसरे ही लोगों ने बहुत पहिले रचा और कुछ मंत्रों को दूसरे ही लोगों ने उनके बहुत बाद में।

वैदिक ज्ञान की विरासत

दस मण्डलों में विभक्त ऋचा-समूहों का नाम दाशतयी (ऋग्वेद) पड़ा और बाद में वे आठ अष्टकों में विभक्त किए गए। इसी अष्टक-विभाग के माध्यम से शौनक महर्षि ने वैज्ञानिक ढंग से ऋग्वेद संहिता को पद-पाठों में छांटकर अलग किया और आगे चलकर शाकल-वाष्कल प्रभृति शिष्य-संप्रदायों ने अपने-अपने ढंग से ऋग्वेद की शाखाओं का शोध कर अपनी-अपनी शाखाओं का निर्माण किया, जो कि २१ या २७ थीं। इसी ढंग से दूसरे वेदों की संहिताओं की शाखाओं एवं संहिताओं का वर्गीकरण, व्यवस्थापन, संपादन एवं नामकरण हुआ।

वैदिक ज्ञान की जो बृहद् विरासत आज हमें उपलब्ध है वह वस्तुतः एक ऋषि, एक संप्रदाय, एक आश्रम अथवा एक मस्तिष्क या एक समय की देन न होकर अनेक ऋषिसमूहों, विभिन्न संप्रदायों (चारणों, शाखाओं), बहुत-से आश्रमों, कतिपय मस्तिष्कों और अनेक शताब्दियों की देन है। वह एक सामूहिक एवं सुदीर्घकाल में निर्मित विचारधारा है, जो समय, स्थान और व्यक्ति के अनुसार कभी तो शिथिल होती गई और कभी अपने चरमोत्कर्ष पर रही। अधिकांश ग्रन्थ एक व्यक्ति के नहीं हैं। वे संहिता या संकलन

---

१. डा० भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १ (१९४९)

हैं। उन पर पुनः-पुनः संपादन की, अनेक मस्तिष्कों की और सामूहिक तजुरबों की स्पष्ट छाप है।[1]

अनेक ऋषि-महर्षियों के हाथों एवं अनेक युगों से होकर आई हुई वैदिक ज्ञान की इस विरासत के संबंध में निरुक्तकार का कथन है कि ऐसे ऋषि हुए, जिन्होंने तपस्या के द्वारा वेदरूपी धर्म का साक्षात्कार किया। पुनः उन्हीं ऋषियों ने अपने बाद के ऋषियों को, जिन्हें उक्त धर्म का साक्षात्कार नहीं हुआ था अर्थात् जो वैदिक धर्म के स्वयमेव साक्षात्कर्ता नहीं थे, वेदमंत्रों का उपदेश किया।[2]

इस परंपरागत शिष्य-प्रशिष्य-संप्रदाय एवं आश्रम-परंपरा द्वारा उपजीवित होकर आने वाले वेदमंत्रों के संबंध में अलबेरुनी का कथन है कि पुरा काल में वेद-मंत्रों को पढ़ने का प्रचलन था। वेद गुरुमुख से सुनकर शिष्य-परंपरा द्वारा कंठस्थ होते हुए निर्वाहित होते आये हैं। इसी कारण ब्राह्मण कई बार वेद को भूल जाने से उसे खो चुके हैं।[3]

इस प्रकार अनेक ऋषि-वंशों एवं प्राचीन विद्या-निकेतनों में वेद के संपूर्ण मंत्रों को उनकी विषय-संगति के अनुसार छाँटकर अलग किया गया और उनकी चार संहिताओं का निर्माण कर तत्कालीन धर्म एवं ज्ञान के अधिष्ठाता ऋषिप्रमुखों ने उन पर अपने हस्ताक्षर की सही मुहर लगाई और वैदिक संहिताओं का वही सर्वसंमत चतुर्धा स्वरूप आज हमारे संमुख विद्यमान है।

वेद और वैदिक साहित्य

विषय-विचार की दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य दोनों की अलग-अलग श्रेणियाँ हैं। 'वेद' शब्द से जहाँ चार मंत्र-संहिताओं का ही ज्ञान होता है, 'वैदिक' शब्द से वहाँ वेद-विषयक बहुविध सामग्री का बोध होता है। यह बहुविध सामग्री ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् की है, जो मंत्र-संहिताओं से भिन्न है, किन्तु जिसका मंत्र-संहिताओं से अटूट संबंध है। यही वैदिक साहित्य के ग्रन्थ हैं। उपनिषद् ग्रन्थों के बाद परिगणित होने वाले षड्वेदांग भी, संबंध की दृष्टि से, वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा १, पृ० २९९

२. निरुक्तः साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मंत्रान् संप्रादुः। १।६।४

३. अल्बेरुनी का भारत, पृ० ८ अनु०

वैदिक युग

धर्म, संस्कृति, समाज, राजनीति, दर्शन, कर्म और अर्थसंबंधी विषयों के तुलनात्मक अध्ययन एवं उनके असमान पहलुओं को दृष्टि में रखकर भी वैदिक युग को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : १ पूर्व वैदिक युग और २ उत्तर वैदिक युग। इस दृष्टि से भी पूर्व वैदिक युग में केवल वेद की चार संहिताएँ और उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण ग्रन्थों से लेकर छह वेदांगों तक का साहित्य रखा जा सकता है।

'वेद' का शब्दार्थ है ज्ञान। यह ज्ञान मंत्रों में समाविष्ट है और इन्हीं मंत्रों के संकलन को संहिता कहा जाता है। वेद चार हैं, अतः उनकी संहिताएँ भी चार हैं।

प्रत्येक वेद के चार भाग हैं, : संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता, मंत्रों का वह भाग है, जिसमें वेदस्तुति वर्णित है एवं जिसको विभिन्न युगों में पढ़ा जा सकता है। ब्राह्मणग्रन्थों में मंत्रों के विधिभाग की व्याख्या है। आरण्यक-ग्रन्थों में वानप्रस्थी जीवन बिताने वाले वीतराग मनस्वियों के कर्म-विधान प्रतिपादित हैं। उपनिषद्-ग्रन्थों में मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या की गई है। इन्हीं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

शाखाएँ

वैदिक संहिताओं पर गंभीर चिंतन-मनन होने के पश्चात् कालांतर में, विभिन्न ऋषि-आश्रमों में अधिष्ठित विभिन्न ऋषि-संप्रदायों के द्वारा अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जो नवीन विचार उद्भावित हुए उन्हीं का नाम शाखा है। प्रत्येक संहिता की कई शाखाएँ निर्मित हुईं। ऋग्वेद की शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय ये पाँच शाखाएँ हुईं, जिनमें संप्रति शाकल शाखा ही उपलब्ध है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिन और काण्व क्रमशः उत्तर-भारत और महाराष्ट्र में प्रचलित हैं। कृष्ण यजुर्वेद की संप्रति चार शाखाएँ उपलब्ध हैं : तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ। इसी प्रकार सामवेद की भी कौथुम और राणायणीय दो शाखाएँ थीं और अथर्ववेद की पैप्पलाद तथा शौनक ये दो शाखाएँ उपलब्ध हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथ

वैदिक संहिताएँ और उनकी शाखाओं के बाद ब्राह्मणग्रन्थों का समय आता है। ब्राह्मण-ग्रन्थ प्रधानतः कर्मकांड-विषयक है; किन्तु उनमें प्राचीन ऋषि-

वंशों और राजवंशों की कथाएँ और जगत्संबंधी विचार भी वर्णित हैं। प्रत्येक वेद से संबंधित अलग-अलग ब्राह्मण हैं।

ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकी दो ब्राह्मण हैं। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण का नाम शतपथ है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस ब्राह्मण-ग्रन्थ का बड़ा मूल्य है। ऋग्वेद के बाद संभवतः इतने प्राचीन विवरण दूसरे ग्रन्थ में नहीं मिलते हैं। सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में पंचविंश ही प्रमुख हैं। अथर्ववेद के ब्राह्मण का नाम गोपथ है।

आरण्यक

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से ब्राह्मण और आरण्यक दोनों में अंतर नहीं है। आरण्यक वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रंथों के ही अंश हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण-ग्रंथों में गृहस्थाश्रम-संबद्ध यज्ञ-यागादि विधानों का वर्णन है उसी प्रकार आरण्यक-ग्रंथों में वनवासी वानप्रस्थ जीवन का कर्मकाण्ड विहित है। जन-संकुल अनेकांत से दूर एकांत जंगलों में अध्ययन-अध्यापन होने के कारण इन ग्रंथों का आरण्यक नामकरण हुआ। इन आरण्यक-ग्रंथों में दर्शनसंबंधी तत्त्वों का भी प्रतिपादन है, जिनका पूर्ण विकास हम आगे चलकर उपनिषद्-ग्रंथों में पाते हैं।

उपनिषद्

वैदिक-साहित्य के अंतिम भाग होने के कारण उपनिषद्-ग्रंथों का दूसरा नाम वेदांत भी है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। महामनस्वी भारतीय ऋषियों के सुदीर्घ काल तक जिस चिंतन-मनन के द्वारा आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और सृष्टिज्ञान की उपलब्धि हुई, उपनिषद् उन्हीं विचारों के संकलन हैं।

'मुण्डकोपनिषद्' में उपनिषद्-ग्रंथों की संख्या १०२ गिनाई गई है, जिनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर, ये ११ प्रमुख हैं। इनमें भी प्राचीनता की दृष्टि से छान्दोग्य और बृहदारण्यक का विशेष महत्त्व है।

सूत्र-ग्रंथ

कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ प्रतिपादित करने वाली

जिस नई शैली का जन्म हुआ उसी का नाम 'सूत्र' है। इस नवीन शैली का इसलिए आविर्भाव हुआ कि वैदिक यज्ञों की जटिल विधियों को हृदयंगम करने में कठिनाई न हो। ये सूत्र-ग्रंथ चार भागों में विभक्त हैं—श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र। श्रौतसूत्रों का विषय है वैदिक यज्ञों के विधि-विधान प्रतिपादित करना। गृह्यसूत्रों में गृहस्थ-जीवन-संबद्ध कर्म-कलापों का वर्णन, धर्मसूत्रों में सामाजिक व्यवस्थाओं के विधान और चौथे शुल्वसूत्रों में यज्ञ-वेदिकाओं के निर्माण की विधियाँ उल्लिखित हैं।

श्रौतसूत्र

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं : शांखायन और आश्वलायन। शुक्ल यजुर्वेद का एक : कात्यायन। कृष्ण यजु० के छह : आपस्तंब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मावन, वैखानस। सामवेद के तीन : लाटायन, द्राह्मायण और आर्षेय; और अथर्ववेद का एक वैतान सूत्र है।

गृह्यसूत्र

ऋग्वेद के शांखायन, आश्वलायन; शुक्ल यजुर्वेद का पारस्कर; कृष्ण-यजुर्वेद के आपस्तंब, हिरण्यकेशी, बौधायन, मानव, काठक, वैखानस; सामवेद के गोभिल, खाडिट; और अथर्ववेद का कौशिक, गृह्यसूत्र है।

धर्मसूत्र

यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबद्ध : आपस्तंब, हिरण्यकेशी और बौधायन। दूसरे धर्मसूत्रों में गौतम और वशिष्ठ प्रमुख हैं।

शुल्वसूत्र

ये श्रौतसूत्रों से संबंधित हैं। शुल्व कहते हैं मापने के डोरे को। यज्ञ-वेदिकाओं के लिए उपयुक्त स्थान का निर्धारण, उनके आकार-प्रकार की व्यवस्था और उनके निर्माण की योजना, ये बातें शुल्वसूत्रों में वर्णित हैं। शुल्वसूत्र भारतीय ज्यामिति के प्राचीन ग्रंथ हैं।

वेदांग

यद्यपि वैदिक साहित्य का सीमा-विस्तार ब्राह्मणग्रंथों से लेकर उपनिषद्-ग्रंथों पर्यन्त ही बताया जाता है; किन्तु विषय और संबंध की दृष्टि से षड्-

वेदांगों की गणना भी वैदिक साहित्य के अंतर्गत की जानी चाहिये। षड्वेदांगों के मूल सूत्रों को लेकर यद्यपि आगे स्वतंत्र शास्त्रों की रचना हुई और इस दृष्टि से यद्यपि लौकिक साहित्य के लिए ही वे अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं, तथापि मूलतः उनके निर्माण का उद्देश्य वैदिक साहित्य एवं वेदांगों का ही स्वरूप-प्रतिपादन करना रहा है। वे वेदों एवं वैदिक साहित्य के विधान-ग्रंथ होने के कारण उन्हीं के अंतर्गत आते हैं।

संहिताएँ

पहिले संकेत किया जा चुका है कि सम्मिश्रित वेदमंत्र अनेक ऋषि-संप्रदायों, कई विद्या-निकेतनों और विभिन्न युगों में संकलित, संपादित होकर संप्रति वर्तमान संहिताओं के रूप में वर्गीकृत हुए। व्याकरण-व्युत्पत्ति के अनुसार संहिता उसको कहते हैं, जिसमें पदों के अंत का दूसरे पदों के आदि से मिलान किया जाता है[1]। प्रातिशाख्यों के कथनानुसार पदों की मूल प्रकृति ही संहिता है[2]। मूल वैदिक मंत्र अपृथक् रूप से एक साथ सन्नद्ध थे, और जब उनको अलग-अलग छाँटा गया तो उनकी पृथक्-पृथक् संहिताएँ और तदनन्तर उनकी भी शाखाएँ निर्मित हुईं।

प्राचीन ऋषि-आश्रमों में अध्ययन और शिक्षण के जो अनेक संप्रदाय प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे, उन्हें ही चरण एवं शाख कहा जाता था। उन्हीं चारणों एवं शाखाओं द्वारा वेदों का अध्ययन, संपादन और शिक्षण, दीर्घकाल से होता आ रहा था। उन्हीं चारणों एवं आश्रमों में वैदिक ज्ञान के दूसरे विषयों (वेदांगों) का भी निर्माण हुआ[3]।

शाखा-विभाजन के इन तरीकों के संबंध में पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने 'ऐतरेयालोचन' में कहा है कि : ये वेदशाखाएँ, वृक्षशाखाओं या नदीशाखाओं की भाँति विभाजित न होकर, पठन-पाठन के विधि-विधानों के अनुसार पृथक् हुईं।[4]

---

१. परः सन्निकर्षः संहिता—अष्टाध्यायी १।४।१०९ (पदान्तात् पदादिभिः सन्दधातीति संहिता)

२. पदप्रकृतिसंहिता—ऋक्प्रातिशाख्य।

३. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा १, पृ० २९८–२९९।

४. तत्त्वतो न हि वेदशाखा वृक्षशाखेव, नापि नदीशाखेव, प्रत्युत अध्येतृभेदात् संप्रदायभेदजन्याध्ययनविशेषरूपैव।

इस प्रकार वेदमंत्रों की विभक्त संहिताएँ ही वैदिक संहिताएँ कहलाईं, जिनकी संख्या चार है और जिनकी शाखाएँ फिर अनेक नामों से प्रकाश में आईं।

ऋग्वेद-संहिता

वेद चार हैं। प्रत्येक वेद की अपनी अलग-अलग संहितायें हैं। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में वेदों की अनेक संहिताओं के विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, तद्विरुद्ध संप्रति कुछ ही संहिताएँ मिलती हैं। ऋग्वेद की २१ संहिताएँ बताई गई हैं;[1] किन्तु संप्रति उसकी एक ही संहिता उपलब्ध है, जिसका नाम है : 'शाकल-संहिता'। इस संहिता की पांच शाखायें हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

'शाकल-संहिता' और उसकी पंचविध शाखाओं के संबंध में भी जयचंद्र विद्यालंकार का मत है कि एक समय एक बृहद् यज्ञ के अवसर पर विदेह जनक की विशाल विद्वत्परिषद् में याज्ञवल्क्य के साथ कुरु-पांचाल ब्राह्मणों का शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में जब सब ब्राह्मण पराजित हो गए, तब विदग्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य के संमुख विभिन्न तर्क उपस्थित किए। इन विदग्ध शाकल्य के संबंध में भी विद्यालंकार जी का कथन है कि 'शाकल-नगरी पंजाब के उत्तरी भाग में मद्र देश की राजधानी थी, आधुनिक स्यालकोट उसे सूचित करता है। शाकल्य का असल नाम देवमित्र था, विदग्ध उसकी छेड़ थी, क्योंकि उसे अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था। उसने ऋग्वेद का संपादन भी किया और उसकी या उसके शिष्यों की संपादित शाखाएँ 'शाकल संहिताएँ' कहलाती थीं[2]।'

ऋग्वेद की उपलब्ध 'शाकल संहिता' के तीन विभाग हैं: मंडल, अनुवाक और वर्ग। इन तीनों विभागों को क्रमशः अष्टक, अध्याय और सूक्त भी कहते हैं। इन मंडल, अनुवाक आदि की गणना में विद्वान् अनेकमत हैं। समग्र संहिता में १० मंडल, ८५ अनुवाक और २००८ वर्ग हैं। तदनुसार ८ अष्टक, ६४ अध्याय और १०२८ सूक्त ठहरते हैं। इन दस मंडलों में क्रमशः १९१ ४३, ६२, ५८, ८७, ७५, १०४, ११४, १०३ और १९१ सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त का प्रधान विषय किसी दिव्य शक्ति की स्तुति करना है; किन्तु दूसरे

---

१. महाभाष्य (पस्पशाह्निक)

२. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा १, पृ० २९५

अर्थ में वे सृष्टिविषयक गूढ़तम रहस्यों को भी प्रकट करते हैं। ये सूक्त अनेक छंदों, ऋषियों और देवताओं से संबंधित हैं[1]।

महर्षि शौनक ने ऋग्वेद-संहिता में १०५८० मंत्र, १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर बताये हैं[2]। इतिहासकारों एवं वेदज्ञ विद्वानों ने ऋग्वेद के कुल मंत्रों की संख्या १०४६७ से लेकर १०५८९ तक विभिन्न संख्याओं में निर्धारित की है। अंतिम गणना स्वामी दयानंद सरस्वती की है। ये मंत्र १४ प्रकार के छंदों में विरचित हैं।

ऋग्वेद की प्रमुख पांच शाखाएँ थीं : 'एतेषां शाखाः पंचविधा भवन्ति; शाकलाः, वाष्कलाः, आश्वलायनाः, शांखायनाः, माण्डूकेयाश्चेति।' ये शाखाएँ एक प्रकार से विभिन्न ऋषि-आश्रमों में विभक्त, अनेक शिष्य-संप्रदायों के नाम से अभिहित हुईं। वेद के विभिन्न अंगों में से जिस शिष्य-संप्रदाय ने जिस अंग का अध्ययन किया, तदनुरूप उसकी शाखा का भी नामकरण हो गया। इसीलिए पुराणों में वेद-व्याख्यान को शाखा कहा गया है[3]।

इस संबंध में पाणिनि के सूत्र 'तेन प्रोक्तम्' की टीका करते हुए जिनेंद्र बुद्धि लिखते हैं कि : 'तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते'[4]; अर्थात् व्याख्या करने और अध्यापन करने को प्रवचन कहते हैं। शाखा प्रोक्त है। अतः व्याख्यान और अध्यापन के कारण ही उनका 'शाखा' नाम पड़ा।

ऋग्वेद की २७ शाखाएँ[5]

१ मुद्गल शाखा	७ अग्निमाठर शाखा
२ गालव शाखा	८ पराशर शाखा
३ शालीय शाखा	९ जातूकर्ण्य शाखा
४ वात्स्य शाखा	१० आश्वलायन शाखा
५ शैशिरि शाखा	११ शांखायन शाखा
६ बोध्य शाखा	१२ कौषीतकी शाखा

१. विस्तार के लिए देखिए : विश्वकोश, ऋग्वेद

२. शौनक : अनुक्रमणिका

३. वायुपुराण, ६१।५९

४. जिनेन्द्रबुद्धि : काशिका-विवरणपंजिका, सूत्र ४।३।१०१

५. पं० भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १३१, वैदिक अनुसंधान संस्था, माडल टाउन, लाहौर, १९३५

१३ महा कौषीतकी शाखा
१४ शाम्ब्य शाखा
१५ माण्डूकेय शाखा
१६ बह्वृच शाखा
१७ पैङ्ग्य शाखा
१८ उद्दालक शाखा
१९ शतबलाच्च शाखा
२० गज शाखा
२१, २२, २३ बाष्कलि भरद्वाज की शाखाएँ
२४ ऐतरेय शाखा
२५ वशिष्ठ शाखा
२६ सुलभ शाखा
२७ शौनक शाखा

यजुर्वेद-संहिता

दूसरा वेद यजुर्वेद है। 'यजुष्' शब्द का अर्थ पूजा एवं यज्ञ है। जिस प्रकार ऋग्वेद के मंत्रों का विषय देवताओं का आवाहन करना अर्थात् बुलाना है उसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्रों का विषय यज्ञ-विधियों को संपन्न करना है। यजुर्वेद कर्मकाण्डप्रधान है। यज्ञ अनेकविध हैं। देवताओं की प्रसन्नता के लिए यज्ञों का विधान है। देवता प्रसन्न होकर सुवृष्टि करते हैं, जिससे धन-धान्य में वृद्धि होती है और इस प्रकार जनता सुखपूर्वक जीवन बिताती है। यज्ञ से कलाओं की भी उत्पत्ति होती है। किस यज्ञ में किन-किन मंत्रों का व्यवहार किया जाना चाहिये, इसकी विधियाँ यजुर्वेद में वर्णित हैं। ऐसे मंत्रों के संग्रह का नाम ही 'यजुर्वेद-संहिता' है।

विभाग और शाखाएँ

यजुर्वेद के दो भाग हैं : कृष्ण और शुक्ल। छंदोबद्ध मंत्र और गद्यात्मक विनियोगों के संमिश्रण के कारण पहिले भाग का नाम कृष्ण और छंदोबद्ध मंत्रों तथा विनियोगों के अभाव में दूसरे भाग का नाम शुक्ल पड़ा। शुक्ल यजुर्वेद के संबंध में ऐसा भी कहा जाता है कि सूर्य के द्वारा याज्ञवल्क्य ऋषि को दिन में ज्ञान प्राप्त होने के कारण दूसरे भाग का नाम शुक्ल यजुर्वेद पड़ा।

यजुर्वेद के उक्त दोनों विभागों की लगभग सौ शाखाएँ थीं, जिनमें आजकल केवल पाँच शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। शाखाएँ, संहिताओं को कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखाएँ या संहिताएँ हैं : तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ। कठ शाखा के अन्तर्गत कपिलस्थ कठ का भी समावेश है। शुक्ल यजुर्वेद की दो संहिताएँ हैं : काण्व और वाजसनेय। काण्व, माध्यंदिन, जाबाल, बुधेय,

शाकेय, तापनीय, काणीस, पौंड्रवहा, आवर्तिक, परमावर्तिक, पाराशरीय, वैनेय, बौधेय, यौधेय और गालव। इन १५ शाखाओं को वाजसनेय नाम से अभिहित किया जाता है। 'चरणव्यूह' के उल्लेखानुसार जिसमें १९०० मंत्र हैं : 'द्वे सहस्रे शतं न्यूनं मंत्रा वाजसनेयके।' याज्ञवल्क्य के १५ शिष्यों द्वारा इन शाखाओं का आविर्भाव हुआ। वाजसेनी-पुत्र याज्ञवल्क्य द्वारा दृष्ट होने के कारण शुक्ल-यजुओं की इस संहिता का नाम 'वाजसनेय संहिता' पड़ा। वाजी (घोड़े) का रूप धारण कर जो उपदेश वर रूप में याज्ञवल्क्य को उपलब्ध हुआ, उसी का नाम 'वाजसनेय संहिता' पड़ा, एक ऐसी भी श्रुति है। संहिता के रूप में प्राप्त ज्ञान का उपदेश याज्ञवल्क्य ने जाबाल आदि पंद्रह शिष्यों को दिया। इन शिष्यों में माध्यन्दिन प्रमुख थे। 'वाजसनेय संहिता' की माध्यन्दिन शाखा ही संप्रति प्रचलित है। इस प्रकार यजुर्वेद की तैत्तिरीय और वाजसनेय, इन दोनों शाखाओं का निर्माण हुआ। 'वाजसनेय संहिता' में राष्ट्र की उन्नति और उसकी सुख-शांति के लिए बड़ी सुन्दर भावनाएँ अभिव्यक्त हैं : 'हे पितृदेवो, नमस्कार! तुम्हारी कृपा से वसन्त ऋतु राष्ट्र को सुखी करे। हे पितरो, नमस्कार! तुम्हारी कृपा से देश में ग्रीष्म ऋतु अनुकूल हो,' आदि।

कृष्ण यजुर्वेद की 'तैत्तिरीय संहिता' से संबंधित 'विष्णुपुराण' में एक कथा है कि वैशम्पायन ने एक बार क्रुद्ध होकर अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से कहा : 'मैंने तुम्हें जो वेद पढ़ाया है उसे वापिस करो।' शिष्य ने उस अधीत वेद-विद्या को वमन कर दिया। गुरु की आज्ञा से दूसरे शिष्यों ने तित्तिरि बनकर उस वमन की हुई विद्या को चुग लिया। इसीलिए इसका नाम 'तैत्तिरीय संहिता' पड़ा। कृष्ण-यजुर्वेद की संहिताएँ गद्य और पद्य दोनों में हैं। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता का उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक सर्वाधिक प्रचार है। 'तैत्तिरीय संहिता' पर सायणाचार्य का प्रामाणिक भाष्य है। बालकृष्ण दीक्षित और भास्कर मिश्र ने भी उस पर लघु भाष्य लिखे।

कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाओं का उल्लेख हुआ है,[1] किन्तु बाह्याभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर उनकी संख्या केवल ४१ तक ही उपलब्ध हुई है। कृष्ण यजुर्वेद की मंत्रसंख्या १८००० है। कृष्ण यजुर्वेद में सात काण्ड हैं और प्रत्येक काण्ड कई प्रपाठकों में विभक्त है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं में अकेले चरक संप्रदाय की बारह उपशाखाएँ थीं, जिनके नाम थे : चरक, आह्वरक,

---

१. शबरस्वामी : मीमांसा-भाष्य १।१।३०; वायुपुराण ६१।५–१०; ब्रह्माण्डपुराण ३४।८–१३.

कठ, प्राच्य-कठ, कापिष्ठ-कठ, आष्ठल-कठ, चारायणीय, वारायणीय, वार्तान्तरेय, श्वेताश्वतर, औपमन्यु और मैत्रायण। इनमें भी मैत्रायणी की सात शाखाएँ हुईं: मानव, दुन्दुभ, आत्रेय, वाराह, हारिद्रवेय, श्याम और शामानयीय। कृष्ण यजुर्वेद का एक खाण्डकीय संप्रदाय भी था।

ये विभिन्न संप्रदाय वस्तुतः शिष्य-परंपरा से संस्थापित हुए और अपने संस्थापक के नाम से ही वे लोकविश्रुत हुए।

महीधर-भाष्य में यजुर्वेद की शाखाओं के नामकरण के बारे में कहा गया है कि बुद्धि की मलिनता से यजुओं का रंग काला पड़ जाने के कारण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम कृष्ण पड़ा। उधर सूर्य की तपस्या के वरदानस्वरूप योगिराट् याज्ञवल्क्य ने शुक्ल-यजुओं को प्राप्त किया, जिससे यजुर्वेद की दूसरी शाखा का नामकरण शुक्ल हुआ।

मेक्डोनेल साहब ने अपनी पुस्तक 'Brahamans of the Vedas' में वेबर साहब के मत को उद्धृत कर उस पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाकर कुछ दिन पूर्व एक भ्रमपूर्ण धारणा इस संबंध में प्रचारित की थी। वेबर साहब का मत है कि तित्तिरिवाली कहानी की उत्पत्ति कृष्ण यजुर्वेद की बनावट से हुई, जो विविध टुकड़ों की एक खिचड़ी है, जिसमें न कोई क्रम है, न कोई नियम, अतः जो तित्तिरि पक्षी के आकार के सदृश है, जिसमें रंग-विरंग के अनेक धब्बों की एक क्रमशून्य मिलावट देख पड़ती है। इसके विपरीत शुक्ल, अर्थात् शुद्ध यजुर्वेद का यह नाम इस कारण पड़ा कि या तो उसके मंत्र और ब्राह्मण एक दूसरे से स्पष्टतया अलग कर दिए गए हैं, अलग नहीं तो, उनके मंत्रों को ब्राह्मणों से पृथक् कर समूचे विषय को साफ और सुबोध कर दिया गया है। इसके मुकाबले में कृष्ण यजुर्वेद के मंत्र और ब्राह्मण इस प्रकार एक में मिले हुए हैं, कि वे उतने सुबोध नहीं हैं[1]।

---

1. "Weber thinks the legend originated in the nature of the Black Yajus, which is a motley undigested jumble of different pieces, represented in the story by the Variegeted appearance of the patridge'......the white (Shukla or Suddha) is on the other hand so called either because the Mantras and Brahamans are so clearly distinguished from one another, or because the Mantras had been cleared and separated from the Brahamans, and thus the whole made more lucid and intelligible, as contra-

वेबर साहब की सूझ निःसंदेह मौलिक है, किन्तु उसमें वास्तविकता की जगह आनुमानिक अटकल अधिक है। इस दृष्टि से वैदिक साहित्य पर शोध करने वाले उत्तरवर्ती विद्वानों को वेबर साहब का उक्त अभिमत प्रभावित नहीं कर सका।

कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा की उत्पत्ति और उसके प्रवर्तकों एवं अनुयायियों के संबंध में एक खोजपूर्ण दृष्टिकोण जयसवाल जी ने रखा है। जयसवाल जी का अभिमत है कि मानवीय साहित्य में कठ लोग अपने उपनिषदों और वेदों के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। वे लोग कृष्ण यजुर्वेद के अनुयायी थे, और उनके द्वारा विहित वेदों का जो संस्करण था, वह हम लोगों में अबतक 'काठक संहिता' के नाम से चला आता है। पतंजलि के समय में कठ लोगों का पाठ परम शुद्ध और बिलकुल ठीक माना जाता था, जैसा कि पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य'[1] में कहा है: प्रत्येक नगर में उन्हीं द्वारा निर्धारित पाठ का प्रचलन था। उनका 'काठक धर्मसूत्र' नामक धर्मशास्त्र-ग्रंथ भी बहुत प्रसिद्ध था, और यह माना जाता है कि 'विष्णु-स्मृति' उसी के आधार पर बनी है। हिन्दू-साहित्य में जब तक उपनिषदों का महत्त्व रहेगा, तब तक इन लोगों का नाम भी बराबर बना रहेगा[2]।

सामवेद-संहिता

ऋग्वेद और यजुर्वेद के बाद सामवेद-संहिता की गणना आती है। वैसे तो यह बताना अत्यन्त कठिन है कि पहिले किस वेद की रचना हुई, क्योंकि ऋग्वेद के कुछ मंत्र ऐसे हैं, जिनमें सामवेद का उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से ऋग्वेद से पूर्व सामवेद की रचना माननी चाहिये, किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। इस विषय पर आगे चलकर विस्तार से विचार किया जायगा। फिलहाल चारों वेदों का समान अस्तित्व, समान महत्त्व मानना ही अभीष्ट होगा।

---

sted with Black (Krishna) in which the Verses and Brahamans or mixed together and consequently less intelligible."
—ब्राह्मन्स ऑफ दि वेदाज, पृ० ३१ (द्वितीय संस्करण १९०१)

१. महाभाष्य ४।३।१०१

२. जयसवाल : हिन्दू-राजतंत्र, भाग १, पृ० १३९-१४०

'साम' का अर्थ है सुंदर, सुखकर वचन। संगीत विद्या को सर्वाधिक सुखकर एवं आनंददायक विद्या माना गया है। 'साम' का अर्थ भी संगीत अर्थात् गान है। उद्गाता सामवेद की संगीतपरक वाणी द्वारा देवताओं को प्रसन्न करता है। उद्गाता, वेद-मंत्रों का उच्चारण करने वाले आचार्य को कहते हैं।

सामवेद की अनेक संहितायें थीं, जिनमें आज केवल तीन ही उपलब्ध हैं : कौथुम-संहिता, जैमिनीय संहिता और राणायणीय संहिता[1]। कौथुम का गुजराज में, जैमिनीय का कर्नाटक में और राणायणीय का महाराष्ट्र में विशेषरूप से प्रचार है।

वेदों में तीन प्रकार के मंत्र हैं : ऋचायें, यजुष् और सामगीति। ऋचायें भी दो प्रकार की हैं : गेय और अगेय। सामवेद में गेय ऋचायें और गेय यजुष्, दोनों हैं। सामवेद के ऋचा-समूह को 'आर्चिक' और यजुष्-समूह को 'स्तोक' कहते हैं। आर्चिक और स्तोक ही साम कहलाते हैं। इनके भी देश, काल, पाठ और गुरु क्रम से अनेक भेद हैं[2]। सामवेद की गुरु-परंपरा के संबंध में विद्वानों का कथन है कि महर्षि जैमिनि सामवेद के प्रथम द्रष्टा थे। उसके बाद उन्होंने सामवेद की शिक्षा अपने पुत्र या शिष्य सुमन्तु को, सुमंतु ने सुत्वा को और सुत्वा ने सुकर्मा को दी। सुकर्मा ने अपने शिष्य सूर्यवर्चासहस्र को ज्ञान दिया। किन्तु अनध्याय के दिन दीक्षा ग्रहण करने के अपराध में सूर्यवर्चासहस्र का वह ज्ञान देवराज इन्द्र ने नष्ट कर दिया। पुनः देवराज इन्द्र ने सुकर्मा के कोप-भय से दूसरे शिष्य धीमान् पौष्यंजी को वेदाध्ययन का वरदान देकर संतुष्ट किया। इसके बाद इस परम्परा में आगे हिरण्यनाभ, प्राच्यसामग, लौगाक्षि, कुथुमी, कुशीति और लांगली प्रभृति हुए।

आगे चल कर लौगाक्षि की शिष्य-परंपरा में ताण्ड्य-पुत्र राणायण, सुविद्वान् मूलचारी, साकेति-पुत्र और सहसात्य-पुत्र हुए। कौथुमी के तीन शिष्य कौथुम नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस शिष्य-परंपरा ने ही सामवेद-संहिता को अनेक शाखा-प्रशाखाओं में आगे बढ़ाया।

---

१. सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी ने 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' से 'राणायणीय संहिता' का प्रामाणिक संस्करण संपादन कर प्रकाशित किया है।

२. विस्तृत वर्णन के लिए देखिए : विश्वकोश, वेद, साम-साहित्य।

एक उपमन्यु नामक ऋषि भी साम-शाखाकार हुए, जिनका समय महाभारत-युद्ध के लगभग डेढ़-सौ वर्ष पूर्व था और जिन्होंने सामवेद की एक औपमन्यव शाखा का प्रवर्तन किया।[1]

सामवेद की राणायणीय संहिता अधिक विश्रुत है। विषय की दृष्टि से उसके दो भाग हैं: पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पहले भाग के अन्तर्गत ग्राम्य-गीत एवं आरण्य-गीत और दूसरे भाग में ऊह-गीत तथा ऊह्य-गीत संकलित हैं।

सामवेद की प्रायः अधिकांश ऋचायें गायत्री और जगती छंदों में हैं। इन दोनों छंदों की व्युत्पत्ति 'गा' अर्थात् गान से होती है। इसलिए स्पष्ट है कि सामवेद की अधिकांश ऋचाएँ गेय हैं, संगीतबद्ध हैं।

'छान्दोग्य उपनिषद्' में सामवेद से संबंधित एक कथा इस प्रकार वर्णित है: महर्षि अंगिरस ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को वेदांत का उपदेश देते समय पहले-पहल सामवेद के गायन की विधियों को समझाया था। उस विधि का नाम 'छालिक्य' पड़ा। श्रीकृष्ण जब इस विधि में पारंगत हो गए तब मुरली के स्वरों में उन्होंने सामगान गाए।

सामगान विशेषरूप से सोमरस[2] को बनाते समय या चंद्रलोकवासी देवों की स्तुति में गाने का नियम है। उस समय के वादन-यंत्र थे: दुन्दुभि, वेणु और वीणा। 'शतपथ-ब्राह्मण' में ऐसा कहा गया है कि बिना सामगान के यज्ञ-सिद्धि नहीं होती। सामवेद से गांधर्व वेद की उत्पत्ति हुई और गांधर्व-वेद में सोलह हजार राग-रागिनियों का निर्माण हुआ। संस्कृत-साहित्य में जितने भी ललितकला-विषयक संगीत-ग्रन्थों का बाद में निर्माण हुआ, सभी का मूल यही राग-रागिनियाँ थीं।

यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि समग्र सामवेद संहिता में कुल मिलाकर केवल ७५ मंत्र ही ऐसे हैं, जिनका किसी दूसरी संहिताओं में उल्लेख नहीं मिलता है और बाकी सभी मंत्र ऋग्वेद में उल्लिखित हैं।

साम-संहिता के प्रामाणिक भाष्यकार सायण, भरतस्वामी, महास्वामी, नारायणपुत्र (?) और माधव हुए।

---

१. पं० भगवद्दत्त: वैदिक वाङ्मय का इतिहास, १, पृ० २०४-२०५

२. सोम एक लता थी—भाँग की तरह हरी पत्तियों वाली। उसका रस निकालकर उसमें दूध, दही, मधु, जल, सुवर्ण, घृत आदि मिलाकर सोमरस तैयार किया जाता था। यह पहिले देवों को अर्पित किया जाता था और अवशिष्ट भाग को यज्ञ करने वाले, कराने वाले पी जाते थे। इस समय सोमलता नहीं मिलती है।

सामगान

सामवेद के गायन का वास्तविक तरीका क्या था, इसका उल्लेख न तो सामवेद में मिलता है और न किसी दूसरे ग्रन्थ में। इस संबंध में इतना भी नहीं कहा जा सकता कि संगीत के प्राणसर्वस्व जो सात स्वर आज प्रचलित हैं वे उन दिनों भी थे या नहीं।

महाभारत-कालीन श्रीकृष्ण सामवेद का अनन्योपासक था। 'छांदोग्योपनिषद्' में लिखा है कि घोर अंगिरस ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को वेदांतमत की दीक्षा देते समय सामवेद के गानतत्त्व का मर्म भी बतलाया था। कदाचित् इसी कारण श्रीकृष्ण ने एक नये ढंग के 'छालिक्य' नामक गान का आविष्कार किया था, जिसको यादवों ने खूब गाया था। सामवेद के समय में तीन प्रधान वाद्ययंत्र थे : दुन्दुभि, वेणु और वीणा। महाभारत (शांति० अध्या० १६) में इस बात का उल्लेख मिलता है कि भीष्म की शवदाह क्रिया के समय सामगान गाया गया था। 'छांदोग्योपनिषद्' में सामगान की क्रिया को पाँच अंगों में विभाजित किया गया है : हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधान। सामगान की लय के नाम हैं : क्रुष्ट, प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, मंद्र और अतिस्वार्य।[1]

अथर्ववेद-संहिता

अथर्ववेद चौथा वेद है। अथर्वा नामक ऋषि के नाम से अथर्ववेद का नामकरण माना गया है। 'अथर्वन्' शब्द बहुत प्राचीन है। यहाँ तक कि ऋग्वेद में भी उसका उल्लेख मिलता है। बाद में अग्निपूजक पुरोहितों को ब्राह्मण-युग में अथर्वन् कहा गया और धीरे-धीरे सूत्र-काल और पुराण-काल तक पुरोहित मात्र के लिए अथर्वन् कहा जाने लगा।

महर्षि अथर्वा से संबंधित 'गोपथ-ब्राह्मण' में एक कथा वर्णित है, जिसके अनुशीलन से विदित होता है कि पुराकाल में स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिए कठिन तप किया। इस घोर तप के प्रभाव से अन्त में उनके तपःपूत शरीर से तेजस्व रूप दो जल-धाराएँ उद्भूत हुईं, जिनमें एक धारा से अथर्वन् और दूसरी से अंगिरा की उत्पत्ति हुई। इन्हीं से अथर्वांगिरसों की उत्पत्ति हुई। इसी भृगु अथवा अथर्वन् और अंगिरा के वंशजों को जो मंत्र दृष्ट हुए,

---

१. विस्तार के लिए देखिए—स्ट्रैंगवे : म्युजिक ऑफ हिन्दुस्तान, पृ० २४६।

उन्हीं का नामकरण अथर्ववेद, भृग्वंगिरसवेद या अथर्वांगिरसवेद हुआ[1]।

विषय की दृष्टि से अथर्ववेद को इसीलिए अथर्वन् और अंगिरस, इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। जितने भी मंत्र, तंत्र, टोना-टोटका एवं औषधियों के प्रतिपादक मंत्र हैं, उन्हें, अथर्वन्-भाग के अन्तर्गत और मारण-उच्चाटन-विषयक मंत्रों को अंगिरस-भाग के अन्तर्गत माना जाता है।

मंत्र, औषधि और उच्चाटन-विषयक मंत्रों के अतिरिक्त अथर्ववेद की कुछ ऋचाएँ यज्ञ-संबंधी और कुछ ब्रह्मविद्या-विषयक भी हैं। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक मंत्र होने के कारण अथर्ववेद का एक नाम 'ब्रह्मवेद' भी है। इस नामकरण का एक आधार यह भी है कि अथर्ववेद में शाप, वशीकरण, मोहन, मारण, उच्चाटन, आशीर्वाद, स्तुति और प्रार्थनाविषयक जितने भी समग्र मंत्र हैं उन्हें 'ब्राह्मणि' भी कहा जाता है। इसीलिए उसका ब्रह्म-वेद अभिधान हुआ। एक तीसरा कारण यह भी बताया जाता है कि अथर्ववेद का नाम ब्रह्म-वेद इसलिए पड़ा, क्योंकि उसमें ब्रह्म-ज्ञान और पारलौकिक मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है।[2]

अथर्ववेद में बीस कांड हैं। इस आधार पर एक परंपरागत श्रुति इस संबंध में यह भी है कि महर्षि भृगु के एक शिष्य अथर्वा हुए और उनके बीस पुत्रों द्वारा परंपरागत ज्ञान अथर्ववेद के बीस कांडों में निर्मित हुआ।

अथर्ववेद की नौ शाखाएँ थीं: पैप्पलाद, शौणकीय, दामोद, तोत्तायन, जामल, ब्रह्मपालास, कुनरवा, देवदर्शी और चरणविद्या। इनमें से संप्रति शौनक और पिप्पलाद शाखाओं की दो संहिताएँ ही उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद संहिता २० कांडों में विभक्त है। ये बीस कांड ४८ प्रपाठकों में विभाजित हैं। इन प्रपाठकों में ७६० सूक्त और ६००० मंत्र संकलित हैं।

वेदों के व्याकरण तथा कोश

व्याकरण-संबंधी नियमों का प्रतिपादन करने वाले पहिले ग्रंथ प्रातिशाख्य हैं। वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाओं अथवा संप्रदायों में प्रचलित रूप एवं लक्षण आदि का नियमबद्ध वर्णन करने वाले ग्रंथों को प्रातिशाख्य कहा जाता है। संप्रति छह प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं। पहिला प्रातिशाख्य, जिसको 'पार्षदसूत्र'

---

१. गोपथ ब्राह्मण १।४; १।९; ३।४

२. इण्ट्रोडक्शन इन ग्रिफिथ्स ट्रान्सलेशन।

भी कहते हैं, महर्षि शौनककृत है। यह छंदोबद्ध रचना थी। दूसरे 'शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य' के रचनाकार कात्यायन मुनि हुए। यह आठ अध्यायों में विभक्त है। तीसरा सामवेद का प्रातिशाख्य महर्षि पुष्प द्वारा विरचित है। इसकी प्रसिद्धि 'पुष्पसूत्रों' के नाम से भी है। चौथी सूत्रनिबद्ध रचना 'अथर्व-प्रातिशाख्य' है, जिसका संपादन श्री विश्वबन्धु शास्त्री ने किया है। पाँचवाँ 'चतुरध्यायी' नामक ग्रन्थ, अथर्ववेद के प्रातिशाख्य के रूप में प्रचलित है, जिसका संपादन एवं प्रकाशन अमेरिका के संस्कृतज्ञ विद्वान् ह्विट्ने ने किया है। छठा कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य है, जिसमें २४ अध्याय हैं, किन्तु जिसके रचयिता का पता नहीं लगता। प्रातिशाख्य ग्रंथों का प्रमुख उद्देश्य अपनी-अपनी शाखाओं की विलक्षणता प्रकट करना और संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ एवं जटापाठ आदि की परिपाटी द्वारा वेदपाठ को सुरक्षित रखना था। यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी प्राचीन ग्रंथों में प्रक्षेप एवं परिवर्तन-परिवर्द्धन होता गया; किन्तु वेदमंत्रों में किसी भी प्रकार का हेर-फेर न होने पाया।

प्रातिशाख्य ग्रंथों में यद्यपि वर्ण-समाम्नाय, संधि, स्वरविचार, संहितापाठ और उच्चारण आदि के नियम वर्णित हैं, और यद्यपि इन विषयों पर प्राचीन समय में लिखे गये अनेक ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि संधि, शिक्षा, प्रत्याहार तथा सूत्रों की जैसी वैज्ञानिक रचना की आवश्यकता थी, वैसा कार्य प्रातिशाख्यकारों ने नहीं किया। वेद के गंभीर भावों के अध्ययन एवं आत्मबोध के लिए शब्द-व्युत्पत्ति, शब्द-रचना अथवा निर्वचन-शैली को प्रतिपादित करने वाले ग्रंथों का तब भी सर्वथा अभाव था।

प्रातिशाख्य-ग्रंथों की इस कमी को पूरा करने के लिए निरुक्त शास्त्र की रचना हुई। इस क्षेत्र में यद्यपि आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव और शाकपूणि आदि अनेक शाब्दिकों ने कार्य किया, तथापि उनके ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य शाकपूणि के निरुक्त को पं० भगवद्दत्त जी ने प्रकाशित कर दिया है। किन्तु यास्क का 'निरुक्त' ही हमारे सामने इस समय एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें भाषा-संबंधी मौलिक सिद्धान्तों का गंभीर विवेचन, ऋग्वेद के कई सौ मंत्रों का अर्थ-स्पष्टीकरण और देवताओं के स्वरूप का निरूपण किया गया है। यह ग्रंथ वेदार्थ के लिए अनुपम, किन्तु संपूर्ण वैदिक साहित्य की दृष्टि से अधूरा है।

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में भाषासंबंधी रूपों और प्रयोगों की विस्तृत व्याख्या है, किन्तु उसकी सीमा लौकिक भाषा तक ही है। वैदिक भाषा के लिए उन्होंने यद्यपि 'स्वरवैदिकी' का संकलन किया है, तथापि वह वेद का सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण नहीं कहा जा सकता। पाणिनि के बाद सारस्वत व्याकरण के संप्रदायों ने तो वैदिक शब्द-विधान पर विचार करने की कतई आवश्यकता ही नहीं समझी, अतः वेदाध्ययन की परिपाटी शिथिल पड़ती गई।

कोशग्रंथों की दिशा में यह बात और भी अभावात्मक है। प्राचीन निघंटुकारों ने अनेकार्थक शब्दों को समानार्थक शब्दों से पृथक् करके दिखाया तो अवश्य है, किन्तु वे शब्द उन अर्थों में क्यों प्रचलित थे, अथवा अमुक शब्द की अमुक अर्थ में प्रवृत्ति क्यों हुई, इन बातों का स्पष्टीकरण निघंटुकार भी न कर सके, और कहीं-कहीं किया भी तो बहुत ही अधूरे ढंग से।

भाषाज्ञान के लिए व्याकरण और शब्दबोध के लिए कोशग्रंथों की आवश्यकता होती है। कोशग्रंथों के क्षेत्र में प्राचीन निघंटुकारों का प्रयत्न सराहनीय कहा जायगा। वैदिक शब्दों का निर्वचन या व्याख्या करने वाले ग्रंथों में निघंटु के बाद निरुक्त और आंशिक रूप से ब्राह्मणग्रंथ तथा सूत्रग्रंथों में कोश उपयोगी सामग्री है।

मध्ययुग में अमरकोश, वैजयंती तथा मेदिनी आदि कोश रचे गये, किन्तु इनकी रचना का उद्देश्य दूसरे ही ढंग का था। उनके द्वारा पर्यायवाची नानार्थक एवं समानार्थक पदों का बोध तो होता है; किन्तु उनसे पदों के निर्वचन, व्युत्पत्ति आदि पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। वैदिक शब्दों का एक चौथाई भर ही उनमें समावेश हो पाया है। लौकिक संस्कृत की दृष्टि से लिखे गये 'वाचस्पत्य' और 'शब्दकल्पद्रुम' आदि कोशों में तो वैदिक शब्दों का और भी अभाव है।

वैदिक शब्दकोशों के निर्माण में पाश्चात्य विद्वानों के प्रयत्न सराहनीय हैं। राथ और बोटलिंग का 'सेंट पीटर्सवर्ग कोश' उसी का परिवर्द्धित संस्करण 'माइनर सेंट पीटर्सवर्ग कोश', स्मिथ, मोनियर विलियम्स, विल्सन, बेनफे, मैक्डानल, पिशल, गेलनर, हिलेब्रांत के कोशग्रंथ इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। ग्रासमन का 'ऋग्वेद कोश' और फोर्शगन तथा नीसेर का 'ऋग्वेद कोश' अनुकरणीय एवं आदर्श ग्रंथ हैं। आप्टे महोदय का कोश भी मौलिक सामग्री देता है। इन कोशग्रंथों में कहीं-कहीं पाश्चात्य दृष्टिकोण से भाषाविज्ञान का संतुलन बहुत ही अनर्थकारी साबित हुआ है।

भारतीय साहित्य का युग-विभाजन

भारत के संबंध में अध्ययन करने पर हमें विदित होता है कि राजनीतिक दृष्टि से भले ही उसकी स्थिति में एक दीर्घकालीन व्यवधान और असमानता रही हो, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से उसकी गति अविच्छिन्न रूप से उत्कर्ष की ओर उन्मुख रही है। भारत के राजनीतिक जीवन में अनेक बार ऐसे प्रसंग घटित हुए, जिनके कारण आगे बढ़ने की अपेक्षा उसको पीछे मुड़ना पड़ा; किन्तु उसके सांस्कृतिक जीवन के आधारभूत तत्त्वः धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान और साहित्य के अभ्युत्थान में एक स्थायी अवरोध अब तक किसी भी युग में नहीं आने पाया। युग की अभिरुचियों और आवश्यकताओं के साथ समझौता करके उसने अपने आपको अनुकूल दिशा में प्रेरित किया। भारत की पराजित राजनीति के युग में भी उसका सांस्कृतिक धरातल अविजित रूप में निर्माण की ओर अग्रसर होता रहा।

भारत का साहित्यिक निर्माण और कलाभ्युदय का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक युगों में विभाजित किया जा सकता है। इस युग-विभाजन के मूल में यद्यपि राजनीतिक कारण विद्यमान हैं, फिर भी, उसका साहित्य, राजनीति के पराभव से सर्वथा मुक्त है। भारत के इस साहित्यिक अभ्युत्थान को हम छः क्रमिक युगों में विभाजित कर उसकी मूल प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन कर सकते हैं। ये छः युग हैं, क्रमशः (१) वैदिक युग (२) प्राङ्मौर्य युग (३) नन्दमौर्य युग (४) सातवाहन युग (५) गुप्त युग और (६) मध्य युग।

भारतीय साहित्य का यह युगभेद, उसके राजनीतिक और ऐतिहासिक अध्ययन के लिए उतना ही उपयोगी है, जितना कि साहित्यिक दृष्टि से।

वेदों में यद्यपि भारत का सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक जीवन अन्तर्भूत है, तथापि वे प्रधानतः धार्मिक ग्रंथ हैं। धार्मिक ऐसे कट्टर कि उनमें जो कुछ भी प्रतिपादित है, वह सब कुछ धर्म ही धर्म है, अन्यथा शास्त्रसंमत और स्मृतिसंमत होने पर भी, वेद-असंमत सभी अधर्म है। आर्य जाति का सर्वस्व होते हुए भी वेद संपूर्ण मानव जाति के आदि ग्रंथ हैं। इस धरती पर मनुष्य की ज्ञानोद्भाविनी दिव्य मेधा के वेदों जितने पुरातन दूसरे ग्रंथ आज तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। यही कारण है कि प्राचीनता की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करते समय संसार की सभी सांप्रतिक उन्नत

भाषाओं के साहित्य में वेदों का नाम बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

वेद : हिन्दूजाति के विश्वकोश

वेद हिन्दू-जाति के प्राणसर्वस्व हैं। हिन्दू-धर्म का अस्तित्व सहस्रों वर्षों से वेदों के अस्तित्व पर टिका हुआ है। वेदों में हिन्दू-जाति के जीवित विश्वास और आत्मोन्नति के तत्त्व संकलित हैं। अतीत की जिस स्वर्णिम वेला में इस सस्य-श्यामला धरती पर मानव ने पहले-पहल जब चरणस्पर्श किया, उसी उषः-काल से वेदों का अस्तित्व है। इस दृष्टि से, वेद हिन्दू-जाति की ही नहीं, वरन्, मानव जाति की भी पहिली पुस्तक है। वेदों का प्रधान विषय यद्यपि ज्ञान, कर्म और उपासना का विवेचन करना है; किन्तु हिन्दू-जाति का विश्वकोश होने के नाते उनमें हिन्दू-जाति के धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक उन्नति का विस्तृत विवेचन और साथ ही मानवजाति के विकास की क्रमबद्ध कथा भी वर्णित है।[1] वेदों की महानता को न केवल भारत, अपितु सारा विश्व स्वीकार करता है। वेदों पर हिन्दू-जाति की उतनी ही श्रद्धा और उतना ही विश्वास है, जितना कि ईश्वर पर।

वेद भारतीय धरती की वह महान् ज्ञान-संपत्ति है, जिसमें सहस्रों वर्षों से किसी भी प्रकार का विकार, व्यवधान और व्याघात नहीं हुआ। वेद हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों के वे सघन कुंज हैं, जिनकी छाया में रहकर उसकी कीर्ति-कथा जगद्व्यापिनी हुई; वेदों में हिन्दू-जाति के वे सांस्कृतिक अनुभव संकलित हैं, जिनके तपःपूत तेज का स्पर्श पाकर हिंसक प्रवृत्तियाँ सदा ही भस्म होती गईं; वेदों में हिन्दू-जाति के वे साहित्यिक अनुसंधान संगृहीत हैं, जिनके इशारे से उसने इतने बृहद् वाङ्मय को जन्म दिया; वेदों में हिन्दू-जाति के वे वैज्ञानिक शोध समाविष्ट हैं, जिनके साक्षात्कार के लिए एवं जिनके गूढ़ रहस्यों को खोज निकालने के लिए उसने पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश जैसी तात्त्विक शक्तियों की उपासना की परंपरा को स्थापित किया; वेदों में हिन्दू-जाति की वे अति प्राचीन ऐतिहासिक परंपराएँ विद्यमान हैं, जिनकी गोद में समग्र मानव जाति के अभ्युदय की कथा पल रही है और वेद हिन्दू जाति के वे ज्ञानकेंद्र हैं जिनके आलोक से आज पृथ्वी का कोना-कोना प्रकाशमान है।

---

१. उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ २७-२६

वेदकाल की मर्यादा

कुछ इतिहासकारों की दृष्टि में, वेद स्वयंभूत और अपौरुषेय होने पर भी अनादि नहीं हैं। उनके निर्माण का भी एक निश्चित समय है। वेदों की रचना कब हुई और मन्त्र-संहिताओं का ऐतिहासिक क्रम क्या है, इस संबंध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। मंत्र-संहिताओं की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला कि उनमें समानता नहीं है। ऋग्वेद की मंत्र-संहिता और अथर्ववेद के कुछ मंत्रों में एक जैसी भाषा का सर्वथा अभाव है। इतना ही नहीं, चारों मंत्र-संहिताओं में भाव और शैली की दृष्टि से भी एकता नहीं है।

होना तो यह चाहिये था कि अनादि, स्वयंभूत और अपौरुषेय होने के कारण मंत्र-संहिताओं की भाषा, शैली और भाव में भी एकरूपता रहती; किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इस अनेकरूपता के कारण निश्चय ही मंत्र-संहिताओं का निर्माण एक समय में नहीं हुआ और इस आधार पर उनके निर्माता भी अलग-अलग थे। देशी-विदेशी विद्वानों ने वेद-निर्माण की जो सीमायें निर्धारित की हैं उन सीमाओं की अतिशय दूरी को देखकर भी विस्मय होता है। विद्वानों ने आज से बारह सौ वर्ष पूर्व से लेकर बत्तीस हजार वर्ष पूर्व तक विभिन्न तिथियों में वेदों का निर्माण काल बताया है।

वेदों के निर्माणकाल के संबंध में विद्वानों का मतभेद आज भी पूर्ववत् है। भारतीय विश्वासों के अनुसार वेद अनादि और ईश्वरकृत होने के कारण उनको समय की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। कुछ भारतीय विद्वानों ने इस संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे वेदों की तिथि लाखों वर्ष पूर्व बैठती है, लगभग जो अनादि सिद्धान्त के ही समान है।

इधर पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों को ऋषि-निर्मित पौरुषेय मानकर उनकी समय-सीमा का जो निर्धारण किया है, उसको भी अन्तिम नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उनकी मान्यताएँ और विचार-पद्धति दोषपूर्ण होने पर भी सर्वथा निर्मूल एवं उपेक्षणीय नहीं हैं।

मैक्समूलर पहिला विदेशी था, जिसने वेदों पर विशेषतः ऋग्वेद पर और उसके निर्माणकाल को खोज निकालने के लिए जीवनपर्यंत श्रम किया। उसके मत का निष्कर्ष है कि ई० पूर्व ४७७ में बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ। उससे पूर्व लगभग १०० वर्षों में बुद्ध धर्म का उदय हुआ। ई० पूर्व ६०० के पहिले,

अर्थात् बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व वैदिक ग्रन्थों की रचना पूर्ण हो चुकी थी। इस दृष्टि से मैक्समूलर ने संपूर्ण वैदिक साहित्य को छंदकाल, मंत्रकाल, ब्राह्मण-काल और सूत्रकाल, इन चार युगों में विभाजित किया है। उसने प्रत्येक युग के विकास के लिए दो-दो सौ वर्ष का समय दिया है। वैदिक साहित्य के सबसे अन्तिम भाग सूत्र-ग्रन्थों का निर्माणकाल मैक्समूलर ने ६००–२०० ई० पूर्व के बीच निर्धारित किया है। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रंथों की कालसीमा ८००–६०० ई० पूर्व, मंत्रभाग की आयु १०००–८०० ई० पूर्व और छन्द, अर्थात् ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाएँ उसके मत से १२००–१००० ई० पूर्व के बीच रची गईं।[1]

अपने उक्त दृष्टिकोण को मैक्समूलर ने अनुमान पर आधारित बताया है। उसका कथन है कि वेदों के निर्माण की ठीक तिथि का पता लगाना कठिन ही नहीं, अति दुष्कर भी है। वेदों के संबंध में निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि वे विश्व-साहित्य के आदिग्रंथ हैं और संसार में ज्ञान का अभ्युदय, वेदग्रन्थों के अभ्युदय के साथ हुआ।[2]

मैक्समूलर का यह अभिमत इतिहास एवं भाषाशास्त्र पर आधारित है और यद्यपि कोलब्रुक, विलसन, कीथ और मेक्डानल प्रभृति यूरोपीय विद्वानों ने पहिले-पहिल इस मत को वैज्ञानिक कहकर स्वीकार किया है; किन्तु यह निर्णय उपयुक्त प्रमाणों पर आधारित नहीं है। उसका काल-विभाजन का आधार नितान्त ही त्रुटिपूर्ण है और प्रत्येक काल के विकास के लिए जो दो-दो सौ वर्ष का समय दिया गया है, वह तो सर्वथा कल्पित है।

मैक्समूलर के इस अभिमत की बड़ी आलोचनाएँ हुईं। जब से तुर्की में १४०० ई० पूर्व के उपलब्ध कुछ प्राचीन आलेखों में उल्लिखित वैदिक संस्कृति और विशेषतः वैदिक देवताओं के नामों का पता लगा है, तब से पौर्वात्य और पाश्चात्य, सभी विद्वानों ने मैक्समूलर का मत नहीं माना।

विद्वान् न्यायाधीश स्व० श्री के० टी० तेलंग महोदय ने मैक्समूलर और प्रो० ब्लूमफील्ड प्रभृति यूरोपीय विद्वानों के मतों का खंडन किया है। उन्होंने यूरोपीय विद्वानों की इस प्रवृत्ति को, जिसके अनुसार भारतीय साहित्य की रचना एकदम आधुनिक है, नितांत ही पक्षपातपूर्ण और अवैज्ञानिक बताया है। तेलंग महोदय का कथन था कि उक्त विद्वानों ने निर्बल एवं संभावित

---

१. मैक्समूलर : ऋग्वेद संहिता, वाल्यूम १, पृ. ११, १८६१

२. फिजिकल रिलिजन पृ. ९१–९६, १८९१

घटनाओं के ऊपर केवल कल्पनाएँ ही नहीं गठी हैं, वरन्, उन कल्पनाओं के ऊपर विचारों की एक विशाल इमारत भी खड़ी की है।[1]

सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद दूसरे जर्मन विद्वान् विंटरनित्स ने वैदिक साहित्य के निर्माण की सीमा २५००–२०० ई० पूर्व के बीच निर्धारित की है; किन्तु उन्होंने अपने इस अभिमत के प्रति संदेह प्रकट करते हुए कहा कि वेदों का निर्माणकाल २००–२५०० ई० पूर्व में मानने पर एक बड़ी आपत्ति सामने यह उपस्थित होती है कि उनकी भाषा उन पुराने फारसी शिलालेखों से मिलती-जुलती है, जो शिलालेख लगभग छठी शताब्दी ई० पूर्व के हैं।[2]

तीसरे इतिहासज्ञ और ज्योतिर्विद् जर्मन विद्वान् याकोबी ने अपने नये अनुसंधानों के आधार पर वेदों की निर्माण-तिथि के संबन्ध में अपना नया दृष्टिकोण प्रकट किया है। उन्होंने कल्पसूत्र के विवाह प्रकरण में उल्लिखित 'ध्रुव इव स्थिराभव' वाक्य के 'ध्रुव' शब्द का ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर गणना करके पता लगाया कि ध्रुवतारे की जिस तेजस्वी स्थिति की उपमा उक्त वाक्य में दी गई है, वह स्थिति लगभग २७०० ई० पूर्व की है; और इस आधार पर याकोबी ने कल्पसूत्रों का आरंभ आज से लगभग ४७०० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। कल्पसूत्रों के सम्यक् शोध और ग्रह-मंडल के अध्ययन द्वारा याकोबी ने वेदों का निर्माण आज से ६५०० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है।

भारतीय विद्वानों में लोकमान्य तिलक प्रथम विद्वान् हैं, जिन्होंने वैदिक साहित्य पर वर्षों खोज करके भारतीय दृष्टि से उनका गंभीरता से विश्लेषण किया। वेदों की निर्माण-तिथि को खोज निकालने के लिए लोकमान्य तिलक का आधार याकोबी के आधार की भाँति ज्योतिर्विज्ञान ही है। लोकमान्य ने

---

१. तेलंग : भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद, पृ. ३१, १८७५

२. The only serious objection against dating the earliest Vedic hymns so far have as 2000 or 2500 B. C. is the close relationship between the language of the old Persian cuneiform inscriptions and the Awesta, The date of the Awesta is itself not quite certain. But the inscriptions of the Persian kings are dated and are not older than the 6th Century B. C. Now the two languages old Persian and old High Indian, are so closely related, that it is not difficult to translate the old Persian inscriptions right in to the language of the Veda.

—सम प्रॉब्लम्स ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ. १७ (१९२५)

नक्षत्र-गति के अध्ययन से स्थिर किया कि ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण आज से लगभग ४५०० वर्ष पूर्व संपन्न हो चुका था। उन्होंने प्रामाणिक आधारों पर सिद्ध किया कि जिस समय कृत्तिका नक्षत्र सब नक्षत्रों में प्रमुख था और जिस समय कृत्तिका नक्षत्र के आधार पर दूसरे नक्षत्रों की गति-विधि एवं दिन-रात की गणना का पता लगाया जाता था, ख-गोलविद्या तथा ज्योतिष के आधार पर वह स्थिति आज से लगभग ४५०० वर्ष प्राचीन बैठती है।[1]

लो० तिलक के मतानुसार कृत्तिका नक्षत्र के आधार पर जिस प्रकार ब्राह्मण-ग्रंथों का निर्माणयुग निश्चित है, उसी प्रकार मंत्र-संहिताओं के रचना-काल को उन्होंने मृगशिरा नक्षत्र के आधार पर खोज निकाला है। तिलक के अनुसार मंत्र-संहिताओं के युग में मृगशिरा नक्षत्र से रात-दिन का समानान्तर स्थिर किया जाता था। ख-गोल और ज्योतिष की गणना के हिसाब से मृगशिरा नक्षत्र की उक्त स्थिति का योग आज से लग-भग ६५०० वर्ष पूर्व बैठता है। तिलक के मतानुसार आज से ६५०० वर्ष पूर्व का समय ही मंत्र-संहिताओं का निर्माणकाल था। मंत्र-संहिताओं के निर्माण से पूर्व यदि २००० वर्ष की अवधि को संपूर्ण वेदमंत्रों की रचना के लिए रखा जाय तब भी लो० तिलक के मतानुसार कुछ वैदिक मंत्रों का निर्माण आज से ८५०० वर्ष पूर्व अवश्य हो चुका था। संक्षेप में जिन प्राचीन ऋचाओं, कवियों या देवताओं का नाम ऋग्वेद में उल्लिखित है, उन्हें अतीतकालीन समझना चाहिए। अर्थात् वे पुरातन काल से परंपरापूर्वक अब तक हस्तांतरित होते आये हैं। उन्हें पूर्व-हिमयुग का ही समझना चाहिए।[2]

वैदिक काल की पूर्व मर्यादा के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक ने जो सीमा बाँधी थी, पश्चिमीय विद्वानों ने भी पीछे चलकर उसी पर विश्वास किया और लोकमान्य के मत को सर्वोपरि मान्यता प्रदान की।[3]

गणित द्वारा निश्चित वैदिक काल की मर्यादा के संबंध में एक सुविचारित मत स्व० श्री बालकृष्ण दीक्षित का है। दीक्षित जी इस शती के महान् पण्डित थे और उनकी तर्कनाओं एवं उनके निष्कर्षों को लोकमान्य ने बड़े संमान के साथ याद किया है। दीक्षित जी के मतानुसार वेदकाल की मर्यादा के संबंध में इतना ही कहा जाता है कि वह शक पूर्व ६००० वर्ष से नवीन नहीं है। शक-

---

१. ओरायण

२. तिलक : आर्कटिक होम इन दि वेदाज, पृ. ४६१, १९०३

३. बूलर : इण्डियन एण्टीक्वेरी, पृ० २३८-२४९, वाल्यूम २३, सितम्बर १८९४

पूर्व ६००० वर्ष वेदमन्त्र किस समय प्रकट हुए, यह कोई नहीं बता सकता। इस प्रकार वह काल अनादि है। वैदिक काल की उत्तर अवधि शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है। इसके बाद वेदांग काल का आरम्भ होता है। कुछ उपनिषद् वेदांगकाल में भी बने होंगे; पर वैदिक काल की उत्तर सीमा उपर्युक्त ही है। ऋक् संहिता के कुछ भाग का रचनाकाल शकपूर्व ४००० वर्ष है। तैत्तिरीय संहिता के कुछ भाग का रचनाकाल शकपूर्व ३००० वर्ष है। ब्राह्मण शकपूर्व ३००० से १५०० पर्यंत बने हैं। उनके जिन भागों में चैत्रादि संज्ञाएँ हैं, वे शकपूर्व २००० के बाद की और शेष उससे पहिले की हैं। उपनिषदों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहते नहीं बनता, परन्तु बहुत-से उपनिषद् ग्रंथ शकपूर्व २००० और १५०० के मध्य के हैं। संहिताओं और ब्राह्मणों के सब मंत्र एकत्र होकर आज जिस रूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनकी वैसी पूर्ण रचना उपर्युक्त काल में नहीं हुई होगी, तथापि उनका यह स्वरूप शकपूर्व १५०० से प्राचीन है।[1]

सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने पश्चिमीय विद्वान् विन्सेंट स्मिथ के 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया' और रैप्सन महोदय के 'एंश्येंट इंडिया' नामक दो इतिहास-ग्रंथों का परिशीलन कर प्राचीन भारत का युग-विभाजन दो प्रकार से किया है: राजनीतिक दृष्टि से और साहित्यक दृष्टि से।

राजनीतिक दृष्टि से उन्होंने भारत का काल-विभाजन कृतयुग, त्रेता और द्वापर के हिसाब से किया है। उन्होंने इक्ष्वाकु से पाण्डवों के समय तक ९४ पीढियों की गणना की है और पार्जिटर साहब की ९५ पीढियों की गणना का भी समर्थन किया है। अनुश्रुति को प्रामाणिक मानकर उन्होंने १ से ४० पीढी तक कृतयुग की सीमा, ४१ से ६५ पीढी तक त्रेता-युग की सीमा और ६६ से ९५ पीढी तक द्वापर-युग की सीमा रखी है, तथा राजा सगर के साथ कृतयुग की समाप्ति, राजा रामचन्द्र के साथ त्रेता युग का अंत और महाभारत युद्ध के बाद कृष्ण के देहावसान के साथ द्वापर युग की समाप्ति मानी है। उन्होंने प्रत्येक पीढ़ी की आयु-सीमा सोलह सौ वर्ष अनुमानित की है और इस कृत-युग की पूरी आयु साढ़े-छः-सौ वर्ष, त्रेता युग की चार-सौ वर्ष और द्वापर युग की पौने-पाँच-सौ वर्ष के हिसाब से तीनों युगों की आनुमानिक संमिलित अवधि १५२० वर्ष निश्चित की है। १४२० ई० पूर्व महाभारत युद्ध का निर्धारण करते हुए भारतीय

---

१. भारतीय ज्योतिष, अनुवादकः शिवनाथ झारखण्डी, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९५७

इतिहास का अभ्युदय २९४४ या २९५० ई० पूर्व में बैठाया है। उनका कथन है कि 'मेरे अन्दाज से २९५० से २३०० ई० पूर्व तक कृतयुग, २३०० से १९०० ई० पूर्व तक त्रेता और १९०० से १४२५ ई० पूर्व तक द्वापर रहा।'

साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने भारतीय इतिहास को प्राग्वैदिक युग, ऋचा-युग और संहिता-युग में विभाजित किया है। इस साहित्यिक विकास की तिथियों को उक्त राजनीतिक युग के हिसाब से स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'इस प्रकार जिन ९५ पीढ़ियों का वृत्तान्त हमने ऊपर कहा है, उनमें से पहिली उनतीस पीढ़ियों का समय (अन्दाजन २९५०–२४७५ ई०पूर्व) प्राग्वैदिक युग; ३० वीं से ७३ वीं पीढ़ी तक का समय (अन्दाजन २४७५–१७७५ ई० पूर्व) प्रथम वैदिक या ऋचायुग, और ७४वीं से ९५वीं पीढी तक का समय (अन्दाजन १७७५–१४५५ ई० पूर्व) अपर वैदिक या संहिता युग है। प्राग्वैदिक युग पौने पाँच सौ वर्ष रहा है, ऋचा-युग सात सौ और संहिता-युग साढ़े तीन-सौ बरस। पूरा वैदिक युग दस सौ वर्ष जारी रहा।'[1]

ऋग्वेद का निर्माण

चारों वेदों में ऋग्वेद को शीर्षस्थान प्राप्त है। प्राचीनता की दृष्टि से उसे विश्व-साहित्य का पहिला ग्रंथ कहा जा सकता है। मैक्समूलर ने उसके संबन्ध में कहा है कि 'संसार भर में खोजने पर भी इतना प्राचीनतम ग्रन्थ आजतक उपलब्ध नहीं हुआ है[2]।' इसके लगभग १०२८ या इससे कुछ अधिक कुल सूक्त, दस मंडलों में विभाजित हैं। इन सूक्तों की मंत्रसंख्या प्रायः असमान है। पृथक्-पृथक् सूक्त में तीन से लेकर सौ तक मंत्र-संख्या मिलती है। काल-क्रम की दृष्टि से भी, जिस प्रकार इनका क्रम निर्धारित है उससे विपरीत आगे-पीछे उनकी रचना हुई है। ऋचाओं का यह दस मंडलों में विभाजन क्रम उनकी रचना के हिसाब से न होकर विषय के हिसाब से है।

'ऋग्वेद जिस रूप में अब हमें उपलब्ध है, उसमें दस मण्डल हैं, जिनमें कुल १०१७ सूक्त हैं। पहले मंडल के प्रथम पचास सूक्त तथा आठवाँ मंडल समूचा कण्व वंश के ऋषियों का है। उसी प्रकार दूसरे से सातवें तक, प्रत्येक मंडल एक-एक ऋषि-वंश का है। गृत्समद, विश्वमित्र, वामदेव, आत्रेय, बार्हस्पत्य

---

१. विस्तार के लिए देखें भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृ. १७०-१७३
२. मैक्समूलर : इण्डिया, हाट कैन इट टीच अस, पृ० २५

और वशिष्ठ, ये उन वंशों के नाम हैं। नौवें मंडल में एक ही देवता—सोम पवमान—के विविध ऋषियों के सूक्त हैं, और दसवाँ तथा पहले का शेषांश (५१–१९१ सूक्त) विविध ऋषियों के और विविधविषयक हैं। यह सब संकलन बाद में हुआ, शुरू में फुटकर ऋचाएँ धीरे-धीरे बनीं।"[1]

इस प्रकार अवगत होता है कि कालक्रम की दृष्टि से ऋग्वेद के सूक्तों में शताब्दियों का हेर-फेर है। यह भी स्पष्ट है कि पुरुष-ऋषि और स्त्री-ऋषि, दोनों ही इन सूक्तों के प्रणेता थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेद की समीक्षा करते हुए योगिराज अरविंद ने लिखा है कि 'ज्ञान स्वयं एक यात्रा और लक्ष्य-प्राप्ति था, एक अन्वेषण और एक विजय था; स्वतः प्रकाश की अवस्था केवल अंत में आई; यह प्रकाश एक अंतिम विषय का पुरस्कार था।

'ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऋग्वेद को यह समझा जा सकता है कि यह उस महान् उत्कर्ष का एक लेखा है जिसे मानवीयता ने अपनी सामूहिक प्रगति के किसी एक काल में विशेष उपायों के द्वारा प्राप्त किया था। अपने गूढ़ अर्थ में भी, जैसे कि अपने साधारण अर्थ में, यह कर्मों की पुस्तक है; आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञ की पुस्तक है; यह आत्मा की संग्राम और विजय की सूक्ति है, जब कि वह विचार और अनुभूति के उन स्तरों को खोज कर पा लेता है और उनमें आरोहण करता है, जो कि भौतिक अथवा पाशविक मनुष्य से दुष्प्राप्य हैं। यह है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती है। इसलिए इस बात से यह बहुत दूर है कि यह कोई ऐसा प्रयास हो जिसमें कि बौद्धिक या काल्पनिक विचारों के परिणाम प्रतिपादित किए गए हों, न ही यह किसी आदिम धर्म के विधि-नियमों को बताने वाली पुस्तक है[2]।'

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में आदि से लेकर अंत तक एक बहुत बड़ी कमी यह देखने को मिलती है कि उसके निर्माताओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए उसमें कुछ नहीं मिलता। यहाँ तक देखने को मिलता है कि संस्कृत के कतिपय ग्रंथकारों ने अपनी महानतम कृतियों को किसी देवता-विशेष या ऋषि-विशेष के नाम लिखकर अपनी जीवन-संबंधी जानकारी के लिए स्वयं ही

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की भूमिका १, पृ. २०७
२. अरविन्द : वेद-रहस्य, पृ. ११–१२

निराकरण कर दिया। इस दृष्टि से और इस परंपरा के आधार पर वेद और उनके निर्माता अथवा द्रष्टाओं की निश्चित तिथि को खोज निकालना कितना दुष्कर है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जब कि वेदों को अपौरुषेय और ईश्वरप्रणीत कहा जाता है, तब तो वेदों और उनमें वर्णित कतिपय ऋषि-वंशों का ऐतिहासिक आधार ढूँढ़ना और भी दुष्कर हो जाता है।

इस पर भी वेदों और वेदप्रवचनकार ऋषियों के युगों की खोज करने में इतिहासकार एवं पुरातत्त्वज्ञ वर्षों से लगे हुए हैं। आज तक इस संबंध में देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा जितने भी अनुसंधान हुए हैं उनके अध्ययन से निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनकी स्थापनायें सहस्रों वर्षों की परतों से ढके हुए सत्य के लगभग निकट पहुँच चुकी हैं। वेदों के स्थितिकाल को स्पष्ट करने के संबंध में विविध विद्वानों के अनेकमुखी सिद्धान्त अपने मूलरूप में समानरूप से महत्वपूर्ण हैं। पहले-पहल जिन विद्वानों ने इस संबंध में अपने जिन सिद्धान्तों को रखा, कुछ भ्रमपूर्ण होते हुए भी, विषय की दुष्करता एवं अतिशय अध्यवसाय-साध्य कार्य होने के कारण, उनका महत्व आने वाली पीढ़ी के लिये बहुत रहा। इसी प्रकार आज जिस सत्य को हम पूर्ण रूप से उद्धरित नहीं कर सके हैं, भविष्य में, बहुत संभव है कि उसका स्पष्टीकरण हो जाय।

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के जन्म-युग के संबंध में विद्वानों की जो अलग-अलग स्थापनायें हैं वे वास्तविकता के अधिक निकट हैं। याकोबी साहब के मत का उल्लेख हम कर चुके हैं। उनके अनुसार ६५०० ई० पूर्व पहले-पहल जिन ऋचाओं का निर्माण हुआ था वे ऋग्वेद की मंत्र-संहिताओं से संबंधित थीं। लोकमान्य तिलक ऋग्वेद की रचना ८५०० ई० पू० निर्धारित करते हैं। उनके मतानुसार 'सारे मंत्र एक साथ नहीं बने। ऋषियों और उनके वंशधरों ने, समय-समय पर, हजारों वर्षों में मंत्र बनाये। इस तरह, कुछ ऋचाएँ दस हजार वर्षों की हैं, कुछ साढ़े आठ हजार वर्षों की और कुछ सात, साढ़े सात हजार वर्षों की। सभी प्राचीनम ऋचाएँ ऋग्वेद की ही हैं[1]।'

कुछ विद्वानों के मतानुसार वैदिक मंत्र पहिले मौखिक रूप में ही जीवित थे—'श्रुति' नाम उनका एतदर्थ ही पड़ा। उसके बाद १८०० ई० पू० भारत

१. हिन्दी ऋग्वेद, पृ० १२

में लेखन कला का जन्म होने के कारण वैदिक मंत्र लिपिबद्ध होने लगे और उनका पहिला संपादन महाभारतयुगीन कृष्णद्वैपायन ने किया। महाभारत का समय १४०० ई० पू० है। लेखन कला के जन्म से ७०० वर्ष पूर्व अर्थात् २५०० ई० पू० में वैदिक ऋचाओं का निर्माण होना आरंभ हो गया था और बाद में १८०० ई० पू० के सात सौ वर्षों तक वे निरंतर बनती गईं। तदनंतर ऋचा-निर्माण के ४०० वर्ष पश्चात् १४०० ई० पू० में कृष्ण द्वैपायन द्वारा वे संहिताओं में वर्गीकृत हुईं[1]।

ऋग्वेद के सूक्तों में विभिन्न नामरूप देवों की स्तुति की गई है। अधिकांश सूक्त वरुण, सूर्य, वायु, अग्नि आदि देवताओं की अर्चना से संबंधित हैं। पार्थिव देवों में पृथिवी, सोम, अग्नि, अन्तरिक्ष देवों में वायु, इन्द्र, पर्जन्य, मरुत और द्युलोक के देवों में सूर्य, मित्र, विष्णु, वरुण आदि देवताओं की भी स्तुतियाँ ऋग्वेद के सूक्तों के वर्णित हैं। इन पुरुषप्रधान देवों के अतिरिक्त स्त्रीप्रधान देवियों में इन्द्राणी और ऊषा आदि के स्तुतिविषयक मंत्र बड़े आकर्षक और काव्यशैली में वर्णित हैं।

मेयर और गाइल्स प्रभृति कुछ विद्वानों का मत है कि उक्त नाम वैदिक देवताओं के न होकर ईरानी आर्यों के देवताओं के हैं, किन्तु 'जेन्दावेस्ता' में उक्त देवताओं के नाम जिस रूप में उल्लिखित हैं उनकी समानता एवं क्रम इस अभिलेख के देवताओं से नहीं मिलता, अपितु ऋग्वैदिक देवताओं से अक्षरशः उनकी एकता प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, बल्कि इसी काल के आस-पास तेल-एल-अमराना नामक स्थान में उपलब्ध लेखों में मितनी राजाओं के अततम (आर्त्ततम), सुत्तत्त (दशरथ) संस्कृतनिष्ठ नाम उल्लिखित हैं। इसी प्रकार काबुल में कुछ खत्ती राजाओं के शुरियस (सूर्य), मर्यतस (मरुत) जैसे संस्कृत नाम मिले हैं। काबुल में खत्ती राजाओं का राज्यकाल लगभग १७४६–११८० ई० पू० है।

इससे यह प्रतीत होता है कि वैदिक युगीन आर्य स्थायी रूप से भारत में बस जाने के उपरांत उनकी कुछ शाखायें प्रचारार्थ बाहरी द्वीप-समूहों में निकल पड़ीं और कुछ समय वहां रहने के पश्चात् पुनः भारत आकर उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये। यह निश्चित है कि इस गमनागमन में लगभग दस

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय साहित्य की रूपरेखा १,

से पंद्रह शताब्दियाँ अवश्य लग गई होंगी। इस दृष्टि से ऋग्वेद का प्रणयन लगभग ३००० ई० पू० में अवश्य आरंभ हो गया होगा।

इस संबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। वैदिक-संहिताओं का संकलन और वर्गीकरण कृष्णद्वैपायन व्यास ने किया था। व्यास का स्थिति-काल महाभारत का समय है और महाभारत का समय लगभग १५ वीं शताब्दी ई० पू० ठहरता है। वैदिक मंत्रों का प्रणयन जब समाप्त हो गया तभी व्यास ने अंतिम रूप से उनको संहिताओं में विभाजित किया। इस दृष्टि से ऋक् संहिता में संकलित सबसे पीछे रचे गये कुछ अंतिम मंत्रों का समाप्ति-काल ई० पू० १५ वीं शताब्दी ठहरता है। ये अन्तिम मंत्र वे हैं जिनमें देवादि और शन्तनु जैसे ई० पू० १५वीं १६वीं शताब्दी के आस-पास के व्यक्तियों के नाम आये हैं। इसके अतिरिक्त गूढ़ वैदिक शब्दों की निरुक्ति के लिए यास्काचार्य ने 'निरुक्त' की रचना की। यास्क का समय ७०० ई० पू० है। इस 'निरुक्त' ग्रंथ में जहां गार्ग्य, औदुम्बरायण और शाकपूणि आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख हुआ है वहां उसमें पूर्वरचित वैदिक निघंटुओं का भी स्पष्ट संकेत मिलता है। इससे यह विदित होता है कि ऋग्वेद का अंत्येष्टि काल लगभग १५०० ई० पू० है और उसका आरंभ काल लगभग ३००० ई० पू० है[1]।

इसी प्रकार नारायण भवनराव पावगी ने भूगर्भशास्त्र और ज्योतिष के अनुसंधान के आधार पर ऋग्वेद का निर्माणकाल आजसे ९००० वर्ष पूर्व स्थिर किया है। अमलनेकर ने ऋग्वेद का समय ६६००, अविनाशचंद दास ने २५००० और प्रो० लाटूसिंह गौतम ने ४० लाख ३२ हजार वर्ष पूर्व सिद्ध किया है।

विभिन्न ब्राह्मणग्रंथों में ये संहितायें कुछ पाठभेद और क्रम के हेर-फेर से संकलित हुई हैं। वाष्कल ने संहिताओं की शाखाओं को अष्टकों, अध्यायों और वर्गों में विभाजित किया। इस प्रकार शाकल शाखा का अर्थ हुआ उस वंशविशेष या संप्रदाय का संस्करण।

श्री रघुनंदन शर्मा ने वेदों की प्राचीनता के संबंध में भारतीय दृष्टि से छानबीन करने के पश्चात् अपना अलग दृष्टिकोण रखा। उन्होंने संपूर्ण वैदिक साहित्य को चार कालखण्डों में विभक्त किया : १ ब्राह्मणकाल, २ साहित्य-

---

१. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २२.

काल, ३ नवीन मंत्रद्रष्टा ऋषियों का काल और ४ प्राचीन मंत्रद्रष्टा ऋषियों का काल।

ब्राह्मणकाल के प्राचीन भाग की अवधि उन्होंने २२००० वर्ष पूर्व रखी; द्वितीय साहित्यकाल को उन्होंने कम से कम उतने ही समय पूर्व अर्थात् ब्राह्मणकाल से २२००० वर्ष पूर्व साहित्यकाल माना, तीसरे नवीन मंत्रद्रष्टा काल की अवधि साहित्यकाल से २२००० वर्ष पूर्व माना और प्राचीन मंत्रद्रष्टा काल को उन्होंने सृष्टि के आदि तक पहुँचाया, जिसमें नहुष, ययाति और वैवस्वत मनु की गणना की गई।

इस प्रकार शर्मा जी के मतानुसार ऋग्वेद का आदि मंत्र आज से लगभग ८८००० वर्ष पूर्व निर्मित हुए थे[1]।

दूसरी संहिताओं का निर्माण

सामान्यतया ऋग्वेद को और उसमें भी कुछ मंत्रों को दूसरी मंत्र-संहिताओं की अपेक्षा प्राचीन माना जाता है, किन्तु कुछ मिले-जुले मंत्र चारों संहिताओं में ऐसे मिलते हैं, जिनसे यह स्थिर करना कठिन हो जाता है कि कौन वैदिक संहिता सबसे पहिले निर्मित हुई।

सामवेद की संहिता के निर्माण से संबद्ध ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे उसकी अतिप्राचीनता का पता चलता है। विद्वानों का मत है[2] कि वसु चैद्योपरिचर के समय से छठी पीढ़ी पर और महाभारत-युद्ध[3] से बारह पीढ़ी पहिले अयोध्या के वंश में राजा हिरण्यनाभ (८२ पी०) हुआ[4]। भारत वंश की एक छोटी शाखा में, जो हस्तिनापुर और अयोध्या के बीच राज करती थी, उसी समय का राजा कृत (८३ पीढ़ी) था। कृत हिरण्यनाभ कौशल्य का चेला था। उन दोनों ने मिलकर सामों की संहिता बनाई और वे पूर्व साम (पूरब के गीत या पहिले के गीत) कहलाये। इससे स्पष्ट है कि ऋक्, यजु और साम का विभाग उनसे पहिले हो चुका था।

अथर्ववेद की मंत्र-संहिताओं का दूसरी संहिताओं के साथ तुलनात्मक

---

१. वैदिक संपत्ति, पृ० १३८–१४४.

२. जयचंद विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, १, पृ० २१०

३. विद्यालंकार जी के मतानुसार महाभारत युद्ध १४४० ई० पू० हुआ था, पृ० वही

४. और उन्होंने ही १६ वर्ष की एक पीढ़ी मानी है, वही पृ० १७१

भाषागत अध्ययन करने पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमें आर्य संस्कृति की अपेक्षा अनार्य संस्कृति का अधिक प्रभाव है। उनमें दी हुई जादू-टोने और तंत्र-मंत्र की बातों पर भी अनार्यों की स्पष्ट छाप है।[1]

वेदों में उल्लिखित अन्य भाषाओं के शब्द-साम्य के संबंध में लोकमान्य तिलक ने विस्तार से प्रकाश डालकर यह सिद्ध किया है कि अथर्ववेद में जो अलिगी, विलिगी, उरूगूल तथा ताबुव आदि चालडियन भाषा के शब्द उद्धृत हैं, उनके आधार पर कदापि यह सिद्ध नहीं होता, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है कि अथर्ववेद का निर्माण बहुत पीछे हुआ है[2]। भाषा-विज्ञान का यह पूर्ण प्रामाणिक सिद्धान्त नहीं है। इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् जीन युजाईलुस्की का कथन है कि ऋग्वेद (६।७५।१७) में उल्लिखित 'वाण' शब्द अनार्य है[3], जो कि सर्वथा भ्रांत धारणा है। अथर्ववेद का निर्माण चालडियन भाषा से सहस्रों वर्ष पहिले हो चुका था और वेदों से उक्त शब्द वहाँ पहुँचे। उक्त शब्द वेदमंत्रों के अपने शब्द हैं।

निष्कर्ष

वेदकाल-मर्यादा को निर्धारित करने के लिए इस प्रकरण में हमने जितने विद्वानों के मत उद्धृत किए हैं, उनमें इतना वैपरीत्य है जिसको देखकर कुछ भी निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से कोई भी पाठक या समीक्षक अपनी रुचि एवं अपने दृष्टिकोण के अनुसार किसी भी एक मत को स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र है। सभी विद्वानों के मत यहाँ एक साथ दिए जाते हैं।

गौतम	४ लाख वर्ष पूर्व		
चुटेल	३ लाख वर्ष पूर्व		
शर्मा	८८०००	"	वर्ष पूर्व
अमलेकर	६६०००	"	वर्ष पूर्व
दास	२५०००	"	ई० पूर्व
तिलक	८५००	"	वर्ष पूर्व
पावगी	८०००	"	वर्ष पूर्व

1. डॉ० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, भाग १, पृ० ११९-१२२
2. भांडारकर : कमैमोरेशन वाल्यूम, पृ० २१-२४
3. प्रि आर्यन ऐंड प्रि-द्रविड़ियन इन इण्डिया, पृ. १९१३, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९२९

वैदिक युग

दीक्षित	६००० श० पूर्व
जैकोबी	४००० ई० पूर्व
वैद्य	३१०० ई० पू०
भंडारकर, पांडुरंग	३००० ई० पू०
विद्यालंकार	३००० ई० पू०
विंटरनित्स	२५०० ई० पू०
हाग, प्राट	२००० ई० पू०
मैक्समूलर	२००० ई० पू०

अपौरुषेय ज्ञान के प्रतीक : वेद

वेदों की रचना किसने की, यह प्रश्न आज भी अधूरा है। देशी-विदेशी विद्वानों के द्वारा बहुत खोज-बीन रखने पर भी अंतिम निष्कर्ष कुछ भी न निकला। संप्रति इस संबंध में दो मत है। एक मत वेदों को ईश्वरकृत, अनादि और अपौरुषेय बताता है, ऋषियों ने उनका दर्शन भर किया, रचा नहीं। दूसरा मत वेदों को ऋषिकृत कहता है। ऋषि और मुनि में भेद है। मंत्रद्रष्टा या मंत्रकर्ता ऋषि कहलाते हैं। मुनिजन मंत्रद्रष्टा मंत्रकर्ता नहीं थे, किन्तु बड़े विद्वान्, विचारवान् और प्रतिभावान् थे।

वेदों के बाद रचे गए ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, दर्शन और धर्मशास्त्र सभी ने एकमत से दुहराया है कि वेद नित्य हैं अर्थात् सृष्टि से पूर्व भी वे विद्यमान थे; वेद अनादि है, अर्थात् उनकी कोई जन्मतिथि नहीं है; और वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् उनका रचने वाला कोई पुरुष नहीं है। इस दृष्टि से विदित होता है कि वेद स्वयंभूत, स्वयंप्रकाश और स्वयंप्रमाण हैं।

वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के संबंध में 'मनुस्मृति' के प्रामाणिक टीकाकार कुल्लूक भट्ट का यह कथन है कि प्रलयकाल में वेद विनष्ट नहीं हुए थे। वे परमात्मा में अवस्थित थे : 'प्रलयकालेऽपि परमात्मनि वेदराशिः स्थितः।' वेदों की अनादि-अनंत सत्ता के समर्थन में आचार्य शंकर ने अपने भाष्य-ग्रंथ में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित किए हैं[1]।

परमात्मा की सत्ता में अविश्वास करने वाले सांख्य दर्शनकारों ने भी

१. शंकराचार्य : शारीरक मीमांसा-भाष्य २।३।१

वेदों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। वेदों को सांख्यकारों ने भी स्वयंभूत, स्वयंप्रमाण और अपौरुषेय, अनादि एवं नित्य कह कर अभिहित किया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों से लेकर उपनिषद्-ग्रन्थों तक जितना भी वैदिक साहित्य है, सभी में वेदों को नित्य, अनादि और अपौरुषेय कहा गया है। ऋषियों को वेदमंत्रों का प्रथम द्रष्टा कहा गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' की एक ऋचा 'तान् होवाच काद्रवेयः' का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है: 'अतींद्रिय अर्थ को देखने वाले ऋषि को मंत्रकृत् कहते हैं। वहाँ 'करोति' 'धातु' का अर्थ देखना है, न कि करना।[1]

ऋषि मंत्रद्रष्टा थे

ऋषियों को 'मंत्रकृत्' क्यों कहा गया इस संबंध में सायणाचार्य 'तैत्तिरीय आरण्यक' के एक सूत्र का भाष्य करते हुए स्पष्ट करते हैं कि 'यद्यपि अपौरुषेय वेदों का कोई कर्ता नहीं है, तथापि सृष्टि के आरंभ में ईश्वर की कृपा से मंत्रों को पाने वाले ऋषियों को ही 'मंत्रकृत्' कहा गया है'[2]। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में वेदों को ईश्वर का निश्वास कहा गया है[3]।

निरुक्तकार यास्क ने भी 'ऋषि' शब्द का निर्वचन मंत्रद्रष्टा के रूप में किया है। यास्क ने मंत्रों का प्रथम दर्शन करने वाले प्रतिभावान् को ऋषि कहा है।[4] मंत्रद्रष्टाओं के रूप में ऋषिजनों का इतिहास बताने वाले अनेक ब्राह्मणग्रन्थ प्रमाण हैं।[5]

ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् इस संबंध में एकमत हैं कि ऋषिजन मंत्रों के निर्माता न होकर द्रष्टा थे। वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ने का एक मात्र कारण भी यही है कि उनकी परंपरा ऋषिवंशों से श्रुतजीवी होकर सूत्रयुग तक आई। 'श्रुति' शब्द अपने यौगिक अर्थ में वेद के उन समग्र अंशों का बोधक है, जिनकी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित विधि का ज्ञान गुरु-निर्देश से अवगत

१. 'ऋषिरतीन्द्रियार्थ द्रष्टा मंत्रकृत्। करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थ'—ऐतरेय ब्राह्मण ६।१, सायण भाष्य
२. 'यद्यपि अपौरुषेये वेदे कर्तारो न सन्ति तथापि कल्पादौ विश्वेश्वरानुग्रहेण मंत्राणां लब्धारो मंत्रकृदित्युच्यन्ते'—तैत्तिरीय आरण्यक, सायण भाष्य ४।१।१
३. अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः
४. ऋषिर्दर्शनात्। ऋषय मंत्रद्रष्टारः—निरुक्त, नगमकाण्ड २।११
५. कौषीतकी ब्राह्मण १०।३०; ऐतरेय ब्राह्मण ३।९

नहीं हो सकता है। श्रुति के इस यौगिक अर्थ के अन्तर्गत, इस दृष्टि से, संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि सभी आ जाते हैं।

श्रुति का अर्थ सुनना है। इस वेद विद्या को ऋषियों ने परमात्मा से सुना और लोक के कल्याणार्थ उसको संसार में प्रचारित किया। वेद का अर्थ ज्ञान है। इस वेद ज्ञान का दर्शन पहले-पहल जिन महापुरुषों ने किया वे ऋषि कहे गए। मंत्रों के 'कंठास' और 'कल्प्य', ये दो नाम इसीलिए पड़े कि जिन मंत्रों को ऋषियों ने प्रत्यक्ष किया उन्हें 'कंठास' कहा गया और जिनका स्मृति से अनुमान लगाया उन्हें 'कल्प्य' कहा गया। यह पौराणिक कथन है। यास्काचार्य ने मंत्रों को परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक कहकर उनको उपलब्ध करने की विभिन्न विधियों का निदर्शन किया है।

मंत्रद्रष्टा ऋषि और 'श्रुति' के उक्त अभिप्राय पर महर्षि अरविंद ने गवेषणात्मक प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि 'ऋषि, सूक्त[1] का वैयक्तिक रूप से स्वयं निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का। वेद की भाषा स्वयं 'श्रुति' है, एक छंद है जिसका बुद्धि द्वारा निर्माण नहीं हुआ, बल्कि जो श्रुतिगोचर हुआ। एक दिव्य वाणी है जो 'कंपन' करती हुई असीम में से निकल कर उस मनुष्य के अन्तकरण में पहुँची जिसने पहिले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था। 'दृष्टि' और 'श्रुति', दर्शन और श्रवण, ये शब्द स्वयं वैदिक मुहावरे हैं। ये और इनके सजातीय शब्द, मंत्रों के गूढ़ परिभाषाशास्त्र के अनुसार, स्वतः प्रकाश ज्ञान को और दिव्य अंतःश्रवण के विषयों को बताते हैं।'[2]

अपौरुषेय ज्ञान के पात्र इन ऋषिप्रवरों ने ही वेदमंत्रों का दर्शन किया, पुराणग्रंथ भी इसका समर्थ प्रतिपादन करते हैं। अष्टादश महापुराणों में वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य, इन तीनों पुराणों में भारत के सांस्कृतिक गौरव और उसकी ज्ञान-गाथा का जितना गुणगान हुआ है उतना दूसरे ग्रन्थों में नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से, इसीलिए इनका महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इन तीनों पुराण-ग्रन्थों में ऋषियों का व्यक्तित्व एक ज्ञानपुंज के रूप में परिगणित किया गया है और अपने पूर्ववर्ती उन सभी ग्रंथों के मत का समर्थन किया

---

१. वेदों के पद्यभाग को ऋच् या ऋचा, गद्यभाग को यजुष् और गीतात्मक ऋच् को साम कहते हैं। इन ऋचाओं अथवा गीतात्मक सामों के छोटे समूह का नाम सूक्त (सु + उक्त) सुभाषित कविता है

२. अरविंद : वेद रहस्य, पृ० ११

गया है, जिन्होंने इन ज्ञानमना महामनस्वी ऋषियों को वेदमंत्रों का पहिला दर्शक या श्रोता सिद्ध किया है।[1]

'ऋष' धातु के अर्थ गति, श्रुति, सत्य एवं तप हैं। 'ऋष' का यह अर्थ, पुराणों के अनुसार, स्वयं ब्रह्मा ने किया। जिसमें ये सब गुण, उपमान विद्यमान हों, वह ऋषि है।[2] 'ऋषि' कहे जाने वाले तपःपूत तेजस्वी महापुरुषों की उपाधियों एवं उनके विशेषणों का बखान दूसरे ग्रन्थ भी करते हैं। रजस्तम-रहित, तपोज्ञानयुक्त, त्रिकालज्ञ, अमल और अव्याहत ज्ञान-संपन्न, आप्त, शिष्ट, परमज्ञानी ही ऋषि थे। उनका ज्ञान तथा उनके उपदेश निर्भ्रान्त थे।[3]

ये ही ऋषिप्रवर वेद मंत्रों के द्रष्टा थे। इन्हीं के द्वारा, परम्परया सुरक्षित होकर, वेदमंत्र प्रकाश में आये। इसीलिये इन्हें कहीं-कहीं वेदमंत्रों का कर्ता भी कहा गया है। कुछ लोग इस प्रकार के 'मंत्रकृत' उल्लेखों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि वेदमंत्रों का निर्माण ऋषियों द्वारा हुआ और इसलिए वेदों को अनादि न मानना चाहिये। ऐसे लोग वेदमंत्रों के व्याख्या-ग्रन्थों में सम्यक्तया प्रतिपादित एवं व्याख्यात इस 'मंत्रकृत' शब्द के ज्ञान से अपरिचित हैं। उनका उद्देश्य एक नई बात कहकर अपना नयापन दिखाने के सिवा कुछ नहीं है। ऋषियों के साथ जो 'मंत्रकृत' शब्द का प्रयोग वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र और यहां तक कि परवर्ती काव्यग्रंथों में भी वर्णित है[4] उसका अर्थ 'मंत्रद्रष्टा' ही समझना चाहिए।

इन्हीं महाभाग, महाविभूति मंत्रसाक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने ही वेदमंत्रों का ज्ञान अर्जन कर दूसरे काल के असाक्षात्कृतधर्मा श्रुतर्षियों को उपदेश के द्वारा मंत्रों का बोध कराया। उपदेश ग्रहण करने में असमर्थ क्षीण शक्ति वाले दूसरे ज्ञानेच्छु लोगों के लिए विद्वानों ने निघंटु, वेद तथा वेदांगों को ग्रंथरूप में उपनिबद्ध किया[5]।

---

१. वायुपुराण ५९।५६; ब्रह्माण्डपुराण २।३२।६२; मत्स्यपुराण १४५।५८

२. वायुपुराण ५९।७९

३. अग्निवेशतंत्र ११।१८,१९

४. ऋग्वेद ९।११४।३०; तांड्य ब्राह्मण १३।३।२४; तैत्तिरीय आरण्यक ४।१।१; सत्या० श्रौत० २।१।३; ऐतरेय ब्राह्मण ६।१; आश्व० श्रौ० २४।१०।१३; २४।५।६; मा० गृ०सू० १।८।२; खा०गृ०सू० २।४।१०; अष्टाध्यायी ३।२।८९; रघुवंश १।६१; ५।५४

५. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान् संप्राहुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रंथं समाम्नासिषुः, वेदं च वेदांगानि च। इति—निरुक्त १।२०

प्रामाणिक वेदभाष्यकार सायण ने अपनी ऋग्वेद-भाष्य की उपक्रमणिका में और उव्वट तथा महीधर ने अपने शुक्ल यजुर्वेद-भाष्य के आरंभ में वेदों को ईश्वरकृत माना है। इस युग के प्रकांड वेदज्ञ विद्वान् पूज्यपाद स्वामी दयानंद ने अथर्ववेद (१०।२३।४।२०), यजुर्वेद (४०।८), मीमांसा दर्शन (१।१।१८), वैशेषिक दर्शन (१।१३), न्यायदर्शन (२।१।६७), योगदर्शन (१।१।२६), सांख्यदर्शन (५।५१) और वेदांतदर्शन (१।१।३) के आधार पर विस्तार से यह सिद्ध किया है कि वेद अनादि, अथच ईश्वरकृत हैं। जैसे ईश्वर का जन्म, आयु तथा मृत्यु आदि के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, वैसे ही वेदों के अस्तित्व के बारे में भी कुछ नहीं बताया जा सकता।

वेदों के ऋषि : संकलनकार : संपादक

ऋग्वेद के कुछ मंत्र प्राचीन और कुछ उनके बाद के हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्रथम और दशम मंडल की तुलनात्मक समीक्षा करने पर ऋग्वेद के मंत्रों का पूर्वापर भेद स्पष्ट हो जाता है। फिर भी ऋग्वेद को प्राचीन मानने में किसी भी प्रकार का संदेह पैदा नहीं होता।

ऋग्वेद के निर्माताओं के संबंध में कहीं भी कुछ उल्लेख नहीं मिलता। कात्यायन मुनि की 'सर्वानुक्रमणी' से ऋग्वेद से संबद्ध कुछ ऋषियों का पता लगता है। अग्निदेव का स्तुतिविषयक ऋग्वेद का मंत्र मधुच्छन्दा का है, जिन्हें शतर्चिन् भी कहा जाता है। 'सर्वानुक्रमणी' के टीकाकार षड्गुरुशिष्य का भी यही कहना है कि प्रथम मंडल के १०२ मंत्रों से शतार्चियों का घनिष्ठ संबंध रहा है। द्वितीय मंडल से अष्टम मंडल तक जिन ऋषियों का उल्लेखनीय योग रहा है, उनके नाम हैं : गृत्समद, विश्वमित्र, गौतम, अत्रि, भरद्वाज, वशिष्ठ और कण्व। इसी प्रकार नवम और दशम मंडलों में पांचाल देश के राजा सहदेव के पुत्र सोमक और भीष्म के चाचा देवापि के भी नाम मिलते हैं।

'सर्वानुक्रमणी' के रचयिता कात्यायन ने लिखा है कि 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' अर्थात् जिसका जो वाक्य है वही उसका ऋषि है। ऋग्वेद के दशम मंडल के कुछ ऋषियों के नाम हैं : कवय, अरुण वैताहव्य, सुदास पैजवन, मांधात्री यौवनाश्व, वत्सप्रि भालनंदन, ऊर्ध्वग्रावा आदि। इनके अतिरिक्त गृत्समद परिवार, प्रगाथ या कण्व परिवार, पवमान, क्षुद्रसूक्त और महासूक्त आदि ऋषियों का भी ऋग्वेद के मंडलों में नाम आता है। प्रायः यही नामावली आश्वलायन 'गृह्यसूत्र' के तर्पण अध्याय में उल्लिखित है।

वस्तुतः देखा जाय तो जितने भी ऋषि-महर्षियों के नाम हम वैदिक मंत्रों के साथ जुड़े हुए पाते हैं वे वैदिक मंत्रों के संकलनकार या वर्गयिता थे। यह संकलन कृष्णद्वैपायन व्यास के बहुत पहिले से लेकर पतंजलि और शौनक के समय तक होता गया। शाकल और वाष्कल के संस्करण भी शौनक के ही समय तैयार हुए। इस दृष्टि से यह संभव ही था कि इतनी सुदीर्घ कालावधि में निरंतर जब ऋग्वेद के मंत्रों का संकलन-संस्करण होता गया तो उनकी भाषा में कुछ भिन्नता आ गई।

कृष्ण यजुर्वेद का कोई विवरण ग्रंथ नहीं है। ऋग्वेद की भांति इसमें ऋषियों का उल्लेख नहीं मिलता। कांडर्षियों के पूजे जाने का वर्णन कहीं-कहीं अवश्य है, जैसे प्राजापत्य, सौम्य, आग्नेय, वैश्वदेव, स्वायंवभु, आरुण, सांहिती देवता, वारुणी देवता और याज्ञिकी देवता। इन्हीं के नाम से कुछ काण्डों का नामकरण हुआ है।

अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर दिये गए मंत्रों में राष्ट्रीय भाव ओत-प्रोत है। राष्ट्रोन्नति के लिए देवताओं से की गई प्रार्थना का प्रसंग बहुत ही समाकर्षक है।

कृष्ण यजुर्वेद के मंत्रों की भाषा में कुछ नवीनता जान पड़ती है, विशेषतः गद्यभाग में। पद्य तो ऋग्वेद जितने प्राचीन हैं। इसके क्रमपाद और पदपाठ निर्मित करने वाले पहिले ऋषि हुए शाकल्य एवं गालव। पदपाठ के निर्माण में आत्रेय का भी हाथ रहा है।

शुक्ल यजुर्वेद पर कात्यायन ने एक 'सर्वानुक्रमणी' लिखी थी। शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम अध्याय का ऋषि प्रजापति को बताया जाता है। इसके अंतिम (ईशावास्योपनिषद्) अध्याय के ऋषि का नाम दध्यङ् आथर्वण था। इसके प्रथम २५ अध्याय प्राचीन और शेष उनकी अपेक्षा नवीन हैं।

अथर्ववेद के पहिले संकलनकर्ता पिप्पलाद थे। अथर्ववेद का एक नाम अथर्वांगिरस भी है। वैदिक युग में आंगिरसों को भयंकर ऐंद्रजालिक कहा जाता था (ऋ० १०।१०८।१०)। अथर्ववेद में भी इस आंगिरस शब्द का उल्लेख मिलता है (१०।७।२०); किन्तु उसी में एक स्थान पर अथर्व और आंगिरस, दो अलग-अलग ग्रन्थों का उल्लेख है (१९।५४।५)। संभवतः अथर्व भी कोई ऐंद्रजालिक रहे हों। अथर्ववेद में भृगु नामक ऋषि का भी उल्लेख मिलता है। 'महाभारत' में भृगु, आंगिरस, काश्यप और वाशिष्ठ, ब्राह्मणों के इन चार परिवारों का उल्लेख है। कुछ समीक्षकों का अभिमत है कि आथर्वण मध्य

एशिया के रहने वाले थे, क्योंकि 'जेंद अवेस्ता' में आथर्वण शब्द पुजारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो ईरान में ऐंद्रजालिक विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। अथर्ववेदसंहिता का संकलन करते समय पिप्पलाद ने ऐंद्रजालिक मंत्रों का संग्रह किया था। कुछ दिनों बाद पिप्पलाद शाखा के नौ खंड हुए, जिनमें शौनक और पिप्पलाद (काश्मीरी) प्राप्त हैं।

सायणाचार्य ने शौनकसंहिता का भाष्य १४०० ई० में लिखा था। इसका संपादन एस० पी० पंडित ने १८९० ई० में किया। रॉथ, ह्विट्नी और ब्लूमफील्ड आदि ने भी शौनकीय शाखा का संपादन एवं प्रकाशन किया।

अथर्ववेद के कुछ प्रमुख ऋषियों के नाम हैं : कण्व, बादरायण, विश्वमित्र, कश्यप, कक्षीवान, पुरुनीध, अगस्त्य, जमदग्नि और वामदेव।

मंत्रद्रष्टा ऋषियों का इतिहास[1]

इन मंत्रद्रष्टा ऋषियों के अलग-अलग संप्रदाय, अलग-अलग वंश, अलग-अलग आश्रम और अलग-अलग शाखाएँ हैं। समग्र वैदिक साहित्य में जिन सहस्रों ऋषिजनों का नाम हमें उपलब्ध होता है, उनके प्रथम चार संप्रदाय थे : मुनीनां चतुर्विधो भेदः—ऋषयः, ऋषिकाः, ऋषिपुत्राः, महर्षयः।[2] इन चार संप्रदायों का मूल अभिधान मुनि, अर्थात् विद्वान्, विचारक या ज्ञानी था।

महर्षि

महर्षि-वंश ज्ञान का एकमात्र अधिकारी, ज्ञान का आविर्भावक, स्वयंप्रकाश, नित्य, आदि और अनंत आदि सहस्रों विभूतियों से युक्त था। ईश्वर और ब्रह्मा की गणना भी इसी के अन्तर्गत थी। ये महर्षि १० हुए।

ऋषि

पूर्वोक्त दस महर्षियों के पुत्र या शिष्य 'ऋषि' नाम से कहे गए। कठिन तपश्चर्या के बाद जिनको यह पद प्राप्त हुआ था, ऐसी ऋषिस्थानीय विभूतियाँ

---

१. विस्तार के लिए देखिए, भगवद्दत : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, १९३५; भाग १, खंड २, १९३१; भाग २, १९२७; वैदिक अनुसंधान संस्था, माडल टाउन (संप्रति वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर)

२. हरिश्चन्द्र भट्टारकः चरकतंत्र-सूत्रस्थान, १।७

१३ हुई। उनके नाम हैं: उशना, बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उत्तथ्य, वामदेव, अगस्त्य, उशिक् , कर्दम, विश्रवा, शक्ति, बालखिल्य और अवंत।

ऋषिपुत्र

महर्षि और ऋषियों के बाद ऋषिपुत्रों का स्थान आता है। स्पष्ट है कि ऋषियों की जो संतानें हुईं उन्होंने इस उत्तराधिकार को प्राप्त किया।

ऋषिका

महर्षि, ऋषि और ऋषिपुत्र, एक प्रकार से एक ही दाय-परंपरा से संबंधित थे। इस दाय-परंपरा या वंश-परंपरा के अतिरिक्त दूसरे जिन ज्ञान-मना मनस्वियों ने अपने को भी तदधीन कर लिया लिया था, वही ऋषिका कहलाए। ये ऋषिका एक प्रकार से ऋषि-पुत्रों की शिष्य-शाखाएँ थीं, जो बाद में ऋषिपुत्रों के उत्तरवर्ती वंशजों से इस प्रकार मिलकर एकाकर हो गए कि उनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

ऋषिपुत्रों और ऋषिकाओं की संख्या कई सौ तक पहुँचती है और उनके एकरूप हो जाने के बाद यही संख्या हजारों तक पहुँच जाती है। मंत्र-संहिताओं से लेकर पुराण-ग्रन्थों तक ऋषि, महर्षि और मुनि, विविध नाम-रूपों में हमें उनके दर्शन होते हैं। भृगुकुल, अंगीराकुल, कश्यपकुल, अत्रिकुल, वशिष्ठकुल, अगस्त्यकुल आदि अनेक वंशों की स्थापना कर सहस्रों वर्षों तक ये वंश वृद्धि पाते रहे।

मंत्रद्रष्टा ऋषियों की यह परंपरा ऐतिहासिक दृष्टि से नितांत अव्यवस्थित है। प्रायः सभी मंत्र-संहिताओं में एक साथ मिलने वाली ऋषियों की नामावली ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अन्तर से है। भारत का सबसे पहिला राज्य-व्यवस्थापक, जिसके बड़े पुत्र इक्ष्वाकु ने मध्यदेश पर राज्य किया और जिससे सूर्यवंश का आरंभ होता है[1], ऐसे वैवस्वत मनु से लेकर पुरूरवा, ऐल, उर्वशी, गृत्समद, वामदेव, आत्रेय, बार्हस्पत्य, वशिष्ठ, राजा शिवि, औशीनर और प्रतर्दन काशिराज आदि के नाम जिन सूक्तों के साथ जुड़े हैं, वे सूक्त निःसंदेह ऐतिहासिक क्रम से बहुत आगे-पीछे के हैं।

मंत्रद्रष्टा ऋषियों की परंपरा का आरंभ ऊर्व, दत्तात्रेय, विश्वामित्र, जमदग्नि

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की भूमिका १, पृ० १२४-१२६

से होकर मधुच्छंदा, दीर्घतमा, भरद्वाज, लोपामुद्रा, मेधातिथि, काण्व और वामदेव में प्रायः समाप्त हो जाती है। इन ऋषियों के अतिरिक्त राजा शान्तनु और उसके बड़ा भाई देवापि को भी हम सूक्तवक्ता के रूप में पाते हैं, जिनका स्थितिकाल लगभग बहुत इधर बैठता है।

ब्राह्मणग्रन्थों के प्रामाणिक वचनों से विदित होता है कि महर्षि विश्वमित्र वेदमंत्रों के पहिले दर्शक थे और उसके बाद उन्होंने अपने पुत्र या शिष्य ऋषि वामदेव को उसमें दीक्षित किया। ऋषि वामदेव के द्वारा दूसरे ऋषियों को वेदमंत्र दृष्ट हुए[1]। वेदमंत्रों के ऋषि वामदेव द्वारा लोकविश्रुत होने का हवाला दूसरा ब्राह्मण-ग्रन्थ भी देता है[2]। इसीलिए ऐतिहासिक दृष्टि से हमें महर्षि विश्वमित्र और ऋषि वामदेव ही वेद-मंत्रों के प्रथम द्रष्टा और व्याख्याता प्रतीत होते हैं।

महर्षि गौतम अक्षपाद के 'न्यायसूत्र' के यशस्वी भाष्यकार वात्स्यायन का समय लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी बैठता है। उन्होंने तो अपने भाष्य-ग्रन्थ में यहां तक स्पष्ट किया है कि जिन ऋषि-महर्षियों ने वेदमंत्रों का दर्शन-व्याख्यान किया, उन्होंने ही इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद प्रभृति शास्त्रों का भी निर्माण किया।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने 'ऋषि' शब्द को केवल वेद-मंत्रद्रष्टा ज्ञानियों के नाम से प्रयुक्त न कर, उसकी पारिभाषिक मान्यता को समाप्त कर अब श्रेष्ठ जनों के लिए भी प्रयुक्त करना आरंभ कर दिया था। अब 'ऋषि' शब्द आप्तार्थक हो गया था। यहाँ तक कि मंत्रार्थ को जानने वाले को भी ऋषि कहकर सम्मानित करने की प्रथा प्रचलित हो गई थी। उदाहरणार्थ 'बोधायन धर्मसूत्र' पर गोविन्द स्वामी ने व्याख्या करते हुए प्रत्येक मंत्रार्थ ज्ञाता को ऋषि पर्याय माना है[4]।

---

१. तान् वा एतान् सम्पातान् विश्वमित्रः प्रथममपश्यत्……तान् विश्वमित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत्—गोपथब्राह्मण ६।१

२. ऐतरेय ब्राह्मण ६।१८

३. य एव मंत्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति—न्यायसूत्र-भाष्य ४।१।६२; तथा य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद-प्रभृतीनामिति—न्यायसूत्र-भाष्य २।२।६७

४. ऋषिर्मंत्रार्थज्ञः—बोधायन धर्मसूत्र २।६।३६

इसी प्रकार 'मनुस्मृति' के सुप्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि ने तो साधारण पुरुष को भी ऋषिस्थानीय कहकर स्पष्ट किया है कि ऋषि वेद-पर्याय है। वेदाध्ययन, वेदार्थानुष्ठानादि के कारण सामान्य पुरुष भी ऋषि की संज्ञा प्राप्त कर सकता है[1]। इसी प्रकार 'उणादि सूत्र' के वृत्तिकार दण्डनाथ नारायण ने भी वेदवक्ता मात्र को ऋषि नाम से अभिहित किया है।[2]

इस प्रकार विदित होता है कि वेदमंत्रों की सत्ता ईश्वर की सत्ता जितनी सनातन है, और ऋषियों ने उनका दर्शन कर, वर्षों के चिंतन-मनन द्वारा उन्हें संहिताओं में संकलित-संपादित किया तथा उस महान् ज्ञानथाती को आगे की पीढ़ियों तक पहुँचाया।

१. ऋषिर्वेदः। तदध्ययन-विज्ञान-तदर्थानुष्ठानातिशययोगात् पुरुषेऽपि ऋषिशब्दः
—मनुस्मृति-भाष्य, १।१

२. ऋषिः वेद : -उणादिसूत्रवृत्ति, २।१।१५९

उत्तर वैदिक युग

ब्राह्मण : आरण्यक : उपनिषद् : षड्वेदांग

ब्राह्मण-ग्रंथ

धर्म, हिन्दू-जाति का प्राण है। इस अजेय धर्म-भावना के बल पर ही हिन्दू-जाति ने अतीत के अनेक प्राणघातक संकटों को पार कर अपनी जीवन-रक्षा की। उसके ये धार्मिक विश्वास सनातन हैं। किसी भी काल और किसी भी परिस्थिति में हिन्दू जन-जीवन के ये विश्वास कम नहीं हुए, इतिहास इस सत्य का साक्षी है।

हिन्दू-धर्म अति उदार और व्यापक समन्वयवादी भावना का धर्म रहा है। कतिपय दूसरे धर्मों की भाँति हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत न तो संकीर्णतायें हैं और न संप्रदायजन्य भेद-भाव ही। यह दूसरी बात है कि कुछ स्वार्थी और संकीर्ण विचारों के लोगों ने अपने अनुरूप धर्म की परिभाषायें गढ़कर उसकी व्यापक भावना को समेट कर संकुचित कर देना चाहा, किन्तु उसका जो सनातन स्वरूप है उसमें व्यक्तियों द्वारा किया गया परिवर्तन और संशोधन उसकी मौलिकता को मिटा नहीं सकता। व्यापक हिन्दू-धर्म के प्रतिपादक सैकड़ों ग्रन्थों का अध्ययन कर उसकी वास्तविकता का पता लगाया जा सकता है।

हिंदू जाति की धार्मिक व्यवस्था के संबंध में जो सहस्रों नीति-नियम और विधि-व्यवस्थायें हैं, उनका विस्तार से निरूपण करनेवाले आदि ग्रंथ ब्राह्मण हैं। इस दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थ हिंदू-धर्म के आदि स्रोत और धर्म के अति प्राचीन व्याख्यान होने के कारण मानव जाति के पहले धर्म-ग्रन्थ भी हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेदों का समकक्षी और समकालीन कहा गया है।

संहितायें और ब्राह्मण दोनों वेद हैं

ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व और उनकी प्राचीनता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनको वैदिक संहिताओं की भांति वेद कहकर अभिहित किया गया है। वेद-भाष्यकार आपस्तम्ब ऋषि का कथन है कि मंत्र-संहितायें और ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों ही वेद हैं, क्योंकि मंत्र-संहितायें और ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों ही यज्ञ के प्रमाणरूप हैं : मंत्रब्राह्मणो यज्ञस्य प्रमाणम् ।' आपस्तम्ब ऋषि के इस वाक्य से कि 'मंत्रब्रह्मणात्मको वेदः' वेद-मंत्रों की स्थिति ब्राह्मण-ग्रन्थों के विना कुछ भी नहीं रह जाती है, ब्राह्मण-ग्रन्थों की उपयोगिता की सिद्धि के लिए यथेष्ट जान पड़ता है[1]।

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों दोनों को वेद शब्द से अभिधान करने वाले ग्रंथों में कतिपय सूत्र-ग्रंथों से लेकर मीमांसा-ग्रन्थ, वेदान्त-ग्रन्थ, वार्तिक-ग्रन्थ और स्मृति-ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।[2] इन सभी ग्रंथों में ब्राह्मण-ग्रन्थों को संहिताओं जितना प्रामाणिक माना गया है और उनको संहिताओं जितना संमान दिया गया है।

नामकरण का आधार

ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय यज्ञों का प्रतिपादन और उनकी विधियों की व्याख्या करना है : 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'।[3] 'शतपथ-ब्राह्मण' में यज्ञ को प्रजापति और प्रजापति को ब्रह्म कहा गया है : 'एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यो प्रजापति'।[4] ब्रह्म अर्थात् यज्ञ विषय-प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण इनको 'ब्राह्मण' कहा गया। ऐसी भी एक मौखिक परम्परा है कि यज्ञ-यागादियों के विधान करने वाले एकमात्र ब्राह्मण पुरोहितों के निजी ग्रन्थ होने के कारण इनको 'ब्राह्मण' कहा गया।

---

१. आपस्तम्ब यज्ञ-परिभाषासूत्र ३३. ३४

२. वैदिक संहितायें और ब्राह्मण-ग्रन्थ, दोनों वेद हैं। देखिए :
आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र (२४. १. ३१); सत्याषाढ़-श्रौत-सूत्र (१. १. ७); बोधायन-गृह्यसूत्र (२. ६. ३); बोधायनधर्मसूत्र (२. ९. ७); कौशिकसूत्र (१. ३); आपस्तंब परिभाषासूत्र (३४); कात्यायन-परिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र (१९); शबरस्वामी-कृत जैमिनीय मीमांसा (२. १. ३३); तन्त्रवार्तिक (१. ३. १०); मनुस्मृति-मेधातिथि की टीका (२. ६); शांकरभाष्य-वेदान्त दर्शन (१. ३. ३३)

३. शतपथब्राह्मण १।७।१।५।

४. वही ४।३।४।३।

उत्तर वैदिक युग

महाशय आप्टे-कृत संस्कृत-अंग्रेजी-कोष में 'ब्राह्मण' शब्द का रचना-परक (न कि जातिविशेषपरक) अर्थ इस प्रकार है :

वेदों का वह भाग, जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेदमन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति एवं विवरणपूर्ण व्याख्या का कथन करता है तथा जिसमें समय-समय पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं एवं कहानियों का समावेश रहता है, ब्राह्मण कहलाता है। प्रत्येक वेद के ब्राह्मण अलग-अलग होते हैं[1]।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय

विषय की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रंथों के चार भाग हैं: विधि-भाग, अर्थवाद-भाग, उपनिषद्-भाग और आख्यान-भाग। विधि-भाग में मुख्यतः कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विधानों का वर्णन है। इसके साथ-साथ वेदमन्त्रों की अर्थ-मीमांसा और वैदिक शब्दों की निष्पत्ति भी प्रथम भाग का विषय है। दूसरे अर्थवाद-भाग में प्ररोचनात्मक विषय वर्णित है। यज्ञ-विधियों को समझने के लिए अर्थवाद को समझने की आवश्यकता है। अर्थवाद, उन निर्देश-वाक्यों को कहते हैं, जिनमें यज्ञ के विधानों का उल्लेख है। जैसे अमुक यज्ञ करने से अमुक फल की प्राप्ति होती है, अमुक यज्ञ करने के लिये अमुक विधियों की आवश्यकता है, इत्यादि आज्ञायें अर्थवाद-भाग में वर्णित हैं। मीमांसाकार महर्षि जैमिनि ने अर्थवाद के प्रधान तीन भेद किये हैं : गुणवाद, अनुवाद, और भूतार्थानुवाद। भूतार्थानुवाद को पुनः सात भेदों में विभक्त किया है : स्तुत्यर्थवाद, फलार्थवाद, सिद्धार्थवाद, निरर्थवाद, परकृति, पुराकल्प और मंत्र। 'विहितकार्ये प्ररोचना निषिद्धकार्ये निवर्त्तना-अर्थवादः' अर्थात् विधि का अनुकरण और निषेध की निन्दा करने वाले वाक्यों को 'अर्थवाद' कहा जाता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के तीसरे उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्त्व के विषय में विचार किया गया है। चौथे आख्यान भाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों और राजवंशों की कथायें वर्णित हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों की एक बड़ी विशेषता यह भी

१. That portion of the Vedas which states rules for the employment of the hymns at the various sacrifices, their origin and detailed explanation with sometimes lengthy illustrations in the shape of ligends and stories, It is distinct from the mantra portion of the Vedas. page 87 to 88.

है कि ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू जाति के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक जीवन के विकास की परंपरा का पता लगाने के लिए उनमें अनुसंधानोपयोगी पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री बिखरी हुई है।

ऋग्वेद-संहिता के ब्राह्मण

प्रत्येक वेद के अपने अलग-अलग ब्राह्मण-ग्रंथ हैं। ऐसा उल्लेख मिलता है, कि ११३० वैदिक संहिताओं के उतने ही ब्राह्मण ग्रंथ भी थे, जिनमें संप्रति केवल १८ ही उपलब्ध हैं। ये अष्टादश ब्राह्मण गद्य में है।

ऋग्वेदसंहिता के दो ब्राह्मणग्रन्थ हैं: ऐतरेय और कौषीतकी। उपलब्ध 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ४० अध्याय हैं, जो कि आठ पंचकों में विभक्त हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' को इतरा नामक एक शूद्रा दासी के पुत्र महीदास की रचना माना गया है। इस ब्राह्मण-ग्रन्थ के अन्तिम दस अध्यायों के साथ पूर्व के तीस अध्यायों का मिलान करने पर कुछ विद्वानों ने उनकी पारस्परिक भिन्नता के कारण उन्हें अनेक व्यक्तियों द्वारा निर्मित माना है। ये दस अध्याय ऐतिहासिक आख्यानों से भरपूर हैं। ऐतरेय के मुख्य देवता ३३ हैं, जिनमें इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण का रचनाकाल

'ऐतरेय ब्राह्मण' के रचनाकाल के संबंध में डॉ० जयसवाल का कथन है कि 'इस वैदिक ग्रंथ का रचनाकाल ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व के लगभग माना जाता है। उसके अंत में राजा परीक्षित के पुत्र राजा जनमेजय तक का उल्लेख है। उसमें दिए हुए उत्तर-कुरुओं के इतिहास से भी यही सूचित होता है कि उसका रचनाकाल बहुत प्राचीन है। परवर्ती वैदिक साहित्य में उत्तर-कुरु लोग पौराणिक कोटि में आ जाते हैं और उनका देश भी पौराणिक कोटि में चला जाता है; पर जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, ऐतरेय ब्राह्मण में उनका उल्लेख एक ऐतिहासिक समाज या जाति के रूप में है।'[1]

'ऐतरेय ब्राह्मण' पर गोविंद स्वामी और सायणाचार्य के प्रामाणिक भाष्य हैं। सायण-भाष्य के संप्रति चार संपादित संस्करण मिलते हैं। मार्टिन हाग ने पहले-पहल १८६३ ई० में अंग्रेजी अनुवाद के साथ संपादन करके इसको

---

१. जयसवाल : हिन्दू राजतन्त्र १, पृ० २२५-२२६।

प्रकाशित किया; दूसरे संस्करण का संपादन १८७९ ई० में थ्यूडोर आउफरेस्टन ने, तीसरा संस्करण १८९६ ई० में पंडित काशीनाथ शास्त्री ने और चौथा संस्करण ए० बी० कीथ ने संपादित किया।

ऋग्वेद-संहिता का दूसरा ब्राह्मण 'कौषीतकी' या शांखायन है। इसमें ३० अध्याय हैं और निर्विवाद रूप से इसको एक ही व्यक्ति की रचना माना गया है। यज्ञ की श्रेष्ठता तथा शास्त्रीय व्याख्या का विस्तृत प्रतिपादन करना इसका विषय है। कुषीतक ऋषि के पुत्र कौषीतक इस ब्राह्मण के प्रमुख उपदेष्टा हैं। 'कौषीतकी ब्राह्मण' पर माधव के पुत्र विनायक पंडित का प्रामाणिक भाष्य है, जिसके संप्रति दो प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं। पहले संस्करण के संपादक लिंडनर महोदय और दूसरे संस्करण के कीथ हैं। क्रमशः १८८७ ई० और १९२० ई० में दोनों संस्करण प्रकाशित हुए।

ये दोनों ब्राह्मण-ग्रंथ समान धर्म-कर्मी और पारस्परिक घनिष्ठ संबंधी होने पर भी स्थान-स्थान पर विरोधी विचारों के प्रतिपादक हैं। एक बात तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों में यह विदित होती है कि कौषीतकी में विषय-प्रतिपादन करने की जो क्षमता विद्यमान है, ऐतरेय में वैसा नहीं दिखाई देता। इन दोनों में ऐतिहासिक, भौगोलिक और शैक्षणिक दृष्टि से उपयोगी शोधपूर्ण सामग्री विद्यमान है। इनके आख्यानों, अभियज्ञों, गाथाओं और कारिकाओं से विदित होता है कि किस मंत्र का, किस समय, किस विधि से आविर्भाव हुआ।

यजुर्वेद-संहिता के ब्राह्मण

यजुर्वेद की दो शाखाओं—कृष्ण और शुक्ल—का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। यजुर्वेद की संहिता, ब्राह्मण और अनुक्रमणिका में प्रायः कोई भेद नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी और काटक संहिताओं के ब्राह्मण एक प्रकार से उनके परिशिष्ट का अंश ही है। आपस्तंब और आत्रेय शाखा का ब्राह्मण-ग्रंथ स्वतंत्र रूप से प्रकाशित है। जिसका नाम 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' है। इस पर सायणाचार्य और भास्कराचार्य के प्रामाणिक भाष्य हैं। इसके पूना और कलकत्ता से क्रमशः १८९९ ई० तथा १८९० ई० में दो संस्करण निकल चुके हैं।

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के तीन भाग, २५ प्रपाठक और ३०८ अनुवादक हैं। इसमें मनुष्य-बलि अर्थात् पुरुषमेध, चतुर्वर्ण, चतुर्विध आश्रमों की व्यवस्था और उनके कर्तव्यों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व, दोनों शाखाओं के ब्राह्मण-ग्रंथों का नाम 'शतपथ' है। यह ब्राह्मण-ग्रंथ पूर्ण और क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित है। इसमें सौ अध्याय हैं। इसलिए इसको 'शतपथ' अर्थात् सौ रास्तों वाला कहा गया है। इस ब्राह्मण में १४ कांड हैं, जिनमें प्रथम नौ कांड, एक प्रकार से, वाजसनेय संहिता के प्रथम १८ अध्यायों की टीका के रूप में हैं। प्रथम पाँच कांडों के और अंतिम चौदहवें कांड के रचयिता महर्षि शांडिल्य बताये जाते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के तीन प्रामाणिक भाष्य उपलब्ध हैं, जिनके निर्माता हैं: हरिस्वामी, सायण और कवींद्र सरस्वती। इन भाष्यों पर अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं।

वेबर महोदय ने सायण-भाष्य, हरिस्वामी-भाष्य और गंगाचार्य-टीका के सहित १८५५ ई० में 'शतपथ ब्राह्मण' का एक सुसंपादित संस्करण प्रकाशित किया। श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी १९१२ ई० में केवल सायण-भाष्य-सहित एक प्रामाणिक संस्करण संपादित एवं प्रकाशित किया। 'शतपथ' के ३३ देवताओं का उल्लेख इस प्रकार है: ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ आकाश और १ पृथिवी।

शतपथ ब्राह्मण का ऐतिहासिक महत्त्व

'शतपथ ब्राह्मण' का बहुत बड़ा ऐतिहासिक मूल्य है। उसके एक मंत्र में इतिहास को कला के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] बृहदाकार की दृष्टि से जिस प्रकार वेदों में ऋग्वेद को सर्वाधिक विशालकाय माना गया है ठीक उसी प्रकार वैदिक साहित्य के समग्र ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'शतपथ' सबसे बड़ा है। इस ब्राह्मण-ग्रन्थ में बारह हजार ऋचाएँ, आठ हजार यजु और चार हजार समय हैं।

'महाभारत' के अनेक उपाख्यानों का मूल यही ब्राह्मण-ग्रंथ है। राम-कथा, कद्रू-सुपर्णा की युद्ध-कथा, पुरूरवा-उर्वशी का प्रेमाख्यान, अश्विनीकुमारों की कथा के अतिरिक्त और भी कतिपय ऐतिहासिक महत्त्व के प्राचीनतम उल्लेख इस ग्रन्थ में वर्णित हैं। संस्कृत-साहित्य के काव्य, नाटक और चंपू प्रभृति अनेकविध ग्रन्थों के निर्माण-सूत्र 'शतपथ' में विद्यमान हैं। एक विश्वकोश के समान संस्कृत-साहित्य के भावी विकास के लिए 'शतपथ-ब्राह्मण' का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है।

---

१. शतपथ-ब्राह्मण—१४।३।१।३५।

शतपथ ब्राह्मण का रचनाकाल

तिलक[1] और पावगी महाराज[2] 'शतपथ ब्राह्मण' को २५०० ई० पूर्व की रचना मानते हैं। किन्तु प्रसिद्ध ज्योतिर्वेत्ता श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित की इस संबंध में दूसरी ही धारणा है। 'शतपथ-ब्राह्मण' में आये 'कृत्तिकाएँ पूर्व में उगती हैं' इस वाक्य (२।१।२।३) की विवेचना में दीक्षित की मान्यता है कि इस वाक्य का वह वर्तमानकालिक प्रयोग है, परन्तु अयनचलन के कारण उनका सर्वदा पूर्व में उगना असंभव है। वे आजकल उत्तर में उगती हैं। शकपूर्व ३१०० वर्ष के पहिले वे दक्षिण में उगती थीं। इससे यह सिद्ध होता है कि 'शतपथ ब्राह्मण' के जिस भाग में ये वाक्य आये हैं, उनका रचनाकाल शकपूर्व ३१०० वर्ष के आसपास है।[3]

सामवेद-संहिता के ब्राह्मण

सामवेद की तीन संहिताएँ उपलब्ध हैं: कौथुमीय, जैमिनीय और राणायणीय। पहली कौथुमीय संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ चालीस अध्यायों में विभक्त हैं। इन चालीस अध्यायों में विभाजित पाँच ब्राह्मणों के नाम हैं: पंचविंश-ब्राह्मण या ताण्ड्य-ब्राह्मण, षड्विंश-ब्राह्मण, अद्भुत-ब्राह्मण, मंत्र-ब्राह्मण और पाँचवाँ है छान्दोग्य-ब्राह्मण। प्रथम पच्चीस अध्यायों को 'पंचविंश-ब्राह्मण', इक्कीस से तीस तक के छः अध्यायों को 'षड्विंश-ब्राह्मण', तीसवें अध्याय के अन्तिम भाग को 'अद्भुत-ब्राह्मण', इक्कीस से बत्तीस तक के दो अध्यायों को 'मंत्र-ब्राह्मण' और अन्त के आठ अध्यायों को 'छांदोग्य-ब्राह्मण' कहते हैं। 'छान्दोग्य-ब्राह्मण' का एक अंश 'दैवत-ब्राह्मण' के नाम से भी प्रचलित है। 'छान्दोग्य-ब्राह्मण' ही 'छांदोग्य-उपनिषद्' भी है।

'पंचविंश-ब्राह्मण' का दूसरा नाम 'ताण्ड्य-ब्राह्मण' भी है। इसका यह दूसरा नामकरण इसलिए हुआ कि इसको ताण्डिनामक ऋषि के वंशजों एवं शिष्यों ने प्रचारित एवं प्रसारित किया था। सामवेद का मुख्य ब्राह्मण होने के कारण 'महाब्राह्मण' या 'प्रौढ-ब्राह्मण' के नाम से भी इसकी प्रसिद्धि है। इसकी प्रसिद्धि का एक कारण यह भी है कि इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक

---

१. तिलक : आर्क्टिक होम ऑफ दि वेदाज, पृ० १, ३८७

२. पावगी : दि वैदिक फादर्स ऑफ जियोलॉजी, पृ० ७२ (ए) तथा दि आर्यावर्तिक होम एण्ड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिंधुज, पृ० २५, २७

३. दीक्षित : भारतीय ज्योतिष, पृ० १८१, २०५ (हिन्दी संस्करण)

उपाख्यान और समाजशास्त्रविषयक सामग्री भरपूर है। सायणाचार्य इसके प्रमुख भाष्यकार और हरिस्वामी प्रधान वृत्तिकार हुए। इसी प्रकार 'अद्भुत-ब्राह्मण' में भी शकुनशास्त्रविषयक अद्भुत बातें उल्लिखित हैं।

सामवेद की कौथुमीय संहिता के उक्त ब्राह्मण-ग्रंथों के अतिरिक्त जैमिनीय संहिता के भी दो ब्राह्मणग्रन्थ हैं, जिसके नाम हैं : जैमिनीय-ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण। इन दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थों को क्रमशः 'आर्षेय-ब्राह्मण' और 'छान्दोग्य-ब्राह्मण' भी कहा जाता है। ये दोनों संप्रति प्रकाशित हैं। तीसरी राणायणीय-संहिता का कोई ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है।

इन ब्राह्मणग्रन्थों की पूर्वापर गणना का उनके ऐतिहासिक क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'जैमिनीय-ब्राह्मण' 'पंचविंश ब्राह्मण' से प्राचीन माना जाता है। इसमें ऐतिहासिक महत्त्व की ऐसी अनेक धार्मिक एवं पौराणिक कथायें वर्णित हैं, जिनमें संस्कृत के कथा-साहित्य की प्राचीनतम परम्परा का आरम्भ खोजा जा सकता है। खेद का विषय है कि यह पूर्ण एवं प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है। इसके कुछ अंश ही सम्पादित हुए हैं।

सामवेद के प्रकाशित ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मण आठ भागों में प्रकाशित हुये हैं। सभी पर सायण का प्रामाणिक भाष्य है। १८७४ ई० में सायण भाष्य के साहित ए० सी० वेदांत वागीश ने 'ताण्ड्य-ब्राह्मण' या 'पंचविंश-ब्राह्मण' को कलकत्ता से दो जिल्दों में प्रकाशित करवाया। 'षड्विंश' को के० क्लेभ ने और एच० एस० एलसिंग ने क्रमशः १८९४ तथा १९०८ में प्रकाशित करवाया। १८९० में 'मन्त्रब्राह्मण' को सत्यव्रत सामश्रमी ने प्रकाशित करवाया। १८५८ में 'अद्भुतब्राह्मण' को वेबर ने बर्लिन से प्रकाशित करवाया। १८८९ में 'छांदोग्योपनिषद् ब्राह्मण' को ओ० वोटलिंग ने छपवाया। 'दैवत ब्राह्मण' को १८७३ में कर्नेल ने और दूसरा संस्करण सत्यव्रत सामश्रमी ने निकलवाया। कर्नेल ने १८७६ में 'आर्षेय-ब्राह्मण' को भी छपवाया। 'आर्षेय' को कैलेण्ड ने भी छपवाया। 'वंश-ब्राह्मण' को बँगला अनुवाद के सहित सामश्रमी जी ने तथा उसी का दूसरा संस्करण वेबर ने और तीसरा संस्करण १८७३ में बर्नेल ने छपवाया। 'संहितोपनिषद्' को १८७७ में बर्नेल ने तथा 'साम-विधान-ब्राह्मण' को १८७३ में सायणभाष्य-सहित बर्नेल ने प्रकाशित करवाया। कोनो ने भी १८९३ में इसका एक

संस्करण निकाला। १८९६ में इसी का एक भारतीय (?) संस्करण भी निकला।

बर्नेल ने १८७८ में 'जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण' को और १९२१ में एच० एर्टल ने 'जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण' को प्रकाशित करवाया 'जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण' का एक डच भाषा का संस्करण भी कैलेण्ड ने छपवाया।

अथर्ववेद-संहिता का ब्राह्मण

अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं : पैप्पलाद, स्तौदा, मौजा, शौनकीया, जालला, जलदा, ब्रह्मवदा, देवदर्शा और चारणवैद्या। अथर्ववेद-संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नाम 'गोपथ-ब्राह्मण' है। इसमें दो काण्ड या खण्ड हैं, जो ग्यारह अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम काण्ड में पांच अध्याय और दूसरे काण्ड में छः अध्याय हैं। अध्यायों को प्रपाठक भी कहा गया है। वस्तुतः 'गोपथ ब्राह्मण' वेदान्त श्रेणी का ग्रन्थ है। उसमें कुछ अंश तो 'शतपथ' तथा 'ताण्डय' से उद्धृत है और कुछ अंश बहुत बाद के रचे हुए जोड़े गये हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथों की उपयोगिता

इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में जहाँ एक ओर सांसारिक क्रिया-कलाओं का वर्णन है, वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक विषय का भी गम्भीर चिन्तन है। वैदिक साहित्य में बाह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन की ओर विद्वानों की अतिशय अभिरुचि उनकी उपयोगिता का परिचायक है। विशेष रूप से विदेशी विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशीलन पर बड़ा श्रम किया है। प्रायः सभी ब्राह्मण-ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का श्रेय विदेशी विद्वानों को ही है। इस कार्य के लिए भारत सदा उनका कृतज्ञ रहेगा।

कुछ विद्वान् यद्यपि ब्राह्मण-युग को वैदिक युग की सुकोमल भावना की जगह कट्टरपंथी धर्म की स्थापना का युग मानते हैं;[1] किन्तु यज्ञ, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि मानवोपयोगी महनीय विशेषताओं के विश्वास की बातें भारतीय जीवन में ब्राह्मण-युग से ही आरम्भ हुई हैं।[2]

ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ को सर्वोपरि कर्म कहा गया है : 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'; और साथ ही यह भी उनमें वर्णित है कि यज्ञ करने से मनुष्य सब पापों

१. डा० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, पृ. १२५

२. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त : इण्डियन आइडियलिज्म, पृ. ३

से विमुक्त हो जाता है : 'सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।' यज्ञ करने से वैयक्तिक आत्मोद्धार के अतिरिक्त सामाजिक कल्याण भी होता है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही कहा गया है कि यज्ञ करने से सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण होता है। यज्ञ में दी गई हवि वायु के द्वारा अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर सूर्य तक पहुँचती है और मेघों के साथ मिश्रित होकर वर्षा के रूप में पृथिवी को अभिषिक्त करती है[1]। वर्षा से अन्न की उपलब्धि होती है और धन-धान्य-सम्पन्न होकर प्रजा सुखपूर्वक जीवन-यापन करती है।[2] हवि से देवगण प्रसन्न होते हैं और वे प्रजा का कल्याण करते हैं। यज्ञ करने से ऐहिक विपत्तियाँ तो विनष्ट हो ही जाती हैं, मनुष्य जन्म-मरण के असाध्य कष्ट से भी मुक्त हो जाता है।[3]

ब्राह्मणग्रन्थों के उक्त विधान वैज्ञानिक दृष्टि से कितने महत्त्व के हैं! ब्राह्मण-ग्रन्थकारों की यह वैज्ञानिक दृष्टि, कि हवि अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर वर्षा के रूप में फिर धरती के अन्न-जल की वृद्धि करती हैं, बहुत ही सूक्ष्म, सन्तुलित एवं अनुभूत दृष्टि है।

ब्राह्मणग्रन्थों में सत्य की महिमा पर बड़ा बल दिया गया है। उनमें स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया है कि जो असत्य बोलता है वह अपनी पवित्रता का हनन कर अपना ही अनिष्ट करता है।[4] ब्राह्मणग्रन्थों के इन लोकोपकारी विचारों एवं उच्चतम सिद्धान्तों की छाया में तथागत भगवान् बुद्ध ने अपनी वाणी से प्रयोगात्मक परीक्षण किया। सत्य को यहाँ साक्षात् वेदस्वरूप कहा गया है।[5] इसलिए ब्राह्मणग्रन्थ आर्य जाति के प्राण-सर्वस्व के रूप में पूजे जाते रहे हैं। उनमें भारत का प्राचीनतम ज्ञान-विज्ञान एक साथ समाविष्ट है। उसकी सम्पूर्ण संस्कृति और उसके व्यापक साहित्य के सूत्र भी उसमें सुरक्षित हैं।

१. अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः—शतपथ ५।३।५।१७
२. विशुद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति—ऐतरेय २।४१
३. पुनर्मृत्युं मुच्यते य एवमेतामग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिं वेद—शतपथ २।३।३।९
४. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति—शतपथ ३।१।३।८
५. तद्यत्तत् सत्यं त्रयी सा विद्या—शतपथ ९।५।१।१८

आरण्यक-ग्रंथ

वैदिक साहित्य के प्रपूरक अंग संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं। इस दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रंथों के बाद आरण्यक-ग्रंथों का स्थान आता है। संहिताओं का अंतिम भाग ब्राह्मण, ब्राह्मणों का अंतिम भाग आरण्यक और आरण्यकों का अंतिम भाग उपनिषद् हैं। 'बोधायन-धर्मसूत्र' में तो आरण्यकों को भी ब्राह्मण कहा गया है[1]। वस्तुतः कर्मकांडविषयक ग्रंथ होने के कारण ब्राह्मणों और आरण्यकों में विशेष अंतर नहीं है।

मंत्र-संहिताओं और ब्राह्मणों की ही भाँति आरण्यक-ग्रंथों की भी संख्या ११३० थी, किंतु जिस प्रकार संहिताएँ और ब्राह्मण कुछ ही उपलब्ध हैं, उसी प्रकार आरण्यक भी केवल आठ ही प्राप्य हैं; जिनके नाम हैं : ऐतरेय आरण्यक, शांखायन आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, बृहदारण्यक, माध्यन्दिन-बृहदारण्यक, काण्व-बृहदारण्यक, जैमिनीयोपनिषदारण्यक और छांदोग्यारण्यक।

नामकरण

'आरण्यक' नाम को देखते हुए सामान्यतया विदित हो जाता है कि अरण्यों में विरचित होने के कारण इनका ऐसा नामकरण हुआ है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने आरण्यक-ग्रंथों के नामकरण के संबंध में स्पष्ट किया है कि अरण्यों अर्थात् वनों में पढ़ाए जाने के कारण इनका नाम 'आरण्यक' पड़ा : अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।' वनवासी वान-प्रस्थियों के यज्ञ-यागादि विधानों को संपन्न करनेवाले ग्रंथ ही आरण्यकों के नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

१. बोधायन-धर्मसूत्र, ३।७।७।१६

सदाशिव वामन आप्टे ने अपने सुप्रसिद्ध 'संस्कृत-अंग्रेजी-कोश' में 'आरण्यक' शब्द की व्याकरण-संमत व्याख्या करके स्पष्ट किया है कि 'आरण्यक-ग्रन्थ एक प्रकार से धार्मिक एवं दार्शनिक लेख हैं, जो कि ब्राह्मणों से संबंधित हैं, जिनका निर्माण या तो अरण्यों (वनों) में हुआ या तो वनों में पढ़ाए जाने के लिए वे निर्मित हुए। जैसे ऐतरेय आरण्यक, बृहदारण्यक और तैत्तिरीय आरण्यक आदि ग्रन्थों के अध्ययन, नाम और विषय से विदित होता है। अरण्य शब्द में 'भव' अर्थ में वुञ् प्रत्यय जोड़ देने से 'आरण्यक' शब्द व्युत्पन्न होता है'।[1]

आरण्यक-ग्रंथों का विषय

आरण्यक अर्थात् अरण्यों में उद्भूत सांसारिक विषय-वासनाओं एवं नानाविध बाधा-बंधनों का परित्याग कर और शांत, एकांत, जनकोलाहल से दूर वनों में रहकर ऋषिश्रेष्ठों ने जिस ब्रह्मविद्याविषयक महान् ज्ञान का साक्षात्कार किया था, उसी का संग्रह आरण्यक ग्रन्थों में परिपूरित है।

जिस प्रकार गृहस्थाश्रम के यज्ञ-विधानों और दूसरे कतिपय कर्मों का प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित है, उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रम के जितने भी यज्ञ, महाव्रत तथा हौत्र आदि कर्म हैं उनकी विधियाँ और व्याख्याएँ आरण्यक ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। आरण्यक, वानप्रस्थियों के कर्मकांड-ग्रन्थ तो हैं ही, साथ ही उनमें यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या का प्रतिपादन भी बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। उनमें कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग, दोनों का समन्वय है। उपनिषद्-ग्रन्थों में जिस विस्तृत ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन है, उसका मूलाधार ये आरण्यक-ग्रथ ही हैं।

ऐतरेय और कौशीतकी दोनों के आरण्यक-ग्रन्थों के पहिले भाष्यकार सायण और दूसरे शंकर हुए। शांकर-भाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकारों में आनंदज्ञान, आनंदगिरि, आनंदतीर्थ, अभिनव नारायण, नारायणेंद्र सरस्वती,

---

१. It is one of a class of religious and philosophical writings. (Connected with Brahamans) which are either composed in forests, or must be studied there, E. G. ऐतरेयारण्यकं, बृहदारण्यकं and तैत्तिरीयारण्यकम्। आरण्येऽनूच्यमानत्वात् आरण्यकम्; अरण्येऽध्ययनादेव आरण्यकमुदाहृतम्। अरण्ये भवमिति आरण्यकम् (अरण्य+वुञ्), पृ० १३-१४.

नृसिंहाचार्य और कृष्णदास के नाम उल्लेखनीय हैं। काण्व शाखा के 'बृहदारण्यक' पर रंग रामानुज, सायण और शंकर ने प्रामाणिक भाष्य लिखे। शांकर-भाष्य के प्रमुख टीकाकारों में हुए आनंदतीर्थ, रघूत्तम और व्यासतीर्थ। इस आरण्यक-ग्रन्थ पर लिखी गई सुप्रसिद्ध वृत्तियों में गंगाधर की 'दीपिका', नित्यानंदाश्रम की 'मिताक्षरा', मथुरानाथ की 'लघु' और राघवेंद्र की 'खंडाग्र' उल्लेखनीय हैं। यजुर्वेद की आपस्तम्ब और आत्रेय शाखा के ब्राह्मणग्रन्थ में 'तैत्तिरीय' का उल्लेख यथास्थान हो चुका है। इसी ब्राह्मणग्रन्थ का शेष अंश 'तैत्तिरीय-आरण्यक' है। इस पर भी सायण, भास्कर मिश्र और वरदराज के प्रामाणिक भाष्य हैं।

उपनिषत्-साहित्य

भारतीय विचार-परंपरा के इतिहास में उपनिषद्-ग्रन्थों के आविर्भाव से वैदिक साहित्य में एक सर्वथा नये युग का सूत्रपात होता है । ब्राह्मण-ग्रंथों से लेकर उपनिषद् ग्रंथों तक संपूर्ण वैदिक साहित्य मंत्र-संहिताओं का ही व्याख्यारूप है। मंत्र-संहिताओं की व्याख्या का एक ही आधार लेकर चलने वाले ब्राह्मण-ग्रंथ और उपनिषद्-ग्रंथ वस्तुतः एक दूसरे से पूरब-पश्चिम जितनी असमानता रखते हैं । यद्यपि उपनिषद्-ग्रंथों का सीधा संबंध मंत्र-संहिताओं से है, किन्तु उन्हें ब्राह्मण-साहित्य का आलोचना-ग्रंथ कहा जाय तो अनुचित न होगा ।

उपनिषद्, वैदिक-भावना के विकासरूप हैं । कर्म और ज्ञान दोनों की उद्भावना वेदों में वर्णित है । कर्म-भावना को लेकर ब्राह्मणों की रचना हुई और ज्ञान-भावना को लेकर उपनिषद् रचे गये । कर्म-प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों का विधान जब पशु-हिंसा जैसे स्थूल कार्यों तक पहुँच गया तब उस समय के विचारवन्त मनीषियों ने कर्मकाण्ड की इस स्थूलता के प्रति अविश्वास की भावनायें व्यक्त कीं । उन्होंने पुरोहितों द्वारा प्रतिपादित इन भोगवादी, नितान्त-स्वार्थपूर्ण कर्मों को हेय कहकर पुकारा । कर्मकाण्ड के इस हेय पक्ष के विरोध में ज्ञानकाण्ड का जन्म हुआ, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् कहलाये । उपनिषद्-ज्ञान के आविर्भाव के कारण भारतीयसाहित्य में इतना महान् परिवर्तन हुआ कि उसकी कायापलट हो गई । यह उपनिषद्-युग भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा का युग रहा है । इस युग में नये अन्वेषण, नई मान्यतायें और नये चिन्तन हुए । जीवन, जगत् और ब्रह्म-विषयक जिन गूढ ग्रन्थियों का समाधान एवं महती जिज्ञासाओं का स्पष्टीकरण इस युग में हुआ वैसा संसार के इतिहास में आजतक नहीं दिखाई देता ।

यद्यपि उपनिषद् भी वेद-वचनों को ही संबल रखकर आगे बढ़े, तथापि वेदों और उपनिषदों में जीवन की शाश्वत मान्यताओं के प्रति अपने-अपने ढंग से विचार किया गया है। वैदिक युग आनन्द और उल्लास का युग रहा है। इसीलिए आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की चिन्तनायें न तो वेदों में वर्णित हैं और न ही उन पर विचार करने की अपेक्षा वैदिक ऋषियों ने आवश्यक समझी। आत्मा और शरीर की पृथक्ता का विचार वेदों में अवश्य है, किन्तु आत्मा का आवागमन उनमें नहीं बताया गया है। यह विषय उपनिषद्-ग्रन्थों के आविर्भाव के बाद उठाया गया और इस पर भरपूर प्रकाश भी उपनिषद्-ग्रंथों में ही डाला गया। इस दृष्टि से वेद और उपनिषद् परस्पर सर्वथा विरोधी सिद्धान्तों को मानने वाले सिद्ध होते हैं। वेदों के आनंदमय और प्रेममय जीवन में निरानंद और उदासी का वातावरण तथा वेदों के निश्चित और स्वच्छन्द जीवन में चिन्ता और भय का उदय उपनिषद्-ग्रन्थों की अवतारणा के बाद आरंभ होता है। जन्म, मरण, संन्यास और वैराग्य की भावनाओं का सूत्रपात उपनिषद्-ग्रन्थों से शुरू होता है।

वैदिक साहित्य के विधायक संहितायें, ब्राह्मण और उपनिषद्, इन तीनों विषयों के मूल में हमें उनकी सर्वथा असमान प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। संहिताओं के प्रमुख उद्देश्य की सीमाओं में न तो ब्राह्मण-ग्रन्थ ही रहे और न उपनिषद् ही। इसी प्रकार एक ही मूल उद्गम से उद्भूत ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषद्-ग्रन्थों की दो विचारधाराएँ भी सर्वथा विरोधी मार्ग की अनुगामिनी रही हैं। उदाहरण के लिए 'मंत्र का नाम पहिले ब्रह्म था। पीछे ब्रह्मा उसे कहने लगे, जो वेदी के समीप बिठाया जाता था। और भी पीछे चलकर ब्रह्म सृष्टि के अध्यक्ष का वाचक हो गया'।[1]

धर्म की जिस व्यापक भावना को लेकर वैदिक संहितायें चलीं, ब्राह्मण-ग्रंथों ने उसको एकांगी, संकुचित और सर्वथा व्यक्तिगत रूप दे दिया। कर्मकाण्डप्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों ने धर्म के जिस स्थूल पक्ष का प्रतिपादन किया, उसके सर्वथा विपरीत ज्ञानकाण्डप्रधान उपनिषद्-ग्रंथों ने धर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप पर विचार किया। धर्म-मीमांसा के संबंध में दोनों युगों का अलग-अलग दृष्टिकोण रहा है। ब्राह्मण-काल वैदिक धर्म की अवनति का समय और उपनिषद्-काल वैदिक धर्म की चरमोन्नति का समय रहा है।

---

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ८२ का फुटनोट।

उपनिषद्-युग विचार-क्रांति का संघर्षमय युग रहा है। वेदों के उन्मुक्त एवं भावनाप्रधान ऋषियों को उपनिषद्-युग में हम गंभीर चिन्तन और एकाग्र मनन में लगे हुए पाते हैं। उपनिषद्-युग की इस विचारधारा और भारत की तत्कालीन बौद्धिक क्रांति के संबंध में दिनकरजी का कथन है कि 'उतने प्राचीनकाल में, ऐसा प्रचण्ड चिन्तन! सोचकर हृदय निस्तब्ध रह जाता है।' इस प्रचण्ड चिन्तन की अनेक विधियों का विकास आगे चलकर षड्-दर्शनों में दिखाई देता है। उपनिषद्-ग्रन्थों के ही ज्ञान-सूत्रों की व्याख्या दर्शन-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है। शंकर, मध्व और रामानुज का क्रमशः अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत उपनिषद्-ज्ञान के ही विभिन्न पक्ष हैं, जिनसे कि दर्शनों का जन्म हुआ।

वेद, ब्राह्मण और उपनिषद्, इन तीनों विषयों की शैली, सरणि और उद्‌देश्य का वैज्ञानिक अध्ययन करने के पश्चात् हमें विदित होता है कि 'वेदों के कर्ता कवि थे, ब्राह्मणों के पुरोहित और उपनिषदों के रहस्यवादी संत।'

व्युत्पत्ति

बृहद् वैदिक साहित्य में आरण्यक-ग्रन्थों के बाद उपनिषद्-ग्रन्थों का क्रम आता है और यहीं पर वैदिक साहित्य की सीमा टूट कर अलग हो जाती है। उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग होने के कारण 'वेदान्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपनिषद्-ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थान हैं: उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र। उपनिषद् श्रवणात्मक, गीता निदिध्यासनात्मक और ब्रह्मसूत्र मननात्मक हैं।

उप + नि, इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड़ देने के बाद 'उपनिषद्' शब्द व्युत्पन्न होता है। 'सद्' धातु अनेकार्थक है। विशरण (विनाश), गति (ज्ञान, प्राप्ति) और अवसान (शिथिल, समाप्ति) उसके कई अर्थ हैं। इन सभी अर्थों की संगति 'उपनिषद्' शब्द के साथ बैठ जाती है। इस दृष्टि से 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ हुआ जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है, जिससे संसार की कारणभूत अविद्या के बंधन शिथिल पड़ जाते हैं या

समाप्त हो जाते हैं और जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, वही उपनिषद् विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। 'उपनिषादति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकरणभूतामविद्यां च शिथिलयति च, ब्रह्म च गमयति— इति उपनिषद्।')

अथवा उप (व्यवधान-रहित) नि (सम्पूर्ण) पद् (ज्ञान) के प्रतिपादक ही उपनिषद् हैं अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान, जो ज्ञेय से अभिन्न, देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित परिपूर्ण ब्रह्म ही उपनिषद् शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है। क्योंकि ज्ञान स्वतःप्रमाण, स्वयंप्रकाश, देशकालावधिपरिच्छेदरहित, विषयपरिच्छेदरहित, कर्तृत्व-ज्ञेयत्व-भेदातीत, हेतुफलात्मक, शून्य, अबाध्य, अनिर्वचनीय है; अतएव ऐसे ज्ञान के प्रतिपादक 'उपनिषद्' भी तद्वद्विशिष्ट हैं। आप्टे महोदय कृत 'संस्कृत-अंग्रेजी-कोष' में उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। आप्टे साहब के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द स्त्रीलिंग है। उसकी व्युत्पत्ति उप + नि + पूर्वक सद् (बैठना) धातु से हुई है। इसका अर्थ वह ज्ञान है जो गुरु के चरणों के समीप बैठकर प्राप्त किया जाता है; किन्तु भारत के अधिकारी विद्वानों के मतानुसार उपनिषद् का निर्वचन इससे कुछ भिन्न, ब्रह्मज्ञान के उपदेश के द्वारा अविद्या का नाश कर सांसारिक जीवनरूपी बंधन का उच्छेद करना है। शंकराचार्य के मतानुसार आत्मविस्मृतिपूर्वक श्रद्धा और भक्ति के साथ जो लोग ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, उनके गर्भवास, जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोग आदि अनर्थों का जो नाश करती है तथा ज्ञेय ब्रह्म को प्राप्त करती हुई, उनकी अविद्या आदि को जो संसार के कारण है, जमूल नष्ट करती है, वह, उप + नि + पूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ स्मरण होने से उपनिषद् है[1]।

---

१. उपनिषद् (Said to be from उप–नि–सद् 'Knowledge deriver from Sitting at the feet of the preceptor, but accordig to the India authorities, it means to destroy ignorance by reicating the Knowledge of the supreme spiritual cutting of the hands of wordly existance' : य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसरः संतस्तेषां गर्भजन्यजरारोगाद्यवर्गं विनाशयति परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्या-संसारकारणं चात्यंतमवसादयति विनाशयति, इत्युपनिषद्, उपनिपूर्वस्य सादेरे-वमर्थसंस्मरणात् Sankar)

प्रमुख उपनिषद्

प्रमुख उपनिषद् बारह हैं, जिनके नाम हैं : ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकी और श्वेताश्वतर। इन सभी पर शंकराचार्य का प्रामाणिक भाष्य है। बाद में शांकरमतानुयायियों ने भी उन पर टीकायें लिखी हैं। शंकराचार्य के अतिरिक्त रामानुज, निंबार्क, वल्लभ, मध्व, आदि जितने भी सम्प्रदाय-प्रवर्तक शीर्षस्थ आचार्य हुए हैं, उन सभी ने तथा उनके सम्प्रदाय-अनुवर्ती विद्वानों ने उक्त द्वादश उपनिषद्-ग्रन्थों पर भाष्य और टीकायें लिखीं। इन बारह उपनिषद्-ग्रन्थों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. ईशावास्य

शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के अन्तिम चालीसवें अध्याय का नाम 'ईशावास्योपनिषद्' है। 'केनोपनिषद्' की तरह इस उपनिषद्-ग्रन्थ का नामकरण भी 'ईशावास्यम्' इस आरम्भिक पंक्ति से हुआ है। ब्रह्मविद्या पर संक्षिप्त रूप में बड़ी प्रभावशाली भाषा में प्रकाश डालनेवाला इसके समान दूसरा उपनिषद्-ग्रन्थ नहीं है। इसीलिए समग्र उपनिषद्-साहित्य में इसको प्रमुख स्थान प्राप्त है।

२. केनोपनिषद्

सामवेद की जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ के नवम अध्याय को 'केनोपनिषद्' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी है। यह उपनिषद् 'केन' शब्द से आरम्भ होने के कारण कदाचित् इस नाम से प्रसिद्ध हुआ—'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'। जैमिनीय ब्राह्मण के प्रथम आठ अध्यायों में अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म एवं उपासना पर बल दिया गया है और उसके बाद नवम अध्याय अर्थात् 'केनोपनिषद्' में ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन है। 'केनोपनिषद्' के प्रतिपाद्य विषय का निष्कर्ष है कि जो भी ब्रह्मतत्त्व को जान लेता है वह सांसारिक समस्त पापों से विमुक्त होकर मोक्षत्व को प्राप्त हो जाता है।

३. कठोपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद की कठ-शाखा का अंश है। इसमें दो अध्याय

और छह वल्लियाँ हैं। इसके विषय का आरम्भ उद्दालक ऋषि के विश्वजित्-यज्ञ की कथा से होता है। ब्राह्मण अतिथि नचिकेता द्वारा यमराज से प्रार्थित तीन वरों का इस उपनिषद्-ग्रंथ में बड़ी मार्मिकता से वर्णन किया गया है। नचिकेता ने तीसरा वर ब्रह्मविद्या का मांगा था। यमराज के द्वारा नचिकेता को प्रदत्त ब्रह्मविद्या का उपदेश ही इसका प्रतिपाद्य विषय है।

४. प्रश्नोपनिषद्

अथर्ववेद की पिप्पलाद संहिता के ब्राह्मण-ग्रंथ के एक भाग का नाम 'प्रश्नोपनिषद्' है। पिप्पलाद-संहिता के ब्राह्मण और आरण्यक सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। इस उपनिषद्-ग्रंथ में पिप्पलाद नामक ऋषि द्वारा भारद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यवान्, कोशलवासी अश्वलायन, विदर्भवासी भार्गव, कात्यायन और कबन्धी नामक छः ऋषियों के ब्रह्मविद्याविषयक पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इसी प्रश्नोत्तर के कारण इसका नामकरण 'प्रश्नोपनिषद्' हुआ। यह ग्रंथ गद्यप्रधान है। सारे प्रश्नों का विषय ब्रह्मतत्त्व की जिज्ञासा से सम्बन्धित है।

५. मुण्डकोपनिषद्

यह उपनिषद्-ग्रंथ अथर्ववेद की शौनक संहिता से उद्धृत है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन मुण्डकों में और प्रत्येक मुण्डक दो-दो खण्डों में विभाजित है। सृष्टि की उत्पत्ति और ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन ही इसका विषय है।

६. माण्डूक्योपनिषद्

अथर्ववेद से सम्बन्धित यह एक लघु ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर बारह मन्त्र संगृहीत हैं। इसमें ओंकार के त्रिकालव्यापी महत्त्व के प्रतिपादन के अनन्तर उसकी उपलब्धि का विषय वर्णित है।

७. तैत्तिरीयोपनिषद्

कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ के अन्तिम भाग को 'तैत्तिरीय आरण्यक' कहते हैं। इस आरण्यक में दस प्रपाठक हैं, जिनमें सात से लेकर नौ तक के प्रपाठकों को 'तैत्तिरीय उपनिषद्' भी कहा जाता है। इन तीनों प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली कहा

जाता है। प्रथम शिक्षावल्ली में ओंकार-माहात्म्य के साथ-साथ धार्मिक विधानों का वर्णन, द्वितीय वल्ली में ब्रह्मतत्त्व का विवेचन और तृतीय वल्ली में वरुण द्वारा अपने पुत्र को उपदेश देना वर्णित है।

८. ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम भाग को 'ऐतरेय आरण्यक' कहा जाता है। 'ऐतरेय आरण्यक' के पांच भाग हैं जिन्हें पांच आरण्यक कहा जाता है। द्वितीय आरण्यक के चौथे से छठे, तीन अध्यायों को 'ऐतरेय उपनिषद्' कहा जाता है। इसके इन तीन अध्यायों में क्रमशः सृष्टि, जीव और ब्रह्म, इन तीन तत्त्वों का विवेचन है।

९. छान्दोग्य उपनिषद्

सामवेद की कौथुम शाखा के तीन ब्राह्मण-ग्रन्थों के नाम हैं : तांड्य, षड्विंश और मन्त्र। इनका पर्यवसान ३२ अध्यायों में है। कौथुम संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ में कुल ४० अध्याय हैं। बाकी जो आठ अध्याय बचते हैं उन्हीं का नाम 'छान्दोग्य उपनिषद्' है। कौथुम ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों को 'छान्दोग्य ब्राह्मण' भी कहते हैं। इसी ब्राह्मण-ग्रन्थ का नामान्तर 'छान्दोग्य उपनिषद्' हुआ—यद्यपि इसमें अन्त के कुल आठ ही अध्याय सम्मिलित हैं। यह उपनिषद्-ग्रन्थ बृहदाकार है।

१०. बृहदारण्यकोपनिषद्

शुक्ल-यजुर्वेद की दोनों शाखाओं के ब्राह्मण-ग्रन्थों का नाम 'शतपथ' है। इन दोनों ब्राह्मणों के अन्तिम छह अध्यायों को 'बृहदारण्यक' कहते हैं। यही 'बृहदारण्यकोपनिषद्' है। इसके नाम से ही प्रकट होता है कि इसमें ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों मिले-जुले हैं। आरण्यक भाग से उपनिषद् भाग अधिक है। 'बृहत्' शब्द उसके आकार को व्यक्त करता है। यह ग्रन्थ उपनिषद्-ग्रन्थों में आकार की दृष्टि से सबसे बड़ा है। इसमें सृष्टि और ब्रह्म पर विचार किया गया है।

११. कौषीतकी उपनिषद्

यह उपनिषद्-ग्रन्थ सबसे प्राचीन है। ऋग्वेद के 'कौषीतकी ब्राह्मण' का

एक भाग आरण्यक कहा जाता है, जिसमें पन्द्रह अध्याय हैं। इसी आरण्यक के तीसरे और छठे अध्याय को 'कौषीतकी उपनिषद्' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'कौषीतकी ब्रह्मणोपनिषद्' भी है; क्योंकि कुषीतक नामक ऋषि इसके उपदेष्टा हुए। बृहदारण्यक और छान्दोग्य के बाद आकार की दृष्टि से इसका स्थान है।

१२. श्वेताश्वतरोपनिषद्

कृष्ण-यजुर्वेद के 'श्वेताश्वतर-ब्राह्मण' का एक भाग 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' है। यह ब्राह्मण-ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में छह अध्याय हैं। इसमें ब्रह्मविद्याविषयक गंभीर बातों को जिस सरल, सुंदर तरीके और कवित्वपूर्ण भाषा में समझाया गया है, वैसा दूसरे उपनिषदों में नहीं है।

उपनिषद्-ग्रन्थों की वास्तविक संख्या

इन बारह प्रमुख उपनिषद्-ग्रंथों के अतिरिक्त भी बहुत सारे उपनिषद् हैं जिनकी ठीक संख्या की परिगणना अभी तक नहीं हो पाई है। 'मुक्तिकोपनिषद्' में १०८ उपनिषद्-ग्रन्थों का नाम उल्लिखित है जो कि सभी गुटकाकार रूप में निर्णयसागर प्रेस बंबई से प्रकाशित हैं। अडियार लाइब्रेरी मद्रास से भी एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है, जिसके कई भाग हैं। इन भागों में लगभग १७९ उपनिषद् आये हैं। आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर से भी प्रमुख ग्यारह उपनिषद् प्रकाशित हुए हैं। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से प्रकाशित 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोश' में २२३ उपनिषद्-ग्रन्थों की नामावली है। 'उपनिषत्स्तुति' और 'देव्युपनिषद्' को छोड़कर बाकी २२१ ग्रन्थों के वाक्यांशों को उक्त महाकोश में उद्धृत किया गया है।[1]

मूल उपनिषद् कितने थे, इसका ठीक पता नहीं चलता। वेदांत के प्रमुख भाष्यकार शंकर, वाचस्पति मिश्र (नवम शताब्दी), रामानुज (द्वादश शताब्दी) तक उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या लगभग ३० तक थी, जिनकी प्रसिद्धि वेद-शाखाओं के नाम से थी। सुप्रसिद्ध दीपिकाकार शंकरानंद और नारायण के समय (१२–१४वीं शताब्दी) तक यह संख्या लगभग दुगुनी हो गई। तीन वेदों के मुख्य उपनिषद्-ग्रन्थों के अतिरिक्त ५२ अथर्वाण-उपनिषद्

---

१. कल्याण : उपनिषद् अंक, पृ० १५२–१५३।

भी इसी समय संगृहीत हुए। यह समय धार्मिक प्रतिस्पर्धा या सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा का संघर्षमय समय था। अनेक धार्मिक संप्रदाय अपनी-अपनी लोक-विश्रुति में लगे हुए थे, जिनमें शैव, वैष्णव और शाक्त प्रमुख थे। इन संप्रदायों ने अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ और उनकी मानवृद्धि के हेतु अनेक उपनिषद्-ग्रन्थों की स्वतंत्र रचना की, जिससे कि उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। इसका फल यह हुआ कि उपनिषद्-विद्या का महत्त्व बढ़ने की अपेक्षा बहुत घट गया। उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या में जितनी ही वृद्धि होती गई, हम देखते हैं कि उनका प्रभाव, मान्यता और महत्त्व उतना ही क्षीण होने लगा। उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों तक पहुँच जाने के कारण ही उनकी गंभीरता जाती रही।

उपनिषद्-ग्रंथों का रचनाकाल

उपनिषद्-ग्रन्थ वैदिक साहित्य की सीमा के अंतिम सूचक हैं। उपनिषद्, यद्यपि वेदप्रोक्त मान्यताओं को लेकर जन्मे और आगे बढ़े, तथापि हम देखते हैं कि जिस वैदिक युग में उनका आविर्भाव हुआ, सर्वप्रथम उसके विरुद्ध उन्होंने ही आवाज बुलंद की। वेदों के भावुक ऋषियों में हमें जिस कवित्व-भावना की प्रतीति होती है, ठीक उसके विरुद्ध उपषित्कालीन ऋषियों को एक बहुत बड़ी क्रांति का सूत्रपात्र करते हुए हम पाते हैं। वैदिक धर्म की संकीर्णताओं को फैलानेवाले ब्राह्मण-ग्रन्थों के विरोध में उपनिषद्-ग्रन्थों ने जैसा विद्रोह और जैसी खिलाफत की, भारतीय साहित्य में आजतक ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं दिखाई देता।

महाभारत-युद्ध और यादवों के गृह-कलह के बाद सारा देश युद्ध एवं मार-काट से तंग आकर शांति की खोज में था। ठीक इसी समय उत्तरा ने परीक्षित् को जन्म दिया और यही परीक्षित् पांडवों की राजगद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। किन्तु भारत-युद्ध के कारण समग्र देश की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और इसी कमजोरी का लाभ उठाकर गांधार देश की नागा जाति ने पहिले तक्षशिला, फिर पंजाब हस्तिनापुर और बाद में परीक्षित् को भी मारकर अपना एकाधिपत्य राज्य स्थापित किया। परीक्षित् के बाद उसके पुत्र जनमेजय ने अपनी शक्ति को बढ़ाकर कुरु-राज्य की पुनः प्रतिष्ठा की और तक्षशिला से नागा जाति की जड़ें काटकर उसको ध्वस्त कर दिया। तक्षशिला को उसने अपनी राजधानी बनाया। तदनंतर कुरु-राज्य के उत्तराधिकारी

क्रमशः शतानीक, अश्वमेधदत्त, अधिसीमकृष्ण नियुक्त हुए। बाद में लगभग ५०० ई० पू० में कुरु-राजवंश वत्सदेश में विलयित हुआ, आगे चलकर जो पौरव-राजवंश कहलाया, जिसकी राजधानी कि कौशांबी थी।

पौरव-राजवंश का यह शासनयुग सुख-शांति का युग था। इस युग में एक ओर तो कर्मकांड का पोषक पुरोहित-वर्ग अपने आचार-संबंधी क्रिया-कल्पों को समाज में फैला रहा था और दूसरी ओर तत्त्वज्ञानी विद्वानों द्वारा चिंतन की एक नई विचारधारा का जन्म हो रहा था। इस तत्त्वज्ञानी विचारधारा के आविर्भावकों एवं अनुयायियों में विदेह जनक, कैकेय अश्वपति, पांचाल प्रवाहण, जैवलि और काशिराज अजातशत्रु आदि नरपतियों के नाम प्रमुख हैं। यह उपनिषद्-ज्ञान के आविर्भाव का युग था, जो वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध जन्मा था और जिसने आगे चलकर पुरोहितशाही का खुलेआम विरोध किया।

उपनिषद्-ग्रन्थों में जो विचार संकलित हैं वे अपने निर्माण-युग से भी बहुत प्राचीन हैं। आज के जीवन में उपनिषद्-ग्रन्थों की बहुत सारी बातें ठीक नहीं उतरतीं। इसका कारण है युग की दूरी और अभ्यासों की भिन्नता। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने उपनिषद्-ग्रन्थों के प्रति उनका ठीक सार समझे बिना जो गलत धारणाएँ व्यक्त की हैं, उपनिषद्-ग्रन्थों के महान् ज्ञान पर वे घटित नहीं होतीं। इस संबंध में महर्षि अरविंद का तथ्यपूर्ण निराकरण उल्लेखनीय है। उनके शब्दों में "उपनिषदों के विचार अपने से पहिले विद्यमान किन्हीं महान् उद्भवों की कल्पना करते हैं और ये उद्भव प्रचलित वादों के अनुसार कोई भी नहीं मिलते। और इस रिक्त स्थान को भरने के लिये जो यह कल्पना गढ़ी गई है कि ये विचार आर्य आक्रांताओं ने सभ्य द्राविड़ लोगों से लिए थे, एक ऐसी अटकल है जो केवल दूसरी अटकलों द्वारा ही संतुष्ट की गई है।"[1]

उपनिषद्-ग्रन्थों का विषय एक ही है; किन्तु उनकी रचना का क्रम एक नहीं है। लगभग वैदिक काल से ही लेकर उनका अस्तित्व है। मंत्र-संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकग्रन्थों के साथ उनकी बहुत घनिष्ठता है। कुछ उपनिषद्-ग्रन्थों पर बहुत बाद की परिस्थितियों का, लगभग १४वीं-१५वीं शताब्दी का प्रभाव है। इसलिए निश्चित ही उनकी रचना बहुत बाद में हुई।

---

१. वेदरहस्य १, पृ० ५

उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक सर्वसंमत निश्चित राय नहीं दी जा सकती। उनमें वर्णित तत्त्व की बातें त्रैकालिक हैं। विद्वानों के एक पक्ष ने इस संबंध में जो मत-मतांतर प्रकट किए हैं, उन्हें विद्वानों का दूसरा पक्ष स्वीकार नहीं भी करता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषद् बुद्धकाल से पूर्व के हैं। इस प्रकार के छठी शताब्दी ई० से पहिले रचे गए उपनिषदों में छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी और कठ का नाम लिया जा सकता है।[1]

उपनिषदों के ऐतिहासिक साक्ष्य का कुछ पता पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' को देखकर लगता है। पाणिनि ने एक सूत्र में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया है।[2] ग्रन्थवाची उपनिषद् शब्द का प्रयोग भी 'अष्टाध्यायी' में देखने को मिलता है।[3] 'अष्टाध्यायी' के गणपाठ में उद्धृत ग्रन्थवाची इस उपनिषद् शब्द के प्रसंग को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि से पूर्व ही, अन्यथा पाणिनि के समय से उपनिषदों पर व्याख्यान-ग्रन्थों की रचना होने लग गई थी। 'अष्टाध्यायी' के एक दूसरे सूत्र में 'छांदोग्य' शब्द से आम्नात अर्थ में छान्दोग्य पद ही सिद्ध होता है,[4] जो कि उपनिषद् से संबद्ध है।

लुद्विग साहब ने वर्षों तक उपनिषद्-ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद अपना अभिमत प्रकट किया कि उपनिषद्-ज्ञान की प्राचीनता आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व की ठहरती है और संसार के दर्शन-क्षेत्र में अद्वैत की सर्वथा नवीन भावना की प्रतिष्ठा उपनिषद्-ज्ञान से ही उधार ली गई है।[5]

उपनिषत्साहित्य के संबंध में सर्वाधिक प्रौढ अध्ययन लोकमान्य तिलक का है। उपनिषत्साहित्य के संबंध में यहाँ हम उनके विचार उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। लोकमान्य का कहना है कि "पश्चिमी पंडितों के अटकलपच्चू अनुमानों से वैदिक ग्रन्थों के जो काल निश्चित किए गए हैं, वे भ्रममूलक हैं; वैदिक काल की पूर्व मर्यादा ईसा के पहिले ४५०० वर्ष से कम नहीं ली जा सकती; इत्यादि बातों को हमने अपने 'ओरायन' ग्रन्थ में वेदों के

---

१. डॉ० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० ५७, लखनऊ १९५७

२. 'जीविकोपनिषदावौपम्ये'—अष्टाध्यायी १।४।७९

३. वही ४।३।७३

४. वही ४।३।१२९

५. लुद्विग :-सप्लीमेंट ऑफ द न्यू फ्रीक प्रेसे, जुलाई १८, १९०४

उदगयन-स्थिति-दर्शक वाक्यों के आधार पर सिद्ध कर दिया है और इसी अनुमान को अब अधिकांश पश्चिमी पंडितों ने भी ग्राह्य माना है।......

"परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' (मराठी) के इतिहास में यह बतलाया है कि ऋग्वेद के बाद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में कृत्तिका प्रभृति नक्षत्रों की गणना है। इसलिए उनका काल ईसा से लगभग २५०० वर्ष पहिले निश्चित करना पड़ता है; परन्तु हमारे देखने में यह अभी तक नहीं आया है कि उदगयन-स्थिति से ग्रंथों के काल का निर्णय करने की इस रीति का प्रयोग उपनिषदों के विषय में किया गया हो। 'राम-तापनी' सरीखे भक्ति-प्रधान तथा 'योगतत्त्व' सरीखे योगप्रधान उपनिषदों की भाषा और रचना प्राचीन नहीं दीख पड़ती है। केवल इसी आधार पर कई लोगों ने यह अनुमान किया है कि सभी उपनिषद् प्राचीनता में बुद्ध की अपेक्षा चार-पाँच-सौ वर्ष से अधिक नहीं हैं। परन्तु काल-निर्णय की उपर्युक्त रीति से देखा जाय तो यह समझ भ्रममूलक प्रतीत होगी। यह सत्य है कि ज्योतिष की रीति से सब उपनिषदों का काल निश्चित नहीं किया जा सकता, तथापि मुख्य-मुख्य उपनिषदों का काल निश्चित करने के लिए इस रीति का बहुत अच्छा उपयोग किया जा सकता है"।[1]

लोकमान्य ने 'मैत्र्युपनिषद्' में वर्णित उदगयन-स्थिति[2] का ज्योतिष गणना के अनुसार अध्ययन करने पर पता लगाया कि वेदांग ज्योतिष में कही गई उदगयन-स्थिति से 'मैत्र्युपनिषद्' में कही गई उदगयन-स्थिति पहिले की है। वेदांग ज्योतिष काल का उदगयन 'मैत्र्युपनिषत्'कालीन उदगयन की अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्र से पीछे हट गया था और उदगयन का आधे नक्षत्र पीछे हटने में लगभग ४८० वर्ष लग जाते हैं। इसलिए गणित के हिसाब से 'मैत्र्युपनिषद्' की रचना का समय १८८०–१६८० ई० पूर्व के बीच बैठता है।

लोकमान्य के मतानुसार यह सिद्ध है कि 'मैत्र्युपनिषद्' की रचना वेदांग-ज्योतिष से पहिले की है और जिन उपनिषद्-वाक्यों या श्लोकों की चर्चा उद्धरण रूप में उक्त उपनिषद् में की गई है, उनका समय निश्चित ही उससे भी पहिले बैठता है। इसलिए ४५०० ई० पू० में ऋग्वेद, २५०० ई० पूर्व

---

१. गीतारहस्य, पृ० ५२

२. मैत्र्युपनिषद् ६।१४

में ब्राह्मण-ग्रंथों और १६०० ई० पूर्व में उपनिषद्-ग्रन्थों का समय आता है ।[1]

उपनिषत्-साहित्य की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद मैक्समूलर ने 'मैत्र्युपनिषद्' को पाणिनि से प्राचीन सिद्ध किया है । मैक्समूलर का कथन है कि इस उपनिषद्-ग्रंथ में ऐसी कई शब्द-संधियाँ, जिन्हें छान्दस् कहा जाता है, का प्रयोग हुआ है, जिनका उल्लेख केवल 'मैत्रायणी संहिता' में मिलता है और जिनका प्रचार पाणिनि के समय में नहीं था ।[2] फिर भी 'मैत्र्युपनिषद्' को सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ नहीं माना जा सकता है । यह बात अवश्य है कि स्पष्ट रूप से इस ग्रन्थ में किसी भी उपनिषद् का नाम नहीं दिया गया है; किन्तु उसमें कई स्थानों पर छान्दोग्य[3], बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य प्रभृति उपनिषद्-ग्रन्थों के वाक्यों एवं श्लोकों का प्रचुरता से उल्लेख हुआ है । इस दृष्टि से निश्चित ही उन उद्धृत वाक्यों, श्लोकों वाले उपनिषद्-ग्रन्थों का समय 'मैत्र्युपनिषद्' से पहिले का होना चाहिए ।

उपनिषद्-ग्रन्थों के भाष्यकार[4]

आरण्यक और उपनिषद् वस्तुतः मिश्रित ग्रन्थ हैं । आरण्यकों का कुछ भाग वेदांतविषयक होने के कारण उनको उपनिषद् कहा जाता है । 'ऐतरेय आरण्यक' के दूसरे और तीसरे ग्रन्थ स्वतंत्र उपनिषद् हैं । उनका नाम ही इसलिए ऐतरेय उपनिषद् है । इनका संकलनकार विशाल और ईतरा का पुत्र महीदास ऐतरेय हुए । इसी प्रकार 'कौषीतकी आरण्यक' के तीसरे खंड को 'कौषीतकी उपनिषद्' कहा जाता है । इनके अतिरिक्त वाष्कल और मैत्रायणी भी ऋग्वेद के उपनिषद् हैं ।

'तैत्तिरीय आरण्यक' का सातवाँ, आठवाँ और नवाँ प्रपाठक उसका उपनिषद् भाग है । इस 'तैत्तिरीयोपनिषद्' पर शांकर-भाष्य सर्वोत्तम है । शांकर-भाष्य के प्रमुख टीकाकार हुए : आनंदतीर्थ और रंगरामानुज । सायण और आनंदतीर्थ के भी इस पर भाष्य हैं । आनंद-भाष्य के टीकाकारों में अप्पणाचार्य, ज्ञानामृत,

---

१. गीतारहस्य, पृ० ५५०–५५२; शंकर बालकृष्ण दीक्षित : भारतीय ज्योतिश्शास्त्र (मराठी) पृ० ८७–९४, १२७–१३९

२. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज, वाल्यूम १५, इन्ट्रो० पृ० २, ८, १०

३. डॉ० जायसवाल के मतानुसार 'छांदोग्य उपनिषद्' का रचनाकाल ८००–७०० ई० पूर्व में बैठता है—हिंदूराजतंत्र, पृ० २०

४. रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे : ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी, पृ० १६

व्यासतीर्थ और श्रीनिवासाचार्य प्रमुख हैं। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के वृत्तिकारों में कृष्णानंद, गोविंदराज, दामोदराचार्य, नारायण, बालकृष्ण, भास्कर भट्ट, राघवेन्द्र यति, विज्ञानभिक्षु और शंकरानंद का नाम उल्लेखनीय है। तैत्तिरीय आरण्यक का दसवाँ प्रपाठक 'याज्ञिकी' या 'नारायणोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर भी शंकराचार्य और सायणाचार्य ने भाष्य लिखे। इस पर विज्ञानात्मा ने 'वेद-शिरोभूषण' नामक एक स्वतंत्र व्याख्या और एक वृत्ति भी लिखी। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के तीन भाग हैं, जिनका नाम क्रमशः शिक्षावल्ली, आनंदवल्ली, और भृगुवल्ली है और जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है।

यजुर्वेद के उपनिषद्-ग्रन्थों में 'श्वेताश्वतर' और 'मैत्रायणी' का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य शंकर ने इन दोनों पर प्रामाणिक भाष्य, विज्ञानभिक्षु ने 'उपनिषदालोक' नामक बृहद् टीका और नारायण, प्रकाशात्मा तथा रामतीर्थ ने प्रामाणिक कृतियाँ लिखीं। इस उपनिषद् पर शंकराचार्य के अतिरिक्त सायणाचार्य, रामानुजाचार्य और वरदराजाचार्य ने भी भाष्य लिखे। शांकर-भाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार हुए नृसिंहाचार्य, बालकृष्णदास और रंगरामानुज।

सामवेद के उपनिषद्-ग्रन्थों में 'छांदोग्योपनिषद्' और 'केनोपनिषद्' प्रमुख हैं। 'केनोपनिषद्' का दूसरा नाम 'तलवकार' है, जिसको डॉ० बारनेल ने तंजौर से खोजकर संपादित एवं प्रकाशित किया। इन दोनों पर शंकराचार्य का प्रामाणिक भाष्य और आनंदतीर्थ, ज्ञानानंद, नित्यानंदाश्रम, बालकृष्णानंद, भगवद्भावक, शंकरानंद, सायण, सुदर्शनाचार्य, हरिभानु शुक्ल, वेदेश, व्यासतीर्थ, दामोदराचार्य, भूसुरानंद, मुकुंद तथा नारायण प्रभृति विद्वानों की टीकाएँ एवं वृत्तियाँ हैं।

अथर्ववेद के उपनिषद्-ग्रंथों की संख्या सर्वाधिक है। इसी हेतु, ब्रह्मविद्या-विषयक इन उपनिषद्-ग्रन्थों की अधिकता के कारण अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' भी कहा गया है। विद्यारण्य स्वामी ने अपने 'सर्वोपनिषदर्थानुभूतिप्रकाश' ग्रन्थ में तीन अथर्ववेदीय उपनिषद्-ग्रन्थों को प्रमुख माना है, जिनके नाम हैं : मुंडक, प्रश्न और नृसिंहोत्तरतापनीय। शंकराचार्य ने अथर्ववेद के उक्त तीन ग्रन्थों सहित 'मांडूक्य' को मिलाकर चार को प्रधान माना है और उन पर भाष्य लिखा है। बादरायण व्यास ने भी अपने 'वेदान्तसूत्र' में इन्हीं चारों को प्रमुखता से उद्धृत किया है। शांकर-भाष्य के प्रमुख टीकाकारों में आनंदतीर्थ और अभिनव नारायणचंद्र सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है।

'मुंडकोपनिषद्' अथर्ववेद का सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त एवं विद्वत्प्रिय ग्रन्थ रहा है, जिस पर कि शंकराचार्य, आनंदतीर्थ, दामोदराचार्य, नरहरि, भास्कर भट्ट, रंगरामानुज, राणायण, व्यासतीर्थ, शंकरानंद, विज्ञानभिक्षु और नरहरि यति प्रभृति जितने भी वेद-व्याख्याकार हुए, उन सभी ने भाष्य, टीकाएँ और वृत्तियाँ लिखीं। शेष तीन उपनिषद्-ग्रन्थों पर भी अनेक भाष्य, टीकाएँ और वृत्तियाँ लिखी गईं।

इन चार उपनिषद्-ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मुक्तिकोपनिषद्' नामक पाँचवाँ ग्रन्थ अथर्ववेद से संबद्ध है। इसमें ९३ अथर्वाण उपनिषद्-ग्रन्थों के नाम उल्लिखित हैं। कुल मिलाकर अथर्वाण उपनिषद्-ग्रन्थों की संख्या दो-सौ से भी ऊपर पहुँचती है, जिनमें से कुछ को छोड़ कर प्रायः अनुपलब्ध हैं।[1]

उपनिषद्-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय

विषय की दृष्टि से वेदों के प्रमुख तीन भाग हैं: कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म विषय का प्रतिपादन संहिता एवं ब्राह्मण भाग में हुआ है, उपासना का विषय संहिता तथा आरण्यक भाग में वर्णित है और तीसरे ज्ञान भाग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ उपनिषद् हैं, जो कि मोक्ष-साधन का मार्ग निर्देश करते हैं। वेदों के कर्म तथा उपासना भाग की सम्यग् जानकारी के लिए महर्षि जैमिनि-कृत 'पूर्वमीमांसा दर्शन' और तीसरे ज्ञान-भाग की सूक्ष्म जानकारी के लिए बादरायण वेदव्यास कृत 'उत्तरमीमांसा दर्शन' है, जिसके दूसरे नाम 'शारीरक-मीमांसा', 'वेदान्तदर्शन' किं वा 'ब्रह्मसूत्र' भी हैं।

वेदान्तियों के मतानुसार विधाएँ दो प्रकार की हैं: परा और अपरा। पराविद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या ही ब्रह्मविद्या है, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् हैं। अपराविद्या कर्मप्रधान विद्या है, अतएव कर्मविद्या है। कर्मविद्या की फलोपलब्धि कालान्तर में होती है, किन्तु ब्रह्मविद्या तत्काल फलदायिनी विद्या है। कर्मफल विनश्वर भी हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या का फल अविनश्वर, अमर होता है। अपरा विद्या मुक्ति का कारण नहीं हो सकती है, किन्तु पराविद्या मोक्ष को देने वाली है। फिर भी अपराविद्या के द्वारा पराविद्या के मोक्षफल की उपलब्धि की जा सकती है, क्योंकि वह हेतु है।

पराविद्या के प्रतिपादक उपनिषद्-ग्रन्थों में अपराविद्या की प्राप्ति के लिए

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए: विश्वकोश—वेद, अथर्व-साहित्य

भी निर्देश किया गया है। 'मुण्डकोपनिषद्' में शौनक को समझाने के लिए अंगिरा का कथन है कि परा और अपरा, दोनों विद्याओं को जानना आवश्यक है। चारों वेद और षड्वेदांग, अपराविद्या और क्षयशून्य ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली विद्या पराविद्या है।

वेदान्त के आचार्यों ने वेदान्त-दर्शन को तीन भागों में बाँटा है: श्रुति, स्मृति और न्याय। तदनुसार उन्होंने उपनिषद् भाग को श्रुति के अन्तर्गत, 'गीता' आदि को स्मृति के अन्तर्गत और 'ब्रह्मसूत्र' आदि को न्याय के अन्तर्गत परिगणित किया है।

प्रकृति, पुरुष और परमात्मा का विवेक ही उपनिषद् विद्या का प्रतिपाद्य विषय है। मूल तत्व प्रकृति से ही जगत् का अस्तित्व है। वही प्रकृति माया के नामान्तर से भी कही गई है। उद्भिज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज चार देहधारी: वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय; चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक्, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये नौ ज्ञानेन्द्रिय; और एक विषय, ये सभी प्रकृति-तत्व के कार्य-व्यापार हैं।

आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन कहा गया है। वह जन्म मृत्यु से रहित है। शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी उसकी स्थिति में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता है। वह मेधावी है। जैसे दूध में नवनीत है उसी प्रकार जगत् में ब्रह्म की व्याप्ति है। अक्षर ब्रह्म से जीव उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि से स्फुलिंग।

'कौषीतकी उपनिषद्' के चतुर्थ अध्याय में लिखा है कि प्रज्ञात्मा का ज्ञान आवश्यक है। प्रज्ञात्मा शरीर में उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे काष्ठ में आग। सम्पूर्ण प्राण-चेष्टाएँ प्रज्ञात्मा के पीछे उसी प्रकार भागती हैं, जैसे धन के पीछे धन-लुब्धक। इस प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने पर ही सम्पूर्ण पाप एवं दुःख विनष्ट होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी हेतु धर्मसूत्रों ने पाप-मुक्ति के लिए उपनिषद् विद्या के अध्ययन पर बल दिया है।[1] 'ऐतरेयोपनिषद्' के तीसरे अध्याय में कहा गया है कि ब्रह्मा आदि देवता, पंच महाभूत, स्वेद, अण्डज, जरायुज, उद्भिज, स्थावर, जंगम जितनी भी जीवात्मायें हैं, सबका आधार प्रज्ञान है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी में आधारित है। वही प्रज्ञान ब्रह्म है।

---

१. गौतम १९।१२; बौधायन ३।१०।१०; वशिष्ठ २२।१०; २८।१४; विष्णु ५६।२२

उपनिषद्-ग्रन्थों में जगत, जीव, ब्रह्म का उपादानभूत माया (प्रकृति) का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। उपनिषद्-ग्रन्थों की इन अनेकमुखी स्थापनाओं के फलस्वरूप ही आगे चलकर दर्शनों की विभिन्न सैद्धान्तिक परम्पराओं की प्रतिष्ठा होकर विचारों के क्षेत्र में एक युगान्तर का जन्म हुआ। ब्रह्म और जीव के अभेद का 'तत्त्वमसि' सिद्धान्त[1]—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् हे सोम्य, एकमेव सत् ही सनातन है[2] और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कि यह सब ब्रह्म ही है[3]—दर्शन ग्रन्थों का बीज है। इन उपनिषद् वाक्यों की अनेकमुखी असंगतियों के कारण ही द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैताद्वैत आदि मतों की उद्भावना हुई, जो कि भारतीय षड्-दर्शनों के जन्मदाता सिद्ध हुए। इन विभिन्न वादों के प्रवर्तक आचार्यों की गणना इस प्रकार है :

मध्व	का	द्वैतवाद
शंकर	का	अद्वैतवाद
रामानुज	का	विशिष्टाद्वैतवाद
वल्लभ	का	शुद्धाद्वैतवाद
निंबार्क	का	द्वैताद्वैतवाद

उपनिषद् विद्या का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। ब्रह्म की सत्ता क्या है, जगत्-ब्रह्म का सम्बन्ध क्या है, ब्रह्म-जीवात्मा का स्वरूप क्या है, ब्रह्म की उपलब्धि का मार्ग कौन सा है, आत्मा, प्रज्ञात्मा, प्रज्ञान क्या वस्तु है, ब्रह्म-आत्मा के ऐक्य का रहस्य क्या है, और ब्रह्म-साक्षात्कार का अर्थ क्या है, ये सभी बातें उनमें वर्णित हैं।

उपनिषद् अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या का नाम है। वह वेद का ज्ञानकाण्ड होने से चिरप्रदीप्त और ज्ञानदीपक है[4]। उपनिषद् ज्ञान की अति व्यापक विचारधारा के अनुसार संसार में ब्रह्म के व्यतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जीव भी ब्रह्मस्वरूप है[5]। उपनिषद्-ज्ञान को प्राप्त करने की आवश्यकता ब्रह्मस्वरूप देहधारी जीव को इसलिए हुई कि वह अविद्या के प्रभाव से अपने वास्तविक अजन्मा, अविनश्वर, शुद्ध-बुद्ध-संयुक्त सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूप को विस्मृत

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ६।८।६
२. „ ६।२।१
३. „ ३।१४।१
४. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६।१
५. छांदोग्योपनिषद् ३।१४।१

कर स्वयं को जन्म-मरणधर्मा, कर्ता, भोक्ता, सुख-दुःखयुक्त मान बैठा है और उनके कारण वह जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता है। उपनिषद्, वह ज्ञान है, जिसके प्राप्त हो जाने से जीव को दुःखों से छुटकारा पाने, ब्रह्मस्वरूप हो जाने और अविद्या का कोहरा मिटा डालने का प्रकाश मिलता है। ऐसा ज्ञानी जीव, मोक्ष को प्राप्त होकर अनन्त आनन्द का स्वामी हो जाता है।

जन्म दुःखमूलक है।[1] उससे छुटकारा दिलाने वाली, परम-पुरुषार्थ को प्रकाशित करने वाली और परमार्थ का स्वरूप समझाने वाली एकमात्र परम-उपकारिणी विद्या उपनिषद् है। तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिये वह परमार्थ है और क्लेशयुक्त जीवों के लिए परम-उपकार।[2] सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय की विना चिन्ता किए कर्मरत रहने के लिए गीता में जिस परमपुरुषार्थ का निर्देश किया गया है[3], उपनिषद् भी ठीक उसी निष्काम कर्म का प्रतिपादन करके 'कर्तव्य-शास्त्र' को भी अपने अन्दर समाहित कर लेते हैं।[4]

इस प्रकार उपनिषद् एक ओर तो गूढ ब्रह्मत्व-ज्ञान को प्रतिपादत करने वाले ग्रंथ हैं, और दूसरी ओर उन्हीं के नीति-निर्देश से अध्यात्म जगत का सुगम मार्ग दर्शित है। वे कर्तव्य-शास्त्र की कुंजी भी है। इसके अतिरिक्त उपनिषद्दर्शन में हमें अद्भुत व्यावहारिक ज्ञान का भी पता चलता हैं। उनमें सत्य बोलने के लिए बड़ी कठोर आज्ञायें एवं प्रतिज्ञायें हैं: जो झूठ बोलता है, वह समूल विनष्ट हो जाता है।[5] या सत्य की ही सर्वदा विजय होती है, झूठ की नहीं; सत्यवादी दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्य ही देवलोक का अधिकारी होता है।[6]

उपनिषदों के तत्वज्ञान के भीतर आचार, कर्तव्य और व्यवहार की अनेक उपयोगी बातें भरी हुई हैं, स्वतंत्र रूप से उनका मंथन होने की आवश्यकता है।

---

१. छांदोग्योपनिषद् ९।१२।१
२. श्वेताश्वतर १।११
३. समं दुःखे सुखे कृत्वा
४. कठोपनिषद् १।२।१०; २।३।१४; ईशावास्य १।२
५. प्रश्नोपनिषद् ६।१
६. मुण्डकोपनिषद् ३।१।६

अकबर और दाराशिकोह का उपनिषत्प्रेम

मध्यकालीन इतिहास में शाहंशाह अकबर का नाम बड़े आदर से स्मरण किया गया है। महापुरुषों की प्रायः सभी विशेषतायें अकबर के व्यक्तित्व में समाविष्ट थीं। वह एक निपुण राजनीतिज्ञ, असामान्य विद्याप्रेमी और बड़ा धर्मनिरपेक्ष शासक था। अकबर का शासनकाल १५५६-१५८५ ई० के लगभग है। हिन्दुओं के ज्ञान-ग्रंथों को अकबर ने सदा ही बड़े आदर से देखा और उनका श्रवण बड़े ध्यान से किया। इसी विद्याप्रेम के कारण अकबर ने रामायण, महाभारत, योगवाशिष्ठ और गीता आदि संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थों का फारसी में तर्जुमा कराया। कुछ उपनिषद् भी इस युग में अनूदित हुए।

अकबर के पौत्र शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह में अपने पितामह की ज्ञान-जिज्ञासु प्रवृत्ति पुनरुज्जीवित हुई और जो कुछ अकबर करने से रह गया था, दाराशिकोह ने उसको पूरा किया। हिन्दू-मुस्लिम धर्म के समन्वय के लिए दाराशिकोह ने एक 'मज़मा-उल-बहरैनी' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया।[1] दाराशिकोह का सबसे बड़ा कार्य है, उपनिषदों का फारसी भाषान्तर। दारा के जीवन और उसके महानतम कार्यों में यह कार्य ऐसा था, जिसके कारण उसका व्यक्तित्व भारतीय-साहित्य के साथ एकप्राण होकर अमर है।

सन् १६४० ई० में काश्मीर में रहकर दाराशिकोह ने काशी, काश्मीर जैसी तत्कालीन ज्ञानकेन्द्र महानगरियों से ऐसे सैकड़ों वेदान्तियों और सूफी संतों को आमन्त्रित किया, जो उभयभाषा(संस्कृत-फारसी)विद् थे। उन विद्वानों से पहिले उसने निरंतर छह मास तक उपनिषद्-प्रन्थों का श्रवण किया। लाखों की संपत्ति व्यय करके दाराशिकोह ने रमजान हिज़री १०७७ (१६५६ ई०) में यह भाषान्तर का कार्य समाप्त कर हिन्दू-साहित्य में अपने नाम को अमर बनाया। दारा ने उस महाग्रन्थ को स्वयं सम्पादित किया और उसका नाम रखा 'सिर्रे अकबर' अर्थात् 'महारहस्य'। इस महाग्रंथ में ५० उपनिषद् अनूदित करके संकलित किए गए। इस कार्य के लगभग तीन वर्ष बाद १६५९ ई० में इस विद्याप्रेमी मुगल-शासक का औरंगजेब द्वारा प्राणान्त हुआ।

---

१. एशियाटिक सोसायटी, बंगाल से १९२९ ई० में प्रकाशित

दाराशिकोह द्वारा संपादित इस 'सिर्रे अकबर' का प्रभाव इतना बढ़ा कि संसार के प्रायः सभी हिस्सों में उसे देख लेने की तीव्र लालसा विद्वत्समाज में उदित हुई। इसके रचनाकाल के ६४वें वर्ष १७२० ई० में इसका एक अनुवाद 'उपनिषद्-भाष्य' के नाम से हिन्दी में हुआ[1]।

धार्मिक एकता के नाते उपनिषद्-ज्ञान का प्रचार हिन्दू-मुसलमानों के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। दाराशिकोह ने स्वयमेव हिन्दू-ज्ञान की श्रेष्ठता को ऊँची आवाज में बुलन्द किया। उसने उपनिषद्-विद्या की महानता और उदारता के संमुख संसार के ऊँचे-से-ऊँचे धर्मों के ज्ञान को और मुस्लिम धर्म को एक चुनौती दी। उसने उपनिषद्-ज्ञान के कर्ता हिन्दुओं के पूर्वजों को बड़ी श्रद्धा से याद किया और यह सिद्ध किया कि धार्मिक एकता के लिए उपनिषद्-ग्रन्थों के महान् विचार सदा ही याद रखने योग्य हैं। दाराशिकोह के इस प्रचार से मुसलमान फकीर अधिक प्रभावित हुए। सूफी मत की अद्वैत भावना का मूल उपनिषदों का ही अद्वैत था, यद्यपि सूफी परम्पराओं के अनुसार उसमें कुछ दूसरे तत्त्व भी शामिल किए गए।

उपनिषद्-ज्ञान का विदेशों में प्रवेश

लगभग १७७५ ई० तक सारे पाश्चात्य विद्वान् उपनिषद्-ग्रन्थों के तत्त्वज्ञान से अपरिचित एवं अछूते ही रहे। इसी समय अयोध्या के नवाब सुआउद्दौला के फरासी रेजिडेंट एम० गेंटिल (M. Gentil) ने १७७५ ई० में सुप्रसिद्ध फ्रेंच पर्यटक एंक्वेटिल डुपेरन (Anquetil duperron) के लिए दाराशिकोह द्वारा संपादित फारसी अनुवाद की एक प्रति अवलोकनार्थ भेजी। डुपेरन ने उसी अनुवाद की एक दूसरी फारसी प्रति उपलब्ध करके उन दोनों प्रतियों के आधार पर फ्रेंच और लैटिन दो अनुवाद प्रस्तुत किए। १८०१-२ ई० के बीच लैटिन अनुवाद तो 'औपनेखत' (Oupnekhat) नाम से ट्रांसबर्ग, पेरिस से प्रकाशित हो गया, किंतु फ्रेंच अनुवाद नहीं छप सका। इस लैटिन भाषांतर के आधार पर दाराशिकोह के संपादित महाग्रंथ के कई भाषाओं में अनुवाद छपे।

दाराशिकोह द्वारा संपादित महाग्रन्थ जब यूरोप पहुँचा तो उसको देखकर

---

१. डॉ० श्यामसुंदर दास : हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, भाग १, पृ० १५

विद्वानों की जिज्ञासा मूल उपनिषद्-ग्रन्थों को देखने को प्रबल हो उठी। फलतः संस्कृत का अध्ययन और उसमें सगृहीत महान् ज्ञान का रहस्य दुनियाँ के संमुख प्रकट होने लगा। इस प्रकार समग्र वैदिक साहित्य का यूरोप में प्रतिदिन प्रचार होने लगा।

डुपेरन महोदय के उक्त लैटिन अनुवाद को देखकर सुप्रसिद्ध प्राच्य इतिहासज्ञ विद्वान् विंटरनित्स का कथन है कि यद्यपि यह लैटिन भाषांतर अनेक अर्थों में एकांगी, अपूर्ण और न्यूनताओं से भरपूर था; किंतु उसी की कृपा थी कि शेलिंग और शोपेनहार जैसे लोग भारतीय तत्त्वज्ञान के पारंगत विद्वान् कहलाने लगे।[1] आर्थर शोपेनहार (Arther Shopenhaure) ने उक्त लैटिन अनुवाद का अध्ययन करने के बाद गद्‌गद होकर कहा : उपनिषद्-ज्ञान विश्व की विचारधारा के पथ-प्रदर्शन के लिए एक ज्योति है। न केवल जीवन में मुझे उपनिषद्-ग्रन्थों के अध्ययन से शांति प्राप्त हुई, वरन् मृत्यु पर भी मुझे वे शांति प्रदान करेंगे।

डुपेरन का लैटिन अनुवाद १८०८ ई० में जर्मन भाषा में अनूदित होकर नूनबर्ग से प्रकाशित हुआ, जिसके कारण प्राच्यविद्या के जिज्ञासु कतिपय जर्मन विद्वान् उपनिषद् और वैदिक साहित्य के अनुसंधानार्थ कार्य करने लगे। विदेशो में उपनिषद्-ज्ञान के प्रति विद्वानों की उत्सुकता और पत्रिकाओं में विदेशियों द्वारा लिखे गए बड़े खोजपूर्ण लेखों को देखकर राजा राममोहन राय ने भी कुछ उपनिषद् अंग्रेजी में अनूदित करके मूल ग्रन्थों के साथ १८१६-१८१९ के बीच प्रकाशित किए।

तदनंतर ओथमर फ्रांक (Othmar fronk) महोदय ने भी १८२०-१८३० के बीच कुछ उपनिषद्-ग्रन्थों के संक्षिप्त संस्करण निकाले,[2] जिनको देखकर उपनिषद्-ज्ञान के प्रति विद्वानों की उत्सुकता और भी बढ़ती गई। श्री जे० डी० लंजुईनास का एतत्संबंधी कार्य बड़े महत्त्व और परिश्रम का है। उन्होंने १८३२ ई० में दाराशिकोह के फारसी अनुवाद पर आधारित डुपेरन के लैटिन अनुवाद को पूरा-का-पूरा फ्रेंच में उल्था कर प्रकाशित किया और उसका नाम रखा : 'भारतीयों की भाषा, वाङ्मय, धर्म तथा तत्त्वज्ञान-संबंधी अन्वेषण'।

---

१. विंटरनित्स : ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, वाल्यूम १ पृ० २६६

२. फ्रांक : क्रेस्टोमैथिआ संस्कृता (१८२०-१८२१ ई०), व्यारा, यूवीर, फिलोसोफिया, मैथोलोजी, लिटरेचर ऐण्ड स्प्रीचे डेर हिन्दू (१८२६-३० ई०)

प्राच्य-विद्या-विशारद् वेबर साहब के इस क्षेत्र में प्रवेश करते ही भारतीय उपनिषद्-ज्ञान का प्रचार विश्व भर में फैल गया। वेबर साहब ने जर्मन भाषा में एक पुस्तक सत्रह भागों में लिखी, जिसका नाम है : 'इण्डिस्केन स्टडियन'। इसका प्रथम भाग १८५० ई० में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। इस भाग में वेबर ने 'सिर्रे अकबर' के प्रथम १४ उपनिषद्-ग्रन्थों को बड़ी शुद्धता के साथ संपादित कर प्रकाशित किया। इसका दूसरा भाग बर्लिन से ही १८५३ ई० में प्रकाशित हुआ। उसमें भी १५-३९ तक के उपनिषद् प्रकाशित किए गए और १८६५ ई० में लिपिजिक से प्रकाशित 'इण्डिस्केन स्टडियन' के नवम भाग में 'सिर्रे अकबर' के ४०-५० तक के दस उपनिषद् प्रकाशित किए गए। वेबर साहब ने अपनी भूमिका में लैटिन अनुवाद की अशुद्धियों पर प्रकाश डाला है। तदनंतर १८८२ ई० में एक जर्मन-भाषांतर ड्रेसडेन से प्रकाशित हुआ, जिसका आधार कि लैटिन-भाषांतर ही था।

महापंडित मैक्समूलर ने अपने प्राच्यविद्याप्रेम के कारण एक ग्रन्थमाला का प्रकाशन किया था, जिसमें वैदिक साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर शोधपूर्ण सामग्री प्रकाशित की गई। मैक्समूलर ने पूर्वोक्त प्रमुख १२ उपनिषद्-ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद १८७९-१८८४ के बीच बड़ी शुद्धता के साथ उक्त ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया।[1]

मैक्समूलर के बाद दूसरे जर्मन विद्वानों में एफ० मिशल (F. Mischel) ने १८८२ ई० में, ओ० बोटलिंक (O. Bohatlink) ने १८८९ ई० में दो जर्मन अनुवाद प्रकाशित किये। तदनंतर पाल ड्यूसन (Paul deussen) ने लैटिन भाषांतर के संग्रह के साथ १० आथर्वण उपनिषद्-ग्रन्थों का एक जर्मन भाषांतर १८९७ ई० में लिपजिक से प्रकाशित किया, जिसमें ९४६ पृष्ठ हैं और जिस पर एक विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका लिखी गई है। श्री आर० ई० ह्यूम ने भी १९२१ ई० में आक्सफर्ड से १३ प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का एक प्रामाणिक संस्करण निकाला।

भारत में सबसे पहिला अंग्रेजी अनुवाद राजा राममोहन राय का है जिसको उन्होंने १८१६-१९ ई० के बीच सम्पन्न किया। बाद में १८५३ ई० में ई० रोअर साहब (E. Roer) और राजा द्विजेन्द्रलाल मिश्र ने शांकर भाष्य युक्त, १२ प्रमुख उपनिषद् सानुवाद कलकत्ता से प्रकाशित किए, जिनका पुनः-

---

१. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, भाग १-१५

संस्करण तुकाराम तात्या ने बम्बई से निकाला। इसी प्रकार श्री सीताराम शास्त्री और डॉ० गंगानाथ झा ने भी आठ प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का अनुवाद कर उनको १८९८–१९०१ ई० के बीच मद्रास से प्रकाशित किया।

आर्षेय, प्रणव, शौनक और नृसिंहोत्तरतापनी, इन चार उपनिषद्-ग्रन्थों का आडयार लाइब्रेरी, पूना के हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रह में से प्राप्त कर डा० श्रीपाद कृष्ण वेल्वाल्कर ने विशुद्ध अंग्रेजी भाषान्तर के साथ सम्पादित एवं प्रकाशित किए हैं।[1]

मूल फारसी का उर्दू अनुवाद भी 'अलख प्रकाश' नाम से प्रकाशित हो चुका है, किन्तु उसमें अशुद्धियाँ बहुत हैं।

फिर भी उपनिषद्-साहित्य पर विदेशों में हुए कार्य की अपेक्षा भारत में हुए कार्य की गणना प्रायः नहीं के बराबर है। उपनिषद्-ज्ञान की विश्व-विश्रुति का एकमात्र श्रेय फारसी अनुवाद 'सिर्रे अकबर' को है, जिसके कारण ज्ञानवन्त मनस्वी दाराशिकोह का नाम इतिहास में बड़े आदर के साथ स्मरण किया जायगा।

विदेशी पंडितों की मान्यताएँ

उपनिषद् भारतीय ज्ञान के दीप्ति-पुंज हैं। उनमें मानव-जीवन के प्राचीनतम चिन्तन का ऐतिहासिक विवरण समन्वित है। उपनिषद्-ग्रन्थों के महानतम ज्ञान की प्रेरणा से संसार भर के दार्शनिक प्रभावित हुए। भारतीय मनस्वियों के इस अद्भुत चिन्तन की स्तुति में संसार के शीर्षस्थानीय विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किए हैं। दुनिया की दार्शनिक विचारधारा का उपनिषद्-ज्ञान के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् विदित होता है कि भारत के इस गम्भीर चिन्तन ने दुनिया की विचारधारा को अतिशय प्रेरणा प्रदान की है।

सूफियों का रहस्यवाद (Mysticism), प्लातनियों तथा क्रिश्चियनों का रहस्यात्मक देवतावाद (Mystic-theosophical), क्रिश्चियन रहस्यवादी सन्तों का लोगस (Logos) सिद्धान्त, एकहार्ट (Echhart) और तालर

१. ओरिएण्टल कान्फ्रेंस प्रोसीडिंग्स ऐण्ड ट्रांजैक्शन्स, पृ० १८–४० (२२-२४ दिस० १९२४, मद्रास) तथा एकेडमी ऑफ़ फिलॉसफी ऐंड रिलिजन, पूना, १९२५

(Taular) के सिद्धान्तों को उपनिषद्-ज्ञान से ही जन्मने और आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली है। जर्मनी के सुप्रसिद्ध ब्रह्मविद् विद्वान् शोपेनहार जैसे दार्शनिकों के सिद्धान्त भारतीय उपनिषद्-विद्या से अत्यधिक रूप में प्रभावित हैं।[1]

उपनिषद्-ज्ञान की विश्व-विश्रुति और उससे प्रभावित संसार के दार्शनिक धरातल की बात लुड्विग महोदय भी स्वीकार करते हैं। लुड्विग का कथन है कि विश्व-दर्शन में आज जो अद्वैतविषयक विचार देखने को मिलते हैं उनका मूल आज से ३००० वर्ष पूर्व के भारतीय सिद्धान्त हैं[2]।

दाराशिकोह का फारसी अनुवाद और डुपेरन का लैटिन अनुवाद देखकर जर्मन विद्वान् शोपेनहार ने कहा : जीवन को उन्नत बनाने वाले ज्ञान-पुंजरूप उपनिषद् ग्रंथों की तुलना में समग्र विश्व में दूसरा उपाय नहीं है।[3] शोपेहार भारतीय साहित्य और विशेषरूप से उपनिषद्-ग्रंथों के तत्त्वज्ञान का अधिक कायल रहा है। उसने अपने जीवन के उन्हीं क्षणों को उपयोगी कहा है, जो भारतीय साहित्य का अध्ययन करने में बीते हैं। डुपेरन के लैटिन अनुवाद के संबंध में उसका अभिमत था कि वह उसके जीवन को और समस्त मानवता को ऊँचा उठाने वाली पुस्तक है। १९वीं शताब्दी में प्राप्त भारतीय उपनिषद्-ज्ञान संसार का सबसे बड़ा वरदान है।[4]

उपनिषद्-ज्ञान की महत्ता के संबंध में शोपेनहार ने जो उद्‌गार प्रकट किए, उनके संबंध में मैक्समूलर का कथन है कि शोपेनहार के उक्त अभिमत का समर्थन करने की यदि आवश्यकता हुई तो वे अपने दीर्घजीवन के अध्ययन के बल पर अंतःकरण से उसका समर्थन करेंगे।[5]

जर्मन विद्वान् पाल डायसन (Paul Deussen) ने उपनिषद्-ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी : 'उपनिषद्-दर्शन'

---

१. विंटरनित्स : ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वाल्यूम १, पृ. २६६
२. लुड्विग : सप्लीमेंट ऑफ दि न्यू फ्रीक प्रेसे, जुलाई १०, १९०४
३. In the whole world, there is no study so elevating as that of the Upnisads. It has been the solace of my life, It will be the solace of my death.
४. विंटरनित्स : ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वा० १, पृ० २६५-२६७
५. If these words of scopenhaver required any confirmation, I would willingly give it as a result of my life long study.

(Philosophy of the Upnisads)। उसमें उन्होंने लिखा कि उपनिषद्-ग्रन्थों में जिस दर्शन का प्रतिपादन है वह भारत में और संभवतः समग्र विश्व में अतुलनीय है।[1]

इसी प्रकार उपनिषद्-विद्या का अध्ययन करने के पश्चात् सुप्रसिद्ध इतिहासकार मेक्डोनेल महोदय का 'बृहदारण्यक' उपनिषद् के सम्बन्ध में कथन है कि मानवीय चिन्तना के इतिहास में सर्वप्रथम 'बृहदारण्यक' उपनिषद् ने ही ब्रह्म अथवा पूर्ण तत्व को ग्रहण करके उसकी यथार्थ व्यञ्जना की।[2]

उपनिषद्-ज्ञान की महानता के सम्मुख विश्व के तत्वज्ञान की तुलना करते हुए जर्मन विद्वान् फ्रेडरिक श्लेगल का कथन है कि पूर्वीय आदर्शवाद के प्रचुर प्रकाश-पुञ्ज की तुलना में यूरोपवासियों का उच्चतम तत्वज्ञान ऐसा ही लगता है जैसे मध्याह्न सूर्य के व्योमव्यापी प्रताप की पूर्ण प्रखरता में टिमटिमाती हुई अनलशिखा की एक किरण, जिसकी अस्थिर और निस्तेज ज्योति ऐसी ही हो मानो बुझने ही वाली है।[3]

भारतीय आचार-विचार और साहित्य-संस्कृति के प्रति अतिशय निष्ठा रखने वाली विदुषी महिला डा० एनी बेसेंट ने उपनिषद्-विद्या की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि भारत का यह ज्ञान मानव चेतना का सर्वोच्च फल है[4]।

---

१. Philosophical conciptems unequalled in India or perhaps anywhere else in the world.

२. Brahman or Absolute is grasped and definitely expreessed for the first time in the history of human thought in the Brhadaranyaka Upnisad.

३. Even the Loftist philosophy of the Europeans appears in conparison the abundant light of oriental idealism like a feeble promethean spark on the full flood of the heavenly glory of the noonday sun-faltering and feeble and ever ready to be extinguished.

४. Personlly I regard the Upnisads as the highest product of the human mind, the crystallized wisdom of divenely illumined men.

षड्-वेदांग

षड्वेदांगों के निर्माण की आवश्यकता

वेद ही समग्र आर्य-शास्त्रों के मूल उद्गम हैं। धार्मिक एवं वैदिक क्रिया-कलापों के प्रतिपादक ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रंथ, ब्रह्मज्ञान-विषयक अद्भुत सिद्धान्तों के निर्माता उपनिषद्-ग्रंथ, सामाजिक रीति-नीति और व्यवस्थाओं पर अकाट्य निर्णय देने वाले कल्पसूत्र, भाषा-विज्ञान का प्रतिपादन करने वाले शिक्षा, व्याकरण, छन्द एवं निरुक्त, जैसे उच्चकोटि के शास्त्र और अदृष्ट सत्यों को मूर्त रूप में खड़ा कर देने वाला ज्योति-विज्ञान, सभी वेदों से उद्भूत हैं।

उपनिषद्-ग्रंथों में द्विविध विद्याओं का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम हैं परा और अपरा[1]। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये सभी शास्त्र परा विद्या के अन्तर्गत परिगणित हैं, और यद्यपि, अक्षर ब्रह्म के प्रतिपादक आदिग्रन्थ उपनिषद् वेदों के ही अंग हैं, तथापि उन्हें और उनके सिद्धान्तों के विकासरूप दर्शनग्रन्थ, सभी की गणना अपरा विद्या के अन्तर्गत की गई है।

भारतीय ज्ञान-विकास का ऐतिहासिक क्रम वेदों से आरम्भ होता है। वेदों के बाद वैदिक साहित्य और तदनन्तर षड्-वेदांगों का समय आता है। महाज्ञानी वेदव्यास के समय अथवा उससे पूर्व की गुरु-शिष्य-परम्परा से ज्ञान-निर्माण तथा आत्म-चिन्तन के जो अनेक सम्प्रदाय चले आ रहे थे उनके द्वारा विभिन्न आश्रमों में वेदों का अध्यापन, अध्ययन, सम्पादन और संस्करण हो रहा था। आश्रमों की इसी शिष्य-परम्परा ने वेदाध्ययन के विभिन्न मार्गों, षड्-वेदांगों का निर्माण किया। इन्हीं प्राचीन आश्रमों में विभिन्न चरणों अथवा शाखाओं द्वारा ज्ञान की विभिन्न दिशाएँ निमज्जित होकर प्रकाश में आई।

---

१. मुण्डकोपनिषद् १।१।५

षड्वेदांगों के निर्माण से भारतीय साहित्य के विकास का एक नया युग प्रारंभ होता है, इतिहास में जिसको 'दूसरे अध्याय' के नाम से पुकारा गया है। विषय, विचार और शैली की दृष्टि से दोनों युगों की दूरी आकाश और धरती की दूरी के बराबर है। यद्यपि इतिहासकारों ने इस युग को 'उत्तर-वैदिक-युग' के नाम से पुकारा है, फिर भी अपने मूलरूप में इस युग ने जिस आने वाले युग का निर्माण किया, उस दृष्टि से इस युग का बहुत कम अंश अपने नाम की सार्थकता को प्रकट करने के लिए रह जाता है। इस उत्तर-वैदिक युग में ६ नये शास्त्रों का प्रणयन हुआ, जिनके नाम हैं : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। इनका सामूहिक नाम षड्वेदांग पड़ा।[1]

पाणिनीय 'शिक्षा' में एक अच्छा रूपक बाँध कर वेद भगवान् के इन छहों अंगों का, तदनुरूप स्थान निर्धारित किया गया है, और वहाँ बताया गया है कि सांगवेद पढ़ने पर ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उसमें बताया गया है कि छंद तो वेद भगवान् के पैर हैं, कल्प हाथ, ज्योतिष आँखें, निरुक्त, कान, शिक्षा नाक और व्याकरण मुख है।[2]

वेदांगकाल की मर्यादा

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष, इन छह वेदांगों का उल्लेख 'गोपथब्राह्मण'[3], 'बौधायन धर्मसूत्र'[4], 'गौतम-धर्मसूत्र'[5] और 'रामायण'[6] जैसे प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से वेदांग की प्राचीनता सिद्ध होती है। विद्यालंकार जी ने इस दूसरे उत्तर-वैदिक युग की सीमा को ८००–२०० ई० पूर्व के बीच रखा है[7]। वेदांगकाल की मर्यादा के सम्बन्ध में दीक्षित जी ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उनके मतानुसार शकपूर्व १५०० वर्ष वेदांग काल की पूर्व सीमा है। उनका कथन है कि तारा-

१. शिक्षा कल्पोऽथव्याकरणं निरुक्तं छन्दसां च यः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदांगानि षडेव तु॥

२. पाणिनीय शिक्षा, ४१-४२

३. गोपथब्राह्मण १।२७

४. बौधायनधर्मसूत्र २।१४२

५. गौतमधर्मसूत्र १५।२८

६. रामायण, बाल० ७।१५३

७. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृ० ३०१

समूहों की आकृति द्वारा उनका नाम रखने की कल्पना वेदों में भी है; किन्तु ये नाम वैदिक काल के नहीं हैं। वेदांग ज्योतिष में भी वे नहीं मिलते हैं। अतः शकपूर्व १५०० वर्ष तक हमारे देश में इनका प्रचार नहीं था।

वेदांग की उत्तर सीमा दीक्षित जी ने वारों और मेषादि राशियों के शोधपूर्ण अध्ययन के आधार पर निर्धारित की है। उनके मतानुसार मेष प्रथम राशि है, और उसका आरंभ अश्विनी नक्षत्र से होता है। ये मेषादि नाम वेदांग ज्योतिष से पहिले नहीं थे। हमारे यहाँ मेषादि संज्ञाओं का प्रचार शकपूर्व ५०० के लगभग हुआ। सारांश यह कि शकपूर्व ५०० वर्ष वेदांग काल की उत्तर सीमा है।[1]

शिक्षा

दूसरे वेदांगों की भाँति शिक्षा भी एक स्वतन्त्र शास्त्र है। जिस प्रकार वैदिक विधियों को संपन्न करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की उपयोगिता है, उसी प्रकार वेद और वैदिक साहित्य की अध्ययन-अध्यापन-संबंधी जो उच्चारण-विधियाँ हैं उनका निर्देश शिक्षाशास्त्र में वर्णित है। संस्कृत-साहित्य के महत्व की एक बहुत जरूरी बात यह है कि जिस प्रकार संस्कृत का एक-एक शब्द शास्त्रीय दृष्टि से व्युत्पन्न एवं सार्थक है, उसी भाँति संस्कृत के एक-एक अक्षर का उच्चारण-स्थान शास्त्रीय दृष्टि से निर्धारित है। एक दूसरी आवश्यक बात जो कि केवल वेदों के संबंध में ही लागू होती है, स्वर प्रक्रिया की है। संपूर्ण संस्कृत साहित्य में शब्दोच्चारण का विशेष महत्व है; किंतु वेदों में शब्दोच्चारण के अतिरिक्त स्वर-प्रक्रिया का भी उतना ही महत्व है।

वेद-पाठ के समय शुद्ध उच्चारण और ठीक स्वर-क्रिया का होना आवश्यक है। उच्चारण-स्खलित और स्वर-भ्रष्ट वेद-पाठ न केवल अशुद्ध हो जाता है, वरन्, उसका एक बहुत बड़ा भारी कुपरिणाम यह होता है कि जिस इष्ट के लिए वह किया जाता है, उसकी जगह अनिष्ट हो जाता है। इसलिए शुद्धोच्चारण और शुद्ध स्वर-क्रिया की विधियाँ एवं उनके ज्ञान की उपलब्धि के लिए 'शिक्षाशास्त्र' नामक वेदांग की आवश्यकता हुई।

शिक्षाशास्त्र का इतिहास बहुत पुराना है, यद्यपि उस दृष्टि से आज इस विषय पर लिखी हुई बहुत कम पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। एक अनुश्रुति के

---

१. शंकर बालकृष्ण दीक्षित : भारतीय ज्योतिष पृ० १९४–१९६

आधार पर विद्यालंकार जी ने जैगीषव्य के शिष्य बाभ्रव्य को 'शिक्षाशास्त्र' का निर्माता बताया है। उनका कहना है कि 'जैगीषव्य के बेटे शंख और लिखित थे, तथा ब्रह्मदत्त के दो मंत्री कण्डरीक (या पुंडरीक) और सुबालक (या गालव)। बाभ्रव्य पांचाल भी जैगीषव्य के शिष्य थे। दोनों पांचालों में से कण्डरीक द्विवेद और छंदो-ग कहलाता तथा बाभ्रव्य वह्वृच (बहुत ऋचाओं का ज्ञाता) और आचार्य। बाभ्रव्य के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति है कि उसने 'शिक्षाशास्त्र' का प्रणयन किया तथा साथ ही ऋक्संहिता का पहिले-पहल क्रमपाठ-व्यवस्थापन भी'।[1]

'महाभारत' के शांतिपर्व में आचार्य गालव कृत एक प्राचीन शिक्षाग्रन्थ का उल्लेख है[2], जिसका निर्देश 'अष्टाध्यायी' में भी किया गया है।[3] गालव गार्ग्य का समकालीन एवं धन्वन्तरि का शिष्य था। उसका पूरा नाम पांचाल बाभ्रव्य गालव था, जिसको ऊपर बहुत ऋचाओं का ज्ञाता एवं आचार्य कहा गया है।

भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना से एक 'भारद्वाजशिक्षा' प्रकाशित हुई है। उसके अन्तिम श्लोक[4] एवं उसके टीकाकार नागेश्वर भट्ट के मतानुसार[5] यह शिक्षाग्रन्थ भरद्वाज-प्रणीत है; किंतु इतिहासकारों ने इसको बाद का संस्करण बताया है।[6] एक चारायणी शिक्षा (चारायण कृत) काश्मीर में भी प्राप्त हुई थी, जिसका उल्लेख डा० कीलहार्न ने किया है।[7]

पाणिनि के पूर्ववर्ती शब्दवित् आचार्य आपिशलि के शिक्षाग्रन्थ का उल्लेख राजशेखर की 'काव्यमीमांसा'[8] और वृषभदेव कृत 'वाक्यपदीय' टीका में मिलता है[9]। आपिशल-शिक्षा के आठवें प्रकरण के २३ सूत्रों का एक लंबा

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, १, पृ० २११
२. महाभारत, शांति० ३४२।१०४
३. अष्टाध्यायी ८।४।६७
४. भारद्वाजशिक्षा, पृ० ९९
५. नागेश्वर की टीका, पृ० १
६. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ६९
७. इण्डियन एंटीक्वेरी (जुलाई)
८. काव्यमीमांसा, पृ० ३
९. वाक्यपदीय टीका, भाग १, पृ० १०५

उद्धरण हेमचंद के 'शब्दानुशासन' की स्वोपज्ञ वृत्ति में उद्धृत है।[१] इसके दो हस्तलेख आडियार के राजकीय पुस्तकालय में हैं। इसका एक संस्करण डा० रघुवीर ने और दूसरा पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने संपादित कर प्रकाशित किये हैं, जिनमें मीमांसक जी का संस्करण अधिक प्रामाणिक है।

पाणिनि और शिक्षाशास्त्र

वर्णों के स्थान एवं प्रयत्न का विचार करने वाले ग्रन्थों का पठन-पाठन पाणिनि के समय में ही प्रचलित हो चुका था। 'गणपाठ'[२] और 'ऋक्प्राति-शाख्य'[3] में भी वर्णों के स्थान एवं प्रयत्नों पर विचार किया गया है। काशिकाकार ने भी पाणिनि के एक सूत्र में उल्लिखित[४] 'छंदसि' पद का प्रत्युदाहरण 'शौनकीया शिक्षा' दिया है। 'शौनकीया शिक्षा' का एक हस्तलेख आडियार पुस्तकालय में है।[५] इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय में ही शिक्षा-ग्रन्थों की भरपूर रचना होने लग गई थी। भर्तृहरि की स्वोपज्ञटीका[६] और उसके उपटीकाकार वृषभदेव[७] की बातों से ऐसा भी ज्ञात होता है कि पाणिनि के समय में ही शिक्षा-ग्रन्थों पर वृत्तियाँ भी लिखी जाने लगी थीं।

पाणिनीय शिक्षा, शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में ऐसा पहिला ग्रन्थ है, जिस पर प्रस्तुत विषय का सारा अस्तित्व निर्भर है। संप्रति प्राप्त पाणिनीय शिक्षा, पाणिनि-रचित प्राचीन शिक्षासूत्रों पर आधारित है। इसके मूलग्रन्थ को उपलब्ध करने और उसको हिन्दी व्याख्या सहित बड़े व्यवस्थित ढंग से 'वर्णोच्चारणशिक्षा' नाम से प्रकाशित करने का श्रेय प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान् स्वामी दयानंद जी सरस्वती को है।

इसके अतिरिक्त वाराणसी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में गौतमशिक्षा, नारदीय शिक्षा, पाण्डुकीय शिक्षा और भारद्वाज-शिक्षा अवलोकनीय हैं। इस

---

३. शब्दानुशासन टीका, पृ० ९, १०
४. गणपाठ ४।२।६१
५. ऋक्प्रातिशाख्य, १३वाँ १४वाँ पटल
६. अष्टाध्यायी ४।३।१०६
७. आडियार पुस्तकालय, मद्रास का सूचीपत्र, भाग २, परिशिष्ट २, सन् १९१८
८. भर्तृहरि : वाक्यपदीय टीका, पृ० १०४ (लाहौर संस्करण)
९. वृषभदेव : वाक्यपदीय उपटीका, पृ० १०५

विषय पर जितने ग्रन्थ लिखे गये उनमें से बहुत सारे आज उपलब्ध नहीं हैं। अलग-अलग वेदों के अलग-अलग शिक्षाग्रन्थ थे, जिनमें तत्तद् वेदों के मंत्रोच्चारण की विधियाँ और स्वरप्रक्रिया का निर्देश था। आज केवल शुक्ल-यजुर्वेद की 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा', सामवेद की 'नारदशिक्षा', अथर्ववेद की 'माण्डूकी शिक्षा' और पाणिनि की 'पाणिनि-शिक्षा' ही उपलब्ध है, जिनको विशेष रूप से उद्धृत किया जाना चाहिये। ऋग्वेद का कोई स्वतंत्र शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उसका आधार पाणिनि-शिक्षा ही है।

शुद्ध उच्चारण का परिणाम

'पाणिनि-शिक्षा' में शुद्धोच्चारण और शुद्ध स्वर-क्रिया पर बड़ा जोर दिया गया है, और साथ ही उस वेदपाठ के परिणाम पर भी प्रकाश डाला गया है, जो विधिपूर्वक सम्पन्न किया जाता है। ऐसा वेदपाठी, स्वर और उच्चारण की दृष्टि से जो एकनिष्ठ होकर वेदपाठ करता है, उसके संबंध में ऐसा कहा गया है कि शुद्ध उच्चरित वर्ण इस लोक में तो उसको संमान प्रदान करते ही हैं, साथ ही ब्रह्मलोक में भी उसकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है। सद्गुरु से भलीभाँति पढ़ा हुआ एवं अभ्यास किया हुआ और परंपरा से प्राप्त विशुद्ध पाठ के साथ उच्चरित वेदमन्त्रों में स्वयमेव ब्रह्म विराजते हैं।[1]

दूसरे वैयाकरण भाष्यकार पतंजलि का तो यहाँ तक कहना है कि अच्छी तरह से जाना हुआ और अच्छी विधि से प्रयोग किया हुआ एक ही शब्द स्वर्ग और मर्त्य, दोनों लोकों की कामना को पूर्ण करता है—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'

धर्म-व्याख्याता आचार्य याज्ञवल्क्य का कहना है कि वेदों का अध्यापन करते हुए गुरुजन उनकी शुद्धता पर बड़ा ध्यान रखते थे। गुरु की शिष्य के प्रति सबसे पहली दीक्षा शुद्ध उच्चारण और विधिपूर्वक स्वर-क्रिया के लिए होती थी।[2]

---

१. एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाऽव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यक्-वर्ण-प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते॥
सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नातं सुव्यवस्थितम्।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते॥ (पाणिनि शिक्षा)

२. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥

अशुद्ध उच्चारण का परिणाम

इसके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थों में ऐसे भी उदाहरण विद्यमान हैं, जिनसे वेदपाठ की अशुद्धता से हुए अनिष्टों का पता लगता है। बाण के 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छ्वास के एक प्रसंग में कहा गया है कि एक बार ऋषि दुर्वासा के अशुद्धोच्चारण पर सरस्वती ने उपहास किया, जिसका प्रायश्चित्त करने के लिए दुर्वासा को मृत्युलोक में आना पड़ा था।

एक निर्देश यास्क ने अपने 'निरुक्त' में किया है, जिसको अत्यन्त उपयोगी समझ कर पाणिनि ने उसको अपनी शिक्षा में भी उद्धृत किया है। इस श्लोक का आशय यह है कि वेदमंत्रों में स्वर और उच्चारण का दोष आ जाने के कारण उन मंत्रों का दूसरा ही अर्थ हो जाता है, जिससे कि उस अनर्थ का परिणाम अनिष्टदायक हो जाता है।[1] स्वर और वर्ण से भ्रष्ट वेदमंत्र अभीष्ट फल देने वाला नहीं होता, अपितु वह इन्द्र-शत्रु की भाँति वाग्वज्र होकर यजमान को ही विनष्ट कर डालता है।

शुद्ध स्वरज्ञान एवं शब्दोच्चारण की विधियाँ

वेदमंत्रों के स्वर-ज्ञान और शब्दोच्चारण के लिए ही इस पृथक् विषय का निर्माण किया गया। व्याकरणशास्त्र के अनुसार स्वरों के तीन भेद हैं: ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इनकी प्रक्रिया के भी तीन नाम हैं: उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में इनकी व्याख्या इस प्रकार की है: 'उच्चैरुदात्तः' ऊँचे स्वर में किया गया उच्चारण उदात्त कहलाता है; 'नीचैरनुदात्तः' नीचे स्वर में किया गया उच्चारण अनुदात्त कहलाता है; और 'समाहारः स्वरितः' उदात्त अनुदात्त के बीच की जो ध्वनि है उसे स्वरित कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की विशुद्धता और कालावधि का परिसीमन 'शिक्षा' का मुख्य विषय है। सामान्यतः वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान ये छह बातें शिक्षाशास्त्र का वर्ण्य विषय है। अ लेकर ह तक जितने भी वर्ण हैं, विविधस्थानीय होने के कारण उनका पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। वर्णों के स्थान हैं: कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ। जो वर्ण जिस स्थान का है उसका उच्चारण वैसा ही होना चाहिए। उदाहरण के लिए

---

१. मन्त्रहीनो स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
—निरुक्त

दन्तस्थानीय 'स' का उच्चारण तालुस्थानीय 'श' जैसा नहीं होना चाहिए। ऐसा हो जाने से वेद-पाठ सदोष हो जाता है। स्वर उपरिलिखित तीन हैं: उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। स्वर-विपर्यय से भी मंत्रार्थ अशुद्ध हो जाता है। मात्रायें तीन हैं: ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इनका अन्तर्भाव स्वरों के ही अन्तर्गत हो जाता है। पिंगल-शास्त्रानुसार मात्रायें गुरु और लघु दो प्रकार की मानी गई हैं। बल कहते हैं प्रयत्न के लिए; प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं: अल्पप्राण और महाप्राण। श्रुति-मधुर वेदपाठ को साम कहते हैं। संतान कहते हैं संधि के लिए। वेदपाठ के समय संधि-विच्छेद का भी ध्यान रखना पड़ता है।

इस प्रकार 'शिक्षा' के उक्त छः वर्ण्य विषयों के समुचित निर्वाह से ही वेदपाठ शुद्ध हो जाता है और उनमें से एक में भी गड़बड़ी हो जाने के फलस्वरूप वेदपाठ विकृत तो हो ही जाता है, साथ ही उसका फल अनिष्टकारी भी होता है। इसलिए 'शिक्षाशास्त्र' का ज्ञान वैदिक मंत्रों की यथेष्ट फल-प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

कल्पसूत्र

मंत्र संहिताओं से लेकर उपनिषद्-ग्रन्थों तक का वाङ्मय वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आता है। उपनिषद्-ग्रंथों का दूसरा 'वेदांत' नाम इसी वैदिक साहित्य की समाप्ति का सूचक है। ऐतिहासिक दृष्टि से, मंत्र-संहिताओं से लेकर षड्-वेदाङ्गों पर्यन्त जितना भी साहित्य है उसको दो बृहद् युगों में विभाजित किया जाता है, जिनके हैं: पूर्व वैदिक युग और उत्तर वैदिक युग। पूर्व वैदिक युग के अन्तर्गत वैदिक साहित्य और उत्तर वैदिक युग के अन्तर्गत वेदांग-साहित्य को परिसीमित किया जा सकता है।

वेदांग छह हैं: शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। वेदों को साक्षात् ब्रह्मस्वरूप माना गया है और ये छह शास्त्र उनके अंग होने के कारण वेदांग की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं। शिक्षा, वेद भगवान् की नासिका, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त कान, छंद चरण और ज्योतिष नेत्र कहे गए हैं[1]। इन छह अंगों में वेद भगवान् का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग कौन है, इस संबंध में कहना कठिन है। वेदांग के इन स्वतन्त्र छह शास्त्रों में वैदिक

---

१. पाणिनीय शिक्षा ४१-४२

साहित्य की बारीकियों की व्याख्या की गई है। एक-एक वेदांग में अपने-अपने विषय का व्यापक विवेचन है।

इतिहासकारों की राय है कि कल्प-ग्रन्थ वेदांग-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। कुछ विद्वान् कल्प-ग्रन्थों को वैदिक साहित्य के अधिक निकट एवं उससे अभिन्न मानने के पक्ष में हैं; किन्तु वैदिक साहित्य अपौरुषेय और वेदांग-साहित्य पुरुषकृत होने के कारण ऐसा मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता है। इतना अवश्य है कि कल्प-ग्रन्थ वेदांग के प्राचीनतम ग्रन्थ और वैदिक-साहित्य के अधिक निकट बैठते हैं।

नामकरण का आधार : शास्त्रीय व्याख्या

'कल्प' और 'सूत्र' इन दो शब्दों के संयोग से 'कल्पसूत्र' का निर्माण हुआ। 'कल्प' एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादक शब्द है, जिसका तात्पर्य है : विधि, नियम, न्याय, कर्म और आदेश आदि। इसी प्रकार 'सूत्र' भी एक स्वतंत्र अर्थ का द्योतक शब्द है, जिसका अर्थ है : संक्षेप। आप्टे के कोश में 'सूत्र' शब्द के विभिन्न अर्थ वर्णित हैं : सूत्र धातु से अच् प्रत्यय करने से 'सूत्र' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है : (७) एक छोटा नियम या (८) एक वाक्य, जो किसी नियम को स्मरण रखने के काम में लाया जाता है; (९) एक रचना या हस्त-पुस्तिका, जिसमें ऐसे-ऐसे छोटे नियम वर्णित हों : जिनमें अक्षर थोड़े हों, जो संदेहरहित हों, जो सारवान हों, जो सर्वत्र प्रयोक्तव्य हों, अप्रतिहत हों और जो दोषरहित हों।[1]

'कल्पसूत्र' की उक्त व्याकरण-संमत शास्त्रीय व्युत्पत्ति के आधार पर विदित होता है कि अनेक विधि-विधानों, कर्मानुष्ठानों, न्याय-नियमों, रीति-व्यवस्थाओं और धर्म-आज्ञाओं का संक्षिप्त, सारयुक्त, संदेहरहित, प्रयोक्तव्य, अप्रतिहत और निर्दोष रूप में विवेचन करना ही कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है।

कल्पसूत्र : एक नये युग के निर्माता

न केवल विषय की दृष्टि से, वरन् एक नये युग के निर्माण की दृष्टि से भी

---

1. सूत्र (सूत्र अच्) 7 A short rule or precept, on aphorism, 8 A short or concise technical sentence used as a memorial rule, it is thus definded :

स्वल्पाक्षर.................................

9 Any work manual containing such aphoristic rule.

संस्कृत-साहित्य में कल्पसूत्रों का अपना विशिष्ट स्थान है। कल्पसूत्रों से लौकिक संस्कृत के अभ्युदय का श्रीगणेश होता है। उत्तर-वैदिक युग में जो अनेक विषयों के सहस्रों ग्रन्थ निर्मित हुए उनको प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रगति देने में सूत्रग्रन्थों का बहुत बड़ा भाग है।

कल्पसूत्रों की रचना के बाद भारतीय साहित्य के इतिहास में एक नई दिशा का सूत्रपात हुआ। कल्पसूत्रों के निर्माण का एक विशिष्ट उद्देश्य था। वैदिक साहित्य विपुल, दुर्गम कठिन और रहस्यमय होने के कारण उसको बोधगम्य करना अति दुस्तर कार्य हो गया था। इसी कठिनाई को दूर करने के हेतु वैदिक विधियों को सूत्रों की संक्षिप्त एवं संकेतपरक भाषा में लिखने की आवश्यकता हुई। 'गागर में सागर' की भांति सूत्रों की संक्षिप्त शब्दावली के द्वारा वेदोक्त विधियों को कण्ठस्थ करने में सुगमता हुई। यही कल्पसूत्रों के निर्माण का विशिष्ट उद्देश्य था। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भाव प्रकट करना सूत्रों की विशेषता है।

भाव, भाषा, विचार, शैली और रचना-विधान की दृष्टि से भी सूत्रयुग में अनेक परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। जिस भाषा का रूप हम वैदिक साहित्य में पाते हैं, भावाभिव्यञ्जन एवं रचनाविधान की दृष्टि से जिस शैली का प्रयोग वेदों से उपनिषद्-ग्रन्थों तक निर्वाहित होता रहा, सूत्र-ग्रन्थों की रचना के बाद उसमें आमूल परिवर्तन दिखाई देता है। इस दृष्टि से यह युग अपना अलग स्थान रखता है।

कल्पसूत्रों का प्रधान विषय कर्मों का प्रतिपादन, संस्कारों की व्याख्या और यज्ञों का विधान वर्णन करना है। यज्ञों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन वेदों से एवं ब्राह्मण-ग्रंथों से चला आया है। अथर्ववेद में यज्ञ को जगत् की उत्पति का स्थान कहा गया है।[1] अथर्ववेद के इन्हीं मंत्रों में कहा गया है कि तपःपूत महर्षिवरों ने भगवान यज्ञपुरुष को आत्मना उद्बुद्ध किया।[2]

यज्ञ की श्रेष्ठता का प्रतिपादक ग्रंथ 'यज्ञपरिभाषासूत्र' है। इसमें दो प्रकार के वैदिक यज्ञों का विधान है : श्रौत और गृह्य। क्रमशः इन द्विविध यज्ञों की सम्यग् व्याख्या श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों में वर्णित है। श्रौत यज्ञ के दो भेद

---

१. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः, अथर्ववेद १०।९०।८

२. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः, अथर्ववेद १०।९०।९

किए गए हैं : सोमसंस्था और हविःसंस्था। गृह्ययज्ञ को पाकसंस्था कहा गया है। इन तीनों यज्ञों के सात-सात भेद किए गए हैं, जिनका सांगोपांग वर्णन 'गोपथब्राह्मण' के पूर्वार्ध में वर्णित है।[1] सोमसंस्था यज्ञ हैं : अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम; हविसंस्था यज्ञ है : अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, पशुबन्ध; और पाकसंस्था यज्ञ हैं : सायंहोत्र, प्रातर्होत्र, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ एवं अष्टका। 'यज्ञपरिभाषासूत्र' के २२ सूत्रों में इन यज्ञों का विधान, व्यवस्थापन और नियम विस्तार से वर्णित हैं।

कल्पसूत्र प्राचीन भारत के कर्मपरायण सात्विक जीवन के परिचायक ग्रंथ हैं। उनमें जीवन की अभ्युन्नति के उपाय और समाज की सद्व्यवस्था की विधियाँ संकलित हैं। उनमें एक ओर तो जीवन को गतिबद्ध करने के तरीके वर्णित हैं और दूसरी ओर मेधावी भारतीय ग्रंथकारों की सुदूरभूत मेधाशक्ति का अपरिमित वैभव भरपूर है।

कल्पसूत्रों का वर्गीकरण

कल्पसूत्रों के प्रधान तीन विभाग हैं, जिनके नाम हैं : श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, और धर्मसूत्र। प्राचीन ग्रंथों के उल्लेख से विदित होता है कि वेदों की ११३० मंत्र-संहिताएँ थीं और ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषद्-ग्रंथों एवं कल्पसूत्रों की संख्या भी मंत्र-संहिताओं जितनी ११३० थी। किन्तु आज न तो उतनी मंत्र-संहिताएँ ही उपलब्ध हैं और न ही उतने ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं कल्पसूत्र ही। कल्पसूत्र संप्रति केवल ४० उपलब्ध हैं। इनमें कुल मिला कर ४२ कर्मों का प्रतिपादन है : १४ श्रौतयज्ञ, ७ गृह्य-यज्ञ, ५ महायज्ञ और १६ संस्कार।

श्रौतसूत्र और उनका विषय

कर्मनिष्ठ हिन्दू जाति के लिए कल्पसूत्रों का बड़ा महत्त्व है। कर्मकाण्ड पर हिन्दू-समाज का अमिट विश्वास दीर्घ काल से चला आ रहा है। श्रौतसूत्र यद्यपि ब्राह्मणग्रंथों में वर्णित कर्मकाण्ड-संबंधी विधानों का ही निर्देश करते हैं, तथापि, उन्हें ब्राह्मण-ग्रंथों एवं वैदिक साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता है। वैदिक संहिताओं में वर्णित जो यज्ञ-यागादि विधान हैं, श्रौतसूत्रों में उनका

---

१. गोपथब्राह्मण ५।२३

सार संकलित है। उनका कार्य वैदिक हवि एवं सोमयज्ञ-संबन्धी धार्मिक अनुष्ठानों का प्रतिपादन करना है। श्रौतसूत्रों में श्रुति-प्रतिपादित चौदह यज्ञों का प्रधानतया विधान है। ऐतिहासिक दृष्टि से श्रौतसूत्र प्रायः महत्वशून्य हैं।

प्रधान श्रौतसूत्रों के नाम हैं: आश्वलायन-श्रौतसूत्र, शांखायन-श्रौतसूत्र, मानव-श्रौतसूत्र, बौधायन-श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी-श्रौतसूत्र, कात्यायन-श्रौतसूत्र, लाट्यायन-श्रौतसूत्र, द्राह्यायण-श्रौतसूत्र, जैमिनीय श्रौत-सूत्र और वैतान-श्रौतसूत्र।

गृह्यसूत्र और उनका विषय

श्रौतसूत्रों के बाद गृह्यसूत्रों का स्थान आता है। गृह्यसूत्रों में गार्हस्थ्य-जीवन-विषयक धार्मिक विधियों का वर्णन है। गृहस्थ-जीवन से संबंधित गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने भी क्रियाकलाप हैं उन सबकी सविस्तार अनुष्ठानविधि गृह्यसूत्रों में वर्णित हैं। जिस प्रकार वैदिक यज्ञों की संख्या १४ है, इसी प्रकार गृह-यज्ञों की संख्या भी ७ है, जिनके नाम हैं: पितृयज्ञ, पार्वणयज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणीयज्ञ, अश्वायुजीयज्ञ, आग्रहायणीयज्ञ और चैत्रीयज्ञ। इन गृह-यज्ञों के अतिरिक्त पाँच महायज्ञों—देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृ-यज्ञ, महायज्ञ और मनुष्ययज्ञ—का भी गृह्यसूत्रों में विधान है।

गृह्य-सूत्रों में पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, उपनयन, समावर्तन, आठ प्रकार के विवाह[1] (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस, पैशाच) और अन्त्येष्टि आदि १६ संस्कारों के विधि-विधान वर्णित हैं।

इन विषयों के अतिरिक्त 'कौशिकगृह्यसूत्र' में चिकित्सा तथा दैविक विपत्तियों को दूर करने के मंत्र भी लिखे हुए हैं। इन गृह्यसूत्रों का एक बहुत बड़ा महत्व यही है कि इनमें हिन्दू धर्म के तत्कालीन गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता और कर्मकाण्डविषयक विश्वासों पर समर्थ प्रकाश डाला गया है।

प्रधान गृह्यसूत्रों के नाम हैं: आश्वलायन-गृह्यसूत्र, शांखायन-गृह्यसूत्र, मानव-गृह्यसूत्र, बौधायन-गृह्यसूत्र, आपस्तंब-गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र, भारद्वाज-गृह्यसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र, द्राह्यायण-गृह्यसूत्र, गोभिल-गृह्यसूत्र, खदिर-गृह्यसूत्र और कौशिक-गृह्यसूत्र।

---

१. आठ विवाहों की व्याख्या और धर्म-आज्ञाओं के लिए देखिए: मनुस्मृति, अध्याय ३, श्लोक २१; याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय १, श्लोक ५८-६१

उत्तर वैदिक युग

धर्मसूत्र और उनका विषय

वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन की पवित्रता एवं आध्यात्मिक अभ्युन्नति के लिए 'गृह्यसूत्रों' ने जिस प्रकार धार्मिक क्रिया-कर्मों का विधान किया है, 'धर्मसूत्रों' ने उससे आगे बढ़ कर सामाजिक जीवन के रीति-रिवाजों, नियमों और प्रथाओं के भीतर समाज के पारस्परिक कर्तव्यों पर प्रकाश डाला है। धर्मसूत्रों में पारलौकिक, सामाजिक, नैतिक क्रिया-कलापों का भी प्रतिपादन किया गया है।

धर्मसूत्रों में सामाजिक आचार-विचार और वर्णाश्रधर्म की विस्तृत मीमांसा की गई है। उनमें वैवाहिक सीमाएँ खान-पान और छुआ-छूत-संबन्धी बारीकियों पर विचार किया गया है। 'गौतमधर्मसूत्र' में कुछ नियम बड़ी उदारवृत्तियुक्त हैं। उदाहरण के लिए उसमें द्विजातियों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों) में पारस्परिक खान-पान की समानता का समर्थन किया गया है; किन्तु उत्तरवर्ती धर्मसूत्रों में इस समानताद्योतक व्यवहार पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। यहाँ तक कि विदेशी भाषाओं का अध्ययन और समुद्रयात्रा को भी धर्माचरण के विरुद्ध माना गया है।

इन आज्ञाओं के अतिरिक्त राज्य-व्यवस्था और कर कानून की भी धर्मसूत्रों में समुचित व्यवस्था वर्णित है। इन धर्मसूत्रों से विदित होता है कि राजा प्रजा-वत्सल होता था और उसके लिए चतुर्वर्ण एक समान होते थे। शासन-विधान का आधार श्रुतियाँ थीं। साथ ही महिला-समाज के उत्तराधिकारों को बड़ी उदारता से निबाहा जाता था। शासन-व्यवस्था प्रजा के हितार्थ थी। राजा-प्रजा के बीच बड़ा भेद-भाव न था। दण्ड-व्यवस्था के संबंध में धर्मसूत्रों की नीति बड़ी असमान और स्वार्थपरतापूर्ण प्रतीत होती है। जहाँ दूसरी जातियों के लिए अंग-भंग जैसे कठोर विधानों की व्यवस्था थी, वहाँ ब्राह्मणों के लिए साधारण अर्थदण्ड मात्र का विधान था और कभी-कभी वे उससे भी मुक्त कर दिए जाते थे। दण्ड-व्यवस्था की यह इतनी असमानता उत्तरवर्ती धर्मशास्त्रविषयक स्मृतिग्रन्थों में नहीं दिखाई देती है। प्रधान धर्मसूत्रों के नाम हैं : वशिष्ठधर्मसूत्र, मानवधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र और गौतमधर्मसूत्र।

ऋग्वेद के कल्पसूत्र और उनके व्याख्याकार

ऋग्वेद का पहिला सूत्र-ग्रंथ 'आश्वलायन' और दूसरा 'शांखायन' है। 'आश्वलायनश्रौतसूत्र' के ग्यारह भाष्यकारों के नाम हैं : नारायण गर्ग, देवपात्र,

विद्यारण्यमुनि, कल्याणधी, दयाशंकर, मण्डन भट्ट, मथुरानाथ भट्ट, महादेव, फुल्लभट्टसुत, षड्गुरुशिष्य और सिद्धान्ती। नारायण नामक किसी पण्डित ने 'शांखायनश्रौतसूत्र' पर भाष्य लिखा। भट्ट नारायण और आश्वलायन-भाष्यकार नारायण गर्ग दोनों भिन्न थे। भट्ट नारायण के पितामह का नाम श्रीपति एवं पिता का नाम कृष्णजी और नारायण गर्ग के पिता का नाम पशुपति शर्मा था। 'शांखायन' के एक भाष्यकार श्रीपति के पुत्र विष्णु हुए, जिनके भाष्य का नाम 'ऋतुरत्नमाला' है। इसके अतिरिक्त 'शांखायनश्रौतसूत्र' के दूसरे भाष्यकारों में मलयदेशीय वरदपुत्र आनर्तीय, दासशर्मा और गोविन्द पण्डित का नाम उल्लेखनीय है।

श्रौतसूत्रों के अतिरिक्त ऋग्वेद के गृह्यसूत्र भी हैं, जिनमें 'आश्वलायन' गृह्यसूत्र और 'शांखायन गृह्यसूत्र' प्रमुख हैं। तीसरा गृह्यसूत्र 'शौनक' का भी मिलता है। 'शांखायन गृह्यसूत्र' के प्रमुख भाष्य-ग्रन्थों में 'सुमंतसूत्र-भाष्य', 'जैमिनीय-सूत्रभाष्य', 'वैशम्पायन-सूत्रभाष्य' और 'पैल-सूत्रभाष्य' उल्लेखनीय है। 'शांखायन गृह्यसूत्र' के एक भाष्यकार नैमिषारण्यवासी रामचंद्र नामक विद्वान् हुए। इनके अतिरिक्त 'शांखायन' पर लिखे गए भाष्यों में दयाशंकरकृत 'गृह्यसूत्रप्रयोगदीप', रघुनाथकृत 'अर्थदर्पण', रामचंद्रकृत 'गृह्यसूत्रपद्धति', वासुदेवकृत 'गृह्यसंग्रह' और कृष्णजी के पुत्र नारायणकृत एक नामरहित भाष्य प्रमुख हैं।

यजुर्वेद के कल्पसूत्र और उनके व्याख्याकार

यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों में कठ, मानव, लौगाक्षि और कात्य सुप्रसिद्ध हैं। कल्पसूत्रों के विश्रुत एवं प्रामाणिक भाष्यकार महादेव ने यजुर्वेद के कई दूसरे सूत्रग्रन्थों के नाम दिए हैं; जैसे : यजुर्वेदीय बौद्धायन, भारद्वाज, आपस्तंब, हिरण्यकेशी, वाधुल और वैखानस। 'आपस्तंब-सूत्र' के भाष्यकारों में धूर्तस्वामी, कपर्दिस्वामी, रुद्रदत्त, गुरुदेवस्वामी, करविंदस्वामी, अहोबलसूर्य, गोपाल, रामाग्निज, कौशिकाराम और ब्रह्मानंद के नाम प्रमुख हैं।

कृष्ण यजुर्वेद के कतिपय गृह्यसूत्र और उन पर अनेक भाष्य मिलते हैं। 'आपस्तंब' गृह्यसूत्र पर कर्काचार्य, सुदर्शनाचार्य, तालवृंतस्वामी, हरिदत्त, कृष्णभट्ट, सहदेव और धूर्तस्वामी के भाष्य; 'भारद्वाज' गृह्यसूत्र पर कपर्दिस्वामी तथा रंगभट्ट के भाष्य; और 'हिरण्यकेशी' गृह्यसूत्र पर मातृदत्त का भाष्य, कृष्ण यजुर्वेद के गृह्यसूत्रों पर लिखे गए भाष्यों में उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त

'लौगाक्षीय काठक' गृह्यसूत्र पर देवपाल कृत वृत्ति और 'मानव' गृह्यसूत्र पर अष्टावक्र की वृत्ति प्रसिद्ध हैं।

कृष्ण यजुर्वेद के शुल्वसूत्र और धर्मसूत्र भी उपलब्ध हैं, जिन पर कि अनेक भाष्यकारों ने भाष्य लिखे। 'मानव' शुल्वसूत्र के भाष्यकारों में शंकर और शिवदास; 'आपस्तंब' शुल्वसूत्र के भाष्यकारों में कपर्दिस्वामी, करविंद-स्वामी, सुन्दरराज और 'बौद्धापनीय' शुल्वसूत्र पर द्वारकानाथ तथा वेंकटेश्वर दीक्षित प्रमुख हैं। इसी प्रकार 'आपस्तंब' धर्मसूत्रों पर हरिदत्त, अड्वील, धूर्त स्वामी और नृसिंहाचार्य की वृत्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

शुक्ल यजुर्वेद

शुक्ल यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों में 'कात्यायन' श्रौतसूत्र प्रमुख है, जिस पर अनेक विद्वानों ने प्रामाणिक भाष्य और वृत्तियाँ लिखीं। ऐसे भाष्यकारों और वृत्तिकारों में यशोगोपि, पितृभूति, कर्क, भर्तृयज्ञ, श्रीअनन्त, गंगाधर, गदाधर, गर्ग, पद्मनाभ, भास्करमिश्र, अग्निहोत्री, याज्ञिकदेव, श्रीधर, हरिहर और महादेव के नाम उल्लेखनीय हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के 'वैजवाप श्रौतसूत्र', 'वैजवाप गृह्यसूत्र' और 'कातीय गृह्यसूत्र' भी उल्लेखनीय हैं। 'कातीय गृह्यसूत्र' का रचनाकार पारस्कराचार्य, उसका पद्धतिकार वासुदेव और टीकाकार जयराम के नाम प्रमुख हैं। इसी गृह्यसूत्र पर एक पांडित्यपूर्ण टीका शंकर गणपति (रामकृष्ण) की है। इस ग्रन्थ पर कर्क, गदाधर, जयराम, मुरारि मिश्र, रेणुकाचार्य, वागीश्वरदत्त और वेदमिश्र के भाष्य प्रसिद्ध हैं।

सामवेद के कल्पसूत्र और उनके व्याख्याकार

चारों वेदों में सामवेद के सर्वाधिक कल्पसूत्र उपलब्ध हैं। सामवेद के 'पंचविंश' ब्राह्मण के श्रौतसूत्र का नाम 'माशक' या 'मशक' है। इस पर वरद-राज का प्रामाणिक भाष्य है। कौथुमीय शाखा का एक 'लाट्यायनश्रौतसूत्र' भी 'पंचविंश' ब्राह्मण का ही श्रौतसूत्र है। इस पर रामकृष्ण दीक्षित, सायणा-चार्य और अग्निस्वामी के सुप्रसिद्ध भाष्य हैं। सामवेद की राणायणीय शाखा से संबद्ध एक 'द्राह्यायण श्रौतसूत्र' है। इसका दूसरा नाम 'वशिष्ठ सूत्र' भी है। इस पर मध्वस्वामी का प्रामाणिक भाष्य है, जिसका कि 'औद्गात्र-सार-संग्रह'

नाम से रुद्रस्वामी ने संस्कार किया। आचार्य धन्विन् ने इस पर 'छांदोग्य-सूत्र-दीप' नाम से एक वृत्ति भी लिखी।

एक 'अनुपद' श्रौतसूत्र भी सामवेद का उपलब्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रंथ का बड़ा महत्त्व है। इसमें सामवेद के कतिपय विनष्ट सूत्र-ग्रंथों का पता लगता है। एक दूसरा श्रौतसूत्र 'पुष्प-सूत्र' के नाम से उपलब्ध है, जिसका रचयिता गोभिल बताया जाता है, किन्तु दाक्षिणात्य परंपरा के अनुसार इसका रचयिता गोभिल न हो कर वररुचि थे। इस के प्रथम चार प्रपाठकों को छोड़ कर शेष ग्रंथ पर अजातशत्रु का भाष्य है। दामोदर के पुत्र रामकृष्ण ने भी इस पर एक वृत्ति लिखी।

इसी प्रकार 'साम-तंत्र' नाम से एक सूत्र-ग्रंथ है, जिसका विषय व्याकरण है। इस पर दयाशंकर और रामकृष्ण ने वृत्तियाँ लिखीं। 'पंचविधिसूत्र' और 'प्रतिहारसूत्र' का रचयिता कात्यायन को बताया जाता है, जिन पर वरदराज की पांडित्यपूर्ण वृत्ति है। इनके अतिरिक्त सामवेदीय सूत्रग्रंथों में 'ताण्ड्य-लक्षण-सूत्र', 'उपग्रंथसूत्र', 'कल्याणानुपदसूत्र', 'अनुस्तोमसूत्र' और 'क्षुद्रसूत्र' आदि उल्लेखनीय हैं।

सामवेद के गृह्यसूत्र का नाम 'गोभिल' है, जिस पर कात्यायन ने 'कर्म-प्रदीप' नाम से परिशिष्ट लिखा। यह स्मृति श्रेणी का ग्रंथ है। कात्यायन-परिशिष्ट पर आदित्य शिवराम ने एक टीका लिखी। 'गोभिल' गृह्यसूत्र के प्रमुख टीकाकार हुए: भट्टनारायण, सायण, और विश्राम के पुत्र शिवि। सामवेद का दूसरा 'खादिर' गृह्यसूत्र भी उपलब्ध है, जिस पर स्कंदस्वामी की पांडित्य-पूर्ण वृत्ति है। वामन ने इस पर कारिकाएँ लिखीं। एक तीसरा गृह्यसूत्र 'पितृमेध' नाम से प्रचलित है जिसको गौतमकृत बताया जाता है। इस ग्रंथ के सुप्रसिद्ध टीकाकार अनंतज्ञान का कहना है कि ये गौतम न्यायसूत्रों के प्रणेता अक्षपाद महर्षि गौतम ही थे।

सामवेद का एक 'गौतमधर्मसूत्र' भी उपलब्ध है, ऐतिहासिक और विषय-वस्तु की दृष्टि से जिसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अथर्ववेद के कल्पसूत्र

अथर्ववेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'गोपथ' का नाम अधिक प्रसिद्ध है। इसी ब्राह्मण-ग्रंथ पर आधारित अथर्ववेद के पांच सूत्रग्रंथ हैं, जिनके नाम हैं: 'कौशिक-सूत्र', 'वैतानसूत्र', 'नक्षत्रकल्पसूत्र', 'अंगिरसकल्पसूत्र' और 'शांतिकल्पसूत्र'।

'प्रपंच हृदय' में लिखा है कि पैप्पलाद-शाखाप्रोक्त सप्त-अध्याय-युक्त 'आथर्वण-कल्पसूत्र' अगस्त्यप्रवर्तित है।[1] अगस्त्यप्रोक्त कल्पसूत्र के गृह्यभाग का उल्लेख 'आपस्तंबस्मृति' में भी मिलता है।[2]

कल्पसूत्रों का निर्माण-काल

वैदिककालीन और उत्तर वैदिककालीन, जितना भी साहित्य था वह पूरा-का-पूरा परंपरा से मौखिक रूप में ही जीवित रहता चला आ रहा था। भारतीय वर्णमाला का निर्माण यद्यपि वैदिक युग में ही हो चुका था और यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में तत्कालीन वर्णमाला के संबंध में उल्लेख मिलते हैं;[3] तथापि, इन वेदोक्त वर्णमालासंबंधी विवरणों का अध्ययन कर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके निर्माण का उद्देश्य लेखन कार्य के लिए न होकर केवल शास्त्रीय विचार के लिए था। वैदिक युग का समग्र ज्ञान कंठाग्र था। जिन विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं का उल्लेख हम वैदिक युग में पाते हैं, वही उस युग की पुस्तकें भी थीं। ऋषि-आश्रमों की विभिन्न शाखायें अपने संप्रदाय के समग्र ज्ञान की अधिकारिणी थीं। अपनी शाखा के संपूर्ण साहित्य को जीवित रखना उसके जिम्मे था। अलग-अलग शाखाओं में अलग-अलग विषय का ज्ञान वर्गीकृत था। यही शाखायें तत्कालीन पुस्तकें और उन शाखाओं के बहुसंख्यक शिष्य ही उस पुस्तक के पृष्ठ थे, जिनकी वाणी में सहस्रों वर्षों तक वैदिक ज्ञान परंपरा से जीवित होता आया।

किन्तु उत्तर वैदिकयुग में ऐसी परिस्थिति, इतनी प्रतिभा और इतना ज्ञानानुराग न रहा। 'नारदपुराण' के एक प्रसंग से हमें विदित होता है कि छः मास के बाद ही कंठ-गत ज्ञान विस्मृत होने लगा। जिन ऋषि-वंशजों के पास जो मौखिक ज्ञान सुरक्षित था, लिपिबद्ध होने के अभाव में उसका समग्र ज्ञान उसकी मृत्यु के बाद उसी के साथ अन्तर्धान होता गया।

सिंधु-सभ्यता के उपलब्ध पुरातत्त्वविषयक आलेखों से, जिनका समय वैदिक युग के लगभग है, यह स्पष्ट है कि जहाँ सैंधवजन लेखनशैली और कलाकारिता, दोनों में निपुण थे, वहाँ आर्य लोग दोनों से अनभिज्ञ थे।

---

१. प्रपंचहृदय, पृ० ३३
२. आपस्तंबस्मृति, पृ० ७
३. यजुर्वेद, ३४।९, ५७।२३ तथा अथर्ववेद, ४०।३।१८

इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने भी 'नारदपुराण' के कथन का समर्थन करते हुए कहा है कि मृतक व्यक्ति के साथ उसका समग्र मौखिक ज्ञान भी विलुप्त हो जाता था। वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ने का एक कारण यह भी था कि वेदकालीन संपूर्ण ज्ञान श्रुत-जीवित ही चला आ रहा था।

उत्तर वैदिकयुग के संमुख, वैदिकयुग की अपेक्षा एक परिवर्तित परिस्थिति यह भी थी कि तब तक ज्ञान के विभिन्न स्रोतों का आविर्भाव हो चुका था, जिनका सामना पूर्ववैदिक युग को नहीं करना पड़ा था और जिनको संभालना अब उत्तरवैदिक युग के हिस्से में आ पड़ा था।

इसलिए वैदिक ज्ञान की विलुप्त परंपरा को सुरक्षित रखने और ज्ञान के नव-आविर्भूत स्रोतों को गतिबद्ध करने के लिए उत्तरवैदिक युग का आविर्भाव हुआ और उसका आरंभ किया सूत्र-ग्रंथों ने। भोजपत्रों और ताड़पत्रों पर ग्रंथ-निर्माण की परंपरा का आरंभ सूत्र-ग्रंथों से हुआ। सूत्र-ग्रंथों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रविषयक विधि-विधान-संबंधी जितने भी ग्रंथ थे, वे भी बाद में बौद्धधर्म के धार्मिक द्रोह के कारण लिपिबद्ध होने आरंभ हुए। विद्वानों की राय में 'सूत्र-काल' का जन्म बौद्ध-धर्म के साथ-साथ या उससे कुछ पूर्व हुआ[1]। इस दृष्टि से संपूर्ण सूत्र-साहित्य के निर्माण के लिए हम ६००, ७००, ई० पू० से २०० ई० पू० का आनुमानिक समय निर्धारित कर सकते हैं।[2]

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' से कल्पसूत्रों के संबंध में एक नया दृष्टिकोण सामने आता है। 'अष्टाध्यायी' के एक सूत्र में कल्पसूत्रों का नाम-निर्देश ही नहीं है, वरन्, उनकी प्राचीन और नवीन, दो श्रेणियों का भी उल्लेख है।[3] काशिका-कार ने प्राचीन कल्पों की श्रेणी में पैङ्ग तथा आरुणयराज और नवीन कल्पों की श्रेणी में आश्मरथ को उद्धृत किया है। कुमारिल भट्ट ने भी 'अरुणपराशर शाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वात्' से काशिकाकार के वचनों की प्रामाणिकता सिद्ध की है।[4] जैन शाकटायन की 'चिन्तामणिवृत्ति' में भी 'पैंगलीकल्प' का निर्देश मिलता है।[5] 'बौद्धायनश्रौतसूत्र' में भी एक 'पैंगलायनिब्राह्मण'

१, इंडियाज पास्ट, पृ० ५०.
२. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड १, पृ० २२७.
३. अष्टाध्यायी ४।३।१०५
४. तंत्रवार्तिक १।२।६
५. चिंतामणिवृति ३।१।७५

उद्धृत है।[1] पाणिनि के एक दूसरे सूत्र में 'काश्यप' और 'कौशिक' ग्रंथों का उल्लेख मिलता है।[2] कात्यायनकृत 'महाभाष्य-वार्तिक' में 'काश्यप' और 'कौशिक' कल्पसूत्रों की प्रामाणिकता का समर्थन है।[3]

गृहपति शौनक, पाणिनि का समकालीन या उससे कुछ पहिले हुआ था।[4] शौनक का एक शिष्य आश्वलायन था।[5] उसने आश्वलायन और गृह्यसूत्रों का प्रवचन किया। शौनक का दूसरा शिष्य कात्यायन था।[6] उसने कात्यायन-श्रौत और गृह्यसूत्रों की रचना की। संप्रति उपलब्ध 'कात्यायनस्मृति' आधुनिक है।[7]

कल्पसूत्रों में आर्य जाति के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के प्राचीनतम कर्मानुष्ठान वर्णित हैं। कल्पसूत्रों का जिस क्रम से उल्लेख हुआ है वह उनका ऐतिहासिक क्रम न होकर विषय-क्रम है। कल्पसूत्रों के निर्माणस्थल वही पवित्र ऋषि-आश्रम थे, जहाँ पर वैदिक साहित्य की शाखाओं की स्थापना हुई। कल्पसूत्रों के निर्माता भी वही संप्रदाय थे, जिनका हम पूर्ववैदिक युग में परिचय प्राप्त कर चुके हैं। संस्कृत-साहित्य के सर्वोपरि वैयाकरण पाणिनि ने अपने व्याकरण-ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में धर्मसूत्रकार एक चरण का उल्लेख किया है।[8] इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए सुप्रसिद्ध भाष्यकार पतंजलि ने 'काठक',

---

१. वौधायन श्रौत० २।७
२. अष्टाध्यायी ४।३।१०३
३. महाभाष्य ४।२।६६ पर कात्यायन का वार्तिक
४. नोटः—महाभारत (आदि० १।१ तथा ४।१) से विदित होता है कि जनमेजय के यज्ञ के अवसर पर शौनक ऋषि नैमिषारण्य में द्वादशवर्षीय यज्ञ आरंभ कर रहा था। विष्णुपुराण (४।२१।४) में लिखा है कि जनमेजय के पुत्र शतानीक ने शौनक ऋषि से आत्मोपदेश लिया था। 'मत्स्यपुराण' (२५।४, ५) कहता है कि शौनक ने शतानीक को 'ययाति चरित' सुनाया था। वायुपुराण (१।१२, १४, २३) के अनुसार अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल में कुरुक्षेत्र में नैमिषारण्य ऋषियों द्वारा किए गए सत्र में सर्वशास्त्रविद् गृहपति शौनक विद्यमान था। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि शौनक दीर्घजीवी था। उसने लगभग ३०० वर्ष की आयु भोगी। (देखिए—मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० १३९)
५. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० २६
६. वेदार्थदीपिका, पृ० ५७
७. मीमांसक : सं० व्या० इति०, पृ० १७८
८. पाणिनि : अष्टाध्यायी, 'चरणेभ्यो धर्मवित्', ४।२।२६

'कालापक', 'मौदक', 'पैप्पलाद' और 'आथर्वण' नामक प्राचीन धर्मसूत्रों का उल्लेख किया है। संप्रति ये सभी धर्मसूत्र अनुपलब्ध हैं; किन्तु इन विलुप्त धर्मसूत्रों का समय ७०० ई० पू० अवश्य था।

धर्मसूत्रकारों में गौतम, बोधायन, आपस्तंब और वशिष्ठ का नाम प्रमुख है। धर्मसूत्रों के निर्माण के लिए विद्वानों की अलग-अलग स्थापनायें हैं। कुछ विद्वानों की राय में गौतम का समय ५०० ई० पू० था[1]। बौधायन का समय भी लगभग यही है। सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् डॉ० जे० जी० बूलर ने १८७१ ई० में 'आपस्तंबसूत्र' का संपादन कर उसको प्रकाशित करवाया। इन्होंने इस सूत्रग्रंथ का निर्माण-काल ४०० ई० पू० के आस-पास सिद्ध किया है[2]। इतिहासकारों की राय में वशिष्ठ, गौतम के बाद और आपस्तंब से पूर्व हुए। बोधायन और आपस्तंब, दोनों दाक्षिणात्य थे[3] और वशिष्ठ निश्चित रूप से उत्तर भारत के थे[4]। इन धर्मसूत्रकारों के सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'मानवधर्मसूत्र' का भी उल्लेख मिलता है, जो कि संप्रति अप्राप्य है। 'मनुस्मृति' का आधारभूत ग्रंथ संभवतः 'मानवधर्मसूत्र' ही था।

डॉ० जौली के मतानुसार 'गौतम-धर्मसूत्र' सब सूत्र-ग्रंथों में प्राचीन है, जिसकी समय-सीमा उन्होंने ६०० या ५०० ई० पू० निर्धारित की है। उसके बाद जौली साहब ने 'बौधायन-सूत्र' का रचनाकाल माना है। 'आपस्तंबसूत्र' को उन्होंने बूलर के मत से मिलते-जुलते ५०० या ४०० ई० पू० का बताया है और उसके बाद सबसे अन्त में 'वासिष्ठ-सूत्र' की रचना मानी है।

डॉ० जौली से कुछ असहमत होकर डॉ० जयसवाल 'गौतमधर्मसूत्र' का निर्माण ३५०-३०० ई० पू० के बीच और २०० ई० पू० में उसका पुनः संस्करण होना बताते हैं। 'पारस्करगृह्यसूत्र' और 'बौधायन-धर्मसूत्र' को डॉ० जयसवाल ५०० ई० पू० और उनके वर्तमान रूपों का २०० ई० पू० में संस्करण हुआ स्वीकार करते हैं[5]। 'वाशिष्ठ-धर्मसूत्र' का निर्माण उनकी दृष्टि में १०० ई० पू० हुआ। 'आपस्तंब' के लिए वे डॉ० जौली का मत ही स्वीकार करते हैं।

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २६०

२. इन्ट्रोडक्शन इन आपस्तंव सूत्र

३. उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ६०

४. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ४७

५. हिन्दू राजतंत्र, पृ० २०

बौधायन और आपस्तंब दोनों ५०० ई० पूर्व में हुए हैं। इन दोनों ने श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्वसूत्रों का निर्माण किया।[1] संस्कृत-साहित्य के सुविज्ञ विद्वान् बूलर साहब ने तथा दूसरे शोधकर्ता विदेशी पंडितों ने बौधायन का समय आपस्तंब से सौ-दो-सौ वर्ष पहिले माना है। इस दृष्टि से 'आपस्तंब-धर्मसूत्र' का रचनाकाल ३०० ई० पूर्व और 'बौधायन धर्मसूत्र' का रचना-काल ४०० या ५०० ई० पूर्व बैठता है।[2] किन्तु तिलक प्रभृति कुछ भारतीय इतिहासज्ञ एवं ज्योतिर्विद् सूत्रग्रंथों की सीमा को और पहिले, शकारंभ के कम-से-कम चार सौ वर्ष पहिले[3] मानते हैं।

सूत्रग्रंथों की निर्माण-परम्परा को श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य १३०० ई० पूर्व में ले जाते हैं।[4] डा० गोरखप्रसाद का कथन है कि 'बौधायन-श्रौतसूत्र' के समय में श्रोण और कृत्तिकाओं का उदय एक ही दिशा में होता था। इससे पता चलता है कि 'बौधायन-श्रौतसूत्र' का समय लगभग १३३० ई० पूर्व रहा होगा।[5] किन्तु हमारी दृष्टिसे सूत्रग्रंथों का समय इतना प्राचीन नहीं बैठता है।

मुख्य उपनिषदों का अंतिम समय अनुमानतः हम आठवीं शताब्दी ई० पूर्व रख सकते हैं। कल्पसूत्रों का आरम्भ उपनिषद्-ग्रंथों की अन्त्येष्टि के बाद हुआ। किन्तु संप्रति जो श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र हमें उपलब्ध हैं, वे प्रायः छठी या पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व से दूसरी शताब्दी ई० पूर्व तक के हैं। किन्तु प्राचीन चारणों के आश्रयों में संपादन और परिमार्जन की प्रक्रिया कैसी होती थी, इसका अध्ययन वैदिक संहिताओं के प्रसंग में कर चुके हैं। इसी कारण इन सूत्रों का विद्यमान रूप भले ही पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व के पीछे का हो; किन्तु उनमें बहुत कुछ पुरानी बातें विद्यमान हैं।[6]

---

१. वी० वरदाचार्य : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, अनु० डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० ४५, ७९ (१९५६)

२. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज, वाल्यूम २, इंट्रो०, पृ० १०, १३; वाल्यूम १४, इंट्रो०, पृ० १०, १२

३. तिलक : गीतारहस्य, पृ० ५६७ तथा शंकर बालकृष्ण दीक्षित : भारतीय ज्योतिः-शास्त्र, (मराठी) पृ० १०२

४. वैद्य : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (वैदिक पीरियड), पृ० २७

५. डॉ० गोरखप्रसाद : जरनल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन, जुलाई १९३६ तथा उन्हींका भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ५२; प्रकाशन ब्यूरो, लखनऊ १९५६

६. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा १, पृ० ३००-३०१

ईसवी पूर्व की ये छः-सात शताब्दियाँ साहित्य-निर्माण की दृष्टि से बड़े महत्त्व की शताब्दियाँ रही हैं। लगभग इसी युग में बौद्ध-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा कौटिल्य का अर्थशास्त्र (४०० ई० पूर्व) निर्मित हुआ, जिससे कि धर्मशास्त्र की ही भाँति अर्थशास्त्र भी अपनी अलग प्रतिष्ठा स्थापित कर चुका था। सांख्य, योग और लोकायत, इन तीन दर्शन-संप्रदायों के अतिरिक्त, इस युग में बौद्ध-न्याय ने विशेष ख्याति अर्जित की। लगभग ई० पूर्व, पाँचवीं शताब्दी में ही इतिहास और पुराण इन दोनों विषयों ने स्वतंत्र रूप से अपना निर्माण किया। 'रामायण', 'महाभारत' का संस्करण और 'भगवद्गीता' की अन्त्येष्टि का समय भी यही था। इसी समय को सूत्रग्रंथों के निर्माण का भी समय माना गया है।

सूत्र-ग्रंथों की रचना के विषय में विभिन्न इतिहासकारों की खोजों से विदित होता है कि कल्पसूत्रों के निर्माण की पूर्व सीमा ७०० ई० पूर्व और लगभग २००, १०० ई० पूर्व तक उनका पुनः संस्करण, संशोधन एवं संपादन होता गया।

व्याकरण

व्याकरणशास्त्र को वेदांगों की श्रेणी में इसलिए रखा गया कि एक ओर तो वह अतिगूढ़ वेदमंत्रों के अर्थ व्यक्त करने की कुंजी है और दूसरी ओर ऐसा भी कवच है, जिससे वेदमंत्र सुरक्षित रह सकें। पहिले भी संकेत किया जा चुका है कि संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् शब्द-भंडार अपनी-अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ-सापेक्ष्य है। शब्दों की व्युत्पत्ति के उद्देश्य से ही व्याकरणशास्त्र का प्रणयन किया गया। 'व्याकरण' शब्द का अर्थ ही शब्दों की व्युत्पत्ति करना है : व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।

मोटे रूप में संपूर्ण संस्कृत-साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : वैदिक और लौकिक। यद्यपि लौकिक साहित्य की आधार भूमि वैदिक साहित्य ही है; तथापि दोनों की अपनी-अपनी अलग मौलिकताएँ हैं। लौकिक संस्कृत की शब्दोत्पत्ति के लिए जैसे अनेक व्याकरण ग्रंथ हैं, ठीक उसी भाँति वैदिक संस्कृत को शब्द-निष्पति के लिए अलग व्याकरण ग्रंथ निर्मित हुए हैं। लौकिक संस्कृत का एकमात्र प्रामाणिक ग्रंथ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। यद्यपि 'अष्टाध्यायी' से पहिले और बाद में भी अनेक व्याकरण-ग्रंथ रचे गये;

किन्तु पूर्ववर्ती ग्रंथ तो संप्रति उपलब्ध नहीं है और जो ग्रंथ बाद में भी रचे गए, उनमें भी 'अष्टाध्यायी' जितनी सर्वांगीणता एवं सार्वभौमिकता नहीं है। 'अष्टाध्यायी' की परंपरा में रचे गए ग्रंथों एवं ग्रंथकारों में कलाप, चांद्र (६ श०), जैनेन्द्र (८ वीं श०), शाकटायन (९ वीं श०), संक्षिप्तसार (९ वीं श०), सारस्वत (११ वीं श०), हेमचंद्र (१२ वीं श०), मुग्धबोध (१३ वीं श०) और सुपद्म (१४ वीं श०) का उल्लेखनीय स्थान है। 'अष्टाध्यायी' के अंत में वैदिक भाषा से संबंधित एक 'स्वर-वैदिकी' प्रक्रिया है; किन्तु प्रधानतः यह लौकिक भाषा का ही व्याकरण है।

वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके अर्थबोध के लिए विशिष्ट रूप से जिन व्याकरण ग्रंथों को रचा गया उनका नाम 'प्रातिशाख्य' है। इन प्रातिशाख्य ग्रंथों के मूल सूत्र ब्राह्मण-ग्रंथों और कल्पसूत्रों में विद्यमान है। इस दृष्टि से सिद्ध है कि प्रातिशाख्यकार वैयाकरणों ने अपने ग्रंथों के निर्माण की प्रेरणा वैदिक साहित्य के प्राचीन ग्रंथों से ही प्राप्त की है।

तुलनात्मक दृष्टि के 'अष्टाध्यायी' में शब्द-रचना के संबंध में जितनी बारीकी और गहराई से विचार किया गया है, प्रातिशाख्यों में वैसी मौलिकता नहीं मिलती है। प्रातिशाख्यों का विषय है : वर्णसमाम्नाय, पदविभाग, संधि-विच्छेद, स्वरविचार, संहितापाठ और उच्चारणभेद।

वर्ण-समाम्नाय में स्वर-व्यंजनों पर विचार और उनके उच्चारण आदि की विधियों पर प्रकाश डाला गया है। पद-विभाग में प्रगृह्य-संज्ञा, अवग्रह और उनके नियम तथा अपवाद वर्णित हैं। संधि-विच्छेद में अच् , हल् और विसर्ग आदि संधियों के नियम, तरीके वर्णित हैं। स्वर-विचार में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का परिचय एवं भेद तथा आख्यात-स्वरों पर प्रकाश डाला गया है। पाठ-विचार में संहिता-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ, पाद-पाठ और पद-पाठ के भेद-प्रदर्शक नियम, यथा : सत्व, पत्व, दीर्घ आदि विषयों की मीमांसा की गई है। उच्चारणविचार में प्रश्लेष, विश्लेष, वृद्ध, अवृद्ध, गत, अगत, उच्च, नीच, कृष्ट, अकृष्ट, संकृष्ट आदि-ध्वनि भेदों का सविस्तार वर्णन है।

प्रातिशाख्य-ग्रंथ, अनेक थे। संभवतः ११३० वैदिक संहिताओं के जितने ही प्रातिशाख्य भी रहे हों; किन्तु कुछ ही उपलब्ध वेद की शाखाओं की तरह, प्रातिशाख्य भी बहुत कम संख्या में उपलब्ध है। उपलब्ध प्रातिशाख्यों में 'ऋक् प्रातिशाख्य', (पार्षद सूत्र) 'शुक्लयजुः प्रातिशाख्य', 'साम प्रातिशाख्य',

'अथर्व प्रातिशाख्य' और 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का नाम उल्लेखनीय है। ऋग्वेद का प्रातिशाख्य एक बृहद् ग्रंथ है। इसका रचयिता आश्वलायन का गुरु शौनक था। इस ग्रंथ में तीन कांड और प्रत्येक कांड में ६ पटल हैं। ये पटल १०३ कण्डिकाओं में विभक्त हैं। इस ग्रंथ पर सबसे पहिला भाष्य विष्णुपुत्र ने लिखा। उब्वट इस ग्रंथ के संस्कर्ता और नये भाष्यकार हुए।

तमिल साहित्य में अगस्त्य का नाम एक निष्णात वैयाकरण के रूप में विख्यात है। अगस्त्य ने 'ऋक् प्रातिशाख्य' से भी पहिले एक वैदिक व्याकरण की रचना की थी, क्योंकि उक्त प्रातिशाख्य ग्रंथ में अगस्त्य-व्याकरण का हवाला दिया गया है।[1] तंजोर-भंडार की हस्तलिखित पोथियों के सूचीपत्र में भी अगस्त्य-व्याकरण का उल्लेख मिलने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।[2]

ये अगस्त्य आयुर्वेदज्ञ भी थे। आयुर्वेद का ज्ञान उन्होंने आचार्य भास्कर से प्राप्त किया था, क्योंकि 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' में भास्कर-शिष्यों की सूची में अगस्त्य का नाम भी उल्लिखित है।[3] 'महाभारत' में एक स्थान पर द्रोण के मुँह से कहलाया गया है कि 'पूर्वकाल में अग्निवेश नामक मेरा गुरु धनुर्वेद में अगस्त्य का शिष्य था'।[4] इस दृष्टि से अगस्त्य को एक ऐतिहासिक पुरुष और वह भी महाभारत कालीन मानने में संदेह नहीं रह जाता है। अगस्त्य के बहुमुखी व्यक्तित्व का पता उनके द्वारा रचित एक वास्तुशास्त्र विषयक ग्रंथ[5] को और एक पक्षिशास्त्र विषयक 'पंचपक्षि शास्त्र'[6] को देखकर सहसा ही लग जाता है।

निरुक्त

निरुक्त और व्याकरण दोनों का प्रायः एक ही विषय है: शब्द-ज्ञान और शब्द-व्युत्पत्ति। वेदमंत्रों का अर्थ जानने के लिए पहिले उनका व्युत्पत्ति अर्थ जानना आवश्यक होता है। 'निरुक्त' का विषय कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति

---

१. ऋक् प्रातिशाख्य, १।२
२. तंजोर भंडार का सूचीपत्र, ग्रंथसंख्या ४७१२
३. ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय १६,
४. महाभारत, आदि० १५२।१०
५. आफ्रेक्ट : न्यू कैटेलोगस ऐण्ड कैटेलोगोरम
६. तंजोर भंडार का सूचीपत्र, ग्रंथसख्या ११४८९-९२

करना है। जो दुरूह शब्द व्याकरण की पकड़ से बाहर थे, उनके अर्थज्ञान के लिए ही 'निरुक्त' की रचना हुई।

व्याकरण और निरुक्त

'निरुक्त' एक ऐसा विषय है, जिसका अध्ययन करने के लिए व्याकरण का पंडित होना आवश्यक है। इस दृष्टि से 'निरुक्त' व्याकरणशास्त्र के चरमोत्कर्ष का ग्रंथ है। 'निरुक्त' वेदार्थ-बोध के लिए उपयोगी विषय तो है ही, साथ ही, उसमें व्याकरणशास्त्र के विकास के प्राचीन सूत्र होने के कारण उसकी उपयोगिता भी कम नहीं है। यास्क ने स्वयं निर्देश किया है कि अवैयाकरण के लिए 'निरुक्त' नहीं है : न वैयाकरणाय।

निघंटु और निरुक्त

'निरुक्त' के रचयिता का नाम यास्क था, जिसका स्थितिकाल लगभग ७०० ई० पूर्व बैठता है। 'निरुक्त' से भी प्राचीन एक 'निघंटु' ग्रंथ का उल्लेख मिलता है, जिसमें वेद के कठिन शब्दों की तालिका क्रमवद्ध रूप में संकलित थी; किन्तु जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। 'निघंटु' निरुक्त से सर्वथा भिन्न एक वैदिक शब्दकोश था, जिस पर 'निरुक्त' नाम से यास्क ने भाष्य लिखा। 'निरुक्त' और 'निघंटु' दोनों अलग हैं, फिर भी उनकी विषय-एकता के कारण सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में लाक्षणिक रूप में 'निघण्टु' को भी 'निरुक्त' ही कहा है, यद्यपि 'निरुक्त', 'निघंटु' की व्याख्या है।[1]

'निरुक्त' में समझाया गया है कि कौन सा शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में क्यों रूढ़ है। 'निरुक्त' के अपने विषय हैं, जिन तक 'निघंटु' नहीं पहुँच सकता है। वे विषय हैं :

> वर्णागमो वर्णविपर्यश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
> धातोस्तर्थातिशयेन योगः यदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ॥

वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश, धातु का उसके अर्थातिशय से योग, इन विषयों का प्रतिपादन 'निरुक्त' में है। ये विषय निघंटु जैसे कोश-ग्रंथ के नहीं हो सकते हैं, व्याख्या-ग्रंथ के ही हो सकते है, जिससे 'निघंटु' और 'निरुक्त' की पृथकता और भी स्पष्ट हो जाती है।

---

१. प० चद्रमणि विद्यालकार कृत यास्क के 'निरुक्त' पर दो भागों में 'वेदार्थदीपिका' नामक विस्तृत भाष्य अवलोकनीय है

निरुक्त का विषय

'निरुक्त' में तीन काण्ड हैं : नैघण्टुक, नैगम और दैवत। परिशिष्ट के दो अध्यायों को मिलाकर 'निरुक्त' की अध्याय संख्या १४ बैठती है। सायणाचार्य ने परिशिष्ट के दो अध्यायों को छोड़ कर १२ अध्यायों का कर्ता यास्क को माना है। 'निरुक्त' में जिन पाँच बातों का विचार किया गया है, उनका संकेत ऊपर के श्लोक में किया गया है। इस दृष्टि से 'निरुक्त' एक ओर तो कठिन–वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति-बोधक ग्रंथ होने के कारण 'निघंटु' के विषय को भी अपने में समा लेता है और दूसरी ओर 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्र्न्यम्' पद-मीमांसक ग्रन्थ होने के कारण व्याकरणशास्त्र का सर्वस्व भी कहा गया है। यास्क ने शब्दों को धात्वज मानकर उनकी निरुक्ति की है; यह 'निरुक्त' के प्रतिपाद्य विषय की असाधारण बात है।

'निरुक्त' यद्यपि वैदिक शब्दों का व्याख्या-ग्रन्थ है, तथापि, उसमें व्याकरण, भाषा-विज्ञान, साहित्य, समाजशास्त्र और इतिहास आदि विषयों की प्राचीनतम जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

वेद को निरुक्तकार ने 'ब्रह्म' की संज्ञा दी है और उसको इतिहास, ऋचाओं एवं गाथाओं का समुच्चय कहा है : तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रं ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति।

यास्क

वेदार्थ के प्रतिपादक सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'निघंटु' और 'निरुक्त' हैं। 'निघंटु' संप्रति उपलब्ध न होने के कारण अपने विषय का 'निरुक्त' ही एक मात्र ग्रन्थ हमारे पास बचा हुआ है, जिसको वेद के समग्र भाष्य-ग्रन्थों में आगे रखा जा सकता है। 'निघंटु' और 'निरुक्त' दोनों ही एक प्रकार से वेद-भाष्य हैं। 'निघंटु' वैदिक शब्दकोश का नाम है और उसकी टीका निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। विद्वानों ने लगभग २० निघंटु-ग्रन्थों का पता लगाया है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' में अपने पूर्ववर्ती कतिपय वैयाकरणों, कोशकारों, निरुक्तकारों और निघंटुकारों का उल्लेख 'एके', 'अपरे' 'आचार्याः' 'अन्ये' आदि पर्यायवाची शब्दों से किया है। 'निरुक्त' में उक्त विषयों के १२ आचार्यों का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है, जिनके नाम हैं : औदुम्बरायण,

औपमन्यव, वार्ष्यायणी, गार्ग्य, आग्रहायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटीकी, गालव, स्थौलाष्ठीवि, क्रौष्टु और कात्थक्य।

इन प्राचीनतम द्वादश आचार्यों में छठे आचार्य शाकपूणि को एक अद्भुत वैयाकरण और भाषाशास्त्री माना गया है। इन आचार्य शाकपूणि के वंशजों की शिष्यपरंपरा में ही यास्क हुए। इस शिष्यपरंपरा के इतिहास का संबंध लगभग विदेह जनक के युग से आरम्भ होता है।

विदेह जनक के समकालीन उद्दालक आरुणि एक प्रसिद्ध विद्वान् और विचारक हुए हैं, जिन्होंने अश्वपति से तत्वज्ञान की शिक्षा ग्रहण की। इनका पुत्र श्वेतकेतु औद्दालकि हुआ, जिसकी प्रसिद्धि एक विचक्षण ब्रह्मवेता और कामशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में विश्रुत थी। श्वेतकेतु की वंश-परंपरा में एक अद्भुत वैयाकरण एवं भाषाशास्त्री शाकपूणि हुए, जिनका उल्लेख उनके उत्तरवर्ती निरुक्तकार यास्क ने किया।

शाकपूणि की अगली पीढ़ी में आसुरि नामक एक अद्भुत विद्वान् हुए, जिनके यशस्वी शिष्य का नाम पंचशिख था। इसी पंचशिख को अनीश्वरवादी दर्शन सांख्य का निर्माता कपिल भी कहा गया है। भारतीय षड्-दर्शनों की परंपरा में सांख्यदर्शन सबसे प्राचीन है और इस प्रकार भारतीय दर्शनकारों में कपिल पंचशिख पहले दार्शनिक आचार्य हुए। इन्हीं पंचशिख की तीसरी पीढ़ी में यास्क हुए, जिनके वंशज अथवा शिष्य ने 'निरुक्त' नामक एक निघंटु ग्रंथ की रचना की[1]।

विद्वानों का निष्कर्ष है कि कश्यप प्रजापति ने पहले-पहल 'निघंटु' की रचना की थी। उसके भाष्य में यास्क ने अपना 'निरुक्त' लिखा। 'निघंटु' के प्रामाणिक भाष्यकार स्कंधस्वामी और देवराज यड्वा हुए। देवराज यड्वा के भाष्य पर भास्कर मिश्र ने एक टीका लिखी, जिसमें उन्होंने माधवदेव, भवस्वामी, ग्रहदेव, श्रीनिवास और उब्वट प्रभृति सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकारों का उल्लेख किया है।

कश्यप कृत 'निघंटु' पर देवराज यड्वा द्वारा लिखा गया भाष्य-ग्रंथ विशेष महत्त्व का है। देवराज यड्वा का समय १४वीं श० है। देवराज यड्वा अत्रि-गोत्रीय थे और रंगेशपुरी उनका निवासस्थान था। उनके पिता का नाम यज्ञेश्वर था।

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा १, पृ० २९८

यास्क और देवराज यड्वा, एक ही मूलग्रंथ के दो भाष्यकार होने की वजह से, समय की दूरी के वावजूद भी, निकट के व्यक्ति ठहरते हैं। यास्क और देवराज यड्वा के भाष्य-ग्रन्थों में एक बड़ा अंतर यह है कि जहाँ 'निरुक्त' में वैदिक मंत्रों की व्याख्या पर अधिक बल दिया गया है वहाँ देवराज-भाष्य में वैदिक शब्दों की व्युत्पति पर विशेष ध्यान दिया गया है।

यास्क कृत 'निरुक्त' के सुप्रसिद्ध और प्रामाणिक टीकाकार दुर्गाचार्य हुए। अपने इस टीका-ग्रंथ में 'निरुक्त' की एक 'निरुक्त-वार्तिक' नामक प्राचीन टीका का उल्लेख दुर्गाचार्य ने किया है, जो संप्रति अनुपलब्ध है। दुर्गाचार्य कश्मीर देशीय थे, जो पीछे से संन्यासी हो गए थे। इनका स्थितिकाल लगभग छठी शताब्दी है।

दुर्गाचार्य के अतिरिक्त बर्बरस्वामी, स्कंदमहेश्वर और बररुचि ने 'निरुक्त' पर टीकाएँ लिखीं। निरुक्त-टीकाकार वररुचि और वैयाकरण वररुचि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुए।

यास्क का स्थितिकाल ७०० ई० पू० के लगभग था।

भाष्यकार

ऋग्वेद-भाष्य में जैसे सायणाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती प्रामाणिक भाष्यकार आचार्यों में भास्कर मिश्र और भरत स्वामी का नाम उद्धृत किया है, जिनके भाष्य-अंशोक्ति की चंडू पंडित, चतुर्वेद स्वामी, युवराज रावण और बरदराज के भाष्य-ग्रंथों में भी पाये जाते हैं, उसी प्रकार इन्हीं भास्कर मिश्र ने कृष्ण यजुर्वेद के भाष्य में अपने पूर्ववर्ती काशकृत्स्न, शाकपूणि और यास्क का नाम बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। इस दृष्टि से यास्क एक प्रामाणिक वेदभाष्यकार भी सिद्ध होते हैं।

अप्राप्य निरुक्त और निघण्टु

वेद के छह अंगों में 'निरुक्त' का भी एक स्थान है। षडंगों की गणना में 'निरुक्त' शब्द किसी ग्रंथविशेष के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद और ज्योतिष, जैसे स्वतंत्र शास्त्र है, ठीक निरुक्त भी एक स्वतंत्र शास्त्र का नाम था। पुराकाल में निरुक्त विषयक अनेक बड़े-बड़े ग्रंथ थे, जिनमें से कुछ का उल्लेख तो यास्क ने किया है और कुछ का उल्लेख दूसरे वेद भाष्यकारों ने।

उत्तर वैदिक युग

यास्क के निरुक्त में लनभग बारह-तेरह प्राचीन नैरुक्त आचार्यों का उल्लेख मिलता है। वैयाकरण पाणिनि ने किसी विशेष निरुक्त ग्रंथ या निरुक्तकार का उल्लेख तो नहीं किया है; किन्तु उनके 'गणपाठ' में 'निरुक्त' पद का निर्देश अवश्य पाया जाता है।[१] अष्टाध्यायी में 'यास्क' पद की सिद्धि के लिए पाणिनि ने एक सूत्र की रचना की है।[२] यास्कीय 'निरुक्त' में उद्धृत गार्ग्य, गालव, शाकटायन आदि कुछ नैरुक्तों को पाणिनि 'गणपाठ' में वैयाकरणों के रूप में उद्धृत किया गया है। पतंजलि के समय में 'निरुक्त' एक व्याख्यातव्य ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था।[3] 'निरुक्त' के प्रामाणिक वृतिकार दुर्गाचार्य ने 'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्' कह कर चतुर्दशविध प्राचीन निरुक्त ग्रन्थों की ओर संकेत किया है;[४] किन्तु आज उनका कुछ भी अस्तित्व नहीं है।

निरुक्त ग्रन्थों की ही भाँति वेद के निघण्टु ग्रन्थों का भी आज प्रायः अभाव है;किन्तु इस विषय पर ग्रन्थ लिखे ही नहीं गए, यह बात नहीं थी। वेद के अनेक भाष्य ग्रन्थों में इस बात के प्रबल प्रमाण बिखरे हुए हैं, जिनसे पता चलता है कि प्राचीन समय में कई विघण्टु ग्रन्थ थे। आज केवल तीन ही 'निघंटु' उपलब्ध हैं। पहिला यास्ककृत, दूसरा कौत्सव्यकृत और तीसरा शाकपूणि विरचित।

पं० भगवद्दत्तजी ने अपने एक लेख में, वेदों के भाष्यकार यास्क, स्कंदस्वामी, उद्गीथ, गोविंदस्वामी, उव्बट और सायण आदि के भाष्य ग्रन्थों में उद्धृत लगभग १७ निघंटु ग्रन्थों के आस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण एकत्र किये थे, जो ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं है।[५]

---

१. गणपाठ ४।२।६०

२. अष्टाध्यायी २।४।६३

३. महाभाष्य ४।३।६६

४. निरुक्तनिवृति,पृ० ७४ (आनंदाश्रम, पूना का संस्करण)

५. प्रमाणों के लिए देखिए : निरुक्त २।२२; उव्वट : यजुर्वेदभाष्य ५।३; निरुक्त समुच्चय (वररुचिकृत) पृ० ३४; उव्वट : यजुर्वेदभाष्य ४।२९; भास्कर रुद्र-भाष्य पृ० ९२; निरुक्त ५।२४; वही ३।२१; उव्वट : यजुर्वेदभाष्य १७।१०; निरुक्त ३।३; वही २।६; वही ३।२१; उव्वट : यजुर्वेदभाप्य १६।६१; दुर्गाचार्य : निघंटुभाष्य १२ ९; वही १२।९; वेंकटमाधव : ऋग्भाष्य ४।१६।१३; निरुक्त १२।१४; वही ३।८; विस्तार के लिए देखिए : पं० भगवद्दतजी का 'लुप्त वैदिक निघंटु' शीर्षक लेख, गंगा का वेदांक, प्रवाह २, तरंग १, पृ० ७० तथा उन्हीं का 'शारपूणि का निरुक्त एवं निघंटु', पर लिखा हुआ लेख, 'पाठक स्मारक ग्रंथ' में

छन्द

वेद-मंत्रों की विशुद्धता और उनकी लयवद्ध गति के ज्ञानार्थ छन्दःशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता होती है। वेद-मंत्र छन्दवद्ध हैं। उनके उच्चारण की गवि-विधि विना छन्द-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किए नहीं जानी जा सकती है, जिसके बिना मंत्रों का समुचित फल नहीं मिलता है। इस हेतु षट्वेदांगों में छन्द-शास्त्र की गणना करके उसके अध्ययन के लिये बल दिया गया है।

वेद-मंत्रों के साथ छन्दोच्चारण का कितना घनिष्ठ संबंध है, इसका विवरण हमें 'छन्द' शब्द की शास्त्रीय व्युत्पत्ति करने के बाद ज्ञात होता है। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार 'छन्द' शब्द की कई प्रकार से निष्पत्ति की जा सकती है। रुचिकर और श्रुतिप्रिय लयबद्ध वाणी ही छन्द है : छन्दयति पृणाति रोचते इति छन्दः। जिस वाणी को सुनते ही मन आह्लादित हो जाता है, वह छन्दमयी वाणी ही वेद है : छन्दयति आह्लादयति छन्द्यन्तेऽनेन वा छन्दः।

'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति का यह एक पक्ष या एक उद्देश्य हुआ; किन्तु वेदमंत्रों के लिए उसका दूसरा भी पक्ष या उद्देश्य है, जो कि पहले उद्देश्य की अपेक्षा अधिक सारवान् प्रतीत होता है। छन्द को एक ऐसे कवच के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसके द्वारा वेद-मंत्र आसुरी हस्तक्षेप से सुरक्षित रह सकें। जो असुरों को बिघ्नवाधाओं से यज्ञादि कर्मों की एवं वैदिक अनुष्ठानों की रक्षा करता है वही छन्द है : छादयति मंत्रप्रतिपाद्ययज्ञादीन् इति छन्दः। प्राचीन एवं प्रामाणिक भाष्यकार यास्कने अपने 'निरुक्त' में छन्द के इसी सुरक्षार्थक स्वरूप का वर्णन किया है। यास्क का कथन है कि मन्त्रों का विषय मनन, छन्दों का छादन, स्तोत्रों का स्तुति और यजुओं का यजन से है : मंत्राः मननात् छन्दांसि छादनात्, स्तोत्रः स्तवनात्, यजुः यजते।

श्रुतियों में छन्द की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है, और उसको असुरजनित विघ्न-वाधाओं के लिए एक शक्तिशाली सैनिक के रूप में माना गया है। दक्षिणतोऽसुरान् रक्षांसि त्वष्ट्रान्यपहन्ति त्रिष्टुब्जिर्वज्रो वै त्रिष्टुप्' अर्थात् छंद यज्ञकाण्ड की दक्षिण परिधि में त्रिष्टुपस्वरूप है और रविष्टुप् वज्रस्वरूप है, जिसके कारण विघ्नेच्छु असुरों का विनाश होता है।

वर्णों के न्यूनाधिक्य से वैदिक छन्दों के अनेक भेद-उपभेद हैं। प्रधान वैदिक छंद और उनकी वर्णसंख्या इस प्रकार है : गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पंक्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, जगती ४८, अतिजगती ५२,

शक्करी ५६, अति शक्करी ७६, कृति ८०, प्रकृति ८४, आकृति ८८, विकृति ९२, संस्कृति ९६, अभिकृति १०० और उत्कृति १०४।

छन्दशास्त्र का प्रवर्तन

भगवान् शिव, अन्य शास्त्रों की भाँति छन्दशास्त्र के भी प्रवर्तक थे। अपने भाष्यग्रन्थ की पुष्पिका में यादवप्रकाश ने एक श्लोक उद्धृत करते हुए यह बताया है कि देवगुरु बृहस्पति ने भगवान् शिव से सर्वप्रथम छन्दोज्ञान प्राप्त किया था। बृहस्पति से यह ज्ञान दुश्च्यवन इंदु और इंदु से माण्डव्य नामक सुरगुरु ने प्राप्त किया था[1]। यादवप्रकाश के 'पिंगलनागछंद-भाष्य' की पुष्पिका में लिखा है कि सनत्कुमार भी छन्दशास्त्र का ज्ञाता था।

प्राचीन वैयाकरण और छन्दशास्त्र

पाणिनि के 'गणपाठ' में छन्दशास्त्र के छंदोविजिनी, छंदोविचिती, छंदोमान और छंदोभाषा, ये चार पर्याय दिये हैं।[2] इनमें अन्तिम 'छन्दोभाषा' यह प्रातिशाख्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। पतंजलि ने भी छन्दशास्त्र से प्रातिशाख्य ही लिया है।[3] पाणिनि के 'गणपाठ' में विभिन्न छन्दशास्त्रों और उनके व्याख्यान-ग्रंथों का निर्देश मिलता है।[4] छन्दों के विविध प्रकार के 'प्रगाथ' संज्ञक पदों की प्रसिद्धि के लिए पाणिनि ने विशेषरूप से एक सूत्र की रचना की है।[5]

पाणिनि और पिंगल

कुछ विद्वानों ने पिंगल को सम्राट् अशोक का गुरु माना है। इस धारणा के पहिले प्रवर्तक विदेशी रहे हैं और बाद के ग्रन्थों में भी यही बात दुहराई गई है। किन्तु यह धारणा सर्वथा असत्य है। कात्यायन 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' के वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य ने 'वेदार्थदीपिका' में छंदशास्त्र के रचयिता पिंगल को पाणिनि का अनुज लिखा है।[6] आजकल उपलब्ध 'पाणिनिशिक्षा' की

---

१. पं० भगवद्दत : वैदिक वाङ्मय का इतिहास (ब्राह्मण भाग), पृ० २४६
२. गणपाठ ४ ३।७३
३. महाभाष्य १।२।३२
४. गणपाठ ४।३।७३
५. अष्टाध्यायी ४।३।५५
६. वेदार्थ दीपिका, पृ० ९७

'शिक्षाप्रकाश' नाम्नी टीका के रचयिता का भी यही मत है।[1] पाणिनि और पिंगल के इस भ्रातृसंबंध का युक्तिपूर्वक विवेचन मीमांसक जी ने अपने ग्रन्थ में किया है और वहाँ यह बताया है कि कुछ विद्वानों के कथनानुसार पिंगल, पाणिनि का मामा न होकर अनुज था।[2]

पिंगल के पूर्ववर्ती छंदसूत्रकार

छंदशास्त्र की परंपरा पिंगल से भी पहले की है। पिंगल के समय में छंदशास्त्र पर लिखे गये अनेक ग्रन्थ प्राप्त थे, जिनके अंशों एवं जिनके रचयिताओं का निर्देश पिंगल ने स्वयं किया है। पिंगल के छंदशास्त्र में क्रौस्टुकि[3], यास्क[4], ताण्डी[5], सैतव[6], काश्यप[7], रात[8], और माण्डव्य[9], इन सात पूर्ववर्ती छंदसूत्रकारों के मत उद्धृत हैं। रात और माण्डव्य के मतों को भट्ट उत्पल ने भी उद्धृत किया है।[10] सैतव का मत 'वृत्तरत्नाकर' में दिया गया है।[11] इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि पाणिनि तथा पिंगल से पहिले सात या इससे अधिक छंदशास्त्र के आचार्य हो चुके थे।[12]

छंदशास्त्र विषयक उपलब्ध ग्रंथ

छंदशास्त्र विषयक प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ 'ऋक्प्रातिशाख्य' है। इस ग्रन्थ का प्रधान विषय यद्यपि व्याकरण है, तथापि उसके अन्तिम भाग में वैदिक छंदों पर भी प्रकाश डाला गया है, यद्यपि उसकी यह छंद विषयक चर्चा नितांत अधूरी है। आचार्य पिंगल का 'छंदशास्त्र' वेदांत का सर्वाधिक

---

१. शिक्षासंग्रह, पृ० ३८५, काशी संस्करण
२. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० १३२
३. छंदःसूत्र ३।२९
४. वही, ३।३०
५. वही, ३।३६
६. वही, ५।१८, ७।१०
७. वही, ७।९
८. वही, ७।१३
९. वही, ७।३४
१०. उत्पल : बृहत्संहिता-विवृति, पृ० १२४८
११. वृत्तरत्नाकर, दूसरा अध्याय
१२. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० १८३-१८४

प्राचीन, प्रौढ़ एवं सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ हैं। यह ग्रन्थ न केवल वैदिक छंदों के प्रतिपादन की दृष्टि से उपयोगी है, वरन् लौकिक छंदों पर प्रथम प्रकाश डालने वाला आदि ग्रन्थ भी यही है। इसी सूत्रग्रन्थ का एक संस्करण 'प्राकृत पिंगल' नाम से भी प्रसिद्ध है, जिसमें प्राकृत के छंदों की विवेचना है। इस संस्करण ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग १४ वीं शती का है।

यापनीय संप्रदाय के अनुयायी एवं अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयंभु (७ वीं ई०) का एक अधूरा ग्रन्थ 'स्वयंभुछंद' के नाम से प्रकाशित है।[1] छन्दशास्त्र से संबद्ध कालिदास ने 'वृत्तरत्नावली' और 'श्रुतबोध' दो ग्रन्थ लिखे। ये कालिदास, महाकवि कालिदास से भिन्न एवं संभवतः सातवीं-आठवीं शती में हुए। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद वाराहमिहिर (६ठीं शताब्दी) ने अपने ज्योतिष विषयक ग्रन्थ 'बृहत्संहिता' के एक अध्याय में छन्दों पर भी प्रकाश डाला है। जनाश्रय (८ वीं शताब्दी) ने भी एक अच्छा ग्रन्थ 'छन्दोविचिति' लिखा। क्षेमेन्द्र ने (११वीं शताब्दी) 'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थ लिखा और उसमें अपने पूर्ववर्ती पिंगलकर्ता विद्वानों के ग्रन्थों का भी हवाला दिया है।

छन्दशास्त्र की परम्परा को आचार्य हेमचन्द (१०८८-११७२ ई०) ने 'छन्दोऽनुशासन', केदारभट्ट (१५वीं शताब्दी) ने 'वृत्तरत्नाकर', दुर्गादास (१५ वीं शताब्दी) ने 'छन्दोमंजरी', दामोदर मिश्र (१६ वीं शताब्दी) ने 'वाणीभूषण' और दुःखभंजन (१६ वीं शताब्दी) ने 'वाग्वल्लभ' आदि ग्रन्थों को लिखकर छन्दशास्त्र का सर्वांगीण विकास किया। इनके अतिरिक्त 'वृत्तमणिकोश' और 'वृत्तालंकार' आदि ग्रन्थ भी इसी श्रेणी के हैं।

अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों के सूचीपत्रों में छन्दशास्त्र विषयक प्राचीन-नवीन ग्रन्थ, अप्रकाशित दशा में पड़े हुए हैं। इस विषय पर अधिक सामग्री प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले पाठकों को हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों की शरण लेनी चाहिए।

ज्योतिष

वेदांग साहित्य में ज्योतिषशास्त्र का प्रमुख भाग है। यज्ञानुष्ठान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका समारंभ और समाप्ति अनुकूल ग्रहज्ञान के आधार पर हो। ग्रहों के अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञान के लिए

---

१. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई, पृ० १८-५८ (१९३५), जर्नल बबम्ई यूनिवर्सिटी, जिल्द ५, नं० ३, (१९३६)

एकमात्र शास्त्र ज्योतिष है। धर्मप्रवण भारत में वैदिकयुगीन आर्य ग्रहों की पूजा करते थे। इसलिए कि वे समाज के लिए, देश के लिए अनुकूल फल के देने वाले हों। शनैः शनैः ग्रह-नक्षत्रों के प्रति वैदिक जनों की यह जिज्ञासा उनकी गति-विधि की जानकारी के लिये प्रशस्त हुई और फलतः इसी ग्रहजिज्ञासा ने ज्योतिष को जन्म दिया। ग्रहण का अध्ययन, पृथ्वी की परिभ्रमणगति और दशमलव-पद्धति का विचार यहीं से प्रारंभ हुआ। अणुवादी विचारधारा, जिसका आधार ज्योतिष शास्त्र है, कणाद और जैनों ने प्रतिष्ठित की।

'आचार्य ज्योतिष' में कहा गया है कि वेदों का प्रधान विषय यज्ञ-संपादन है और यज्ञ के सफल संपादन के लिए आवश्यक है कि उनका आरंभ ग्रहों की सुगति को देख कर किया जाय, जिसको बताने वाला शास्त्र ज्योतिष है।[1] इस दृष्टि से विदित होता है कि ज्योतिष वेदांग के विना यज्ञों का संपादन नहीं हो सकता है।

वेदांग ज्योतिष

'वेदांग ज्योतिष' को एक पुस्तक नाम देना उपयुक्त नहीं जान पड़ता है, क्योंकि आज जिस रूप में वह उपलब्ध है, उसमें केवल ४४ श्लोक मात्र हैं। उसके दो पाठ उपलब्ध हैं: एक ऋग्वेद ज्योतिष, जिसमें ३६ श्लोक हैं और दूसरा यजुर्वेद ज्योतिष, जिसमें ४४ श्लोक हैं। दोनों में अधिकांश श्लोक एक जैसे हैं; किन्तु उनका पाठ-व्यवस्थापन भिन्न है। उसके कुछ संस्करणों में ४३ श्लोक भी मिलते हैं; किन्तु डॉ० शाम शास्त्री द्वारा संपादित संस्करण में ४४ ही श्लोक हैं, जो कि आज प्रामाणिक संस्करण माना जाता है। डॉ० शाम शास्त्री के कथनानुसार उक्त दोनों पुस्तिकाओं की श्लोक-संख्या में कमी-बेसी इसलिए हो गई कि पीछे से टीकाकारों ने यजुर्वेद ज्योतिष में कुछ श्लोक अपनी ओर से जोड़ दिए।[2] कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि ये दोनों पुस्तिकाएँ, संप्रति विलुप्त, किसी बृहद् ग्रंथ के अवशिष्ट अंश हैं।[3]

---

१. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्॥
—आचार्य ज्योतिष, श्लोक ३६

२. डॉ० आर० शाम शास्त्री: वेदांगज्योतिष, भूमिका, मैसूर सरकार द्वारा प्रकाशित, १९३६

३. डॉ० गोरखप्रसाद: भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ३७, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, १९५६

उत्तर वैदिक युग

उसके व्याख्याकार

'वेदांग ज्योतिष' जैसी छोटी पुस्तिका पर प्राचीन और आधुनिक अनेक विद्वानों ने अपनी व्याख्याएँ लिखीं। इन सभी व्याख्याओं में मतैक्य नहीं है। उसका कारण यह कि मूल पुस्तिका की सूत्रशैली अत्यंत ही संकेतात्मक है। यह पुस्तिका किसी अध्येता या ज्योतिष के अभीप्सु के लिए नहीं है; बल्कि ज्योतिषशास्त्र का प्रकांड विद्वान् ही उसके मर्मों को समझ सकता है।

'ज्योतिष वेदांग' के प्राचीन टीकाकारों में सोमाकर हुए। जिन आधुनिक विद्वानों ने उस पर भाष्य, टीका तथा टिप्पणियाँ लिखीं उनमें वेबर, सर विलियम जोंस, ह्विटनी. कोलब्रुक, बेंटली, डेविस, मैक्समूलर, थीबो, कृष्णशास्त्री गोडबोले, जनार्दन बालाजी मोडक, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, लाला छोटेलाल (बार्हस्पत्य), म० म० सुधाकर द्विवेदी और डॉ० आर० शाम शास्त्री प्रमुख हैं। इस छोटी-सी पुस्तिका को लेकर उक्त विद्वानों में कई दिन तक वाद-विवाद चलता रहा और उसका सुपरिणाम यह हुआ कि मूल पुस्तक की बहुत सारी मर्म की बातें प्रकाश में आईं।

उसका लेखक और रचनाकाल

ऋग्वेद और यजुर्वेद के दोनों संस्करणों में स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि ग्रंथकार को ज्योतिष का ज्ञान किसी लगध नामक महात्मा से उपलब्ध हुआ[1]। इन लगध महात्मा के संबंध में विद्वानों का मत है कि संस्कृत का मूल शब्द न होने के कारण तथा संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र कहीं भी इस नाम के लेखक का उल्लेख न मिलने के कारण लगध महात्मा कोई विदेशी थे और इसलिए भारत में ज्योतिष का ज्ञान बाहर से आया; किन्तु यह बात उचित प्रतीत नहीं होती है।

पुस्तक के प्रथम श्लोक में 'शुचि' शब्द के आधार पर कुछ विद्वान् उसके लेखक का नाम 'शुचि' ही बताते हैं; किन्तु यह शब्द वहाँ दूसरे अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है, अर्थात् 'मैं शुचि (शुद्ध होकर) बताऊँगा' इसलिए 'वेदांग ज्योतिष' के कर्ता के संबंध में अभी तक कुछ भी विदित नहीं हो पाया है। 'वेदांग ज्योतिष' में वर्णित अयांश के आधार पर विद्वानों ने

---

१. कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।

—ऋग्वेद ज्योतिष, श्लोक २; यजुर्वेद ज्योतिष, श्लोक ४३

इतना अनुमान किया है कि वह उत्तर काश्मीर या अफगानिस्तान का निवासी था।[1]

'वेदांग ज्योतिष' में बताई गई विषुव स्थिति के आधार पर[2] भारतीय विद्वानों ने उसका रचना काल १२०० ई० पूर्व रखा है[3]। जब कि यूरोपीय विद्वानों का कहना है कि तारों के सापेक्ष सूर्य की स्थिति पर ग्रंथ की रचना का अनुमान लगाना त्रुटिपूर्ण भी हो सकता है, क्योंकि बहुत सम्भव है ग्रंथकार ने किसी प्राचीन प्रमाण के आधार पर यह सुनी सुनाई बात लिख दी हो। 'ज्योतिष वेदांग' की रचना थीबो, ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद मानते हैं[4]। जोंस[5] तथा प्राट[6] के मतानुसार ११८१ ई० पूर्व; डेविस[7] तथा कोलब्रुक[8] की स्थापना १३९१ ई० पूर्व है।

वेदांग ज्योतिष का ज्ञान पहिले-पहिल पितामह अर्थात् ब्रह्मा को प्राप्त हुआ था और उन्होंने अपने पुत्र वसिष्ठ को उस में दीक्षित किया। विष्णु ने उस ज्ञान को सूर्य को दिया और वही ज्ञान 'सूर्यसिद्धान्त' के नाम से विख्यात हुआ। उस सिद्धान्त को सूर्य ने मय को प्रदान किया, जो कि 'वाशिष्ठसिद्धान्त' के नाम से जगत-विश्रुत हुआ। पुलिश ने एक स्व-निर्मित सिद्धान्त अलग से ही गर्ग आदि मुनियों को सिखाया। सूर्य ने शापग्रस्त होकर यवन-जाति में जन्म धारण किया और रोमक-सिद्धान्त को जन्म दिया। रोमक ने अपने नगर में इसका भरपूर प्रचार किया।[9]

षड्-वेदांगों में ज्योतिष वेदांग की मान्यता एवं महत्ता के संबंध में लिखा हुआ है कि जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ एवं नागों की मणियाँ सर्वोपरि

---

१. डॉ० गोरखप्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ४६
२. वेदांग ज्योतिष, यजु० ७
३. शंकर बालकृष्ण दीक्षित : भारतीय ज्योतिष, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, लखनऊ (हिन्दी अनुवाद), पृ० १२३-१२७, १९५७
डॉ० गोरखप्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ४६, ६९
४. थीबो : ऐस्ट्रोनॉमी. ऐस्ट्रालॉजी ऐंड मैथिमैटीक, पृ० १९-२०
५. एशियाटिक रिसर्चेज २।३९३
६. जे० ए० एस० बी०, ३१।४९
७. एशियाटिक रिसर्चेज, २।२६८; ५।२८८
८. इसेज, १।१०९-११०
९. पं० सुधाकर द्विवेदी : पंचसिद्धान्तिका-प्रकाशिका, भूमिका भाग

स्थान को प्राप्त है, उसी प्रकार वेदांगशास्त्रों में गणित का स्थान सर्वोपरि है ।[1]

भारतीय ज्योतिषशास्त्र का मूल यही वेदांग ज्योतिष है । आगे चलकर ज्योतिषशास्त्र ने संहिता, गणित और जातक इन तीन भागों में अपना विकास किया । आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य जैसे विश्वविख्यात भारतीय ज्योतिर्विदों ने अपने अद्‌भुत सिद्धान्तों को जन्म देकर इस शास्त्र को अभिनव रूप प्रदान किया ।

ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तों की प्राचीन परंपरा शुल्वसूत्रों से उपलब्ध होती है 'शुल्व' शब्द का अर्थ 'नापने का डोरा' है । इन शुल्वसूत्रों के आधार पर ही यज्ञ वेदिकाएँ निर्मित होती थीं । इनमें भारत की प्राचीन ज्यामिति, रेखागणित और ज्योतिष के सूत्र विद्यमान हैं । कात्यायन, बौधायन, आपस्तंब आदि के अनेक शुल्वसूत्र प्रकाशित हो चुके हैं ।

'वेदांग ज्योतिष' का आशय वैदिक साहित्य के सुविख्यात विद्वान् मैक्समूलर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि 'वेदांग ज्योतिष' जैसी छोटी पुस्तिका का उद्देश्य कुछ ज्योतिष की शिक्षा देना नहीं है । इसका एक व्यावहारिक उद्देश्य है, जो आकाशीय पिंडों के विषय में वैसे ज्ञान को प्राप्त करता है, जो वैदिक यज्ञों के लिए दिनों और मुहूर्तों के निश्चयार्थ आवश्यक है ।[2]

वेदांग ज्योतिष में कही उदगमन-स्थिति, का अध्ययन करके लोकमान्य तिलक ने उसकी रचना १२०० या १४०० ई० पूर्व के लगभग निश्चित की है ।[3]

'वेदांग-ज्योतिष' की पुस्तिका भले ही कुछ उतने महत्व की न रही हो; किन्तु उसके संबंध में क्या इतना कम है कि एक लंबे समय तक विद्वानों का उसके संबंध में विवाद चलता रहा ।

---

१. यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा । तद्वद्वेदांगशास्त्राणां गणित मूर्ध्नि संस्थितम् ॥
—वेदांगज्योतिष, श्लोक ४

२. It is not the object of the small tract to teach Astronomy. It has a practical object; Which is to convey such knowledge of the heavenly bodies as is necessary for fixing the days and hours of the vedic sacrifices.
—हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, १८५९

३. गीतारहस्य, पृ० ५५२

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

रामायण : महाभारत : पुराण

रामायण

संस्कृत भाषा का साहित्य दुनिया की शीर्षस्थ भाषाओं के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर चुका है। संस्कृत भाषा को यह उच्चासन अकारण ही उपलब्ध नहीं हुआ है, वरन्, भारत के उन ज्ञानमना महा मनस्वियों की एकांत ज्ञान-जिज्ञासा के फलीभूत प्राप्त हुआ है, जिन्होंने घर-बार, माया-मोह और धन-संपत्ति, यहाँ तक कि आत्मनाम एवं आत्मकीर्ति से भी विमुख होकर सुन-सान अरण्यों में अपने सारे-के-सारे जीवन को, अपनी महानतम कृतियों के निर्माण में ही व्यय कर दिया; और यही कारण है कि आज भारत की उन ज्ञानप्रवण आत्माओं का दैहिक व्यक्तित्व यद्यपि काल की असंख्य परतों से ढक गया, किन्तु उनके यश की उज्वल कथा धरती एवं आकाश के साथ सदाशय रूप में अमर होकर आज ही की भाँति दूर भविष्य तक अक्षुण्ण बनी रहेगी।

जिनका वास्तविक नाम तक आज हमें विदित नहीं, उनके व्यक्तित्वबोध का संकेत नाम ही आज हमारे पास बचा रह सका है, ऐसे ही थे वे वाल्मीकि मुनि और ऐसी ही है उनकी अमर कृति 'रामायण'।

'रामायण' एक दिन अपने अकेले निर्माता की कृतिमात्र रही होगी; किन्तु आज वह कोटि-कोटि नर-नारियों के घर-घर की वस्तु है। 'रामायण' निःसंदेह एक महान् कवि की महान् कृति है। उसमें एक ओर तो अपने महान् निर्माता की अनुपम पांडित्य-प्रतिभा का समावेश है और दूसरी ओर जिस देश एवं जिस धरती में उसका निर्माण हुआ, वहाँ के सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और

आदर्शमय जीवन की समग्रताओं का एक साथ समावेश है। 'रामायण' अपने मूलरूप में संस्कृत-साहित्य का आदि महाकाव्य और कतिपय परवर्ती महाकाव्यों, काव्यों का प्रेरणास्रोत है, वरन्, वह भारतीय परिवारों की धर्म-पोथी, भारतीय आचार-विचार, संस्कार-संबंधों का आदर्शग्रंथ और भारत की चिरंतन भक्ति-भावना, ज्ञान-भावना तथा मैत्री-भावना की प्रतिनिधि पुस्तक है। रवीन्द्र बाबू ने 'रामायण' की इस सर्वांगीणता को लक्ष्य करके एक बार कहा था :

'रामायण' का प्रधान विशेषत्व यही है कि उसमें घर की ही बातें अत्यन्त विस्तृत रूप से वर्णित हुई हैं। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, स्वामी-स्त्री में जो धर्म-बंधन है, जो प्रीति और भक्ति का संबंध है, उसको 'रामायण' ने इतना महान् बना दिया है कि वह सहज में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है।[1] हिमालय जितने ऊँचे एवं व्यापक आदर्शों और सागर जैसे गम्भीर विचारों, का एक साथ किसी एक ग्रंथ में समावेश हो पाया है तो वह 'रामायण' ही है। अपनी इन्हीं मौलिक विशेषताओं के कारण देश-काल की सीमाओं को तोड़कर 'रामायण' आज विश्व-साहित्य की महान् कृति और महामुनि वाल्मीकि विश्वकवि के रूप में पूजित हो रहे हैं।

'रामायण' भारतीय साहित्य का पहिला महाकाव्य और विश्व-साहित्य के प्राचीनतम महाकाव्यों की तुलना में भाषा, भाव व छन्द, रचना-विधान एवं रस-व्यंजना, सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ट कृति प्रमाणित हो चुकी है।

महामुनि के जीवन का एकमात्र उद्देश्य ज्ञानार्जन करना था। जन कलरव से दूर एकान्त अरण्यों में जीवन-यापन करने पर भी पारिवारिक आहार-व्यवहारों एवं सामाजिक क्रिया-कलापों के प्रति भी उनका ज्ञान अपरिमित था। उन्होंने पारिवारिक संबंधों का और सामाजिक जीवन की बातों का इतनी बारीकी से विश्लेषण किया है कि, वैसा कदाचित् ही किसी दूसरे ग्रंथकार ने किया हो।

वे आदिकवि, महाकवि, धर्माचार्य और सामाजिक जीवन की बारीकियों के ज्ञाता, सभी कुछ एकसाथ थे। वे गम्भीर आलोचक भी थे। इसीलिए महाकवि कालिदास और प्रतिभावान् काव्य शास्त्री आनन्दवर्द्धन ने वाल्मीकि

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : प्राचीन साहित्य पृ० १, अनुवादक : रामदहिन मिश्र, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, १९३३ ई०

को न केवल आदिकवि मात्र कह कर छोड़ दिया, वरन्, उन्हें एक महान् कवि होने के अतिरिक्त श्लोक और शोक का समीकरण करने वाला एक अद्भुत आलोचक भी बताया है।[1]

आदिकवि के इस असामान्य व्यक्तित्व का परिचय 'रामायण' एक ऐसी कृति है जिसकी प्रत्येक बात, अपने चरमोत्कर्ष को छूती है। उसकी सर्वांगीण भावना का परिचय उसके कलेवर में ही परोक्ष रूप से मिलता है। उसकी इसी सर्वांगीण भावना को लक्ष्य करते हुए स्थान-स्थान पर कभी उसे काव्य[2], कभी आख्यान[3], कभी गीता[4], और कभी संहिता[5] कह कर स्मरण किया गया है।

'रामायण' के संबंध में उसके निर्माता की यह उक्ति कि जब तक पर्वतों और नदियों का अस्तित्व इस पृथ्वी पर वर्तमान रहेगा, तब तक रामायण की कथा संसार में बनी रहेगी, सर्वथा युक्त है।[6] सहस्राब्दियों से आज तक वाल्मीकि मुनि की यह कृति भारतीय जन-मन के साथ एक प्राण होकर अपनी लोक-प्रियता का एवं अपनी अतलदर्शी भावनाओं का स्वयं द्योतन कर रही है।

रामकथा की उद्भावना और उसकी लोकविश्रुति

रामकथा का अस्तित्व बहुत प्राचीन है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् प्रभृति जितने भी भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं उन सब में सर्वत्र रामकथा की व्यापकता वर्तमान है। रामकथा के मूल उद्गम के संबंध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। डॉ० वेबर का मन्तव्य है कि बौद्ध-ग्रन्थ 'दशरथ-जातक' में वर्णित रामकथा की प्रेरणा को ग्रहण कर आदिकवि ने अपने ढंग से

---

१. तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥—रघुवंश १४।७०
काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥—ध्वन्यालोक १।१८

२. रामायण, बालकाण्ड २।४१; युद्धकाण्ड १२८।१०५

३. वही, ४।३२; युद्धकाण्ड १२८।११८

४. वही, बालकाण्ड ४।२७

५. वही, युद्धकाण्ड १२८।१२०

६. यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥—रामायण, बालकाण्ड २।३६।७

उसको 'रामायण' में विस्तार से लिख दिया है। वेबर साहब का इस संबंध में कहना है कि उक्त बौद्ध-ग्रन्थ में अनुपलब्ध सीताहरण की कथा को वाल्मीकि ने संभवतः होमर काव्य के 'पैरिस द्वारा हेलेन का अपहरण' प्रसंग से और लंका-युद्ध को संभवतः यूनानी सेना द्वारा 'त्राय का अवरोध' प्रसंग से उद्धृत किया है।[1] वेबर साहब के इस मत की पर्याप्त आलोचना हो चुकी है और वह निरर्थक सिद्ध हो चुका है।[2]

दूसरे विद्वान् डॉ० याकोबी हैं, जिन्होंने 'रामायण' पर वर्षों अनुसंधान किया है। उन्होंने 'रामायण' के वर्ण्य-विषय को दो भागों में विभक्त किया है : अयोध्या की घटनाएँ, जिनका केन्द्र कि दशरथ हैं और दण्डकारण्य एवं रावणवध-संबंधी घटनाएँ। उनकी दृष्टि में अयोध्या की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, जिनका आधार किसी निर्वासित इक्ष्वाकुवंशीय राजकुमार से है और दंडकारण्य एवं रावणवध संबंधी घटनाओं का मूल उद्गम वेदों में वर्णित देवताओं की कथाओं से हुआ।[3]

याकोबी साहब के इस दृष्टिकोण का समर्थन दूसरे विद्वानों ने भी किया।[4]

श्री दिनेशचन्द्र सेन ने इस संबंध में अपनी एक नई सूझ को सामने रखा है। उनके मतानुसार रामकथा का पहिला भाग बौद्ध-ग्रन्थ 'दशरथ जातक' से प्रभावित है, जिसका व्यापक प्रचलन उत्तर भारत में था और दूसरा भाग रावण संबंधी आख्यानों से प्रभावित है, जिसका प्रचलन कि दक्षिण में अधिक था।[5] किन्तु सेन महोदय का यह मत अधिक स्थायी एवं सर्व सम्मत न हो सका।[6]

'महाभारत' के आख्यान-उपाख्यानों के कर्ता एवं प्रवक्ता जिस सूतवंश का हमें परिचय मिलता है और जिनके द्वारा मौखिक रूप से सुरक्षित अनेक कथा-उपकथाओं का महाभारतकारों ने संकलन, संशोधन और संपादन किया, बहुत

---

१. डॉ० वेबर : ऑन दि रामायण, पृ० ११ आदि

२. के० टी० तैलंग : वाज रामायण कापीड फ्रॉम होमर? बंबई, १८७३; एम० मोनियर विलियम्स : इण्डियन विजडम, पृ० ३१६; याकोबी : दस रामायण, पृ० ९४ आदि; मैक्डानल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३०८

३. एच० याकोबी : दस रामायण पृ० ८६, १२७

४. मैक्डानल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३११; कीथ : ए हिस्ट्री ऑफ स० लिटरेचर, पृ० ४३; रमेशचन्द्र दत्त : ए हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन इन एंशेन्ट इण्डिया पृ० २११; वेल्वेलकर : उत्तररामचरित, भूमिका पृ० ५९

५, डॉ० दिनेशचन्द्र सेन : दि बंगाली रामायन, पृ० ३, ७, २६, ४१, ५९

६. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ११०–११२

संभव है कि रामकथा की प्राचीनता को मौखिक रूप से सुरक्षित रख कर सूतवंश ने ही उसको वाल्मीकि मुनि तक पहुँचाया हो ! यद्यपि 'रामायण' में वर्णित रामकथा की रचना का पूरा श्रेय महामुनि को ही उपलब्ध है; किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि रामकथा की सुदीर्घ परंपरा को श्रुतजीवी रखने का बहुत बड़ा श्रेय सूतवंश को ही था। इस सूतवंश के द्वारा निर्मित रामकथा के संबंध में एक नया दृष्टिकोण दिनकर जी ने इस ढंग से रखा है:

'रामकथा संबंधी आख्यान काव्यों की वास्तविक रचना वैदिक काल के बाद, इक्ष्वाकुवंश के सूतों ने आरंभ की। हिन्दी आख्यान काव्यों के आधार पर वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना की। इस 'रामायण' में अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक की कथावस्तु का वर्णन था और उसमें सिर्फ बारह हजार श्लोक थे।'[1]

सूतों द्वारा प्रोक्त मूल रामकथा संबंधी आख्यानों तथा स्फुट कथाओं की सत्यता और वाल्मीकि रामायण के लिए उसको उपजीव्य बताते हुए फादर कामिल बुल्के का भी यही अभिमत है कि राम, रावण तथा हनुमान के विषय में पहिले स्वतंत्र आख्यान प्रचलित थे, जिनके संयोग से 'रामायण' की रचना हुयी।[2]

रामकथा का अस्तित्व वाल्मीकि मुनि से भी पहिले वर्तमान था और वह सूतों एवं कुशीलवों द्वारा गाथाओं या गीतों के रूप में समाज में प्रचलित हो चुकी थी, इसका विवरण 'हरिवंश पुराण' भी प्रस्तुत करता है। 'हरिवंश' का कथन है कि 'रामायण' की रचना से भी पूर्व रामकथा पुराणविदों (चारणों, सूतों या कुशीलवों) द्वारा गाई जाती रही है।[3] 'महाभारत' में भी इस प्रकार की गाए जाने योग्य गाथाओं का उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा है कि इंद्र ने जिन गाथाओं को गाया था, उनको उत्तरवर्ती ब्राह्मणों ने उसी अर्थ में गाया[4]। इन्हीं गाथाओं या गीतियों का रूप ग्रहण कर अपने ढंग से बौद्ध त्रिपिटककारों ने संगृहीत किया, जिसका प्रमाण रूप 'दशरथजातक' हमारे सामने हैं; और अपने ढंग से उन्हीं गाथाओं का विकास वाल्मीकि मुनि ने

---

१. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६९

२. कामिल बुल्के : रामकथा पृ० ६४

३. गाथा अप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
रामे निबद्धतत्त्वार्था माहात्म्य तस्य धीमतः॥—हरिवंश, ४१।१४९

४. महाभारत, वनपर्व ८८।५

किया। इसलिए यह कहना कि वाल्मीकि ने बौद्ध जातकों से रामकथा को उधार लिया कदाचित् उचित नहीं जान पड़ता।

वैदिक साहित्य के पौराणिक आख्यानों का उल्लेख सर्वत्र मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राचीन आख्यानों, गाथाओं और नाराशंसियों की भरपूर चर्चा देखने को मिलती है। संस्कृत-साहित्य का सारा काव्य-वैभव इन्हीं वेद-ब्राह्मण-प्रोक्त आख्यानों, गाथाओं एवं जन-प्रशस्तियों पर आधारित है और 'रामायण' एवं 'महाभारत' जैसे लौकिक संस्कृति के आदि काव्यों के कथानकों के प्रेरणासूत्र भी उक्त आख्यान आदि ही रहे हैं।

रामसंबंधी गाथा-साहित्य की उत्पत्ति इक्ष्वाकुवंश द्वारा हुई[1] और सूतों द्वारा कविताओं एवं गीतियों के रूप में रचित होकर स्फुट काव्यों की सज्ञा लेकर वह लोकविश्रुत हुयी। 'महाभारत' के वनपर्व में रामोपाख्यान को एक अति प्राचीन ऐतिहासिक कथानक के रूप में स्मरण किया गया है,[2] जिससे विदित होता है कि महाभारत-काल तक रामायणी कथा अपना ऐतिहासिक महत्त्व धारण कर चुकी थी।

वाल्मीकि मुनि से भी पहिले सूतों एवं कुशीलवों द्वारा प्रवर्तित-प्रचारित रामसंबंधी कथाओं का संकलन कर किसी दूसरे ही मुनि-महर्षि ने 'रामायण' काव्य की रचना की। उसका नाम संभवतः भार्गव च्यवन था। इसका हवाला हमें 'महाभारत' देता है[3]; और साथ ही 'महाभारत' से हमें यह भी विदित होता है कि भार्गव च्यवन भृगु महर्षि का पुत्र था।[4] बौद्ध महाकवि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' से हमें महाभारतकार के उक्त कथन की सत्यता इस रूप में मिलती है कि च्यवन महर्षि जिस रामकथा की रचना में सफल-काम न हो सका था उसको वाल्मीकि ने पूरा किया।[5] यही कारण है कि बाद में च्यवन और वाल्मीकि को भ्रमवशात् एक ही नाम दिया गया।[6]

---

१. रामायण, १।५३
२. महाभारत, वनपर्व १७३।६
३. महाभारत, शांतिपर्व ५६।४०
४. महाभारत, ६।१२२।१
५. वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यत्र च्यवनो महर्षिः।—बुद्धचरित १।४३
६. कृत्तिवास-रामायण (रत्नाकर की कथा)

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

इतिहासकारों ने भी वाल्मीकि मुनि को भृगुवंशीय और उनके पूर्ववंशज द्वारा रामकथा की रचना का उल्लेख किया है। रामचंद्र के समय में वाल्मीकि नामक भृगुवंश का एक मुनि था। उसने या उसके किसी वंशज ने सबसे पहिले रामचंद्र के उपाख्यान को श्लोकबद्ध किया। वह रचना शायद एक सीधी-सादी ख्यात थी, जिसके आधार पर बाद में वाल्मीकीय रामायण लिखी गई।[१]

इसलिए पर्याप्त अंतरंग प्रमाणों के अभाव में भी यदि यह बात मान ली जाय कि वाल्मीकि मुनि से पहिले भार्गव च्यवन ने रामकथा को काव्यरूप में निबद्ध किया और वाल्मीकि मुनि ने बाद में अपने ढंग से उसका विकास 'रामायण' की रचना कर किया, तो अनुचित न होगा। यदि च्यवन ऋषि ने सचमुच ही रामकथा को काव्यरूप दिया हो तो उस कथा को 'आदिरामायण' कहा जा सकता है।

जिस प्रकार वाल्मीकि से पहिले रामकथा मौखिक रूप में वर्तमान थी, उसी प्रकार दीर्घकाल तक वाल्मीकि 'रामायण' भी मौखिक रूप में जीवित रही है। वाल्मीकि द्वारा 'रामायण' काव्य की रचना हो जाने के बाद उसको सर्वप्रथम कुश-लव ने गा-गाकर सुनाया और बाद में लोकरुचि की तुष्टि के लिये कुशीलवों ने कंठस्थ कर वर्षों तक उसको मौखिक रूप में जीवित रखा।[२] लव और कुश द्वारा रामकथा के गाए जाने का वर्णन हमें 'रामायण' में देखने को मिलता है। 'रामायण' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसको लिपिबद्ध भी उसके निर्माता वाल्मीकि ने ही किया, वरन्, इतना स्पष्ट रूप से विदित है कि उसकी वाल्मीकिकृत कथा पहिले-पहल लव-कुश द्वारा गाई गई।[3]

वाल्मीकि'रामायण' की कथा लंबे समय तक मौखिक रूप में सुरक्षित रही, इसका प्रमाण हमें उसके संस्करणों को देखकर मिलता है। 'रामायण' के उपलब्ध संस्करणों का विश्लेषण करके विद्वानों ने उनमें पर्याप्त पाठभेद बताया है,[४] जिसका कारण यह बताया जाता है कि वाल्मीकि'रामायण' पहिले मौखिक

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की भूमिका १, पृ० १५८

२. याकोबी : दस रामायण, पृ० ६२

३. ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ॥—रामायण, बालकाण्ड ४।१३

४. वही, पृ० ३

रूप में प्रचलित थी और विभिन्न परंपराओं के अनुसार उसके संस्करण विभिन्नता से निर्मित हुए।[1]

रामायण के पात्रों के व्यक्तित्व की व्याप्ति

'रामायण' के पात्रों में जैसे इक्ष्वाकु का उल्लेख वेदों में मिलता है[2] इसी प्रकार दशरथ का वैदिक साहित्य में उल्लेख एक दानस्तुति में दूसरे राजाओं के साथ हुआ है।[3] इसके साथ-साथ महाद्वीप एशिया की आर्य जाति की एक शाखा मित्रि का भी एक राजा, दशरथ के नाम से कहा गया है, जिसका समय १४०० ई० पूर्व के लगभग था।[4]

इसी प्रकार वेदों से लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषद्-ग्रन्थों में राम के नाम की विस्तार से चर्चा मिलती है।[5]

अश्वपति कैकेय के संबंध में 'शतपथ' और 'छांदोग्य' एक जैसी बात यह बताते हैं कि अश्वपति कैकेय वैश्वानर के तत्व को जानते हैं। इनको कैकय देश का राजा तथा ब्राह्मण को ऊँचे ज्ञान में शिक्षित करने वाला बड़ा विद्वान् कहा गया है तथा ये जनक वैदेह के समकालीन भी थे।[6]

जनक वैदेह का एक यज्ञ के अवसर पर 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' उल्लेख करता है। जनक के पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व का परिचय हमें अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषद्-ग्रन्थों में बहुलता से मिलता है।[7]

---

१. कामिल बुल्के : दि थ्री रिसेन्शन्स ऑफ दि रामायण, जर्नल ओरियन्टल रिसर्च, भाग १७, पृ० १ से

नोट : वेद, महाभारत, अष्टाध्यायी, महाभाष्य, बौद्धग्रन्थ, शिलालेख और पुराण आदि ग्रंथों में रामकथाविषयक जो पुष्कल सामग्री सुरक्षित है, उसके संबंध में देखिए डा० भगवतीप्रसाद सिंह की पुस्तक 'रामभक्ति में रसिक संप्रदाय', पृ० ३४–३८

२. ऋग्वेद १०।६०।४ अथर्ववेद, १९ ३९।९

३. ऋग्वेद १।१२६।४

४. दिनेशचन्द्र सेन : दि बङ्गाली रामायण, पृ० ३९

५. ऋग्वेद १०।९३।१४; ऐतरेय ब्राह्मण ७।२७।३४; शतपथ ब्राह्मण ४।६।१।७; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३७।३।२।४।९।१।१

६. शतपथ ब्राह्मण १०.६।१।२; छान्दोग्य उपनिषद् ५।११।४

७. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।९; शतपथ ब्राह्मण ११।३।१।२।४; जैमिनीय ब्राह्मण १।१९; २।७६।७७; बृहदारण्यक उपनिषद् ३।१।१।२; ४।१।१–४।४।७; शाङ्खायन आरण्यक ६।१; कौषीतकी उपनिषद् ४।१

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

किन्तु इन्हीं जनक के विषय में हमें 'रामायण', 'महाभारत' और जातक-ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि एक जनक राजा, जनक वैदेह, सीता के पिता से पृथक् भी हुआ, जिसको 'रामायण' में मिथि[1] का पुत्र, 'महाभारत' में इन्द्र प्रद्युम्न का पुत्र[2] और जातकों में भी दूसरे नामों से कहा गया है[3]। यहाँ तक कि 'रामायण', 'महाभारत' और पुराणों में जनक एक राजवंश का नाम बताया गया है।[4]

इसी प्रकार सीता का व्यक्तित्व भी समग्र वैदिक साहित्य में कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में और सूर्यपुत्री सावित्री के नाम से मिलता है, जिनका 'रामायण' की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है।[5]

किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि 'रामायण' के पात्रों के सम्बन्ध में उपरि लिखित प्रसंग रामकथा की प्राचीनता के परिचायक ही नहीं हैं, वरन्, यह समझना चाहिए कि ऊपर महर्षि वाल्मीकि ने अपनी कथा में उक्त व्यक्तियों का जो पारस्परिक सम्बन्ध बताया है, वैदिक साहित्य के इन प्रसंगों में उसकी कहीं भी समानता नहीं है।

रामायण का रचनाकाल और वाल्मीकि

भारतीय साहित्य में वैदिक युग से लेकर पौराणिक और काव्य-नाटक-युग तक सर्वत्र रामकथा की व्यापकता को देखते हुए सहज ही विश्वास करना पड़ता है कि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ के लिए जिस कथानक को चुना उसका अस्तित्व उनसे पूर्व भी था और उनके बाद में भी वर्तमान रहा। अष्टादश महापुराणों में रामकथा की सबल चर्चाएं और उन चर्चाओं के अति प्राचीन होने का इतिहास मिलता है। इन चर्चाओं में वाल्मीकीय 'रामायण' के पूर्वापर अनेक रामायण-ग्रन्थों की रचना का निर्देश भी साथ-साथ पाया जाता है। एक पौराणिक अनुश्रुति तो इस प्रकार है कि वाल्मीकीय 'रामायण' से पूर्व, स्वायंभुव मन्वन्तर से भी पहले, सतयुग में भगवान् शंकर ने पहले-पहल

---

१. रामायण १।७१

२. महाभारत ३।१३३।४ (पूना संस्करण)

३. महाजनकजातक ५।३९

४. रामायण ५।३६।२० (गौडीय संस्करण) ७।४५।४; महाभारत ३।१३३।१६; वायुपुराण ८९।२२

५. रेवरेंड फादर कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ९-२७ (१९५०)

महासती माता पार्वती जी को एक रामायण सुनायी थी, जिसका नाम कि 'महारामायण' या 'आध्यात्मिक रामायण' था और जिसका कलेवर तीन लाख पचास हजार श्लोकों का था।'[1]

ऐसी भी परम्परागत श्रुतियां हैं कि वेदों की रचना के बाद 'रामायण' की रचना हुयी और उसकी कलेवर-वृद्धि के लिए लगभग ५०० ई० पूर्व तक उसमें अनेक क्षेपक जुड़ते गए। विद्वानों की एक परम्परा राम और वाल्मीकि को समकालीन मानने के पक्ष में है। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यका मत है कि ऋग्वेद के दशवें मण्डल, जिसमें राम का उल्लेख हुआ है, उसका नायक कोई दूसरा नहीं था, दाशरथी राम ही थे। इस दशम मण्डल की रचना के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् उसको १५०० ई० पूर्व का रचा हुआ मानते हैं।[2] लोकमान्य तिलक का एतद्विषयक सिद्धान्त वैदिक साहित्य का वर्णन करते समय पहले लिखा जा चुका है। उनके मतानुसार ऋग्वेद का दशम मण्डल ४०० ई० पूर्व से पहले रचा गया। इस दृष्टि से रामकथा का अस्तित्व ४००० ई० पूर्व से भी पहिले का बैठता है।

महामुनि वाल्मीकि को हम लौकिक संस्कृत का पहिला महाकवि मानते हैं। लौकिक संस्कृत का निर्माण न तो एक व्यक्ति द्वारा और न ही एक दिन में हुआ। उसका साँचा हमारी स्थापना के बहुत पहले वैदिक युग में ही ढल चुका था। एकाएक उसका सर्वाङ्गपूर्ण कलेवर निर्मित होकर हमारे सामने नहीं आ गया था। भाषा-विज्ञान की खोजों के अनुसार लौकिक संस्कृत के निर्माण के पीछे भी एक लम्बी परम्परा और युगों पहिले का समय होना चाहिए। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है वैदिक संस्कृत के युग में ही लौकिक संस्कृत की रचना आरम्भ हो गयी थी, जैसा कि दिनकर जी का भी मत है: 'लौकिक संस्कृत किसी वैयाकरण का आविष्कार नहीं कही जा सकती। वैदिक पार्श्व में लौकिक का पहिले से ही अस्तित्व रहा होगा। वाल्मीकि ने पहिले-पहिल लौकिक संस्कृत में काव्य रचना की, अतएव वे संस्कृत के आदि-कवि माने गए। यह बहुत-कुछ वैसा ही उदाहरण है जैसा कि विद्यापति का संस्कृत और प्राकृत को छोड़कर मैथिली में लिखना तथा अमीर खुसरो का खड़ी बोली में काव्य आरम्भ करना।'[3]

---

१. रामदास गौड़ हिन्दुत्व, पृ० १३७

२. सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट (साकल संहिता)

३. दिनकर: संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६७

फिर भी वाल्मीकि को आदिकवि कहा जाता है। ऋचाओं के रूप में कविता करने वाले ऋषि यद्यपि बहुत पहले से होते आ रहे थे; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिक उपाख्यानमयी कविता का आरम्भ पहिले-पहिल वाल्मीकि ने ही किया है।[1]

अतएव आदिकवि होने के जुर्म में कुछ इतिहासकारों ने वाल्मीकि के युग के लिए जो स्थापनाएं दी हैं और लौकिक संस्कृत के निर्माण के लिए जो सीमाएं खींची हैं, वे प्रामाणिक और आधारित नहीं कही जा सकती हैं। 'रामायण' जैसी लौकिक संस्कृत की सर्वांगीण रचना के पार्श्व में अवश्य ही लौकिक संस्कृत के कतिपय रामकथा-विषयक ग्रन्थों का अस्तित्व रहा होगा।

हमने भगवान शंकर-प्रोक्त जिस 'महारामायण' का उल्लेख किया है उसके अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण के आगे-पीछे कुछ और भी प्राचीन रामायण-ग्रन्थों के वर्तमान होने का उल्लेख मिलता है। उनमें नारदकृत 'संवृत-रामायण', अगस्त्यकृत 'अगस्त्य-रामायण', लोमशकृत 'लोमश-रामायण', सुतीक्ष्णकृत 'मंजुल-रामायण', अत्रिकृत 'सौपद्य-रामायण', शरभंगकृत 'सौहार्द-रामायण' और कुछ अज्ञातनामा लेखकों की 'रामायण-महामाला', 'रामायण-मणिरत्न', 'सौर्य-रामायण', 'चांद्र-रामायण' 'मैन्द-रामायण', 'सुब्रह्म-रामायण', 'सुवर्चस-रामायण', 'देव-रामायण', 'श्रावण-रामायण', 'दुरन्त-रामायण', तथा 'रामायण-चंपू' का नाम उल्लेखनीय है।[2]

इनके अतिरिक्त जिन दो रामायण-ग्रन्थों की प्रधानतया चर्चा मिलती है उनके नाम हैं 'अध्यात्म-रामायण' और 'अद्भुत-रामायण'। 'अध्यात्म-रामायण' की रचना के सम्बन्ध में विद्वानों का मतभेद है। उसकी संभावित रचना १४वीं-१५वीं शताब्दी में रामानन्द-सम्प्रदाय द्वारा बतायी जाती है। रामानन्द जी को ही इसका निर्माता बताया गया है,[3] कदाचित् जो युक्त नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि 'अद्भुत-रामायण' का निर्माण 'अध्यात्म-रामायण' के बाद हुआ है।[4]

---

१. चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, १, पृ० १५८

२. रामदास गौड़ : हिन्दुत्व, पृ० १३७–१४३

३. दि आथरशिप ऑफ दि अध्यात्म-रामायण, जर्नल गङ्गानाथ झा रिसर्च इंस्टिट्यूट, भाग १, पृ० २१५–२३९

४. वी० राघवन् : म्युजिक इन दि अद्भुत रामायण, जर्नल म्युजिक ऐकेडमी, भाग १६, पृ० ६६; जी० ग्रियर्सन : आन दि अद्भुत रामायण, बुलेटिन स्कूल ओरिएण्टल स्टडीज, भाग ४, पृ० ११

रामायण का अन्त्येष्टि-काल

'रामायण' के निर्माणकाल को बताने के लिए ऐसे प्रामाणिक आधारों का अभाव है, जो सर्वसम्मत हों। महाकाव्य के साथ-साथ 'रामायण' एक ऐतिहासिक काव्य भी है; किन्तु जिन ऐतिहासिक हवालों का उसमें उल्लेख है, वे इतने अस्पष्ट और दूरी के हैं कि उनको आधार बनाकर 'रामायण' की रचना की खोज में हमें सहस्रों वर्ष पीछे जाना पड़ता है।

'रामायण' का निर्माण न सही, उसके अंत्येष्टि-काल का भी हमें ठीक-ठीक परिचय मिल सके, तब भी इतने में, उस महाग्रन्थ के अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आ पाती। 'रामायण' के अंत्येष्टि-काल का पता लगाने के लिए देशी-विदेशी विद्वानों ने बड़ा श्रम किया है। इन विद्वानों ने वर्षों के अनुसन्धान पर जो निष्कर्ष निकाले हैं वे इतने विरोधी एवं बेमेल हैं कि उनसे पाठक को संतोष मिलने की जगह भारी भ्रम में उलझ जाना पड़ता है।

महाशय मेक्डोनेल ने 'रामायण' का पहिला और सातवां काण्ड आधार बनाकर अपनी राय दी है कि 'रामायण' एक हाथ की रचना नहीं है। इसी प्रसंग में मेक्डोनेल ने रामायण का अन्त्येष्टि-काल ५०० ई० पूर्व और उसमें जोड़े गए प्रक्षेपों का समय २०० ई० पूर्व सिद्ध किया है।[1]

मेक्डोनेल साहब के उक्त अभिप्राय का निष्कर्ष यह है कि ५०० ई० पूर्व का जो रामायण का अन्तिम रूप था, उसमें और बाद में २०० ई० पूर्व जो उसका अन्तिम संस्करण हुआ, उसमें, दोनों में, प्रक्षिप्तांश जुड़ते गए। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार मेक्डोनेल साहब की एक बात से सहमत नहीं दिखायी पड़ते। बाकी 'रामायण' के संस्करण के लिए विद्यालंकार जी की मेक्डोनेल साहब से मिलती स्थापनाएं हैं। विद्यालंकार जी की एक विशेष बात यह है कि २०० ई० पूर्व में 'रामायण' का जो अन्तिम संस्करण हुआ उसकी प्रमुख घटनाएं ५००० ई० पूर्व के अन्त्येष्टि रूप जैसी ही थीं और साथ ही विद्यालंकार जी ने भी वाल्मीकीय 'रामायण' का आधार प्राचीन ख्यातों को माना है। विद्यालंकार जी का मत है कि :

वाल्मीकि मुनि की रची हुई राम की प्राचीन ख्यात के आधार पर 'रामायण' का काव्य-रूप में पहले-पहल संस्करण भी छठी श० ई० पूर्व में ही हुआ माना जाता है। बाद में दूसरी शताब्दी ई० पूर्व में उसका पुनः संस्करण

---

१. मेक्डोनेल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३०६-३०९

हुआ, जो अन्तिम संस्करण कि अब हमें मिलता है। किन्तु उस पिछले संस्करण से उसके रूप में विशेष भेद नहीं हुआ। उसका मुख्य अंश अब भी ५वीं श० ई० पू० वाले काव्य को बहुत-कुछ ज्यों-का-त्यों, उपस्थित करता है। उसकी ख्याति अर्थात् उसकी घटनाओं की वृत्तान्तविषयक अनुश्रुति पुरानी है। उसमें जिन विभिन्न देशों और द्वीपों आदि के भौगोलिक नाम और निर्देश हैं वे दूसरी श० ई० पू० तक के हैं। कुछ धार्मिक अंश भी उसमें उसी पिछले युग के हैं :—जैसे राम के अवतार होने का विचार, जो कि 'रामायण' के प्रधान अंशों में नहीं है, किन्तु 'रामायण' का बड़ा अंश विशेषकर उसका समाज-चित्रण ५वीं श० ई० पू० का है। उसमें हमें ५वीं श० ई० पू० के भारतीय समाज के आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन का अच्छा चित्र मिलता है'।[१]

'रामायण' के रचनाकाल के सम्बन्ध में स्व० श्री काशीप्रसाद जयसवाल का भी यही कहना है कि मूल ग्रन्थ की रचना ई० पू० ५०० के लगभग हुई थी और ई० पूर्व २०० के लगभग वह फिर से दोहराया गया था।[२]

उक्त विद्वानों के मतानुसार स्पष्ट है कि 'रामायण' का अन्त्येष्टिकाल ५०० ई० पूर्व है। हमें इतना तो अवश्य स्वीकार्य है कि 'रामायण' के पुनः संस्करण २०० ई० पूर्व अर्थात् सातवाहन-युग तक होते गए; किन्तु उसकी अन्त्येष्टि ५०० ई० पू० से भी पहले हो चुकी थी। स्पष्ट है कि 'रामायण' में जिन स्थानों का उल्लेख जिन नामों से हुआ है, बौद्ध-युगीन प्राचीनतम ग्रन्थों में उन नामों का उल्लेख ठीक रामायणकालीन नामों से न होकर दूसरे ही नामों से हुआ है। रामायणकाल का विख्यात अयोध्या नाम बुद्ध के समय में आकर श्रावस्ती के नाम में बदल गया और इसी प्रकार जनक पुरी मिथिला का महत्व भी बौद्ध-साहित्य में प्रायः क्षीण हो चुका था। यह नाम-परिवर्तन एक बीती हुई लम्बी अवधि का सूचक है। इसके अतिरिक्त सारी 'रामायण' को खोलकर देखा जा सकता है कि बौद्ध धर्म का उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं है; बल्कि बौद्ध जातकों की, जिनको बौद्ध-साहित्य में प्राचीनतम स्थान प्राप्त है, रामकथा की रूपरेखा 'रामायण' से ही उद्धृत है। इतना ही नहीं, संपूर्ण जैन और बौद्ध-साहित्य भगवान् राम के आदर्श चरित से प्रभावित हैं। इस सम्बन्ध में दिनकर जी का तो यहां तक कथन है कि :

'महाभारत' के वनपर्व में जो रामोपाख्यान है, वह वाल्मीकीय 'रामायण'

---

१. जयचन्द्र विद्यालङ्कार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा १, ४३२-४३३
२. जयसवाल : जे० बी० ओ० आर० एस०, खण्ड ४, पृ० २६२

का ही संक्षिप्त रूप है। 'महाभारत' से यह भी सूचित होता है कि उसकी रचना के समय राम ईश्वरत्व प्राप्त कर चुके थे और उनसे सम्बद्ध स्थान तीर्थ माने जाते थे। शृंगवेरपुर और गोस्थार का उल्लेख इसी रूप में मिलता है'।[1]

इस दृष्टि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'रामायण' का अन्त्येष्टियुग 'महाभारत' के पूर्व है ही, साथ ही, ५०० ई० पूर्व से भी पहले है।

श्री चन्द्रशेखर पांडेय के मतानुसार रामायण के रचनाकाल के संबंध में निम्नलिखित सात सिद्धान्त हैं[2] :

(१) 'रामायण' के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के निर्माण और अयोध्या-काण्ड से युद्धकाण्ड तक की रचना में समय का पर्याप्त अन्तर है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त हैं, जिनमें वाल्मीकि एक पौराणिक व्यक्ति के रूप में माने जाने लगे थे। इससे यह विदित होता है कि वाल्मीकिकृत 'रामायण' में बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड नहीं थे।

(२) 'महाभारत' के कई आख्यान 'रामायण' के आधार पर निर्मित हैं और 'महाभारत' में वाल्मीकि का उल्लेख एक पौराणिक मुनि के रूप में पाया जाता है। अतः विदित होता है कि जिस समय 'महाभारत' ने अपना वर्तमान रूप धारण किया उससे पूर्व 'रामायण' की गणना एक प्राचीन ग्रंथ के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी।

(३) 'महाभारत' का अंतिम संस्करण ४०० ई० में और 'रामायण' का इससे पूर्व २०० ई० में पूरा हो चुका था।

(४) 'महाभारत' की कथा वेदों से लेकर बौद्ध-साहित्य तक है, रामचरित की नहीं। 'महाभारत' की मूल कथा की अपेक्षा 'रामायण' की मूल कथा पीछे की है।

(५) बौद्ध-त्रिपिटकों में रामचरित संबंधी वह प्राचीनतम रूप विद्यमान है, जिसको कि चारणों ने पहले-पहल गा कर प्रचारित किया था।

(६) 'रामायण' बौद्ध-धर्म एवं ग्रीक-प्रभावों से सर्वथा अछूती है।

(७) 'रामायण' की मूल कथा बौद्ध-धर्म के आविर्भाव से पूर्व की है और उसकी रचना लगभग ५०० ई० पूर्व में हो चुकी थी।

---

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, ६८

२. पांडेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० २०-२२

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

जैनों और बौद्ध के साहित्य में राम को मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में स्मरण किया गया है और रामकथा को बड़े आदरभाव से अपनाया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पना मंडिता' में 'रामायण' की कथा का पारायण है। जैन कवि विमल सूरि ने प्राकृत में 'पउमचरिय'[1] लिखकर पहिले-पहल लोकप्रिय रामकथा को जैनधर्म के साँचे में ढालने का यत्न किया। इसकी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विद्वानों ने उसकी रचना तीसरी-चौथी शताब्दी बताई है[2] जो कि निश्चित ही इससे पूर्व की रचना है।

विमल सूरि का यह ग्रंथ इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि रविषेण ने ६६० ई० में उसका एक संस्कृत छायानुवाद 'पद्मचरित्र' से किया।[3] रविषेण के बाद रामकथा पर हेमचन्द्र ने 'जैनरामायण'[4] (१२वीं श०), जिनदास ने 'रामपुराण'[5] (१५वीं शती), पद्मदेव विजय गणि ने 'रामचरित'[6] (१६वीं श०) और सोमदेव ने 'रामचरित'[7] (१६वीं श०) लिखकर इस परंपरा का प्रवर्तन किया। १८१८ ई० में रविषेण के ग्रन्थ का एक हिन्दी अनुवाद दौलतराम ने किया।[8]

जातक-कथाओं का निर्माण तथागत से भी पहिले हो चुका था और उनकी अंतिम सीमा लगभग ३०० ई० पूर्व तक आती है। 'दशरथ-जातक' पाँचवीं शताब्दी में एक सिंहली पुस्तक का पालि अनुवाद ग्रंथ 'जातकट्ठवण्णना' में संकलित है। इस सिंहली पुस्तक में संगृहीत कथाएं प्राचीन पालि गाथाओं पर आधारित हैं। 'दशरथ-जातक' पूरा रामाख्यान है। उसके 'रामायण' का एक श्लोक ज्यों-का-त्यों उद्धृत है।

'दशरथ-जातक' में जो रामकथा का स्वरूप है, कुछ विद्वानों ने उसको ही 'रामायण' की कथा का मूल माना है। डॉ० वेबर इस मत के पहिले प्रवर्तक

---

१. याकोबा साहब ने इसको संपादित एवं भावनगर से १९१४ ई० में प्रकाशित किया।
२. याकोबी : माडर्न रिव्यू, दिसम्बर १९१४; कीथ : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३४; ए० सी० वुलनर : इंट्रोडक्शन टु प्राकृत
३. पद्मपुराण—मानिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, नं० २९-३१
४. कलकत्ता से १९३० में प्रकाशित
५. विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर २, ४९६
६. संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, भाग १०, पृ० १३१ (भण्डारकर रिपोर्ट १८८२-८३)
७. जैन सिद्धान्त भवन, आरा (हस्तलिखित प्रति)
८. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ६३

हैं। डॉ० याकोबी ने यद्यपि वेबर के मत का पर्याप्त खंडन किया, फिर भी अधिकांश विद्वानों ने वेबर के ही मत को मान्यता प्रदान की है,[1] यद्यपि याकोबी के मत का समर्थन करने वाले विद्वानों की संख्या भी कम नहीं है।[2]

बौद्ध महाकवि अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) राम-कथा और वाल्मीकीय 'रामायण' से भी सुपरिचित था। उसके महाकाव्यग्रंथ 'बुद्धचरित' के अनेक स्थल विशेषतः कलापक्षविषयक स्थल 'रामायण' की घटनाओं और विशेषतः सुन्दरकाण्ड के प्रसंगों से प्रभावित हैं।[3]

'बुद्धचरित' के बाद तीसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में विरचित 'अभिधर्म-महाविभाषा' ग्रन्थ में 'रामायण' का स्पष्ट उल्लेख है। यह विभाषाग्रन्थ संप्रति चीनी अनुवाद के रूप में सुरक्षित है।[4] इसके अतिरिक्त पहिली शताब्दी से चौथी शताब्दी के बीच लिखी गई अनेक बौद्ध रचनाओं में वाल्मीकीय 'रामायण' तथा उसके कथांशों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। ऐसे ग्रंथों में 'सद्धर्मस्मृत्यु-पाख्यान' (पहली श०), कुमारलताकृत 'कल्पनामंडितिका' (पहली श०) और वसुबंधु की जीवनी (पाँचवीं श०) आदि अवलोकनीय हैं। ये तीनों ग्रंथ संप्रति चीनी अनुवाद के रूप में सुरक्षित है।[5]

'रामायण' पर बौद्ध-प्रभाव के संबंध में विद्वानों का मत है कि राम का शोक पर विजय प्राप्त करने का प्रसंग बौद्ध आदर्शों से प्रभावित है। 'दशरथ-

---

१. डॉ० वेबर : ऑन दि रामायण; दिनेशचन्द्र सेन : दि बंगाली रामायन्स पृ० ७ से; ग्रियर्सन : जर्नल ऑफ राय०ए० सो०, पृ० १३५–१३९ (१९२२); डब्ल्यू० स्टुटर-हाइम : राम लेंगेडन ऐण्ड राम रेलिम्स इन इंडोनैशियन पृ० १०५; जे० चिलुस्की : इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग १५, पृ० २८९

२. एम० मोनियर विलियम्स : इंडियन विजडम, पृ० ३१६; सी०वी० वैद्य : दि रिडिल ऑफ दि रामायण, पृ० ७३; एम० विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इंडि० लि०, भाग १ पृ० ५०८

३. सी० डब्ल्यू० गर्नर : अश्वघोष ऐंड दी रामायण, जर्नल ऐंड प्रोसीडिंग्स एशि०सो० भाग २३, पृ० ३४७–३६७; कीथ : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५९; विंटर-नित्स : हिस्ट्री ऑफ इण्डि० लि०, भाग १, पृ० ४९०; कावेल : दि बुद्धचरित ऑफ अश्वघोष, भूमिका पृ० १२; मिलाइए : रामायण ५।९।११, ५।९।४७, २।४३ ६, २।५८।६; बुद्धचरित ५।४८, ४२, ५।५१, ८।५३, ८।५८

४. केर्न : मेन्युअल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० १२१; ज० रा० ए० सो०, पृ० ९९–१०३

५. विंटरनित्स : हि० इं० लि०, भा० २, पृ० २६९; कीथ : हि० सं० लि०, पृ० ८; के० वातानावे : ज० रा० ए० सो० पृ० ९९–१०३ (१९०७)

जातक' में उल्लिखित बौद्ध तपस्या और भिक्षुमय जीवन का दाय लेकर आदि-कवि ने हिन्दू गृहस्थ के आदर्शों का निर्माण किया है। संपूर्ण रामकथा में ब्राह्मणों एवं बौद्धों का संघर्ष प्रतीकात्मक ढंग से वर्णित है। बौद्धों को राक्षसों का प्रतीक बनाकर लंकाकाण्ड के प्रसंग में सिंहल द्वीप के बौद्धों के प्रति वाल्मीकि ने परोक्ष रूप से अपना विद्वेष एवं विरोध प्रकट किया है।[1]

इन सभी विद्वानों की उक्त बातों का सम्यक् विश्लेषण फादर कामिलबुल्के ने किया है। उनका कथन है कि संभव है बौद्ध धर्म की पर्याप्त ख्याति के कारण वाल्मीकि मुनि बौद्ध आदर्शों से प्रभावित हुए हों; किन्तु राम के चरित में जो सौम्यता, शान्ति एवं कोमलता आदि सद्गुण दिखाई देते हैं, उनसे यह समझना चाहिए कि वाल्मीकि ने राम के इन गुणों को बौद्ध आदर्शों से उधार न लेकर राम के स्वभाव की मौलिक उपज के रूप में ग्रहण किया है। क्योंकि राम, मुनि पहिले थे और क्षत्रिय बाद में। फादर कामिल बुल्के ने 'रामायण' की रचना को ६०० ई० पूर्व स्वीकार किया है।[2]

'रामायण' के रचनाकाल के संबंध में विदेशी विद्वानों ने पर्याप्त विश्लेषण किया है और इस संबंध में उनका पर्याप्त मतभेद रहा है।[3] ए० श्लेगल के अनुसार 'रामायण' की रचना ११०० ई० पूर्व में[4] तथा जी० गोरेसियो के अनुसार १२०० ई० पूर्व में हुई[5], जब कि इसके विपरीत ह्वीलर तथा वेबर ने 'रामायण' पर यूनानी तथा बौद्ध प्रभाव को सिद्ध कर उसकी रचना बहुत पीछे स्वीकार की है।[6] इसके बावजूद कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि प्रचलित 'रामायण' से मूल 'रामायण' भिन्न थी और उसका निर्माण कम-से-कम ३०० ई० पूर्व में हो चुका था।[7]

---

१. याकोबी : दस रामायण पृ० ८८; विंटरनित्स : हि० इं० लि० भाग १, पृ० ५०९; दिनेशचन्द्र सेन : दि बङ्गाली रामायन्स, पृ० २३१; ह्वीलर : दि हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग २, पृ० ७२, २२७ आदि

२. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १०१ आदि (१९५०)

३. वही, पृ० १३५

४. ए० डब्ल्यू. श्लेगल : जर्मन ओरियन्टल जर्नल, भाग ३, पृ० ३७९

५. जी० गोरेसियो : रामायण, भाग १०, भूमिका

६. जे० टी० ह्वीलर : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग २, (लन्दन १८६९) तथा वेबर : ऑन दी रामायण (बम्बई १८७३)

७. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ३६-३७

प्रचलित 'रामायण' के वर्तमान रूप को याकोबी पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी का मानते हैं,[1] जिसका अनुगमन विंटरनित्स ने भी किया है।[2] वैद्य उसकी सीमा को २०० ई० पूर्व से २०० ई० के बीच बताते हैं।[3] याकोबी साहब ने मूल 'रामायण' की रचना ५००-८०० ई० पूर्व के बीच मानी है।[4] इसी मत का अनुगमन मेक्डोनेल साहब ने भी किया है।

मेक्डोनेल साहब का कथन है कि 'रामायण' के मुख्य भाग की रचना ५०० ई० पूर्व में हो चुकी थी। 'महाभारत' में 'रामायण' तथा वाल्मीकि का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण 'रामायण' की स्थिति निश्चित ही 'महाभारत' से पहिले की है। 'रामायण' में कौशाम्बी, कान्यकुब्ज, काम्पिल्य आदि नगरों का तो उल्लेख मिलता है; किन्तु पटना का नहीं। पटना को कालाशोक ने ३८० ई० पूर्व से भी पहले बसाया था। 'रामायण' में जो मिथिला और विशाला दो स्वतंत्र राजधानियों का उल्लेख है, बुद्ध के समय में वे अयोध्या के नाम से परिवर्तित हो गयी थीं। अयोध्या के लिए बौद्ध-साहित्य में जो साकेत शब्द मिलता है, 'रामायण' में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार राम के पुत्र लव की राजधानी श्रावस्ती का नाम 'रामायण' में कहीं नहीं है। इसलिए 'रामायण' का मूल अंश उस समय निर्मित हो चुका था, जब कि 'महाभारत' अपनी निर्माणावस्था में था।[5]

याकोबी और मेक्डोनेल के आधारों का खंडन कर कीथ ने यह सिद्ध किया है कि 'आदिरामायण' की रचना ४०० ई० में हुई[6] और विंटरनित्स साहब ने भी प्रायः कीथ के ही मत का अनुगमन किया; किन्तु उन्होंने 'रामायण' की रचना ३०० ई० पूर्व में रखने के लिए अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त भी सामने रखे।[7]

'रामायण' के काल-निर्णय-संबंधी विश्लेषण पर विद्वानों का विवाद एक

---

१. एच० याकोबी : दस रामायण, पृ० १००

२. एम० विंटरनित्स : हिस्ट्री, भाग १, पृ० ५००, ५१७

३. सी० वी० वैद्य : दि रिडिल ऑफ दि रामायण, पृ० २०, ५१

४. याकोबी : दस रामायण, पृ० १०१ आदि

५. मेक्डोनेल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३०२, ३०७ (लंदन १९२०)

६. जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो० 'दि एज ऑफ दि रामायण' पृ० ३१८, १९१५

७. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ५१६

लम्बी अवधि तक बना रहा। हॉपकिन्स[1], विंटरनित्स[2], विंसेंट स्मिथ[3], मेक्डोनेल[4] और मोनियर विलियम्स[5] आदि की स्थापनाओं की आलोचना करके श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 'महाभारत' की ही भांति 'रामायण' के दो रूप माने हैं। उनके मतानुसार 'रामायण' के प्राचीनतम रूप की रचना १२०० ई० पूर्व 'भारत' और 'महाभारत' की रचना के बीच[6] और दूसरे रूप की रचना ५०० ई० पूर्व में हुई।[7] वैद्य जी की इन असंगतियों का खण्डन पोद्दार जी ने किया।[8]

कुछ विद्वानों के मतानुसार वाल्मीकि, राम के समकालीन त्रेता युग में हुए। त्रेता युग की सीमा ८६७१०० ई० पूर्व में बैठती है, 'महाभारत' ३१०० ई० पूर्व में रचा गया और 'रामायण' की रचना इससे भी बहुत पहले हो चुकी थी।[9] इस मत के अनुसार वाल्मीकि मुनि का स्थितिकाल लाखों वर्ष पहिले बैठता है, जो कि अतिरंजनापूर्ण है।

यद्यपि राम और वाल्मीकि के समकालीन होने के पक्ष में 'रामायण', 'महाभारत', 'अध्यात्मरामायण' और 'कृत्तिवासरामायण' आदि अनेक ग्रन्थ अपना मंतव्य पेश करते हैं[10], तथापि इन ग्रन्थों के विवरणों को सर्वथा सत्य प्रमाणित करने और विशेषतया त्रेतायुग की सीमा को यथावत् निर्धारित करने के लिए नये सिरे से अनुसंधान की आवश्यकता है।

'रामायण' के रचनाकाल की समीक्षा उसके अन्तःसाक्ष्यों को आधार बना कर की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में पहिला सर्वसंमत मंतव्य यह है कि 'महाभारत', 'रामायण' से पूरे रूप में प्रभावित है। अतः 'रामायण' की रचना उससे पहले हो चुकी थी। इसकी सप्रमाण चर्चा इन दोनों ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन में आगे की जायगी।

---

१. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० २५८
२. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ४६५
३. आक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृ० ३३
४. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २८५-२८७। ५. इण्डियन विजडम, पृ० ३१७
६. संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास (मराठी), पृ० १०४
७. वही, पृ० १०६   ८. संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० १८, २५
९. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६१, ६२
१०. रामायण १।१।४; उत्तरकाण्ड, सर्ग ८३ से ९३ तक; महाभारत, अनुशासनपर्व, ४९, ८, १०; अध्यात्मरामायण २।६।४२८; कृत्तिवासरामायण पृ० २

बौद्ध साहित्य में जिसको एक सामान्य ग्राम पाटिल नाम दिया गया है, उसको एक नगर के रूप में मगधनरेश अजातशत्रु ने ५०० ई० पूर्व के लगभग बसाया था। अजातशत्रु ने बज्जि लोगों के आक्रमणों की रक्षा के लिए इस नगर में गंगा-सोन के संगम पर एक पराकोट भी बनवाया था।[१] 'रामायण' के सोण और गंगा के संगम के प्रसंग में पाटलिपुत्र का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है[२], जिससे प्रतीत होता है कि पाटलिपुत्र नामकरण (५०० ई० पूर्व) से पहिले 'रामायण' की रचना हो चुकी थी।

कोशल जनपद की राजधानी 'रामायण' में अयोध्या बताई गई है।[3] जैन-बौद्धों के साहित्य में उसको साकेत नाम दिया गया है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में बसाई थी।[४] इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि 'रामायण' की रचना तभी हो चुकी थी जब कोशल जनपद की राजधानी श्रावस्ती में न होकर अयोध्या में ही थी। बुद्ध के समकालीन कोशल-नरेश की राजधानी भी श्रावस्ती ही थी। इससे विदित होता है कि 'रामायण' निश्चित रूप से श्रावस्ती राजधानी की स्थापना से पहिले ही रची जा चुकी थी।

बुद्ध के समय जिस वैशाली राजतंत्र का पर्याप्त उल्लेख मिलता है, 'रामायण' में वह 'विशाला' और 'मिथिला' दो राजतंत्रों में विभाजित था। विशाला का तत्कालीन राजा सुमति था।[५] उसका यह नामकरण राजा इक्ष्वाकु एवं रानी अलम्बुसा से उत्पन्न पुत्र विशाल द्वारा बसाए जाने के कारण हुआ।[६] इसी प्रकार मिथिला में उस समय जनकवंशीय राजा सीरध्वज जनक राज्य करता था।[७] इससे निश्चित है कि 'रामायण' की रचना तथागत बुद्ध के पहिले हो चुकी थी।

'रामायण' के उक्त अन्तःसाक्ष्य उस युग की स्थिति के परिचायक हैं, जबकि दक्षिण के विराट् अरण्यभाग में आर्य-अनार्य नहीं बसे थे। यह स्थिति ५०० ई० पूर्व से बहुत पहिले की थी। इन सभी प्रकरणों से 'रामायण'

---

१. राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्श्येंट इण्डिया, पृ० १४१

२. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३१

३. अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता–रामायण, बाल० ५।६

४. श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य च–रामायण, उत्तरकाण्ड, १०८।४

५. रामायण, बालकाण्ड, ४५।८ ६. वही, ४७।११–२०

७. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५०

की रचना का पूरा स्पष्टीकरण हो जाता है, और अध्येता को 'रामायण' के काल-निर्णय-संबंधी अभीष्ट तक पहुँचने के लिए सहायता मिल जाती है ।

प्रक्षिप्त अंश

रामायण की कथा का तुलनात्मक विश्लेषण करके और उसमें आए हुए विभिन्न प्रसंगों का ऐतिहासिक समीक्षण करके विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उसमें समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश जुड़ते गए । युद्धकाण्ड की अंतिम पुष्पिका के आधार पर भाषा-वैभिन्य की दृष्टि से एवं वर्णनशैली की विषमता के कारण और अनेक बेमेल अंशों के सम्मिश्रण को दृष्टि में रख कर याकोबी साहब का कथन है कि 'रामायण' अपने मूल रूप में वाल्मीकि-कृत अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक केवल पाँच काण्डों में ही थी ।[1]

याकोबी साहब की समीक्षा यद्यपि सर्वथा मान्य नहीं है; फिर भी उसमें सत्य का अंश अवश्य है । 'रामायण' में प्रक्षिप्त अंश अवश्य हैं; क्योंकि एक तो सूतों तथा कुशीलवों ने रोचकता लाने के लिए मूल कथा में परिवर्तन एवं विस्तार किया, जिससे कि जनता आकृष्ट हो सके, और दूसरे भक्ति-भावना एवं स्वर्ग-कामना की दृष्टि से उसके जो अनेक व्यक्तियों द्वारा लिपिबद्ध संस्करण प्रचलित हुए[2] उनके कारण अवश्य ही उसमें हेर-फेर हुआ ।

'रामायण' के जो ऋष्यश्रृङ्ग, विश्वामित्र, अहल्या, रावण, हनूमान, गंगावतरण आदि की कथाएँ बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में हैं, जिनका मुख्य कथा से प्रत्यक्ष रूप में कोई सम्बन्ध नहीं है, इन कथाओं का लेखक कोई और ही था । अतएव 'रामायण' का यह अंश प्रक्षिप्त है ।

वाल्मीकि ने राम को एक आदर्श महापुरुष के रूप में चित्रित किया है; किन्तु बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में ऐसे श्लोक भी मिलते हैं, जिनमें राम को अवतार के रूप में पूजा गया है । इससे भी इन दो काण्डों में प्रक्षिप्त जुड़ जाने की आशंका प्रतीत होती है ।[3]

रामायण के वर्तमान संस्करण

महामुनि वाल्मीकि-कृत 'रामायण' के कलेवर का मूल रूप क्या था,

---

१. याकोबी : दस रामायण, पृ० ४५ २. रामायण १।१२८।१२०

३. प्रचलित वाल्मीकि मुनि कृत रामायण के प्रक्षेप और उनके संबंध में विभिन्न विद्वानों के मतों का विश्लेषण आदि के लिए देखिये कामिल बुल्के की पुस्तक : रामकथा, पृ० १२०-१३३

और उसमें कितने श्लोक थे, इस संबंध में प्राचीन ग्रन्थों से लेकर आधुनिक विद्वानों तक अलग-अलग स्थापनाएँ देखने को मिलती हैं। यह प्रवाद है कि :

चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्

वाल्मीकि मुनि ने रामायण-कथा को सौ करोड़ श्लोकों में निबद्ध किया था। 'रामायण' के बालकाण्ड में 'रामायण' के कलेवर के संबंध में जो ५०० सर्गों और २४००० श्लोकों का उल्लेख है, वह भी प्रक्षिप्त अंश होने से विश्वास योग्य नहीं है।

'पद्मपुराण' के पातालखंड में अयोध्यामाहात्म्य के वर्णन-प्रसंग में एक श्लोक का शेषांश है :

ततः स वर्णयामास राघवं ग्रन्थकोटिभिः

नागेश भट्ट ने इस श्लोकांश की व्याख्या करते हुए अर्थ स्पष्ट किया है कि महामुनि वाल्मीकि ने सौ करोड़ श्लोकों की रामकथा को लिपिबद्ध किया था, जो कथा कि सारी-की-सारी ब्रह्मलोक में चली गयी; केवल लव-कुश द्वारा अधीत २४००० श्लोक ही उसमें से बच सके, जिनको संप्रति वाल्मीकिरामायण के रूप में जाना जाता है।

महामुनि वाल्मीकि के नाम से उपलब्ध 'रामायण' की वर्तमान प्रति सात खण्डों एवं २४००० श्लोकों में मिलती है। 'रामायण' की जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनके साथ मिलान करने पर वर्तमान प्रति का कलेवर-विस्तार ठीक-ठीक नहीं मिलता। 'रामायण' के संप्रति चार प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध एवं प्रचलित हैं:

१. औदीच्य : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बंबई, और निर्णयसागर प्रेस बंबई, से प्रकाशित है। यह पाठ अधिक प्रचलित एवं प्रामाणिक है। इसी पर नागेश भट्ट की 'रामोया व्याख्या' टीका है।

२. गौडीय : दूसरा संस्करण डॉ० जी० गोरेसियो (G. Gorresio) ने १८४३-६७ के बीच कलकत्ता संस्कृत सीरीज से प्रकाशित किया और उन्होंने ही इटेलियन में अनुवाद कर उसको पेरिस से भी प्रकाशित किया। इसमें स्थान-स्थान पर डाक्टर साहब के पांडित्यपूर्ण नोट्स भी हैं।

३. पश्चिमोत्तरीय : इसको कश्मीरी संस्करण कहा जाता है, जिसका प्रकाशन १९२३ ई० में डी० ए० वी० कालेज लाहौर से हुआ। इसका प्रचलन उत्तर-पश्चिम में है।

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

४. दाक्षिणात्य : चौथा दाक्षिणात्य संस्करण माध्वविलास बुकडिपो कुमकोणम्, मद्रास से १९२९-३० के बीच दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ। बम्बई के संस्करण से यह अभिन्न है।

इन चारों संस्करणों के संबंध में विद्वानों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। इन संस्करणों का पाठानुसंधान करने से पता चला कि उनमें पर्याप्त भिन्नता है।[1] इनमें कौन संस्करण अधिक प्रामाणिक है, कहा नहीं जा सकता। अधिक विद्वानों की राय बंबई संस्करण और उसके बाद कलकत्ता संस्करण के पक्ष में है।

दाक्षिणात्य, औदीच्य और गौड़ीय ये तीनों ही संस्करण प्रायः प्रधानतया गिने जाते हैं। इन तीनों की श्लोकसंख्या एवं सर्गसंख्या प्रायः असमान है। बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक के सर्गों की संख्या विभिन्न पाठों में इस प्रकार है : दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार ६४३ सर्ग, औदीच्य पाठ के अनुसार ६६४ सर्ग और गौड़ीय पाठ के अनुसार ६६६ सर्ग उपलब्ध हैं।[2]

विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि औदीच्य पाठ, दाक्षिणात्य पाठ से पहली शताब्दी ई० से अलग होने लग गया था और गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरी पाठों की स्वतंत्र स्थिति ५०० ई० से निर्मित होने लग गयी थी।[3] उक्त तीनों संस्करणों के असमान पाठांशों का तुलनात्मक विवेचन कामिल बुल्के साहब ने विस्तार से किया है।[4]

रामायण की टीकाएँ

'रामायण' जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं; जिनमें से कुछ ही संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। इन टीकाओं में रामवर्मन् की 'तिलक' टीका अधिक प्रामाणिक एवं विख्यात है। रामवर्मन् से पहिले भी 'रामायण' पर एक टीका लिखी गई थी, जिसका नाम 'कतक' था और जिसको बड़े सम्मान के साथ उन्होंने अपनी 'तिलक' टीका में उद्धृत किया है; किन्तु वह आज प्राप्त नहीं है।

---

१. एच० याकोबी : दस रामायण, पृ० ३

२. विस्तार के लिए–रामदास गौड़ : हिन्दुत्व, पृ० १३०–१३७

३. डॉ० लेवि : जर्नल एशियाटिक पेरिस, पृ० १ (१९१८)

४. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ३०-३५

इसके अतिरिक्त माहेश्वरीतीर्थ-कृत 'रामायण-तत्त्वदीपिका', श्रीराम-कृत 'अमृतकटक', गोविन्दराज-कृत 'श्रृङ्गार' (भूषण), रामानन्दतीर्थ-कृत 'रामायणकूट', अहोवल-कृत 'वाल्मीकि-हृदय', अप्पय दीक्षित-कृत 'रामायण-तात्पर्य-संग्रह', त्र्यंबक मखिन्-कृत 'धर्माकूत', विश्वनाथ-कृत 'वाल्मीकि-तात्पर्य तरणि' और वरदराज मैथिलभट्ट-कृत 'विवेकतिलक' उल्लेखनीय टीकाएँ हैं। नागेशभट्ट ने भी 'रामायण' पर 'रामीया व्याख्या' नामक एक सुन्दर टीका लिखी।

रामायण की कथा का दाय

'रामायण' के प्रधान विशेषत्व का पता उसके द्वारा अनुप्राणित सैकड़ों कृतियों को देख कर सहसा ही लग जाता है। सत्रहवीं शताब्दी से पहिले की लगभग दो सहस्राब्दियों की सुदीर्घ अवधि के भीतर संस्कृत के ग्रन्थकारों ने अपनी कृतियों के लिए 'रामायण' की कथा का दाय लेकर उसकी लोकप्रियता और उत्कृष्ट काव्य-रचना को सहज ही में प्रमाणित कर दिया। महामुनि वाल्मीकि की कवित्व प्रतिभा का यह सर्वोत्कृष्ट गुण था कि उसकी अनुभूति एवं अनुकरण पर संस्कृत-साहित्य इतना बलिष्ठ हुआ। दो अलग-अलग विद्वानों-द्वारा परीक्षित उन ग्रन्थों की सूचियाँ हम यहाँ दे रहे हैं, जिनका निर्माण 'रामायण' के आंशिक रूपों को लेकर हुआ।

पहली सूची[1]

भास	प्रतिमानाटक अभिषेकनाटक	मुरारि अभिनन्द	अनर्घराघव रामचरित
कालिदास	रघुवंश	राजशेखर	बालरामायण
दिङ्नाग	कुंदमाला	हनुमत्कवि	महानाटक
प्रवरसेन	सेतुबंध	भोज	रामायणचंपू
कुमारदास	जानकीहरण	क्षेमेंद्र	रामायणमंजरी
भट्टि	रावणवध	सन्ध्याकर नन्दी	रामपालचरित
शक्तिभद्र	आश्चर्यचूडामणि	जयदेव	प्रसन्नराघव
भवभूति	महावीर-चरित उत्तर-रामचरित	भास्कर	उन्मत्तराघव

१. वी० वरदाचार्य: संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ३८३, अनु० डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

विरूपाक्ष	उन्मत्तराघव
वामन भट्ट बाण	रघुनाथचरित
राजचूड़ामणि दीक्षित	आनन्दराघव
वेंकटाध्वरी	उत्तरचंपू
महादेव	अद्भुतदर्पण
चक्रकवि	जानकीपरिणय
रामभद्र दीक्षित	जानकीपरिणय

दूसरी सूची[1]

महाकाव्य

कालिदास	रघुवंश
प्रवरसेन	सेतुबन्ध
भट्टि कवि	रावणवध
कुमारदास	जानकीहरण
अभिनन्द	रामचरित
क्षेमेन्द्र	दशावतारचरित, रामायणमंजरी
साकल्य मल्ल (मल्लाचार्य)	उदारराघव
चक्रकवि	जानकीपरिणय
अद्वैत कवि	रामलिंगामृत
मोहन स्वामी	रामचरित
धनंजय	राघवपाण्डवीय
मधव भट्ट	राघवपाण्डवीय

नाटक

भास	प्रतिमानाटक, अभिषेकनाटक
भवभूति	महावीरचरित, उत्तररामचरित
दिङ्नाग	कुन्दमाला
मुरारि	अनर्घराघव
राजशेखर	बालरामायण
दामोदर मिश्र, मधुसूदन	हनुमन्नाटक
शक्तिभद्र	आश्चर्यचूड़ामणि
यशोवर्मा	रामाभ्युदय
मायुराज	उदात्तराघव
अज्ञात	छलितरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक, स्वप्नदशानन
क्षीरस्वामी	अभिनव राघव
रामचंद	रघुविलास
जयदेव	प्रसन्नराघव
हस्तिमल्ल	मैथिलीकल्याण
सुभट	दूतांगद
भास्कर भट्ट	उन्मत्तराघव
व्यास मिश्र देव	रामाभ्युदय
महादेव	अद्भुतदर्पण
रामभद्र दीक्षित	जानकीपरिणय

स्फुट काव्य

सन्ध्याकरनन्दी	रामचरित
हरिदत्त सूरि	राघवनैषधीय
चिदंबर	राघवपांडवयादवीय
गंगाधर	संकटनाशन
विश्वनाथ	रामविलास

---

१. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १७९-२०८

सोमेश्वर	रामशतक
मुद्गल भट्ट	रामार्याशतक
कृष्णेन्द्र	आर्यारामायण
सूर्यदेव	रामकृष्ण विलोम काव्य
वेंकटाध्वरी	यादवराघवीय
अज्ञात	राघवयादवीय
कृष्णमोहन	रामलीलामृत
वेंकटेश	चित्रबंधरामायण
वेदान्तदेशिक	हंससंदेश
रुद्रवाचस्पति	भ्रमरदूत
वासुदेव	भ्रमरसंदेश
अज्ञात	कविदूत
वेङ्कटाचार्य	कोकिलसंदेश
कृष्णचन्द्र	चन्द्रदूत
हरिशंकर	गीताराघव
प्रभाकर	गीताराघव
हर्य्याचार्य	जानकीगीता
हरिनाथ	रामविलास
विश्वनाथसिंह	संगीतरघुनन्दन

कथाएँ

सोमदेव	कथासरित्सागर
क्षेमेन्द्र	बृहत्कथामंजरी
वासुदेव	रामकथा
अनन्तभट्ट	रामकल्पद्रुम

चंपू

भोज लक्ष्मण भट्ट	चंपूरामायण
अज्ञात	उत्तरकाण्डचंपू उत्तररामायणचंपू

महाभारत

वेदव्यास

बृहद् भारत की अति प्राचीन ज्ञान-परम्परा का अध्ययन करने के उपरांत पाश्चात्य विद्वानों ने भारत को पंडितों का देश कहा है। भारत की इस सुदीर्घकालीन पंडित-परम्परा में एक महारथी व्यास भी हुये। भारतीय साहित्य में वेदव्यास एक ऐसे अमर स्मारक, एक ऐसे युग-निर्माता महापुरुष हुए, जिन्होंने एक ओर तो सहस्त्रों वर्षों से भरपूर बृहद् ज्ञान-सरोवर की जीर्णोन्मुख चहारदीवारी का पुनरुद्धार किया और दूसरी ओर उस आकंठ भरपूर महा ज्ञान-सरोसर से काट-छाँट कर ऐसी विभिन्न ज्ञान-धाराओं को कूलित किया, जिनसे सिंचित होकर भारत की विचार-भूमि निरंतर फूलती-फलती रही।

भारतीय साहित्य के ओर-छोर तक वेदव्यास के महा व्यक्तित्व का परिचय हमें जिस असाधारण एवं आश्चर्यजनक रूप में मिलता है, उसका एक जैसा समाधान खोज निकालना हमें उतना ही दुष्कर प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'व्यास' नाम की इस सर्वत्र विकीर्णित विविधता को छाँटने के लिए जब हम उद्यत होते हैं, तब हमें यह कार्य सर्वथा असंभव सा लगता है, और उससे भी दुष्कर प्रतीत होता है उसके प्रयोजन का एक समाधानपूर्ण निर्णय देना।

इस 'व्यास' नाम पर जुड़े हुए अनेक ग्रंथ हमारे संमुख ऐसे हैं, जिनके वास्तविक रचयिता और रचना-काल का प्रश्न, बिना उनसे लगे 'व्यास' शब्द का समुचित समाधान पाये सुलझ नहीं पाता है। हमारी यह समस्या कि, क्या 'व्यास' एक जातीय परंपरा, शिष्य-परंपरा, वंश-परंपरा, संप्रदाय-परंपरा, संकेत-परंपरा या उपाधि-परंपरा का पर्यायवाची शब्द है, या कि, किसी का अभिधान अथवा संज्ञावाचक शब्द है, आज भी पूर्ववत् बनी हुई है।

यह सम्भव नहीं है कि वैदिक-काल से लेकर पौराणिक-युग तक व्यास नाम का कोई एक ही इतना दीर्घजीवी व्यक्ति हुआ था; किन्तु साथ ही, यह भी अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता कि समस्त साहित्य में जहाँ-जहाँ 'व्यास' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह भाववाचक रूप से ही प्रयुक्त हुआ है, उस नाम का कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं है। इस प्रकार के दोनों निर्णय मानने योग्य नहीं हैं।

'व्यास' शब्द को छोड़िए; 'ब्रह्मा' शब्द को ही ले लीजिए। चारों वेदों के ज्ञाता को 'ब्रह्मा' कहा गया है। ऐसे ब्रह्मा सृष्टि के आदि से अनेक होते आये हैं। चारों वेदों के ज्ञाता के रूप में 'व्यास' का नाम भी सर्वत्र मिलता है। इस दृष्टि से एक 'व्यास' ब्रह्मा के नाम से भी विदित होते हैं।

व्यास शब्द की इस अनेक नाम-रूपता के कारण भारतीय साहित्य के अनुसंधित्सु कतिपय विदेशी विद्वानों को ऊब कर कहना पड़ा कि व्यास अथवा वेदव्यास किसी का अभिधान न होकर एक प्रतीकात्मक, भावात्मक, कल्पनात्मक या छद्मधारी नाम है।[1] दूसरे संस्कृतज्ञ विद्वान् मैक्डोनेल का भी लगभग यही मत है।[2]

किन्तु भारतीय साहित्य का इतना अद्भुत, बहुश्रुत और प्राचीनतम व्यास नाम सहसा भुलाये जाने योग्य या उपेक्षा करने योग्य नहीं है। उसके मूल में ठोस सत्य एवं प्रबल ऐतिहासिक रहस्य विद्यमान होना चाहिए। उन बहुविध तथा बहुसंख्यक ग्रंथों की उपेक्षा कैसे की जा सकती है, जिनमें व्यास का नाम-स्मरण बड़े पूजाभाव और विश्वास के साथ किया गया है! कुछ ग्रंथों में तो हमें व्यास की जीवन-सम्बन्धी जानकारी के लिए विवरण प्रस्तुत किये हुए भी मिलते हैं।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता में एक प्राचीनतम महर्षि व्यास को वेद-व्याख्याता एवं वेद-वर्गयिता के रूप में स्मरण किया गया है। इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक विवरण का निष्कर्ष है कि वाक् का पुत्र वाच्यायन या अपान्तरतमा नामक एक वेद-वेदज्ञ, जिसका नाम व्यास भी था, कपिल और हिरण्यगर्भ का

---

१. But this Vyasa is very shadowey person. In fact his name probably covers a guild of revisors and retellers of the late.

—डब्ल्यू हॉपकिन्स : इंडिया ओल्ड ऐंड न्यू, पृ० ६९

२. To Ramanuja the legendry Vyasa was the Seer.

—ए० ए० मैक्डोनेल : इंडियाज पास्ट, पृ० १४९

समकालीन व्यक्ति हुआ। इन तीनों पौराणिक व्यक्तियों ने विष्णु की आज्ञा से, व्यास ने त्रयी (ऋग्यजुसाम), कपिल ने सांख्यशास्त्र और हिरण्यगर्भ ने योगशास्त्र का विभाग किया।[1]

इस संहिता-ग्रन्थ में व्यास के साथ जिन व्यक्तियों (हिरण्यगर्भ और कपिल) का नाम उद्धृत किया गया है, ऐतिहासिक दृष्टि से कपिल के नाम की सांख्यशास्त्र के साथ और हिरण्यगर्भ की योगशास्त्र के साथ संगति बैठती है। साथ ही एक विचारणीय बात इस संहिता-ग्रंथ की यह भी है कि उसमें तीनों व्यक्तियों को तीन शास्त्रों का वर्गीकरण करने वाला कहा गया है। यदि 'व्यास' शब्द को हम किसी का अभिधान न मानकर कर्तृत्व के कारण 'वर्गीकरण करने वाला' मात्र मानते हैं, तो उसके साथ में प्रयुक्त समानकर्मा कपिल और हिरण्यगर्भ को क्या मानना चाहिये? इस दृष्टि से हमें विदित होता है कि कपिल तथा हिरण्यगर्भ के नामों की तरह व्यास भी एक व्यक्ति-वाचक संज्ञा थी, जिससे 'व्यास' शब्द को केवल भाववाचक न मानकर अभिधानवाचक मानना पड़ेगा।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के उक्त प्रसंग में व्यास का एक नाम अपान्तरतमा भी उल्लिखित है, जिसका समर्थन 'महाभारत' भी करता है। 'महाभारत' का कथन है कि अपान्तरतमा नामक वेदाचार्य ऋषि का एक प्राचीन नाम गर्भ भी था। उसी ने पुरा काल में एक बार वेदों की शाखाओं का नियमन भी किया था और उसी ने पुनः वेद-शाखाओं का प्रवचन भी किया। इस वेद-प्रवचनकार का नाम व्यास था। अपान्तरतमा नाम का व्यास के साथ कई प्रसंगों में 'महाभारत' में एक साथ उल्लेख हुआ है।[2] इन दोनों ग्रंथ के विवरणों से विदित होता है कि वाच्यायन या अपान्तरतमा भी व्यास था।

व्यास : एक उपाधिसूचक नाम

व्यास का व्यक्तित्व पुराणोपरांत वैदिक साहित्य तक सर्वत्र परिव्याप्त है। विभिन्न पुराणों के प्रवचनकर्ताओं के रूप में ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन तक लगभग २७ से लेकर ३२ तक व्यासनामधारी व्यक्ति हुए हैं। भारद्वाज,

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय ११, श्लोक ५०-६०

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३५९, श्लोक ३८।४२; ६०।७०

पराशर और शक्ति आदि का नाम भी इन पुराण-ग्रन्थों में व्यास ही बताया गया है।[1]

इन पुराण-ग्रंथों के वचनों का सही निरूपण करने में अभी पर्याप्त अनुशीलन की आवश्यकता है। यदि ये पुराणोक्त अनुश्रुतियाँ कुछ अंशों में सत्य भी मान ली जायँ तो 'जय' नामक महाग्रंथ के रचयिता कौरव-पांडवयुगीन और बदरिकाश्रम तथा हस्तिनापुर से सुपरिचित व्यास नामक व्यक्ति उक्त द्वात्रिंशत् व्यास-परम्परा में सबसे अंतिम होने चाहिएँ।

व्यास नाम के इस वैविध्य को देखकर विदित होता है कि उसका अस्तित्व भारतीय साहित्य के अस्तित्व जितना पुराना है। व्यास एक कर्तृत्ववाची नाम है। अपने पुराने अर्थों में वह उपाधि-परंपरा, वंश-परंपरा, शिष्य-परंपरा और सम्मान-परंपरा का सूचक नाम रहा है। महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने व्यास या वेदव्यास के सम्बन्ध में हाल ही में स्पष्टीकरण किया है कि 'साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि व्यास या वेदव्यास, किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, वह एक पदवी है अथवा अधिकार का नाम है। जब जो ऋषि-मुनि वेद-संहिता का विभाजन या पुराण का संक्षेप कर ले वही उस समय व्यास या वेदव्यास कहा जाता है। किसी समय वशिष्ठ और किसी समय पराशर आदि भी व्यास हुए। इस अट्ठाईसवें कलियुग के व्यास कृष्णद्वैपायन हैं। उनके रचित या प्रकाशित ग्रन्थ आज पुराण नाम से चल रहे हैं।'

इससे प्रतीत होता है कि व्यास एक पदवी थी। यह पदवी या अधिकार तदनुरूप कार्य करने के कारण दी जाती रही। परंपरा से आगत इस पदवी के कारण ही महाभारतकार को भी व्यास कहा गया। व्यास, अर्थात् वर्गीकरण करने वाला। जिसने भी वेदों, पुराणों का विभाग, वर्गीकरण, सम्पादन, प्रकाशन या पुनःसंस्करण किया वही व्यास की पदवी से विभूषित किया गया।[2]

आचार्य शंकर भारतीय दर्शन के इतिहास में और विशेष रूप से वेदान्त-दर्शन के क्षेत्र में लोकविश्रुत महापुरुष हुए हैं। उनका एक-एक वाक्य वेद-वाक्य के समान प्रामाणिक और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाएँ दुनिया के दार्शनिकों के प्रेरणास्रोत हैं। शंकराचार्य ने

---

१. वायुपुराण, २३-३७; ब्रह्मपुराण, ३५।१।६-१२४

२. Tradition invented as the name of its author the designation Vyasa (arranger)—ए० ए० मैक्डोनेल : इंडियाज पास्ट, पृ० ८८

'वेदान्त-सूत्र' का भाष्य करते हुए व्यास के सम्बन्ध में एक नया प्रकाश डाला है। शंकराचार्य के मतानुसार पुराकालीन वेदाचार्य अपान्तरतमा (व्यास) नामक ऋषि ही कलियुग और द्वापर-युग के संधिकाल में भगवान् विष्णु की आज्ञा से कृष्णद्वैपायन के नये रूप में पुनरुद्भूत हुए।[1]

पूर्वोक्त 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में विष्णु की आज्ञा से ही अपान्तरतमा व्यास, कपिल और हिरण्य का क्रमशः त्रयी, सांख्य एवं योग का विभाग किया जाना वर्णित है। यहाँ आचार्य शंकर ने पहला स्पष्टीकरण तो यह किया कि पुराकालीन अपान्तरतमा व्यास ही बाद के कृष्णद्वैपायन हुए और दूसरी बात यह कि ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि विष्णु की आज्ञा थी। उधर संहिता-ग्रन्थ के कथनानुसार विष्णु की आज्ञा से अपान्तरतमा व्यास ने वेदों का विभाग किया और इधर शंकराचार्य के कथनानुसार वही वर्गयिता व्यास, विष्णु की आज्ञा से कृष्णद्वैपायन नाम से पुनरुद्भूत हुए।

आचार्य शंकर के उक्त कथन से एक नई ऐतिहासिक जानकारी कृष्ण-द्वैपायन के नाम से यह होती है, कि वह कलि-द्वापर के संधि-काल में हुए और उनकी पुराकालीन व्यास से सर्वथा भिन्नता थी। इस दृष्टि से व्यास नाम की विविधता पर भी प्रकाश पड़ता है। इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि व्यास नामक एक अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति पुरायुग में अवश्य हुए हैं; और इसलिये, भारतीय साहित्य के ओर-छोर तक व्यास नाम की व्याप्ति का कारण निष्प्रयोजन नहीं था। बाद में समय-समय पर जो वशिष्ठ, पराशर या शक्ति प्रभृति व्यक्ति भी व्यास की उपाधि से अभिषिक्त हुए, उनका लक्ष्य वही पुराकालीन व्यास थे।

व्यास नाम के निराकरण के साथ-साथ उक्त प्रसंग से एक दूसरे विलुप्त सत्य का उद्घाटन यह भी होता है कि कालान्तर में पुराकालीन व्यास के गुणकर्मानुरूप एक दूसरी प्रतिभा ने भी इस धरती पर जन्म लिया, जिनको संसार कृष्णद्वैपायन के नाम से सुनता है, और अमर यादगार के रूप में कृष्णद्वैपायन के पीछे उनके कर्तृत्व के कारण लोक ने 'वेदव्यास' जोड़ दिया; अतः वे कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के नाम से लोक-विश्रुत हुए।

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के सम्बन्ध में कुछ नये ऐतिहासिक तथ्यों को

---

१. तथाहि अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिः विष्णुर्नियोगात् कलिद्वापरयोः संधौ कृष्णद्वैपायनः संबभूव। इति स्मरन्ति। —वेदान्तसूत्र-भाष्य, ३।३।३२

जोड़कर ठीक यही बात बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने भी कही है। अश्वघोष संस्कृत-साहित्य के सुपरिचित एवं सुप्रसिद्ध महाकवि हुए हैं, जिन्होंने 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' दो महाकाव्य लिखे। अश्वघोष का इतिहाससंमत स्थितिकाल ई० पूर्व प्रथम शताब्दी निश्चित है, जिसको कि विदेशी विद्वान् भी मानते हैं।[१] अश्वघोष ने कृष्ण-द्वैपायन के सम्बन्ध में तीन नई बातों को सामने रखा। पहली बात तो यह कि कृष्ण-द्वैपायन ने वेदों को अलग वर्गों में विभाजित किया, दूसरी बात यह कि वशिष्ठ और शक्ति उनके पूर्वज थे, और तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि वे सारस्वतवंशीय थे। अश्वघोष का कथन है कि सारस्वतवंशीय व्यास (कृष्ण-द्वैपायन) ने वेद-विभाजन जैसे उस दुस्तर कार्य को किया, जिसको कि उसके वंशज वशिष्ठ और शक्ति तक न कर सके थे।[२]

कृष्णद्वैपायन को व्यास की संज्ञा और उनके द्वारा वेदों का वर्गीकरण करने का हवाला 'महाभारत' भी पेश करता है। 'महाभारत' के इस कथन से विदित होता है कि महाभारतकार का वास्तविक नाम कृष्ण और 'महाभारत' का मूल नाम 'कार्ष्ण' था; उन्होंने ही वेदों को चतुर्धा विभक्त किया।[३]

बादरायण व्यास

इन्हीं कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास का एक नाम, जिनको आचार्य शंकर ने पुरायुगीन वेदव्यास का अवतार माना है, बादरायण भी था।[४] बादरायण का पुराकालीन व्यास के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए मोनियर विलियम्स का कथन है कि बादरायण भी उस पौराणिक पुरुष व्यास की परम्परा में से एक थे।[५]

---

१. इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृ० १८

२. सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।
   व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वशिष्ठः कृतवान्न शक्तिः॥—बुद्धचरित, १।४२

३. यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः।
   लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च॥—आदिपर्व ९९।१५

४. मत्स्यपुराण १४।१६; अभयकुमार गुह : जीवात्मा इन दि ब्रह्मसूत्राज, १९२१

५. Badarayan is very loosely identified with the legendery person named Vyasa,-
   —मोनियर विलियम्स : इण्डियन विज्डम, पृ० ३, फुटनोट २

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

कृष्ण-द्वैपायन व्यास का 'बादरायण मुनि' नामकरण एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य का परिचायक है। हमें विभिन्न ग्रन्थों के प्रामाणिक विवरणों से, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा, विदित होता है कि कृष्ण-द्वैपायन व्यास ने अपने ज्ञान की समग्र उद्भावना विराट् हिमवन्त की गोद बदरिकाश्रम में बैठकर की थी। उनका बादरायण नाम बदरिकाश्रम की पवित्र भूमि के चिरंतन साथ का स्मारक है। व्यास-प्रणीत 'वेदान्त-सूत्र' का नाम 'कृष्ण-द्वैपायन-सूत्र' अभिहित न होकर, इसी हेतु 'बादरायण-सूत्र' के नाम से लोक-विश्रुत हुआ, क्योंकि उसकी रचना उन्होंने बदरिकाश्रम में बैठकर की थी और उसी नाम से उनके वेदान्त-सूत्रों की ख्याति आज तक वर्तमान है।

पाराशर्य व्यास

कृष्ण-द्वैपायन का एक नाम पाराशर्य भी था,[1] जिससे विदित होता है कि उनके पिता का नाम पराशर था। अलबेरूनी ने भी व्यास को पराशर का पुत्र कहा है[2] और स्पष्ट किया है कि पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक चार शिष्यों ने उनसे क्रमशः ऋग्, यजु, साम और अथर्व का अध्ययन किया था।[3] मैक्डोनेल और कीथ ने भी पराशर्य व्यास को एक पौराणिक महापुरुष के रूप में स्मरण किया है।[4]

पाणिनि (५०० ई० पू०) कृत 'अष्टाध्यायी' से विदित होता है कि 'भिक्षु-सूत्र' के रचयिता भी यही पाराशर्य व्यास थे।[5] 'भिक्षुसूत्र', 'वेदान्तसूत्र' का ही दूसरा नाम है, जिसकी प्रसिद्धि 'बादरायण-सूत्र' से है और जिसका उल्लेख हम बादरायण नाम की चर्चा में कर आये हैं। इस दृष्टि से पाराशर्य व्यास अर्थात् कृष्णद्वैपायन व्यास के मूल-वंशज महाभारत-युद्ध के पूर्वकालीन ब्रह्मा थे।

जीवन-वृत्त

कृष्ण-द्वैपायन व्यास की जीवन-सम्बन्धी जानकारी से परिचित होने के लिए यहाँ एक स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है। हमने ऊपर जिन महा-

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक १।९।३५।

२. अलबेरूनी का भारत, भाग २, पृ० ३७ (अनु० श्री संतराम)

३. वही, पृ० ३०

४. Vyasa Parasarya is the name of a mythical Sage.
—मैक्डोनेल एंड कीथ : वैदिक इंडैक्स, पृ० ३३९

५. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः

भारत युद्ध के पूर्ववर्ती ब्रह्मा को कृष्ण-द्वैपायन का मूलवंशज कहा है, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से वे सर्वथा पृथक् थे। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का वंश-वृक्ष इस प्रकार है : ब्रह्मा, अथर्वा, अंगिरा, भरद्वाज, सत्याह, अंगिरस और शौनक।[1] ये शौनक 'बृहद्देवता' के कर्ता आश्वलायन से पृथक् एवं पूर्ववर्ती थे। व्यास-वंश के मूल-पुरुष ब्रह्मा के एक पुत्र का नाम वशिष्ठ था, संभवतः 'महाभारत' में जिनको आपव भी कहा गया है।[2] वशिष्ठ के पुत्र शक्ति और शक्ति के पुत्र हुए पराशर। इस पराशर से दाशराज की कन्या सत्यवती का विवाह हुआ। सत्यवती का ही दूसरा नाम योजनगंधा या मत्स्यगंधा भी था। कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के यही माता-पिता थे।

प्राचीन भारत के इतिहास में कृष्ण नामक दो व्यक्तियों से हमारा परिचय है : एक वासुदेव कृष्ण और दूसरे द्वैपायन कृष्ण। यही द्वैपायन कृष्ण वेदव्यास हुए। जिस प्रकार इनका बादरायण नाम बदरिकाश्रम के संसर्ग से पड़ा उसी प्रकार इनका द्वैपायन नाम भी किसी द्वीप में उत्पन्न होने के कारण या किसी द्वीप से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण पड़ा, जो द्वीप कदाचित् यमुना के तट पर कहीं स्थित था।

चेदि-नरेश वसु उपरिचर से हस्तिनापुर के निकट किसी टापू में सत्यवती नामक एक कन्या का जन्म हुआ और वहीं के निवासी दाशराज ने उस अरक्षित कन्या का पोषण किया। दाशराज की यही पोषित पुत्री सत्यवती जब युवावस्था को प्राप्त हुई तब संयोगवश पराशर मुनि के द्वारा गर्भवती होकर अंत में व्यास, कृष्ण-द्वैपायन की माता बनी। कुछ समय बाद इसी कन्या से राजा शान्तनु ने विवाह किया। इस दृष्टि से भीष्म पितामह और विचित्रवीर्य के साथ व्यास का घनिष्ठ मातृ-सम्बन्ध बैठता है। जब विचित्रवीर्य भी निःसंतान ही परलोकवासी हुए तब वंश-परम्परा को जीवित रखने के लिए माता सत्यवती के आग्रह पर व्यास ने विचित्रवीर्य की विधवा पत्नियों से धृतराष्ट्र और पाण्डु पैदा किए और दासीपुत्र विदुर भी। धृतराष्ट्र से कौरव-वंश का उदय हुआ और पाण्डु से पाण्डव वंश की प्रतिष्ठा हुई।[3]

---

१. मुण्डकोपनिषद् का प्रारम्भ

२. महाभारत, आदिपर्व, ९३।५

३. भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० ६४, ६५ (१९३५ ई०)

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

कृष्ण-द्वैपायन के प्रपितामह वशिष्ठ के एक यशस्वी प्रपौत्र का नाम 'विष्णु-पुराण' में जतूकर्ण्य लिखा हुआ है।[1] इस दृष्टि से जतूकर्ण्य, कृष्णद्वैपायन के सगे अग्रज या चाचा ताऊ के पुत्र ठहरते हैं। 'विष्णुपुराण' के इसी प्रसंग में लिखा है कि इन्हीं जतूकर्ण्य से कृष्ण-द्वैपायन ने वेद-ज्ञान को प्राप्त कर उस वेदरूपी द्रुम को शाखाओं में पल्लवित किया। इस दृष्टि से जतूकर्ण्य, कृष्ण द्वैपायन के अग्रज ही नहीं, वरन्, गुरु भी ठहरते हैं। जतूकर्ण्य और कृष्ण-द्वैपायन के इस गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की चर्चायें अनेक ग्रन्थों में वर्णित हैं।[2]

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के चार शिष्य थे : पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु, जिन्हें उन्होंने क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ज्ञान में पारंगत किया[3]। अरणीपुत्र शुकदेव से भी कृष्ण-द्वैपायन की बड़ी घनिष्ठता थी, जिसका वर्णन 'महाभारत' के शांति-पर्व में मिलता है।[4]

साहित्य-साधना-भूमि : उत्तराखंड

असाधारण प्रतिभा के महामनस्वी कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के संबंध में विभिन्न प्राचीन ग्रंथों एवं विभिन्न आधुनिक विद्वानों की जो स्थापनाएँ हैं, उनका उल्लेख किया जा चुका है। इन सभी उल्लेखों को वेदव्यास कृष्ण-द्वैपायन के सर्वाङ्गीण जीवन की पूरी व्याख्या नहीं कहा जा सकता है; किन्तु उनके संबंध में जो सूत्रात्मक संकेत हमें मिले हैं, अभाव के कारण वही हमारे लिए संप्रति सहेजनीय हैं।

इन यशस्वी युगविधायक विद्वान् की जन्मभूमि के संबंध में हमें कोई प्रामाणिक बात उपलब्ध नहीं होती है, और वास्तव में ऐसी दिव्य प्रतिभाओं का कोई एक स्थान होता भी नहीं है; फिर भी इतना तो निश्चित सा है कि उत्तराखंड की भूमि के साथ उनका चिरंतन साथ रहा है। 'महाभारत' के शांतिपर्व से हमें विदित होता है कि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास की निवासभूमि उत्तरापथ हिमालय थी। भारत के महान् तीर्थों में से एक तीर्थ बदरिकाश्रम में वेदव्यास का आश्रम था।[5] हस्तिनापुर के निकट प्रवाहित होने वाली सरस्वती

---

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : कला और संस्कृति, पृ० २९, ३०

२. ऋषीणां च वशिष्ठाय वरिष्ठाय महात्मने।
तन्नप्त्रे चातियशसे जतूकर्ण्याय चर्षये॥—विष्णुपुराण ४३

३. बृहदारण्यकोपनिषद् २।६।३; ब्राह्मणपुराण १।१।११

४. महीधर : यजुर्वेद भाष्य का आरंभिक अंश

५. महाभारत, शांतिपर्व, ३४९, १०–२७

नदी के तट पर उनका दूसरा आश्रम था, जहाँ से उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को शीलसंपन्न प्रजापालक राजा होने का आशीर्वाद देकर कैलाश की ओर प्रस्थान किया था।[1]

हमें व्यास-ग्रंथों के उल्लेख से विदित होता है दि वेदव्यास के जीवन का प्रायः सम्पूर्ण भाग उत्तरापथ हिमालय के दिव्यधाम बदरिकाश्रम में बीता और ज्ञानवन्त हिमालय का अभिन्न साथ होने के कारण महामुनि वेदव्यास की वाणी में जैसे भगवती सरस्वती आकर समाधिस्थ हो गई थीं। उनकी विचार-धारा सचमुच ही हिमालय की तरह महान् और सागर जितनी गंभीर थी। ये विचार उन्होंने हिमालय के सहयोग से पाये थे।

बदरिकाश्रम कृष्ण-द्वैपायन की साधना-भूमि थी। हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों के दिव्य-दर्शन और उस ज्ञान-संपन्ना भूमि से प्रेरणा प्राप्त कर व्यास ने त्रिपुल वाङ्मय का निर्माण किया, जिसकी तुलना केवल हिमालय से ही दी जा सकती है। इसी तपःपूत पवित्र भूमि में कृष्ण-द्वैपायन ने पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु जैसे अपने अद्भुत ज्ञानवंत शिष्यों के सहयोग से चार संहिताओं का संकलन, वर्गीकरण और संपादन किया। यही वह दिव्य धाम है, जहाँ पर उस युगपुरुष ने निरंतर तीन वर्षों की कठिन साधना में आसीन होकर 'महाभारत' नामक उत्तम आख्यान की रचना की थी।[2]

'महाभारत' के सभापर्व में धर्मराज युधिष्ठिर को दिए जाने वाले उपदेशों के प्रसंग में व्यास ने अपने कैलाश-गमन का संकेत किया है। इस बार उनका कैलाश की ओर प्रस्थान करने का अंतिम समय था, जब कि वे वृद्ध हो चुके थे और ऐसे स्थान की खोज में थे, जहाँ शांति से देहमुक्त हो सकते। इस दृष्टि से निश्चित है कि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास का शरीरांत भी बदरिकाश्रम में ही हुआ।

इस प्रकार, कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के जीवन का अध्ययन करने के उपरांत विदित होता है कि भारतीय साहित्य के निर्माताओं में उनका नाम अमर है। वेदव्यास ही ऐसे पहले व्यक्ति हुए, जिन्होंने समग्र ज्ञान को चार संहिताओं और इतिहास, इन पाँच भागों में विभक्त कर वैदिक साहित्य के अध्ययन के

---

१. महाभारत, सभापर्व, ४६-१७

२. महाभारत, आदिपर्व ५९, ३२ (५ वां संस्करण)

लिए एक वैज्ञानिक प्रणाली का सूत्रपात किया। व्यास का यह विभाजनकार्य भाषा, छन्द, उच्चारण और विचारों के दृष्टिकोण पर आधारित है। इस पंचधा विभक्त ज्ञान को प्रशस्त करने के उद्देश्य से व्यास ने अपने शिष्यों को उसमें दीक्षित किया। एक ओर तो व्यासदेव ने पूर्वार्जित संपूर्ण आर्यज्ञान को एक स्थान पर केन्द्रित कर, विभिन्न रूपों में प्रशस्त होने के लिए उसे व्यवस्था दी और दूसरी ओर भविष्य के लिए अनुशीलन के विभिन्न मार्गों का निर्माण किया।

भारत की ज्ञान-विरासत का विश्वकोश: महाभारत

भारत के ज्ञानमना महा-मनस्वियों द्वारा युग-युगों से सुचिंतित जीवन की सर्वांगीण व्याख्या का एक मात्र प्रतिनिधि-ग्रन्थ 'महाभारत' लगभग दो शताब्दियों पूर्व से दुनिया के पंडितवर्ग की विचारणा का विषय बना हुआ है। यह एक ऐसा महासागर है, जिसमें असंख्य ज्ञान-सरिताएं मिलकर ऐसी एकप्राण हो चुकी हैं जिससे सचमुच ही मानना पड़ता है कि 'यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' जो कुछ इसमें नहीं है, वह इस धरती भर में कहीं भी नहीं है।

'महाभारत' के इस सार्वभौमिक महत्व को देखकर उसको न तो हम वैदिक ग्रंथ ही कह सकते हैं न पुराण ही, न इतिहास ही, न महाकाव्य ही, न एक धर्मग्रंथ ही, और न केवल सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधि-ग्रंथ ही। वस्तुतः वह एक बृहद् राष्ट्र का ज्ञानसर्वस्व होने के कारण आर्ष ग्रंथ भी है, इतिहास-पुराण भी है और महाकाव्य, धर्मग्रंथ आदि सभी कुछ है। इस पर भी हमें यह न समझना चाहिए कि 'महाभारत' का यह सर्वांगीभूत कलेवर विभिन्न विषयों का स्पर्श कर देने मात्र से पूरा हो गया, वरन् यह समझना चाहिए कि उसके हर पहलू में आकाश को स्पर्श करने जितना उत्कर्ष विद्यमान है।

'महाभारत' भारत की उज्ज्वल ज्ञान-परंपरा का एक मात्र अमर स्मारक है। वैदिक और लौकिक युगों के संघर्षमय काल में उनके अधिकारों का परिसीमन करने के लिए 'महाभारत' एक संधिपत्र के समान है, जिसमें वैदिक और लौकिक दोनों युगों के प्रतिनिधि ज्ञानप्रवण मनस्वियों के हस्ताक्षरों की मुहर है। ऐसे महाग्रंथ को, जिसमें भारत के इतने उच्चादर्श समहित हैं, जितना भी सम्मान दिया जाय, कम ही है।

'महाभारत' से सामान्यतया कौरव-पांडवों के सुप्रसिद्ध महायुद्ध या मार-काट, रक्तपात का आभास होता है; किन्तु 'महाभारत' का वास्तविक उद्देश्य है : मनुष्य जाति को भौतिक जीवन की निःसारता को दिखाकर, उसे मोक्षमार्ग पर निर्दिष्ट करना। काव्य-शास्त्रज्ञों ने इसीलिए 'महाभारत' को शांतरसप्रधान ग्रंथ माना है।[१]

'महाभारत' के माहात्म्य को बताते हुए उसके रचनाकार ने स्पष्ट किया है कि जो मनुष्य चारों वेद, उसके अंग और उपनिषद्-विद्या का भले ही पंडित हो; किन्तु इस आख्यान को नहीं जानता, वह विचक्षण नहीं कहा जा सकता है।[२] क्योंकि यह महान् आख्यान एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और काव्य-शास्त्र भी है।[3] इसलिए जिस भी मनुष्य को यह आख्यान रुच गया उसकी दृष्टि में दूसरे आख्यान वैसे ही सूखे, नीरस हैं जैसे कोकिल की मधुरवाणी के आगे कौए के कर्कश बोल।[४]

महाभारत के कथानक का मूल उद्गम और उसका विकास

'महाभारत' का अध्ययन करने के पश्चात् हमें विदित होता है कि उसमें कौरव-पांडव-युद्ध के अतिरिक्त बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातों का भी समावेश है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'भारत' का अर्थ 'संग्राम' बताया है[५] जिसमें 'महाभारत' महासंग्राम का द्योतक है। 'महाभारत' का एक नाम 'महाभारताख्यान' भी उल्लिखित है।[६] इस दृष्टि से वह एक आख्यान-ग्रंथ भी सिद्ध है। ये आख्यान भरतवंश के हैं। 'महाभारत' के नामकरण के संबंध में लिखा है

---

१. महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपांडवविरसावसानवैमनस्यदायिनि समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननं तात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया सूचितः।

—ध्वन्यालोक, उद्द्योत ४

२. यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ ८२॥

३. अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥ ८३॥

४. श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव॥ ८४॥

—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २

५. पाणिनि : अष्टाध्यायी ४।२।५६। ६. महाभारत १।६२।३९

कि देवताओं द्वारा तौले जाने पर चारों वेदों से महान् अर्थात् भारवान् होने के कारण उसका ऐसा नामकरण हुआ ।[1]

'महाभारत' के संबंध में संकेत किया जा चुका है कि वह एक विश्वकोश के समान है। वह एक संग्रह-ग्रन्थ है, जो समय-समय पर संकलित, संपादित और संशोधित होता गया। इसी दृष्टि से उसको प्रत्येक पर्व की पुष्पिका में 'संहिता' कह कर बार-बार स्मरण किया गया है ।[2]

'महाभारत' के कथानक का मूल उद्गम एवं उसका मूल रूप क्या था और किस क्रम से उसका विकास हुआ, इस संबंध में विद्वानों की अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार विद्वान् विंटरनित्स का इस संबंध में कथन है कि 'महाभारत' का कथानक अपने मूल रूप में पहले-पहल केवल वीर-गीतों के रूप में प्रचलित था। उन्हीं वीर-गीतों का संकलन, संशोधन और व्यवस्थापन करके कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने 'महाभारत' की रचना की। इसके सैकड़ों वर्षों बाद उसमें सूतों एवं चारणों द्वारा दूसरी भी वीर-गाथाएं और गीत सम्मिलित कर लिए गए, जिससे स्वभावतया उसके कलेवर में वृद्धि होने लगी।

चारणों और सूतों के बाद तत्कालीन प्रभावशाली एवं समुन्नत ब्राह्मण पुरोहितों ने 'महाभारत' की बढ़ती को देखकर उसमें अपने पक्ष के कुछ धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक आख्यानों और ऋषि-वंशों की कथाओं का समावेश कर एक धर्मग्रन्थ के रूप में 'महाभारत' को प्रचलित कर दिया।

इन बातों के अतिरिक्त 'महाभारत' के उपाख्यानों में जो त्याग, वैराग्य, क्षमा, दया, दाक्षिण्य, करुणा, उदारता, पशु-पक्षी, देव-दानव, भूत-प्रेत और साधु-संतों से संबंधित दूसरी बातें मिलती हैं, उनका भी अपना ऐतिहासिक महत्व है। इन प्रसंगों का समावेश साधुओं, संतों, भिक्षुओं एवं संन्यासियों ने किया। इन नए मनोरंजक आख्यानों के जुड़ जाने के कारण 'महाभारत' का रूप और भी बढ़ गया।[3] 'महाभारत' की पूर्वकथा कुरुवंशीय राजाओं के आश्रित सूतों एवं चारणों द्वारा ख्यात होने के कारण उसमें कुरु-वंश की प्रशंसा थी; किन्तु बाद में पांडव-वंश का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण पांडव-वंशीय राजाओं

---

१. महाभारत १।१।२६९-७१

२. इति शतसाहस्र्यां संहितायां......

३. विन्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम १, पृ० ३१७

के आश्रित सूत-चारणों ने उसमें पांडववंश की पक्षपातपूर्ण प्रशंसाएँ भर दीं, जिससे कि उसका कलेवर पहिले की अपेक्षा बढ़ गया।[1]

'महाभारत' की विषयवृद्धि का यही कारण है कि उसमें साधारण चारण-सूतों, विद्वानों, पुरोहितों और वीतराग साधु-संतों की विचित्रमुखी वाणियों का संग्रह होता गया। घर, परिवार और समाज से लेकर निर्जन अरण्यों तक सभी प्रकार की बातें एक साथ 'महाभारत' में मिलने का कारण भी यही है। इस दृष्टि से ही उसको एक संहिताग्रंथ कहना उपयुक्त समझा गया।

कालान्तर में 'महाभारत' का महत्त्व न केवल कौरव-पांडव के युद्ध तक ही सीमित रहा, वरन् वह भारतीय जीवन का एक ऐसा विश्वकोश बन गया, जिसमें अनायास ही दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण, स्मृति और काव्य प्रभृति विषयों का भी समावेश हो गया। 'महाभारत' के इस बृहद् विश्वकोश रूप पर सारे यूरोपीय विद्वान् मुग्ध हैं।[2]

परवर्ती ग्रन्थों का उपजीवी

अपनी असामान्य विशेषताओं और अपने गुण-बाहुल्य के कारण 'महाभारत' को 'पंचम वेद' के रूप में याद किया जाता है। महासागरस्वरूप इस 'महाभारत' के गर्भ से ही 'गीता', 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज' और 'गजेन्द्रमोक्ष' नामक 'पञ्चरत्नों' की सृष्टि हुई है। 'भगवद्गीता' जैसी अद्वितीय जगद्व्यापी ख्याति की महाकृति का उद्गम होने के कारण 'महाभारत' का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

'महाभारत' संस्कृत-साहित्य के अनेक काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों और कथाकृतियों का जन्मदाता है। उसमें कवि-बुद्धि को प्रेरणा देने वाले तत्त्व

---

१. वही, पृष्ठ ४५५

२. हॉपकिन्स : कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया वा० १, पृ० २५६; विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वा० १, पृ० ३१६; मैक्डोनेल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३७८; एलफिंस्टन : दि हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १७०; सिलविन लेवी : पी० सी० रायज ट्रान्सलेशन ऑफ महाभारत; प्रो० ह्रिरीन : दि प्रिंसिपल नेशन्स ऑफ दि एन्टिक्विटी, वा० २, चेप्ट० १, पृ० १६४; मोनियर विलियम्स : इंडियन विज़डम, पृ० ३७०

प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसी दृष्टि से पाश्चात्य पण्डितों ने उसको 'एपिक विदिन एपिक' (महाकाव्य के भीतर महाकाव्य) कह कर सम्बोधित किया है। यदि संस्कृत के उन ग्रंथों को अलग किया जाय, जो 'महाभारत' से प्रभावित हैं, तो हमारे पास ऐसी बची हुई कृतियों की संख्या बहुत कम रह जायगी। 'महाभारत' अपने मूल रूप में उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य का एक ऐसा ग्रन्थराट् है, जिसके छोटे-छोटे हिस्से कालिदास, माघ, भवभूति, वाण, प्रभृति ग्रन्थकारों की कृतियों में देखने को मिल सकते हैं।

आध्यात्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, और ऐतिहासिक सभी विषयों के बीज 'महाभारत' में बिखरे हैं। यही कारण है कि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास ने गौरव के साथ 'महाभारत' की महत्ता को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि 'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र भी है किन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह कभी कहीं भी नहीं है'', 'महाभारत' की श्रेष्ठता का एक प्रसंग दूसरा है, जिसका आशय है कि जैसे दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वैदिक साहित्य में आरण्यक, ओषधियों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है[२]।

संस्कृत की काव्य, महाकाव्य, नाटक और चंपू प्रभृति अनेक विषयों की कृतियों को 'महाभारत' के कथानक ने प्रभावित किया है। लगभग भास से लेकर तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान अगस्त्य कवि की कृतियों तक सर्वत्र 'महाभारत' का दाय लिया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थकारों की कृतियों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं[३] :

भास	पंचरात्र	क्षेमीश्वर	नैषधानन्द
”	दूतवाक्य	त्रिविक्रमभट्ट	नलचंपू
”	मध्यम व्यायोग	क्षेमेन्द्र	भारतमंजरी
”	दूतघटोत्कच	कांचन पंडित	धनंजयव्यायोग

१. धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥—महाभारत

२. महाभारत १।१।२६१-२६३

३. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३८४, अनु० डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, इलाहाबाद १९५७

भास	कर्णधार	वत्सराज	किरातार्जुनीय-व्यायोग
,,	ऊरुभंग		
कालिदास	अभिज्ञानशाकुन्तल	श्रीहर्ष	नैषधचरित
भारवि	किरातार्जुनीय	रामचंद्र	नलविलास,
भट्ट नारायण	वेणीसंहार	,,	निर्भयभीम
माघ	शिशुपालवध	अमरचंद	बालभारत
कुलशेखर वर्मन्	सुभद्रा-धनंजय	देवप्रभ सूरि	पांडवचरित
नीतिवर्मन्	कीचकवध	कृष्णानन्द	सहृदयानन्द
राजशेखर	बालभारत	अगस्त्य	बालभारत

महाभारत का कलेवर

पहले यह संकेत किया जा चुका है कि 'महाभारत' एक समय की रचना नहीं है। इसकी सप्रमाण व्याख्या उसके कालनिर्णय के प्रसंग में एवं उसके कर्त्ता, वक्ता, प्रवक्ताओं के प्रसंग में विस्तार से की गई है। यहाँ केवल इतना ही समझना अभिप्रेत है कि वह विभिन्न युगों में निर्मित होकर परिवर्द्धित होता गया और कालांतर में चलकर उसके सब अंग-प्रत्यंगों को जोड़कर एक रूप में निबद्ध किया गया। उसका यह जुड़ा हुआ संबद्ध रूप एक लाख अनुष्टुप छन्दों में देखा गया, जिस कारण उसका नामकरण हुआ : 'शतसाहस्री संहिता'। गुप्तकाल के एक १९७ संवत्, (५०२ वि०) के शिलालेख में[1] 'महाभारत' के इस 'शतसाहस्री संहिता' का नाम मिलता है, जिससे विदित होता है कि उस समय तक उसका यह बृहत् कलेवर ऐतिहासिक रूप धारण कर चुका था। इस दृष्टि से यह मानना समीचीन ठहरता है कि विक्रम की पाँचवीं शती के बाद 'महाभारत' में नये क्षेपक जुड़े। उपाख्यान तथा युद्ध आदि के लंबे-चौड़े वर्णन कदाचित् पीछे से मिला लिए गए; किन्तु पांडवों की मूल कथा और युद्ध के समय का ग्रह-नक्षत्र-संयोग कल्पित नहीं है।

मेक्डोनेल साहब का अभिमत है कि मूल 'महाभारत' में बीस हजार श्लोक थे और विभिन्न युगों में विकसित होकर वह अपने वर्तमान स्वरूप

---

१. इंस्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, भाग ३, पृ० १३४

नोट :—अब प्रायः यह निश्चित सा हो चुका है कि उक्त संवत् चेदि (कलचुरी) संवत् है और उसकी अवधि ५०२ वि० या ४४५ ई० बैठती है (देखिए इण्डियन ऐंटिक्वेरी XIX 227 of; XVII 215)

तक पहुँचा है[१]। किन्तु 'महाभारत' का यह 'शतसाहस्री' रूप आज ठीक तरह से उपलब्ध नहीं होता है।

प्रथम शताब्दी ईसवी में वर्तमान यूनानी रेटर दियन क्रिसोस्टम का कथन था कि उसके समय में एक लाख श्लोकों वाला 'महाभारत' का संस्करण दक्षिण भारत में प्रचलित हो चुका था[२]। वेबर और मेक्डोलन का मंतव्य है कि वैशम्पायन-प्रोक्त 'महाभारत' में केवल ८८ सौ श्लोक थे। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने गवेषणा करके यह स्पष्ट किया है कि वैशम्पायन ने जिस ग्रन्थ को कहा उसमें २४ हजार श्लोक थे और बाद में उग्रश्रवा ने पुरानी मनोरञ्जक कथाओं को ७६ हजार श्लोकों में जोड़कर 'भारत' को 'महाभारत' रूप दिया[3]।

वर्तमान 'महाभारत' की पुस्तक 'हरिवंश' के श्लोकों को जोड़ देने पर भी पूरे एक लाख श्लोकों तक नहीं पहुँच पाती। आज भी उसकी श्लोक-संख्या न्यूनाधिक ही ठहरती है[४]। 'महाभारत' के अनुसार उसकी वास्तविक श्लोक-संख्या ९६,२४४ है। अनुक्रमणिका-अध्याय की सूची के अनुसार 'महाभारत' में १९२३ अध्याय हैं और तदनुसार ही उसकी ९६,२४४ श्लोकसंख्या बैठती है, जिसमें 'हरिवंश' के खिलपर्व के १२,००० श्लोक भी सम्मिलित हैं। यही श्लोकसंख्या वर्तमान 'महाभारत' की है। उसके कुछ संस्करण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें एक लाख तो क्या, इससे भी अधिक श्लोक देखने को मिलते हैं। 'हरिवंश' को मिलाकर वर्तमान महाभारत में १८ पर्व और १०० पर्वाध्याय हैं।

संप्रति 'महाभारत' के दो मुख्य रूप मिलते हैं: एक उत्तरीय और दूसरा दाक्षिणात्य। इनमें उत्तर भारत के संस्करण के पांच स्वरूप और दक्षिण भारत के संस्करण के तीन स्वरूप प्रचलित हैं। 'महाभारत' के दो प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुए हैं: एक बंबई से और दूसरा एशियाटिक सोसायटी से। बंबई वाले संस्करण में एक लाख तीन हजार पांच सौ पचास श्लोक और कलकत्ता वाले संस्करण में एक लाख सात हजार चार सौ असी श्लोक हैं।

---

१. मेक्डोनेल : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २८३-२८४

२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, पृ० १८६

३. वैद्य : महाभारतमीमांसा पृ० ५-९, अनु० माधव राव सप्रे

४. सी० वैद्य : महाभारत : ए क्रिटिसिज्म, पृ० १८५

भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना से भी 'महाभारत' का एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हो रहा है जिसके अभी तक कुछ पर्व छप सके हैं। हाल ही में प्रकाशित गीताप्रेस, गोरखपुर का संस्करण भी उपयोगी है।

महाभारत की टीकाएँ

'महाभारत' के प्रथम टीकाकार सर्वज्ञ नारायण १४वीं शती में हुए। उनकी टीका अपूर्ण है। उनके बाद अर्जुन मिश्र ने एक टीका लिखी, जो कि १८७५ वि० में प्रकाशित, कलकत्ता संस्करण के साथ प्रकाश में आ चुकी है। अर्जुन मिश्र ने अपनी इस टीका में अपने पूर्ववर्ती टीकाकार सर्वज्ञ नारायण का उल्लेख किया है। 'महाभारत' के तीसरे टीकाकार नीलकंठ हुए। ये महाराष्ट्र के थे। इनकी टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। देवबोध-कृत 'ज्ञानदीपिका' टीका भी प्रकाशित है। इनके अतिरिक्त 'महाभारत' पर लिखे हुए प्राचीन आलोचनात्मक ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ का 'महाभारततात्पर्यनिर्णय' और अप्पय दीक्षित का 'महाभारततात्पर्यसंग्रह' भी उल्लेखनीय है।

महाभारत के कर्ता, वक्ता और प्रवक्ता

'महाभारत', क्योंकि एक काल की रचना नहीं है, अतएव उसको एक हाथ का लिखा हुआ भी नहीं माना जा सकता। वह समय-समय में प्रादुर्भूत विभिन्न प्रतिभाओं का सामूहिक प्रयास है। इस दृष्टि से 'महाभारत' का अध्ययन करते हुए उसके संबंध में इन बातों का जान लेना आवश्यक है: पहली बात तो यह कि 'महाभारत' एक समय की रचना नहीं है; दूसरी बात यह कि उसका निर्माता भी एक नहीं था; और तीसरी बात यह है कि उसकी अन्त्येष्टि कई शताब्दियों के अन्तर में हुई।

भाव, भाषा और विषय की दृष्टि से 'महाभारत' का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विदित होता है कि उसकी कथा और उपकथाओं में पर्याप्त अंतर है। कालक्रम की दृष्टि से भी उसकी विषय-सामग्री क्रम-बद्ध नहीं है, जैसा कि विदित है कि 'महाभारत' के कुछ आख्यान बहुत पुराने हैं और कुछ बहुत बाद के हैं; किन्तु उसके क्रम-व्यवस्थापन में इस मोटी-सी बात का भी ध्यान नहीं रक्खा गया है।

'महाभारत' की वर्तमान स्थिति को देखकर उसके विभिन्न मूल कर्त्ताओं को पकड़ सकना कठिन और असंभव भी है। उसके कलेवर-वृद्धि के क्रम को दृष्टि में रखकर उसके मूल कर्त्ताओं के लिए उन अज्ञात-नामा चारण-

सूतों, ब्राह्मण-पुरोहितों और साधु-संतों को ही उद्धृत करना पड़ेगा, जिनके व्यक्तित्व की आंशिक छाप भी आज 'महाभारत' में नहीं है। इसलिए 'महाभारत' के वास्तविक कर्त्ताओं के नाम आज अविदित हैं।

कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास के नाम से 'महाभारत' का प्रचलन है; किन्तु वह भी 'महाभारत' का कर्त्ता न होकर वक्ता था। 'महाभारत' में एक स्थान पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास ने निरन्तर तीन वर्षों के घोर परिश्रम से इस अद्‍भुत आख्यान 'महाभारत' की रचना की[1]; किन्तु आधुनिक गवेषणाएँ इस उक्ति को प्रामाणिक न मानकर प्रक्षेप मानती हैं। यह स्पष्ट है कि स्वयं कृष्ण-द्वैपायन मुनि ने अपने सम्बन्ध में यह बात नहीं कही है। पीछे के किसी 'महाभारत' के सह-लेखक ने कही है।

हॉपकिन्स महोदय ने 'महाभारत' के इस प्रसंग के सम्बन्ध में कहा है कि वस्तुतः उस महान् ग्रंथ का कोई एक लेखक नहीं था। यह जो व्यास नाम उसके साथ जोड़ा गया है, वह तो एक प्रकार से अपनी सुविधा के लिए है। व्यास वस्तुतः लेखक न होकर उसका संपादक ही था। आधुनिक विद्वत्समाज उसको अज्ञात व्यास कह कर स्मरण करता है[2]।

'महाभारत' से विदित होता है कि उसकी कथा का तीन व्यक्तियों ने प्रवचन किया। इस कथा के पहले वक्ता कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास थे। उन्होंने पहले-पहल 'महाभारत' की संपूर्ण कथा को अपने सुपात्र शिष्य वैशम्पायन को सुनाई, वैशम्पायन ने उस कथा को जनमेजय-नागयज्ञ के अवसर पर अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को सुनाया और तीसरी बार लोमहर्षण के पुत्र सौति ने इस पवित्र महाख्यान को शौनकादि ऋषियों को सुनाया। इन शौनकादि ऋषियों द्वारा 'महाभारत' की यह कथा लोकविश्रुत हुई।

इस प्रकार 'महाभारत' की कथा तीन विभिन्न व्यक्तियों द्वारा तीन बार पुनरावृत्ति हुई। मूल कथा के प्रथम वक्ता हुए व्यास, और उस विश्रुत कथा के प्रवक्ता वैशम्पायन तथा सौति। चौथे लोकव्यापी करने वाले उप-प्रवक्ता शौनकादि ऋषि हुए।

---

१. त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥—महाभारत

२. हॉपकिन्स : दि ग्रेट एपिक्स ऑफ इण्डिया, पृ० ५८

इस प्रकार 'महाभारत' की कथा इतने वक्ता-प्रवक्ताओं के मुखों से निसृत होकर बहुत घुमाव-फिराव के बाद आज तक पहुँची है। यह निश्चित है कि इस प्रकार उसकी मूल कथा में अन्तर आता गया। कथा-प्रवक्ता वैशम्पायन और कथाश्रोता जनमेजय के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए होंगे और इसी प्रकार सौति-सनकादियों में जो पारस्परिक वाद-विवाद हुआ होगा उसके प्रभाव से मूल कथा अछूती न रह सकी होगी।

एक बात ध्यान देने योग्य इस प्रसंग में यह है कि 'महाभारत' की कथा के लिए प्रमुख वक्ता संजय और सौति थे, जो कि कौरवपक्षीय थे। अतएव बहुत संभव है कि कौरव-पक्षीय होने के कारण पांडवपक्ष की प्रशंसात्मक कुछ बातों में उक्त प्रवक्ताओं से हेर-फेर कराया गया हो या उन्होंने स्वयं किया हो।

इसी प्रकार वैशम्पायन भी भारत की कथा के प्रवक्ता थे। वे पांडव-पक्षीय थे। उनकी कथा में भी पांडवों की प्रशंसा की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त 'महाभारत' की कथा में न्यूनाधिक्य की संभावना उसकी भाषा, शैली, छन्द, भाव, आर्ष प्रयोग, पौराणिक शैली, अलंकृत काव्य-शैली, गद्य-पद्य, गद्य-पद्यमिश्रित वैदिक और लौकिक छन्द आदि बातों को देखकर होती है। इस संभावना की पुष्टि उस दशा में और भी पक्की हो जाती है, जबकि 'महाभारत' के प्रथम दो अध्यायों में उल्लिखित सूची से आगे वाले अंश मेल नहीं खाते हैं[1]।

'महाभारत' की कथा में जो उक्त तीन मोड़ या परिवर्तन आए उनका भी अपना इतिहास है। विद्वानों की खोज के अनुसार कृष्ण-द्वैपायन ने जिस कथा को कहा उसका नाम 'जय' था[2]। यह नाम भी ऐतिहासिक है[3]। पांडवों की विजय के कारण संभवतः उस कथा का ऐसा नामकरण हुआ। साथ ही यह भी उल्लेख मिलता है कि कृष्ण-द्वैपायन-प्रोक्त उस 'जय' नामक

---

१. विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वा० १, पृ० ४६२

२. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥ —महाभारत, आदि० ६२।२०

३. 'जय'नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा। —महा०, आदि० ६२।२२

ग्रंथ में ८,८०० श्लोक थे।[1] वैशम्पायन ने जिस कथा को कहा उसका नाम 'भारत' था और उसकी श्लोकसंख्या भी बढ़कर २४,००० हो गई।[2] इसी श्लोक से विदित होता है कि चौबीस हजार श्लोकों का वह 'भारत' ग्रंथ आख्यान-उपाख्यानों से रहित था। किन्तु अन्त में सौति ने जिस कथा को शौनकादियों को सुनाया उसमें विभिन्न आख्यान-उपाख्यानों और परिशिष्ट रूप में 'हरिवंश' को भी जोड़ दिया गया था, जो कि बृहदाकार में परिणत हो गया और जिसको, इसीलिए, 'महाभारत' के नाम से अभिहित किया गया। इसी को बाद में 'शतसाहस्री संहिता' भी कहा गया। 'भारत' का 'महाभारत' नामकरण हुए आज लगभग सात सौ वर्ष हो रहे हैं।

'महाभारत' के सम्बन्ध में तत्कालीन हिन्दुओं से सुनी एक कथा के अनुसार अलबेरूनी का कथन है कि व्यास ने ब्रह्मा से उनके पुत्र विनायक को माँगकर उसके द्वारा 'महाभारत' को लिखाया था और स्वयं कथा को रुक-रुक कर कहते गए थे।[3]

'महाभारत' के आदिपर्व में निर्देश किया गया है कि महर्षि व्यास ने साठ लाख श्लोकों का एक बृहद् काव्य लिखा था। उनमें तीस लाख श्लोक तो देवताओं के लिए, पन्द्रह लाख श्लोक पितरों के लिए, चौदह लाख श्लोक गन्धर्वों के लिए और एक लाख श्लोक मनुष्यों के लिए लिखे गये थे[4]। मनुष्यों के लिए लिखा गया एक लाख श्लोक परिमाण का ग्रंथ कौन था, इसका कुछ स्पष्टीकरण नहीं होता है।

'महाभारत' के मूल कथानक और उसके ऐतिह्य पर इतिहासकार विद्वानों की गवेषणाओं का समीक्षण करने पर विदित होता है कि उसका मूल रूप उसके इस वर्तमान रूप से सर्वथा भिन्न था। विद्वानों के मतानुसार व्यास-प्रणीत मूल 'भारतग्रन्थ' बाद में उत्तरवर्ती विद्वानों द्वारा समय-समय पर बढ़ाया गया।[5] यहाँ तक भी विद्वानों के एक सम्प्रदाय का अभिमत है कि

---

१. अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

२. चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

३. अलबेरूनी का भारत, पृ० ३९

४. महाभारत, आदिपर्व (१।१।१०१। आदि)

५. विन्टरनित्ज: ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वा० १, पृ० ३१८-३२०, ३२४-३२६, ४५९, मेक्डोनल: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २८४

प्रचलित 'रामायण' के वर्तमान रूप को याकोबी पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी का मानते हैं,[1] जिसका अनुगमन विंटरनित्स ने भी किया है।[2] वैद्य उसकी सीमा को २०० ई० पूर्व से २०० ई० के बीच बताते हैं।[3] याकोबी साहब ने मूल 'रामायण' की रचना ५००-८०० ई० पूर्व के बीच मानी है।[4] इसी मत का अनुगमन मेक्डोनेल साहब ने भी किया है।

मेक्डोनेल साहब का कथन है कि 'रामायण' के मुख्य भाग की रचना ५०० ई० पूर्व में हो चुकी थी। 'महाभारत' में 'रामायण' तथा वाल्मीकि का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण 'रामायण' की स्थिति निश्चित ही 'महाभारत' से पहिले की है। 'रामायण' में कौशाम्बी, कान्यकुब्ज, काम्पिल्य आदि नगरों का तो उल्लेख मिलता है; किन्तु पटना का नहीं। पटना को कालाशोक ने ३८० ई० पूर्व से भी पहले बसाया था। 'रामायण' में जो मिथिला और विशाला दो स्वतंत्र राजधानियों का उल्लेख है, बुद्ध के समय में वे अयोध्या के नाम से परिवर्तित हो गयी थीं। अयोध्या के लिए बौद्ध-साहित्य में जो साकेत शब्द मिलता है, 'रामायण' में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार राम के पुत्र लव की राजधानी श्रावस्ती का नाम 'रामायण' में कहीं नहीं है। इसलिए 'रामायण' का मूल अंश उस समय निर्मित हो चुका था, जब कि 'महाभारत' अपनी निर्माणावस्था में था।[5]

याकोबी और मेक्डोनेल के आधारों का खंडन कर कीथ ने यह सिद्ध किया है कि 'आदिरामायण' की रचना ४०० ई० में हुई[6] और विंटरनित्स साहब ने भी प्रायः कीथ के ही मत का अनुगमन किया; किन्तु उन्होंने 'रामायण' की रचना ३०० ई० पूर्व में रखने के लिए अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त भी सामने रखे।[7]

'रामायण' के काल-निर्णय-संबंधी विश्लेषण पर विद्वानों का विवाद एक

---

१. एच० याकोबी : दस रामायण, पृ० १००

२. एम० विंटरनित्स : हिस्ट्री, भाग १, पृ० ५००, ५१७

३. सी० वी० वैद्य : दि रिडिल ऑफ दि रामायण, पृ० २०, ५१

४. याकोबी : दस रामायण, पृ० १०१ आदि

५. मेक्डोनेल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३०२, ३०७ (लंदन १९२०)

६. जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो० 'दि एज ऑफ दि रामायण' पृ० २१८, १९१५

७. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ५१६

लम्बी अवधि तक बना रहा। हॉपकिन्स[1], विंटरनित्स[2], विंसेंट स्मिथ[3], मेक्डोनेल[4] और मोनियर विलियम्स[5] आदि की स्थापनाओं की आलोचना करके श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 'महाभारत' की ही भांति 'रामायण' के दो रूप माने हैं। उनके मतानुसार 'रामायण' के प्राचीनतम रूप की रचना १२०० ई० पूर्व 'भारत' और 'महाभारत' की रचना के बीच[6] और दूसरे रूप की रचना ५०० ई० पूर्व में हुई।[7] वैद्य जी की इन असंगतियों का खण्डन पोद्दार जी ने किया।[8]

कुछ विद्वानों के मतानुसार वाल्मीकि, राम के समकालीन त्रेता युग में हुए। त्रेता युग की सीमा ८६७१०० ई० पूर्व में बैठती है, 'महाभारत' ३१०० ई० पूर्व में रचा गया और 'रामायण' की रचना इससे भी बहुत पहले हो चुकी थी।[9] इस मत के अनुसार वाल्मीकि मुनि का स्थितिकाल लाखों वर्ष पहिले बैठता है, जो कि अतिरंजनापूर्ण है।

यद्यपि राम और वाल्मीकि के समकालीन होने के पक्ष में 'रामायण', 'महाभारत', 'अध्यात्मरामायण' और 'कृत्तिवासरामायण' आदि अनेक ग्रन्थ अपना मंतव्य पेश करते हैं[10], तथापि इन ग्रन्थों के विवरणों को सर्वथा सत्य प्रमाणित करने और विशेषतया त्रेतायुग की सीमा को यथावत् निर्धारित करने के लिए नये सिरे से अनुसंधान की आवश्यकता है।

'रामायण' के रचनाकाल की समीक्षा उसके अन्तःसाक्ष्यों को आधार बना कर की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में पहिला सर्वसंमत मंतव्य यह है कि 'महाभारत', 'रामायण' से पूरे रूप में प्रभावित है। अतः 'रामायण' की रचना उससे पहले हो चुकी थी। इसकी सप्रमाण चर्चा इन दोनों ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन में आगे की जायगी।

---

१. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० २५८
२. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ४६५
३. आक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३३
४. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २८५–२८७। ५. इण्डियन विजडम, पृ० ३१७
६. संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास (मराठी), पृ० १०४
७. वही, पृ० १०६ ८. संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० १८, २५
९. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६१, ६२
१०. रामायण १।१।४; उत्तरकाण्ड, सर्ग ८३ से ९१ तक; महाभारत, अनुशासनपर्व, ४९, ८, १०; अध्यात्मरामायण २।६।४२८; कृत्तिवासरामायण पृ० २

उपाख्यान आदि कुछ भी नहीं थे; किन्तु पीछे से उसमें अनेक ऐतिहासिक एवं काव्यपरक वृत्तों तथा धर्माधर्म-प्रसंगों को जोड़ दिया गया और तब वह 'महाभारत' के बृहद् ग्रंथ के रूप में परिणत हो गया। 'भारत' और 'महाभारत' इन दो नामों के पृथक् अस्तित्व को 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' भी प्रकट करता है, जिससे एक ही ग्रंथ के इन दो नामों की उक्त ऐतिहासिक सत्यता का प्रबल स्पष्टीकरण हो जाता है।[1]

'महाभारत' में यह भी कहा गया है कि व्यास ने पहले अपने पुत्र (शुक) को और बाद में अन्य शिष्यों को भारत-कथा का उपदेश दिया।[2] यह भी हमें इसी ग्रन्थ के अध्ययन से विदित होता है कि व्यास के सुमंतु, जैमिनि, पैल, शुक और वैशंपायन नामक पांच शिष्यों ने भिन्न-भिन्न पांच भारतसंहिताओं या महाभारतों की रचना की थी।[3] इस संबंध में यह भी कथा है कि व्यास ने वैशंपायनकृत संहिता पर और जैमिनि कृत केवल अश्वमेध पर्व पर ही अपनी प्रामाणिकता की मुहर लगाई। शेष तीन शिष्यों की संहिताएँ उतनी प्रामाणिक न होने के कारण संभवतया व्यास ने स्वीकृत नहीं कीं।

'महाभारत' के पुनः-पुनः संस्करणों को प्रामाणिकता के साथ बताने वाला आदि पर्व में एक श्लोक उद्धृत है, जिसमें नरश्रेष्ठ नारायण, देवी सरस्वती और व्यास को एक साथ नमस्कार किया गया है।[4] 'महाभारत' में नर-नारायण नामक दो ऋषिप्रवरों को ईश्वर का स्वरूप और उन्हें अर्जुन तथा श्रीकृष्ण का अवतार बताया गया है।[5] भागवतधर्मप्रधान ग्रंथों में इसीलिए नर-नारायण की प्रथम वंदना की गई है।

इस श्लोक से हमें दो बातों का पता चलता है: एक तो यह कि 'महाभारत' का पुनः संस्करण हुआ, क्योंकि उसके पूर्वकर्ता व्यास को नमस्कार करने वाले किसी दूसरे ही व्यक्ति का यह श्लोक है; और दूसरी बात यह कि इस ग्रंथ का एक संस्करण 'जय' नाम से हुआ।

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।४।४ २. महाभारत, आदि० १।१०३

३. महाभारत, आदि० ६३।९०

४. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं वंदे ततो जयमुदीरयेत्॥ महा० आदि० ६२।२२

५. महाभारत, उ० ४८।७-८, ४८।२०-२२ तथा वन० १२।४४-४६
वी० वरदाचार्य: संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६७-६९, अनु० डा० कपिलदेव द्विवेदी

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

'महाभारत' के अध्ययन से स्पष्ट है कि उसके कई संस्करण हुए तथा निरन्तर तीन वर्ष तक ग्रंथ को लिखने का कार्य शिव जी के पुत्र गणेश ने किया और पांडवों-कौरवों के अंतकाल के बाद व्यास ने इस ग्रंथ को प्रकाशित किया। यह उसका पहला संस्करण था।

अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय ने जो बृहद् नाग-यज्ञ किया था उसमें व्यास उपस्थित थे। इस अवसर पर जनमेजय के प्रार्थना करने पर व्यास की आज्ञा से उनके शिष्य वैशम्पायन ने कौरवों-पांडवों की कथा से संबंधित 'जय' नामक महाकाव्य को सुनाया। कथा को सुनते हुए जनमेजय ने बीच-बीच में कुछ जिज्ञासाएँ कीं, जिनका समाधान वैशम्पायन ने अपनी ओर से किया। वैशम्पायन की ये समाधानपूर्ण बातें भी आगे चलकर मूल 'जय' काव्य में मिल गईं। यह व्यास के ग्रन्थ का दूसरा संस्करण था, जिसका नाम 'भारतसंहिता' पड़ा।

वैशम्पायन के अतिरिक्त व्यास के चार शिष्य और थे: जैमिनि, पैल, सुमन्तु और शुक। इन्होंने 'जय' महाकाव्य के पृथक्-पृथक् संस्करण किए, जिनमें से जैमिनिकृत अश्वमेधपर्व को छोड़कर बाकी तीन संस्करण नष्ट हो गए।

जनमेजय-नागयज्ञ के कुछ समय बाद ही शौनक ऋषि ने नैमिषारण्य में एक बृहद् यज्ञ का आयोजन किया था, जो कि निरन्तर बारह वर्ष तक चलता रहा। इसमें सौति ऋषि भी उपस्थित थे। सौति ऋषि जनमेजय-नागयज्ञ के अवसर पर वैशम्पायन-प्रोक्त 'भारतसंहिता' को सुन चुके थे। अतएव शौनक के प्रार्थना करने पर सौति ने उस कथा को सुनाया, साथ ही साथ अपने विचारों एवं उदाहरण में दूसरे उपाख्यानों का वर्णन भी अपनी ओर से करते गए। 'हरिवंश' वाला अंश भी उन्होंने इस कथा के साथ जोड़ दिया, जिससे कि 'भारतसंहिता' का कलेवर अतिशय रूप से बढ़ गया। 'जय' काव्य का यह तीसरा बृहद् संस्करण अपने भारवत्त्व के कारण 'महाभारत' के नाम से विख्यात हुआ।

महाभारत का काल-निर्णय

'महाभारत' के कर्ता, वक्ता और प्रवक्ताओं का अध्ययन करने के पश्चात् और उसके पुनः-संस्करणों का अनुशीलन करने के बाद निश्चित हो गया है कि उसका निर्माण अनेक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न समयों में हुआ। 'महाभारत' के कालनिर्णय के संबंध में देशी-विदेशी विद्वानों की अलग-अलग स्थापनाएं हैं।

ये स्थापनाएं इतनी भिन्न हैं कि सहसा विश्वास ही नहीं होता कि 'महाभारत' का निर्माण कब हुआ। ये स्थापनाएं १००० ईसवी पूर्व से लेकर ४०० ई० की सुदीर्घ दूरी तक फैली हुई हैं।

'महाभारत' के कालनिर्णय के लिए यह अधिक उपयुक्त होगा कि पहले हम उसकी पूर्व सीमाओं का विश्लेषण करें। ऐसा करने पर हम उसकी आंशिक वास्तविकता को खोज निकालने में समर्थ हो सकेंगे। 'महाभारत' के आरंभ और अन्त्येष्टि की सीमाओं की सुनिश्चित जानकारी के अनन्तर उसके अन्तःसाक्ष्य की गहराइयों में पहुँचने के लिए हमें अधिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ेगी। इस दृष्टि से पहले हमें उसकी पूर्व-सीमाओं का समीक्षण करना आवश्यक है।

पूर्व सीमाएं

(१) विक्रमी संवत् ५३५ और ६३५ के लगभग जावा और वाली द्वीपों में 'महाभारत' का अनुवाद वहां की प्राचीनतम कविभाषा में हो चुका था। कवि-भाषा में अनूदित आदि, विराट्, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासी, मुसल, प्रास्थानिक और स्वर्गारोहण ये आठ पर्व आज भी वहां सुरक्षित हैं, जिनको कलकत्ता के संस्करण से मिलान करने पर लोकमान्य तिलक ने सर्वान्त शुद्ध बताया है[1]। इससे प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी तक 'महाभारत' को इतनी लोक-विश्रुति मिल चुकी थी कि उसका प्रचार विदेशों में होने लगा था। इसके कुछ बाद ही उसका एक अनुवाद तिब्बतीय भाषा में भी हुआ।[2]

(२) बौद्धधर्मविषयक संस्कृत की चीनी भाषा में अनूदित कुछ पुस्तकें उपलब्ध हुयी हैं। भारत का चीन के साथ इस सांस्कृतिक मैत्री-संबंध का समय लगभग दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व से है।[3] विद्वानों का कथन है कि ये पुस्तकें भारत से ईसा की तीसरी शताब्दी में चीन को प्रवासित हो चुकी थीं। इन अनूदित पुस्तकों में 'महाभारत' को बड़े आदर भाव से स्मरण किया गया है।

(३) गुप्तकालीन चेदि संवत् १९७ (५०२ विक्रमी, ४४६ ई०) के उपलब्ध एक शिलालेख से प्रतीत होता है कि उस समय तक 'महाभारत' एक लाख

---

१. दि माडर्न रिव्यू, जुलाई १९१४, पृ० ३२-३८
२. राक्हिल : लाइफ ऑफ बुद्धा, पृ० २२८ नोट
३. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास

श्लोकों का स्वरूप धारण कर चुका था। अतः निश्चित है कि उसकी रचना इसके बहुत पहले हुई।[1]

(४) शालिवाहन शक के आरंभ में संस्कृत के एक सुपरिचित बौद्ध महाकवि अश्वघोष हुए हैं, जो कि सम्राट कनिष्क के सभापंडित थे। उन्होंने 'सौन्दरानन्द' और 'बुद्धचरित', इन दो महाकाव्यों के अतिरिक्त 'वज्रसूचिकोपनिषद्' नामक तीसरा व्याख्यान-ग्रन्थ भी लिखा। इस ग्रन्थ को वेबर साहब ने १८६० ई० में जर्मन से प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में 'हरिवंश' और 'महाभारत' के श्लोक उद्धृत किए हुए मिलते हैं।[2]

अश्वघोष के ग्रन्थ में उद्धृत उक्त दोनों ग्रन्थों के अंशों को पाकर न केवल इतना ही विदित होता है कि 'महाभारत' का अस्तित्व इतना पुराना है, वरन् यह भी सिद्ध होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में 'हरिवंश' 'महाभारत' के साथ संबद्ध होकर अपना बृहद् शतसाहस्री रूप धारण कर चुका था। अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी सुनिश्चित है।[3]

(५) भास, संस्कृत के सुपरिचित, सर्वाग्रणी और निपुण नाटककार हुए हैं। उन्होंने लगभग तेरह नाटक लिखे हैं। उनके अधिकांश नाटकों के कथानक 'महाभारत' के उपाख्यानों से लिए गए हैं। अब प्रायः निश्चित-सा हो चुका है कि भास, कालिदास से पहले ३००–४०० ई० पूर्व में हुए। इससे हमें यह विदित होता है कि 'महाभारत' का अस्तित्व भास से पहले था और उसको तभी से एक उपजीवी ग्रंथ माना जाने लगा था।

(६) सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में युधिष्ठिर, भीम, विदुर आदि भारतयुद्ध के चरित-नायकों का तथा 'महाभारत' ग्रन्थ का उल्लेख व्याकरणसंमत व्युत्पत्ति के साथ किया।[4] पाणिनि का स्थितिकाल ई० पूर्व पांचवीं शताब्दी सुनिश्चित है।[5] इस संबंध में विद्वानों की समीक्षाओं से यह बात

---

१. इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम ३, पृ० १३४; शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र (मराठी), पृ० १०८

२. *हरिवंश, २४।२०–२१; महाभारत, शां० २६१।१७*

३. पांडेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ५९ (द्वितीय संस्करण); उपाध्याय : सस्कृत साहित्य का सक्षिप्त इतिहास, पृ० ९७ (प्र० सं०)

४. पाणिनि : अष्टाध्यायी ८।३।९५, ३।२१।६२, ६।२।३८

५. प्रो० कुण्ठे : विसिसिट्यूडस ऑफ आर्यन् सिविलाइजेशन, पृ० ४४८

सिद्ध हो चुकी है कि पाणिनि के समय में 'महाभारत' था। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी महाभारत-युद्ध का वर्णन विस्तार से किया है। पतंजलि 'अष्टाध्यायी' के प्रामाणिक व्याख्याकार हुए, जिनका समय २०० ई० पूर्व है।

(७) कल्पसूत्रों में 'महाभारत' के संबंध में महत्त्वपूर्ण चर्चाएं लिखी मिलती हैं। 'शांखायन श्रौतसूत्र' में कुरुक्षेत्र-युद्ध में हुई कौरवों की पराजय का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है[१]।

'आश्वलायन-गृह्यसूत्र' में 'भारत' और 'महाभारत' का नाम अलग-अलग उल्लिखित है। उसके व्याख्याता आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख है: सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन प्रभृति[२]। भाषा के इतिहास से यह सिद्ध हो चुका है कि आश्वलायन, पाणिनि से प्राचीन था[३]।

'विष्णुसहस्रनाम' और 'भगवद्गीता' दोनों 'महाभारत' के ही अंश हैं। 'बौधायन-गृह्यसूत्र' में इन दोनों ग्रन्थों के वचनों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है[४]। इनके अतिरिक्त 'बौधायन-धर्म-सूत्र' में भी इस सम्बन्ध में चर्चाएँ मिलती हैं।[५]

कल्पसूत्रों की उक्त बातों को यद्यपि बूलर साहब ने प्रामाणिक नहीं माना है[६]; किन्तु श्री त्र्यवंक गुरुनाथ काले के लेख से यह बात सिद्ध हो जाती है कि धर्म-सूत्रकारों ने अवश्य ही 'महाभारत' से दाय ग्रहण किया और[७] इसी प्रसंग में बूलर साहब ने 'बौधायन-धर्म-सूत्र' का रचना-काल ४०० ई० पूर्व लगभग माना है, जिससे 'महाभारत' के प्राचीनतम अस्तित्व का पता सरलता से ही मिल जाता है।

---

१. शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५।१६
२. आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।४।४
३. शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित : भारतीय ज्योतिष, पृ० १५३
४. बौधायन गृह्यसूत्र—देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यात् मनसा वार्चयेदिति,
तदाह भगवान्—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ गीता—९।२६
५. बौधायन धर्मसूत्र २।२।२६
६. बूलर : सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज, वा० १४, इन्ट्रो० पृ० १२
७. काले : दि वैदिक मैगजीन ऐण्ड गुरुकुल समाचार, वा० ७, नोट्स ६, ७ पृ० ५२८–५१२

इन सूत्रों का रचना-काल चिन्तामणि विनायक वैद्य के मतानुसार यद्यपि १३०० ई० पूर्व बैठता है; किन्तु कल्पसूत्रों के निर्माण के प्रसंग में हमने उनकी पूर्व सीमा ७०० ई० पूर्व निर्धारित की है। यही मत संप्रति मान्य है। इस दृष्टि से 'महाभारत' के अस्तित्व का पता सूत्र-ग्रंथों से पहले प्रतीत होता है।

(८) 'महाभारत' में दस अवतारों के प्रसंग में बुद्ध को स्थान नहीं दिया गया है[1]; किन्तु वनपर्व में देवालयों के पर्यायवाचो रूप में 'एडूक' शब्द का उल्लेख हुआ है।[2] ये 'एडूक' बुद्ध की वस्तुओं को जमीन में गाड़ कर, स्मारक के रूप में अभिहित होते थे। 'एडूक' को संप्रति 'डागोबा' नाम से कहते हैं, जिसका प्रचलन सिलोन और ब्रह्मदेश में है। इससे यह प्रतीत होता है कि 'महाभारत' बुद्ध के बाद, किन्तु बुद्ध के अवतारों में गणना होने से पूर्व, रचा गया। 'महाभारत' में जो 'बुद्ध' या 'प्रतिबुद्ध' शब्द आए हैं, वे तथागत के पर्यायवाची न होकर ज्ञानी, स्थितप्रज्ञ आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[3]

(९) यद्यपि पूर्ववैदिक साहित्य अर्थात् मंत्र-संहिताओं में 'भारत' या 'महाभारत' का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि उत्तरवैदिक साहित्य अर्थात् ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों में कुरु और पांचाल नामक दो आयुधजीवी आर्य जातियों का स्पष्ट हवाला दिया गया है। इस प्रसंग में कुरुक्षेत्र, परीक्षित्, जनमेजय और भरत आदि 'महाभारत' के चरितनायकों के नाम उल्लिखित हैं। वहाँ कुरुक्षेत्र को देवपूजा की पुण्यभूमि और सारे प्राणियों का उत्पत्तिस्थान बताया गया है : 'तदनु देवानां देवयजनं तदनु सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्।' कुरुक्षेत्र के उत्तरी भाग का नाम 'तूर्घ्न' से अभिहित किया गया है।[4]

इस प्रकार 'महाभारत' के मूल कथानक और उसमें वर्णित कुछ आख्यानों का ऐतिहासिक विश्लेषण कर उनकी प्राचीनता उत्तर-वैदिकयुगीन साहित्य (१००० ई० पू०) में सिद्ध की गई है।[5] इस आधार पर 'महाभारत' के कालनिर्णय की पूर्व सीमा वैदिकयुग तक पहुँचती है।

---

१. महाभारत, शांति० ३३९।१००

२. वही, वन० १९०।६८

३. वही, शांति० १९४।५८; ३०७।४७; ३४३।५२

४. तैत्तिरीय आरण्यक ५।१।१

५. विस्तार के लिए—विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ४५४-४६२

उत्तरी सीमाएँ

'महाभारत' की पूर्व सीमा का समीक्षण करने के बाद और उसकी उत्तर-सीमा का निराकरण करने पर ही उसके निर्माण का ठीक अन्दाजा लगाया जा सकता है। विभिन्न देशी-विदेशी विद्वानों ने 'महाभारत' की अन्तिम सीमा के लिए जो मत दिये हैं, उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. इस संबंध में पहला विचारणीय मत हॉप्किन्स साहब का है। हॉप्किन्स साहब ने कुछ बाहरी साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'महाभारत' की अन्त्येष्टि चौथी शताब्दी ईसवी के लगभग या इससे कुछ पूर्व हुई। हॉप्किन्स साहब की आधारभूत सामग्री का निष्कर्ष नीचे दिया जाता है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने इन पाँच आधारों को अपनाया है[1]।

(क) सुप्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट ने अपनी कृतियों में 'महाभारत' के प्रायः सभी पर्वों को उद्धृत किया है और स्पष्ट शब्दों में उसको व्यास-विरचित एक विशालकाय स्मृतिग्रन्थ के रूप में स्मरण किया है। कुमारिल का स्थितिकाल ७०० ई० है। अतः ७०० ई० से पहले 'महाभारत' अपने वर्तमान रूप में संपन्न हो चुका था।

(ख) सुबन्धु और बाण ने भी 'महाभारत' को उद्धृत किया है। सुबन्धु का समय ६०० ई० और बाणभट्ट का समय ६५० ई० है।

(ग) कम्बोडिया से प्राप्त एक शिलालेख में 'महाभारत' का निर्देश है। यह शिलालेख ६०० ई० का है। इस निर्देश से विदित होता है कि ६०० ई० तक 'महाभारत' इतना यश अर्जित कर चुका था कि बाहरी देशों में भी उसकी ख्याति पहुँच चुकी थी।

(घ) कुछ दान-पत्र ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनमें 'महाभारत' को स्मृतिरूप में स्वीकार किया गया है, उसको शतसाहस्री-संहिता कहा गया है : 'शत-साहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्'। उसके श्लोक भी उनमें प्रमाण रूप में उद्धृत किए गए हैं। ये दान-पत्र ५०० ई० के पहले के हैं।

(ङ) इसी प्रकार गुप्तकाल के एक शिलालेख में, जिसका समय ४४२ ई० है 'महाभारत' को शतसाहस्री संहिता के नाम से अभिहित किया है।

---

१. हॉप्किन्स : कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वा० १, पृ० २५८ तथा एस० लेवि : जर्नल एसिएटिक १९१५, पृ० १२२

२. कुछ विद्वानों के मत से 'महाभारत' एक ऐतिहासिक काव्य है और उसका आरम्भ यद्यपि ५०० ई० पूर्व में हो चुका था, किन्तु उसका अन्त्येष्टि काल ४००-५०० ई० के लगभग है।[1]

३. जयसवाल जी के मतानुसार 'महाभारत' के निर्माणकाल की अन्तिम सीमा ५०० ई० है। उनके शब्दों में " 'महाभारत' की आधारभूत सामग्री प्रायः प्राचीन ही है; परन्तु ईसवी की पाँचवीं शताब्दी तक उसमें वृद्धि होती गयी। फिर भी उसका बहुत-कुछ रूप ई० पू० १५० में ही निश्चित हो चुका था[2]।"

४. 'महाभारत' की रचना बदरिकाश्रम में हुई। उसके बाद वह भृगु-वंशीय ब्राह्मणों से लेकर ई० पूर्व तीसरी-दूसरी शताब्दी तक निरन्तर संपादित, परिवर्तित और संशोधित होकर आज की स्थिति तक पहुँचा है।[3]

५. श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 'महाभारत' के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'महाभारत' के मूलरूप का निर्माण ३५०-३२० ई० पूर्व के बीच हो चुका था। वही 'महाभारत' का वर्तमान रूप है।[4]

६. श्री जयचन्द विद्यालंकार के मतानुसार 'महाभारत' या 'भारतकाव्य' का एक प्रथम संस्करण ५०० ई० पूर्व में हो चुका था, जिसका हवाला 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' (३।३।४) भी देता है; किन्तु बाद के संस्करणों में उसका वह रूप छिप गया।[5]

७. एक मत इतिहासकार विंटरनित्स महोदय का है। विंटरनित्स महोदय ने 'महाभारत' के निर्माणकाल पर अपनी अलग ही राय दी है। उन्होंने इस संबंध में नौ ऐतिहासिक आधार उद्धृत किए हैं, जिनका निष्कर्ष है कि 'महाभारत' में कुछ ऐसे आख्यानों-उपाख्यानों का भी उल्लेख है, जिनका सम्बन्ध वैदिक साहित्य के युग तक पहुँचता है। 'महाभारत' में अनेक नीति-परक सूक्तियाँ तथा कथाएँ इस प्रकार की हैं, जो जैन-बौद्ध संप्रदायों से संबंधित

---

१. त्रिपाटी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ५३
उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ७१

२. जयसवाल : हिन्दू राजतंत्र १, पृ० ६ तथा टैगोर-लेक्चर्स

३. डॉ० सुकथनकर : 'भृगु और भारत' शीर्षक निबंध, भंडारकर इंस्टीट्यूट पत्रिका भाग १८, पृ० १-७६, तथा नागरी प्र० प०, भाग ४५, पृ० १०५-१६२

४. वैद्य : महाभारतमीमांसा, पृ० ३०७

५. जयचन्द विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा १, पृ० ४३३

हैं और जिनका समय कदाचित् ६०० ई० पूर्व तक पहुँचता है। इन आधारों पर विंटरनित्स साहब के मतानुसार 'महाभारत' का अन्त्येष्टिकाल ४०० ई० पूर्व से भी पहले का ठहरता है।[१]

किन्तु आधुनिक शोधों ने विंटरनित्स साहब के उक्त आधारों को अप्रामाणिक एवं अनाधारित सिद्ध करके उनको व्यर्थ सिद्ध कर दिया है; और इस दृष्टि से 'महाभारत' के संबंध में विंटरनित्स साहब की उक्त स्थापनाएं प्रायः स्वीकार्य नहीं समझी जातीं।

८. काल-निर्णय की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात का पता यह चलता है कि 'महाभारत' की नक्षत्र-गणना अश्विनी से न होकर कृत्तिका से है।[२] मेष, वृष आदि राशियों का भी 'महाभारत' में कहीं उल्लेख नहीं है। जिससे विदित होता है कि भारत में मेष, वृष आदि राशियों के प्रचारक यूनानवासियों, अर्थात् सिकन्दर के प्रवेश से पहले 'महाभारत' की रचना हो चुकी थी। 'महाभारत' में कहा गया है कि विश्वमित्र ने श्रवण आदि की नक्षत्रगणना आरंभ की थी।[3] टीकाकार ने इसका अर्थ लगाया है कि उस समय श्रवण नक्षत्र से उत्तरायण आरम्भ होता था। वेदांग ज्योतिष के समय में धनिष्ठा नक्षत्र से उत्तरायण आरम्भ होता था। यह स्थिति शक सं० से १५०० वर्ष पहले की है। ज्योतिष के अनुसार उदगयन को एक नक्षत्र पीछे रहने में लगभग एक हजार वर्ष लग जाते हैं। इस हिसाब से 'महाभारत' का रचनाकाल शक संवत् ५०० वर्ष पूर्व ठहरता है। यही मत शंकर बालकृष्ण दीक्षित का भी है।[४]

'महाभारत' में उद्धृत ऋतु, अयन, मास, वार, नक्षत्र, तारे, मेषादि नाम, सौरमास, ग्रहण, ग्रहज्ञान और युद्धकालीन ग्रहस्थिति आदि बातों का बारीकी से विश्लेषण कर दीक्षित जी ने निश्चित किया है कि पाण्डवों का समय कलि-द्वापर की संधि में था, जिसको बीते आज लगभग ५००० वर्ष हो रहे हैं। इस दृष्टि से पाण्डव लगभग ३२०० शक पूर्व हुए।[५]

---

१. विन्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वा० १, पृ० ४५४–४६२

२. महाभारत (अनुगीता) ६४, ८९

३. वही, अश्व० ४४।२, आदि० ७१।३४

४. दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र (मराठी) पृ० ८७–९०; १११, १४७

५. दीक्षित : भारतीय ज्योतिष, पृ० १५७, १७७ (हिन्दी संस्करण)

९. रायबहादुर श्री चिन्तामणि राव वैद्य ने 'महाभारत' पर एक टीकात्मक ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा है। इसमें उन्होंने सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त (३२० ई० पूर्व) के दरबार में रहने वाले मेगस्थनीज नामक ग्रीक वकील को 'महाभारत' की कथाएं विदित थीं। उसके ग्रन्थ के उपलब्ध अंशों को देखकर यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि उसके समय तक न केवल 'महाभारत' की लोक-विश्रुति हो चुकी थी, वरन् श्रीकृष्णपूजा का भी पर्याप्त प्रचार हो चुका था।[1]

१०. लोकमान्य तिलक ने एक बहुत ही ऊँची श्रेणी का ग्रन्थ लिखा है: 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य' अथवा 'कर्मयोगशास्त्र'। इस ग्रन्थ में उन्होंने 'गीता' का प्रामाणिक विवेचन किया है। 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' की तरह गीता के संबंध में आज तक वही सब कुछ समझा जाता है। क्योंकि 'गीता' 'महाभारत' का ही एक अंश है और 'महाभारत', 'गीता', कृष्ण, पांडव-कौरव तथा भारतयुद्ध का भी एक ही समय है। इसलिए यह जरूरी था कि 'महाभारत' के संबंध में भी इस ग्रन्थ में यथेष्ट प्रकाश डाला जाता। लोकमान्य ने 'महाभारत' के कालनिर्णय के संबंध में जितना श्रम किया है या उसको स्पष्ट करने के लिए जिस समीक्षण से काम लिया है, उसकी वजह से उसकी स्थापनाएँ आज भी पूर्ववत् उतनी ही ताजी हैं। हमने यहां उनकी मान्यताओं को भी ज्यों की त्यों संक्षेप में लिया है।[2] लोकमान्य की स्थापनाओं का हवाला आगे 'गीता' के कालनिर्णय के प्रसंग में दिया गया है।

११. डा० वेल्वेलकर ने 'महाभारत' की मुख्य कथा की रचना को बुद्ध से पूर्व (५५७-४७७ ई० पूर्व) माना है। कुछ विद्वानों को यह मान्य है कि उसके 'जय' और 'भारत' नाम से विख्यात संस्करणों का निर्माण बुद्ध से पहले हो चुका था।[3]

१२. सामान्यतया कुरुक्षेत्र का युद्ध २५०० वर्ष ई० पूर्व माना जाता है। अतएव 'महाभारत' के पात्र कृष्ण, युधिष्ठिर आदि को आज से ५००० वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। किन्तु इस प्रसंग में एक समस्या यह भी है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषद्-ग्रन्थों में महाभारतकालीन व्यक्तियों के आख्यान[4] होने के

---

१. एम्० क्रिण्डल : ऐंश्येन्ट इण्डिया—मेगस्थनीज ऐण्ड आर्यन्, पृ० २००-२०५

२. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—तिलक : गीता-रहस्य, पृ० १११-१४७

३. देवराज : भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० ३८-३९

४. ऐतरेय ब्राह्मण ८ प० २१; शतपथब्राह्मण १३।५।४१

फलस्वरूप क्या ऐसा माना जाना चाहिए कि उक्त ग्रन्थों का निर्माण 'महाभारत' के बाद हुआ? इसका उत्तर यह है कि निश्चित रूप से उक्त ग्रन्थों के ये अंश प्रक्षिप्त हैं।

१३. अल्बेरूनी के मतानुसार 'महाभारत' की रचना कुरु-पांडवों के महायुद्ध के समय हो चुकी थी, जिसके रचयिता व्यास, पराशरपुत्र थे। उस ग्रन्थ में एक लाख श्लोक और उसके १८ भाग अर्थात् पर्व थे।[1] कौरव-पांडवों के स्थितिकाल के संबंध में 'राजतरंगिणी' के रचयिता कल्हण का कथन है कि कलियुग के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर कौरव-पांडव हुए।[2] कल्हण के ही मतानुसार जब राजा युधिष्ठिर पृथ्वी का शासन करते थे, तब सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर थे। युधिष्ठिर का समय शककाल २५५६ वर्ष पूर्व माना जाता है।[3]

'महाभारत' वस्तुतः एक बृहत्काय ग्रन्थ है, और उसके प्राचीन एवं नवीन अंशों को, मौलिक और प्रक्षिप्त अंशों को छाँटकर अलग करना सर्वथा दुष्कर कार्य है। आकार-प्रकार की दृष्टि से इतना बृहत् ग्रन्थ संसार की दूसरी भाषाओं में नहीं मिलता है। 'इलियड' और 'ओडसी' को मिला करके भी उनका कलेवर 'महाभारत' के अष्टमांश तक ही पहुँच पाता है।

'महाभारत' की मूलकथा, जिसको कि भृगुवंशीय ब्राह्मणों ने संबद्ध किया था, बहुत प्राचीन है। ऐसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में, जिनका निर्माण लगभग १००० ई० पूर्व में हो चुका था, कुरुक्षेत्र, परीक्षित्, भरत और धृतराष्ट्र प्रभृति 'महाभारत' से संबद्ध नाम मिलते हैं; किन्तु विभिन्न विद्वानों के उक्त मंतव्यों को भी असत्य नहीं कहा जा सकता है, जिनके कथनानुसार 'महाभारत' अनेक युगों में संकलित, संशोधिन एवं संपादित और अनेक हाथों द्वारा विरचित होकर आज हम तक पहुँचा है।

'महाभारत' के अन्तर्बहिः साक्ष्यों और विभिन्न विद्वानों के मतों का विश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि उसकी पूर्व सीमा वैदिक युग तक और अन्तिम सीमा ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक पहुँचती है।

---

१. अलबेरूनी का भारत, पृ०-३७

२. कल्हण : राजतरङ्गिणी १।५१

३. वही, १।५६

गीता

'भगवद्गीता' नाम से हमें विदित होता है कि वह भगवान् का गाया हुआ उपनिषद् है। उसमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश सुरक्षित है। भागवत-धर्म और गीता-धर्म दोनों भगवान् द्वारा प्रतिपादित होने के कारण एक ही वस्तु हैं। इसीलिए भागवत-धर्म, गीता-धर्म जितना महनीय और प्राचीन है। गीता के चौथे अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि यह उपदेश भगवान् ने सर्व-प्रथम विवस्वान् को दिया। विवस्वान् ने मनु को और उसका मर्म मनु ने इक्ष्वाकु को समझाया।[1] 'महाभारत' के शान्ति-पर्व से हमें विदित होता है कि यह भागवत-धर्म विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि की परम्परा से प्रवर्तित होता हुआ त्रेतायुग में ब्रह्मदेव द्वारा लोक-विख्यात हुआ।[2]

इसी भागवत-धर्म के सम्बन्ध में वैशम्पायन, जनमेजय से कहते हैं: हे नृपश्रेष्ठ जनमेजय! यही उत्तम भागवत-धर्म, विधियुक्त और संक्षिप्त रीति से हरि-गीता (भगवद्गीता) में पहले-पहल तुझे बतलाया गया है।[3]

'महाभारत' के अध्ययन से स्पष्टतया हमें यह भी ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को जो ऊँचा उपदेश दिया था, वह विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि की परम्परा से चला आता प्रवृत्तिप्रधान भागवत-धर्म ही था। उसमें जो निवृत्तिप्रधान यति-धर्म का कहीं-कहीं समावेश हो गया है, उसका वह गौण पक्ष था। 'भागवत' से हमें पृथु, प्रह्लाद और प्रियव्रत आदि भक्तों की कथाओं को पढ़कर मालूम होता है कि 'गीता' का प्रवृत्ति-विषयक नारायणीय धर्म और 'भागवत' का भागवत-धर्म, दोनों एक ही थे।[4]

इसीलिए 'भगवद्गीता' को भागवत-धर्म का प्रधान ग्रन्थ माना गया है। लोकमान्य तिलक के व्यापक विवेचन के अनुसार भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव १४०० ई० के पूर्व के लगभग हो चुका था, और उसी के कुछ समय बाद 'गीता' का निर्माण हुआ।[5]

---

१. गीता, ४।१-३

२. महाभारत, शांति० ३४८।५१, ५२

३. वही, शांति० ३४६।१०

४. भागवत ४।२२।५१-५२; ७।१०।२३; ११ ४.६

५. तिलक: गीतारहस्य, पृ० ५१९-५५८ (द्वितीय सं० १९१७ ई०)

गीता के भाष्यकार

'गीता' यद्यपि महाभारतीय कथा का एक अंश है; किन्तु प्राचीन आचार्यों और आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में 'महाभारत' की अपेक्षा 'गीता' का अधिक महत्त्व रहा है। प्राचीन काल के जितने भी धार्मिक संप्रदाय हुए उनके प्रवर्तक सभी आचार्यों ने अपने-अपने संप्रदायों की पुष्टि के लिए 'गीता' के नीति-निर्देशों के अनुसार अपने मतों का समर्थन किया। प्राचीन भारत के धार्मिक संप्रदायों के लिए उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र ऐसे आधार रहे हैं, जिनकी मुहर लगे बिना समाज में उनकी स्थिति कायम न हो सकी।

शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ इन पांच आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार 'गीता' पर गंभीर भाष्य लिखे हैं। उनके भाष्य-ग्रन्थों के सर्वांगीण अध्ययन के लिए यद्यपि पर्याप्त मेधावंत होने की आवश्यकता है, तथापि यहां उनके सिद्धान्तों की एक रूपरेखा मात्र दी जाती है।

शंकर (७४५ वि०)

शंकराचार्य से पहले भी 'गीता' के अनेक प्राचीन टीकाकार हुए हैं। यद्यपि इन प्राचीन टीकाकारों की कृतियां संप्रति उपलब्ध नहीं हैं; किन्तु उनका उल्लेख शंकर के गीता-भाष्य में देखने को मिल जाता है। इन टीकाकारों ने प्रायः 'महाभारत' की ही पद्धति पर 'गीता' का अर्थ ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक किया है। शंकराचार्य ने इन ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक वैदिक कर्मयोग का खंडन कर दूसरी ही दृष्टि से 'गीता' का भाष्य किया है।

शंकराचार्य ने यह बताया है कि प्रवृत्ति-प्रधान कर्मों को करने से ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती है। निवृत्ति-प्रधान संन्यास-ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही संक्षेप में शंकर के गीता-भाष्य का सार है।

रामानुज (१०७३ वि०)

शंकर के बाद रामानुजाचार्य (१०७३ जन्मसंवत्) ने विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा की। अपने इस नए संप्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने भी प्रस्थान-त्रयी (गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिखा। उन्होंने शंकर के मायावाद या अद्वैतवाद को मिथ्या सिद्ध कर एक चिद्विशिष्ट ईश्वर का प्रतिपादन करके भागवत धर्म के अन्दर से विशिष्टाद्वैत की एक नई भावना को जन्म दिया।

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

निम्बार्क (१२१६ वि०)

तीसरे द्वैताद्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक निम्बार्क (१२१९ वि०) हुए। इन्होंने राधाकृष्ण की भक्ति का प्रतिपादन किया। निम्बार्क के मतानुसार जीव, जगत् और ईश्वर यद्यपि तीनों भिन्न हैं तथापि जीव और जगत् का समग्र व्यापार ईश्वर के अधीन होने से वे स्वतंत्र नहीं हैं।

मध्व (१२५४ वि०)

चौथे द्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ) हुए। उन्होंने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा। इन्होंने गीताभाष्य के अनुसार भक्ति को ही अंतिम निष्ठा बतलाया है। उनके अनुसार भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

वल्लभ (१५३६ वि०)

पाँचवें शुद्धाद्वैत संप्रदाय के पहले आचार्य वल्लभ हुए हैं। इन्होंने गीता-धर्म को निवृत्तिविषयक पुष्टिमार्गीय भक्ति कहा है। इनके मतानुसार भगवान् ने अर्जुन को पहिले सांख्य और कर्म का उपदेश दिया था और अंत में भक्ति का अमृत मिलाकर पूर्णकाम किया था। अनुग्रहपूर्वक भक्ति ही 'गीता' का अभीष्ट विषय है।

गीता का वास्तविक मर्म

संप्रदायों के विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार 'गीता' पर जो भाष्य एवं टीकाएं लिखी हैं, उनके अध्ययन से हमें 'गीता' के गौण उद्देश्य का पता भर लग सकता है। उपनिषदों के अद्वैत वेदान्त के साथ भक्ति का सामञ्जस्य स्थापित करके बड़े-बड़े कर्मवीरों के चरित्र और उनके जीवन की क्रमिक उत्पत्ति बताना ही 'गीता' का प्रमुख उद्देश्य है। अर्थात् ज्ञान-भक्तियुक्त कर्मयोग जैसे ऊँचे विषय का प्रतिपादन करना ही 'गीता' का वास्तविक ध्येय है।

शास्त्रोक्त विधि से श्रौत-स्मार्त कर्मों को करते रहने के लिए मीमांसकों का आग्रह यद्यपि कुछ बुरा नहीं है तथापि ज्ञानरहित कर्मों को करते रहने से बुद्धिमान् लोगों का समाधान नहीं हो पाता है। इसी प्रकार, उपनिषदों का धर्म भले ही सुविचारित तत्त्वज्ञान पर आधारित है, फिर भी अल्पबुद्धि वाले

व्यक्तियों के लिए उसकी कठिनाई अविदित नहीं है; और साथ ही उपनिषदों की संन्यासभावना लोकहित के लिए उपकारक नहीं मानी गई है।

'गीता' में न तो मीमांसकों के तांत्रिक कर्मों का प्रतिपादन भर है, न ही उपनिषदों के लोक-असामान्य ज्ञान का वर्णन और न ही उसका एक मात्र उद्देश्य संन्यास जैसे कठिन जीवन का प्रतिपादन करना है। 'गीता' का धर्म ऐसा धर्म है जिसमें बुद्धि अर्थात् ज्ञान और प्रेम अर्थात् भक्ति दोनों का सामञ्जस्य, लोकानुग्रही मोक्ष का प्रतिपादन बड़ी सरलता से वर्णित है।

यद्यपि गीता के कर्मयोग को विदेशी पंडितों ने सद्व्यवहारशास्त्र, सदाचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, नीतिमीमांसा, कर्तव्यशास्त्र, कार्य-अकार्यव्यवस्थिति और समाजधारणशास्त्र आदि अनेक नाम दिए हैं, और उनकी भरपूर व्याख्या भी की है; किन्तु उनकी सारी पद्धति पारलौकिक दृष्टि से शून्य है। 'गीता' के अध्ययन के लिए और प्रायः समग्र संस्कृत-साहित्य के किसी भी अंश का अध्ययन करने के लिए, जिज्ञासु या अनुसंधित्सु को पहले पारलौकिक विश्वासों को मानने वाला होना चाहिए। तभी 'गीता' का और समस्त भारतीय धर्म-पद्धति का मर्म समझ में आ सकता है।

गीता का काल-निर्णय

लोकमान्य तिलक ने गीता पर एक बृहद् ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम है: 'श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य' अथवा 'कर्मयोगशास्त्र'। यह ग्रन्थ मराठी भाषा में है। इस ग्रन्थ का महत्त्व 'गीता' के महत्त्व जितना प्रमाणित हो चुका है। श्री माधवराव सप्रे ने इसका हिन्दी अनुवाद कर हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है।

लोकमान्य ने अपने इस ग्रन्थ में ऐसा एक भी प्रसंग नहीं छोड़ा है, जो 'गीता' के संबंध में कहने के लिए बाकी रह गया हो। इस ग्रन्थ की कुछ बातें यद्यपि आधुनिक खोजों के कारण इतनी जोरदार नहीं रह पायी हैं; किन्तु उसकी बहुत सारी बातें आज भी पूर्ववत् ताजी हैं। यहां हम 'गीता' का काल-निर्णय लोकमान्य के मतानुसार ही दे रहे हैं।

१. 'गीता' के कालनिर्णय के संबंध में पहला समर्थ प्रकाश श्री काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग महोदय[1] ने डाला था, जिसका समर्थन डा० भांडारकर ने भी किया

---

१. तैलंग: भगवद्गीता, एस० बी० ई०, वा० ८, इन्ट्रोडक्शन पृ० २१,३४

है।[1] किन्तु डॉ० गार्बे ने उक्त दोनों विद्वानों के इस मत को, कि गीता आपस्तंब से पहले अर्थात् ईसवी पूर्व कम-से-कम तीन-सौ वर्ष से अधिक है, स्वीकार न करके अपनी स्थापना दी कि मूल 'गीता' का समय ईसा की दूसरी शताब्दी है और दूसरी शताब्दी के बाद उसमें सुधार हुआ।[2]

२. 'गीता' की समग्र टीकाओं में शांकर-भाष्य सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने विविध भाष्यग्रन्थों में 'गीता' और 'महाभारत' के उद्धरणों को प्रामाणिक रूप में उद्धृत किया है। लोकमान्य के मतानुसार शंकराचार्य का समय ६१० शक (७४५ वि०) बैठता है।[3] यह निश्चित है कि 'गीता' का अस्तित्व शंकराचार्य से भी दो-तीन सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ४०० शक के लगभग अवश्य रहा होगा।

३. कालिदास और बाणभट्ट 'गीता' से सुपरिचित थे।[4] बाणभट्ट का समय ६६३ वि० के लगभग और कालिदास का समय इससे भी पहले ईसवी पूर्व प्रथम शती में निश्चित सा है। अतएव, 'गीता' की सीमा इससे भी बहुत पहले पहुँचती है।

४. जावा द्वीप की जिस कवि-भाषा में 'महाभारत' का अनुवाद मिलता है उसके भीष्मपर्व में लगभग सौ-सवा-सौ श्लोक अक्षरशः मिलते हैं। इन विभिन्न अध्यायों के श्लोकों को देखकर यह प्रतीत होता है, 'गीता' के वर्तमान स्वरूप की रचना भीष्मपर्व के साथ लगभग शक संवत् से सात-सौ वर्ष पहले हो चुकी थी।[5]

५. 'विष्णुपुराण' और 'पद्मपुराण' आदि ग्रन्थों में 'भगवद्गीता' के अनुकरण पर अन्य गीताएं संकलित या उनके नाम उल्लिखित हैं। ऐसा तभी हो सकता था, जब 'भगवद्गीता' को पूरी प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। इन पुराणों का समय ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी के लगभग है। अतएव इसके दो-सौ वर्ष पूर्व 'गीता' को रखा जाना अयुक्त नहीं ठहरता।

---

१. डॉ० भाण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर सेक्ट्स, पृ० १३
२. डॉ० गार्बे : भगवद्गीता, पृ० ६४
३. गीतारहस्य, पृ० ५७२
४. मिलाइए :
रघुवंश : अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते–१०।३१
गीता : नानवाप्तमवाप्तव्यम् ३।२२
कादम्बरी : महाभारतमिवानन्तगीताकर्णनानन्दितरम्
५. माडर्न रिव्यू, कलकत्ता, जुलाई १९१४

६. ईस्वी सन् के आरंभ में, 'महाभारत' और 'गीता' की सर्वमान्यता भास कवि के 'कर्णभार' नाटक से भी सिद्ध होती है।[1] भास के नाटकों का अध्ययन करने पर यह बात बहुत साफ हो जाती है कि वे इन दोनों ग्रन्थों से सुपरिचित थे। भास का समय ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व है।

७. संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन करने वाले पश्चिमीय पंडितों का यह मत था कि संस्कृत के प्राचीनतम काव्यग्रन्थों या पुराणग्रन्थों में, विशेषतः सूत्र-ग्रन्थों में 'गीता' का उल्लेख नहीं मिलने के कारण उसकी रचना ईसवी की पहली-दूसरी शताब्दी में हुई। किन्तु 'बौधायनगृह्यसूत्र' में 'गीता' के एक श्लोक को भगवद्-वाक्य कह कर उद्धृत किया गया है।[2] शकारंभ से चार-सौ वर्ष पहले बौधायन का समय है और उससे भी कम-से-कम सौ वर्ष पहिले 'महाभारत' तथा 'गीता' का समय होना चाहिए।[3]

८. इन प्रमाणों से विदित होता है कि बौधायन से लेकर शंकराचार्य तक 'महाभारत' और 'गीता' का अस्तित्व अविच्छिन्न रूप से बना हुआ था। बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि शालिवाहन शक के लगभग पांच-सौ वर्ष पूर्व 'महाभारत' और 'भगवद्गीता' के वर्तमान स्वरूप की रचना हो चुकी थी।[4]

९. भारतीय दर्शनशास्त्र के सुविदित विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार 'गीता' की रचना ५०० ई० पूर्व में हुई।[5] कुछ विद्वानों ने 'गीता' और तथागत

---

१. मिलाइए :

गीता : हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ २।३७

कर्णभार : हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ॥ १२

२. मिलाइए :

गीता : पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ९।२६

बौधायन गृ० सू० : देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसा वार्चयेति।
तदाह भगवान् : पत्रं पुष्पं फलं......२।२२।९

३. दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० १०२

४. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—तिलक : गीतारहस्य, पृ० ५६४–५८५

५. डॉ० राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृ० ५२४

के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट किया है कि 'गीता' का युग बुद्ध के बाद का है, क्योंकि 'गीता' में बौद्ध-विचारों का निर्देश पाया जाता है : (१) 'गीता' में प्रोक्त नियमित भोजन एवं सोने-जागने के निर्देश[1] बौद्धधर्म के उन महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों से प्रभावित हैं, जिनकी उत्पत्ति भगवान् बुद्ध के व्यक्तिगत अनुभवों से हुई। (२) 'गीता' में जो दोषयुक्त कर्म त्याग देने की बात कही गयी है,[2] भगवान् बुद्ध द्वारा अक्रियाओं को न करने की वही बात 'अंगुत्तरनिकाय' में मिलती है।[3] (३) चार प्रकार का आहार, जिसका 'गीता' में 'अन्नं चतुर्विधम्' (१५।१४) से उल्लेख किया गया है, पालि में 'चत्तारो अहारा' के समान है।[4]

१०. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'गीता' की रचना पाणिनि के समय (५००–४५० ई० पूर्व) में हुई, क्योंकि पाणिनि ने स्पष्ट रूप से भक्ति और भागवत-धर्म का उल्लेख किया है। पाणिनि को बुद्ध के बाद में रखने का एक सबसे प्रबल निर्विवाद साक्ष्य यह है कि उन्होंने मस्करी परिव्राजक का उल्लेख किया है, जो पूरी संभावना के साथ आजीवन संप्रदाय का प्रसिद्ध धार्मिक नेता मक्खलि गोसाल ही था।[5]

गीता और महाभारत

'गीता', 'महाभारत' का ही अंश है। भारतयुद्ध में होने वाले जाति-क्षय और कुलक्षय को देखकर अर्जुन के मन में संन्यास ग्रहण करने की जो प्रबल इच्छा हो गई थी, उसको दूर कर अर्जुन को कर्ममार्ग में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया था—वही 'गीता' में वर्णित है। 'गीता' में बताया गया है कि बुद्धि को साम्यावस्था में रखकर स्वधर्मानुसार जो कर्म किए जाते हैं वे ही मोक्ष को देने वाले हैं। यही 'गीता' का निष्कर्ष है और इसी का उपदेश देकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में पुनः प्रवृत्त किया था।

गीता-भाष्य के आरम्भ में शंकराचार्य ने 'गीता' को सात-सौ श्लोकों की कृति बताया है। आजकल 'गीता' की प्रायः समग्र छपी पुस्तकों में इतने

---

१. गीता ६।१६–१७ २. वही, १८।३ ३. अङ्गुत्तरनिकाय १।६२, ४।१८३

४. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० २१७

५. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनि, पृ० ३५८–३६०

ही श्लोक पाये जाते हैं। इन सात-सौ श्लोकों में १ श्लोक धृतराष्ट्र का, ४० संजय के, ८० अर्जुन के और ५७९ श्रीकृष्ण के हैं; किन्तु गणपत कृष्णजी के बम्बई से प्रकाशित संस्करण में श्रीकृष्ण के ६२०, अर्जुन के ५७, संजय के ६७ और धृतराष्ट्र का १, कुल मिलाकर ७४५ श्लोक बैठते हैं। मद्रास-संस्करण में भी इतने ही श्लोक हैं। इसके विपरीत कलकत्ता वाले संस्करण में यह श्लोकसंख्या प्रक्षिप्त जान पड़ती है। ४५ श्लोकों का उक्त प्रक्षिप्तांश कब उसके साथ जुड़ा, यह कहा भी नहीं जा सकता; किन्तु इतना निश्चित है कि गीता की वास्तविक श्लोकसंख्या सात-सौ थी।

'भगवद्गीता', 'महाभारत' का ही एक भाग है, इस बात का स्पष्टीकरण 'महाभारत' में कई स्थानों पर करते हुए कहा गया है कि उस (गीता) में मोक्ष-धर्म को बतला कर वासुदेव ने अर्जुन के मन का मोहज कल्मष दूर कर दिया था।[1] हम शान्तिपर्व के कई स्थलों पर 'गीता' और 'महाभारत' के इस सम्बन्ध का उल्लेख अधिक विस्तार से हुआ पाते हैं।[2]

'भगवद्गीता' और 'महाभारत' का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात और दोनों ग्रन्थों के शब्दार्थों का समीक्षण करने के पश्चात् विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कालिदास आदि संस्कृत के परवर्ती ग्रन्थकारों ने उन शब्दार्थों को उस रूप में ग्रहण न करने की अपेक्षा दूसरे ही रूप में ग्रहण किया है। इन दोनों ग्रन्थों की श्लोकरचना आर्ष वृत्तों के आधार पर है।[3]

इन दोनों ग्रन्थों के सादृश्य का दूसरा प्रबल प्रमाण उनका श्लोक-साम्य है। 'महाभारत' के कलकत्ता संस्करण के आधार पर लोकमान्य तिलक ने इन दोनों ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि २७ पूरे श्लोक और १२ श्लोकार्द्ध, गीता तथा 'महाभारत' के भिन्न-भिन्न प्रकरणों में कहीं-कहीं तो अक्षरशः और कहीं-कहीं कुछ पाठान्तर होकर, एक ही से हैं; और यदि पूरी तौर से जाँच की जावे तो और भी बहुतेरे श्लोकों तथा श्लोकार्धों का मिलना संभव हो सकता है।[4]

---

१. पूर्वोक्तं भगवद्गीता पर्वभीष्मवधस्ततः। महाभारत, आ० प० २।६९
कल्मषं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः॥ महा०, आ० प० २।२४७

२. महाभारत, शान्ति पर्व ३३४ ३५१, ३४६।१०; ३४८।८, ५३

३. मैक्समूलर : सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज, बा० ८

४. तिलक : गीतारहस्य, पृ० ५१६-५२०

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

अन्त में इन ग्रंथों के अर्थ-सादृश्य का विवेचन करते हुए तिलक महाराज ने स्पष्ट किया है कि 'गीता' वर्तमान 'महाभारत' का ही एक भाग है और जिस पुरुष ने वर्तमान 'महाभारत' की रचना की है, उसी ने वर्तमान 'गीता' का भी वर्णन किया है।[1]

लोकमान्य तिलक ने अपने पूर्ववर्ती प्रामाणिक विद्वान् श्री चिन्तामणि राव वैद्य के मत का समर्थन करते हुए स्पष्ट किया है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक पुरुष थे और उनका, पांडवों का तथा महाभारतीय युद्ध का एक ही समय, अर्थात् कलियुग का आरम्भ था। पुराण-गणना के अनुसार उस समय को बीते अब ५००० से भी अधिक वर्ष हो गए हैं।[2]

रामायण और महाभारत

वाल्मीकि और व्यास भारतीय साहित्याकाश की दो उज्ज्वल दिशाएं, साहित्य-साधना के इस अनन्त राजमार्ग की दो मंजिलें, विभिन्न युगों की दो प्रकाशमान प्रतिभाएं और सृष्टि के साथ सदाशय रूप में रात तथा दिन की तरह चलनेवाली दो अक्षय विभूतियाँ हैं। वाल्मीकि और व्यास के भौतिक शरीर समय के बवंडर में न जाने कहाँ खो गए; किन्तु इस धरती से एक पूरे जीवन का साथ होने की कृतज्ञता एवं यादगार के रूप में वे जो कुछ यहाँ छोड़ गए वह इतना चिरंतन है कि इस धरती की अन्तिम सांसों तक जीवित रहेगा।

विश्वकवि ने संसार के काव्यशास्त्र के समस्त कवियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है। पहली श्रेणी के कवि तो वे हैं 'जिनमें उनके सुख-दुःख, उनकी कल्पना और उनके जीवन की अधिकता के अन्दर से संसार के सारे मनुष्यों के चिरंतन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।' और दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं, 'जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय बना देता है।'[3] उदाहरण के लिए, 'शकुंतला' और 'कुमारसंभव' में कालिदास की कलम का

---

१. वही, पृ० ५२२ २. वही, पृ० ५४८

३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : प्राचीन साहित्य, पृ० १, अनु० रामदहिन मिश्र, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर, बंबई, १९३३

कौशल दिखाई पड़ता है; किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' हिमालय और गंगा की भाँति भारत के मालूम होते हैं, व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष्य मात्र हैं।[1]

'रामायण' और 'महाभारत' भारतीय साहित्य की सुदीर्घ परम्परा को दो विभिन्न युगों में विभाजित कर देने वाले अपनी तरह के दो अकेले ग्रन्थ हैं। संपूर्ण संस्कृत-साहित्य दो भागों में विभक्त है, वैदिक और लौकिक। उसका यह विभागीकरण कल्पनाप्रसूत नहीं है, वरन् विषय, भाषा, व्याकरण, छन्द, स्वर और रचनाविधान के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर किया गया है। वैदिक साहित्य का सीमाविस्तार भारतीय दृष्टि से २५००–५०० ई० पूर्व में अनुमित और तदनन्तर लौकिक साहित्य का अभ्युदय माना गया है।

ये दोनों भारत की दीर्घकालीन साहित्य-साधना के दो प्रतिनिधि-ग्रन्थ हैं। वैदिक युग से लेकर आज तक, संस्कृत का जितना भी वाङ्मय है, उसमें वैदिक और लौकिक की सीमा को निर्धारित करने का श्रेय इन्हीं दो ग्रन्थों को दिया जा सकता है। इन ग्रन्थों के अन्तिम संस्करण होने से पूर्व जितना भी साहित्य था उसमें वैदिक भावना की प्रधानता थी। यद्यपि 'रामायण' और 'महाभारत' भी उस प्रभाव से अछूते न थे, फिर भी उसमें वैदिक पक्ष, लौकिक पक्ष की अपेक्षा कम है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की आधारभूमि जिस प्रकार मंत्र-संहिताएँ हैं, सम्पूर्ण लौकिक साहित्य के उद्गम उसी प्रकार ये दोनों ग्रन्थराट् हैं।

हम देखते हैं कि जिन भावनाप्रधान ऋषि-मुनियों ने वेदमंत्रों का प्रवर्तन-अनुवर्तन किया, ब्राह्मणग्रन्थों में पहुँच कर उनका एक बृहत् समुदाय कर्मकाण्डप्रधान पुरोहित-प्रवृत्ति का हो गया। इसके विरुद्ध वैदिक युग के कुछ बचे हुए भावुक ऋषि उपनिषद्-ग्रन्थों में पहुँचकर सहसा कर्मकाण्डवादी ऋषि-समुदाय के विरोध में अति गंभीर रुख धारण करते हुए सामने आये। तदनन्तर भारतीय साहित्य की कुछ शताब्दियाँ, सूत्रग्रंथों की रचना से लेकर महाकाव्य के युग तक, धुँधली-सी पड़ गयी प्रतीत होती हैं, यद्यपि इस बीच कुछ दर्शन संप्रदायों के निर्माण और जैन-बौद्धों की धार्मिक उन्नति के लिए भूमिका तैयार होती रही। 'महाभारत' में हम देखते हैं कि परम्परागत ऋषि-परम्परा सहसा कवि-सुलभ कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति में परिणत हो गयी।

---

१. वही, पृ० २

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

'महाभारत' में एक विषय, एक रुचि, एक भावना, एक विचार, यहाँ तक कि एक-जैसी भाषा और एक-जैसी बातें न होकर, एक प्रकार से उक्त सभी बातों का समावेश है। वे बातें परस्पर ऐसी गुथी हुई हैं कि भाषा, विचार, विषय और युग की दृष्टि से हम चाहें कि उन्हें अलग कर दें, तो सर्वथा असम्भव होगा। 'महाभारत' के इस सर्वहारा रूप को देखकर विद्वानों ने 'विश्वकोश' कह कर उससे अपना पीछा छुड़ाया। हम दिखा चुके हैं कि कुछ विद्वानों के मतानुसार उसका यह विश्वकोश जैसा बृहत्तम रूप सातवाहन-युग में ही पूरा हो चुका था; किन्तु उसके कुछ अंशों की उधेड़बुन गुप्त-साम्राज्य तक होती रही। सभापर्व का दिग्विजय-वर्णन और राजधर्म-वर्णन सातवाहन-साम्राज्य से इतने मिलते-जुलते हैं कि कदाचित् यह कहते संकोच नहीं होता कि उनकी रचना सातवाहन युग में ही हुई।

'रामायण' का भी यही हाल है। महामुनि वाल्मीकि ने जिस परम्परागत ख्याति के आधार पर 'रामायण' की रचना की थी, कालांतर में वह अनेक बार, दूसरे हाथों की काट-छाँट से अछूती न रह सकी और फलतः 'रामायण' और 'महाभारत' के जो स्वरूप-संस्करण आज हमारे सामने विद्यमान हैं, उनमें कुछ सर्वथा विरोधी भ्रमात्मक बातों का समावेश हो गया।

ये दोनों बृहत्काय ग्रंथ वैदिक और लौकिक संस्कृत के संधिकाल में निर्मित हुए। भारतीय साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में जो नया मोड़ आया उसके साक्षी रूप इन्हीं दो ग्रन्थों को उद्धृत किया जा सकता है।

इन दोनों ग्रन्थों की प्राचीनता का जहाँ तक संबंध है, वहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे एक समय में विरचित न होकर भिन्न-भिन्न युगों में रचित, परिवर्तित, परिवर्द्धित, संपादित और संशोधित होकर आज हम तक पहुँचे हैं। फिर भी इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में उनका जो स्वरूप निर्मित हो चुका था, प्रायः वही स्वरूप, कुछ गौण बातों को छोड़कर, हमारे सामने विद्यमान है।

'रामायण' और 'महाभारत' में वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का अपूर्व समन्वय होने के कारण उन्हें एक नाम नहीं दिया जा सकता है। दोनों की तुलना उस महासागर से की जा सकती है, जिसमें अनेक काव्य-शैवलिनियाँ आकर मिली हुई हैं। उनमें जिस कथावस्तु का विधान है, उसके भी मध्य में सैकड़ों उपकथाएँ सम्मिलित हैं। 'महाभारत' के कथानक में 'रामायण' की

अपेक्षा अधिक पाचक तत्त्व विद्यमान हैं। दोनों ही इस दृष्टि से पुराण हैं, इतिहास हैं, आख्यान हैं, और इसीलिए, उनको न केवल पुराण ही कहा जा सकता है और न केवल इतिहास-आख्यान ही।

सच बात तो यह है कि 'रामायण' और 'महाभारत' अमर विश्वासों के रूप में हमारे जीवन से कब एकप्राण हो गए, इसका इतिहास बताने में आज हम असमर्थ हैं और उसको बताने की अब हमें आवश्यकता भी नहीं रह गयी है। आज अपने बृहद् राष्ट्र के नाम के पर्यायवाची होकर वे अपनी जन्मभूमि के गौरव को धरती के कोने-कोने में चमका रहे हैं। भारत का संपूर्ण जन-जीवन सहस्रों वर्षों से इन दो ग्रंथों के प्रभाव और असामान्य दीप्ति से प्रभावित होता आ रहा है। इस गंधवती भारतीय धरती की सोंध में सर्वत्र उनका अस्तित्व परिव्याप्त है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इसीलिए कहा था कि :

'अतएव शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं, किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' का स्रोत भारत के नाम को शुष्क नहीं होने देता। प्रतिदिन गाँव-गाँव, घर-घर उनका पाठ होता रहता है। क्या बाजार की दूकानों पर और क्या राजा के दरवाजों पर, सर्वत्र उनका समान भाव से आदर होता है। वे दोनों महाकवि धन्य हैं, जिनके नाम तो काल के महाप्रांतर में लुप्त हो गए किन्तु जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर-नारियों के द्वार-द्वार अपनी निरंतर प्रवहमान धाराओं से शक्ति और शांति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को दिनों दिन बहा लाकर भारत की चित्त-भूमि को उर्वरा बनाये हुए है।'[1]

दोनों के कथानकों का मूल उद्गम

कलेवर की दृष्टि से दोनों महाग्रन्थ हैं। उनके अध्ययन से हमें जहाँ एक ओर प्राचीन भारत के जातीय जीवन की ऐतिहासिक परंपराओं का परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी ओर, उनमें हमें एक नई बात देखने को यह मिलती है कि उस समय तक ऐसी सैकड़ों लोककथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं, जिनको कि आख्यानों के रूप में संकलित किया जाने लगा था। ये आख्यान अपने प्राचीन रूप में ऋग्वेद-संहिता के संवादात्मक सूक्तों में सुरक्षित थे।[2] बाद में

---

१. वही, पृ० ३,   २. ऋग्वेद १०।८५।६

इन आख्यानों का प्रचलन हमें आंशिक रूप में ब्राह्मणग्रन्थों में और अधिकता से सूत्रग्रन्थों में मिलता है।[1]

देवताओं, ऋषियों, राजाओं और राक्षसों के सम्बन्ध में जो कथाएँ वैदिक काल से मौखिक रूप में सुरक्षित रहती चली आ रही थीं उन्हीं का लिपिबद्ध रूप हमें 'रामायण' और 'महाभारत' में मिलता है। इतना ही नहीं, वरन्, यही आख्यान-परम्परा हमें बौद्धों के साहित्य में भी भरपूर रूप से उपलब्ध होती है।

'रामायण' और 'महाभारत' का प्राचीनतम मूल रूप उनके उपलब्ध रूप से सर्वथा भिन्न था। जिन वेदयुगीन कथाओं की चर्चा हमने ऊपर की है और जिनको 'रामायण' से पूर्व 'महाभारत' में आख्यान-उपाख्यानों का रूप दिया गया, उन्हीं से मिलती-जुलती कुछ कथाएँ राम और कौरव-पांडवों के सम्बन्ध में भी प्रचलित थीं। ब्राह्मणग्रन्थों[2] और सूत्रग्रन्थों[3] में हमें जिन 'गाथा-नाराशंसी' का उल्लेख मिलता है, वे गाथाएँ एक प्रकार से वीर-वृत्तावलियाँ थीं। ये वीर-वृत्तावलियाँ अनेक राजवंशों एवं वीर पुरुषों से सम्बन्धित थीं। 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाओं तथा उपकथाओं का मूल इन्हीं वीर-स्तुतियों पर ही आधारित है। इन वीर-वृत्तों के निर्माता गायक, प्रचारक, सूत और कुशीलव थे।[4] सूतों और कुशीलवों का यह जीविकोपार्जन का दैनिक कार्य था। वे घूम-घूम कर उत्सवों, त्योहारों, पर्वों और राज्य-समारोहों के अवसरों पर इन वृत्तों को आकर्षक ढंग से गीतिबद्ध रूप में सँजोकर सुनाया करते थे।

इन्हीं परम्परागत कथाओं एवं वीरवृत्तों को धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार, इतिहास, पुराण और काव्य की सुन्दरताओं से सँवार-सुधार कर युगपुरुष वाल्मीकि और व्यास ने अपनी परिष्कृत भाषा एवं संस्कृत विचारों को 'रामायण' और 'महाभारत' के रूप में उपस्थित किया। यही दोनों ग्रन्थों के कथानकों का मूल उद्गम था।

'रामायण' और 'महाभारत' भारत की समन्वयवादी विचारधारा के दो प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। आर्य परिवारों और अनार्य परिवारों के लिए उनका एक

---

१. शतपथब्राह्मण १३।४।३; शाङ्खायनगृह्यसूत्र १।१२।११; आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१४।६; पारस्करगृह्यसूत्र १।१५।७; आपस्तंबगृह्यसूत्र १४।४

२. शतपथब्राह्मण ११।५६।८ ३. आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।३ ४. रामायण १।४

समान महत्व और उनकी समान रूप से उपयोगिता थी। उनकी लोक-विश्रुति का एकमात्र आधार उनमें वर्णित ऊँचे विचार हैं। एक ओर तो ये दोनों, भारत के जातीय जीवन के दो महाग्रन्थ हैं और दूसरी ओर संस्कृत की सैकड़ों उच्चतम कृतियों के निर्माण के उपजीवी ग्रन्थराट् भी। एक प्रकार से ये दोनों हमारे धर्मग्रन्थ भी हैं। वेद और उपनिषद्-ग्रन्थों के रहस्यमय विचारों को काव्यमयी भाषा में प्रकट करने में इन दोनों ग्रन्थों का अपना नया ढंग, एक सर्वथा नयी शैली को जन्म देने का प्रयास है। ये दोनों ग्रन्थ अपने पूर्ववर्ती संपूर्ण ज्ञान के निचोड़ हैं। वाल्मीकि और व्यास दोनों आर्य महाकवियों ने अपने इन दो ग्रन्थों के द्वारा साहित्य को, समाज को और संस्कृति को एक नया मोड़, नयी जागृति और नया जीवन प्रदान किया है।

'भारतीय एकता की सेवा भी सबसे अधिक इन्हीं दो महाकाव्यों ने की। लंका, पंपापुर और अयोध्या, देश के इन तीन भू-भागों की कथाओं को एक ही राष्ट्रीय महाकाव्य में गूँथ कर वाल्मीकि ने भारत की सांस्कृतिक एकता ही नहीं, भौगोलिक एकता को भी अक्षयतत्व बना दिया। इसी प्रकार महाभारत-कार ने भी देश के विभिन्न भागों में फैली हुई विचारधाराओं एवं संस्कृतियों को एक स्थान पर लाकर इस प्रकार गुंफित कर दिया कि 'महाभारत' सारे देश की जनता का कंठहार हो गया। कोई आश्चर्य नहीं कि कालिदास से लेकर आज तक के सभी भारतीय भाषाओं के कवि, 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाओं पर काव्य-रचना करते रहे हैं। सारे देश का साहित्य आज भी 'रामायण' और 'महाभारत' का क्षीर-पान कर बलिष्ठ हो रहा है, जिससे आप से आप यह सत्य ध्वनित हो उठता है कि भारत की विचारधारा एक है, भारत की मानसिकता एक है एवं भारत की एक ही संस्कृति है, जिसकी सेवा विभिन्न भाषाओं में की जा रही है'।[1]

दिनकर जी के उक्त कथन से 'रामायण' और 'महाभारत' के भारतव्यापी अस्तित्व का सहज में ही पता चल जाता है। ये दोनों ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य एवं महाकाव्य-काव्यों के उपजीवी ग्रन्थ तो हैं ही, वरन् वे इतिहास भी हैं, किन्तु घटनावलियों के नहीं। दोनों ही भारतवर्ष के पुराने इतिहास हैं। अन्यान्य इतिहास समय-समय पर परिवर्तित हो गए हैं, पर इन दोनों ग्रन्थों में परिवर्तन न हुआ। भारतवर्ष की जो साधना और जो संकल्प है, उन्हीं का

---

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १६१–१६२

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

इतिहास इन दोनों विशालकाय काव्य-प्रासादों के भीतर चिरकालिक सिंहासन पर विराजमान है।[1]

दोनों ग्रंथों के अस्तित्व की विविक्ति

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत के उत्तरवर्ती काव्यकृतियों के लिए उपजीवी रहे हैं। इसीलिए विदेशी विद्वानों ने इन्हें 'एपिक विदिन एपिक' (महाकाव्य के भीतर महाकाव्य) कहकर उनको अलग श्रेणी में रक्खा है।[2] दोनों ग्रन्थों में जिन विभिन्न आख्यानों-उपाख्यानों का वर्णन हम पाते हैं, वे ही संस्कृत के महाकाव्यों के उद्भव तत्व हैं और उन्हीं का संकलन, संशोधन एवं परिवर्द्धन करके इन दोनों ग्रन्थों का कलेवर निर्मित हुआ और इन्हीं के द्वारा आगे महाकाव्यों की एक प्रौढ़ परम्परा का अनुवर्त्तन हुआ। इन दोनों ग्रंथों से प्रभावित कृतियों को छाँट कर अलग किया जाय तो संस्कृत में नाम मात्र के लिए सुन्दर कही जानेवाली कृतियाँ कुछ ही शेष रह जायेंगी।

संस्कृत-साहित्य के निर्माताओं के समक्ष 'रामायण' और 'महाभारत' दो ऐसे ग्रन्थ थे, जिनका रसपान कर उन्होंने अपनी काव्य-मेधा को बलिष्ठ किया, और आज संस्कृत-साहित्य की वैभवशाली परम्परा के सम्मुख संसार की प्राचीनतम जातियों का साहित्य पराभूत-सा लगता है। उसका कारण यही है कि भारतीय ग्रन्थकारों के संमुख 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विशालकाय ग्रंथ विद्यमान थे।

भारतीय साहित्य के परम प्रेमी विद्वान् और विशेषतया बौद्ध-साहित्य के गम्भीर पण्डित डा० चाउ सिआंग कुआंग ने एक बहुत ही सुन्दर पुस्तक लिखी है, जिसका हिन्दी में अनुवाद 'चीनी बौद्ध धर्म का इतिहास' के नाम से हाल ही में हुआ है।[3] अपनी इस पुस्तक में 'रामायण' और 'महाभारत' के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है: 'भारत के कल्पनाप्रचुर साहित्य ने गूढ़ कल्पना-शून्य चीनीसाहित्य के पंख मुक्त कर दिए। भारतीय लेखकों के पास सामग्री

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : प्राचीन साहित्य, पृ० ४

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : संस्कृत के महाकाव्यों की परंपरा, आलोचना (त्रैमासिक पत्रिका) अक्टूबर १९५१

३. भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित २०१३ वि०

लेने के लिए 'रामायण' और 'महाभारत' महान् काव्यों के रूप में जो संसार के समृद्धतम काव्य हैं, एक अक्षय निधि थी।'[1]

हमें यह कहते हुए संकोच नहीं होता कि संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रायः समग्र लक्षणग्रंथ इन्हीं दो महान् कृतियों की सीमा-रेखाओं का विश्लेषण करके, उनको सामने रख करके, रचे गये। संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित नियमों के भीतर आने में जो अधिकांश दूसरी नाटक-काव्य-कृतियाँ पूर्णतः नहीं उतर पातीं, उसका एकमात्र कारण हो यह था कि उस समय इन दोनों ग्रंथों से काव्यशास्त्री अत्यधिक प्रभावित थे।

'रामायण' और 'महाभारत' की शैलियों एवं उनके द्वारा अनुप्राणित काव्यपरम्परा को लक्ष्य में रख कर सहज ही कहा जा सकता है कि 'महाभारत' की अपेक्षा 'रामायण' में काव्योत्कर्ष गुण एवं अन्विति की अधिकता है। इसलिए महाभारत' प्रधानतया इतिहास और गौणतया महाकाव्य है; किन्तु इसके विपरीत 'रामायण' प्रधानतया महाकाव्य और गौणतया इतिहास है। अपनी प्रधान भावना के कारण 'महाभारत' ने पुराण शैली को जन्म दिया और स्वयं भी पुराणों की कोटि में चला गया, किन्तु 'रामायण' का विकास अलंकृत शैली के काव्यों के रूप में सामने आया। इसलिए 'महाभारत' को हम संस्कृत के काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों और दूसरे विषय के ग्रंथों का जन्मदाता तो कह सकते हैं, किन्तु उसको काव्यों और महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं रख सकते। इसके विपरीत 'रामायण' को हम निश्चित रूप से महाकाव्यों की श्रेणी में भी रख सकते हैं और साथ ही उसको अलंकृत शैली के उत्तरवर्ती काव्यों का जनक भी कह सकते हैं।

संस्कृत के काव्यकारों ने 'महाभारत' से तो अपनी कृतियों के लिए कथावस्तु चुनी और उसको 'रामायण' के शैली-शिल्प में सँजोकर दोनों ग्रंथों की स्थिति का निराकरण भी आप ही कर दिया। 'रामायण' से रूप-शिल्प और 'महाभारत' से विषय-वस्तु को लेकर महाकाव्यों की परम्परा आगे बढ़ी। कालिदास, अश्वघोष, भारवि और माघ के महाकाव्यों में शिल्पसम्बन्धी तत्त्व, अलंकारयोजना, रूपकों, उपमाओं का आधिक्य और प्रकृतिचित्रण, सभी काव्योपयोगी साधनों का आधार 'रामायण' ही है।[2]

---

१. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, भूमिका, पृ० ३

२. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ३९

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

'महाभारत' के पुराणों के अधिक निकट होने के कारण संस्कृत के कुछ काव्यकार पुराणों की ओर भी आकृष्ट हुए और पुराणग्रंथों से भी कथानक लेकर उन्होंने उनको 'रामायण' की शैली में सँवारा। कुछ ग्रंथकारों ने 'महाभारत' के शिल्प पर काव्यों को लिखने की चेष्टा की, किन्तु उनके ग्रंथ विशुद्ध महाकाव्यों की कोटि में न आ सके। ऐसे ग्रंथों में 'राजतरङ्गिणी' और 'कथासरित्सागर' उद्धरणीय हैं, जिन्होंने स्वयं को एक प्रबन्ध के रूप में ख्यात करना चाहा, किन्तु जिनकी स्थिति आज दूसरे ही रूप में निश्चित है।

'रामायण' और 'महाभारत' दोनों ऐसे ग्रन्थराट् हैं, जो भारत के जातीय जीवन, उसके सामाजिक, धार्मिक और नैतिक आदर्शों एवं उसकी सुदीर्घ साहित्यसाधना का वर्षों से प्रतिनिधित्व करते आ रहे हैं। इस दृष्टि से वे इतिहास, पुराण, स्मृति, दर्शन और काव्य सभी कुछ हैं।

दोनों ग्रन्थों में भारत की अतीतकालीन संस्कृतियों का दिग्दर्शन है। 'रामायण' को पढ़कर एक ओर हमें जहाँ तत्कालीन धर्मनिष्ठ संस्कारों का परिचय मिलता है, 'महाभारत' को पढ़कर वहाँ दूसरी ओर हमें तत्कालीन कर्मप्रधान संस्कृति का पता लगता है। 'रामायण' में यदि भक्तिभावना, मर्यादा, आदर्श, करुणा, दया, परोपकार एवं पातिव्रत्य आदि की कोमल कल्पनाएँ समाविष्ट हैं तो 'महाभारत' में हमें तेजस्विता, ज्ञान-गाम्भीर्य एवं निर्भीक वीरोचित कर्मभावना के बीज बिखरे हुए दिखायी पड़ते हैं।

दोनों ग्रंथों में वर्णित वीर-भावना, वनवास-प्रसंग, स्वयंवरों की कल्पना और अपहरण के स्थलों में पर्याप्त साम्य है, दोनों एक-दूसरे के उपजीवी हैं। एक का प्रभाव दूसरे पर स्पष्ट है। एक का दाय दूसरे ने ग्रहण किया है।

दोनों ग्रन्थों की कथा का मूल उद्गम उनके रचयिता वाल्मीकि एवं कृष्णद्वैपायन से भी पुराना है। दोनों ग्रन्थों के कथानकों के प्रथम निर्माता, उद्गाता तथा प्रचारक चारण थे। दोनों की उपकथाएँ और लोकोक्तियाँ एक जैसी भावधारा में हैं। भाषा का भी दोनों में पर्याप्त साम्य है। सूतों, चारणों और कुशीलवों के द्वारा मौखिक रूप में सुरक्षित वीरगीतों का आश्रय लेकर दो आर्य महापुरुषों ने अपने-अपने ढंग से उन वीरगीतों का विकास दो महान् ग्रंथों को रचकर किया। फिर भी दोनों ग्रंथों में मौलिक अन्तर है।

'रामायण' और 'महाभारत' की विषयवस्तु का प्रमुख पक्ष वीरभावना है। 'रामायण' में राम-रावण का युद्ध और 'महाभारत' में कौरव-पांडव का युद्ध उस

वीर भावना का द्योतक है। दोनों ग्रंथों के प्रमुख कथानकों का एक समान उद्देश्य होने के बावजूद भी उन्हें एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता है। 'रामायण' की प्रमुख कथा के साथ अनेक उपकथाएँ भी जुड़ी हैं, किन्तु उसकी कथा का मूल उद्देश्य हम विशुद्ध काव्य-भावना में समाहित होता पाते हैं।

उधर 'महाभारत' के मूल कथानक का चरमोत्कर्ष एकाकी काव्य-भावना में परिणत न होकर पौराणिक एवं इतिवृत्तात्मक विषयों के प्रतिपादन में बिखरा हुआ पाते हैं। इन ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्तान्तों के प्रभाव में उसका काव्यपक्ष पराभूत-सा हो जाता है, यद्यपि यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि 'महाभारत' में वर्णित काव्य-भावना की तीव्रता के ही कारण उसको संस्कृत के काव्यजगत् का पिता भी कहा जाता है।

'रामायण' का रचयिता एक ही व्यक्ति होने के कारण उसके समग्र कलेवर में कहीं भी परस्पर-विरोधी बातों का दर्शन नहीं होता; किन्तु 'महाभारत' की स्थिति इससे भिन्न है। ग्रन्थ-विस्तार की दृष्टि से भी 'रामायण' की अपेक्षा 'महाभारत' बृहद् है। रामकथा निश्चित रूप से एक हाथ से निर्मित है; किन्तु भारत-कथा अनेक हाथों की देन है। यह बात दोनों ग्रन्थों के भाव, भाषा, छन्द और रचनाविधान के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त 'रामायण' एक व्यक्ति की जीवनकथा से संबद्ध है और भारत-कथा में अनेक चरित्रों का वर्णन है। 'रामायण' में यदि एकांगी ब्राह्मण धर्म की बातों की प्रधानता है तो 'महाभारत' में हिन्दू धर्म की व्यापक भावना विद्यमान है।

दोनों ग्रन्थों के युगों की संस्कृति में भी पर्याप्त वैषम्य है। रामायणयुगीन शिष्टता और संस्कृति की अपेक्षा महाभारतयुगीन संस्कृति काफी विकृत एवं विश्रृंखल हो चुकी दिखाई देती है।

'रामायण' और 'महाभारत' में की गई चर्चाओं के अनुसार तत्कालीन भारत का भौगोलिक विस्तार भी एक समान प्रतीत नहीं होता। रामायणकालीन भारत की पूर्वी सीमा विदेह, पश्चिमी सीमा सौराष्ट्र, उत्तरी सीमा बदरिकाश्रम और दक्षिणी सीमा विंध्य एवं दंडक है। किन्तु महाभारतकालीन आर्यावर्त रामायण-काल की अपेक्षा अधिक विस्तृत प्रतीत होता है। उसकी पूर्वीय सीमा गंगा-सागर का संगम और दक्षिण की सीमा चोल, मालावार तथा लंका तक विस्तारित है।

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

दोनों ग्रन्थों का ऐतिहासिक संतुलन

'रामायण' और 'महाभारत' की रचना अलग-अलग युगों में तो हुई ही है, किन्तु उनकी रचना का एक निश्चित समय अभी तक निर्णीत नहीं हो सकता है। आज हमारे सम्मुख जिस रूप में वे विद्यमान हैं, उनका यह रूप अनेक शताब्दियों में संपादित होता हुआ आया है।

दोनों ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि वे दोहराए गए हैं[1] : पुरा वाल्मीकिना कृतम्। बौद्धों पर उनके आक्रमण और राजनीतिक प्रभाव, जो 'रामायण' के संबंध में पूर्णतया और 'महाभारत' के संबंध में अंशतया चरितार्थ होते हैं, ई० पूर्व दूसरी शताब्दी के हैं। प्रमाणित होता है कि दोनों महाकाव्य प्रारंभिक शुंग-युग में दोहराए गए। इसलिए उनमें ब्राह्मणों के प्रभुत्व का जो बहुत अधिक उल्लेख मिलता है, उससे हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। उनके संशोधन के लिए शिलालेखों, जातकों, तथा दूसरे पालि ग्रंथों, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और विदेशियों के लिखित पर्याप्त प्रमाण आज हमारे पास विद्यमान हैं।[2]

रचनाक्रम की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों के संबंध में बड़ा विवाद है। दोनों ग्रन्थों के चरित्रनायकों का मूल खोजा जाय तो राम का युग, कौरव-पांडवों से पहले आता है। राम त्रेता युग में हुए और कौरव-पांडव द्वापर युग में। यदि यह विश्वास सत्य माना जाय, जैसा दोनों ग्रन्थों के आन्तरिक प्रमाणों से भी सिद्ध है, कि वाल्मीकि और कृष्ण-द्वैपायन अपने चरित्र-नायकों के ही समकालीन थे, तब भी वाल्मीकि का स्थान कृष्ण-द्वैपायन से पहले आना चाहिए। 'रामायण' के 'महाभारत' से पहले रचे जाने के सबल प्रमाण दोनों ग्रंथों के अन्तःसाक्ष्य हैं। 'रामायण' के कथानक से 'महाभारत' का कथानक अत्यधिक रूप से प्रभावित है। 'महाभारत' के रामोपाख्यान में वाल्मीकीय 'रामायण' के श्लोक और भाव ज्यों-के-त्यों हैं,[3] वरन् ऐसा कहना चाहिए कि 'महाभारत' का रामोपाख्यान 'रामायण' का संक्षिप्तीकरण है। इसके अतिरिक्त 'रामायण' में वर्णित शृंगवेरपुर[4]

---

१. रामायण, छठा कांड, अध्याय १, २८, १०५, ११०; महाभारत, आदिपर्व

२. जयसवाल : हिन्दू राजतन्त्र २, पृ० ८३-८४ का फुटनोट

३. महाभारत, वनपर्व, अध्याय २७३, २९३

४. वही, ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत्।

यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ॥

× × ×

तस्मिन् तीर्थे महाबाहो सर्वपापैः प्रमुच्यते। ८५ ६५-६६

और गोप्रतार[1] नामक स्थानों को 'महाभारत' में तीर्थों जितना सम्मान प्राप्त है।

'रामायण' में खोजने पर भी 'महाभारत' की कथा-उपकथाओं का कहीं भी प्रभाव या उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत 'महाभारत' में वाल्मीकीय 'रामायण' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। दोनों ग्रन्थों की नल-दमयन्ती-कथा एक-जैसी है। उदाहरण के लिए 'महाभारत' में 'रामायण' का एक श्लोक ज्यों-का-ज्यों दुहराया गया है।[2] इस दृष्टि से सिद्ध है कि 'महाभारत' से पहले 'रामायण' की रचना हो चुकी थी।

दोनों ग्रन्थों के संबंध में विद्वानों की ऐसी धारणा है कि 'भारत' तथा 'महाभारत' के बीच में 'रामायण' की रचना हुई।[3] 'भारत' काव्य ने 'महाभारत' का रूप ग्रहण किया, इसकी सूचना उसी में लिखित है।[4] यद्यपि 'भारत' काव्य की रचना 'रामायण' से पूर्व हो चुकी थी, फिर भी दोनों की उत्पत्ति एवं विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। भारत के पश्चिमी भाग में तो 'भारत' रचा गया और पूर्वी भाग में 'रामायण' का निर्माण हुआ। इन दोनों का जब संपर्क हो गया था तब 'भारत' ने 'महाभारत' का स्वरूप धारण किया।[5]

दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि 'भारत' के कवि राम-कथा और उसके पात्रों से तो परिचित थे; किन्तु वाल्मीकि मुनि-कृत 'रामायण' से भारतकारों का परिचय न होकर 'महाभारत' के रचयिताओं का परिचय हुआ। यही कारण है कि 'महाभारत' के प्राचीनतम पर्व न तो 'रामायण' से प्रभावित हैं और न उनमें 'रामायण' या वाल्मीकि का उल्लेख हुआ है।[6]

---

१. वही—गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥

× × ×

यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः ।
देहं त्यक्त्वा महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥ ८४।७०, ७१

२. मिलाइए—रामायण ७।१४३।६६ और महाभारत ६।८१।२८

३. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ४१

४. महाभारत १।१।६१ (पूना संस्करण)

५. डब्ल्यू० हापकिन्स : दि ग्रेट इपिक, पृ० ५८, आदि; वी० एस० सुकथंकर : एनल्स भंडारकर इंस्टिट्यूट, भाग १२, पृ० १, ७, ६; एम० विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इंडि० लिट०, भाग १, पृ० ५०० आदि

६. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ४२-४३

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

'तैत्तिरीय आरण्यक' और 'सामविधान ब्राह्मण' जैसे वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में व्यास पाराशर्य का नाम तो मिलता है; किन्तु वाल्मीकि का नहीं मिलता है।[१] इस दृष्टि से यह समझा जाना चाहिए कि 'महाभारत' की मूल कथा का निर्माता व्यास बहुत पुराना व्यक्ति था।

'महाभारत' से पहले 'रामायण' की रचना के संबंध में अन्तःसाक्ष्य हैं : ग्रन्थ, ग्रंथकार, पात्र और प्रसंग।

'महाभारत' के स्वर्गारोहण पर्व में 'रामायण' का स्पष्ट उल्लेख किया गया है,[२] जिसकी पुनरावृत्ति 'हरिवंश' में भी हुई है।[३]

इसी प्रकार एक तपस्वी एवं ऋषि के रूप में वाल्मीकि मुनि का उल्लेख 'महाभारत' के द्रोण पर्व में है,[४] बल्कि इस श्लोक का उत्तरार्द्ध वाल्मीकि 'रामायण' से अविकल रूप में उद्धृत है।[५] भार्गव नामक ऋषि का एक श्लोक 'महाभारत' में उद्धृत है, जो कि उसी रूप में 'रामायण' में भी मिलता है।[६]

'महाभारत' के आरण्यकपर्व में भीम स्वयं वानरपुंगव हनुमान का उल्लेख करते हैं।[७]

इन अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त 'महाभारत' का रामोपाख्यान और नलोपाख्यान 'रामायण' की कथा से प्रभावित हैं, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। फादर कामिल बुल्के ने अपनी पुस्तक में इन प्रसंगों की पूरी मीमांसा की है।[८]

अतः सुनिश्चित है कि 'रामायण' की रचना 'महाभारत' से पहले और संभवतः 'भारत' से बाद में हुई।

'रामायण' और 'महाभारत' का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व भी है। संस्कृत-साहित्य के बृहत् इतिहास में दो विभिन्न युगों को विभाजित करने में ये दोनों ग्रन्थ एक प्रकार से सीमा-विभाजक हैं। दोनों वैदिक साहित्य के सीमान्तक और लौकिक साहित्य के सीमोदय के प्रारूप हैं। वैदिक संस्कृति की अन्त्येष्टि और लौकिक संस्कृति का अभ्युदय, इन दो युगों के बीच के ग्रंथ हैं। इस दृष्टि से वाल्मीकि और व्यास लौकिक संस्कृत के आदिकवि हैं।

---

१. वेबर : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १८४   २. महाभारत, स्वर्गा० ६।९३

३. हरिवंश ३।१३२।९५   ४. महाभारत, द्रोणपर्व १४३।८५

५. मिलाइए : रामायण, युद्धकांड ८१।२८ तथा महाभारत, द्रोणपर्व १४३।८५

६. मिलाइए : महाभारत, शान्तिपर्व ५६।४०, ४१ तथा रामायण, अयो० ६७।११

७. महाभारत, आर० १४७।११ (पूना)

८. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ४६–५१

'रामायण' और 'महाभारत' आज देश-काल की परिधि को लांघ कर सार्वदेशिक एवं सार्वकालीन महत्व को प्राप्त कर चुके हैं, जिस महत्व को विश्व की बहुत कम कृतियाँ प्राप्त कर सकी हैं। अपनी महानताओं के कारण आज दोनों ग्रंथ विश्व-साहित्य के अमर ग्रन्थ-रत्नों के रूप में गिने जाने लगे हैं। आज अपने निर्माताओं—वाल्मीकि, व्यास—और अपनी निर्माणभूमि भारत की महानताओं को दुनिया के सामने रखने में वे सफलकाम हैं।

विश्व की प्रायः सभी समुन्नत भाषाओं में 'रामायण' और 'महाभारत' के अनुवाद हो चुके हैं, वरन् इससे बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह है उन अनूदित कृतियों के कई संस्करण भी निकल चुके हैं और उनके कथांशों को लेकर विदेशियों द्वारा कई कृतियों का निर्माण भी हो चुका है। आज भी कितने ही विद्वान् इन दोनों ग्रन्थों की गवेषणा में लगे हैं।

'रामायण' और 'महाभारत' आज इतने सुपरिचित नाम लगते हैं कि कोई भी सहसा उन्हें भूल नहीं सकता है। यहाँ तक कि वाल्मीकि-व्यास भले ही याद न रहें किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' विस्मृत नहीं हो सकते। इन ग्रन्थों का इतना लोकप्रचलन, कि उनके नाम के आगे उनके रचयिता तक याद न रहें, उनकी सबसे बड़ी विशेषता, सबसे बड़ी महानता और सबसे बड़ी सफलता है। इन दो ग्रन्थराटों की वर्णनातीत विशेषताओं के सम्बन्ध में अधिक न कह कर इस प्रसंग को हम विश्वकवि के इन शब्दों के साथ समाप्त करते हैं :

'वस्तुतः व्यास और वाल्मीकि किसी का नाम नहीं था, नामकरण मात्र ही इनका उद्देश्य है। इतने महान् दो ग्रन्थ; समस्त भारतव्यापी दो काव्य, अपने रचयिता कवियों के नाम लुप्त कर बैठे हैं। कवि अपने काव्यों के अन्दर ही लुप्त हो गए हैं। सारांश यह कि आज समस्त भारतवासी 'रामायण' और 'महाभारत' का नाम लेने के सिवा उनके रचयिता वाल्मीकि और व्यास के नाम नहीं लेते।'[१]

---

१. प्राचीन साहित्य, पृ० २

पुराण-साहित्य

पुराण

वैदिक धर्म का पुनः संस्कार : पौराणिक धर्म का अभ्युदय

वेदमंत्रों में वर्णित विचारों तथा उनके आध्यात्मिक अनुभवों से विदित होता है कि मंत्र-संहिताएँ एक युग की समाप्तिसूचक हैं, न कि किसी युग विशेष के आरम्भ अथवा उसकी परम्पराओं एवं अवस्थाओं का इतिहास प्रस्तुत करनेवाली रचनाएँ हैं। इस संबंध में हमें केवल इतना ही विदित होता है कि वेदों का पूर्वातिपूर्व इतिहास अधिक अस्पष्ट और अधिक धुँधला है।

मंत्र-संहिताओं के एक पक्ष की व्याख्या तो ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों ने प्रस्तुत की और दूसरे पक्ष का प्रतिपादन किया उपनिषद्-ग्रंथों ने, जिन्हें वैदांतिक युग का आविर्भावक कहा जाता है। इस युग में वेदों के पुरातन ज्ञान को सुरक्षित रखने एवं उसको पुनरुज्जीवित करने के लिए अनेक नए प्रयत्न किए गये। वेदों के पुरातन ज्ञान की वास्तविक खोज के लिए इस युग में एक कठिनाई सामने आई। वैदिक रहस्यवादियों के सिद्धांत जिन अनुभूतियों पर आधारित थे, अथच, उन्होंने जिन दिव्य शक्तियों का आश्रय लिया था, सामान्य मनुष्यों के लिए उनको पा लेना अति दुष्कर-सा था। अतः पुरातन ज्ञान की प्राप्ति के लिए वैदांतिक युग में जो यत्न किए गए वे आंशिक रूप से ही सफल हो पाए।

इस क्षेत्र में एक गड़बड़ी पुरोहितों द्वारा भी हुई। उस युग में पुरोहित ही एक ऐसे बचे थे जिन्हें वेद कण्ठस्थ था। पुरोहित ही उस युग का शिक्षक और द्रष्टा दोनों था। वही व्याख्याकार और वही कर्मकांडी भी था। उत्तरोत्तर ऐसी परम्परा बनती गई कि पुरोहितों ने कर्मकांड विषय को तो अधिक अपनाया किंतु व्याख्यान विषय उनसे दूर होता गया। फलतः वैदिक पूजा के

भौतिक रूप ने उसके भीतरी ज्ञान को एक प्रकार से ढँक-सा दिया। बाद में इसकी दो धाराएँ सामने आईं। कर्मकांडसंबंधी विधियों की रक्षा के लिए जिन प्रयत्नों को किया गया उनके चिह्न ब्राह्मणग्रंथों के रूप में प्रकट हुए और वैदिक ज्ञान को पुनरुज्जीवित करने एवं प्रकाश में लाने के लिए जिन प्रयत्नों को किया गया वे उपनिषद्-ग्रंथों के द्वारा सामने आए। इस प्रकार वैदिक ज्ञान की दो शाखाएँ हुईं: एक कर्मकांडीय दूसरी ज्ञानकांडीय।

क्योंकि वैदिक मंत्रों की परम्परा पुरोहितों द्वारा कंठगत निर्वाहित होती चली आ रही थी, अतएव उनकी बहुत-कुछ वास्तविकता विलुप्त-सी हो गई थी, जो कि स्वाभाविक भी था। ब्राह्मणग्रन्थों का आविर्भाव उस विलुप्त परम्परा को जीवित करने के उद्देश्य से हुआ था। किंतु हम देखते हैं कि उस विलुप्त परम्परा को प्रकाश में लाने की अपेक्षा ब्राह्मणग्रन्थों ने उसको आच्छादित-सा कर दिया। ब्राह्मणग्रन्थों के नये प्रतीकवाद ने वेदमंत्रों के प्राचीन प्रतीकवाद को धुँधला कर दिया।

इसके सर्वथा प्रतिकूल, उपनिषद्-ग्रन्थों के द्वारा ज्ञान-भावना की जो नई पद्धति प्रकाशित हुई उसकी आधारभूमि ठीक पुरातन थी। उपनिषदों के ऋषियों ने ध्यान, समाधि और आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा वैदिक ज्ञान की क्षीण परम्परा को एक नई दिशा प्रदान की, जो कि नई होते हुए भी पुरातन की अविरोधी थी। उन्होंने पुरातन सत्यों को युग के अनुरूप ढाला। फिर भी उपनिषद्-ग्रंथों की प्रतीकात्मक शैली वेदमंत्रों की आध्यात्मिक पद्धति को, उनकी वास्तविक व्याख्या को, आगे न बढ़ा सकी, क्योंकि उपनिषदों का उद्देश्य वेदों का प्रतिपादन करना न होकर, वेदांत की स्थापना करना था।

प्राचीन और नवीन की इस समन्वयवादी उपनिषदों की विचारधारा ने संन्यास और त्याग को उभारा। वेद और वेदांत में एक मौलिक भेद यह हो गया कि वेद पुरोहितों के लिए और वेदांत संतों की वस्तु हो गया। अंतर्ज्ञान के पुरातन युग का स्थान तर्क युग ने ले लिया। इसके परिणामस्वरूप ही जैन एवं बौद्ध धर्मों का आविर्भाव हुआ और इन नये धर्मों के आविर्भाव के कारण वैदिक मान्यताएँ तो क्षीण पड़ती ही गईं, परंपरागत साहित्यिक भाषा का स्थान भी प्रचलित लोकभाषाओं ने ले लिया। बौद्धधर्म के विरोध में हिंदूधर्म आगे आया और उसने पुरातन धर्म का पक्ष लेकर क्रिया-कर्मों पर जोर दिया। फलतः वैदिक-धर्म पौराणिक धर्म के रूप में परिवर्तित होकर सामने आया और वैदिक पुरोहितों का स्थान पंडितों ने ले लिया। पौराणिक धर्म के

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

प्रतिष्ठाता इस पंडित वर्ग ने एक ओर तो बौद्धधर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को भारत से उखाड़ कर बाहर छितरा दिया और दूसरी ओर वैदिक धर्म की विलुप्त परंपरा को पुनः प्रतिष्ठित किया।

यह वैदिक धर्म के पुनःसंस्कारस्वरूप पौराणिक धर्म के अभ्युदय का युग था।

पौराणिक धर्म का विकास

भारतीय साहित्य में पौराणिक युग का आविर्भाव एक नई दिशा का सूचक रहा है। अनेक जातियों के समागम के कारण भारतीय सभ्यता और संस्कृति में जो महान् परिवर्तन आ उपस्थित हुआ था, वह समय और समाज की आवश्यकता थी। इस परिवर्तन की प्रतिक्रिया न केवल तत्कालीन सामाजिक धरातल को बदलने तक ही सीमित रही, वरन् आध्यात्मिक जीवन की मान्यताओं में भी उसके कारण जबर्दस्त तबदीली हुई। वेदों में जिन अग्नि, इंद्र, वरुण, पूषण, सोम, उषा और पर्जन्य प्रभृति तैंतीस देवताओं का प्राधान्य था उनका स्थान विष्णु एवं शिव ने ले लिया और आगे चलकर शिव और विष्णु के प्रतीक में तैंतीस कोटि देवताओं की अवतारणा होने लगी।

ऐसा इसलिए हुआ कि यह समाज की आवश्यकता थी; उस समाज की, जो वैदिक समाज से एक पग आगे बढ़ चुका था। इस प्रगतिशील पौराणिक समाज ने न केवल वेदोक्त दैवी स्थापनाओं को ही अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित किया, प्रत्युत, आचार-विचार, धर्म, अनुष्ठान, व्रत, पूजा आदि के कर्म-क्षेत्र में भी सैकड़ों नई मान्यताओं को जन्म दिया।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुराणों के आविर्भाव का युग था। पुराणों में हम धर्म, कर्म, साधना, आराधना और रीति-रिवाज की दृष्टि से, वेदों की अपेक्षा सर्वथा बदली हुई नई परिस्थितियों को उगती हुई पाते हैं। इस पौराणिक युग में भारतीय संस्कारों में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ वह था : वर्ण-संकीर्णता एवं जातिगत भेद-भाव के प्रति अद्भुत विद्रोह। स्मृतिग्रन्थों ने जिन धार्मिक विधियों की रेखा खींच कर वर्ण-व्यवस्था के आचार-विचारों का जो पृथक्-करण कर दिया था, पौराणिक मान्यताओं ने उसको उखाड़ कर उसके विपरीत सवर्ण-असवर्ण एवं अनुलोम-प्रतिलोम विवाह-प्रणाली को प्रचलित किया।

गुप्तकालीन भारत में हिंदू-धर्म सभी क्षेत्रों में बहुत उन्नतावस्था में था। बृहद् हिंदू-धर्म के प्रतिपादक स्मृति-ग्रन्थ इसी युग में निर्मित हुए। बड़े-बड़े

धर्माचार्यों और स्मृतिमर्मज्ञों ने महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना कर गुप्त-साम्राज्य के उज्ज्वल यश को चिरस्थायी बनाया।

धार्मिक साहित्य के निर्माण और अर्जन-वर्धन में पुराणों का प्रमुख हाथ रहा है। पुराण भारतीय आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र के विश्वकोश हैं। उनमें वे बीज बिखरे हुए हैं, जिनसे कालान्तर में भारतीय संस्कृति का विशाल वट-वृक्ष उगा और फूला-फला। पुराणों की संख्या अठारह है, जिनमें केवल सात ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक वृत्तांतों को बताते हैं। पुराणों का प्रधान विषय सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरितों का प्रतिपादन करना है।

पुराणों की अनादिता

भारतीय साहित्य में पुराणों की प्राचीनता वेदों जितनी प्राचीन है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, वैदिक साहित्य के ये सभी अंग पुराणों के अतिप्राचीन होने और उनके वेदों के समकक्षी होने का विवरण प्रस्तुत करते हैं। अथर्वसंहिता का कथन है कि पुराण, ऋक्, साम, छन्द और यजुः सभी एक साथ आविर्भूत हुए।[1] पुराणों के इस प्राचीनतम अस्तित्व के कारण ही 'शतपथब्राह्मण' ने उनको वेद कह डाला है।[2] 'शतपथ' और 'बृहदारण्यक' में लिखा है कि गीली लकड़ी की आग से जैसे धुआँ अलग निकलता है, उसी प्रकार इस महाभूत से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान निःश्वास रूप में उद्भूत हुए।[3] शंकराचार्य ने इसका भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है कि पुरुष से जिस प्रकार अप्रयास ही निःश्वास निकलता है, उसी प्रकार अनायास

---

१. अथर्वसंहिता : ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह, ७१।७।२४
तथा : इतिहासस्य च वै स पुराणस्य गाथानां नाराशंसीनां स प्रियं धाम भवति य एवं वेद–अथर्ववेद–१५ ६।१२

२. शतपथब्राह्मण : अध्वर्युर्ताक्ष्ये वै पश्यतो राजयेत्याह''''''पुराणं वेदः। सोऽय-मिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत–१३।४।३।१३।

३. शतपथ, बृहदारण्यक : स यथा आर्द्रेन्धाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमाविनिश्चरन्ति एवं वा अहेरस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानि व्याख्यानानि अस्यैव एतानि सर्वाणि निःश्वसितानि। १४।६।१०।६ श०; २।४।१० बृ०

ही इनका आविर्भाव हुआ ।[1] ब्राह्मण-ग्रंथों के इन प्रामाणिक वचनों से विदित होता है कि पुराणों का अस्तित्व भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अंश में सर्वत्र उल्लिखित है ।

ब्राह्मण-ग्रंथों के अतिरिक्त उपनिषद्-ग्रन्थ भी पुराणों की प्राचीनता को उद्धृत करते हैं । 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इतिहास और पुराण को पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है और चारों वेदों के साथ उनको स्थान दिया गया है ।[2]

धर्मशास्त्रकार ने भी 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में चतुर्दश विद्याओं में पुराण-विद्या को प्रमुख स्थान दिया है । स्मृतिकार का कथन है कि पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार वेद और छः वेदांग, ये चौदह विद्याएँ धर्म के स्थान हैं ।[3]

'ब्रह्माण्डपुराण' में लिखा है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने पुराणों का स्मरण किया और बाद में वेदादि शास्त्रों का । इस पुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि सांगोपांग वेद का अध्ययन करने पर भी जो पुराणज्ञान से शून्य है वह तत्त्वज्ञ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वेद का वास्तविक स्वरूप पुराणों में ही दर्शित है ।[4]

इस दृष्टि से वेदों और पुराणों पर विचार करने वाले विद्वानों का मत है कि वेदों में जो बात संक्षेप रूप में कही गई है, पुराणों में उसी को विशद एवं व्याख्यानात्मक ढंग से कहा गया है । पुराणों के इन व्याख्यानों में स्वतंत्र विचारों को खपा सकने की गुंजायश है । इसलिए कहीं-कहीं पुराणों में प्रक्षिप्त प्रसंग और अतिरंजनापूर्ण बातें भी भर गई हैं; किन्तु वे वेदों जितने सनातन हैं ।[5]

---

१. शाङ्करभाष्य : निःश्वसितमिति, निःश्वसितं यथा अप्रयत्नेनैव पुरुष-निःश्वासो भवत्येवम् वा—२।४।१० बृहदारण्यक

२. छान्दोग्य उपनिषद् : स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ७।१।१

३. याज्ञवल्क्यस्मृति : पुराण-न्याय-मीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

४. ब्रह्माण्डपुराण १।५६; १।५८

५. 'वेदों और पुराणों का साम्य' शीर्षक लेख, गङ्गा, वेदाङ्क, प्रवाह २, तरङ्ग १, पृ० १२३८

म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का हाल ही में एक शोधपूर्ण लेख पुराणों के संबंध में प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था : 'पुराणों की अनादिता'। अपने इस लेख में चतुर्वेदी जी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पुराण-विद्या का अस्तित्व वेदों जितना पुराना होने के कारण उनकी सत्ता भी वेदवत् अनादि है। उन्हीं के शब्दों में लेख का कुछ अंश यहाँ दिया जाता है। चतुर्वेदी जी का कथन है कि :

'पुराणों में ही उनके संबंध में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से पहिले पुराण का स्मरण किया और उसके बाद उनके मुख से चारों वेद प्रकट हुए। आगे यह भी पुराणों में ही बताया गया है कि पहिले पुराण एक ही था। वह बहुत विस्तृत कई कोटि की ग्रंथ-संख्या में था। कलियुग के आरंभ में मनुष्यों की स्मृति और विचार-बुद्धि की दुर्बलता को देखकर भगवान् वेद-व्यास ने जहाँ वेद को चार संहिता-रूप में विभाजित किया, वहाँ पुराणों को भी संक्षिप्त कर अठारह विद्याओं में बाँट दिया। यह भी पुराणों में ही मिलता है कि वैवस्वत मन्वन्तर के इस अट्ठाईसवें कलियुग तक अट्ठाईस व्यास हो चुके हैं, जो प्रति कलियुग में पुराण-विद्या का संक्षेप कर ग्रंथ-निर्माण करते रहे। उन सब के नाम भी कई पुराणों में लिखे मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराण-विद्या अनादि है।'[1]

इन सब मत-मतान्तरों से विदित होता है कि पुराण-विद्या का आविर्भाव भी वैदिक युग में ही हो चुका था और जिस प्रकार प्राचीन महर्षिवरों ने वेद एवं वैदिक साहित्य का व्यवस्थापन-संपादन किया, उसी प्रकार उन्होंने ही पुराणों का भी वर्गीकरण एवं संपादन किया। पुराणों का वैदिकयुगीन स्वरूप क्या था, इस संबंध में गंभीर अनुसंधान की आवश्यकता है।

पुराणों में विधिता

पुराण यद्यपि वैदिक धर्म के प्रतिपादक ग्रंथ हैं, तथापि उनमें सामाजिक पक्ष की भी प्रधानता है। पुराणों में ऐतिहासिक घटनाओं का बाहुल्य है। भले ही उनमें से कुछ घटनाएँ अत्युक्तिपूर्ण एवं कल्पनाप्रसूत हों, फिर भी इतना तो अब स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आधुनिक विद्वानों के शोधकार्यों

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ जुलाई, १९५६

ने पौराणिक आख्यानों की सत्यता पर विश्वास करने योग्य तथ्यों को छाँट निकाला है। पुराणों के ऐतिहासिक महत्व का पता कल्हण के एक उल्लेख से मिलता है। एक 'नीलमत' नामक पुराण को कल्हण ने स्वयं पढ़ा था, जिसके आधार पर उसने अपना इतिहासग्रन्थ और विशेषतया गोनन्द आदि चार राजाओं का इतिहास लिखा था। इन राजाओं का वंश ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में सर्वथा विलुप्त हो चुका था।[1] इसी सम्बन्ध में आगे चलकर कल्हण ने लिखा है कि गोनन्द तृतीय के शासनकाल में 'नीलमत' पुराण के अनुसार धार्मिक कृत्य संपन्न होते थे।[2]

इन बातों का अध्ययन कर हमें पुराणों के ऐतिहासिक और धार्मिक महत्व का पता चलता है। पुराणों में वर्णित बहुत-सारी ऐतिहासिक घटनाओं का मिलान शनैःशनैः पुरातत्वसम्बन्धी उपलब्ध सामग्री: शिलालेख, दानपत्र, मुद्राएँ और विदेशियों के यात्रा-विवरणों से ठीक-ठीक मिलता जा रहा है।

पुराणों में जो भौगोलिक ज्ञान की अद्भुत बातें और प्राचीन तीर्थों का विस्तृत विवरण उल्लिखित हैं, वे अधिकांशतया मेल नहीं खाते; फिर भी बहुत सारी ऐसी बातों का पता भी उनसे विद्वानों ने खोज निकाला है, जो दूसरी जगह कहीं नहीं मिलती हैं।

पुराणों में उच्चकोटि के काव्यांकुर समाहित हैं। उदाहरण के लिए 'भागवत' को यद्यपि महापुराण माना गया है; किन्तु उसमें कविबुद्धि को प्रभावित करने योग्य पर्याप्त उपकरण विद्यमान हैं। उसकी भाषा, शैली, छन्द, कथा और अन्विति का परिशीलन करके विंटरनित्स साहब ने उसको एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना स्वीकार किया है।[3]

इतिहास और पुराण की पृथक्ता

पुराण-ग्रंथों में इतिवृत्तों की अधिकता के कारण उनको इतिहास ही समझा जाता है; किंतु वास्तव में पुराण, इतिहास नहीं हैं। इतिहास और पुराण दोनों स्वतंत्र विषय हैं। भारतीय साहित्य के सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायण और शंकर जैसे प्रामाणिक विद्वानों ने इतिहास और पुराण की सत्ता को अलग-अलग स्वीकार किया है। उनके मत से वेदों में जो देवासुरसंग्राम एवं संवादपरक वर्णन बिखरे हुए हैं, वे तो इतिहास हैं, किंतु जगत् की

---

१. राजतरङ्गिणी १।१४, १६ २. वही, १।१८६

३. विंटरनित्ज़ : ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वा० १, पृ० ५५६

प्रथमावस्था से लेकर सृष्टि-क्रिया का विकास उपस्थित करने वाले अंश पुराण हैं।[1] इससे स्पष्टतया यह प्रतीत होता है कि पुराणों का प्रधान उद्देश्य आध्यात्मिक विचारों के विकास का प्रतिपादन करना था।

संप्रति जो पुराण-ग्रन्थ हमारे संमुख विद्यमान हैं, उनके संबंध में नहीं कहा जा सकता है कि वे सभी या उनमें से कुछ अथवा उनका कुछ अंश वेदों जितना प्राचीन है। इसका निराकरण, बारीकी से पुराणों का तुलनात्मक अध्ययन या उनके ऐतिहासिक विवरणों को अलग छाँटे बिना, नहीं किया जा सकता है। इसलिए हम तब तक यह भी नहीं कह सकते कि जितने भी पुराण आज विद्यमान हैं, उन सभी की पूरी रचना बाद में हुई।

आधुनिक विद्वानों की राय से अष्टादश नाम से पाये जानेवाले वर्तमान पुराणों की प्राचीनता वैदिकयुगीन नहीं है। किसी भी इतिहासज्ञ को यह मान्य नहीं है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रंथों के साथ जिन पुराणों का उल्लेख ऊपर हुआ है, वे संप्रति उपलब्ध नहीं हैं; किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन युग में उनकी स्थिति अवश्य थी और उनमें न केवल सृष्टिविषयक कथा का वर्णन था, वरन् उनकी दिव्य कथाएँ वंशवृत्तों से भी संपृक्त थीं।[2]

पुराणों के स्रष्टा : वक्ता : प्रवक्ता

पुराणों के महान् ज्ञान का प्रवर्तन ब्रह्मा ने किया। इस संबंध में विस्तृत सामग्री उपस्थित करनेवाला ग्रंथ 'वायुपुराण' है। उसके एक प्रसंग से विदित होता है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने मातरिश्वा (वायु) के लिए पुराण का प्रवचन किया था।[3] इसी पुराण से हमें यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि पुराणों की इस ज्ञानथाती को वायु से उशना कवि ने प्राप्त किया।[4] 'वायुपुराण' का प्रवचन इन्हीं वायु ने किया था।[5] वायु को 'शब्दशास्त्र-

---

१. शाङ्करभाष्य : इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसो संवादादिरुर्वशी ह्यप्सरा इत्यादि ब्राह्मण-मेव पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदित्यादि–बृहदारण्यक–२।४।१०
सायण : जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्।
—ऐतरेय ब्राह्मण की अनुक्रमणिका

२. महाभारत १।५।२; १।१।२३२–२४२

३. वायुपुराण १०३।५८ ४. वही १०३।५९ ५. वही १।४७

विशारद कहा गया है ।[1] वायु के व्याकरणज्ञान के सम्बन्ध में मीमांसक जी ने विस्तार से प्रकाश डाला है ।[2] वह पुराणों का भी प्रकाण्ड विद्वान् था ।[3]

'वायुपुराण' के एक दूसरे प्रसंग से यह भी प्रतीत होता है कि मृत्यु यम ने इंद्र को पुराण का उपदेश किया ।[4] वही ज्ञान इंद्र ने अपने शिष्य वशिष्ठ को दिया ।[5] भरद्वाज ऋषि को भी पुराण का प्रवक्ता कहा गया है ।[6] देवगुरु बृहस्पति भी इतिहास-पुराण के प्रवक्ता थे ।[7] 'विष्णुपुराण' का प्रवक्ता पराशर था । उसने अभिमन्यु के पुत्र एवं कौरव परीक्षित् के समय में इस पुराण का प्रवचन किया था । यदि यह बात सही हो तो पराशर को परीक्षित् के समय तक जीवित होना चाहिए । जातुकर्ण ने भी पुराणों का प्रवचन किया था ।[8]

'चान्द्रवृत्ति'[9] और 'सरस्वतीकंठाभरण'[10] की टीका में किसी काश्यपीय पुराण-संहिता का उल्लेख मिलता है । 'वायुपुराण' के अनुसार उसका प्रवक्ता अकृतव्रण काश्यप था ।[11]

शैव संप्रदाय की 'सूत-संहिता' में एक उपपुराणकार कपिल का उल्लेख मिलता है । उसमें लिखा है कि मुनियों ने अन्य पुराणों का भी कथन किया । तदनंतर उन उपपुराणवक्ता मुनियों की नामावली दी गई है और फिर कहा गया है कि सप्तम उपपुराण कपिल द्वारा कहा जाना चाहिए ।[12] 'कूर्मपुराण' के आरम्भ में भी अठारह उपपुराणों की गणना के अनंतर, उपपुराणों की नामावली में सातवाँ 'कापिल' उपपुराण उल्लिखित है ।[13]

पुराणों के निर्माता

ऊपर के प्राचीन ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का जहाँ भी उल्लेख आया है, वह एक ग्रंथविशेष का परिचायक न होकर संपूर्ण विषय का द्योतक है । वस्तुतः जिस प्रकार समग्र वेदों के मंत्र अपनी मूलावस्था में अविभक्त रूप में एक ही साथ मिले-जुले थे, उसी प्रकार पुराण भी एक बृहत्संहिता के रूप

१. वही २।४४
२. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इति० पृ० ६४
३. वही, पृ० ६४-६५
४. वायुपुराण १०३।६०
५. वही १०३।६१
६. वही १०३।६३
७. वही १०३।५९
८. वही १०३।६६
९. चान्द्रवृत्ति, ३।३।७१
१०. सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२२९
११. वायुपुराण ६१।५६
१२. सूतसंहिता १।१२; १।१४
१३. कूर्मपुराण १।१९

में सम्मिलित थे। वेदों के चतुर्धा वर्गीकरण की भाँति पुराणों का भी पंचम वेद के रूप में अलग विभाजन उनकी रचना के बहुत बाद में हुआ और पुराण-ग्रंथों का अध्ययन करने पर इस सत्य का भी स्पष्टीकरण होता है कि वेद-वर्गयिता व्यास के उपाधिधारी ऋषि-महर्षि ही पुराणों के भी विभाजक थे।[1]

व्यास या वेदव्यास एक पदवी या अधिकार का नाम था। जब भी जिन ऋषि-मुनियों ने वेद-संहिताओं का विभाजन या पुराणों का संक्षेप, संपादन अथवा प्रतिसंस्करण किया वही उस समय व्यास या वेदव्यास की उपाधि से संमानित किए गए। किसी समय वशिष्ठ और किसी समय पराशर या शक्ति आदि भी व्यास कहे गये। इस अट्ठाईसवें कलियुग के व्यास कृष्ण-द्वैपायन थे। उनके द्वारा रचित या प्रकाशित ग्रंथ ही आज पुराण नाम से प्रचलित हैं।[2]

संप्रति उपलब्ध होनेवाले ब्रह्माण्ड, विष्णु और मत्स्य आदि पुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उनका प्रतिपाद्य विषय पाँच अंशों में विभक्त है: सर्ग (सृष्टि-ज्ञान), प्रतिसर्ग (सृष्टि की पुनरुद्भूति), वंश (सृष्टि की आदिवंशावली), मन्वन्तर (विभिन्न मनुओं की कालावधि) और वंशानुचरित (सूर्य एवं चन्द्रवंश का इतिहास)। ये पाँच बातें पुराणों का प्रतिपाद्य विषय हैं।[3]

पुराण-ग्रंथों के प्रणयन या उनके प्रणेताओं के संबंध में 'विष्णुपुराण' में एक रोचक कथा वर्णित है, जिसके अनुसार भगवान् वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि आदि के साथ-साथ पुराण-संहिता की भी रचना की थी और उसका अध्यापन अपने सुयोग्य सूतजातीय लोमहर्षण नामक शिष्य को कराया था। लोमहर्षण ने अपने कश्यपवंशीय तीन सुपात्र शिष्यों—अकृतव्रण, सावर्णि एवं शांशपायन—को पुराणों का महान् ज्ञान दिया और इन तीनों ने मूल संहिता के आधार पर तीन पुराण-संहिताएँ और तैयार कीं। आगे चलकर इन्हीं की शिष्य-परंपरा ने अष्टादश महापुराणों की

---

१. शिवपुराण (रेवामाहात्म्य) १।२३।३०; ब्रह्मपुराण, सृष्टिखंड, अध्याय १; मत्स्यपुराण ५३।४।७; विष्णुपुराण ३।६।१६।२१

२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ जुलाई, १९५६

३. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

तथा अनेक उपपुराणों की रचना की। 'ब्रह्मपुराण' इस प्रसंग में सबसे पहिले रचा गया।[1]

'विष्णुपुराण' के इस प्रसंग से दो प्रामाणिक बातों का पता चलता है। पहिली बात तो यह कि वेदव्यास ने पुराण-संहिता का संग्रह कर उसको क्रमबद्ध किया और दूसरी बात यह कि उस संग्रहकार के बहुत बाद में उसकी शिष्य-परंपरा ने अष्टादश महापुराणों या दूसरे उपपुराणों की रचना की।

'मत्स्यपुराण' के एक प्रसंग से विदित होता है कि आदि में केवल एक ही पुराण-संहिता थी।[2] संभवतः, 'विष्णुपुराण' के पूर्वोक्त वचनानुसार, व्यास ने उसी पुराण-संहिता की दीक्षा लोमहर्षण को दी। इस बात का 'शिवपुराण' में भी विस्तार से वर्णन है। उसमें लिखा गया है कि कल्प के अन्त में केवल एक ही पुराण था, जिसे (वेदों की भाँति) ब्रह्मा ने मुनियों को बताया। उसके बाद व्यास ने अनुमान लगाकर यह तय किया कि इतना बड़ा ग्रंथ मनुष्यों की मेधा में न समा सकेगा। अतः उन्होंने उस चार लाख श्लोक परिमाण की बृहत् पुराण-संहिता को अठारह भागों में विभक्त किया। इन अठारह पुराणों का प्रवचन सत्यवती के पुत्र व्यास ने ही किया।[3] एक मूल संहिता से अष्टादश पुराणों के विभाजन एवं प्रवचन की यही बात 'देवीभागवत',[4] 'वराहपुराण',[5] 'भागवत',[6] 'पद्मपुराण'[7] आदि ग्रन्थों में भी एक जैसे रूप में देखने को मिलती है।

इन सब एक जैसे पुराण-प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मा ने, वेदों की ही भाँति, पुराणविद्या का स्मरण किया और तब परम्परया वह ज्ञान व्यास तक पहुँचा। व्यास ने लोक में पुराण-विद्या का महान् ज्ञान प्रकाशित किया। ऋषियों ने बृहद् पुराण-संहिता के पहिले तो तीन भाग किए और बाद में अठारह। बार-बार उनकी कथाओं में उलट-फेर होता गया, यतः उनकी कथाओं में न्यूनाधिक्य, मत-वैभिन्न्य, संप्रदाय-पक्षपात और प्रक्षेप आदि जुड़ते गये। किन्तु प्रश्न हो सकता है कि यदि पुराण भी वेदों जितने सनातन हैं तो वैदिक संहिताएँ भी तो अनेक ऋषि-मुनियों के हाथ से होकर

---

१. विष्णुपुराण ३।६।१६, २१
२. मत्स्यपुराण ५३।४–७
३. शिवपुराण, रेवा०, १।२३-३०
४. देवीभागवत ५।३।१७
५. वराहपुराण ११२।६९
६. भागवत ५।३
७. पद्मपुराण, पाता०, ७०।६२

आज हम तक पहुँची हैं। फिर उनके संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन की बात तो किसी ने नहीं कही? उसका कारण यह था कि वेदों के पद, क्रम, घन, जटा, माला, प्रातिशाख्य, चरणव्यूह, निरुक्त, शिक्षा और कल्प आदि ऐसे कवच थे कि जिनमें आबद्ध होकर उनमें उलट-फेर आदि की कोई संभावना ही नहीं हुई, और इसीलिए भविष्य में भी ऐसी कोई आशंका नहीं है। यही कारण है, कि जहाँ वेदमन्त्रों की गति-संगति एक जैसी है, वहाँ पुराणों की अनेक बातों में एक जैसी गति और संगति स्थापित करने में कठिनाई होती है।

अष्टादश महापुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उनका विषय, उनकी निर्माण-शैली और यहाँ तक कि उनकी पाठविधि आदि बहुत सारी बातों में एकता है, जिससे उनका एक ही मूल उद्गम मानने में बहुत बाधा नहीं पड़ती है। पुराणों में आज जो वर्तमान वैभिन्न्य दिखाई देता है, उसका कारण उनके प्रवर्तक विभिन्न संप्रदाय थे। पुराणों के इस परिवर्तन और परिवर्द्धन के कारण भी वही संप्रदाय थे। पुराणों के जो पाँच लक्षण विष्णु, बह्माण्ड और मत्स्य के अनुसार ऊपर गिनाये गए हैं, ठीक उतनी बातों का प्रतिपादन उनमें नहीं हुआ है। उनमें बहुत सारे प्रसंग ऐसे भी हैं जो बहुत वाद की परिस्थितियाँ एवं बहुत बादके संप्रदायों से संबंधित हैं। ब्राह्म, शैव, वैष्णव और भागवत प्रभृति संप्रदाय बहुत पुराने नहीं हैं; किन्तु 'ब्रह्मपुराण', 'शिवपुराण','विष्णुपुराण' और 'भागवत' पुराणों का नामकरण उक्त संप्रदायों के ही कारण हुआ प्रतीत होता है।

पुराणों की संख्या

पुराणों की वास्तविक संख्या कितनी थी, उनके मूल अंश में कितना प्रक्षिप्त अंश है, उनका निर्माण किस समय हुआ और किस क्रम से वे रचे गये, इन सभी बातों का उत्तर इतिहासकारों ने एक जैसे ढंग से नहीं दिया है। हम देखते हैं कि वेदों के भावुक ऋषि उपनिषद्-युग में पहुँच कर सहसा अति गंभीर रुख धारण कर लेते हैं और पुराणों में पहुँच कर उनका गांभीर्य सहसा कविता बन कर प्रकट हो जाता है। पुराणों की इस बदली हुई परिस्थिति का अध्ययन उनमें सर्वत्र विद्यमान है।

ऊपर के विवरणों से हमें पुराणों के संबंध में यह विदित होता है कि अपने मूल रूप में वे एक बृहत्संहिता में मिली-जुली अवस्था में विद्यमान थे। समय-परिवर्तन के हिसाब से उनके कलेवर और कथानक दोनों में

परिवर्तन हुआ; साथ ही उनकी संख्या भी बढ़ी, और आज महापुराणों तथा उपपुराणों के रूप में वे अपनी संख्या-वृद्धि के कारण अलग-अलग गिने जाने लगे हैं। एक श्लोक में अठारह महापुराणों की गणना इस प्रकार की गई है: मकारादि दो पुराण: १ मत्स्य २ मार्कण्डेय; भकारादि दो पुराण: १ भविष्य २ भागवत; ब्र-युक्त तीन पुराण: १ ब्रह्माण्ड २ ब्रह्मवैवर्त ३ ब्राह्म; वकारादि चार पुराण: १ वराह २ वामन ३ वायु (शिव) ४ विष्णु; और तदनन्तर: १ अग्नि २ नारद ३ पद्म ४ लिंग ५ गरुड़ ६ कूर्म तथा ७ स्कन्द—इन सात पुराणों के आदि वर्णों का क्रमशः उल्लेख है।[1] इन सभी का योग क्रमशः २+२+३+४+७ = १८ बैठता है।

'विष्णुपुराण' में अष्टादश महापुराणों की सूची और उनका क्रम इस प्रकार दिया गया है: १ ब्रह्म, २ पद्म, ३ विष्णु, ४ शिव, ५ भागवत, ६ नारद, ७ मार्कण्डेय, ८ अग्नि, ९ भविष्य, १० ब्रह्मवैवर्त, ११ लिंग, १२ वराह, १३ स्कन्द, १४ वामन, १५ कूर्म, १६ मत्स्य, १७ वरुण और १८ ब्रह्माण्ड।[2]

इन दोनों सूचियों में अष्टादश महापुराणों का लगभग एक जैसा नाम-निर्देश है। अल्बेरूनी ने भी पुराणों की अष्टादशधा संख्या का उल्लेख किया है; किन्तु उनकी सूची उक्त पुराणों की सूची से मेल नहीं खाती है। पुराणों के नामकरण के संबंध में अल्बेरूनी का कथन है कि जिन पशुओं, मनुष्यों या देवताओं के नाम से उनका नामकरण हुआ है, या तो उनमें उनकी कहानियाँ संकलित हैं, या जिस वस्तु के नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ है, उसने ही उस पुस्तक में कुछ प्रश्नों का उत्तर दिया है। अल्बेरूनी के मतानुसार पुराण, ऋषि कहलाने वाले मनुष्यों द्वारा रचे गए, जिनकी संख्या अट्ठारह है: १ आदि, २ मत्स्य, ३ कूर्म, ४ वराह, ५ नारसिंह, ६ वामन, ७ वायु, ८ नंद, ९ स्कंद, १० आदित्य, ११ सोम, १२ सांब, १३ ब्रह्माण्ड, १४ मार्कण्डेय, १५ तार्क्ष्य, १६ विष्णु, १७ ब्रह्मा और १८ भविष्य।[3]

प्रामाणिकता की दृष्टि से अल्बेरूनी की सूची विश्वासयोग्य नहीं है; क्योंकि 'गरुड़पुराण' में उपपुराणों का जो नाम-निर्देश किया गया है,

---

१. म-द्वयं भ-द्वयं चैव ब्र-त्रयं व-चतुष्टयम्।
अ-ना प-लिं-ग-कू-स्कानि पुराणानि प्रचक्षते॥

२. विस्तार के लिए: रामदास गौड़: हिन्दुत्व, पृ० १६१-४१४ तथा गङ्गा (मासिक पत्रिका) प्रवाह २, तरङ्ग १२, पृ० १३४३

३. अल्बेरूनी का भारत, पृ० ३३-३४

अल्बेरूनी की सूची में उनमें से भी कुछ का नाम जोड़ दिया गया है। 'गरुड़पुराण' में १८ उपपुराणों का उल्लेख इस प्रकार है : १ सनत्, २ कुमार, ३ स्कांद, ४ शिवधर्म, ५ आश्चर्य, ६ नारदीय, ७ कापिल, ८ वामन, ९ औशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वारुण, १२ कालिका, १३ माहेश्वर, १४ सांब, १५ सौर, १६ पाराशर, १७ मारीच और १८ भार्गव। 'देवीभागवत' की सूची 'गरुड़पुराण' की उक्त सूची से कुछ भिन्नता लिए है। 'देवीभागवत' के अनुसार उक्त स्कांद, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान पर क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वाशिष्ठ नाम दिए गए हैं।

संप्रति उपपुराणों की प्रामाणिक उपलब्धि न होने के कारण उनकी ठीक संख्या का निर्धारण करना और साथ ही पुराणों की उक्त अनेकमुखी गणनाओं में किसी एक को अंतिम रूप से सही बताना अत्यंत कठिन है।

पुराणों की अष्टादश संख्या की संगति

महापुराणों की संख्या अट्ठारह ही क्यों हुई, इस संबंध में विद्वानों ने अपने अभिमत दिए हैं। म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक था : 'पुराणों की संख्या'। चतुर्वेदी जी ने अष्टादश संख्या पर विचार करते हुए प्रकट किया है कि चार वेद, चार उपवेद, षड् वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र को मिलाकर अठारह विद्याओं की परिगणना, अठारह स्मृतियाँ, अठारह पुराण, अठारह उपपुराण, 'महाभारत' के अठारह पर्व, 'गीता' के अठारह अध्याय और यहां तक कि 'भागवत' के अठारह हजार श्लोक; इन सभी बातों को देखकर प्रतीत होता है कि भारत के प्राचीन ज्ञानविदों ने इस अठारह की संख्या में अवश्य ही किसी महत्त्वपूर्ण रहस्य को खोजा है।

इस अष्टादश संख्या के रहस्य की पहिली संगति तो हम पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार, इन अष्टादश तत्त्वों में पाते हैं, जिनके सहयोग से आत्मा अपने क्रिया-कलापों को संपन्न करता है। आत्मा अखंड और निरवयव तत्त्व होते हुए भी भूत-परिस्थिति, देव-परिस्थिति और ब्रह्म-परिस्थिति में उसके अठारह परिग्रह या अठारह स्वरूप होते हैं। भूत-परिस्थिति के अनुसार उसके नौ स्वरूप हैं : विभूति, ऊर्क्, श्री, चिदाभास, कार्यात्मा, तैजस, वैश्वानर, शरीरात्मा एवं हंसात्मा ; देव-परिस्थिति में आत्मा के पाँच भेद हैं : प्राणात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, महान् आत्मा

तथा सूत्रात्मा; और ब्रह्म-परिस्थिति में आत्मा के चार स्वरूप हैं : क्षर, अक्षर, अव्यय तथा परात्पर। इन सब को मिलाकर आत्मा के अठारह परिग्रह या अठारह रूप होते हैं।

धर्मशास्त्र में पापाचरण के अठारह मार्ग प्रतिपादित हैं और इसलिए, उनकी निवृत्ति के लिए साथ-साथ अठारह पुण्यों का विधान भी वर्णित है। मन, वाणी, और शरीर के द्वारा होने वाले शुभ एवं अशुभ कर्मों की संख्या भी शास्त्रों में अठारह है। पुराण-ग्रंथों में भू-मंडल के अठारह भाग या द्वीप बताए गए हैं।

इन सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् चतुर्वेदीजी ने पुराणों की अष्टादश उपपत्ति की संगति बैठाई है।[1]

पुराणों के निर्माणकाल का विश्लेषण

अपनी-अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं लोक-विश्रुति के लिए जैनधर्म और बौद्धधर्म ने ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द कर साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में भी नई मान्यताओं को जन्म दिया। दूसरी एक विशेष बात इस सम्बन्ध में यह हुई कि ब्राह्मणधर्म के भीतर अपने एकाधिपत्य की भावना के कारण जो दोष एवं संकीर्णताएँ आ गई थीं, इन विरोधी धर्मों की निरन्तर प्रतिस्पर्धा तथा आलोचना के कारण वे भी दूर हुईं और इसका सुपरिणाम बाद में यह हुआ कि हिन्दूधर्म अपने नए परिष्कृत रूप में पुनरुदित हुआ। यह भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म के अभ्युदय का सुखी युग था।

लगभग ६०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक के सुदीर्घ आठ-सौ वर्षों तक ब्राह्मणधर्म प्रतिद्वन्द्वी के रूप में निरन्तर लड़ता रहा, और अन्त में वह इतना निष्कलुष, समर्थ, सर्वांगीण और सर्वप्रिय हुआ कि अपने आलोचक जैन-बौद्ध दोनों धर्मों को भी उसने अपने में आत्मसात् कर लिया।

भारत की ये आठ शताब्दियाँ असाधारण बौद्धिक विकास और विचार-स्वातन्त्र्य की महत्त्वपूर्ण शताब्दियाँ रही हैं। जैन-बौद्ध और हिन्दू-दर्शनों के निर्माण का युग यही था। बौद्धों के 'जातक' और 'अवदान' जैसे लोकप्रिय गाथा-ग्रन्थों का निर्माण इसी युग में हुआ। 'रामायण' और 'महाभारत' के अन्तिम संस्करणों का समय भी यही था। नन्द राजाओं और चन्द्रगुप्त मौर्य

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, अक्टूबर, १९५६

(३२१-२९६ ई० पू०) के कारण जैनधर्म खूब फला-फूला और उसका प्रभूत साहित्य लिखा गया। सम्राट् अशोक (२९२-२३० ई० पू०) का आश्रय पाकर बौद्धधर्म और बौद्ध-साहित्य ने अभूतपूर्व प्रगति की। अनेक लोकप्रिय धर्म-ग्रन्थों, विचार-प्रधान दर्शन-ग्रन्थों और संस्कृत के काव्य-नाटकों के निर्माण का सूत्रपात इसी युग में हुआ।

६०० ई० पूर्व में ब्राह्मण-धर्म की संकीर्णतावादी कर्मकाण्ड-प्रवृत्ति के विरोध में जैन और बौद्धों ने जिस अलग धार्मिक परंपरा की प्रतिष्ठा की, उसके मूल में नास्तिकवाद था। जैन-बौद्धों की निराकार-भावना समाज में अधिक दिनों तक न टिक सकी। जनसाधारण उनके दुरूह पन्थ से किनाराकशी करने लगा। धारणा, ध्यान, समाधि, गृहत्याग, उपासना और दुःखवाद समाज के आकर्षण के लिए लोकप्रिय सिद्ध न होने के कारण, समाज, ब्राह्मणधर्म की सुगम पद्धति की ओर सहसा ही मुड़ गया। भागवत-धर्म और शैव-धर्म ने निरीश्वरवादी जैनों और बौद्धों को सर्वथा निस्तेज बना दिया। यह सब पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप हुआ और लगभग यह स्थिति दूसरी शताब्दी ई० तक अक्षुण्ण बनी रही।

छठी शताब्दी ई० पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी के अन्त तक जैन-बौद्ध धर्मों की ब्राह्मणधर्म के साथ निरन्तर लड़ाइयाँ होती रहीं; किन्तु इस बीच ब्राह्मणधर्म ने अपना परिष्कार करने के बाद जो नया स्वरूप धारण किया, उसके सम्मुख उसके उक्त प्रतिद्वन्द्वी धर्म पराभूत हो गए। अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्मों को परास्त कर ब्राह्मणधर्म तीसरी शताब्दी ईस्वी से निरन्तर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता गया और उसकी यह उत्कर्ष की स्थिति लगभग १२वीं शताब्दी तक अक्षुण्ण बनी रही। यही पुराणों के निर्माण और अन्तिम संस्करण का समय था।

पुराणों की रचना एक समय की नहीं है, लगभग श्रुतिकाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक निरन्तर उनकी रचना, संक्षिप्त संस्करण, सम्पादन और संकलन होता गया। विद्वानों की राय है कि गुप्त-शासन की सर्वथा अनुकूल परिस्थितियों को पाकर उस समय पुराणों का एक संस्करण हुआ।[1] 'स्कन्द-पुराण' के सम्बन्ध में विद्वानों की यहाँ तक धारणा है कि उसका नामकरण गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त के नाम से हुआ।[2] 'वायु', 'भविष्यत्', 'विष्णु' और 'भागवत'

१. राखालदास बनर्जी : इम्पीरियल गुप्त, पृ० ११२
२. पी. के. आचार्य : डिक्शनरी ऑफ हिन्दू आर्चिटेक्चर, पृ० ३१०

पुराणों में गुप्तवंश का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि गुप्त-युग में उनका संस्कार अवश्य हुआ।

डॉ० जयसवाल के मतानुसार काँचनका (राजस्थान) के अन्तिम शासकों—पुष्यमित्र और पतुमित्र—का समय ४९९ ई० ही पुराणों की रचना का समाप्ति-युग था।[1] उनमें जो संशोधन-परिष्करण होते गए, उनकी अवधि पाँचवीं शताब्दी के भी आगे तक पहुँचती है।

यद्यपि अपने मूल अर्थ में 'पुराण' शब्द 'वेद' की तरह एक व्यापक-विषय का सूचक है और हमें इस दृष्टि से यह भी मानना पड़ेगा कि 'वेद-संहिता' की भाँति एक 'पुराण-संहिता' भी विद्यमान थी; जिसका वर्गीकरण वैदिक संहिताओं के वर्गीकरण के साथ ही उन्हीं 'व्यास' पदवी वाले महर्षियों ने किया, तथापि 'पुराण-संहिता' का वह प्राचीन रूप सर्वथा विलुप्त एवं विच्छिन्न हो चुका है। पुराणों के विवरण की पूर्व-सीमा का जो उल्लेख वैदिक साहित्य तक में मिलता है, उसका लक्ष्य उसी 'पुराण-संहिता' से है। कुछ प्रामाणिक उल्लेखों के आधार पर हम पुराण-साहित्य के निर्माण की पूर्व और उत्तर सीमाओं की जानकारी नीचे लिखे आधारों पर प्राप्त कर सकते हैं:

(१) आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों की पर्याप्त चर्चाएँ की हैं। कथाकार बाणभट्ट (७०० ई०) ने 'हर्षचरित' में स्पष्ट किया है कि उन्होंने अपने जन्म-स्थान में 'वायुपुराण' का पारायण सुना था। 'कादम्बरी' में भी उन्होंने इस 'वायुपुराण' का उल्लेख किया है: 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्'।

(२) 'विष्णुपुराण' में मौर्य-साम्राज्य का, 'मत्स्यपुराण' में दाक्षिणात्य आन्ध्र राजाओं का और 'वायुपुराण' में गुप्त-वंश का जो अविकल उल्लेख मिलता है; उनसे इन पुराणों के तत्सामयिक अस्तित्व का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) 'महाभारत' में कतिपय पुराणों के उपाख्यानों का ज्यों का त्यों वर्णन मिलता है। 'महाभारत' या 'जयकथा' के प्रवक्ता लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत पुराणों के पूर्ण पण्डित थे। शौनक ऋषि ने एक बार उनसे प्रार्थना की थी कि वे अपने पिता से पुराणों के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान को

१. जयसवाल: जरनल ऑफ दि बिहार एँड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, खं० ३, पृ० २४७

उन्हें सुनाएँ।[1] ऋष्यश्रृंग का एक आख्यान 'पद्मपुराण' और 'महाभारत' दोनों में मिलता है। दोनों ग्रन्थों के आख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् डॉ० लूडर्स ने यह सिद्ध किया कि 'पद्मपुराण' का आख्यान प्राचीन है।

(४) कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' पुराणों के अस्तित्व से पर्याप्त प्रभावित ज्ञात पड़ता है। राजकुमारों के लिए पुराणों के ज्ञान की आवश्यकता, पुराणविद् को राज्याश्रय का अधिकार आदि बातों से ज्ञात होता है कि कौटिल्य पुराणों के उपयोगी ज्ञान के पारंगत विद्वान् थे।

(५) सूत्र-ग्रंथों में एक ओर तो प्राचीनतम 'पुराण-संहिता' के अस्तित्व का पता चलता है और दूसरी ओर उनमें उपलब्ध पुराण-ग्रंथों के उद्धरण मिलते हैं।[2]

(६) उपनिषद्-ग्रंथों में वेदों के साथ इतिहास-पुराण का भी उल्लेख किया गया है और उनको पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है; तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि इतिहास एवं पुराण का अस्तित्व, तब सर्वथा पृथक् था।[3]

(७) 'अथर्वसंहिता' में चारों वेदों के अनन्तर पुराणों की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है,[4] जिससे पुराण-विषय के प्राचीनतम अस्तित्व का पता चलता है। कदाचित् 'अथर्व-संहिता' का लक्ष्य प्राचीनतम पुराण-संहिता से था; किन्तु इससे भी इतना तो प्रमाण मिलता ही है कि पुराण-विषय भी वैदिक युग की ही उपज थी।

इस प्रकार लगभग १२वीं शताब्दी ई० से लेकर मौर्यवंश (३७४–१९० ई० पू०), आन्ध्रवंश (२१२ ई० पू० से ३३८ ई०), गुप्तवंश (२७५-५१० ई०), 'महाभारत' (५०० ई० पू०), अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०), 'कल्पसूत्र'

---

१. पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान् पुरा। कच्चित् त्वमपि तत् सर्वमधीषे लोमहर्षणे।
पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्। कथ्यन्ते ये पुराऽस्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव।
—महाभारत, आदिपर्व ५।१, २

२. गौतमधर्मसूत्र, ११।१९; आपस्तंब धर्मसूत्र

३. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं
चतुर्थमितिहासपुराणे पञ्चमं वेदान्तं वेदम्—छांदोग्य-उपनिषद् ७।१।२

४. ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवादिविश्रतः॥—अथर्वसंहिता ११।९।२८

(७०० ई० पू०), उपनिषद् (१००० ई० पू०) और वैदिक संहिताओं (२५०० ई० पू०) तक पुराणों के प्राचीनतम और आधुनिक स्वरूपों की समर्थ चर्चाएँ विद्यमान होने के कारण उनकी पूर्व-सीमा वैदिक युग और उत्तर-सीमा गुप्त-साम्राज्य तक निर्धारित की जा सकती है।

पुराणों के सम्बन्ध में पार्जिटर साहब ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'एंशियेण्ट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स'। यह पुस्तक उनके पुराण-साहित्य और भारतीय परंपराओं के प्रति गम्भीर ज्ञान का परिचय देती है। इसमें उन्होंने पुराणों के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करने के साथ-साथ पुराणों की महत्ता पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने वेदों को भी पुराणों की भाँति विरुदावली कहा है। जिस प्रकार राजवंशों की विरुदावली पुराणों में वर्णित है, उसी प्रकार ऋषिवंशों की विरुदावली के परिचायक ग्रंथ 'वेद' हैं।

अपने सन्तुलित एवं गम्भीर अध्ययन के आधार पर पार्जिटर साहब का कथन है कि पुराण मूल रूप में ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों के बाद के नहीं हो सकते हैं। पुराणों में 'अग्निपुराण' सब से प्राचीन है।[1] 'अग्नि-पुराण' का समय इतिहासकारों ने चौथी शताब्दी या इससे पहले का बताया है।[2] पुराण-ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक का मत है कि उनका समय ईस्वी सन् के दूसरे शतक से बाद का कदाचित् नहीं हो सकता है।[3]

'अग्निपुराण' की रचना के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। श्रीयुत सुशीलकुमार दे के मतानुसार 'अग्निपुराण' के अलंकार प्रकरण, दण्डी और भामह के पश्चात् और 'ध्वन्यालोक' के कृतिकार श्री आनन्दवर्धन से पहले ईसा की नवम शताब्दी के लगभग रचा गया।[4] श्री काणे साहब 'अग्निपुराण' को ७०० ई० के बाद और उसके काव्य-शास्त्र-विषयक अंश की रचना ९०० ई० के बाद की स्वीकार करते हैं।[5] इन दोनों विद्वानों की स्थापनाओं का विधिवत्

---

१. जरनल ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, पृ. २५४–२५५ (१९१२)
२. हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास १, पृ० ५७ (१९५६)
३. गीतारहस्य, पृ. ५६६
४. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, जिल्द १, पृ० १०२–१०४
५. 'साहित्यदर्पण' की अंग्रेजी भूमिका, पृ० ३, ४, ५

खण्डन करके श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अपना सप्रमाण मंतव्य दिया है कि 'अग्निपुराण' के काव्य-प्रकरण का ध्यान देकर अध्ययन करने से यह निर्विवाद विदित हो सकता है कि वह वर्णन भामह, दण्डी, उद्भट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण है और वह काव्य के विकास-क्रम के आधार पर 'नाट्यशास्त्र' के पश्चात् और भामहादि के पूर्व का मध्यकालीन रूप है।[१]

डॉ० हजारा ने पुराण-साहित्य पर खोजपूर्ण कार्य किया है और उनके ऐतिहासिक स्तर पर गम्भीर प्रकाश डाला है। उन्होंने कालक्रम से प्राचीनतम महापुराणों में 'मार्कण्डेय', 'ब्रह्माण्ड', 'विष्णु', 'मत्स्य', 'भागवत' एवं 'कूर्म' की गणना की है।[२]

पहले दो पुराणों को उन्होंने 'विष्णुपुराण' से पहले का रचा माना है। शेष पुराणों में 'विष्णु' ४०० ई० 'वायु' ५०० ई० 'भागवत' ६००–७०० ई० और 'कूर्म' ७०० ई० में रचे गए।[३] उन्होंने 'हरिवंश' का रचनाकाल भी ४०० ई० सिद्ध किया है।[४] उनके मतानुसार 'अग्निपुराण' की रचना यद्यपि ८०० ई० में हुई, किन्तु उसकी कुछ सामग्री इससे पहले की और कुछ इससे बाद की है।[५] यद्यपि मूल 'नारदीय पुराण', संप्रति अप्राप्य है, तथापि प्रचलित 'नारदीय पुराण' की रचना दसवीं शताब्दी में हो चुकी थी और बाद में उसका कलेवर प्रक्षेपों से बढ़ता गया।[६] इसी प्रकार 'ब्रह्मपुराण' की कुछ सामग्री बहुत बाद की होते हुए भी उसकी रचना दसवीं शताब्दी में हो चुकी थी।[७] 'स्कन्द-पुराण' की कुछ सामग्री आठवीं शताब्दी में और अधिकांश उसके बाद निर्मित हुई।[८] 'गरुडपुराण' की रचना दसवीं शताब्दी में हुई।[९] इसी प्रकार 'पद्मपुराण' की रचना १२००–१५०० ई० के

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० ७४–९८

२. डॉ० आर० सी० हजारा : पुराणिक रेकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, शक १९४०

३. डॉ० हजारा : इण्डियन कल्चर, भाग, २, पृष्ठ २३७ आदि

४. वही तथा न्यू इण्डियन ऐंटिक्वेरी, भाग १, पृ० ५२२

५. वही, भाग १२, पृ० ६८३ आदि

६. डॉ० हजारा : इण्डियन कल्चर, भाग ३, पृ० ४७७

७. वही भाग, पृ० २३५ ८. डॉ० हजारा : पुराणिक रेकार्ड्स, पृ० १६५

९. डॉ० हजारा : वही, पृ० १७४ तथा एनल्स भण्डार० ओरि० रिस० सो०, भाग १९, पृ० ६८–७५

बीच हुई ।[1] 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' की रचना यद्यपि ७०० ई० पू० हो चुकी थी तथापि उसका वर्तमान रूप सोलहवीं शताब्दी ई० का है ।[2]

पुराणग्रन्थों के संबंध में इधर कुछ नई सामग्री प्रकाश में आई है । यह स्फुट लेखों में है; किन्तु है बड़े महत्त्व की । आज से लगभग २०-२२ वर्ष पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में एक विवाद उठाया गया था कि 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' की रचना किसी कवि ने १६वीं शताब्दी में की है, एवं उस पर गीतगोविन्दकार जयदेव का प्रभाव है। साथ ही इस संबंध में यह भी प्रचारित किया गया था कि इस पुराणग्रंथ पर १६वीं शताब्दी की सामाजिक अवनति तथा तत्सामयिक दुर्नीति-परायण वातावरण की छाप है; बल्कि यह भी कहा गया कि उस युग की सामाजिक चरित्रहीनता का दिग्दर्शन भी 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में निहित है । इसी प्रसंग में यह भी उड़ाया गया कि 'भागवत' का अंतिम संस्करण १०वीं शताब्दी में हुआ ।

इस मत के विपक्ष में भी कम नहीं लिखा गया । इस संबंध में कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा कि 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' की रचना की बात १६वीं शताब्दी तो अलग रही, उसकी रचना कालिदास से भी पहिले हो चुकी थी ।[3]

ये दोनों प्रकार की बातें अतिरंजनापूर्ण हैं । समीक्षा का यह एकांगी दृष्टिकोण है, जिससे सचाई का पता नहीं लगाया जा सकता है ।

'ब्रह्मपुराण' की रचना के संबंध में भी कहा जाता है कि ११वीं सदी में भवदेव भट्ट ने उड़ीसा के भुवनेश्वर क्षेत्र में अनंत वासुदेव का एक मंदिर बनवाया था । 'ब्रह्मपुराण' में अनंत वासुदेव का माहात्म्य तो वर्णित है; किन्तु इस मंदिर का कहीं भी उल्लेख नहीं है । यदि 'ब्रह्मपुराण' की रचना उक्त मन्दिर के निर्माणानन्तर हुई होती तो उसमें मंदिर का उल्लेख अवश्य हुआ होता । इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में 'ब्रह्मपुराण' के अनेक श्लोक उद्धृत हैं ।[4] इसके विपरीत 'ब्रह्मपुराण' में 'महाभारत' का कोई भी श्लोक उद्धृत हुआ नहीं मिलता है ।[5] इसलिए निश्चित ही 'ब्रह्मपुराण' की रचना 'महाभारत' से पहिले हुई होगी ।

---

१. इण्डियन कल्चर, भाग ४, पृ० ७३ आदि २. पुराणिक रेकर्ड्स, पृ० १६६

३. विस्तार के लिए देखिए : गङ्गा (मासिक) प्रवाह ५, तरङ्ग ३, पृ० ३८९

४. मिलाइए : ब्रह्मपुराण २२३-२२५ तक के अध्यायों को महाभारत के अनुशासन पर्व १४३।१६, १८ तथा १४३, १४५ के पूरे अध्याय; ब्रह्मपुराण अध्याय २२६ से महाभारत का अनुशासन पर्व १४६ वाँ अ०

५. देखिए : गङ्गा (मासिक) प्रवाह २, तरङ्ग १२, पृ० १३४३

उपपुराण

'विष्णुधर्मोत्तर-पुराण' का संभावित काल बूलर ने सातवीं शताब्दी बताया है, जो कि काश्मीर में रचा गया।[1] इसी प्रकार 'नृसिंहपुराण' की रचना ४००-५०० ई० के बीच हुई।[2] 'ब्रह्मपुराण' की एक हस्त-लिखित प्रति १६४६ वि० की उपलब्ध है।[3] इस दृष्टि से इसका रचनाकाल कम से कम १४वीं १५वीं शताब्दी में होना चाहिए। 'सौरपुराण' की रचना विद्वानों ने ९५०-१०५० ई० के बीच बताई है।[4]

पुराण-ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में इतनी ही सूचनाएँ उपलब्ध हैं। अन्यत्र भी पुराणों के ऐतिहासिक स्तर पर कुछ विचार-सामग्री देखने को मिलती है; किन्तु उनमें कल्पना की प्रचुरता है। मेरी दृष्टि में पार्जिटर साहब और डॉ० हजारा की एतत्सम्बन्धी स्थापनाएँ ही अधिक युक्तिसंगत एवं विश्वसनीय प्रतीत हुई हैं।

पुराणों का संक्षिप्त परिचय

ब्रह्मपुराण

'ब्रह्मपुराण', अष्टदाश पुराणों में प्राचीन मालूम होता है, क्योंकि, प्राचीन कहे जाने वाले प्रायः सभी पुराणों में उसका उल्लेख हुआ है। विष्णु, शिव, भागवत, नारद, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय और देवीभागवत में 'ब्रह्मपुराण' की श्लोक संख्या १०,००० बताई गई है। किन्तु दूसरे लिंग, वाराह, कौर्म, मात्स्य और पाद्म पुराणों में 'ब्रह्मपुराण' के श्लोकों को १३,००० बताया गया है।

बंबई से जो 'ब्रह्मपुराण' का संस्करण निकला है उसमें श्लोक-संख्या १३,७८७ दी हुई है। विश्वकोषकार की सूची से इस संस्करण की पर्याप्त असमानता है। प्रामाणिकता की दृष्टि से बंबई वाला संस्करण अधिक विश्वसनीय है। ऐसा

---

१. बूलर : इण्डियन एंटीक्वेरी, भाग १९, पृ० ३८२
२. हजारा : एनल्स भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च सो०, भा० २६, पृ० ४४
३. इण्डिया ऑफिस कैटलाग, पृ० १२९४
४. डॉ० हजारा : न्यू इण्डियन एंटिक्वेरी, भाग ७, पृ० ११२०

प्रतीत होता है कि विश्वकोषकार को 'ब्रह्मपुराण' की संपूर्ण पुस्तक उपलब्ध नहीं थी।

पद्मपुराण

संप्रति उपलब्ध 'पद्मपुराण' में पाँच खंड हैं : १. सृष्टिखंड, २. भूमिखंड, ३. स्वर्गखंड, ४. पातालखंड और ५. उत्तरखंड।[1]

इसका संस्करण भी बंबई से छपा है। इसकी श्लोकसंख्या ५५,००० बताई जाती है। बंबई वाले संस्करण की श्लोकसंख्या केवल ४८,००० है; किन्तु इसमें यदि स्वर्गखंड और क्रियायोगसार के श्लोकों को भी जोड़ दिया जाय तो उनकी संख्या लगभग ५५,००० तक पहुंच जाती है।

विष्णुपुराण

इसका एक संस्करण बंबई से छपा है, जिसकी 'विश्वकोश' के विवरण के साथ पर्याप्त समता है। 'देवीभागवत' को छोड़ कर दूसरे सभी पुराण इसको रचनाक्रम की दृष्टि से तीसरा स्थान देने में एकमत हैं; किन्तु 'देवी-भागवत' उसको दसवाँ स्थान देता है। दूसरे पुराणों के साथ 'देवीभागवत' भी 'विष्णुपुराण' की २३,००० श्लोक संख्या मानने के लिए एकमत है। उक्त बंबई वाले संस्करण में केवल १६,००० श्लोक ही मिलते हैं।

शिवपुराण

बंबई से प्रकाशित 'शिवपुराण' के संस्करण में सात खंड[2] और २४,००० श्लोक हैं। 'विष्णुपुराण' के विद्येश्वर नामक प्रथम खंड के दूसरे अध्याय में प्रस्तुत पुराण की श्लोकसंख्या एक लाख बताई गई है और साथ ही यह भी उल्लेख किया गया है कि इस लक्षश्लोकात्मक ग्रंथ को ही व्यास ने संक्षिप्त करके सात संहिताओं (खंडों) का २४,००० श्लोकों वाला चौथा 'शैव पुराण' रचा।[3] इस प्रकार विदित होता है कि 'शिवपुराण' अपने मूलरूप में लक्षश्लोकात्मक था।

विश्वकोशकार ने 'वायुपुराण' और 'शिव' को प्रायः एक ही ग्रन्थ माना है[4] और

---

१. विस्तार के लिए : हिन्दुत्व, पृ० १८५-२०९

२. पण्डित रामनाथ द्वारा संपादित तथा वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई से प्रकाशित

३. बंबई संस्करण की भूमिका

४. विश्वकोश (पुराण)

दोनों का आरम्भ ज्ञान-संहिता से माना है; किन्तु बंबई के संस्करण और आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली का ४९वां ग्रन्थ, 'वायुपुराण' के इस दूसरे संस्करण में भी विश्वकोशकार का कथन नहीं मिलता है। उक्त दोनों संस्करणों की सूची से 'शिवपुराण' में दी गई सूची का मेल नहीं बैठता है। इससे स्पष्ट है कि दोनों पुराणों की अपनी अलग-अलग सत्ता है।

भागवत

'भागवत' महापुराण की लोकप्रसिद्धि अधिक है। इसमें १२ स्कंध और १८,००० श्लोक हैं। 'नारदपुराण' में 'भागवतपुराण' की संक्षिप्त विषयसूची दी गई है।[1] 'पद्मपुराण' में उसका माहात्म्य विस्तार से वर्णित है।[2] 'मत्स्यपुराण' में 'नारद' और 'पद्मपुराण' की ही भाँति 'भागवत' की महत्ता का तो वर्णन है; किन्तु उसमें जो शारद्वत-कल्प के मनुष्य एवं देवताओं की कथा को 'भागवत' की कथा का प्रधान विषय बताया गया है, उसका 'भागवत' में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।[3] संभवतः 'मत्स्यपुराण' का यह अंश या तो प्रक्षिप्त है अथवा 'भागवत' में वर्णित पाद्म-कथा ही मत्स्य-प्रोक्त शारद्वत-कल्प की कथा है; अथवा, यह भी संभव हो सकता है कि 'मत्स्यपुराण' में जिस 'भागवत' की चर्चा की गई है, वह प्रचलित 'भागवत' से पृथक् रहा हो।

ठीक 'भागवत' जितने ही स्कंध और उतने ही श्लोक 'देवीभागवत' में भी मिलते हैं। 'भागवत' में कृष्णकथा का वर्णन है और 'देवीभागवत' में देवी-कथा का वर्णन। वैष्णवों का महाग्रंथ 'भागवत' और शाक्तों का महाग्रंथ 'देवी-भागवत' है।

वायुपुराण

'वायुपुराण' में ११२ अध्याय और १०,००० श्लोक हैं। बहुधा 'वायु-पुराण' और 'शिवपुराण' में कोई अंतर नहीं माना जाता, जैसा कि बँगला के विश्वकोषकार ने भी दोनों की एक ही सूची देकर अपना मंतव्य प्रकट किया है; किन्तु दोनों पुराण वास्तव में अलग-अलग हैं। वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई से प्रकाशित 'शिवपुराण' का विषय-विधान और आनंदाश्रम संस्कृत ग्रंथावली से प्रकाशित 'वायुपुराण' का विषय-क्रम देखकर हमारी, दोनों ग्रंथों को स्वतंत्र मानने की, धारणा और भी बलवती हो जाती है।

---

१. नारदपुराण पूर्व० अ० ९७ २. पद्मपुराण उत्त० अ० १८९

३. मत्स्यपुराण अ० ५३

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

इस पुराण के १०४वें अध्याय में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें अष्टादश पुराणों की श्लोकसंख्या का निर्देश किया गया है। 'वायुपुराण' के संबन्ध में इस अध्याय में लिखा है कि उसमें २३,००० श्लोक थे।

नारदपुराण

'नारदपुराण' दो खंडों में विभक्त है। पूर्व खंड में १२५ अध्याय और उत्तर खंड में ८२ अध्याय हैं। नारदीय पुराण के अन्तिम भाग में बताया गया है कि उसमें २५,००० श्लोक थे। उक्त अध्यायों के अंत में उनमें आये हुए श्लोकों की संख्या भी दी हुई है, जिसको जोड़कर 'नारदपुराण' की श्लोक-संख्या कुल १८,११० तक पहुँचती है। इस प्रकार विदित होता है कि वर्तमान पुराण में से लगभग ७०० श्लोक विलुप्त हो चुके हैं।

यह वैष्णव पुराण है। 'विष्णुपुराण' में इसको रचनाक्रम से छठा पुराण बताया गया है; किन्तु इसमें सभी पुराणों की श्लोकबद्ध विषयसूची को देखकर इसके उक्त रचनाक्रम को मानने में भ्रम होता है। प्रतीत होता है कि 'विष्णुपुराण' की ही बात ठीक है और इस पुराण का यह विवरण देने वाला अंश बहुत बाद में जोड़ा गया।

अग्निपुराण

नारदीय पुराण में श्लोकबद्ध 'अग्निपुराण' की विषयसूची उपलब्ध संस्करण से ठीक मेल खाती है। इसकी श्लोकसंख्या दूसरे पुराणों के अनुसार बंबई से छपे १५,००० के लगभग ठीक ही मिलती है।

'अग्निपुराण' अपने विषय-वैविध्य के कारण अष्टादश महापुराणों में सर्वाधिक महत्व का ग्रंथ है। इसमें अष्टादश विद्याओं का वर्णन, 'रामायण', 'महाभारत', 'हरिवंश' आदि ग्रंथों का सार, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, कोश, काव्य और यहाँ तक कि भारतीय संस्कृति पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसको भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का विश्वकोश कहा जाय तो अनुचित न होगा।

ब्रह्मवैवर्तपुराण

यह भी पूर्वोक्त 'भागवत' और नारदीय पुराण की भांति वैष्णव पुराण है। 'मत्स्यपुराण', 'शिवपुराण' और 'नारदपुराण' में इस पुराण के संबंध में

जो विवरण दिए गए हैं, उनमें एकता नहीं मिलती है और कहीं-कहीं उपलब्ध पुराण में उक्त तीनों पुराणों की कथित बातें बिल्कुल भी नहीं मिलती हैं। 'शिव', 'भागवत', 'नारद', और 'मत्स्य' के अनुसार और स्वयमेव 'ब्रह्मवैवर्त' के अनुसार उसकी श्लोकसंख्या १८,००० है। इसके दाक्षिणात्य और गौडीय, दो पाठ मिलते हैं।

वराहपुराण

नारदीय आदि के कथनानुसार 'वराहपुराण' की मूल पुस्तक में २१८ अध्याय और २४,००० श्लोक थे। वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से प्रकाशित 'वराहपुराण' की पुस्तक इस दृष्टि से अधूरी है। इस दाक्षिणात्य संस्करण में १०,००० श्लोक हैं। एशियाटिक सोसायटी, बंगाल के संस्करण में लगभग १५,००० श्लोक हैं। यह भी संपूर्ण नहीं है।

स्कंदपुराण

'स्कंदपुराण' अष्टादश महापुराणों में सर्वाधिक बृहत्काय ग्रन्थ है। इसका मूलरूप ८,११,१०० श्लोकों का था। वेंकटेश्वर प्रेस से इसका जो संस्करण छपा है उसमें ८१,००० श्लोक-संख्या है, जो कि लगभग ठीक ही बैठती है।

यद्यपि 'स्कंदपुराण' प्रधानतः शैव पुराण है; किन्तु दूसरे संप्रदाय वालों के लिए इसमें पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। भारत के विभिन्न तीर्थ-स्थानों का वर्णन होने के कारण भौगोलिक दृष्टि से इस पुराण का बड़ा महत्व है। दक्षिण भारत में इसका सर्वाधिक प्रचार है।

मार्कण्डेयपुराण

'मत्स्य', 'ब्रह्मवैवर्त', 'नारदीय', 'भागवत' आदि के अनुसार 'मार्कण्डेयपुराण' में ९,००० श्लोक थे; किन्तु बंबई आदि से छपे संस्करणों में केवल ६,९०० श्लोक ही मिलते हैं। अतः यह मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। बँगला विश्वकोश-कार ने लिखा है कि नेपाल में इस पुराण की एक आठ-सौ वर्ष प्राचीन हस्तलिखित पोथी ऐसी मिली है जिसको किसी बौद्धाचार्य ने लिखा। बहु-संवत्सरजीवी मार्कण्डेय ऋषि को, जो एक ओर निवृत्तिलक्षण यतिधर्म के और दूसरी ओर प्रवृत्तिलक्षण गृहस्थ धर्म के पूर्ण ज्ञाता थे, भागवतों ने अपने नए

लोक-संग्रहात्मक एवं आचारमूलक धर्म का प्रतिनिधि मान कर उनके मुख से निकले हुए उपदेशों के रूप में इस नये पुराण का संकलन किया।[1]

वामनपुराण

'वामनपुराण' के संबंध में 'नारदपुराण' में जो विषय-सूची दी गई है, उपलब्ध पुराण ठीक उसी रूप में है। इसमें ९५ अध्याय और १०,००० श्लोक हैं। 'वामनपुराण' के संबन्ध में 'मत्स्यपुराण' में लिखा है—

> त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखाः।
> त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम्॥
> पुराणं दशसाहस्रं ख्यातं कल्पानुगं शिवम्।

अर्थात् जिस प्रकरण में चतुर्मुख ब्रह्मा ने त्रिविक्रम वामन के कथा-प्रसंग में त्रिवर्ग-विषय का कथन किया है और फिर शिवकल्प का वर्णन किया है, वह दश सहस्र श्लोकों वाला 'वामनपुराण' है।

इस दृष्टि से 'मत्स्यपुराण' का यह कथन भी सत्य प्रतीत होता है।

कूर्मपुराण

'नारद' आदि पुराणों में जहाँ-जहाँ 'कूर्मपुराण' का उल्लेख हुआ है, उसकी श्लोक-संख्या १७,००० बताई गई है। किन्तु संप्रति उपलब्ध होने वाले 'कूर्मपुराण' के संस्करण में हमें लगभग ६०० श्लोक ही दिखाई देते हैं। 'नारदपुराण' में प्रस्तुत पुराण की जो सूची छपी है उसमें से आधी ही इस संस्करण में मिलती है।

मत्स्यपुराण

'नारदपुराण' में 'मत्स्यपुराण' की श्लोकसंख्या १५,००० उल्लिखित है; किन्तु 'रेवामाहात्म्य', 'भागवत', 'ब्रह्मवैवर्त' और स्वयमेव 'मत्स्यपुराण' में यह श्लोकसंख्या केवल १४,००० है। 'मत्स्यपुराण' का जो संस्करण हमारे संमुख है, उसमें भी १४,००० श्लोक हैं। साथ ही 'नारदपुराण' में 'मत्स्यपुराण' की जो सूची दी गई है,

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : मार्कण्डेयपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी, के ८ दिस० १९५७ के वार्षिक सम्मेलन पर दिए गए व्याख्यान का अंश

अक्षरशः मिलती है। संभवतः १,००० श्लोकों की गड़बड़ बीच-बीच में कहीं हो ही गई। मौलिकता और प्राचीनता की दृष्टि से 'मत्स्यपुराण' का महत्त्व है।

गरुड़पुराण

'मत्स्यपुराण' की ही तरह 'गरुड़पुराण' की श्लोकसंख्या में भी गड़बड़ पाया जाता है। 'मत्स्यपुराण' के अनुसार तो 'गरुड़पुराण' की श्लोकसंख्या १८,००० होनी चाहिए; किन्तु 'रेवामाहात्म्य', 'भागवत', 'नारद' और 'ब्रह्मवैवर्त' उसको १९,००० बताते हैं। इधर विश्वकोशकार ने उसको ११,००० ही बताया है। किन्तु यह विचार करने की बात है कि विश्वकोशकार और नारद आदि पुराणों की विषयसूची में किसी भी प्रकार गड़बड़ नहीं है, केवल श्लोकसंख्या में अंतर आ जाता है।

ब्रह्माण्डपुराण

'ब्रह्माण्डपुराण' वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से प्रकाशित है। 'नारदपुराण' में उसकी सूची दी हुई है। 'रेवाखंड' और 'मत्स्यपुराण' के अनुसार उसमें १२,२००; 'भागवत', 'नारद' तथा 'ब्रह्मवैवर्त' के अनुसार १२,००० श्लोक होने चाहिए, जो कि उक्त संस्करण में ठीक मिलते हैं।

देवीभागवतपुराण

'भागवत' की चर्चा में 'देवीभागवत' का संकेत हम पहिले ही कर चुके हैं।

लिंगपुराण

'लिंगपुराण' नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छपा है। 'रेवामाहात्म्य', 'भागवत', 'नारद', 'ब्रह्मवैवर्त' और 'मात्स्य' के मत से 'लिंगपुराण' ग्यारहवाँ पुराण है और उसकी श्लोकसंख्या भी ११,००० है। उक्त प्रकाशित संस्करण इन विवरणों से लगभग मेल खाता है।

भविष्यपुराण

'नारदपुराण' के अनुसार 'भविष्यपुराण' में १४,००० श्लोक, 'ब्रह्मवैवर्त' तथा 'मात्स्य' के अनुसार १५,५०० श्लोकसंख्या होनी चाहिए। नवलकिशोर प्रेस से जो संस्करण प्रकाशित है उसमें उक्त श्लोकसंख्या का मिलान नहीं होता।

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग

विश्वकोशकार ने 'भविष्यपुराण' के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। उसने चार 'भविष्यपुराण' बताये हैं : पहिले में तैंतीस अध्याय, दूसरे में दो-सौ-सत्तासी और चौरासी अध्याय, तीसरे की अध्याय-संख्या नहीं दी है और चौथे में एक-सौ-निन्नानवे अध्याय बताये हैं।[1]

नवलकिशोर प्रेस के जिस प्रकाशित संस्करण का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, उसके पूर्वार्द्ध में १४१ अध्याय और उत्तरार्द्ध में १७१ अध्याय हैं। इसकी विषयसूची का मिलान करने पर विदित होता है कि विश्वकोशकार का पहिला और चौथा 'भविष्यपुराण' ही, नवलकिशोर-संस्करण का पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध है; यद्यपि कोशकार की पहिले ग्रन्थ की सूची में आठ अध्याय कम और चौथे ग्रंथ की सूची में अट्ठाईस अधिक हैं। इस प्रकार प्रकाशित संस्करण और कोशकार के आधार-ग्रन्थों में बीस अध्याय की कमी-बेसी है।

यह एक विचारणीय बात है कि 'वराहपुराण' में 'भविष्यपुराण' की जो सूची दी हुई है, उसकी संगति कोशकार के किसी भी 'भविष्यपुराण' के साथ नहीं बैठती है।

इसमें शाकद्वीपीय मग ब्राह्मणों और पारसियों के रीति-रिवाज और उनके संबंध में प्राचीन साहित्य का वर्णन है। विश्वकोशकार का कथन है कि तीसरे 'भविष्यपुराण' में उद्भिज विद्या पर ऐसा अद्भुत प्रकाश डाला गया है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों का पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

उपपुराण

यद्यपि महापुराणों की संख्या अष्टादश है; किन्तु वायुपुराण और देवी-भागवत को जोड़कर वे बीस तक पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार उपपुराणों की संख्या भी लगभग ३० तक पहुँच जाती है। बहुत-से लोगों का कथन है कि इन उपपुराणों की रचना महापुराणों के बाद हुई; किन्तु मौलिकता और प्राचीनता की दृष्टि से महापुराणों से किसी भी प्रकार उप-पुराणों का महत्व कम नहीं है। ये ३० उपपुराण हैं :

१ सनत्कुमार, २ नरसिंह ३ बृहन्नारदीय ४ शिवधर्म, ५ दुर्वासस् ६ कपिल ७ मानव ८ उशनस् ९ वारुण १० कालिका ११ साम्ब १२ नंदकेश्वर १३ सौर १४ पाराशर १५ आदित्य १६ ब्रह्माण्ड १७ माहेश्वर १८ भागवत

---

१. देखिए बँगला विश्वकोश (भविष्यपुराण)

१९ वाशिष्ठ २० कौर्म २१ भार्गव २२ आदि २३ मुद्गल २४ कल्कि २५ देवी २६ महाभागवत २७ बृहद्धर्म २८ परानंद २९ पशुपति और ३० हरिवंश ।

'महाभारत' के खिल-पर्व का ही दूसरा नाम 'हरिवंशपुराण' है । इसी की श्लोकसंख्या मिलाकर 'महाभारत' के श्लोक एक-लाख तक पहुँचते हैं । बहुत संभव है, जैसा कि अनेक विद्वानों का मत भी है, यह अंश पीछे से 'महाभारत' में जोड़ दिया गया हो ।

जैन और बौद्ध पुराण

वेद, वैदिक-साहित्य वेदांग और पुराणों की भाँति जैन-धर्मावलंबियों के वेद, वेदांग और पुराण आदि हैं, जो अपना स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं । भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में मध्ययुगीन न्याय के जन्मदाता जैन-बौद्ध ही थे । वेद-अविश्वासी होने के कारण जैन-बौद्ध दर्शन को नास्तिक संज्ञा दी गई है । षड् आस्तिक दर्शनों की भाँति नास्तिक दर्शनों की संख्या भी छह है । पहिला नास्तिक-दर्शन चार्वाक-प्रणीत, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ बौद्धाचार्यों द्वारा प्रवर्तित और छठा जैन-दर्शन है । आस्तिक-दर्शन के षट्-संप्रदायों ने नास्तिक दर्शनों के ऐतिहासिक महत्त्व को बराबर स्वीकार किया है ।

जैन और बौद्ध एक ही बृहद् हिन्दू-जाति के अंग हैं । आज जिस प्रकार अपनी मूलभूमि भारत में उनकी जातीय परंपरा कुछ क्षीण-सी हो गई है, उसी भाँति उनका बहुत सारा साहित्य भी आज विलुप्त हो चुका है । इस प्रसंग में हम केवल उनके पुराण-ग्रंथों की ही चर्चा करेंगे ।

ब्राह्मणधर्म के नाम से जिस प्रकार अष्टादश महापुराणों तथा अनेक उपपुराणों का उल्लेख हुआ है, उसी प्रकार जैनधर्म के भी अपने चतुर्विंशति पुराण है । इन चतुर्विंशति पुराण-ग्रंथों में उनके चौबीस तीर्थंकर महात्माओं का माहात्म्य वर्णित है । जैनियों के पुराण ब्राह्मण-पुराणों की भाँति पंचलणी न होकर :

'पुरातनं पुराणं स्यात्तन्महन्महदाश्रयात्'

अपने महापुरुषों की पुरातन कथा के प्रतिपादक ग्रंथ हैं । जैनियों के २४ पुराणों में क्रमशः उनके २४ तीर्थंकर महात्माओं की कथायें वर्णित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं : १ आदि पुराण, २ अजितनाथ पुराण, ३ संभव-नाथ पुराण, ४ अभिनन्द पुराण, ५ सुमतिनाथ पुराण, ६ पद्मप्रभ पुराण, ७

सुपार्श्व पुराण, ८ चंद्रप्रभ पुराण, ९ पुष्पदंत पुराण, १० शीतलनाथ पुराण, ११ श्रेयांश पुराण, १२ वासुपूज्य पुराण, १३ विमलनाथ पुराण, १४ अनंतजीत पुराण; १५ धर्मनाथ पुराण, १६ शांतिनाथ पुराण, १७ कुन्थुनाथ पुराण, १८ अरनाथ पुराण, १९ मल्लिनाथ पुराण, २० मुनिसुव्रत पुराण, २१ नेमिनाथ पुराण, २२ नेमिनाथ पुराण, २३ पार्श्वनाथ पुराण, और २४ सम्मति पुराण।

इन २४ जैन-पुराणों में भी सुप्रसिद्ध पुराणों के नाम हैं: आदि पुराण, पद्मप्रभ पुराण, अरिष्टनेमि पुराण (जिसे हरिवंश पुराण भी कहते हैं) और उत्तर पुराण। इनमें भी 'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' का विशेष महत्त्व है।

आदि पुराण

इसमें जैनों के प्रथम तीर्थंकर महात्मा ऋषभदेव की कथायें वर्णित हैं। ऋषभदेवजी के संबंध में जैन-परम्परा है कि उनका जन्म सर्वार्थसिद्धि योग, उत्तराषाढ नक्षत्र, धन राशि, चैत्र मास की कृष्णाष्टमी को इक्ष्वाकुवंशीय राजा नाभि और रानी मरुदेवी के गर्भ से विनीता नामक नगरी में हुआ था। यह भी परंपरागत विश्वास है कि वे चतुर्युगी अर्थात् चौरासी-लाख वर्ष जीवित रहकर मोक्ष को प्राप्त हुए। 'भागवत' में इनकी महिमा का बड़ा बखान है। 'भागवत' में भी इनके माता-पिता के उक्त नाम ही बताये गये हैं और इन्हें भगवद्-गुणसंपन्न कहा गया है। इनकी पत्नी का नाम इंद्रकन्या जयन्ती बताया गया है, जिससे कि इनके धर्मात्मा, वेदज्ञ और भागवत-धर्मानुयायी भरत, कुशावर्त आदि सौ पुत्र हुए। 'भागवत' में प्रोक्त, बाईस अवतारों में इन्हें आठवाँ अवतार बताया गया है।

इस पुराण में ४७ पर्व हैं। इसके रचयिता जिनसेन हुए। जिनसेन ने ग्रंथारंभ करते हुए नयकेशरी, सिद्धसेन, वादिचूड़ामणि, समंतभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र, चंद्रोदयकर, प्रभाचंद्र, मुनीश्वर, शिवकोटि, जटाचार्य (सिंहनंदी), कथालंकारकार काणभिक्षु (देवमुनि), कवितीर्थ, भट्टारक, वीरसेन और वागर्थ-संग्रहकार जयसेन प्रभृति गुरुजनों का नाम-स्मरण किया है, जिससे ग्रंथ के रचनाकाल में पर्याप्त सहायता मिलती है।

इस पुराण-ग्रंथ में सृष्टि-तत्व के संबंध में जो विचार किया गया है, इसको देखकर ऐसा विदित होता है कि जैसे उन्होंने अपने उत्तरभावी आचार्य शंकर के अद्वैत ब्रह्म-संबंधी विचारों का खंडन कर दिया है।[1]

उत्तर पुराण

यह 'आदि पुराण' का उत्तरार्द्ध भाग है। आचार्य जिनसेन 'आदि पुराण' के ४४ सर्ग लिखने के बाद ही निर्वाण को प्राप्त हुए। तदनन्तर ४५ सर्ग से ४७ सर्ग तक और अंत में जिनचरित्र को साथ जोड़ कर उनके शिष्य गुणभद्र ने 'आदि पुराण' के उत्तरभाग की समाप्ति की।

ग्रंथ की अंतिम पुष्पिका में लिखा हुआ है कि समस्त शास्त्रों का सारस्वरूप यह पुराणग्रंथ धर्मवित् श्रेष्ठ व्यक्तिगण द्वारा ८२० शक पिंगल संवत्सर, ५ आश्विन शुक्लपक्ष, बृहस्पतिवार को पूजित हुआ। यह समय विश्वविख्यात-कीर्ति सर्वशत्रुपराजयकारी अकालवर्ष भूपति के राज्याधिरोहण का था।

'उत्तर पुराण' वस्तुतः जैनों के चतुर्विंशति पुराणों का विश्वकोश है। उसमें सभी पुराणों का सार संकलित है। इसका आरंभ ४८वें पर्व से प्रारंभ होता है। दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी तक का इसमें आख्यान है। इसमें २३ उत्तरवर्ती पुराणों की अनुक्रमणिका दी हुई है।

'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' में प्रत्येक तीर्थंकर से पहिले चक्रवर्ती राजाओं की कथा वर्णित है। जैन-पुराणों के मतानुसार वे तीर्थंकर ही पूर्वजन्म में राजा थे। इन दोनों पुराणों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ शुक्लबल, नौ विष्णुद्विष आदि ६३ महात्माओं के चरित्र वर्णित हैं। इसलिए इन्हें 'त्रिषष्टयवयवी पुराण' भी कहा जाता है।

पुराणों के वैज्ञानिक अनुशीलन की आवश्यकता

पाश्चात्य विद्वान् कुछ दिन पूर्व बड़ी एकाग्रता से भारतीय साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन की ओर प्रवृत्त हुए। उनकी इस प्रवृत्ति से भारतीय साहित्य की अनेक विलुप्त या गूढ़ बातें प्रकाश में आईं; किन्तु कुछ बातों के

---

१. आदिपुराण, पर्व ४, श्लोक १–२१ मिलाइए—शंकर-शारीरक-भाष्य, अध्याय १, पाद १

संबंध में उन्होंने इतने भ्रमात्मक निष्कर्ष निकाले, जिनको देखकर आज विश्वास-पूर्वक कहा जा सकता है कि वे उनकी निरी अज्ञानता के सूचक थे।

पुराणों के प्रति भी पाश्चात्यों का अधूरा ज्ञान था। इन्हीं अधूरी बातों का समर्थन कुछ भारतीय विद्वानों ने भी किया है। विलसन, स्मिथ और पार्जिटर प्रभृति विद्वानों ने पुराणों का गंभीर अध्ययन किया है, और इस संबंध में उन्होंने जो विश्लेषण किया है, उसको देख कर अब यह कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती है कि पुराणों की बातें सर्वथा कल्पित तथा पुराणों की रचना नितांत आधुनिक है।

पुराणों का सृष्टि-वर्णन, इतिहास की दृष्टि से सही है, और उसकी घटनाएँ अकल्पित हैं। पुरातत्व या विज्ञान की किसी भी प्रामाणिक खोज की तुलना में पुराणों का सृष्टि-वर्णन किसी भी प्रकार न्यून नहीं है। विकासवाद, आधुनिक विज्ञान की जो सर्वथा नई खोज है, उसके विविध तथ्य एवं दृष्टांत पुराणों में मौजूद हैं। पृथ्वी, पहाड़, नदी, आदि की सृष्टि, पौराणिक एवं दार्शनिक परमाणुवाद, महत्तत्व से भू-तत्व की सृष्टि, जलचर, भूचर, खेचर तथा मनुष्य आदि प्राणियों की रचना और मानव-जगत् की कई योनियों की रचना का इतिहास पुराण-ग्रंथों में सुरक्षित है।

इतना ही नहीं, बल्कि पुराणों में अनेक बातें आज भी ऐसी मौजूद हैं, जिन पर विज्ञान ने अब तक कुछ कहा ही नहीं है। दूर भूत और दूर भविष्य के सम्बन्ध में जो बातें पुराणों में दी गई हैं, युग-परिमाण के हिसाब से उनकी गणना अभी तक हुई ही नहीं है। पुराणों के सभी विषय कथोपकथन के ढंग पर लिखे हैं। विषय को सुगमता से हृदयगम कराने वाले इस प्रकार के ग्रन्थ किसी भी भाषा में नहीं मिलेंगे। किसी ऋषि ने किसी दूसरे ही ऋषि से सुना; उसने भी किसी देवता से जाना; देवता ने भी ब्रह्मा से सुना; इस प्रकार पुराण विषय-परंपरा से मौखिक रूप में या शिष्य-परंपरा के क्रम से जीवित रहते आये हैं। विज्ञान को भले ही यह स्वीकार न हो; किन्तु भारतीय आचार-विचारों, संस्कारों और विश्वासों का यह चिर-पुरातन इतिहास झूठा नहीं है।

पुराणों में अनेक कल्पों और अनेक सृष्टियों के उत्थान-पतन की कथाएँ हैं; उनमें अनेक द्वीपों तथा समुद्रों, अनेक देशों और अनन्त राजधानियों का क्रमबद्ध इतिहास है; किन्तु उनमें कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि आर्य

लोग बाहर से भारत में आये। तब यदि कुछ पाश्चात्य विद्वान् इस बात को स्वीकार करें कि आर्यों का आदिस्थान कहीं बाहर था अथवा पुराणों की कथाएँ सच्ची नहीं हैं, तो हम कैसे उन बातों को मान सकते हैं? इसके विपरीत पुराणों में स्पष्टतया यह देखने को मिलता है कि शक और मग भारत में कब आये और कब भारतीय जन बाहर के देशों में जाकर बसने लगे।[1]

पुराण हिन्दुओं की समस्त विद्याओं के आश्रय और सारी आर्य-संस्कृति के विश्वकोश हैं। उनमें लिखी गई बातें अत्यंत ही सच्चाई और सादगी से भरपूर हैं। उनके प्रति अविश्वास भले ही किया जाय; किन्तु सच्चाई अविश्वास से थोड़े ही ढांकी जा सकती है!

पुराणों की इन सच्ची और सादे ढंग से कही हुई बातों को विस्तार से समझने के लिए यह आवश्यक है कि पुराणों की वैज्ञानिक गवेषणा हो। उनकी कुछ बातों में जो वैपरीत्य आ गया है उसका मूल कारण खोजा जाय। उनमें जिस विराट् संस्कृति और पुरातन इतिहास के बीज बिखरे हुए हैं, उनको एक स्थान पर समेट कर उनका परीक्षण किया जाय।

बड़ी ही प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा में भारतीय विद्वान् प्रवृत्त हो रहे हैं। पत्र-पत्रिकाओं में भी पुराणों के संबंध में नई बातें, नई गवेषणाएँ देखने को मिल रही हैं। उन पर नये सिरे से सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक ढंग के ग्रन्थ भी लिखे जा रहे हैं।

---

१. देखिए—रामदास गौड़ का पुराणविषयक लेख, गंगा, प्रवाह १, १९३१, पृ० ७२५

जैनयुग

धर्म : दर्शन : साहित्य

जैनयुग

ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी पूर्व वैदिक धर्म के विरोध में एक महान् क्रांति का सूत्रपात हुआ, जिसके नेता थे महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध। इस क्रांति का उद्देश्य मूलतः धार्मिक विरोध था ; किन्तु आगे चलकर इसके लक्षण साहित्य के क्षेत्र में भी प्रकट हुए। धर्म के क्षेत्र में यह बैर-वैमनस्य भले ही एक अच्छी परंपरा की प्रतिष्ठा न कर सका हो ; किन्तु साहित्य के क्षेत्र में वह अत्यंत शुभंकर सिद्ध हुआ। ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध जैन-बौद्धाचार्यों की इस साहित्यिक होड़ के कारण महानतम कृतियों से भारतीय वाङ्मय की एक अछूती दिशा प्रकाश में आई। भारतीय षड्दर्शनों की इतनी बड़ी अभ्युन्नति में भी इस क्रांति का हाथ रहा है। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैन एवं बौद्ध, दोनों धर्मों का अपना विशिष्ट स्थान है।

धार्मिक दृष्टि से यह युग एक महान् परिवर्तन का युग था। महावीर स्वामी और बुद्धदेव के पूर्व सारी धार्मिक व्यवस्था पुरोहितों के हाथ में थी। इसके बाद धार्मिक व्यवस्था और धर्मप्रचार का कार्य इन दोनों क्षत्रिय-वंशीय महापुरुषों के हाथ में आया। वस्तुतः देखा जाय तो वामन और परशुराम के अतिरिक्त जितने भी अवतार हुए सभी क्षत्रिय-कुलोत्पन्न थे। इस दृष्टि से ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच काफी होड़ रही। वैदिक युग से जिस धार्मिक नेतृत्व का कार्य ब्राह्मण करते आ रहे थे, इस युग में वह क्षत्रियों के अधीनस्थ हो गया। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुयायी पुरोहितों और उपनिषद्-धर्म के अनुयायी जैन-बौद्धों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण साहित्य के अतिरिक्त सामाजिक जीवन में भी अद्भुत उन्नति हुई।

यह एक विचित्र संयोग की बात है कि संसार के अनेक देशों के इतिहास में ईसा पूर्व की छठी शताब्दी, एक नई भावभूमि को लेकर आई। भारत में यह शती आध्यात्मिक असंतोष और बौद्धिक क्रांति के रूप में विख्यात हुई। चीन में लाओत्से तथा कन्फ्यूशियन ने, यूनान में परमेनाइडीस एवं एम्पेडोकल्स ने, ईरान में जरथुस्त्र ने और भारत में महावीर एवं बुद्ध ने इस धार्मिक क्रांति का प्रतिनिधित्व प्रायः एक ही समय में किया।

जैनधर्म के प्रमुख दो संप्रदाय

जैसे भगवान् तथागत की निर्वाण-प्राप्ति के बाद बौद्धधर्म के क्षेत्र में अनेक विकृतियाँ और संप्रदायजन्य मतभेद आरंभ हो गये थे, वैसे ही महावीर स्वामी के बाद जैनधर्म के क्षेत्र में भी सैद्धांतिक मतभेदों के कारण दो दल हो गए थे। जैनधर्म के इस संप्रदाय-विभेद का बड़ा रोचक इतिहास है।

महावीर स्वामी के नौ प्रकार के शिष्य थे, जिन्हें 'स्थविरावली' में 'गण' कहा गया है। इनके निरीक्षक को 'गणधर' कहा जाता था। इस प्रकार के ११ गणधर थे, जिनके नाम थे : इंदुभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रकास। गोशाल और जमालि भी महावीर के प्रमुख शिष्यों में से थे। महावीर स्वामी की यह शिष्य-परंपरा ३१७ ई० पूर्व तक अटूट रूप में बनी रही।

महावीर स्वामी की शिष्य-परंपरा में जिन शिष्यों ने 'संघ' का कार्य सुचारु रूप से संचालित किया और अपने अच्छे कार्यों के कारण लोकप्रियता प्राप्त की, उनमें आर्य भद्रबाहु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ३१७ ई० पूर्व में संघ का कार्य उन्होंने अपने हाथों में लिया था। ३१० ई० पूर्व, सात वर्ष बाद, संघ का कार्य भार अपने शिष्य स्थूलभद्र के ऊपर छोड़ कर आचार्य भद्रबाहु भ्रमणार्थ दक्षिण की ओर चल दिए थे। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में इसी बीच स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में साधुओं की एक बृहद् सभा का आयोजन किया, जिसमें जैनधर्म के अंगों का संग्रह करने के लिए योजनाएँ पारित की गईं।

बहुत दिनों बाद भद्रबाहु जब दक्षिण से वापिस आये तो उनके समक्ष पाटलिपुत्र की विज्ञ-सभा द्वारा पारित प्रस्तावों को स्वीकृत्यर्थ रखा गया। भद्रबाहु ने उनको मानने से इन्कार कर दिया। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में

एक नई बात और हुई। स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधुओं ने वस्त्र पहनना भी आरंभ कर दिया था। भद्रबाहु को यह बात भी न रुची। फलतः यह विवाद बढ़ता ही गया। अंत में भद्रबाहु अपनी शिष्यमंडली के साथ अन्यत्र चले गए, और अपनी पुरानी परंपरा को ही उन्होंने बनाये रखा। इस प्रकार जैन साधुओं के दो दल हो गए : एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर। जैनियों के इन दो संप्रदायों का आविर्भाव ३०० ई० पूर्व में हो चुका था। भद्रबाहु का परलोकवास २९७ ई० पूर्व में हुआ और स्थूलभद्र का २५२ ई० पूर्व में।[1]

इस प्रकार ३०० ई० पूर्व में जैनधर्मानुयायी मुनि-समाज में रहन-सहन और सैद्धांतिक मत-भेद के कारण जो दो दल बन गए थे; आगे-आगे विलयित होने की अपेक्षा उनकी दूरी बढ़ती ही गई और आज तक उनका मतभेद पूर्ववत् बना हुआ है।

जैनधर्म बहुव्यापी और बहुजीव धर्म रहा है। उसकी परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप से वर्तमान है। भारत के धार्मिक इतिहास में जैनधर्म का प्रमुख स्थान है। भारतीय साहित्य को प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रगति प्रदान करने में जैनधर्मावलंबी आचार्यों का प्रमुख योग रहा है। जैनधर्म, बौद्धधर्म की भाँति, एक आँधी-तूफान के रूप में आया और बह गया, जैसी स्थिति में कभी भी नहीं रहा है। आरम्भ में, अपने जन्मकाल में, उसकी स्थिति भले ही दूसरे रूप में परिचित हुई; किन्तु उत्तरोत्तर उसमें समन्वय एवं सामंजस्य की भावना भरती गई, और आज भारत का सारा जन-मानस जैनधर्म को परम आदर की दृष्टि से देखता है। उसके विरोधी तत्त्व प्रायः अब शिथिल पड़ गए हैं, और उसकी लोकप्रियता का एक बड़ा कारण यह भी रहा है।

बौद्धधर्म की भाँति जैनधर्म का उदय यद्यपि एक ही उद्देश्य को लेकर हुआ; किन्तु कुछ समय बाद ही उसकी इतनी शाखाएँ फूटीं कि, जिनके कारण उसके विकास में बड़ी बाधा उपस्थित हुई। दूर से देखने पर यही कहा जा सकता है कि अनेक शाखा-संप्रदायों में विभाजित होकर जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों ने अपना सर्वांगीण विकास किया; कुछ अंशों में यह संभव

---

१. डॉ० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० १०२ लखनऊ, १९५७

भी है; किन्तु इन शाखा-संप्रदायों के कारण दोनों धर्मों की गति रुकी ही, बढ़ी नहीं।

जैनधर्म की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं। उन सब की नामावली प्रस्तुत करना और उनके उद्गम के कारण गिनाना यहाँ संभव नहीं है। मूलसंघ, काष्ठासंघ, तेरापंथ, यापनीयसंघ (आपुलीय या गोप्यसंघ), गौडसंघ, मयूरसंघ, नंदिसंघ, निर्ग्रंथसंघ, कूर्चकसंघ, वीरसेणाचार्यसंघ, पुन्नाटसंघ, किन्नूरसंघ, बलात्कारसंघ, सेनान्वय, तापगच्छ, सरस्वतीगच्छ, बागड़गच्छ, लाटबागडगच्छ, आदि जैनधर्म की ऐसी शाखाएँ हैं, जिनके कारण जैनधर्म की दिशा में अनेक विचारशाखाएँ उदित हुईं; किन्तु जिनमें अधिकांश कच्ची आधारभूमि पर टिके होने के कारण थोड़े ही समय में धरासात् भी हो गईं।

जैनधर्म और बौद्धधर्म की एकता

जैन और बौद्ध, दोनों धर्म भारत के धार्मिक इतिहास के बड़े प्रगतिशील धर्म रहे हैं। इस देश के निर्माण में इन दोनों धर्मों का बड़ा ऊँचा स्थान है। बौद्धधर्म यद्यपि अपनी जन्मभूमि भारत से सर्वथा विलुप्त हो चुका है; किन्तु संसार के विभिन्न छोरों में बिखर कर भारत के नाम को वह सहस्राब्दियों से आजतक गौरवान्वित किए है। जैनधर्म की परम्परा भारत में आज भी जीवित है।

जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों के उदय का प्रायः एक ही उद्देश्य था। अतः उनमें कुछ मौलिक एकताएँ हैं। एक दूसरे पर उनके दाय के चिह्न आज भी उनकी इस एकता को प्रकट करते हैं। 'जिन' और 'वीर', जो महावीर स्वामी या उनके पूर्ववर्ती महात्माओं के आदर-सूचक संबोधन थे, पालि-साहित्य में बुद्ध के विशेषणों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। बुद्ध को 'पापकर्मों का जीतने वाला' अतएव 'जिन' कहा गया।[१] इसी प्रकार महाप्रजापति गोमति ने भगवान् बुद्ध की 'वीर' कह कर वन्दना की है।[२] बौद्धभिक्षु अपना परिचय 'श्रमण' कह कर दिया करते थे।[3] और इसीलिए उन्हें भी लोग श्रमण कह कर पुकारने लगे।[४] श्रमणप्रधान जैनधर्म से बौद्धधर्म की यह मौलिक एकता है। यही कारण था कि बहुत दिन तक यूरोप में इन दोनों धर्मों को एक

---

१. विनयपिटक, महावग्ग (मज्झिम० १।३।६) २. थेरीगाथा, गाथा १५७

३. मज्झिम० १।४।९, १० ४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग

ही धर्म माना जाता रहा, और इसी दृष्टि से कुछ विद्वानों ने महावीर और बुद्ध को एक ही व्यक्ति समझने का भ्रम किया।[1]

पालि-साहित्य में जैनधर्म के अनुयायियों को निगण्ठ (निर्ग्रंथ) और इसीलिए महावीर स्वामी को निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र) कहा जाता था।[2] उनके मुख्य सिद्धांतों का उल्लेख भी पालि-साहित्य में देखने को मिलता है।[3]

पालि-साहित्य और जैन-साहित्य की इन मौलिकताओं के फलस्वरूप भी दोनों धर्मों के अनुयायियों में जो वैर, वैमनस्य, प्रतिस्पर्धा और पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना की भावना दिखाई देती है, उसको गौणतया ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यह तो उनके व्यक्तिगत अस्तित्व और स्वतंत्र विचारों का प्रश्न था, जैसा कि प्रत्येक युग में एवं प्रत्येक धर्म में स्वभावतया होता गया है।

जैनधर्म और ब्राह्मणधर्म की एकता

जैनधर्म और ब्राह्मणधर्म में कोई विशेष अंतर नहीं है, मात्र इसके कि जैनधर्म वैदिक कर्मकाण्ड के प्रतिबंधों एवं उसके हिंसा-संबन्धी विधानों को स्वीकार नहीं करता है और ब्राह्मणधर्म वैदिक निर्देशों को ही अंतिम प्रमाण मानता है। समाज में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए जैनियों के समक्ष विकट परिस्थिति यह थी कि वेदों का खुल कर विरोध किया जाय। समाज संभवतः पुरोहितवाद के बढ़ते हुए प्रभाव और उसकी स्वेच्छाचारिता को सहन भी कर लेता ; किन्तु वेदों की निष्क्रियता स्वीकार करने के लिए वह कदापि भी तैयार न था। वेदों के प्रति समाज के इस प्रबल विश्वास को डिगाने के लिए जैनियों ने अहिंसा का आधार लिया और पुरोहितवादी प्रवृत्तियों का, जिनके प्रति समाज की अरुचि बढ़ती जा रही थी, प्रबल विरोध कर समाज को अपने साथ कर लिया।

---

१. बार्थ : दि रिलिजन्स आफ इण्डिया, पृ० १४–१५० (डा० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, जिल्द १, पृ० २९१); विंटरनित्स : इण्डियन लिटरेचर, दूसरी जिल्द

२. धम्मपट्ठकथा, जिल्द २, पृ० ४८९

३. सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ १।२); उपालि-सुत्त (मज्झिम० २।१।६); सीहनाद-सुत्त (दीघ ३।२); देखिए : लाहा : बुद्धिस्टिक स्टडीज महावीर ऐंड बुद्ध शीर्षक, पृ० ८८

महावीर स्वामी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों एवं उनकी मान्यताओं को इस सरल, सुगम ढंग से समाज के सामने रखा कि उनके निर्दिष्ट मार्ग पर लोग बरबस ही खिंचे चले आये। वेदों में वर्णित अहिंसा और तप को ही जैनों ने अपनाया। साधना और वैराग्य की भावना उन्होंने वेदांत से ग्रहण की।

जैनधर्म अतिशय अहिंसावादी धर्म रहा है। कष्ट-सहिष्णुता जैन-धर्मावलंबियों का प्रमुख सिद्धांत था—बौद्धधर्मानुयायियों से भी बढ़कर। जैनधर्म का त्रिरत्न—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित—हिन्दू धर्म के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का ही रूपांतर है। समानता की दृष्टि से बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म हिन्दूधर्म के अधिक निकट है। जैनधर्म मूलतः हिन्दूधर्म और विशेषतः वैष्णवधर्म के अधिक पास है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से भी ब्राह्मणों के सांख्य और योग दर्शनों के निरीश्वरवाद से जैन दर्शन की पर्याप्त समानता है। सृष्टि और ब्रह्म की पृथक् सत्ता का जितना समर्थक कपिल का सांख्य है, उतना ही जैनदर्शन भी। जैन दर्शन आत्मा का चरमोद्देश्य साधना एवं तपश्चर्या में बताता है, वेदांत में भी जीवन्मुक्त के लिए ब्रह्म तक पहुँचना अनिवार्य बताया गया है। वेदांत का मुमुक्षु या जीवन्मुक्त ही जैन दर्शन का सिद्धजीव एवं अर्हत् है। दोनों दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए आत्मा के विकास पर जोर देते हैं। आत्मा और मोक्ष के स्वरूप संबंध को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय तो जैन-बौद्ध दर्शन उतने ही आस्तिक ठहरते हैं, जितने ब्राह्मण दर्शन।

जैन दर्शन

अनादि काल से ही भारतीय विचारधारा हमें दो रूपों में विभक्त हुई मिलती है : पहिली परंपरामूलक, ब्राह्मण्य या ब्रह्मवादी, जिसका विकास वैदिक साहित्य के बृहत् स्वरूप में प्रकट हो चुका था, और दूसरी पुरुषार्थमूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमणप्रधान, जिसमें आचरण को प्रमुखता दी गई है। ये दोनों चिंताधाराएँ एक-दूसरी की पूरक भी रहीं और पारस्परिक विरुद्धगामी भी। जहाँ सामंजस्य की भावना के आधार पर इनमें आदान-प्रदान हुआ, वहाँ दूसरी ओर सारे राष्ट्र की बौद्धिक एकता को बनाये रखने में भी इनका महत्वपूर्ण योग रहा है। पहिली ब्रह्मवादी

विचार-परंपरा की उद्भूति पंजाब एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश में और दूसरी श्रमण विचार-परंपरा का जन्म आसाम, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में हुआ। इन दोनों भारतीय विचारधाराओं के जन्म और विकास की संक्षिप्त रूपरेखा यही है। श्रामण्य विचार-परंपरा के जन्मदाता जैन थे।[1]

श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैनधर्म प्रागैतिहासिक धर्म रहा है; बौद्धधर्म की अपेक्षा प्राचीन। 'भागवत' में वर्णित जैनधर्मसंबंधी विवरणों का अनुशीलन करने पर विद्वानों ने जैनियों के इस मंतव्य का समर्थन किया है कि जैनमत का आविर्भाव वैदिकमत के पार्श्व या उसके कुछ बाद में हुआ।[2] मोहेन–जो–दारो से उपलब्ध ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों से जैनधर्म की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों[3] की परंपरा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया। जैनधर्म के प्रवर्तक महात्माओं को तीर्थंकर कहा जाता है। ज्ञान का प्रवर्तन करने वाले वीतराग महात्मा ही तीर्थंकर कहलाए। धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण करने वाले ज्ञानमना मुनिजन ही तीर्थंकर थे: 'तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति।'

ये तीर्थंकर महात्मा संख्या में चौबीस हुए, जिनमें सर्वप्रथम ऋषभदेव और अन्तिम महावीर थे। उनका क्रम इस प्रकार है: १ आदिनाथ (ऋषभदेव), २ अजितनाथ, ३ संभवनाथ, ४ अभिनन्दन, ५ सुमतिनाथ, ६ पद्मप्रभु, ७ सुपार्श्वनाथ, ८ चंद्रप्रभ, ९ सुविधिनाथ, १० शीतलनाथ, ११ श्रेयांसनाथ, १२ वासुपूज्य, १३ विमलनाथ, १४ अनंतनाथ, १५ धर्मनाथ, १६ शांतिनाथ, १७ कुन्थुनाथ, १८ अरनाथ, १९ मल्लिनाथ (मल्लीदेवी), २० मुनि सुव्रत, २१ नमिनाथ, २२ नेमिनाथ, २३ पार्श्वनाथ और २४ वर्धमान महावीर।[4] ऋग्वेद, अथर्ववेद, 'गोपथ ब्राह्मण' और 'भागवत' आदि भारतीय साहित्य के प्राचीन, मध्ययुगीन ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव की चर्चाएँ

---

१. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग २, पृ० ८३१ (२०११ वि०)

२. डॉ० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० २८७

३. ऋग्वेद, केशीसूक्त १०।१३६

४. डॉ० उमेशमिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० ९८ (१९५७)

सर्वत्र बिखरी हुई मिलती हैं,[1] जिनसे उनकी अति प्राचीनता और उनके व्यक्तित्व की महत्ता सिद्ध होती है।[2] इसी प्रकार दूसरे तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि भी वैदिक युग के महापुरुष प्रतीत होते हैं।[3]

महाभारतकालीन तीर्थंकर नेमिनाथ जैनधर्म के सामान्य ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं। जैनधर्म के ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के नाम पर सारनाथ जैसे पवित्र तीर्थ की स्मृति आज भी जीवित है। इन चौबीस तीर्थंकर महात्माओं में अन्तिम पार्श्वनाथ और महावीर ही ऐसे हैं, जिनकी ऐतिहासिक जानकारी ठीक रूप में उपलब्ध है। शेष पूर्ववर्ती महात्माओं के संबंध में जैन पुराणों के अनुवंश्य प्रसंगों में जो चर्चाएँ देखने को मिलती हैं, ब्राह्मण पुराणों की ही भांति उनकी अतिरंजित बातें काफी भ्रमोत्पादक अतएव पूरी तरह विश्वासयोग्य नहीं हैं।

तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ बड़े ही प्रतिभाशाली महापुरुष हुए। इनका जन्म महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व, ८०० ई० पूर्व वाराणसी के एक राज-परिवार में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः वामा और अश्वपति था। तीस वर्ष की युवावस्था में ही ये राज-पाट त्यागकर वनवासी हुए और अथक घोर तपस्या के ८३ वें दिन बाद इन्हें ज्ञानोपलब्धि हुई। लगभग ७० वर्ष तक धर्म-प्रचार करने के उपरांत पार्श्वनाथ पर्वत पर शरीर त्यागकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। इन्हीं तीर्थंकर द्वारा श्रमण-संप्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। अद्भुत इन्द्रियनिग्रही और महान् जगत्-विजयी होने के कारण भगवान् पार्श्वनाथ 'जिन' के नाम से लोक में विश्रुत हुए और तभी से उनके अनुयायी जन जैन कहलाने लगे।

महात्मा पार्श्वनाथ की मोक्षप्राप्ति के लगभग ढाई-सौ वर्ष पश्चात् लगभग छठी शताब्दी ई० पूर्व के उत्तरार्ध में महावीर स्वामी का जन्म हुआ। कुण्ड ग्राम वैशाली (बसाढ, जिला मुजफ्फरपुर) के ज्ञातृक नामक क्षत्रिय राजकुल में उन्होंने जन्म धारण किया। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ, माता का नाम त्रिशला और उनका अपना पितृप्रदत्त नाम वर्धमान था। पार्श्वनाथ की ही भांति पिता के देहांत के तीस वर्ष बाद अपने छोटे भाई को राजकाज सौंपकर

१. ऋग्वेद : १०।१६६।१; अथर्ववेद : ११।५।२४–२६; गोपथब्राह्मण पूर्व २।८; भागवत ५।२८

२. अनेकांत, अप्रैल १९५२, पृ० १२०–१२१

३. ऋग्वेद १०।१७८०।१ तथा १।१८।१०

उन्होंने गृहत्याग किया। निरन्तर तेरह वर्ष तक आत्मचिन्तन करने के बाद उन्हें ज्ञानोपलब्धि हुई। ५२७ ई० पूर्व, लगभग ७२ वर्ष बाद राजगृह के समीप पावा नामक स्थान में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[1]

जैन दर्शन का तात्त्विक पक्ष

जैन दर्शन का मोटा-सा अभिमत है कि संसार की समग्र वस्तुओं में स्थिरता और विनाश, दोनों का आवास रहता है। कोई वस्तु एकांत नित्य और एकांत अनित्य नहीं कही जा सकती है। सभी में नित्य और अनित्य की सत्ता विद्यमान रहती है। जैन दर्शन में परमाणुओं के संघात से ही संसार के सारे पदार्थों की उत्पत्ति बताई गई है। इस परमाणु-पुन्ज को ही वहां 'स्कंध' कहा गया है। परमाणु अनादि, अनंत और नित्य हैं; अमूर्त हैं। पृथ्वी, जल, तेज आदि उन्हीं परमाणुओं के रूपांतर हैं। मुमुक्षु जीव परमाणुओं को प्रत्यक्ष करता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन परमाणुवादी तथा जीववादी दर्शन ठहरता है। ईश्वर-कर्तृत्ववाद के संबंध में बौद्धाचार्यों की जैनाचार्यों जैसी ही मान्यताएँ हैं।

संवर (संयम) का अभ्यास करते-करते जब जीव कर्म-परमाणुओं से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, तब वह 'निर्जरा' की अवस्था कहलाती है। इस संयम-साध्य निर्जरा की अवस्था प्राप्त कर ही जीव मुक्ति तक पहुँचता है और उस दशा में वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति का अधिकारी हो जाता है।[2]

जैनियों के मतानुसार बोधि अर्थात् ज्ञान की पांच श्रेणियाँ हैं : मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। मन, इंद्रिय, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क से मतिज्ञान ; शब्द एवं संकेतों से श्रुतिज्ञान ; त्रिकालजन्य वस्तुओं का प्रत्यधिकरण अवधिज्ञान ; दूसरों के मन का ज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और मुक्त जीव का ज्ञान केवल ज्ञान कहलाता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा की भांति जैन दर्शन भी जीववादी दर्शन है; किन्तु उसकी व्यापकता के वे विरोधी हैं।[3] वह बौद्ध दर्शन की

---

१. डॉ० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० ९९, १०१, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, लखनऊ, १९५७

२. उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग २, पृ० ८४४

३. मल्लिषेण : स्याद्वादमंजरी, पृ० ६३

भांति अनीश्वरवादी एवं अहिंसावादी; किन्तु उपनिषद् ग्रंथों की भाँति पुनर्जन्म-विश्वासी भी है।

अनीश्वरवाद और स्याद्वाद के संबंध में जैन दर्शन की मान्यताएँ बड़ी ही मौलिक हैं। जैन ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं मानते हैं। वे ईश्वर की सर्वव्यापक, स्वतंत्र और नित्य सत्ता को मानते ही नहीं हैं। उनकी दृष्टि में सृष्टि का निर्माण प्राकृतिक तत्त्वों के निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इस संबंध में उनके द्वारा उपस्थित किए गए तर्क एवं प्रमाण बड़े ही अनूठे हैं।[1]

स्याद्वाद की प्रतिष्ठा में जैन दर्शन का अति उदार दृष्टिकोण लक्षित होता है। स्याद्वाद, अनेकांतवाद को कहते हैं, जिसके अनुसार एक ही वस्तु में नित्य एवं अनित्य आदि अनेक धर्म विद्यमान रहते हैं।[2] स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनंत-धर्मक है।[3] स्याद्वाद का स्वरूप जैन दर्शन में वर्णित 'सप्तभंगी' वाक्यों से समझा जा सकता है।[4] एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखने के सिद्धांत को ही स्याद्वाद कहते हैं। उदाहरणार्थ एक ही पदार्थ घटस्वरूप से सत् है और पटस्वरूप से असत् भी। इस दृष्टि से संसार की सभी वस्तुएँ सदसदात्मक हैं।

जैनी लोग जीव की अनंत सत्ता में विश्वास करते हैं। जल, वायु, इंद्रिय, खनिज पदार्थ और धातुओं, सभी को वे जीववंत मानते हैं। उनके मतानुसार कुछ जीव पृथ्वीकाय, कुछ अपःकाय, कुछ वायुकाय और कुछ वनस्पतिकाय हैं। समग्र जीवों की 'बद्ध' और 'मुक्त' दो श्रेणियाँ हैं। बद्ध जीव भी कुछ 'सिद्ध' होते हैं और कुछ 'असिद्ध'। सिद्ध पुरुष ही जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ है।

जैन दर्शन के अनुसार कुछ वस्तुएँ, जो चैतन्य नहीं हैं, और जिनका अन्तर्भाव 'जीव' में नहीं हो सकता है, वे अजीव, अथच जड़ हैं। इनकी भी पाँच श्रेणियाँ हैं जिनके नाम हैं : काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल।

---

१. स्याद्वादमंजरी, श्लोक ६

२. स्याद्वादमंजरी, पृ० १४ ३. वही पृ० १६९

४. सप्तभंगी वाक्य : क. स्यादस्ति (शायद है) ख. स्यान्नास्ति (शायद नहीं है) ग. स्यादस्तिनास्ति (शायद है भी और नहीं भी है) घ. स्यादवक्तव्य (शायद अवक्तव्य है) ङ. स्यादस्ति चावक्तव्य (शायद है और अवक्तव्य है) च. स्यान्नास्ति चावक्तव्य (शायद नहीं है और अवक्तव्य है) छ. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य (शायद है, नहीं है और अवक्तव्य है।)

काल के अतिरिक्त शेष चतुर्विध जड पदार्थ अस्तिकाय हैं। सत् और सावयव पदार्थ ही अस्तिकाय कहलाते हैं।[1] काल 'सत्' होने पर भी अस्तिकाय इसलिए नहीं क्योंकि वह निरवयव है। उत्पत्ति, क्रम और स्थिर स्वभाव वाले गुण ही 'सत्' हैं।[2]

जैन दर्शन का व्यावहारिक पक्ष

आस्तिक दर्शनों की भाँति जैन दर्शन का चरमोद्देश्य मोक्षप्राप्ति है। मोक्ष-प्राप्ति बिना त्याग और संन्यास के दुर्लभ है। इस हेतु 'तत्त्वार्थसूत्र' में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र ही मोक्ष-साधन के तीन रत्न या उद्देश्य बताए गए हैं।[3] 'जिन' अर्थात् इन्द्रियजयी ही जैन कहा जाता है।

दान, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और त्याग जैनधर्म के व्यावहारिक उद्देश्य हैं। कर्मों का नाश करने के बाद ही मोक्ष-प्राप्ति होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कर्मों की कई श्रेणियाँ हैं। ये चतुर्विध अंतराय कर्म ही जैन-दर्शन में 'घातीय कर्म' कहे गए हैं।

जैन और बौद्ध दर्शन की एकता

कर्मफलवाद और पुरोहितवाद के प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों का जो विरोध उपनिषद् ग्रन्थों में प्रकट हुआ था, उसका प्रभाव ई० पूर्व की छठी शताब्दी में एक आलोचनात्मक भावना के रूप में प्रकट हुआ। भारत में यह युग बौद्धिक मोर्चाबन्दी का युग था। वेदों और उपनिषदों की विचारधारा एक जैसे रूप में नहीं रही। उनके भीतर एक बृहद् मानस-मन की चिंताधाराएँ समन्वित थीं। ये धाराएँ कभी-कभी विरोधी भी रहीं। इन धाराओं में से जिसको जो रुची, उसने उसी को लेकर अपने सिद्धांतों का विकास कर डाला। इस प्रकार जैन, बौद्ध तथा अन्य दर्शन संप्रदायों का जन्म हुआ। लेकिन एक ही उद्गम से उत्पन्न होने के कारण, इन सभी धर्मों की,

---

१. जो अपने स्वभाव में स्थिर है और उत्पत्ति, व्यय तथा ध्रुवत्व से युक्त है, उस गुण-पर्याययुक्त पदार्थ को ही द्रव्य कहते हैं। मिट्टी द्रव्य है और घर उसका पर्याय। (प्रवचनसार २।४)

२. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। उमास्वस्नि : तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५।२९

३. तत्त्वार्थसूत्र : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः १।१

ब्राह्मणधर्म के साथ बराबर समानता बनी रही; और इन सभी धर्मों पर इस देश की जनता की रुचियों का प्रभाव भी पड़ता रहा, जो रुचियाँ कि ब्राह्मण-संस्कारों से ओतप्रोत थीं।[1]

यद्यपि उपनिषद् एक प्रकार से वेदविहित कर्मों के अनुकर्ता किन्तु ब्राह्मणग्रंथों की भोगवादी विचारधारा के कट्टर विरोधी, या दूसरे शब्दों में वेदोक्त धर्म के आलोचनाप्रधान ग्रंथ होने के कारण जैन-बौद्ध-दर्शन के अधिक निकट हैं; किन्तु वे वेद-निंदक न होकर उनके प्रबल समर्थक हैं। वस्तुतः जैन-बौद्धों ने जिस आलोचना-पद्धति और नास्तिकवाद को अपनाया था, उसके मूल हेतु आचार्य बृहस्पति और आचार्य चार्वाक के सिद्धांत थे।

किन्तु जैन और बौद्ध-धर्म के अधिष्ठाता महावीर स्वामी एवं बुद्धदेव ने जिस नास्तिकवाद को अपनाया वह, बृहस्पति तथा चार्वाक के सिद्धांतों से प्रसूत एवं उनका अविकल रूप न होकर उनका संस्कृत रूप था। बृहस्पति तथा चार्वाक के अहिंसावादी दृष्टिकोण तो इन दोनों महापुरुषों ने अपनाये; किन्तु उसके नितांत भोगवादी पक्ष से वे अछूते ही रहे; बल्कि अंत तक जैन-बौद्ध विचारधाराएँ उसके विरुद्धगामी ही रहीं।

'गीता' ऐसा पहिला ग्रन्थ है, जिसमें ज्ञानेच्छु आस्तिकों के विचारों का समर्थन और संदेहालु नास्तिकों के विचारों का विरोध दर्शित है। किन्तु इसके अतिरिक्त 'गीता' में एक तीसरी, सर्वथा नई बात कही गई है: कर्मकाण्ड एवं पुरोहितवाद के विरुद्ध। वैदिक यज्ञों के संबन्ध में यद्यपि गीताकार ने अपना स्पष्ट मंतव्य प्रकट नहीं किया है; फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञिक कर्तव्यों को उसने कोई मान्यता नहीं दी है। 'गीता' के इस अस्पष्ट मंतव्य का स्पष्टीकरण जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने किया। जैन और बौद्ध दर्शन की, इस संबन्ध में कुछ मौलिक मान्यताएँ भी हैं। जैन दर्शन में जहाँ आस्तिक दर्शन के व्यावहारिक पक्ष का ही खंडन किया गया है, बौद्ध दर्शन में वहाँ आस्तिकों के व्यावहारिक और तात्त्विक दोनों पक्षों का विरोध प्रकट किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनों दर्शनों को नास्तिक की श्रेणी में रखा गया है, यद्यपि दोनों दर्शन अपने-अपने को नास्तिक नहीं बतलाते हैं। नास्तिकवाद के प्रवर्तक बृहस्पति और चार्वाक प्रभृति आचार्यों ने अपने सैद्धांतिक

१. रामधारी सिंह दिनकर: संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १४८

विचारों की पुष्टि के लिए जिन तर्कों और मान्यताओं का प्रतिपादन किया है, ठीक उन्हीं का समर्थन एवं प्रवर्तन हम जैन-बौद्ध दर्शनों में नहीं पाते हैं। जैन-बौद्ध-दर्शनों के अनुसार नास्तिक वह है जो परलोकविरोधी एवं धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य से विमुख है। परलोकविश्वास, धर्माचरण और कर्तव्यनिष्ठा-संबन्धी बातों के लिए आस्तिक दर्शन भी अपना वही अभिमत प्रकट करते हैं, जो जैन-बौद्ध दर्शन।

जैन-बौद्ध दर्शनों को नास्तिक दर्शन की श्रेणी में रखने का एकमात्र कारण उनका वेदनिंदक होना है : नास्तिको वेदनिन्दकः–मनुस्मृति। आस्तिक दर्शन वेदवाक्यों को अन्तिम प्रमाण मानकर आगे बढ़ते हैं और जैन-बौद्ध दर्शन वेदों की सत्ता को बृहस्पति तथा चार्वाक के अनुसार कल्पित मानने के कारण नास्तिकों की श्रेणी में गिने जाने लगे; जो वस्तुतः आस्तिवादी विचारों के उतने ही विरोधी रहे हैं, जितने कि आस्तिकों के घोर जडवाद के। इस दृष्टि से जैन-बौद्ध दर्शन आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं के बीच के दर्शन हैं। जैन दर्शन में तो ब्राह्मण दर्शन की बहुत-कुछ बातों पर उसी दृष्टि से विचार किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनों दर्शन एक स्थिर चैतन्य की सत्ता पर विश्वास करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर बल देते हैं और वेदों की प्रामाणिकता दोनों को अस्वीकार है। व्यवहार या नीति के क्षेत्र में जैन-दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का साधन बताया गया है।[१] जैन-योग की समानता उपनिषद्, योगदर्शन और बौद्ध-योग से पूरी तरह घटित होती है। उसमें शून्यागारों में ध्यान करने का उपदेश,[२] हिंसा, असत्य और चोरी आदि से विरति[३], सत्य, अस्तेय, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावनाएँ[४], कर्मों का विभाजन एवं कर्मद्वारा मोक्षोपलब्धि की सभी बातें बौद्धदर्शन के सिद्धांतों से समानता रखती हैं। बौद्धों की मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा-संबन्धी विचार जैसे के तैसे जैन धर्म में भी विद्यमान हैं।[५]

---

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः……तत्त्वार्थसूत्र १।१

२. तत्त्वार्थसूत्र ७।६

३. वही, ७।७। ४. वही, ४।७। ५. वही, ७।११

जैन और बौद्ध दर्शन के इस विचार-साम्य को ही लक्ष्य करके डॉ० हरदयाल ने बौद्धधर्म पर जैनधर्म के ऋण को स्वीकार किया है और इस सम्बन्ध में विस्तार से प्रमाण भी दिए हैं।[1]

जैन-साहित्य

श्वेताम्बर संप्रदाय के अंगग्रंथ

स्थूलभद्र द्वारा पाटलिपुत्र में आयोजित विद्वत्परिषद् द्वारा संगृहीत एवं संपादित अंगग्रन्थों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में भद्रबाहु आदि आचार्यों ने अपनी असहमति प्रकट कर दी थी। अतः ४५४ ई० में भावनगर (गुजरात) के समीप वलभी नामक स्थान में देवधर्मा की अध्यक्षता में जैन मुनि-समाज ने एक दूसरी परिषद् का आयोजन किया। इस सभा में ३०० ई० पूर्व की परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों पर पुनर्विचार किया गया। बड़े वाद-विवाद के पश्चात् भी दोनों दलों में एकता न हो सकी।

इस सभा में श्वेताम्बर संप्रदाय के आचार्यों ने १२ आगमिक या अंगग्रंथों का संग्रह किया था। उनके नाम हैं : १ 'आचारांगसुत्त' (आचारांगसूत्र), २ 'सूयगडंग' (सूत्रकृतांग), ३ 'थाणंग' (स्थानांग), ४ 'समवायांग', ५ 'भगवतीसूत्र', ६ 'नायाधम्मकहाओ' (ज्ञाताधर्मकथा), ७ 'उवासगदसाओ' (उपासकदशा), ८ 'अंतगडदसाओ' (अंतकृद्दशा), ९ 'अणुत्तरोववाइयदसाओ' (अनुत्तरौपपादिकदशा), १० 'पण्हावागरणिआइं' (प्रश्नव्याकरणानि), ११ 'विवागसुयं' (विपाकश्रुतं) और १२ 'दिट्ठिवाय' (दृष्टिवाद)। इनमें से कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इन १२ अंगग्रंथों के उतने ही उपांगग्रन्थ भी हैं, जिनके नाम हैं : १ 'औपपातिक' २ 'राजप्रश्नीय' ३ 'जीवाभिगम' ४ 'प्रज्ञापणा' ५ 'सूर्यप्रज्ञप्ति' ६ 'जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति' ७ 'चंद्रप्रज्ञप्ति' ८ 'निर्यावलिका' ९ 'कल्पावतंसिका' १० 'पुप्पिका' ११ 'पुष्पचूलिका' और १२ 'वृष्णिदशा'।

प्रकीर्ण ग्रन्थ

श्वेताम्बर संप्रदाय के अंग-उपांग ग्रन्थों का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त भी श्वेताम्बरीयों के कुछ प्रकीर्ण ग्रन्थ हैं, जैन-साहित्य

१. दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ९५

के क्षेत्र में जिनका बड़ा महत्व है। ये प्रकीर्णग्रन्थ संख्या में १० हैं। उनके नाम हैं: १ 'चतुःशरण', २ 'आतुरप्रत्याख्यान', ३ 'भक्तिपरिज्ञा', ४ 'संस्तार', ५ 'ताण्डुलवैतालिक', ६ 'चंद्रवेध्यक', ७ 'देवेंद्रस्तव', ८ 'गणितविद्या', ९ 'महाप्रत्याख्यान' और १० 'वीरस्तव'।

इनके अतिरिक्त 'छेदसूत्र', 'मूलसूत्र' और 'चूलिकसूत्र' भी उनके ग्रन्थ हैं।

संपूर्ण जैन-साहित्य के क्षेत्र में श्वेतांबरीयों के उक्त ग्रन्थ बड़े आदर से स्मरण किए जाते हैं। श्वेताम्बरीयों की यह ग्रन्थसामग्री जैन-साहित्य की प्राचीनतम निधि है।

यापनीय संप्रदाय और उसका साहित्य

जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेतांबर, इन दो संप्रदायों से ही अधिकांश लोग परिचित हैं; किन्तु इनके अतिरिक्त जैनधर्म की अनेक उपशाखाएँ दिखाई देती हैं। यापनीय, जैनधर्म का एक तीसरा संप्रदाय है। उक्त दोनों संप्रदायों की भाँति यापनीय संप्रदाय का अस्तित्व भी बहुत प्राचीन है और उसकी परम्परा लगभग १६वीं शताब्दी तक बनी रही। इस यापनीय संप्रदाय को 'आपुलीय' या 'गोप्य' संघ भी कहते थे। कदम्ब, राष्ट्रकूट और दूसरे राजवंशों ने इस तीसरे धर्मसंघ के साधुओं को पर्याप्त दानादि देकर संमानित किया।[1]

यापनीय और दिगम्बर, दोनों संघों की कुछ मौलिक बातें एक जैसी हैं। उदाहरण के लिए यापनीय संघ की भी निर्वस्त्र प्रतिमायें होती थीं और उनका अधिकांश साहित्य दिगम्बरियों के साहित्य जैसा था। इससे अतिरिक्त यापनीय संघ के मुनिजन भी नग्न रहते थे। मोरका और पिच्छि धारण करते थे। यापनियों का पाणितलभोजी होना और नग्न मूर्तियों का पूजना आदि आचारसम्बन्धी बातें भी दिगम्बरियों से मिलती हैं।[2]

यापनीय संप्रदाय के साहित्य को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदाय के विद्वानों ने आदर से देखा। यापनीय संप्रदायों के विलुप्त हो जाने पर उनका सारा साहित्य श्वेताम्बरीय भण्डारों में चला गया।[3] यापनीय संघ के

१. प्राचीन लेखमाला, भाग १, पृ० ६८-७२
२. जैनहितैषी, भाग १३, अंक ५-६
३. देखिए: जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५६-७३

प्रमुख आचार्यों के नाम है : उमास्वाति, शिवाचार्य, शाकटायन, स्वयंभु, त्रिभुवन स्वयंभु और वादिराज।

उमास्वाति

आचार्य उमास्वाति का जैन-साहित्य के इतिहास में वही स्थान है जो बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में आचार्य वसुबंधु का। जैसे पालि त्रिपिटकों और दूसरे ग्रन्थों में बिखरे हुए बौद्ध तत्त्वज्ञान को वसुबंधु ने सँवार-सुधार कर अपने 'अभिधर्मकोश' में वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया और तदनंतर उस पर स्वयं ही भाष्य लिखा, ठीक उसी प्रकार उमास्वाति ने भी प्राकृत के आगम ग्रन्थों में अस्तव्यस्त जैन-तत्त्वज्ञान को अपने 'तत्त्वार्थाधिगम' ग्रन्थ में समेट कर एकरूप कर दिया और बाद में उस पर भाष्य भी लिख दिया। उमास्वाति पहिले विद्वान् हुए जिन्होंने जैन तत्त्वज्ञान को योग, वैशेषिक आदि दर्शन-पद्धतियों के अनुरूप वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया।

इन दोनों आचार्यों की एकता के कुछ और भी कारण हैं। उदाहरण के लिए, यद्यपि वसुबंधु से पहिले भी कुछ बौद्धाचार्य पालि का मोह छोड़ कर संस्कृत की ओर अग्रसर हो चुके थे, तथापि उनमें वसुबंधु ही पहिले आचार्य थे, जिन्होंने संस्कृत भाषा को अपनाकर बौद्धाचार्यों की संस्कृत-विरोधी भावनाओं को दूर किया। ठीक यही स्थिति जैन-साहित्य के क्षेत्र में भी थी। उमास्वाति से पूर्व का सारा जैन-साहित्य अर्ध-मागधी प्राकृत में था। उमास्वाति को ही सर्वप्रथम यह ज्ञान हुआ कि संस्कृत अंतरदेशीय विद्वत्समाज की भाषा का रूप प्राप्त कर चुकी है, और किसी भी भारतीय धर्म का साहित्य तभी पनप सकता है तथा प्रकाश में आ सकता है, जब कि उसका निर्माण संस्कृत में होगा। उमास्वाति का यह संस्कृतानुराग संभवतः ब्राह्मण होने के नाते भी रहा हो; किन्तु जैन-दर्शन में संस्कृत भाषा का पहिला विधान उन्हीं के द्वारा हुआ।

उमास्वाति के ग्रन्थ का नाम है 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र'। उस पर उन्होंने स्वयं ही भाष्य भी लिखा। जैन-साहित्य के क्षेत्र में यह ग्रन्थ इतना प्रभावकारी सिद्ध हुआ कि उस पर श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय दोनों संप्रदायों के विद्वानों ने एक साथ टीकाएँ लिखीं।

ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उमास्वाति, मुण्डपाद के प्रशिष्य और वाचकाचार्य के शिष्य थे। उनके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम

वास्सी था। न्यग्रोधिका में उनका जन्म हुआ और कुसुमपुर में भी छ्वे कु दिन रहे। उनका स्थितिकाल विक्रम की चौथी शताब्दी था।[1]

शिवाचार्य

यापनीय संघ के प्रसंग में शिवाचार्य और उनकी काव्यकृति 'आराधना' का उल्लेखनीय स्थान है। यह कृति शौरसेनी प्राकृत में है और उसमें २१७० गाथाएँ हैं। 'भगवती' इस गाथाकृति का विशेषण है, नाम नहीं। शिवाचार्य ने पुष्पिका में संकेत किया है कि पूर्वाचार्यों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने अपना यह ग्रंथ लिखा। शिवाचार्य, शाकटायन (९०० वि०) से पहिले हुए। शिवाचार्य सम्भवतः पांचवीं-छठी शताब्दी के आसपास हुए। उनकी इस कथाकृति पर ७वीं शती से लेकर १९वीं शती तक प्राकृत और संस्कृत में अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें लगभग नौ टीकाएँ संप्रति उपलब्ध हैं।

शाकटायन

जैन शाकटायन का वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था।[2] उन्हें यापनीय यतियों का अग्रणी कहा गया है।[3] उनसे पहिले इस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हो चुके हैं, जिनके नाम थे श्रीकीर्ति, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति, इन्दु, सिद्धनंदि और आर्य व्रज। अभयचंद के 'शाकटायन-प्रक्रिया-संग्रह', के संपादक श्री गुस्तव आपर्ट ने पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरण शाकटायन और जैन शाकटायन को एक ही व्यक्ति बताया था,[4] किन्तु इस सम्बन्ध में अब यह प्रमाणित हो चुका है कि प्रातिशाख्यों, 'निरुक्त' और 'अष्टाध्यायी' में जिन ऋषिस्थानीय शाकटायन का उल्लेख हुआ है, वे जैन शाकटायन से सर्वथा भिन्न थे।[5] इनका स्थितिकाल ७७१-८२४ वि० के बीच अनुमित है।[6]

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५४५ (अवशिष्ट)

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ० ४००

३. नंदिसूत्र-टीका, पृ० २३

४. शाकटायन प्रक्रिया संग्रह की भूमिका, १८९३ ई०

५. डॉ० श्रीपाद कृष्ण वेलवलकर : सिस्टम ऑफ संस्कृत ग्रामर, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १५५

६. वही, पृ० १६६

आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्ति की तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं 'शब्दानुशासन', 'अमोघवृत्ति' और 'सिद्ध-मुक्ति-केवलि-मुक्ति प्रकरण'। इनके 'शब्दानुशासन' पर लगभग सात टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं।

स्वयंभु

अपभ्रंश का जितना भी साहित्य अब तक उपलब्ध है, स्वयंभु, उसके पहिले कवि एवं आचार्य हैं। कुछ दिन पूर्व चतुर्मुख और स्वयंभु को एक ही व्यक्ति माना गया था[१]; किन्तु अब एतत्संबन्धी पुष्कल सामग्री के प्राप्त हो जाने पर यह प्रमाणित हो चुका है कि चतुर्मुख पूर्ववर्ती विद्वान् थे, जिनका उल्लेख स्वयंभु ने भी किया है।[२] चतुर्मुख की कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

स्वयंभु के 'छेदचूड़ामणि', 'विजयशेषित' और 'कविराज' आदि वीरुद बताते हैं कि एक काव्यकार होने के अतिरिक्त वे छन्दःशास्त्री और वैयाकरण भी थे। उनके पिता मारुतदेव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'गाथा-सप्तशती' के निर्माण में उनका भी हाथ रहा।[३] स्वयंभु यापनीय संप्रदाय के अनुयायी थे,[४] और रामकथा का प्रसाद उन्हें वर्धमान-इन्दुभूति-गणधर-सुधर्मास्वामी-रविषेण की परंपरा से प्राप्त हुआ।[५] उन्होंने अपने ग्रन्थों 'पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' को क्रमशः धनंजय और धवलइया के आश्रय में रहकर लिखा।

त्रिभुवन स्वयंभु

ये स्वयंभु के पुत्र और उनके सहलेखक भी थे। त्रिभुवन स्वयंभु को अपने पिता का काव्य, कुल और कविता का उद्धार करने वाला सुयोग्य पुत्र बताया गया है[६]। वे वैयाकरण और आगमों के ज्ञाता थे। दोनों पिता-पुत्र संभवतः दाक्षिणात्य थे और उनका स्थितिकाल ७३४-८४० वि० के बीच बैठता है।[७]

---

१. मधुसूदन मोदी : भारतीय विद्या, अंक २-३

२. नाथूराम प्रेमी, वही, वर्ष २, अंक १

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २९६ के फुटनोट २-३

४. महापुराण, पृ० ९

५. पउमचरिउ, संधि १, कड़वक २

६. वही २।३, ३।७, ४।९, ५।१०

७. जैन साहित्य और इतिहास पृ० १९९, २०९-२११

'पउमचरिउ' (पद्मचरित) या 'रामायण' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' (अरिष्ट-नेमिचरित) या 'हरिवंशपुराण' ये दोनों ग्रन्थ इन पिता-पुत्रों की संयुक्त कृतियाँ है। तीसरा ग्रंथ 'पंचमिचरिउ' (पंचमी कथा या नागकुमारचरित) भी इन्होंने लिखा था, जो उपलब्ध नहीं है। 'स्वयंभु-छंद' की भी एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध है।[1] स्वयंभुकृत व्याकरण का उल्लेख तो मिलता है; किन्तु वह उपलब्ध नहीं है।

वादिराज

इनका वास्तविक नाम विदित नहीं है। वादिराज, इनकी ख्यात या पदवी थी। मल्लिषेण-प्रशस्ति में इन्हें महान् वादी, विजेता और कवि आदि विशेषों से स्मरण किया गया है। सारे वैयाकरण, तार्किक और भव्यसहायों में उन्हें अग्रणी एवं धर्मकीर्ति, बृहस्पति, गौतम आति के तुल्य तथा उनका एकीभूत रूप माना गया है।[2]

वादिराज, श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसार के शिष्य और 'रूपसिद्धि' (शाकटायन-व्याकरण की टीका) के कर्ता दयापाल मुनि के सहपाठी विद्वान् थे। चालुक्यनरेश सिंहचक्रेश्वर जयसिंहदेव (श० सं० ९३८-९४५) की राजसभा के संमानित विद्वान् होने के कारण इन्हें १०वीं शक शताब्दी में रखा गया है।

इनकी पाँच कृतियाँ उपलब्ध हैं : १ 'पार्श्वनाथचरित', २ 'यशोधरचरित', ३ 'एकीभावस्तोत्र', ४ 'न्यायविनिश्चय-विवरण' और ५ 'प्रमाणनिर्णय'। इनके अतिरिक्त 'अध्यात्माष्टक' और 'त्रैलोक्यदीपिका' का रचयिता भी इन्हें ही बताया जाता है।

पंचस्तूपान्वय और उसका साहित्य

जैनधर्म के क्षेत्र में एक उप-संप्रदाय पंचस्तूपान्वय या सेनान्वय के नाम से भी कहा गया है। इस संघ का उद्देश्य जीर्ण स्तूपों का उद्धार करना था।

---

१. जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो० बम्बई, पृ० १८-५८ (१९३५); जर्नल ऑफ दि बम्बई यूनिवर्सिटी, जिल्द ५, नं० ३ (नवं० १९३६)

२. मल्लिषेण-प्रशस्ति, श्लोक ४०-४१; (यह प्रशस्ति श० सं० १०५०; ११८५ वि० में उत्कीर्ण की गई थी। देखिए—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २९१ के फुटनोट ३, ४)

इस सम्प्रदाय के अनुयायी मुनि-समाज के अतिरिक्त धनिक गृहस्थ भी रहे हैं जिन्होंने पर्याप्त धन देकर जीर्ण स्तूपों का उद्धार करवाया।

जैन-साहित्य के प्रसिद्ध आचार्य वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र पंचस्तू पान्वय संप्रदाय के प्रमुख विद्वान् हुए। इन तीनों आचार्यों ने ही इस स्वतंत्र संघ को जन्म दिया और उन्हीं के समय तक इस संघ का विशेष मान-महत्त्व बना रहा। यद्यपि इस संघ के अनुयायी लोकसेन, अमितगति वसुनंदि एवं श्रीभूषण आदि अनेक विद्वान् रहे और यद्यपि ऐसा विदित होता है कि मथुरा में अकबर के समय तक पंचस्तूपों का महत्व बना रहा किन्तु बहुत ही मंथर गति से।

वीरसेन

वीरसेन जैन-साहित्य के ख्यातिमान् विद्वान् हुए। उनमें अनेक विशेषताएं एकसाथ देखने को मिलती हैं। उन्होंने अपने को सिद्धांत, छन्द, ज्योतिष व्याकरण और प्रमाण प्रभृति अनेक शास्त्रों का ज्ञाता कहा है।[1] उनके सम्बन्ध में उनके शिष्य जिनसेन ने[2] तथा प्रशिष्य गुणभद्र ने[3] जो प्रशंसापूर्ण सूचनाएँ दी हैं, वे सभी उनके ऊँचे व्यक्तित्व के अनुरूप ही हैं। वे राष्ट्रकूट के राजा अमोघवर्ष प्रथम के समकालीन (८०० ई०) और संभवतः उसकी पंडित सभा के संमाननीय विद्वान् थे।

उन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें 'धवलाटीका' और 'जयधवलाटीका दो ही उपलब्ध हैं। उनका एक पहिला बृहद् ग्रन्थ प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित ७२ हजार श्लोक-परिमाण का है। दूसरा ग्रन्थ आचार्य गुणभद्र के 'कषायप्राभृत' पर ६० हजार श्लोक-परिमाण की एक टीका है, जिसके प्रारंभिक २० हजार श्लोकों की रचना वीरसेन ने की और अंतिम ४० हजार श्लोक, गुरु के निधन हो जाने पर जिनसेन ने लिखे।

जिनसेन

जिनसेन अपने गुरु के गुण-कर्मानुसार ऊँची प्रतिभा को लेकर आये 'जयधवला' की प्रशस्ति में दिए गए उनके आत्मसम्बन्धी परिचय से ज्ञात होता है कि बाल्यकाल से ही जिनसेन को बुद्धि, शांति और विनय के कारण

---

१. धवला ५ २. आदिपुराण, ५५, ५६ ३. जयधवला २१-२३

अपने आचार्यों का विशेष अनुग्रह प्राप्त हो गया था। वह दर्शनशास्त्र और आध्यात्मिक ज्ञान के पारंगत हो चुके थे।[1]

संयुक्त कृति 'जयधवला' के अतिरिक्त जिनसेन ने 'पार्श्वाभ्युदय' और 'आदिपुराण' की भी रचना की है। 'आदिपुराण' के अंतिम १६२० श्लोकों की रचना जिनसेन के देहान्त हो जाने के बाद उनके शिष्य गुणभद्र ने की।

गुणभद्र

गुणभद्र को भी ज्ञान की ऊँची बिरासत गुरु-परम्परा से उपलब्ध हुई थी। अपने गुरु के प्रति उनमें अथाह श्रद्धा थी। 'आदिपुराण' की समाप्ति पर अपने गुरु के प्रति प्रकट किए गए उनके हृदयोद्‌गार उनकी गुरुभक्ति और उनकी काव्यप्रतिभा के परिचायक हैं। उन्होंने 'उत्तरपुराण' और 'आत्मानुशासन' नामक दो ग्रन्थ और लिखे। उनका यह अंतिम ग्रन्थ भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' की शैली में है।[2] गुणभद्र के नाम से 'जिनदत्तचरित' नामक एक ग्रन्थ और भी उपलब्ध है।[3] कहा नहीं जा सकता कि यह इन्हीं का है या किसी दूसरे गुणभद्र का।

इस आचार्यत्रयी का स्थितिकाल

वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र, इन तीनों आचार्यों के समय गुजरात में राष्ट्रकूट वंश के जिन तीन राजाओं का शासन रहा उनके नाम और राज्यकाल का विवरण इस प्रकार था : जगतुंगदेव (लगभग ७१५–७३७ श० सं०), अमोघवर्ष (लगभग ७३५–७९८ श० सं०) और अकालवर्ष (लगभग ७९७-८३३ श० सं०)।

इस दृष्टि से तथा इन आचार्यों के ग्रन्थों में दिए गए समाप्तिकाल की परीक्षा करके श्री प्रेमीजी का कथन है कि वीरसेन का समय ६७०–७४५ श० सं०, जिनसेन का समय ६५८–७६५ श० सं० और गुणभद्र का जन्मसमय ७४० है ; किन्तु उनके निधनकाल की तिथि संदिग्ध है।[4] वीरसेन चित्रकूटपुर के रहने वाले थे और उन्होंने अपने दोनों ग्रन्थों की रचना वाटग्राम के जिन–

---

१. जयधवला, प्रशस्तिभाग, श्लोक २७–३४ २. विद्वद्रत्नमाला पृ० ७४–७७

३. माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला नं० ७ में प्रकाशित

४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १३९–१४२

मंदिर में रहकर की।[1] यह वाटग्राम गुजरात के राष्ट्रकूटों की प्रांतीय राजधानी थी।[2]

श्रावकधर्म और उसकी आचार्य-परम्परा

गृहस्थ-व्रती को श्रावक, उपासक, देशसंयमी, आगारी आदि अनेक नामों से कहा गया है। इस दृष्टि से यद्यपि ये सभी नाम पर्याय जैसे लगते हैं, फिर भी उनके अर्थों में कुछ मौलिक भेद है। श्रावक या उपासक जनों के आचार धर्म का प्रतिपादन करने वाले सूत्र, शास्त्र या ग्रन्थों को 'श्रावकाचार', 'उपासकाचार' या 'उपासनाध्ययन' कहा जाता है। जैनधर्म के द्वादशांगों में सातवां अंग श्रावकांग के नाम से कहा गया है, जिसके भीतर ग्यारह लाख, सत्तर हजार पदों में ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, उनके व्रतधारण की विधियों और उनके आचारसंबंधी विधानों का वर्णन है।

जैनधर्म में श्रावकाचार की आचार्य-परम्परा बहुत पुरातन है। वीर परिनिर्वाण के पांच-सौ-पैंसठ वर्ष तक श्रावक धर्म मौखिक रूप में अध्ययन-अध्यापन के क्रम से गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा अनुवर्तित होता रहा है। उसकी उपलब्ध आचार्य-परम्परा इससे भी बहुत बाद की है। इस उपलब्ध आचार्य-परम्परा का क्रम इस प्रकार है: आचार्य कुंदकुंद, स्वामी कार्तिकेय, आचार्य उमास्वाति, आचार्य यतिवृषभ, स्वामी समंतभद्र, आचार्य जिनसेन, आचार्य सोमदेव, आचार्य देवसेन, आचार्य अमितगति, आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य वसुनन्दि (गुरु नयनंदि) और पं० आशाधर।

आचार्य कुंदकुंद

दिगम्बर संप्रदाय की आचार्य-परम्परा में भगवद् भूतवली, पुष्पदंत और गुणधराचार्य के पश्चात् आचार्य कुंदकुंद का नाम आता है। इन्होंने अनेक पाहुड़ों की रचना की थी, जिनमें से 'चारित्रपाहुड' भी एक है। इसमें इन्होंने छह गाथाओं में संक्षिप्त रूप से श्रावक धर्म का वर्णन किया है।

कुंदकुंद जैनधर्म के प्राचीन आचार्यों में हुए। मल्लिषेण-प्रशस्ति में जिन पुरातन आचार्यों की नामावली दी गई है, उनमें कुंदकुंद आचार्य का नाम पहिले है। अमृतचन्द्र, कुंदकुंद के ग्रंथों का प्रमुख टीकाकार था।

---

१. इन्दुनदि : श्रुतावतार श्लोक १६७–१७९

२. जैन साहित्य और इतिहास पृ० १६–१५४

स्वामी कार्तिकेय

इस परम्परा में आचार्य कुंदकुंद के बाद स्वामी कार्तिकेय का स्थान है। उन्होंने 'उत्प्रेक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें श्रावक धर्म का विस्तार से वर्णन है। स्वामी कार्तिकेय की प्रतिपादन-शैली सर्वथा स्वतन्त्र है। दिगम्बर संप्रदाय में श्रावक धर्म का व्यवस्थित निरूपण करने वाले आचार्यों में स्वामी कार्तिकेय का प्रथम स्थान है।

स्वामी कार्तिकेय जैनधर्म के पुरातन आचार्यों में से थे। हरिषेण का 'कथाकोश' दिगम्बरीयों का सर्वोच्च ग्रन्थ माना जाता है। सारे जैन-साहित्य के उपलब्ध कथाकोशों में वह सब से प्राचीन है। उसमें कुल मिलाकर १९७ गाथाएँ हैं। इनमें से कुछ गाथाएँ प्राचीन महापुरुषों की जीवनी से संबद्ध हैं, जिनमें एक कथा स्वामी कार्तिकेय की भी है। यह ग्रन्थ १०वीं श० वि० का है। स्वामी कार्तिकेय की 'अनुपेक्षा' पर १७वीं श० में ज्ञानभूषण के प्रशिष्य एवं सुमतिकीर्ति के शिष्य लक्ष्मीचन्द्र ने एक टीका लिखी थी।

आचार्य उमास्वाति

आचार्य उमास्वाति के कृतित्व पर यापनीय संप्रदाय के प्रसंग में यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। उनके 'तत्त्वार्थसूत्र' में श्रावकधर्म का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

स्वामी समंतभद्र

स्वामी समंतभद्र का 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थ श्रावकाचार का बहुत ही ख्यातिलब्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ 'कार्तिकेयानुपेक्षा', 'तत्त्वार्थसूत्र', 'पाहुड' और 'षड्खण्डागम', इन चार पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर आधारित है; किन्तु उसकी बहुत सी बातें सर्वथा मौलिक भी हैं। इस ग्रन्थ में धर्म की परिभाषा, सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप, आठ अंगों एवं तीन मूढताओं के लक्षण, मदों के निराकरण का उपदेश, सम्यग् दर्शन, ज्ञानचरित्र का लक्षण, अनुयोगों का स्वरूप, सयुक्तिकचरित्र की आवश्यकता और श्रावक के बारह व्रतों तथा ग्यारह प्रतिमाओं का ऐसा विशद, सर्वांगपूर्ण विवेचन दूसरे ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता है।[1]

---

१. हीरालाल जैन : वसुनंदि श्रावकाचार (हिन्दी भाषानुवाद) पृ० ४५-४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२

स्वामी समंतभद्र, 'पार्श्वनाथचरित' (समाप्त १०८२ वि०) के कर्ता वादिराजसूरि से पहिले हुए।[1] 'रत्नकरण्ड' के अतिरिक्त उन्होंने 'आप्तमीमांसा', 'स्वयम्भुस्तोत्र', 'युक्त्यनुशासन' आदि ग्रन्थों की भी रचना की है।[2]

आचार्य जिनसेन

आचार्य जिनसेन का उल्लेख पंचस्तूपान्वय संप्रदाय की आचार्यत्रयी में यथास्थान कर दिया गया है। उनका 'आदिपुराण' श्रावकाचार का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। जिनसेन ने ही ब्राह्मणों की उत्पत्ति का आश्रय लेकर दीक्षान्वय आदि क्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया है और उन्होंने ही सर्वप्रथम पक्ष, चर्या तथा साधनरूप से श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है, जिसको कि प्रायः सभी परवर्ती श्रावकाचार के अनुयायी आचार्यों ने अपनाया है।[3] जिनसेन ने ही सर्वप्रथम व्यसनों के त्याग का वर्णन किया है।

आचार्य सोमदेव

आचार्य सोमदेव ने अपने ग्रन्थ 'यशस्तिलकचम्पू' के छठे, सातवें और आठवें आश्वास में श्रावकधर्म पर विस्तार से प्रकाश डाला है, और इसी हेतु उन्होंने उक्त आश्वासों का नाम 'उपासकाध्ययन' रखा है। इन अध्यायों पर समंतभद्र के 'रत्नकरण्ड' का प्रभाव है।[4]

सोमदेव का व्यक्तित्व जैन साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी आदर से याद किया जाता है। वे एक समन्वयवादी विचारधारा के उदारचेता विद्वान् थे। व्याकरण, कला, छंद, अलंकार और समयागम (अर्हत्, जैमिनि, कपिल, चार्वाक, कणाद तथा बुद्ध) आदि शास्त्रों पर उनकी समानरूप से श्रद्धा थी; और उनकी कृतियों के अध्ययन से यह भी झलकता है कि उक्त विषयों या शास्त्रों पर उनका अधिकार भी था।

सोमदेव के गुरु नेमिदेव, दादागुरु यशोदेव और सहोदर महेन्द्रदेव सभी दिग्विजयी ख्याति के विद्वान् हुए। सोमदेव स्वयं भी अद्भुत तार्किक, निपुण राजनीतिज्ञ और सिद्धहस्त कवि थे। ज्ञान की यह विरासत, उन्हें अपने वंश तथा गुरु-परंपरा से उपलब्ध हुई थी।[5]

---

१. प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५५८   २. वही पृ० ५५४

३. हीरालाल जैन : वसुनंदि श्रावकाचार (हिन्दीभाषानुवाद) पृ० ४७

४. जैन : वसुनंदि श्रावकाचार, पृ० ४८

५. यशस्तिलकचंपू, प्रस्तावना श्लोक २० तथा उसकी श्रुतसागरी टीका

'यशस्तिलकचम्पू' की पुष्पिका में लिखा है कि चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ (१०१६ वि० सं०) में श्रीकृष्णराजदेव पांड्य के सामंत एवं चालुक्यवंशीय अरिकेशरी के प्रथम पुत्र वद्दिगराज की राजधानी गंगधारा में सोमदेव ने अपने इस ग्रंथ को समाप्त किया। राष्ट्रकूट के अमोघवर्ष के तीसरे पुत्र कृष्णराजदेव (जिनका दूसरा नाम अकालवर्ष भी था) का राज्यकाल ८६७ से ८९४ शक संवत् तक रहा। 'यशस्तिलकचम्पू' से पूर्व उनका 'वाक्यामृत' रचा जा चुका था।[1] इस दृष्टि से सोमदेव का स्थितिकाल उक्त शक संवत् के पूर्वार्ध में होना चाहिए।

सोमदेव के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं : 'नीतिवाक्यामृत',[2] 'यशस्तिलकचंपू'[3] और 'अध्यात्मतरंगिणी'।[4] इसके अतिरिक्त चार ग्रंथ इनके नाम से और बताये जाते हैं : 'युक्तिचिंतामणिस्तव', 'त्रिवर्ग-महेंद्र-मातलिसंजल्प', 'षण्णवती प्रकरण' और 'स्याद्वादोपनिषद्'। ये अप्राप्य हैं।

आचार्य देवसेन

आचार्य देवसेन ने अपने प्राकृत ग्रन्थ 'भावसंग्रह' में श्रावक धर्म का विवेचन किया है। इन्होंने भी सोमदेव की ही भाँति पाँच उदुम्बर, मद्य, मांस और मधु के त्याग को आठ मूल गुण माना है।[5] परन्तु उन्होंने गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नाम कुन्दकुन्द के ही अनुसार दिये हैं।[6] आचार्य कुंदकुन्द के मतानुसार पूजा और दान ही श्रावक का मुख्य कर्तव्य बताया गया है, जब कि आचार्य देवसेन पुण्य का उपार्जन करना ही श्रावक का धर्म मानते हैं।[7]

आचार्य वसुनंदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ विवाद है। कुछ विद्वानों के मत से 'भावसंग्रह' के रचयिता, विमलसेनगणि के शिष्य देवसेन 'लघुनयनक्र' के रचयिता देवसेन के भिन्न थे और उन्होंने उक्त ग्रंथ के अतिरिक्त 'सुलोयणाचरिउ' (सुलोचनाचरित) नामक एक अपभ्रंश ग्रंथ भी लिखा;[8] किन्तु इन दो देवसेन व्यक्तियों के सम्बन्ध में जब तक

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १८४, १९०, १९५
२. माणिकचद ग्रंथमाला में प्रकाशित
३. काव्यमाला; बंबई से प्रकाशित
४. माणिकचद ग्रन्थमाला में प्रकाशित
५. भावसंग्रह, गाथा ३५६
६. वही, गाथा ३५४-३५५
७. वसुनंदि : श्रावकाचार, पृ० ५२
८. अनेकांत, वर्ष ७ अंक ११-१२

प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती तब तक उन्हें दो मानना उचित नहीं जान पड़ता है।

देवसेन तथा पद्मनंदि, कुन्दकुन्द अन्वय के थे। उनका स्थितिकाल दशवीं शताब्दी विक्रमी के लगभग था, क्योंकि 'दर्शनसार' की पुष्पिका में उन्होंने लिखा है कि धारा नगरी में निवास करते हुए पार्श्वनाथ के मंदिर में मार्ग सुदी १०, वि० सं० ९९० को उन्होंने अपना उक्त ग्रन्थ समाप्त किया।[१] 'आराधनासार' और 'तत्त्वसार' भी उन्होंने ही लिखे।

आचार्य अमितगति

आचार्य अमितगति ने श्रावक धर्म पर एक पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम है 'उपासकाचार' (अमितगतिशावकाचार)। इसके १४ परिच्छेदों में श्रावकधर्म पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में समंतभद्र, उमास्वाति, जिनसेन, सोमदेव और देवसेन प्रभृति पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के श्रावकधर्म सम्बन्धी सिद्धांतों का परीक्षण और स्वतंत्र रूप से विचार दिए गए हैं।

अमितगति बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् थे। जैनधर्म के अतिरिक्त संस्कृत के क्षेत्र में भी उनका ऊँचा स्थान माना जाता है। एक काष्ठा नामक स्थान (दिल्ली के उत्तर में कहीं यमुना के तट पर) के नाम से 'काष्ठासंघ' का नामकरण हुआ था। इस संघ की प्रतिष्ठा जिनसेन के सतीर्थ्य, वीरसेन के शिष्य कुमारसेन ने वि० सं० ७५३ में की थी और उसके डेढ़-दो-सौ वर्ष बाद ९५३ वि० सं० में माथुरों के गुरु रामसेन ने काष्ठासंघ की एक शाखा के रूप में मथुरा में माथुर संघ का निर्माण किया था।[२] अमितगति इसी माथुर संघ के अनुयायी थे। अमितगति की गुरु-परंपरा वीरसेन-देवसेन-अमितगति-(प्रथम)-नेमिषेण-माधवसेन-अमितगति, और शिष्यपरंपरा शांतिषेण-अमरसेन-श्रीषेण-चंद्रकीर्ति-अमरकीर्ति, इस प्रकार रही है।[३]

अमितगति, मालव के परमारवंशीय धारानरेश मुंज और सिंधुल के समकालीन थे। मुंज का दूसरा नाम वाक्पतिराज था, जो स्वयं भी विद्वान् एवं विद्वानों का आदर करनेवाला था। 'प्रद्युम्नचरित' का कर्ता महासेन,

---

१. दर्शनसार, श्लोक ४९-५०   २. जैनहितैषी, वर्ष १३, अंक ५-६, पृ० २६२-७५
३. हीरालाल जैन : सिद्धांतभास्कर, भाग २ अंक ३

'तिलकमंजरी' का कर्ता धनपाल, 'नवसाहसांकचरित' का कर्ता पद्मगुप्त, 'दशरूपावलोक-टीका' का कर्ता धनिक, 'पिंगलछंदसूत्र' का टीकाकार हलायुध और अमितगति, इन्हीं वाक्पतिराज के आश्रित विद्वान् थे। १०५०-१०५४ के बीच वे युद्ध में दिवंगत हुए। मुंज के अनुज और भोज के पिता सिंधुल हुए, जिनका उपनाम नवसाहसांक था और जिनकी आज्ञा से पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' की रचना की थी। वे भी १०५४-१०६६ वि० के बीच मारे गए। अतः अमितगति का स्थितिकाल ११वीं श० वि० का पूर्वार्ध बैठता है।

अमितगति की रचनाओं के नाम हैं : 'सुभाषितरत्नसंदोह', 'धर्मपरीक्षा', 'पंचसंग्रह', 'उपासकाचार', 'आराधना', 'सामयिकपाठ', 'भावनाद्वात्रिंशतिका' और 'योगसार प्राभृत'। कुछ सूचीग्रन्थों में अमितगति के नाम से 'जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति', 'चंद्रप्रज्ञप्ति', 'सार्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति', इन चार पुस्तकों का और उल्लेख मिलता है; किन्तु वे संप्रति उपलब्ध नहीं हैं।

आचार्य अमृतचंद्र

आचार्य कुंदकुंद के प्रसंग में आचार्य अमृतचंद्र का संकेत किया जा चुका है। अपने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रन्थ में उन्होंने सम्यक्चारित्र्य की व्याख्या करते हुए उपासक को हिंसादि पापों से विरत रहने का उपदेश दिया है। अहिंसा का ऐसा अपूर्व वर्णन दूसरे ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

आचार्य अमृतचंद्र ने अपने बारे में कुछ भी नहीं कहा है। आशाधर ने उनको दो-एक स्थान पर 'ठक्कुर' कह कर स्मरण किया है।[1] ठक्कुर, ठाकुर का ही वाचक शब्द है। जागीरदारों और ओहदेदारों को ठक्कुर या ठाकुर कहा जाता है, चाहे वे किसी भी जाति या वर्ण के हों। गहडवालों के दानपत्रों में यह अधिकार, उपाधि, प्रदेश आदि का सूचक शब्द है।[2] जयसेन के 'धर्मरत्नाकर' (र-का० १०१५ वि०) में अमृतचंद्र के 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रन्थ के ५९ श्लोक उद्धृत हुए हैं। ये जयसेन परमार राजा मुंज (१०५०-१०१४ वि०) के समकालीन थे।[3] अतएव अमृतचंद्र विक्रम की ११वीं शताब्दी

---

१. भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका, पृ० १६०, ५८८
२. एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द १९, पृ० ३५३
३. परमानंद शास्त्री : अनेकांत, वर्ष ८ अंक ४-५

के पूर्वार्द्ध में रखे जाने चाहिए। अमृतचंद्र ने पांच ग्रंथ लिखे, जो संस्कृत में हैं : 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय', 'तत्त्वार्थसार', 'समयसार', 'आत्मख्याति', 'प्रवचनसारटीका' और 'पंचास्तिकायटीका'।

आचार्य वसुनंदि

आचार्य वसुनंदि के श्रावकधर्म के प्रतिनिधिग्रन्थ का हिन्दी संस्करण पं० हीरालाल जैन ने 'वसुनंदिश्रावकाचार' के नाम से तैयार किया है।[1] इस ग्रंथ पर तथा ग्रन्थकार पर जैन महोदय ने भूमिका में विस्तार से विचार किया है। इस ग्रन्थ की विशेषताओं के बारे में उनका कहना है कि 'आचार्य वसुनंदि के सामने यद्यपि अनेक श्रावकाचार विद्यमान थे, तथापि उनके द्वारा वह बुराई दूर नहीं होती थी, जो कि तात्कालिक समाज एवं राष्ट्र में प्रवेश कर गई थी। दूसरे, जिन शुभ प्रवृत्तियों की उस समय अत्यंत आवश्यकता थी, उनका भी प्रचार या उपदेश उन श्रावकाचारों से नहीं होता था। इन्हीं दोनों प्रधान कारणों से उन्हें स्वतंत्र ग्रन्थ के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई।'[2]

वसुनंदि नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं।[3] ये वसुनंदि आशाधर के पूर्व और अमितगति से पहिले १२वीं शताब्दी वि०[4] में या १२ वीं श० वि० के पूर्वार्द्ध में हुए[5]। वसुनंदि के नाम से प्रकाश में आने वाली रचनाओं के नाम हैं : 'आप्तमीमांसावृत्ति', 'जिनशतकटीका', 'मूलाचारवृत्ति', 'प्रतिष्ठासार-संग्रह' और 'उपासकाध्ययन'। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये सभी ग्रंथ एक ही वसुनंदि के थे।

आचार्य आशाधर

इस परंपरा के ये अंतिम विद्वान् हुए। इनका ग्रंथ 'सागरधर्मामृत' सचमुच ही श्रावकाचाररूप समुद्र का मंथन करके निकले हुए अमृत के समान, अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करता है। सप्तव्यसनों के अतीचारों का

१. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से अप्रैल १९५२ में प्रकाशित

२. वसुनंदि : श्रावकाचार, पृ० २७

३. वही, पृ० १८ तथा जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३०२

४. डॉ० आदित्यनाथ उपाध्ये : जैन जगत, वर्ष ८, अंक ७; जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३०३

५. वसुनंदि : श्रावकाचार, पृ० १८

वर्णन, श्रावक की दिनचर्या और साधक की समाधिव्यवस्था पर इतनी सुन्दर सामग्री प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ इससे पूर्व नहीं लिखा गया था।

पण्डित आशाधर बहुश्रुत और बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हुए। काव्य, अलंकार, व्याकरण, कोश, दर्शन, धर्म और वैद्यक आदि अनेक विषयों पर उन्होंने ग्रंथ लिखे। वे धर्म के बड़े उदार थे। यद्यपि वे गृहस्थ थे, तथापि बड़े-बड़े मुनियों और महात्माओं ने उनका शिष्यत्व लेने में गौरव समझा। अर्जुनवर्मदेव के राजगुरु 'पारिजातमंजरी' के रचयिता मदन कवि ने इनसे काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था। इनका स्थितिकाल १३वीं श० वि० के उत्तरार्ध में निश्चित है।

आशाधर ने विभिन्न विषयों पर लगभग १९ ग्रन्थ लिखे जिनकी नामावली प्रेमीजी के इतिहासग्रंथ के अनुसार इस प्रकार है : १, 'प्रमेयरत्नाकर' (अप्राप्य), २ 'भरतेश्वराभ्युदय काव्य' (सटीक), ३ 'ज्ञानदीपिका'; ४ 'राजमती विप्रलंभ' (अप्राप्य), ५ 'अध्यात्मरहस्य', ६ 'मूलाराधनाटीका', ७ 'इष्टोपदेशटीका', ८ 'भूपालचतुर्विंशतिकाटीका', ९ 'आराधनासारटीका' (अप्राप्य), १० 'अमरकोशटीका' (अप्राप्य), ११ 'क्रियाकलाप', १२ 'काव्यालंकारटीका' (अप्राप्य), १३ 'सहस्रनामस्तवन' (सटीक), १४ 'जिनयज्ञकल्प' (सटीक), १५ 'त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र' (सटीक), १६ 'नित्यमहोद्योत', १७ 'रत्नत्रयविधान', १८ 'अष्टांगहृदयटीका' (अप्राप्य) और १९ 'धर्मामृत' (सटीक)।

जैन-साहित्य का बहुमुखी विकास

जैन-साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसी प्रकार जैनधर्म के संप्रदायभेद भी अनेक हैं। जैन-साहित्य का अध्ययन संप्रदाय-परंपरा की अपेक्षा ऐतिहासिक क्रम से करना अधिक सुगम प्रतीत होता है। संप्रदायों का आग्रह और सैद्धांतिक प्रतिस्पर्धा का जो दृष्टिकोण हमें बौद्धधर्म में दिखाई देता है, वह जैनधर्म में नहीं है। जैन-साहित्य के निर्माता विद्वानों या आचार्यों का दृष्टिकोण, किसी सैद्धांतिक धारा को लेकर चलने की अपेक्षा, सामान्यतया साहित्य की सर्वाङ्गीण अभिवृद्धि के लिए था। किसी एक विषय या किसी एक मत के प्रतिपादन की दृष्टि से जैन-साहित्य के क्षेत्र में विरले ही विद्वान् दिखाई देते हैं। अधिकतर जैन-साहित्यकारों ने एक साथ अनेक विषयों पर लिखा है।

सिद्धांत या संप्रदाय की दृष्टि से कुछ विद्वानों या आचार्यों का जो परिचय दिया जा चुका है वह गौण दृष्टिकोण है। इसलिए उनकी कृतियों का

अध्ययन करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे एक ही विषय, एक ही दृष्टिकोण अथवा एक ही सिद्धांत से संबद्ध न होकर अलग-अलग विषयों से संबंध रखती हैं। यहां हम श्रद्धेय नाथूराम जी के इतिहासग्रंथ के आधार पर जैन-साहित्यकारों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

यतिवृषभ और सिंहसूरि

कालक्रम की दृष्टि से ये दोनों जैनाचार्य बहुर दूरी पर हैं; किन्तु विषय की दृष्टि से उनकी बहुत समानता है। भट्टारक सिंहसूरि का 'लोकविभाग' और यतिश्रेष्ठ यतिवृषभ का 'तिलोयपण्णत्ति', दोनों ग्रन्थ करणानुयोग[1] (गणितानुयोग) से संबंधित हैं।

जिनप्रवर यतिवृषभ का उल्लेख 'श्रुतावतार', 'जयधवला-टीका' और 'धवला टीका' आदि अनेक ग्रंथों में मिलता है।[2] 'श्रुतावतार' के उक्त प्रसंग से यतिवृषभकृत छह-हजार श्लोकपरिमाण के एक 'चूर्णिसूत्र' नामक ग्रंथ का भी पता चलता है। प्रेमी जी ने अनेक ग्रन्थों और अनेक विद्वानों के मतों का परीक्षण करके यह निष्कर्ष दिया है कि प्राकृत 'लोकविभाग' के लेखक सर्वनंदि के ५० वर्ष बाद शक सं० ४०० (वि० सं० ५३५) में 'तिलोयपण्णत्ति' का रचनाकाल और ५३५-६६६ वि० सं० के बीच यतिवृषभ का स्थिति-काल था।[3]

दिगम्बर संप्रदाय के गाथा-ग्रन्थों में 'तिलोयपण्णत्ति' पहिला उपलब्ध ग्रंथ है। यह प्राकृत में है, और संप्रति उपलब्ध उसके संस्करण में अनेक प्रक्षिप्तांश जुड़ गए हैं, ऐसा विद्वानों का अभिमत है।[4]

प्रेमीजी ने, सिंहसूरि के संबंध में उपलब्ध पुष्कल सामग्री के आधार पर यह पता लगाया है कि वे 'ऋषि' और 'भट्टारक' कहे जाते थे। उनका संक्षिप्त नाम सिंहसूरि एवं अपरनाम सिंहनंदि या सिंहकीर्ति था और वे श्रुतसागर के समकालीन विक्रम की १६ वीं श० में हुए।[5]

---

१. करणानुयोगविषयक ग्रन्थ एक प्रकार से भू-गोल और ख-गोल विद्या के ग्रंथ हैं। इसमें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, मध्यलोक, चारों गतियों और युग-परिवर्तन आदि का वर्णन है। जैनधर्म के श्वेतांबर और दिगंबर, दोनों संप्रदायों में इस विषय के सैकड़ों ग्रंथ हैं।

२. श्रुतावतार, श्लोक १५५, १५६; जयधवला टीका, श्लोक ८; धवला, अ० ३०२

३. जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० ९-१०

४. उसके प्रक्षिप्तांशों के लिए देखिए—वही, पृ० ११-२० ५. वही, पृ० ३-६

संस्कृत का जो 'लोकविभाग' ग्रन्थ उपलब्ध है, मूलतः वह प्राकृत में था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। उस अनुपलब्ध ग्रन्थ का यह संक्षिप्त व्याख्यान है।[1] साथ ही हमें यह भी ज्ञात होता है की प्राकृत ग्रन्थ के लेखक का नाम मुनि सर्वनंदि था, और पांडय राष्ट्र के पाटलिक ग्राम में इस ग्रन्थ का आरम्भ करके[2] कांचीनरेश सिंहवर्मा के २२वें संवत्सर (३८० शक) में उसको समाप्त किया गया था।[3]

देवनंदि

आचार्य देवनंदि को संक्षिप्त 'देव' नाम से भी स्मरण किया गया है।[4] किन्तु १३वीं १४वीं शताब्दी के शिलालेखों में उन्हें जिनेंद्रबुद्धि और पूज्यपाद भी कहा गया है।[5] पाणिनि-व्याकरण की 'काशिकावृत्ति' पर 'न्यास' नामक टीका का लेखक बौद्ध जिनेंद्रबुद्धि, जैन देवनंदि से भिन्न था।[6] जैन देवनंदि संमंतभद्र के समय छठी शताब्दी में हुआ।[7] देवनंदिकृत अनेक ग्रन्थों के उद्धरण दूसरे परवर्ती ग्रन्थों में पाये जाते हैं; किन्तु उनके केवल छह ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं: 'जैनेन्द्रव्याकरण', 'सर्वार्थसिद्धि', 'समाधितंत्र', 'इष्टोपदेश', 'दशभक्ति' और 'सिद्धिप्रियस्तोत्र'।

डॉ० कीलहार्न ने कुछ दिन पूर्व यह सूचना दी थी कि इन्द्र के शब्द-लक्षण-विषयक प्रश्नों के उत्तर में जिनदेव भगवान् महावीर ने आठ वर्ष की अवस्था में जिस व्याकरण का प्रवचन किया था, कालांतर में वही व्याकरण उनके नाम 'जैनेंद्रव्याकरण' से प्रचलित हुआ।[8] किन्तु डॉ० कीलहार्न के इस दृष्टिकोण के मूल में संभवतः व्याकरण का कोई जाली ग्रंथ था। जिनसेन का व्याकरण अपना अलग ही स्थान रखता है। हेमचंद ने उसको ही 'ऐंद्र' नाम दिया है,[9] 'ऋक्तंत्र' भी जिसका समर्थन करता है।[10] जिनदेव के वास्तविक ग्रंथ का नाम 'ऐंद्र' ही था, और पीछे चलकर उसको 'जैनेंद्र'

---

१. लोकविभाग, श्लोक १ २. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २, फुटनोट ५

३. लोकविभाग, श्लोक ३

४. जिनसेन : अग्निपुराण पर्व, १ श्लोक ५२; वादिराज : पार्श्वनाथचरित सर्ग १, श्लोक ८

५. श्रवण बेलगोल शिलालेख स० ४०, २, ३, ४; मंगराज कवि का शिलालेख, श्लोक १५-१७

६. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २६

७. वही, पृ० ४१-४६

८. इंडियन एण्टीकेरी, भाग १०, पृ० २५१

९. हेमचंद्र : योगशास्त्र १।५६-५८

१०. ऋक्तंत्र १-४

नाम दिया गया।[1] भारतीय, चीनी और तिब्बतीय साहित्य में बिखरे हुए ऐंद्रव्याकरणविषयक सूचनाओं को समेट कर डा० एस० पी० वर्नेल ने 'ऑन दि ऐंद्र स्कूल ऑफ संस्कृत ग्रामेरियन्स' नाम से एक उत्तम पुस्तक का निर्माण किया है।

विमलसूरि और रविषेण

इन दोनों विद्वानों की समकक्षता भी उनके कृतित्व के कारण ही है। विमलसूरि के ग्रन्थ का नाम 'पउमचरिय'[2] और रविषेण के ग्रन्थ का नाम 'पद्मचरित'[3] है। पहिले ग्रन्थ की रचना महावीर के निर्वाण-संवत् ५३० (६० वि०) में और दूसरे ग्रंथ की रचना म० नि० सं० १२०३ (७३३ वि०) के लगभग मानी जाती है। विमलसूरि द्वारा पुष्पिका में अपने ग्रन्थ का रचनाकाल दिए जाने के बावजूद भी डॉ० एच० जैकोबी ने उसको चौथी श० ई० में रखा।[4]; और इसी प्रकार डॉ० कीथ[5] तथा डॉ० वुलनर[6] ने भी उसका रचनाकाल तीसरी या चौथी शताब्दी स्वीकार किया। किन्तु बाद में इस भूल का परिष्कार डॉ० विंटरनित्स, डॉ० लायमन और श्री प्रेमीजी ने किया।

जिस प्रकार 'पउमचरिय' प्राकृत जैन-कथा-साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है, इसी प्रकार 'पद्मचरित' भी संस्कृत के जैन-कथा-साहित्य का पहिला ग्रंथ है। 'पद्मचरित' या 'पद्मपुराण' का हिन्दी अनुवाद उत्तर भारत के प्रत्येक जैन परिवार में प्रचलित है, किन्तु उसके प्राकृत संस्करण का कोई प्रामाणिक सुगम अनुवाद न होने के कारण उसका उतना प्रचलन नहीं है। संस्कृत 'पद्मचरित' प्राकृत 'पउमचरिय' का छायानुवाद होते हुए भी दोनों ग्रन्थों के कलेवर में पर्याप्त न्यूनाधिक्य है।

धनंजय

महाकवि धनंजय के संबंध में केवल इतना ज्ञात होता है कि उनकी

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २३–२४

२. जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर से प्रकाशित

३. माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बंबई से प्रकाशित

४. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन ऐंड एथिक्स, भाग ७, पृ० ४३७; माडर्न रिव्यू, दिस० १९५४

५. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर ६. इंट्रोडक्शन टु प्राकृत

माता का नाम श्रीदेवी, पिता का नाम वसुदेव और गुरु का नाम दशरथ था। इनका स्थितिकाल विक्रम की आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर नवम शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक निश्चित किया गया है।[1]

इनके महाकाव्य ग्रन्थ का नाम 'राघवपाण्डवीय' है। द्विसंधान पद्धति पर लिखा हुआ यह संभवतः पहिला महाकाव्य है। दूसरा नेमिचन्द्र की 'पदकौमुदी', कवि देवर की 'राघवपाण्डवीयप्रकाशिका' और बदरीनाथकृत 'संक्षिप्त टिप्पण' तीन टीकाएँ हैं। धनंजय के दो ग्रन्थ और उपलब्ध हैं: 'धनंजयनिघंटु' या 'नाममाला' और 'विषोपहारस्तोत्र'।[2]

जिनसेन

जिनसेन पुन्नाट संप्रदाय की आचार्य-परंपरा में से हुए। पुन्नाट, कर्नाटक का ही पुराना नाम है, जिसको हरिषेण ने दक्षिणापथ नाम दिया है।[3] ये जिनसेन आदि पुराण के कर्ता, श्रावकधर्म के अनुयायी एवं पंचस्तूपान्वय के जिनसेन से भिन्न थे। ये कीर्तिषेण के शिष्य और जिनसेन के प्रशिष्य थे।

जिनसेन का 'हरिवंश' इतिहासप्रधान चरितकाव्य श्रेणी का ग्रंथ है। इस ग्रन्थ की रचना वर्धमानपुर (धार) में हुई थी।[4] इसका रचनाकाल लगभग नवम शताब्दी विक्रमी के मध्य में बैठता है। दिगम्बरीय संप्रदाय के संस्कृत कथा-ग्रंथों में इसका तीसरा स्थान है। पहिला रविषेण का 'पद्मचरित', दूसरा जटासिंह का 'वारांगचरित' और तीसरा 'पद्मपुराण' (हरिवंश पुराण)।

हरिषेण

पुन्नाट संघ के अनुयायियों में एक दूसरे आचार्य हरिषेण हुए। इनकी गुरु-परंपरा : मौनी भट्टारक-श्रीहरिषेण-भरतसेन-हरिषेण, इस प्रकार बैठती है। अपने 'कथाकोश' की रचना इन्होंने वर्धमानपुर या बदवाण (धार) में विनायकपाल राजा के राज्यकाल में की थी। विनायकपाल प्रतिहारवंश का राजा था, जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इसका एक ९८८ वि० का दान-पत्र मिला है।[5] इसके एक वर्ष बाद अर्थात् ९८९ वि० (८५३ श० सं०) में

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १११-११२

२. विस्तार के लिए जैन हितैषी भाग १२, अङ्क १, पृ० ८७-९०

३. कथाकोश, भद्रबाहुकथा ४२ ४. डॉ० हीरालाल : इंडियन कल्चर, अप्रेल १९४५

५. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास, जिल्द १, पृ० १६३

'कथाकोश' की रचना हुई ।[1] हरिषेण का 'कथाकोश' साढ़े बारह हजार श्लोक परिमाण का बृहद् ग्रन्थ है ।[2]

मल्लवादि

मल्लवादि श्वेताम्बर संप्रदाय के विख्यात तार्किक हुए। इन्होंने 'नयचक्र' नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका अपर नाम 'द्वादशार नयचक्र' था। ये विक्रम की आठवीं शताब्दी से भी पहिले हुए, क्योंकि विक्रम की आठवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय ने मल्लवादि के उक्त ग्रन्थ का पुनरुद्धार किया था, यद्यपि वह भी संप्रति उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ को, मुनि जम्बूविजय ने पुनः संकलित कर उसकी एक सिंहक्षमाश्रमण-कृत टीका के साथ प्रकाशित कर दिया है ।[3]

पुष्पदंत

पुष्पदंत की गणना अपभ्रंश भाषा के सिद्धहस्त कवियों में की जाती है। उनकी कविता में भाव और शिल्प दोनों का समन्वय है। उनकी कविताएँ गेयात्मक भी हैं। उनके 'नागकुमारचरित' की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम केशवभट्ट और उनकी माता का नाम मुग्धादेवी था। उनके पिता शैव से जैन हुए। 'सिद्धांतशेखर' नामक ज्योतिषग्रन्थ के रचयिता श्रीपतिभट्ट के पितामह और पुष्पदंत के पिता को प्रेमी जी ने एक ही व्यक्ति माना है। इस दृष्टि से श्रीपतिभट्ट, पुष्पदंत के भतीजे सिद्ध होते हैं और इसी आधार पर पुष्पदंत को बरारनिवासी तथा विदर्भ (बरार) की भाषा व्राचट अपभ्रंश का कवि माना है ।[4]

पुष्पदंत का एक नाम 'खंड' भी था। 'महिम्नस्तोत्र' के कर्ता पुष्पदंत से जैन कवि पुष्पदंत भिन्न एवं पूर्ववर्ती थे। उनका स्थितिकाल ७५९ श० सं० (८९४ वि०) के बाद और श० सं० ९०९ (१०४४ वि०) के बीच था ।[5] उनके रचे तीन ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं : 'तिसट्ठिमहापुरि-

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृ० २२०-२२२

२. विस्तार के लिए देखिए—डॉ० ए० एन० उपाध्ये : कथाकोश की भूमिका (सिंघी जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित)

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १६८, १६९ तथा १६९ का फुटनोट २

४. वही, पृ० २३०-२३१   ५. वही, पृ० २४६-२५५

सगुणालंकारु' (त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालंकार), 'णायकुमारचरिउ' (नागकुमारचरित) और 'असहरचरिउ' (यशोधरचरित) । तीनों प्रकाशित हैं ।

तीन धनपाल

पहिला धनपाल अपभ्रंश भाषा का प्राचीन कवि था। उसका एक ग्रन्थ उपलब्ध है जिसका नाम है 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा)। विद्वानों की दृष्टि से इस ग्रन्थ में अपभ्रंश का वह रूप दर्शित है, जो बोलचाल के रूप में था। इस धनपाल को ईसा की दसवीं शताब्दी का कवि माना गया है।[1]

ये धनपाल दिगम्बर संप्रदाय के विद्वान् थे। इनके उक्त ग्रंथ के आरंभिक अंश को देखकर पता चलता है कि धक्कड़ नामक वणिक्‌वंश में उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम मायेसर और माता का नाम धनश्री था।

दूसरे धनपाल फर्रुखाबाद जिले के सांकाश्य नामक स्थान में पैदा हुए थे। काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण देवर्षि उनके पितामह और सर्वदेव उनके पिता थे। वाक्पतिराज मुञ्ज की विद्वत्सभा के ये प्रमुख रत्न थे और मुंज द्वारा ही इन्हें 'सरस्वती' की उपाधि मिली थी। संस्कृत और प्राकृत, दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। ये श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुयायी थे और इस संप्रदाय में इन्हें इनके भाई ने दीक्षित किया था। मुंज के सभासद होने के कारण इनका स्थितिकाल ११वीं श० में निश्चित है।

इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनके नाम हैं : 'पाइअलच्छी नाममाला' (प्राकृत कोश) 'तिलकमंजरी' और अपने छोटे भाई शोभनमुनिकृत स्तोत्रग्रंथ पर एक संस्कृत टीका। इनके अतिरिक्त 'ऋषभपंचाशिका' (प्राकृत), 'महाबीरस्तुति', 'सत्यपुरीय' और 'महावीर-उत्साह' (अपभ्रंश) भी इनकी कृतियाँ हैं।[2]

तीसरे धनपाल का परिचय उन्हीं के ग्रन्थ के अंत में दिया गया है, जिसका निष्कर्ष है कि वे अणहिल्लपुर के पल्लीवाल कुल में पैदा हुए थे। उस कुल में एक बहुशास्त्रज्ञ एवं 'नेमिचरित' महाकाव्य के रचयिता रामन

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०८

२. इनमें पहिली और तीसरी कृतियाँ जैनसाहित्यसंशोधक, वर्ष ३, अङ्क ३ में प्रकाशित हो चुकी हैं

नामक कवि हुए। उनके चार पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े लड़के अनन्तपाल ने 'पारीगणित' की रचना की; दूसरे धनपाल, तीसरे रत्नपाल और चौथे गुणपाल हुए। धनपाल दिगम्बर थे।[1]

धनपाल के ग्रन्थ का नाम 'तिलकमंजरीकथासार' है, जिसमें १२०० से अधिक श्लोक हैं। यह ग्रन्थ धनपाल की गद्यकृति पर आधारित है; फिर भी उसके कलेवर को देखकर उसकी मौलिकता असंदिग्ध है।

पद्मनंदि

आचार्य पद्मनंदि ने अपने संबंध में प्रायः कुछ नहीं कहा है। उनके गुरु वलनंदि और प्रगुरु वीरनंदि हुए। विजयगुरु और नंदगुरु के निकट रहकर ही उन्होंने अध्ययन किया। अपना ग्रन्थ 'जम्बूदीवपण्णत्ति' (जम्बूदीप-प्रज्ञप्ति) उन्होंने बारनगर में लिखा। उस समय वहाँ शक्ति या शक्तिकुमार राज्य करता था। नंदिसंघ की पट्टावली के अनुसार बारा में भट्टारकों की एक गद्दी थी। ये भट्टारक पद्मनंदि या माघनंदि की परम्परा में हुए।[2] राजस्थान के कोटाराज्य में जो बारा नामक कसबा था, वही बारानगर कहा जाता था।[3] पद्मनंदि ने अपने ग्रन्थ की रचना 'तिलकोसार' (१०५० वि०) के पश्चात बारानगर के तत्कालीन राजा शक्तिकुमार के समय ग्यारहवीं श० वि० के अंत में की थी।

दिगम्बर संप्रदाय के करणानुयोग विषय के प्राचीनतम ग्रन्थों 'लोकविभाग' और 'तिलोपपण्णत्ति' का उल्लेख किया जा चुका है। माथुर संघ के विद्वान् अमितगति ने भी 'जम्बूदीपप्रज्ञप्ति' नाम से एक ग्रंथ लिखा था, जो उपलब्ध नहीं है। पद्मनंदि का 'जम्बूदीवपण्णति' दिगम्बर संप्रदाय का गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है।

चामुण्डाराय

चामुण्डाराय महामात्य, सेनापति और विद्वान्, सब एक साथ थे। दाक्षिणात्य गंगवंश के राजा राचमल्ल (८९६–९०६ श० सं०; १०३१–१०४१ वि०) के वे सेनापति एवं महामात्य थे। 'गोम्मट' तथा 'अण्ण' उनके घरेलू

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४१०–४११
२. जैनसिद्धान्तभास्कर, किरण ४; इंडियन एण्टीक्वेरी, जिल्द २०
३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २५९

नाम और देव तथा राय साहित्यिक नाम थे। वे ब्रह्म-क्षत्रिय-वैश्य कुल में हुए। इस विचित्र वंश का इतिहास अज्ञात है।

चामुण्डराय ने नन्दगिरी के ऊपर गोम्मटजिन तथा दक्षिण-कुक्कुटजिन की दो मूर्तियाँ स्थापित की थीं और इस कारण उनका नाम वर्षों तक बना रहा।[1] उनका स्थितिकाल ग्यारहवीं श० वि० का पूर्वार्द्ध था।

चामुण्डाराय ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें से कुछ का केवल नाम ही जाना जाता है। उनके ग्रन्थों के नाम हैं : 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराण' (चामुण्डा-रायपुराण), 'वीरमत्तण्डी-टीका', (गोम्मटसार पर) और 'चरित्रसार'।

श्रीचंद्र और प्रभाचंद्र

ये दोनों ग्रन्थकार समकालीन, एकस्थानीय और पुष्पदंत के अपभ्रंश ग्रन्थ 'महापुराण' के टिप्पण-लेखक होने के कारण पहिले एक ही व्यक्ति माने गए थे।[2] किन्तु प्रेमी जी ने प्रामाणिक खोजों के आधार पर दोनों को अलग-अलग व्यक्ति सिद्ध किया है।[3]

श्रीचन्द्र वलात्कारगण के श्रीनन्दि नामक सत्कवि के शिष्य और धारा-नगरी के निवासी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना १०८०–१०८७ वि० सं० के बीच की। उन्होंने रविषेण के 'पद्मचरित' पर टिप्पण, 'पुराणसार' और पुष्पदंत के 'महापुराण' पर टिप्पण आदि ग्रन्थ लिखे।

प्रभाचन्द्र अद्भुत प्रतिभा के विद्वान् हुए। वे परमारवंशीय राजा भोजदेव के उत्तराधिकारी धारानरेश जयसिंहदेव के समय हुए। श्रीचन्द्र भी इसी समय हुए। दोनों का स्थितिकाल ग्यारहवीं श० के उत्तरार्ध में बैठता है।

प्रभाचन्द्र ने कई ग्रन्थ लिखे हैं : 'महापुराण-टिप्पण', 'रत्नकरण्ड-टीका', 'क्रियाकलाप-टीका', 'समाधितंत्र-टीका', 'आत्मानुशासन-तिलक', 'द्रव्यसंग्रह-पंजिका', 'प्रवचन-सरोज-भास्कर', 'सर्वार्थसिद्ध-टिप्पण' (तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण) आदि उनके टीकाग्रन्थ हैं। 'आराधनाकथाकोश' उनका गद्यग्रन्थ है। 'प्रमेयकल्प-मार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचंद्र' नामक न्यायविषयक ग्रंथों के रचयिता भी यही

---

१. आदिनाथ उपाध्ये : अनेकांत, वर्ष ४, अङ्क ३–४
२. डॉ० पी० एल० वैद्य : महापुराण की भूमिका
३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २८९–२९०

थे।[१] उनके नाम से 'अष्टपाहुड़-पंजिका', 'पंचास्तिकाय-टीका', 'मूलचार-टीका', और 'आराधना-टीका' आदि ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है, जो उपलब्ध नहीं हैं।

हरिचन्द्र

हरिचन्द्र कायस्थ-कुल में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्यादेवी था। ये किसी राजकुल से सम्बद्ध थे। अपने भाई लक्ष्मण की कृपा से हरिचन्द्र उसी प्रकार निर्व्याकुल होकर शास्त्र-समुद्र से पार हो गया, जैसे लक्ष्मण की सहायता से राम सेतु-पार हुए थे। उनका स्थितिकाल ११वीं शताब्दी के लगभग था।

गद्यकार बाण ने जिस भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है, उससे जैन हरिचन्द्र पृथक् हुआ। विद्वानों का कहना है कि वे भट्टार हरिचन्द्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के सम्बन्धी, 'चरक' के टीकाकार और 'खरनाद-संहिता' के कर्ता थे। लेकिन जैन हरिचन्द्र के जीवन में कोई भी ऐसी घटना नहीं दिखाई देती है। जैन कवि हरिचन्द्र ने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक महाकाव्य लिखा।[२] इस ग्रन्थ पर ललितकीर्ति के शिष्य के शिष्य यशःकीर्ति की एक संस्कृत टीका 'संदेहध्वांतदीपिका' भी मिलती है।

'जीवनधरचंपू' नामक एक ग्रन्थ हरिचन्द्र के नाम से प्रकाशित हुआ है; जिसमें 'धर्मशर्माभ्युदय' के भाव और शब्द ज्यों-के-त्यों हैं; किन्तु इस ग्रंथ को विद्वान् हरिचन्द्र के नाम से किसी अज्ञातनाम दूसरे कवि का लिखा हुआ बतलाते हैं।[३] 'धर्मशर्माभ्युदय' के कर्ता का नाम हरिश्चन्द्र न होकर हरिचन्द्र था।[४]

मल्लिषेण

आचार्य मल्लिषेण संस्कृत और प्राकृत के उभयभाषाविद् विद्वान् थे। उनके संबंध में कहा गया है कि संस्कृत या प्राकृत का कोई भी ऐसा कवि नहीं था, जिसको उन्होंने अपने कवित्व की चुनौती न दी हो। वे अजितसेन की शिष्यपरम्परा में हुए। उस परम्परा का क्रम था : अजितसेन-कनकसेन-

१. महेन्द्रकुमार : न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका

२. महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसादजी द्वारा संपादित एवं काव्यमाला में प्रकाशित

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३०३ का फुटनोट १ ४. वही पृ० ५६६

जिनसेन और मल्लिषेण। मल्लिषेण ने अपने ग्रन्थ 'महापुराण' की समाप्ति ज्येष्ठ सुदी ५, श० सं० ९६९ (११०४ वि०) में की थी। अतः इनका स्थितिकाल ग्यारहवीं श० वि० के उत्तरार्ध में होना चाहिए।

इनके छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जो संस्कृत में हैं: 'महापुराण', 'नागकुमारकाव्य', 'भैरवपद्मावतीकल्प', 'सरस्वतीमंत्र-कल्प', 'ज्वालिनीकल्प' और 'कामचाण्डाली-कल्प'। इनके अतिरिक्त भी कुछ ग्रन्थ मिलते हैं; किन्तु उनके संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वे इन्हीं मल्लिषेण के हैं।

वादीभसिंह

वादीभसिंह इनकी ख्यात थी, जिसका अर्थ है वादिरूपी हाथियों के लिए सिंह के समान। यह पदवी कई विद्वानों की थी। 'मल्लिषेणप्रशस्ति'[1] और जिनसेन के 'आदिपुराण'[2] में भी अनेक 'वादीभसिंह' उपाधिधारी विद्वानों का उल्लेख मिलता है। उनका वास्तविक नाम ओडयदेव था। सन् १९१६ में स्वर्गीय पं० टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने 'मल्लिषेणप्रशस्ति' के लेखक अजितसेन और 'गद्यचिंतामणि' के लेखक वादीभसिंह को एक ही व्यक्ति बताया था।[3] उनके बाद के भुजबली शास्त्री ने भी उनका प्रबल समर्थन किया।[4] किन्तु श्री नाथूराम प्रेमी ने अपने ग्रंथ में बताया है कि ओडयदेव और अजितसेन में 'वादीभसिंह' पद की समानता होने के अतिरिक्त कोई भी सबल प्रमाण दोनों व्यक्तियों के एक होने के संबन्ध में नहीं मिलते हैं।[5] ओडयदेव वादीभसिंह दाक्षिणात्य थे; संभवतः तेलगु प्रांत के गंजाम जिला के निवासी। इनका स्थितिकाल ११वीं श० वि० के प्रारम्भ भाग में रखा गया है।[6]

इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं: 'गद्यचिंतामणि' और 'क्षेत्रचूडामणि'। पहिला गद्यग्रन्थ वाण की 'कादम्बरी' तथा धनपाल की 'तिलकमंजरी' से प्रभावित और दूसरा पद्यग्रन्थ हितोपदेश-पंचतंत्र की कथाओं से अनुप्राणित है। पहिला प्रौढोपयोगी और दूसरा कुमारोपयोगी है।

---

१. मल्लिषेणप्रशस्ति, श्लोक ५७
२. आदि पुराण की प्रशस्ति
३. गद्यचिंतामणि की भूमिका
४. जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग ६, अङ्क २; भाग ७, अङ्क १
५. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२२
६. वही, पृ० ३२५

वाग्भट

इस नाम के चार विद्वानों का प्रेमी जी ने उल्लेख किया :

१. अष्टांगहृदय के कर्ता : आयुर्वेद के इतिहास में प्रसिद्ध विद्वान् वाग्भट सिंधुदेशीय थे। उनके पिता का नाम सिंहगुप्त था। कुछ लोगों के मतानुसार वे जैन थे; किन्तु इस संबंध में कोई प्रमाण नहीं है। इतना अवश्य प्रमाणित है कि वे बौद्ध थे।[1]

२. नेमिनिर्वाण के कर्ता : 'नेमिनिर्वाण' की पुष्पिका से विदित होता है कि उसके कर्ता वाग्भट प्राग्वाट या पोखाडवंशीय छाहड़ (बाहड़) के पुत्र थे और अहिच्छत्रपुर (वर्तमान नागौद) में पैदा हुए थे।[2] 'वाग्भटालंकार' में 'नेमिनिर्वाण' काव्य के अनेक उद्धरण हैं। 'वाग्भटालंकार' की रचना ११७९ वि० में हुई थी। इसलिए 'नेमिनिर्वाण' काव्य के रचयिता वाग्भट का समय उससे पहिले होना चाहिए। इस काव्यग्रंथ पर भट्टारक ज्ञानभूषण की एक 'पंजिका' टीका उपलब्ध है।

३. वाग्भटालंकार के कर्त्ता : ये सोमश्रेष्ठी के पुत्र और महाकवि के अतिरिक्त महामात्य भी थे। ये अणहिल्लपाटण नगर के राजा जयसिंह के समकालीन तथा संभवतः उसके महामात्य भी थे। जयसिंह का राज्यकाल ११५०-११९९ वि० निश्चित है।[3] ये श्वेताम्बर संप्रदाय के थे। वाग्भट नाम के एक दूसरे जैन जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के महामात्य हुए; किन्तु उनके पिता का नाम उदयन था।[4]

४. काव्यानुशासन के कर्ता : इनके पिता नेमिकुमार बड़े विद्वान्, धर्मात्मा और परोपकारी थे। ये राहड़पुर या नलोटकपुर (मेवाड़) के निवासी थे। ये वाग्भट उच्चकोटि के कवि थे। इन्होंने नाटक और छन्द पर भी ग्रन्थ लिखे; किन्तु वे आज उपलब्ध नहीं हैं। संभवतः ये दिगंबर थे।

शुभचंद्र

इनके संबंध में अधिक सूचनाएँ नहीं मिलती हैं। कुछ बाह्य प्रमाणों के

---

१. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २, पृ० ३२९

२. जैनहितैषी, भाग ११, अङ्क ७-८; भाग १५, अङ्क ३-४;

३. दुर्गाशंकर शास्त्री : गुजरातनो मध्यकालीन राजपूत इतिहास, पृ० २२५

४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२९ का फुटनोट १

आधार पर प्रेमीजी ने इनका स्थितिकाल विक्रम की ११वीं-१२वीं शताब्दी के बीच रखा है।[1] इनका एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसकी पुष्पिका में उसके दो नाम 'ध्यानशास्त्र' और 'ज्ञानार्णव' दिए गए हैं। किन्तु उसकी प्रसिद्धि 'ज्ञानार्णव' नाम से ही है।

विक्रम

इनके ग्रन्थ की पुष्पिका में इनके पिता का नाम सांगण लिखा हुआ है। १३५२ वि० के एक शिलालेख[2] से प्रतीत होता है कि सांगण हुंकारवंश (हूँवड़) और जयता सिंहपुरवंश (नरसिंहपुरा) के थे। संभवतः यही सांगण विक्रम के पिता थे और यद्यपि विक्रम ने अपने संप्रदाय के संबंध में कुछ भी नहीं कहा है; तथापि उक्त शिलालेख के आधार पर सांगण दिगम्बर संप्रदाय के प्रतीत होते हैं।[3]

विक्रम कवि का लिखा हुआ 'नेमिचरित' नामक खण्डकाव्य 'नेमिदूत' के नाम से काव्यमाला के द्वितीय गुच्छक में प्रकाशित हो चुका है। दूतकाव्य की अपेक्षा यह चरितकाव्य श्रेणी का ग्रन्थ है।

हस्तिमल्ल

जैन साहित्य के क्षेत्र में हस्तिमल्ल का अनोखा व्यक्तित्व दृश्यकाव्यों के प्रणयन में प्रकट हुआ। इनके पिता का नाम गोविंदभट्ट था। अनेक साधु और मुनि शिष्यों के होते हुए भी हस्तिमल्ल गृहस्थ थे। हस्तिमल्ल का पुत्र पार्श्व अपने पिता की ही भाँति पण्डित, यशस्वी, धर्मात्मा और अनेक शास्त्रों का ज्ञाता था।

हस्तिमल्ल का वास्तविक नाम अविदित है; यह उपनाम उन्हें एक उन्मत्त हाथी को वश में करने के कारण पांड्यराजा द्वारा दिया गया था। इन्हीं पांड्यराजा के ये आश्रित कवि थे। इनका स्थितिकाल १३४७ वि० (१२९० ई०) निश्चित किया गया है।[4]

---

१. वही, पृ० ३३२-३४१
२. मुनि जिनविजय द्वारा संपादित : प्राचीन जैनलेखसंग्रह, शिलालेख ४४९
३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६१
४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६८-३६९

इनके लिखे चार नाटक उपलब्ध हैं, जो माणिकचंद जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। उनके नाम हैं: 'विक्रांत कौरव', 'मैथिलीकल्याण', 'अंजनापवनंजय' और 'सुभद्रा'। इनके अतिरिक्त 'उदयनराज', 'भरतराज', 'अर्जुनराज' और 'मेघेश्वर' नामक चार नाटकों का रचनाकार भी इन्हें ही माना जाता है, जिनमें 'अर्जुनचरित' का नाम ही 'सुभद्रा' है। ये चारों नाटक आफ्रेक्ट के सूचीग्रन्थ में, दक्षिण भारत की ग्रन्थसूचियों के आधार पर लिखे गए हैं।[1] इनके नाम से 'प्रतिष्ठातिलक' और कन्नडी भाषा के दो ग्रन्थ 'आदिपुराण' (पुरुषचरित) तथा 'श्रीपुराण' भी उपलब्ध हैं।[2]

श्रुतसागर

श्रुतसागर बहुश्रुत और बहुशास्त्रज्ञ विद्वान् हुए। उनकी अनेक उपाधियाँ उनकी विद्वत्ता का परिचय देती हैं। उनकी गुरुपरंपरा इस प्रकार है: पद्मनंदि-देवेंद्रकीर्ति-विद्यानंदि-श्रुतसागर। श्रुतसागर के शिष्य श्रीचंद्र हुए, जिनकी लिखी 'वैराग्यमणिमाला' उपलब्ध है। श्रुतसागर का स्थितिकाल १६ श० वि० था।[3]

श्रुतसागर के प्रमुख ग्रन्थों के नाम हैं: 'यशस्तिलक चंद्रिका', 'तत्त्वार्थवृत्ति', 'औदार्यचिंतामणि', 'तत्त्वमयप्रकाशिका', 'जिनसहस्रनामटीका', 'महाभिषेकटीका' और 'षट्प्राकृतटीका'।

जिनचंद्र

जिनचंद्र नाम के अनेक विद्वानों का परिचय मिलता है। एक जिनचन्द्र 'पांडवपुराण' के कर्ता, एक जिनचन्द्र 'सुखबोधिका' के टीकाकार हुए, किन्तु ये जिनचन्द्र उनसे भिन्न थे। इन्होंने ७९ गाथाओं का एक 'सिद्धांतसार' ग्रंथ लिखा था, जो कि माणिकचन्द ग्रन्थमाला में पूरा प्रकाशित हो चुका है।

ज्ञानभूषण

मूलसंघान्वयी भट्टारक ज्ञानभूषण की गुरु-परम्परा का क्रम है: पद्मनंदि-

---

१. आफ्रेक्ट : कैटेलोगस कैटेलोगरम (१८९१ लिपजिक)

२. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३६९–३७० ३. वही, पृ० ३७५

सकलकीर्ति-भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण। इसी परम्परा में आगे विजयकीर्ति-शुभचन्द्र-सुमतिकीर्ति-गुणकीर्ति-वादिभूषण-रामकीर्ति और यशकीर्ति हुए। इसी क्रम से इन्हें गद्दी का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ।[1] ज्ञानभूषण गुजरात के निवासी और सागवाड़े (बागड़) की गद्दी के भट्टारक थे। अनेक राजाओं ने उनके चरण पूजे और अनेक तीर्थस्थानों का उन्होंने पर्यटन किया। व्याकरण, छंद, अलंकार, तर्क, आगम और अध्यात्म आदि कई विषयों के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। ज्ञानभूषण १५३४-१५५६ वि० तक भट्टारक पद पर बने रहे और इस पद को छोड़ने के बाद भी बहुत समय तक जीवित रहे।[2] १५६० वि० में उन्होंने 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' लिखी।

उनके दो ग्रन्थ : 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' और 'सिद्धांतसारभाष्य' प्रकाशित हो चुके हैं। 'परमार्थोपदेश' नामक एक तीसरा ग्रन्थ भी उनका उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त 'नेमिनिर्वाणपंजिका', 'पंचास्तिकायटीका', 'दशलक्षणोद्यापन', 'आदीश्वरफाग', 'भक्तामरोद्यापन' और 'सरस्वतीपूजा' नामक ग्रन्थ भी ज्ञानभूषण के नाम से मिले हैं; किन्तु उनमें से कितने ग्रन्थ इनके हैं, यह विचारणीय है।

शुभचंद्र

ज्ञानभूषण की शिष्य-परंपरा में शुभचन्द्र का उल्लेख किया जा चुका है। ये भी अपने प्रगुरु की भाँति अद्भुत विचारक, विख्यात विद्वान्, प्रबल तार्किक, अनेक धर्मों के ज्ञाता, पर्यटक और अनेक राजाओं द्वारा पूजित थे। अपना 'पाण्डवपुराण' उन्होंने १६०८ वि० में, 'करकुण्डचरित' १६११ वि० में और 'स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा-टीका' १६१३ वि० में समाप्त किया। अतः उनका स्थितिकाल १५वीं श० वि० के उत्तरार्ध और १६वीं श० वि० के पूर्वार्ध में होना चाहिए।

उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। 'पुराणचरित' की प्रशस्ति में उनके लिखे हुए लगभग २५-२६ ग्रंथों का उल्लेख है, जिनकी नामावली इस प्रकार है : 'चन्द्रप्रभचरित','पद्मनाभचरित','जीवनधरचरित', 'चन्दनाकथा', 'नंदीश्वरकथा', 'नित्यमहोद्योत-टीका', 'त्रिंशच्चतुर्विंशति-पूजापाठ', 'सिद्धचक्रव्रतपूजा', 'सरस्वती-पूजा','चिंतामणियंत्रपूजा','कर्मदहनविधान','गणधवलयपूजा', 'पार्श्वनाथपंजिका', 'पल्यव्रतोद्यापन', 'चतुस्त्रिंशदधिकद्वादशशतोद्यापन' (१२३४ व्रतों का उद्यापन),

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, प्रथम किरण, पृ० ४५-४६

२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३८२-३८३ तथा फुटनोट

'संशयिवदनविदारण' (श्वेताम्बरमतखण्डन), 'अपशब्दखण्डन', 'तत्त्वनिर्णय', 'स्वरूपसंबोधनवृत्ति', 'अध्यात्मपद्यटीका', 'सर्वतोभद्र', 'चिंतामणि' (प्राकृत व्याकरण),'अंगपण्णत्ति' (प्राकृत), 'अनेकस्तोत्र', 'षड्वाद' और 'पाण्डवपुराण'।

वादिचंद्र

ये मूलसंघ के अनुयायी भट्टारक थे। गुजरात में कहीं इनकी गद्दी थी। इनकी गुरु-परंपरा इस प्रकार है : विद्यानन्दि-मल्लिभूषण-लक्ष्मीचन्द्र-वीरचन्द्र-प्रभाचन्द्र और वादिचन्द्र। कमलसागर और कीर्तिसागर संभवतः इन्हीं के शिष्य थे।[1] संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती, चारों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। इनके 'ज्ञानसूर्योदय' (१६४८ वि०), 'श्रीपाल-आख्यान' (१६५१ वि०), 'यशोधरचरित' (१६५७ वि०) और 'सुलोचना-चरित' (१६६१ वि०) आदि ग्रन्थों के रचनाकाल से विदित होता है कि ये १७ वीं श० वि० के मध्य में हुए।

इनके रचे हुए उपलब्ध-ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है : 'पार्श्वपुराण' (संस्कृत का कथाकाव्य), 'ज्ञानसूर्योदय'[2] (संस्कृत का नाटक), 'पवनदूत'[3] (मेघदूत की शैली पर लिखा हुआ दूतकाव्य), 'श्रीपाल-आख्यान' (गीतिकाव्य : गुजराती-मिश्रित हिन्दी) और 'सुलोचनाचरित' (संस्कृत का काव्य)। इनके अतिरिक्त 'पाण्डवपुराण', 'होलिकाचरित', 'अम्बिकाकथा' और दूसरे भी अनेक गुजराती में लिखे हुए ग्रंथ इनके मिले हैं।[4]

श्रीभूषण

सोजित्रा (गुजरात) में काष्ठासंघ के अंतिम भट्टारक राजकीर्ति से १९०१ ई० में श्री प्रेमीजी ने श्रीभूषणकृत 'प्रतिबोधचिंतामणि' नामक एक संस्कृत की पुस्तक को प्राप्त किया था, जिसके आधार पर उन्होंने श्रीभूषण के संबंध में नया प्रकाश डाला।[5]

---

१. वही, पृ० ३८६ २. श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा हिन्दी में अनुवादित एवं जैन-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई से १९०९ ई० में प्रकाशित

३. निर्णयसागर प्रेस की काव्यमाला के १३वें गुच्छक में प्रकाशित तथा पं० उदय-लाल जी काशलीवाल का हिन्दी संस्करण, जैन-साहित्य-प्रसारक कार्यालय से प्रकाशित

४. अगरचन्द नाहटा : अनेकांत १३, ३-४

५. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३९१

तदनुसार श्रीभूषण काष्ठासंघ के भट्टारक थे। उनकी गुरु-परम्परा का क्रम : रामसेन-नेमिषेण-धर्मसेन-विमलसेन-विशालकीर्ति-विश्वसेन-विद्याभूषण और श्रीभूषण, इस प्रकार था। श्रीभूषण के उत्तराधिकारी चंद्रकीर्ति हुए, जिन्होंने 'पार्श्वपुराण' (१६५४ वि० में दौलताबाद में रचित) और 'वृषभदेवपुराण' दो ग्रन्थ लिखे। अपने गुरु श्रीभूषण की इन्होंने बड़ी प्रशंसा की है।

श्रीभूषण ने स्वयं को 'षड्भाषाकविचक्रवर्ती' और 'षड्दर्शनतर्क-चक्रवर्ती' आदि विशेषणों से प्रकट किया है। इनके ग्रंथों का रचनाकाल १६५९–१६७५ वि० के बीच बैठता है, जिससे १७वीं श० वि० के मध्यभाग में इनका स्थितिकाल ज्ञात होता है।

इनके उपलब्ध तीन ग्रन्थों के नाम हैं : 'शांतिनाथपुराण', 'पाण्डवपुराण' और 'हरिवंशपुराण'। इनके 'प्रतिबोधचिंतामणि' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'अनन्तव्रतपूजा', 'ज्येष्ठजिनवरव्रतोद्यापन'; और 'चतुर्विंशतिपूजा' आदि छोटे-छोटे ग्रंथ भी इन्होंने लिखे।[1]

पद्मसुन्दर

पद्मसुन्दर नागौरी तापगच्छ, श्वेताम्बर संप्रदाय के प्रकाण्ड विद्वान् हुए। उनके गुरु का नाम पद्मसेन तथा प्रगुरु का नाम आनन्दसेन था। अकबरी दरबार के ३३ हिन्दू सभासदों में उन्हें प्रमुख स्थान प्राप्त था। दरबार के किसी बड़े विद्वान् को शास्त्रार्थ में परास्त करने के उपलक्ष्य में दरबार की ओर से उन्हें पुरस्कृत किया गया था। जोधपुर के हिन्दू नरेश मालवदेव द्वारा भी वे सम्मानित हुए थे।

श्वेताम्बर संप्रदाय के विद्वान् हीरविजय की जब अकबर से मुलाकात हुई थी (१६३९ वि० में) तब पद्मसुन्दर का देहावसान हो चुका था। उनके ग्रंथों का रचनाकाल १६३२ वि० से पूर्व का है। अतः कुछ वर्ष बाद ही उनका देहांत हो गया था।[2]

उन्होंने 'भविष्यदत्तचरित', 'रायमल्लाभ्युदय', 'पार्श्वनाथकाव्य', 'प्रमाणसुन्दर',

---

१. पं० परमानन्द शास्त्री : प्रशस्तिपरिचय, पृ० ४९

२. अनेकांत, वर्ष ४, अङ्क ८; वही, वर्ष १०; अङ्क १; जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९५–४०३

'सुंदरप्रकाशशब्दार्णव' (कोश), 'शृंगारदर्पण', 'जम्बूचरित' (प्राकृत) और 'हायन सुन्दर' (ज्योतिष) आदि ग्रंथों के अतिरिक्त छोटे-छोटे भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे।

जैन-साहित्य के बृहद् इतिहास की आवश्यकता

जैन-साहित्य के संबंध में जो सामग्री दी गई है, वह उसके सर्वांगीण अध्ययन के लिए यथेष्ट नहीं है। भारत के हर हिस्से में बृहद् जैन-भंडारों को देखकर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि अब तक जैन-साहित्य के संबंध में जितना भी लिखा गया है, उससे कही अधिक लिखी जाने योग्य पुष्कल सामग्री अछूती पड़ी हुई है।

किन्तु जैन-साहित्य के क्षेत्र में आज कुछ विद्वानों द्वारा जो कार्य हो रहा है, दूसरे क्षेत्रीय साहित्य की अपेक्षा वह बढ़कर है। आज भी ऐसे जैनाचार्यों या जैन-साहित्य के विद्वानों की कमी नहीं है, जो सहस्रों की निधि व्यय करके जैन-भंडारों का पुनरुद्धार एवं उनकी रक्षा कर रहे हैं। फिर भी कार्य इतना व्यापक है कि कुछ व्यक्तियों के बूते पर वह पूरा नहीं हो पा रहा है।

आज जैन-साहित्य के एक ऐसे बृहद् इतिहास की आवश्यकता है, जिसमें कुछ वर्गों या विचारों के विभाजन के आधार पर उसका क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। स्फुट रूप से जैन-साहित्य पर बहुत सामग्री प्रकाश में आ चुकी है; किन्तु उसकी क्रमबद्ध व्यवस्थिति का अभाव अब भी बना हुआ है। जैन-साहित्य का ऐसा प्रतिनिधि-इतिहास-ग्रंथ न होने के कारण संस्कृत-साहित्य की बहुत-सी उन्नत दिशाएँ आज भी धुँधली हैं।

इसलिए जैन और संस्कृत, दोनों के साहित्य के लिए इस प्रकार के इतिहास-ग्रन्थ की आज कितनी आवश्यकता है, यह अविदित नहीं है।

बौद्धयुग

धर्म : दर्शन : साहित्य

बौद्धधर्म : प्राचीन भारत का राजधर्म

भगवान् तथागत के जीवन-दर्शन के दो प्रमुख आधार रहे : एक व्यष्टिमय और दूसरा समष्टिमय। उनका व्यष्टिमय जीवन नितांत एकाकी, समाधिस्थ योगी जैसा अन्तर्मुखीन रहा है। उनके इस जीवनपक्ष के परिचायक थेरवाद, बौद्धधर्म एवं प्रियदर्शी अशोक की धर्मलिपियाँ हैं, जिनके अनुसार बौद्ध असाधारण लक्षणों एवं विभूतियों से युक्त होते हुए भी मनुष्य थे, देवता नहीं। बुद्ध के जीवन का दूसरा समष्टिमय पक्ष 'बहुजनहिताय' पर आधारित था। उसमें प्राणिमात्र की कल्याण-कामना और प्राणिमात्र की दुःखनिवृत्ति की भावना विद्यमान थी। इस दूसरी भावना में विश्वसेवा के उच्चादर्श समन्वित थे, जिनको क्रियारूप में उतारने का कार्य किया मौर्यों के बाद कुषाणवंश और गुप्तवंश ने। बुद्ध के जीवन-दर्शन के इन दोनों पक्षों में पहिली परम्परा का विकास श्रीलंका, वर्मा एवं थाई देश में और दूसरी परम्परा का अनुवर्तन नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन तथा जापान आदि देशों में हुआ।

प्राचीन भारत के राजवंशों में मौर्य-साम्राज्य का प्रतापी सम्राट् अशोक बौद्धधर्म का सबसे बड़ा अनुयायी एवं आश्रयदाता रहा है। उसके १३वें अभिलेख से ज्ञात होता है कि कलिंग-विजय की रक्तिम क्रीड़ा ने उसकी राज्यविजयलिप्सा को धर्मविजय के रूप में परिवर्तित कर दिया था। बौद्धधर्म के संस्पर्श से ही वह सम्राट् से प्रियदर्शी बन गया। उसने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अपने राज्य में धर्मप्रचारक भेजे। स्थान-स्थान पर तथागत की कल्याणमयी वाणी को उत्कीर्णित कराके अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचाया। उसने वृक्ष लगवाये, कूप खुदवाये और चिकित्सालय बनवाये; निष्कर्ष यह कि अपना सारा

जीवन और अपने साम्राज्य की सारी शक्ति उसने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार एवं उसके उच्चादर्शों को चमकाने में लगा दी।

यही नहीं, इस लोकहितकारी संदेश को उसने धरती भर में फैला देने का महान् कार्य भी किया। मनुष्य-मनुष्य के कानों तक इस शुभ संवाद को पहुँचा सकने में वह जो कुछ कर सकता था, उसने किया। उसके उत्तरकालीन राजवंशों ने भी इस प्रचार कार्य में भरपूर योगदान दिया। कुषाणराज्य के संस्थापक कनिष्क ने और उसके बाद उदारनीतिक गुप्त राजाओं ने, अशोक द्वारा प्रवर्तित इस धर्म-प्रचार कार्य को मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, वर्मा, थाइलैंड और कंबोडिया आदि दूर देशों में प्रचारित-प्रसारित करवाया। इन देशों में बौद्धधर्म की जो अटूट परम्परा सहस्राब्दियों बाद आज भी बनी हुई देखने को मिलती है, उसको पहुँचाने वाले भारत के यही प्राचीन राजवंश थे।

प्राचीन भारत के उक्त राज्यवंशों द्वारा और विशेषतया अशोक द्वारा धर्म-प्रचारार्थ जिन भिक्षुओं को जिन-जिन स्थानों में भेजा गया था, उसका विवरण इस प्रकार है :

१ स्थविर माध्यंतिक (मज्झितिक) — काश्मीर, गांधार
२ स्थविर महादेव — महिषमंडल (नर्मदा के दक्षिण)
३ स्थविर रक्षित (रक्खित) — बनवासी प्रदेश (वर्तमान उत्तरी कनारा)
४ यूनानी भिक्षु धर्मरक्षित (योनक धम्मरक्खित) — अपरांतक प्रदेश (वर्तमान गुजरात)
५ स्थविर महाधर्मरक्षित (महाधम्मरक्खित) — महाराष्ट्र
६ स्थविर महारक्षित (महारक्खित) — यवनदेश (बैक्ट्रिया)
७ स्थविर मध्यम (मज्झिम) — हिमालय प्रदेश
८ स्थविर शोण एवं उत्तर (दोनों भाई) — सुवर्णभूमि (बरमा)
९ महेंद्र (महिंद), उत्त्रिय (उत्तिय), शंबल (संबल), भद्रसाल (भद्दसाल) — ताम्रपर्णी (लंका)

कनिष्क के ही युग में भारतीय-यूनानी कला का निर्माण हुआ, बौद्धधर्म के इतिहास में जिसे नई संभावनाओं का प्रतीक और बौद्ध-कला-शैली की एक नवीन शाखा कहा गया है। उसकी रचना और विकास कनिष्क के ही युग में हुआ।

स्वयमेव भागवतधर्म के मानने वाले, गुप्तराजाओं ने ब्राह्मणधर्म के समर्थक होते हुए भी, अपने द्वारा बौद्धधर्म की उन्नति और व्याप्ति में जितना कुछ हो सकता था, किया। अन्य धर्मों के अनुयायियों की भाँति बौद्धधर्मानुयायियों तथा बौद्ध-भिक्षुओं के लिए गुप्तकाल में पूरी सुविधाएँ थीं। मथुरा, सारनाथ, नालंदा, अजंता, वाघ और धान्यकूट प्रकृति कलातीर्थों में जो बौद्धयुगीन कृतियाँ पाई गई हैं उनको देखकर सहसा ही यह अनुमान होता है कि उस समय बौद्धकला की कितनी उन्नति हुई। नालंदा-जैसा विश्वव्यापी ख्याति का महान् विद्यासंस्थान गुप्तों की ही देन थी, जिसकी स्थिति छठी से नवीं शती तक उन्नत रूप में बनी रही।

गुप्तयुग के बाद भारत में बौद्धधर्म का सामाजिक पहलू कुछ निर्बल ही नहीं होता गया; बल्कि उसमें अनेक विकृतियाँ घर करती गईं; किन्तु उसका साहित्यिक धरातल तब भी निरन्तर ऊँचाई की ओर अग्रसर था। गुप्तयुग में स्थापित नालंदा महाविहार में, काश्मीर, वाराणसी में स्थापित अनेक विद्याकेन्द्रों में, पश्चिम के वलभी तथा पूर्वी भारत के विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, जगद्दल और विक्रमपुरी आदि के ज्ञानकेंद्रों में बौद्ध-साहित्य का निरन्तर निर्माण होता गया। यह स्थिति नवीं से बारहवीं शताब्दी तक की है। राजनीतिक दृष्टि से इस समय सम्राट् हर्षवर्धन और दक्षिण में पाल राजाओं के शासन का समय था।[1]

बौद्धधर्म का विदेशों में विस्तार

मध्य एशिया

मध्य एशिया में बौद्धधर्म का प्रवेश ईसवी पूर्व में ही हो चुका था। खोतान की एक प्राचीन परम्परा के अनुसार पूर्वी तुर्किस्तान में अशोक के एक पुत्र कुस्तन ने ईसा पूर्व २४० में एक उपनिवेश की स्थापना की थी और उसके पुत्र विजयसंभव ने वहाँ बौद्धधर्म का विस्तार किया। परम्परा के अनुसार खोतान में पहिला बौद्ध-विहार २११ ई० पूर्व में स्थापित हो चुका

१. दीपवंश, परिच्छेद ८; महावंश ५।२८०, १२।१-८; समंतपासादिका, पृ० ६३-६४ (पालि टैक्स्ट सोसाइटी का संस्करण); बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० २०८, ४६१; उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास पृ० ८८-८९

था और उक्त भारतीय राजवंश की ५६ पीढ़ियों के समय में वहाँ बौद्धधर्म के लगभग एक हजार केंद्र स्थापित हो चुके थे ।

चीन

चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश हान सम्राट् वू-ती के शासनकाल (१४८-८० ई० पूर्व) में हुआ, जिसका प्रमाण 'वाई राजवंश में बौद्धधर्म और ताओवाद का अभिलेख' है ।[1] चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश की प्रामाणिक ऐतिहासिक तिथि का उल्लेख यू-हुआन द्वारा लिखित (२३९-२६५ ई०) 'वाई लिआओ' नामक इतिहास ग्रन्थ से मिलता है । उसमें लिखा है कि २ ई० में सम्राट् आई-ती ने राजकुमार युएह्-ची के दरबार में अपने राजदूत चिंग-चिंग को भेजा । राजकुमार ने सम्राट् का अनुरोध स्वीकार कर अपने अनुचर ई-त्सुन को आज्ञा दी कि वह चिंग-चिंग को 'बुद्धसूत्र' नामक पवित्र ग्रन्थ जबानी पढ़ा दे ।[2]

चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थायी परम्परा ६४ ई० से आरंभ होती है, जिसका हवाला सुंग युग (११२७-१२८० ई०) में पुरोहित चिह यांग द्वारा लिखित पुस्तक 'बुद्ध और महास्थविरों की वंशावलियों के अभिलेख' से मिलता है ।

भारतीय बौद्ध भिक्षु काश्यप मातंग (किआ-यह-मो-तान) और धर्मरक्ष (चु-फा-लान) के चीन-प्रवेश (६८ ई०) और वहाँ 'बयालीस-परिच्छेदीय सूत्र' आदि ग्रन्थों के भाषान्तर करने के बाद चीन-भारत के सांस्कृतिक मैत्री-संबंधों की ऐतिहासिक परम्परा का उदय हुआ ।[3]

दूसरी शताब्दी ईसवी के लगभग पार्थिआ (मध्य एशिया) से आन-शिह-काओ (लोकोत्तम) नामक एक राजकुमार ने राज्य त्याग कर संन्यास धारण किया और चीन आकर लो-यांग में रहने लगा । उसका चीन-प्रवेश-काल हान-वंशीय सम्राट् हुआंग-त्सी के राज्य में (१४८ ई०) हुआ और लो-योग में वह लगभग १७१ ई० (लिंग ती के राज्यकाल तक) २० वर्ष तक रहा । सुप्रसिद्ध बौद्धभिक्षु ताओ-आन का कथन है कि आन-शिह-काओ ने लगभग दस लाख शब्दों से युक्त तीस ग्रन्थों का चीन में रह कर अनुवाद किया ।

---

१. डॉ० चाउ सिआंग कुआंग : चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० २०

२. वही, क्रमशः ३. वही पृ० २१-२२

बौद्धयुग

लिआंग राजवंश (५०२–५५७ ई०) तक चीन में बौद्धधर्म का विकास किस सीमा तक पहुँच चुका था, इसका अनुमान नीचे लिखे आँकड़ों से लगाया जा सकता है, जिनका संग्रह डॉ० चाउ सिआंग कुआंग ने विभिन्न अभिलेखों को छान कर किया।[1]

वंश	मंदिर-संख्या	भिक्षु-भिक्षुणियों की संख्या
पूर्वी-त्सिगं	१७५६	२४,०००
लिउ-सुंग	१९१३	३६,०००
ची	२०१५	३२,५००
लिआंग	२८४६	८२,७००

चीनी बौद्धधर्म के इतिहास में तांग-वंश (६१८–९०७ ई०) के शासन-काल को स्वर्णयुग कहा जाता है[2]। इस युग में प्रभाकर मित्र, अतिगुप्त, नादि, बुद्धपाल, दिवाकर, देवप्रज्ञा, शुभकरणसिंह, हुआन-त्सांग, ईत्सिंग, शिक्षानंद और बोधिरुचि आदि बौद्धभिक्षु भारत से चीन गए और चीन से भारत आए। इन भिक्षुओं ने चीन में रहकर सैकड़ों ग्रन्थों का प्रणयन, संपादन एवं अनुवाद किया।

तांग-राज्यकाल में प्रतिष्ठित त्रिशास्त्र संप्रदाय, धर्मलक्षण संप्रदाय, अवतंसक संप्रदाय, ध्यान संप्रदाय आदि विभिन्न संप्रदाय बौद्ध-साहित्य एवं बौद्ध-धर्म की चरमोन्नति के परिचायक हैं।

चीन के आधुनिक प्रजातंत्र युग तक, जिसकी प्रतिष्ठा १० अक्टूबर, १९११ ई० में हुई, बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-साहित्य की उन्नति के लिए अनेक कार्य हो रहे हैं। प्रजातंत्र के चौथे वर्ष चीन के गृह-विभाग ने एक विशेष अधिनियम बनाकर बौद्ध मठों का जीर्णोद्धार करवाया। इस युग के प्रमुख भिक्षु ताई-हु और ओउ-यांग-चिग-वू हुए, जिनके अविरत यत्न से चीन में कई साहित्यिक संस्थाएँ, विद्यापीठ और परिषदें नियुक्त हुईं। उन्होंने स्वयमेव कई ग्रन्थों का निर्माण, अनुवाद, संपादन, पाठशोध और मुद्रण किया।[3]

कोरिया

चीनी बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा लगभग चौथी शताब्दी ईसवी में बौद्धधर्म कोरिया पहुँचा। वांग राजवंश, लगभग ग्यारहवीं शताब्दी तक,

---

१. वही, पृ० १११ २. वही, पृ० १३४–३७ ३. वही, पृ० २५५–२६२

वह अपनी चरमोन्नति पर पहुँच चुका था। सातवीं-आठवीं शताब्दी में चीन के संपर्क में आकर जिन कोरियायी विद्वानों, एवं भिक्षुओं ने कोरिया में बौद्ध-धर्म की जड़ें मजबूत कीं उनमें युआन-त्सो, युआन हिआओ और यी सिआङ् प्रमुख थे।

कोरिया के असुकयुग और नरयुग में, लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में प्रतिष्ठित कुश, सानूरोन, जोजित्सु, केगौन, होस्सो और रित्सु आदि धार्मिक पंथ या बौद्ध संस्थाएँ बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास बताती हैं। नवम शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक हीआन और कमकुर युगों में बौद्धधर्म को जनसाधारण का धर्म बनाने के लिए बौद्ध-सिद्धान्तों का राष्ट्रीयकरण हुआ।

तिब्बत

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रवेश लगभग चौथी शताब्दी में हो चुका था; किन्तु उसके ऐतिहासिक क्रम का हवाला हमें लगभग सातवीं शताब्दी के आरंभ (राजा स्नोङ्-वत्सन-स्गम : जन्म ६१७ ई० के बाद) से मिलता है। उसने अपने राज्य के विख्यात विद्वान् थोन-मि-सम्-भो-ट और उसके साथ सोलह बुद्धिमान् मुमुक्षुओं को दक्षिण भारत के विद्यापीठों के भारतीय बौद्ध-साहित्य, शिलालिपियों के ज्ञान, ध्वनिशास्त्र तथा व्याकरण के अध्ययन के लिए भारत भेजा। इन विद्वानों ने उक्त विषयों में पारंगत हो जाने के बाद तिब्बती भाषा के लिए एक लिपि का निर्माण कर उसका व्याकरण स्थिर किया।

तिब्बतीय साहित्य के पिता थोन-मि सम्-भौ-ट ने अकेले तिब्बती लिपि और व्याकरण पर आठ स्वतंत्र ग्रंथ लिखे, अनेक संस्कृत बौद्ध-ग्रंथों को तिब्बती में अनूदित किया और राजकुमार स्नोङ्-वत्सन को बौद्ध-धर्म की उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण परामर्श दिए। तिब्बतीय बौद्ध-धर्म के इतिहास में इस राजकुमार को सम्राट् अशोक जितना संमान दिया गया है। स्नोङ्-वत्सन के पाँचवें वंशज खी-स्नोङ्-ल्दे-वत्सन (७५५-७९७ ई०) तिब्बत में बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार और बौद्ध-ग्रंथों के अनुवाद के लिए नालंदा विश्वविद्यालय से आचार्य शांतरक्षित को आमंत्रित किया। उसने ब्सम-यास नामक एक बौद्ध-बिहार, ओदन्तपुरी बिहार के अनुकरण पर स्थापित किया।

आचार्य शांतरक्षित की मृत्यु के बाद तिब्बत में बौद्ध-दर्शन-संबंधी अनेक विवादास्पद प्रश्न उपस्थित हुए, जिनके निराकरण के लिए उनके शिष्य

कमलशील को नालंदा से बुलाया गया। तिब्बतीय भिक्षुओं से कमलशील का गंभीर शास्त्रार्थ हुआ और अन्त में कमलशील विजयी हुए। किन्तु पराजित भिक्षुओं ने कमलशील की हत्या कर दी, जिसकी निर्जीव देह ल्हासा के किसी विहार में आज भी सुरक्षित है। अपनी विद्वत्ता के कारण वह 'तिब्बती-मंजुश्री' नाम से प्रसिद्ध था।

दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग पश्चिमी तिब्बत के राजवंशों ने विद्वान् भिक्षुओं को आश्रय देकर, कई तिब्बती विद्वानों को तत्कालीन बौद्ध-विद्या के केन्द्र काश्मीर में अध्ययनार्थ भेजा और बहुत सारे बौद्ध-ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद करवाया। इसी राजवंश से संबंधित ह्-खोर-ल्दे (ज्ञानप्रद) ने भिक्षुमय जीवन धारण कर बिहार के विक्रमशिला के मठ के प्रमुख आचार्य अतिश (दीपंकर श्रीज्ञान) को तिब्बत आमंत्रित किया, जिसने भारत से आध्यात्मिक प्रकाश को साथ लेकर तिब्बत की ज्ञान-धरती को आलोकित किया।

तिब्बतीय साहित्य को दीपंकर श्रीज्ञान की देन

बौद्ध-साहित्य की महत्ताओं को सुदूर देशों में प्रचारित करने और वर्षों के अथक परिश्रम से बौद्ध-कृतियों का अनुवाद एवं व्याख्या-व्याख्यान करनेवाले भारतीय विद्वानों में आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान तिब्बत में अतिश या स्वामी अतिशया (जो-वो-र्जे पल-दन अतिश) के नाम से विख्यात हैं।

इन आचार्य का जन्म ९८२ ई० में पूर्वी भारत के सहोर नामक स्थान में हुआ था। उनका जन्मनाम चंद्रगर्भ था। विक्रमशिला महाबिहार के निकट होने पर भी चंद्रगर्भ ने तत्कालीन विश्वविख्यात विद्याकेंद्र नालंदा में जाकर विद्याध्ययन की इच्छा प्रकट की। उनके पिता राजा कल्याणश्री ने उन्हें नालंदा जाने की आज्ञा दे दी। वे नालंदा महाविहार के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य बोधिभद्र के संमुख उपस्थित हुए; किंतु वे अभी ग्यारह वर्ष के ही थे, जबकि नियमतः बीस वर्ष की आयु की आवश्यकता थी। फिर भी बोधिभद्र ने उन्हें वापिस न करके अपने निकट रहने की आज्ञा दे दी और सर्वप्रथम उनका नामकरण किया 'दीपंकर'। 'दीपंकर' बौद्ध-परंपरा का एक पवित्र नाम था, क्योंकि इस नाम के एक बुद्ध, तथागत से पहिले हो चुके थे। उनके नाम के आगे 'श्रीज्ञान' उनकी उन्नत प्रतिभा के कारण जोड़ दिया गया था।

दीपंकर ने विक्रमशिला वापिस आकर वहाँ के विभागीय अध्यक्ष आचार्य नारोपा से अध्ययन किया। यहाँ उनकी भेंट प्रजारक्षित, मनकश्री, माणकश्री, रत्नकीर्ति और ज्ञानश्री मित्र से हुई। इन विद्वानों के परामर्श से दीपंकर सुमात्रा गए। वहाँ कुछ दिन तक एकान्तवास करने के उपरांत वे आचार्य धर्मपाल के पास गए और उनके संरक्षण में रहकर बारह वर्ष तक धर्मग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया। चौंतीसवें वर्ष वे सुमात्रा से वापिस विक्रमशिला आए और वहाँ उन्हें अनेक संमानित पदों पर रखा गया। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के १०८ विद्वान् और आठ महापंडितों में एक महापंडित दीपंकर भी थे।

दीपंकर से पहिले ही तिब्बत में रत्नभद्र (रिन-छेन-जैंग-पो) और सुलक्ष (लेग्स-पहि-शेस-रब) और उनसे भी पूर्व आचार्य ज्ञानप्रभ बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में संलग्न थे। आचार्य ज्ञानप्रभ ने अपने कुछ विद्यार्थियों को दीपंकर श्रीज्ञान को बुलाने के लिए विक्रमशिला भेजा; किन्तु दीपंकर ने तिब्बत जाना अस्वीकार कर दिया। देवगुरु ज्ञानप्रभ ने दीपंकर को तिब्बत आमंत्रित करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपने पुत्र बोधिप्रभ (ब्यंग-चब-ओद) को यह भार सौंपा। देवगुरु बोधिप्रभ बड़ी कठिनाइयों के साथ दीपंकर तक भारत पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपने पिता की दुःखद मृत्यु का समाचार उन्हें सुनाया। दीपंकर को बहुत ही पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने बोधिप्रभ को १८ मास बाद तिब्बत आने का वचन देकर वापिस कर लिया। लगभग ६८ वर्ष की अवस्था (१०४० ई०) में दीपंकर तिब्बत पहुँचे।

दीपंकर मानसरोवर प्रदेश के थो-लिन बिहार में राजा के संरक्षण में संमानपूर्वक रहने लगे। उन्होंने आठ मास तक इस बिहार में रहकर 'बोधिपथ-प्रदीप' नामक अपना विख्यात ग्रंथ लिखा। आचार्यपाद ने निरंतर घूम-घूमकर तिब्बत भर में बौद्धधर्म का व्यापक प्रचार और अनेक ग्रंथों की रचना एवं अनुवाद किया। इस समय एक तिब्बतीय भिक्षु रत्नभद्र ने दीपंकर की बहुत सहायता की। उनके एक दूसरे तिब्बतीय शिष्य डोम-तोन-प ने उनकी जीवनी 'गुरुगुणधर्माकर' नाम से लिखी।[1]

तेरह वर्ष तक तिब्बत में रहकर, वहाँ के विभिन्न बिहारों का भ्रमण कर १०५१ में उन्होंने 'कालचक्र' पर एक व्याख्या लिखी। १०५४ में ७३ वर्ष

१. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १६४-१७२, १८०

बौद्धयुग

की अवस्था में इस विद्वान् ने तिब्बत में ही धर्म की सेवा करते-करते शरीर त्यागा ।

दीपंकर द्वारा तिब्बती में अनूदित ग्रन्थों की सूची

ग्रंथ	ग्रंथकार
माध्यमक रत्नप्रदीप	भव्य
माध्यमक हृदयकारिका	,,
माध्यमक हृदयकारिका-वृत्ति	,,
माध्यमकार्थसंग्रह	,,
माध्यमक भ्रमघाट	आर्यदेव
पंचस्कंधप्रकरण	चंद्रकीर्ति
रत्नाकरण्डोद्घाट	दीपंकर श्रीज्ञान
शिक्षासमुच्चयाभिसमय	धर्मपाल
बोधिपथप्रदीप	दीपंकर श्रीज्ञान
बोधिपथप्रदीपपंजिका	,,
महासूत्रसमुच्चय	,,

नेपाल

ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने लुम्बिनी जाकर तथागत की पवित्र स्मृति में एक लेखयुक्त स्तंभ निर्मित करवाया । नेपाल में उसने कई मठ और स्तूप निर्मित करवाये । नेपाल में बौद्धदर्शन की व्यापक प्रतिष्ठा आचार्य वसुबंधु के गमनानन्तर चौथी शताब्दी में हुई । सातवीं शताब्दी में राजा अंशुवर्मन् ने अपनी पुत्री का विवाह तत्कालीन तिब्बत के राजा स्तोङ्-बत्सन-स्मगम के साथ संपन्न कर, उसके राज्याश्रय में संस्कृत के बौद्धग्रन्थों का अनुवाद करवाया, जिन अनुवादकों में नेपाली विद्वान् शीलमंजु का नाम उल्लेखनीय है । आठवीं शताब्दी के बाद बिहार और बंगाल में जब मुसलमानों के आक्रमण होने लगे तो आत्मरक्षा के हेतु अनेक भारतीय विद्वान् सैकड़ों हस्तलिखित पोथियों को साथ लेकर तिब्बत में प्रविष्ट हुए और वहाँ उन्होंने तिब्बती में उनका अनुवाद किया ।

अभी हाल ही में नेपाल की धर्मोदयसभा के द्वारा बौद्ध ग्रन्थों के

अध्ययन का सिलसिला शुरू हुआ है और फलस्वरूप कई पालि ग्रन्थ अनूदित होकर प्रकाश में आये हैं।

दक्षिण

इसी प्रकार दक्षिण में श्रीलंका, बर्मा, मलयप्रायद्वीप, स्याम (थाईलैंड), काम्बुज (कम्बोडिया), चम्पा (वियतनाम) और इंडोनेशिया आदि देशों में भी बौद्धधर्म और बौद्धसाहित्य का प्रवेश सम्राट् अशोक के समय से होने लग गया था और भारत के साथ उक्त देशों का दृढ मैत्री-संबंध स्थापित हो जाने के बाद बौद्धधर्म एवं बौद्ध-साहित्य के अध्ययनार्थ वहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य होते रहे और आज भी वहाँ साहित्यनिर्माण की यह उच्च परंपरा बनी हुई है।[1]

बौद्धकालीन भारत की ज्ञान-गवेषणा की साक्षी : चार परिषदें

बौद्धयुग की चार परिषदें तत्कालीन भारत की बौद्धिक उन्नति, ज्ञान-मन्थन, गंभीर गवेषणा, अद्भुत वाक्चातुर्य और ज्ञान के क्षेत्र में एक विहंगम परीक्षण की साक्षी हैं। बौद्धयुग विचार-संक्रांति का एक अद्‌भुत युग रहा है। उस युग की सामाजिक मान्यताएं, धार्मिक मान्यताएँ और बौद्धिक मान्यताएँ, सभी में एक मौलिकता, एक नवीनता, आगत का समाधान और अनागत के लिए एक सुविचारित व्यवस्था है। भारतीय ज्ञान की सुदूरभूत ज्ञान-परंपरा के निर्माण, उन्नयन और अनुवर्तन-प्रवर्तन में बौद्ध-विद्वानों जैसी निर्भीक प्रतिभा, स्पष्टवादी विचारधारा एवं कुशाग्र दृष्टि किसी भी युग में नहीं दिखाई देती। बौद्ध-विद्वानों ने जहाँ एक ओर अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए प्रकाण्ड हिन्दू-दार्शनिकों से लोहा लिया, वहाँ दूसरी ओर अपने विचार-स्वातंत्र्य को बचाने के लिए आपस में ही जूझने में वे भूल से भी नहीं चूके। ऐसी थी उनकी क्षमता और उनके अथाह पांडित्य की कथा।

बौद्धकालीन भारत की इन चार संगीतियों का अभिप्राय यह था कि धर्म के क्षेत्र में, समाज के क्षेत्र में, ज्ञान के क्षेत्र में और अधिकारों के क्षेत्र में जो विकृतियाँ घर कर गई थीं, उन पर एक साथ बैठ कर विचार किया

१. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० ५९-६७ (दि० ५६)

जाय। समाज की सारी व्यवस्था का दायित्व शासकों पर था और वे शासक विद्वानों के अधीनस्थ थे। दिग्विजयी साम्राज्य के अतुल वैभव और अपरिमित बल-विक्रम के स्वामी होने पर भी तत्कालीन शासक, विद्वद्वर्ग के करतल में अपने सारे अस्तित्व को स्वेच्छा से सौंपे हुए थे, इसलिए कि धर्म, राजनीति और विद्या के क्षेत्र में किसी भी प्रकार की त्रुटियाँ न आ सकें, शासकों की ओर से समय-समय पर राष्ट्र भर के विद्वानों का सामूहिक अधिवेशन आयोजित हुआ करता था। इस प्रकार का पहिला अधिवेशन राजगृह में आयोजित किया गया था। सामाजिक नीति-नियमों एवं व्यवस्थाओं में अनधिकार चेष्टा करने वाले कुछ दायित्वपूर्ण व्यक्तियों के लिए दण्डविधान भी इन्हीं अधिवेशनों में नियुक्त किए जाते थे।

प्रथम संगीति

बुद्धपरिनिर्वाण के तत्काल बाद ही, संभवतः चौथे मास बाद, श्रावण महीने में प्रथम संगीति का अधिवेशन आयोजित हुआ था।[1] 'चुल्लवग्ग' के ११वें खंधक के अनुसार और 'दीपवंश' तथा 'महावंश' के वचनानुसार यह संगीति राजगृह कुशीनगर में आयोजित हुई थी। अजातशत्रु इसके आयोजक और महाकस्सप इसके सभापति थे।[2] उपालि और आनंद ने उसमें प्रमुख भाग लिया था। चीनी-तिब्बतीय परंपराओं के अनुसार इस संगीति में एक हजार भिक्षु उपस्थित थे; किन्तु भारतीय परंपरा उनकी संख्या चार सौ निन्यानवे बताती है, जैसा कि बौद्ध अनुश्रुतियों में उनको 'पंचशतिका' नाम दिया गया है।[3] इस संगीति का वर्णन 'विनयपिटक', 'दीपवंश', 'महावंश', 'सांमतपासादिका' की 'निदानकथा' (विनयपिटक का

---

१. भदन्त आनन्द कौसल्यायन : महावग्ग, पृ० ११-१२ (परिचय)

२. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ७७ (२००८)

३. 'उस महास्थविर (महाकाश्यप) ने शास्ता (बुद्ध) के धर्म की चिरस्थिति की इच्छा से लोकनाथ, दशबल भगवान् के परिनिर्वाण के एक सप्ताह बाद बूढ़े सुभद्र के दुर्भाषित वचन का भगवान् द्वारा चीवरदान तथा अपनी समता देने का और सद्धर्म की स्थापना के लिए किए गए भगवान् (मुनि) के अनुग्रह का स्मरण करके, संबुद्ध से अनुमत संगीति करने के लिए, नवांग बुद्धोपदेश को धारण करने वाले, सर्वांगयुक्त आनन्द स्थविर के कारण पांच सौ से एक कम महा-तीक्ष्णास्रव भिक्षु चु ने।' भदन्त आनन्द कौसल्यायन : महावग्ग, पृ० १२

रूपांतर), 'महाबोधिवंश', 'महावस्तु' और तिब्बती 'दुल्व' आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है ।

इस संगीति में चार बातों का निर्णय हुआ : (१) उपालि के नेतृत्व में विनय की निश्चिति, (२) आनन्द के नेतृत्व में धम्म के पाठ का निश्चय, (३) आनन्द पर आक्षेप एवं उनका उत्तर और (४) चन्न को ब्रह्मदण्ड की सजा तथा उसका परिताप । इस संगीति का प्रमुख उद्देश्य वस्तुतः बुद्धवचनों का संगायन एवं संग्रह करना था ।[1]

द्वितीय संगीति

द्वितीय संगीति का आयोजन बुद्धपरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद हुआ । इसमें ७०० भिक्षु उपस्थित थे, जिससे कि उसको 'सप्तशतिका' भी कहा जाता है । इस संगीति का उद्देश्य कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों को हल करने के अतिरिक्त प्रथम संगीति का पुनः संस्करण करना भी था ।[2] यह वैशाली में आयोजित हुई थी और पूरे आठ मास तक चली ।[3]

इस परिषद् में काकण्डकपुत्र यश और वज्जी के भिक्षुओं के पारस्परिक आक्षेपों पर विचार हुआ । अपने पक्ष का पर्याप्त स्पष्टीकरण करने पर भी वज्जियों ने यश को संघ से निष्कासित कर दिया । भदन्त यश ने वज्जियों की दस वत्थूनि (दस बातें) मानने से इन्कार कर दिया था ।

यश ने अपने निराकरणों का समाधान एवं समर्थन पाने के लिए कौशांबी, अवन्ती और अट्ठोपांग के भिक्षुओं से निवेदन किया और अंत में वह अर्हत् रेवत के पास सौरेय्य पहुँचे । इन सभी भिक्षुओं ने एकमत होकर भदन्त यश के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया । इधर से इस बात को सुनकर, वज्जी भिक्षु भी रेवत के पास पहुँचे । विवाद बढ़ता ही गया । अन्त में सात सौ भिक्षुओं की एक परिषद् आयोजित की गई और उसमें पूरब तथा पश्चिम के चार-चार भिक्षुओं की एक समिति बनाई गई । भिक्षु अजित को समिति का प्रधान और आचार्य सब्बकामी को सभापति नियुक्त किया गया । सभा में वज्जी के भिक्षुओं का आचरण अधर्मयुक्त घोषित किया गया । यह वृत्तांत 'चुल्लवग्ग' में दिया गया है ।

---

१. गायगर : पालि लिटरेचर ऐंड लैंग्वेज, पृ० ८, पदसंकेत ३; विंटरनित्स : हि० इ० लि०, भाग २, पृ० ४

२. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० ६२-६४

३. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ८३

'महावग्ग' और 'दीपवंश' के अनुसार यह परिषद् अजातशत्रु के वंशज कालाशोक के समय में हुई थी, जिसमें दस हजार भिक्षु उपस्थित थे। उन दस हजार भिक्षुओं में सात सौ चुने हुए भिक्षुओं ने 'विनय' और 'धम्म' का एक संशोधित संस्करण तैयार किया, जिससे पिटक, निकाय, अंग और धर्मस्कंध निर्मित हुए। 'धम्म' के संगायन और संकलन के फलस्वरूप बुद्ध-वचनों के तीन पिटकों, पाँच निकायों, नव अङ्गों और ४८००० धर्मस्कन्धों का वर्गीकरण हुआ।[१]

तृतीय संगीति

तृतीय संगीति सम्राट् अशोक के समय एवं संरक्षण में, बुद्धपरिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई।[२] उसका वर्णन 'दीपवंश', 'महावंश' और 'सामंतपासादिका' में मिलता है[३]। इस संगीति में अशोक ने सभी पंथों के भिक्षुओं को आमंत्रित कर उनसे उनके तत्-तत् संप्रदायों का प्रतिपादन करने का आग्रह किया। प्रियदर्शी अशोक के गुरु तिस्स मोग्गलिपुत्त इस अधिवेशन के सभापति थे और यह संगीति निरंतर नौ मास तक चलती रही।[४] थेर तिस्स ने पारंगत एक हजार भिक्षुओं को चुनकर बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की भावी निश्चिति के लिए उन्हें एकाधिकार दिया। इसी संगीति में अंतिम रूप से त्रिपिटकों का संकलन हुआ और कथावस्तुप्रकरण का भी निराकरण हुआ।

अन्य संगीतियों की अपेक्षा इस संगीति की विशेषता यह थी कि इस समय अशोक ने यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आंध्र, पुलिंद, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पांड्य और सिंहल आदि देशों में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अपने धर्मोपदेशकों को भेजा।[५] जिन-जिन धर्मोपदेशक भिक्षुओं को जिन-जिन प्रदेशों को भेजा गया उनकी नामावली 'दीपवंश', 'महावंश' और 'सामंतपासादिका' के अनुसार इस प्रकरण के आरम्भ में दे दी गई है।

---

१. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ८५

२. गायगर : पालि लिटरेचर ऐंड लैंग्वेज, पृ० ९, पदसंकेत २; विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० १६, १९, ७०, पदसंकेत ५

३. दीपवंश, परिच्छेद ८; महावंश ५।२८०, १२।१-८; सामंतपासादिका, पृ० ६३ ६४ (पा० टे० सो० संस्करण)

४. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ८७

५. अशोक का तेरहवां शिलालेख

चतुर्थ संगीति

तुरुष्क साम्राज्य के संस्थापक कनिष्क के निर्देशन में चौथी परिषद् आयोजित हुई थी, जिसका निश्चित समय १०० ई० है। कुछ के मत में इस परिषद् का अधिवेशन जालंधर में हुआ ; किन्तु अधिकांश विद्वानों की राय उसके कश्मीर में आयोजित होने के पक्ष में है। आचार्य पार्श्व के आग्रह पर कनिष्क ने इस परिषद् को बुलाया था। कनिष्क ने एक महाविहार (कुंडलवन) का निर्माण कर उसमें पाँच सौ भिक्षुओं को आमंत्रित किया, और उनसे पिटकों पर भाष्य लिखने का आग्रह किया। इस परिषद् में सर्वप्रथम संस्कृत भाषा को मान्यता मिली और संस्कृत में ही बौद्ध न्याय को भी सूत्र-बद्ध किया गया।

संप्रदायों की प्रतिष्ठा और उनका प्रयोजन

बौद्धधर्म के क्षेत्र में जो विभिन्न मत-मतांतर एवं वाद-विवाद प्रचलित हुए, तथागत की संभावना से वे अदृष्ट थे; और यद्यपि वे खुले रूप से प्रकाश में बुद्ध के बाद ही आये, तथापि उनके बीज बुद्ध के जीवनकाल में ही बोये जा चुके थे। बुद्ध का भतीजा देवदत्त उनके सिद्धान्तों का प्रबल प्रतिद्वंद्वी था। उपनंद, चन्न, भेत्तिय भुम्मजक और षड्वर्षीय प्रभृति भिक्षु बुद्ध के जीवनकाल में ही विनय के नियमों की कड़ी आलोचना करने लग गए थे। सुभद्र जैसे उद्दंड मति के लोग भी उस समय वर्तमान थे, जिन्हें जीवन की स्वच्छन्दता में नियमों की हथकड़ी कतई पसन्द न थी। और इसीलिए, उसने बुद्ध की मृत्यु का समाचार सुन कर चैन की सांस खींची।

बुद्धपरिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद ही भिक्षुओं के एक दल ने बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं एवं उनके विचारों की प्रामाणिकता के विरुद्ध आवाज उठाई। वैशाली के वज्जियों का इसमें प्रमुख हाथ रहा। महाकश्यप के राजगृह में पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं की संगीति का जो अधिवेशन आयोजित किया गया था उसमें सम्मिलित होने वाले पुराणपंथी या गवांपति जैसे लोगों ने संगीति में निर्णीत नियमों को यह कह कर मानने से इन्कार कर दिया कि उसमें बुद्ध के नाम से जो साहित्य संकलित एवं सम्पादित किया गया है वह अमौलिक एवं अप्रामाणिक है।

संघ के प्रधान महादेव नामक विद्वान् द्वारा निर्धारित सिद्धांतों को अविकल रूप से स्वीकार करने में भिक्षुओं का मतभेद हो गया और फलतः वैशाली में दूसरा संघ आयोजित करने की माँग की गई। कुछ भिक्षुओं ने पारित किए गए अति कठोर नियमों के विरुद्ध आवाज भी उठाई। इस प्रकार भिक्षुओं की दो शाखाएँ हो गईं : एक तो कट्टर पुराणपंथी और दूसरी उदारमतावलम्बी। पुराणपंथी भिक्षुओं का दल थेरवादिन् (स्थविरवादिन्) और उदारतावादी दल महासंघिक (महासांघिक) कहलाए।

वैशाली में आयोजित उक्त संगीति में जो विचार-व्यवस्था और नीति-नियम निर्धारित किए गये थे, वे पुराणपंथी भिक्षुओं के अनुकूल थे, अतः महासांघिकों ने वज्जिजनप्रधान दस हजार भिक्षुओं की एक तीसरी संगीति का अधिवेशन आयोजित किया और उसमें अपने सिद्धांतों पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई।

आगे चलकर इन दोनों दलों में भी एकता कायम न रह सकी और फलतः बुद्धनिर्वाण की दूसरी-तीसरी शताब्दी बाद ही थेरवाद से ग्यारह एवं महासांघिक से सात उपशाखाएँ, कुल मिलाकर अठारह उपशाखाएँ उठ खड़ी हुईं।

इन उपशाखाओं का पूरा परिचय उपलब्ध नहीं है; किन्तु ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के उपलब्ध शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उस समय तक सर्वास्तिवादिन् , महासांघिक, चैत्यक, साम्मितीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, महाशासकीय, पूर्वशैलीय, बहुश्रुतीय और काश्यपीय प्रभृति अनेक छोटे-बड़े संघों का जन्म हो चुका था। 'कथावत्थु-भाष्य' से हमें यह भी जानने को मिलता है कि उस समय तक राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिप, वाजिरिप, उत्तरापथ, वेतुल्य और हेतुवादिन् आदि अनेक पंथ प्रकाश में आ चुके थे।

बौद्ध-साहित्य का अनुशीलन करते हुए विदित होता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से उसमें मौलिक अन्तर है। हीनयान और महायान उसके दो प्रधान सैद्धान्तिक संप्रदाय हैं। हीनयान संप्रदाय का उद्भव ६०० ई० पूर्व के लगभग हो चुका था। डॉ० केर्न के अनुसार महायान संप्रदाय की प्रतिष्ठा शालिवाहन शक के लगभग तीन सौ वर्ष पहिले हो चुकी थी; क्योंकि बौद्ध-ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि शक-सम्राट् कनिष्क के शासनकाल में बौद्ध भिक्षुओं की जो परिषद् हुई थी उसमें भी महायान पन्थ

के आचार्य उपस्थित थे।[1] लोकमान्य के मतानुसार महायान संप्रदाय की प्रतिष्ठा इससे भी पूर्व हो चुकी थी। अशोक के जो २३० ई० पूर्व के लेख उपलब्ध होते हैं उसमें संन्यासप्रधान निरीश्वरवादी बौद्धधर्म को कोई मान्य स्थान नहीं दिया गया था। उनमें प्राणिमात्र पर दया करने वाले प्रवृत्ति-प्रधान बौद्धधर्म की भावना का प्राधान्य था। ये प्रवृत्तिप्रधान विचार महायान पंथ के ही थे।[2]

महायान की लोकप्रियता

बौद्धधर्म नैतिक नियमों पर आधारित धर्म है, जिसमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है; न ही उसमें ईश्वर को मनुष्य के भाग्य का एकमात्र शासक माना गया है।[3] बुद्ध ने कर्म द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का सहज मार्ग दर्शित किया।[4] किन्तु उनके निर्वाण के तीन-चार शताब्दी बाद महायान बौद्धों ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक और वरदान देनेवाला बताया। इसलिए बौद्धधर्म अब भक्ति पर आधारित धर्म बन गया और बुद्ध के विचारों के सर्वथा विपरीत मुक्ति अब भक्ति एवं भावनामय प्रार्थना पर आधारित हो गई। महायान संप्रदाय के इस ईश्वरवादी दृष्टिकोण को हिन्दूधर्म ने प्रभावित किया।[5] महायान की लोकप्रियता का यह प्रधान कारण हुआ। महायान के अनुयायी बोधिसत्वों ने स्वार्जित पुण्यकर्मों को परार्पित करने की भावना का मूल ४०० ई० पूर्व में प्रचलित वासुदेव-भक्ति के सिद्धान्तों की आत्मसमर्पण की भावना थी।[6] इस कारण भी महायान को अधिक लोक-विश्रुति एवं लोकसंमान प्राप्त हुआ। उसकी यह लोकप्रियता विदेशों तक फैली। चीन, तिब्बत और जापान आदि देशों में जो बौद्धधर्म प्रचलित है, वह महायान पंथ का ही था।[7]

हीनयान और महायान, दोनों संप्रदायों की दो-दो शाखाएँ हुई। हीनयान ने स्थविरवाद और वैभाषिक को जन्म दिया और महायान ने माध्यामिक और योगाचार को। इनकी भी आगे चल कर अनेक उपशाखाएँ हुई।

---

१. डॉ० केर्न : मैनुअल ऑफ् इण्डियन बुद्धिज्म, पृ० ६, ६१, ११९

२. गीतारहस्य पृ० ५८२-५८३   ३. दीघ, १।२४४-४५; संयुत्त ४।३१२-१४

४. मैकगवर्न : महायान, पृ० १३

५. डॉ० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, १, पृ० ५८३

६. वैष्णविज्म, पृ० १३   ७. तिलक : गीतारहस्य, पृ० ५८२

स्थविरवाद

वैशाली की सर्वास्तिवादी दार्शनिकों की चौथी बौद्ध संगीति में भारतीय बौद्धसंघ थेरवाद (स्थविरवाद), सब्बात्थिवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंघिक (महासांघिक) इन तीन शाखाओं में विभाजित हुआ। इन महासांघिकों ने ही आगे चलकर महायान संप्रदाय के सिद्धान्तों का विकास किया। स्थविरवाद संप्रदाय बौद्धधर्म का सर्वाधिक प्राचीन संप्रदाय है। इस संप्रदाय के प्रवचनकार स्वयं भगवान् बुद्ध थे। इस संप्रदाय का संपूर्ण साहित्य पालि भाषा में है। स्थविरवादी संप्रदाय के पाली ग्रंथों के प्रामाणिक टीकाकार गुप्त-युग में हुए। ये टीकाग्रंथ धार्मिक दृष्टि से जितने उपयोगी हैं, साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य उससे भी अधिक है। पालि भाषा की सर्वांगसमृद्धि के लिए इन ग्रन्थों का बड़ा महत्व है।

स्थविरवादी विचारधारा भी दो मूलों में विभाजित है : सौत्रांतिक और वैभाषिक; किन्तु दोनों के दार्शनिक सिद्धान्त 'सर्वास्तिवादी' हैं।

स्थविरवाद का अर्थ है स्थविरों, अर्थात् वृद्ध ज्ञानी पुरुषों और तत्त्वदर्शियों का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिए 'स्थविर' शब्द का प्रयोग किया गया है। बुद्ध-मंतव्य के विषय में उन स्थविरों का मत ही अंतिम प्रमाण था। अतः स्थविरवाद का अर्थ प्रामाणिक मत भी हो गया। स्थविरवादी भिक्षु 'विभज्य-वाद' के अनुयायी थे। अतः विभज्यवाद और स्थविरवाद दोनों एक ही सिद्धांत के द्योतक हैं। विभज्यवाद का अर्थ है : विभाग कर, विश्लेषण कर प्रत्येक वस्तु के अच्छे अंश को अच्छा और बुरे अंश को बुरा बतलाना। भगवान् तथागत ने सुभ सुत्त (मज्झिम २।५।९) में अपने को उपयुक्त अर्थ में विभज्यवादी कहा है।[1]

अर्हत् अवस्था प्राप्त करना इस सिद्धांत के अनुयायियों का चरम लक्ष्य है। अर्हत्, जीवन की वह अवस्था है, जिसको प्राप्त कर फिर सांसारिक जीवन के क्रिया-कलापों की ओर नहीं मुड़ना पड़ता है। इस अवस्था को प्राप्त करने का उपदेश या मार्ग-निर्देश बुद्ध ने किया है।

बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा मन को पवित्र करने, अच्छी

---

१. भिक्षु जगदीश काश्यप : अभिधम्म फिलासफी, जिल्द २, पृ० १९-२२; गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ९, पदसंकेत १; उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ८६-८७ का फुटनोट ३

बातों का संग्रह करने और पापों से अलग रहने का उपदेश दिया है। बुद्ध का कथन है कि गृहस्थ को चाहिए कि वह हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार और मादक वस्तुओं का परित्याग कर दे। उसे दस अकुशल कर्मपथ : हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याचार, निन्दा, कठोरवाणी, अहंमन्यता, लोभ, असूया और गलत दार्शनिक विचार—से अलग रहना चाहिए।

ध्यान के चालीस प्रकारों के द्वारा समाधि प्राप्त की जा सकती है, जिससे कि मन को संतुलित रखा जा सकता है, प्रतीत्यसमुत्पाद का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और पूर्वापर जीवन से भी संबंध स्थापित किया जा सकता है। कर्म बड़ा प्रबल है। द्रुतगामी रथ की धुरी के समान कर्म से ही सारा जगत् संचालित है।

ऐहिक पदार्थों की निःसारता, अनित्यता और दुःख की मुक्ति के लिए छह चेतनाओं एवं बारह आयतनों से बनी अठारहविध धातुओं का ज्ञान आवश्यक है। इन सभी विचारों को सैद्धांतिक रूप पाटलिपुत्र की संगीति में दिया जा चुका था। सौत्रांतिक संप्रदाय के प्रथम आचार्य कुमारलात ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए। इस संप्रदाय का कोई प्रतिनिधि-ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। स्थविरवादी संप्रदाय के आचार्य बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल, पाँचवीं शताब्दी, गुप्तकाल में हुए। इनके टीकाग्रन्थ बड़े महत्व के हैं।

सर्वास्तिवादी

सर्वास्तिवादी, स्थविरवादियों के अधिक निकट है। स्थविरवादियों का जब ह्रास हो रहा था तब महायान संप्रदाय का प्रबल विरोध सर्वास्तिवादियों ने ही किया। जिन बौद्ध-पन्थों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन संस्कृत भाषा में किया, उनमें सर्वास्तिवादी आचार्यों की गणना प्रमुख है। सम्राट् कनिष्क (प्रथम शताब्दी) इस संप्रदाय के आश्रयदाता थे। इनके राज्यकाल में आमन्त्रित संगीति के अधिवेशन में इस संप्रदाय के सिद्धान्तों पर गम्भीर विचार हुआ था। आचार्य वसुबंधु का 'अभिधम्मकोश' सर्वास्तिवादियों का पहिला प्रामाणिक ग्रंथ है।

'संयुक्तनिकाय' के 'सब्बम् अत्थि' सूत्र के गवेषणापूर्ण तथ्यों पर इस सम्प्रदाय का ऐसा नामकरण होकर सर्वास्तिवाद की प्रतिष्ठा हुई, जिसके अनुसार

वस्तुओं का अस्तित्व त्रिकालजीवी है। सर्वास्तिवादी सिद्धान्तों के अनुसार ७५ तत्व या धर्म है, जिनमें ७२ संस्कृत और ३ असंस्कृत हैं। ७२ संस्कृत तत्वों को रूप ११, चित्तसंप्रयुक्त ४६, चित्तविप्रयुक्त १४ और १ मानसिक-भौतिक-संप्रयुक्त, इन विभागों में पृथक् किया गया है। तीन असंस्कृत तत्वों के नाम हैं आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध।

महासांघिक (महायान)

महासांघिक ही महायान संप्रदाय के निर्माणक हुए। महासांघिकों ने विनय के नियमों को अपने सैद्धान्तिक साँचों में घटित करके एक ओर तो बौद्धधर्म के क्षेत्र में सर्वथा नये नियमों की प्रतिष्ठा की और दूसरी ओर बौद्धधर्म को लोकसामान्य की अभिरुचियों के निकट लाकर उसकी समाजप्रियता को बढ़ाया। उन्होंने धर्म और संघ के तीन नये आदर्शों को जन्म दिया। उन्होंने नये सूत्रों का निर्माण किया एवं प्रथम संगीति में स्वीकृत अनेक सूत्रों को अप्रामाणिक ही घोषित नहीं किया, वरन् महाकस्सप की संगीति में जो पाठ अस्वीकृत हो चुके थे, उन्हें भी अनेक सूत्रपादों में योजित किया। थेरवाद से अलग करने के लिए महासांघिकों ने अपने संकलन को 'आचारिकवाद' से प्रचलित किया।

महासांघिकों का एकमात्र उपलब्ध मूलग्रन्थ 'महावस्तु अवदान' है, जिसकी रचना संभवतः २०० ई० पूर्व या ४०० ई० में हुई। इस संप्रदाय के अधिकांश ग्रन्थ चीनी और तिब्बतीय अनुवादों के रूप में सुरक्षित हैं, जिनको कि बौद्ध भिक्षु भारत से ले गए थे। किन्तु अमरावती तथा नागार्जुनीकोंडा के अभिलेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि महासांघिकों के सूत्रग्रन्थों का अस्तित्व ईसा की पहिली शताब्दी तक अवश्य था।

बुद्ध-परिनिर्वाण के दो शतकों बाद महासांघिक पंथ से एकव्याहारिक, लोकोत्तरवाद, कुक्कुटिक (गोकुलिक), बहुश्रुतीय और प्रज्ञप्तिवाद आदि अनेक शाखाएँ प्रकाश में आईं। भारत के उत्तर-पश्चिम, उत्तर और विशेषतया दक्षिण में इस संप्रदाय का विकास हुआ।

महासांघिक और स्थविरवादी, दोनों संप्रदाय सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत निकट थे। चार आर्य सत्य, अष्टमार्ग, आत्मा का अनस्तित्व, कर्मसिद्धान्त,

प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त, ३० बोधिपक्षीय धर्म और आध्यात्मिक चिंतन आदि दृष्टिकोण उक्त दोनों संप्रदायों के एक जैसे हैं। इन विचारधाराओं के अनुसार बुद्धों और बोधिसत्वों में देवत्व की प्रतिष्ठा की गई। महासांघिकों की विचारधारा को योगाचार संप्रदाय के आदर्शवादी दर्शन की पूर्वपीठिका कहा जा सकता है। महासांघिक पीत चीवर धारण करते थे।

वैभाषिक

हीनयान शाखा का वैभाषिक संप्रदाय सर्वास्तिवादी संप्रदाय है। सम्राट् अशोक के संरक्षण और आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में पाँच-सौ भिक्षुओं की बौद्ध-संगीति ने आर्य कात्यायनीपुत्र-विरचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम 'विभाषा' रखा गया। इसी टीका के आधार पर इस संप्रदाय का नाम 'वैभाषिक' पड़ा। सम्राट् कनिष्क इस संप्रदाय का प्रबल प्रचारक था। आर्य कात्यायनीपुत्र स्वयं बुद्ध भगवान् के शिष्य माने जाते हैं। वैभाषिक अभिधर्म की प्रायः सारी ग्रन्थसंपत्ति अपने मूलरूप संस्कृत या पालि में न होकर चीनी-तिब्बती अनुवादों के रूप में उपलब्ध है। इन्हीं अनूदित ग्रन्थों के आधार पर इस संप्रदाय के केवल दो आचार्यों का पता लगता है, जिनका स्थितिकाल गुप्त-साम्राज्य था। पहिले आचार्य का नाम मनोरथ था। इनके सम्बन्ध में केवल इतना भर पता लग सका है कि आचार्य वसुबन्धु के मित्र होने के कारण ये ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

संघभद्र इस संप्रदाय के दूसरे आचार्य अयोध्यानिवासी थे। ये भी आचार्य मनोरथ के समकालीन थे। महायान के योगाचारसंप्रदायवादी धुरंधर आचार्य वसुबंधु के घोर प्रतिस्पर्धी होने के कारण आचार्य संघभद्र का व्यक्तित्व बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में सर्वत्र प्रतिच्छायित है। वसुबंधुकृत 'अभिधर्म-कोश' का खंडन करने के लिए बारह वर्ष के घोर परिश्रम के बाद इन्होंने 'कोशकारिका' नामक एक अद्भुत ग्रंथ का निर्माण किया था, जिसको इन्होंने मृत्युकाल के कुछ समय पूर्व ही वसुबंधु के पास भेज दिया था। वसुबंधु ने उक्त ग्रंथ का नाम बदल कर 'न्यायानुसारशास्त्र' रख दिया, जिस नाम से आज वह प्रचलित है। इसके अतिरिक्त संघभद्र ने 'समयप्रदीपिका' नामक एक दूसरी कृति का भी निर्माण किया था।

बौद्धयुग

माध्यमिक

समग्र बौद्धधर्म सर्वप्रथम दो प्रमुख गुटों में विभाजित था : पुराना कट्टर-पंथी श्रावकयान और बाद का उदारपंथी महायान। महायान संप्रदाय भी दो विचारधाराओं में विभाजित हुआ : माध्यमिक और योगाचार।

भगवान् तथागत ने वाराणसी में जो प्रथम धर्मोपदेश किया था, वह मध्यममार्ग से संबद्ध था, जिससे आगे चलकर माध्यमिक मत का प्रवर्तन हुआ। माध्यमिक संप्रदाय का 'शून्यवादी' मत बौद्ध-दर्शन का सर्वाधिक सूक्ष्म और तर्कपूर्ण मत है। इस संप्रदाय की स्थापना यद्यपि नागार्जुन से पहिले हो चुकी थी; किन्तु माध्यमिक मत को सैद्धान्तिक रूप में प्रतिष्ठित करने और उसको एक गतिशील अवस्था में खड़ा करने का कार्य आचार्य नागार्जुन (२०० ई०) ने ही किया। इन आचार्यपाद ने इस मत के मूल ग्रंथ 'प्रज्ञापारमितासूत्र' या 'माध्यमिककारिका' की रचना कर माध्यमिक मत के सिद्धान्तों को अजेय बना दिया। नागार्जुन के बाद आर्यदेव (३०० ई०), स्थविर बुद्धपालित (५०० ई०), भावविवेक (५०० ई०), चंद्रकीर्ति (६०० ई०) और शांतिदेव (७०० ई०) जैसे विद्वानों ने उच्चकोटि के भाष्य-ग्रंथों एवं व्याख्याग्रंथों का निर्माण कर माध्यमिक विचारधारा को संवर्धनशील एवं वैज्ञानिक रूप दिया।

आचार्य नागार्जुन कृत 'माध्यमिककारिका' का जो तिब्बतीय भाषा का अनूदित संस्करण उपलब्ध होता है, उसके अंतिम भाग में माध्यमिक दर्शन के जिस शीर्षस्थ आचार्य-अष्टक का उल्लेख किया गया है उनमें बुद्धपालित का भी एक नाम है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में माध्यमिक मत का दो शाखाओं में विकास हुआ, जिनके नाम थे : प्रासंगिक और स्वातंत्र और जिनका प्रवर्तन क्रमशः बुद्धपालित और भावविवेक ने किया। तिब्बतीय अनुवाद के रूप में सुरक्षित आचार्य बुद्धपालित के एक 'वृत्ति' ग्रंथ का पता मैक्स वालेजर नामक एक जर्मन विद्वान् ने लगाया। इस ग्रंथ को उन्होंने 'बिब्लोथिका बुद्धिका' नामक ग्रंथमाला की १६वीं संख्या में संपादित कर प्रकाशित भी किया है।

बौद्ध-न्याय के क्षेत्र में दूसरे दार्शनिक मत 'स्वातंत्र' के जन्मदाता आचार्य भावविवेक हुए। इनकी कृतियाँ भी केवल तिब्बतीय और चीनी अनुवादों

के रूप में सुरक्षित हैं। इनके उपलब्ध ग्रंथों के नाम हैं: १. 'माध्यमिक-करिकाव्याख्या', २. 'मध्यमहृदयकारिका', ३. 'मध्यमार्थसंग्रह' और 'हस्तरत्न'।

इस संप्रदाय के निर्माणकर्ताओं में आचार्य चंद्रकीर्ति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके गुरुद्वय का नाम कमलबुद्धि और धर्मपाल था। ये दाक्षिणात्य थे और इनका स्थितिकाल छठी शताब्दी के लगभग था। नालंदा महाविहार में भी कुछ दिनों तक आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। वहीं पर योगाचार संप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान् और सुप्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य चंद्रगोमिन् के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ था। आचार्य बुद्धपालित द्वारा उद्भावित 'प्रासंगिक मत' के ये निष्णात विद्वान् थे। इनकी तीन कृतियाँ अभी तक उपलब्ध हैं: १. 'माध्यमिकावतार' २. 'प्रसन्नपदा' और ३. 'चतुःशतक-टीका'।

चीन में माध्यमिक मत की प्रतिष्ठा 'ति-ईन-ताई' तथा 'सान-लुन' और जापान के 'सान्-रोन्' नामक धार्मिक पंथों में हुई।

योगाचार

महायान संप्रदाय से उद्भूत एक शाखा योगाचार नाम से प्रसिद्ध हुई, जिसकी प्रतिष्ठा कि आचार्य मैत्रेय या आचार्य मैत्रेयनाथ (३०० ई०) ने की। इस परंपरा के अनुवर्ती आचार्यों में असंग (४०० ई०), वसुबंधु (४०० ई०), स्थिरमति (५०० ई०), दिङ्नाग (५०० ई०), धर्मपाल (७०० ई०), धर्मकीर्ति (७०० ई०), शांतरक्षित (८०० ई०) और कमलशील (८०० ई०) का नाम उल्लेखनीय है। असंग और वसुबंधु दोनों सहोदरों के युग में योगाचार संप्रदाय अपनी चरमोन्नति को पहुँचा। असंग ने तो इसको 'योगाचार' नाम दिया और वसुवंधु ने 'विज्ञानवाद' नाम से उसके सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या की।

योग द्वारा बोधि को प्राप्त करने के कारण इस संप्रदाय का ऐसा नामकरण हुआ। वही विज्ञानवाद है। इन दोनों नामकरणों में यह अंतर है कि जहाँ योगाचार, दर्शन के व्यावहारिक पक्ष की मीमांसा करता है वहाँ विज्ञानवाद उसके विचार पक्ष का प्रदिपादन करता है।

योगाचार के अनुसार ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं: परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न। परिकल्पित ज्ञान कल्पनाश्रित, परतंत्र ज्ञान सापेक्ष्य और परिनिष्पन्न ज्ञान सत्याश्रित है।

महीशासक

पालि प्रमाणों के आधार पर स्थविरवादियों से पृथक् हुए वण्णीपुत्तकों ने इस पंथ का प्रवर्तन किया। पौराणिक जन इस मार्ग के पहिले महीशासक थे, जिन्होंने कि राजगृह की प्रथम संगीति में निर्धारित नियमों को मानने से इन्कार कर दिया था। इस शाखा का विकास श्रीलंका में हुआ। 'जातकट्टकथा' के पहिले श्लोक में कहा गया है कि उसका निर्माण लेखक ने अपने एक महीशासक मित्र बुद्धदेव के आग्रह पर किया।

महीशासक नौ असंस्कृत धर्म के अनुयायी थे। सर्वास्तिवादियों की भाँति महीशासक भी गत, आगत और अन्तराभव में विश्वास करते थे। उनके मतानुसार स्कन्ध, आयतन और यातु, बीजों के रूप में विद्यमान रहते हैं।

हैमवत

वसुमित्र के कथनानुसार हैमवत स्थविरवादियों की ही एक शाखा थी; किन्तु भव्य और विनीतिदेव उनको महासांघिकों के अन्तर्गत मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमालय प्रदेश के किसी छोर में इस पंथ का आविर्भाव हुआ था। इस पंथ के मतानुसार बोधिसत्वों का कोई स्थान नहीं, देवता ब्रह्मचर्य का पवित्र जीवन नहीं बिता सकते और अश्रद्धालु जनों में चमत्कारिक शक्ति नहीं होती।

वात्सीपुत्रीय तथा सम्मितीय

ये दोनों पंथ पुद्गल के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार पुद्गल एक स्थायी तत्व है और उसके बिना पूर्वजन्म संभव नहीं। दिव्यपंथ के पाँच तत्वों को वे मान्य समझते हैं। कहा जाता है कि हर्ष की शासनावधि में उसकी बहिन राज्यश्री ने इन पंथों को राज्याश्रय दिया था। 'अभिधम्मकोश' के अंत में एक अध्याय जोड़कर वसुबंधु ने इस पंथ की आलोचना की है।

धर्मगुप्तिक

यह पंथ महीशासकों की फूट के कारण अलग से प्रतितिष्ठि हुआ। इस मत के अनुयायीजन बुद्ध को भेंट चढाना और स्तूपों पर श्रद्धा करना अपना प्रधान उद्देश्य समझते थे, जो कि महीशासकों के विरुद्ध था। इनका अर्हत्

पर विश्वास था। मध्यएशिया और चीन में इस मत ने अपना पूर्ण विकास किया।

काश्यपीय

यह पंथ स्थविरवादियों के अधिक निकट था। इसी कारण काश्यपीयों को स्थविरवादी भी कहा गया। गत के प्रति उदासीनता और आगत के प्रति आशा, इस मत के अनुयायियों की विशेषता है। काश्यपीयों ने सर्वास्तिवादियों और विभज्यवादियों के बीच का विरोध कम करने में सहायता की। तिब्बतीय परंपरा में काश्यपीय, सुवर्षक भी कहलाते हैं।

बहुश्रुतीय

बौद्धधर्म के एक बहुश्रुत नामक आचार्य द्वारा प्रवर्तित बहुश्रुतीय पंथ का उल्लेख अमरावती और नागार्जुनीकोंडा के शिलालेखों से उपलब्ध होता है। यह पंथ महासांघिक संप्रदाय से उद्‌भूत है। शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन आदि तत्वों से निर्मित धर्मकाय में बहुश्रुतपंथीयों का विश्वास था। तथागत के अनित्यता, दुःख, शून्य, अनात्मन् और निर्वाणसंबंधी उपदेशों को वे सर्वमान्य समझते थे। बौद्धधर्म की दो प्रमुख शाखाओं (श्रावकयान और महायान) की विरोधी भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करने में बहुश्रुतीय बौद्धों ने उल्लेखनीय कार्य किया।

चैत्यक

महादेव नामक एक भिक्षु ने बुद्धनिर्वाण के लगभग दो शतकों बाद इस पंथ का प्रवर्तन किया। यह भिक्षु मथुरा के महादेव से भिन्न था। उसने महासांघिकों के पाँच सिद्धान्तों के आधार पर अपना एक नया ही पंथ प्रचलित किया। एक चैत्ययुक्त पर्वत पर आवास होने के कारण उसके अनुयायी चैत्यक कहलाए, जिसका ऐतिहासिक विवरण अमरावती और नागार्जुनीकोंडा के शिलालेख भी देते हैं।

ये लोग चैत्यों के निर्माण, उनकी अर्चना एवं अलंकरण, बुद्ध-आसक्ति, सम्यक् दृष्टि और निर्वाण में विश्वास करते थे। बौद्धधर्म का यह पहिला पंथ था, जिसने बुद्ध और बोधिसत्व को दैवी रूप में प्रतिष्ठित कर उसकी लोकप्रियता को बढ़ाया।

बौद्धयुग

बौद्धधर्म से प्रभावित हिन्दूधर्म

यद्यपि ब्राह्मणधर्म की कुछ संकीर्णताओं के विरोध में बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ था; फिर भी, मूलतः वह हिन्दूधर्म का ही अंश था। बौद्ध-धर्म में जो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, सर्वभूतानुकम्पा आदि नीति-धर्म हैं, उनका दाय ब्राह्मणधर्म के धर्म-सूत्रों से तथा प्राचीन स्मृतिग्रन्थों से लिया गया है। 'मनुस्मृति' के कुछ श्लोकों के 'धम्मपद' में अक्षरशः पाये जाने का कारण भी यही था[1]।

आर्य और आर्येतर जातियों के समन्वित आचार-विचारों के फलस्वरूप जिस व्यापक हिन्दू-धर्म की प्रतिष्ठा हुई थी; उसकी दृष्टि से ब्राह्मणधर्म भी एक संप्रदायविशेष का धर्म था; जैसे कि जैन, बौद्ध धर्म आदि। जिस प्रकार जैन और बौद्ध धर्मों के अनुयायी ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर सभी जातियों के लोग थे, ठीक उसी प्रकार ब्राह्मणधर्म, सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति का एक मात्र धर्म न होकर कुछ चुने हुए पुरोहितों का धर्म था। व्यापक हिन्दूधर्म में ब्राह्मणधर्म की उत्पत्ति के बाद, बीच में जो संकीर्णतावादी और असमानतावादी प्रवृत्तियों का प्राबल्य हो गया था, उसकी प्रत्यालोचनास्वरूप जैन-बौद्ध धर्म उदित हुए। उसका यह परिणाम हुआ कि ब्राह्मणधर्म में जो खराबियाँ थीं, वे दूर हो गईं। वह सर्वांग विशुद्धि को प्राप्त हुआ। इस दृष्टि से यह आवश्यक था कि हिन्दूधर्म पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ता।

यद्यपि जीवन और जगत् के प्रति नैराश्य एवं वैराग्य की भावना का समर्थ उदय उपनिषद्-ग्रन्थों से ही आरंभ हो गया था और जैनधर्म उनसे पर्याप्त प्रभावित हो चुका था; किन्तु व्यावहारिक रूप में उसको उतारने एवं लोकप्रचारित करने का उल्लेखनीय प्रयास बौद्धधर्म ने किया। तथागत ने जीवन की विभीषिकाओं से सर्वथा विमुक्ति पाने के लिए वैराग्य की श्रेष्ठता को समाज के सामने, बड़े सरल ढंग से उपस्थित किया। उन्होंने बताया कि जीवन का वास्तविक सुख जीवित रहने में नहीं, प्रत्युत, मरणोपरांत पुनः जीवन में प्रवेश न करने में है। जीवन का अनंत आनंद जगत् के अंधकार से पार हो जाने में है। बुद्ध के इस निवृत्तिवादी दृष्टिकोण से हिन्दूधर्म पर्याप्त प्रभावित हुआ।

---

१. डॉ० केर्न : मैनुअल ऑफ् बुद्धिज्म, पृ० ६८

जैन-बौद्धों के इस निवृत्तिवादी दृष्टिकोण के प्रभाव से हिन्दू-समाज में आचार-विचार, खान-पान और सबसे अधिक छुआ-छूत एवं जात-पाँत की कुप्रथाओं में शिथिलता आ गई। अहिंसा एवं जीव-दया और दुखियों के प्रति करुणा की बौद्ध-प्रवृत्तियों से प्राणिमात्र का दुख-दर्द संसार के दुख-दर्द में परिवर्तित हो गया। विभिन्न जातियों के सामाजिक समझौते के कारण जिस महान् हिन्दू समाज की प्रतिष्ठा हुई थी, पुरोहितवादी प्रवृत्तियों ने उसमें एक ओर तो तानाशाह को जन्म दिया और दूसरी ओर वर्ग-जन्य भेद-भाव का प्रचार कर समाज को विच्छिन्न कर दिया था। इस एकाधिपत्य की और वर्गजन्य वैषम्य की भावना को दूर करने में बौद्धधर्म का सबसे बड़ा हाथ रहा। बुद्धानुवर्ती श्रावक संतों ने खुले-आम जात-पाँत, ऊँच-नीच और छुआ-छूत का डटकर विरोध किया।

बौद्धधर्म की सामाजिक प्रतिष्ठा

यद्यपि बौद्धधम वैदिक धर्म के विरुद्ध खड़ा हुआ था; किन्तु इतना मात्र ही लोकव्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए यथेष्ट नहीं था। एकमात्र वेदों के विरुद्ध आवाज उठाकर बौद्धधर्म को जगद्व्यापी संमान प्राप्त नहीं हो सकता था; बल्कि यदि उसका एक मात्र उद्देश्य वैदिक धर्म का विरोध करना ही होता तो, वह पनपने की जगह विलुप्त हो गया होता। उसका जगद्व्यापी होने का कारण था सर्वानुग्राही सामाजिक पक्ष। बौद्धधर्म के इस सामाजिक पक्ष ने उसको मानवधर्म के उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया।

जगत् के मूल में जो एक महान् अभाव दुःख था, दिव्यदृष्टि भगवान् तथागत ने उसकी इस ढंग से व्याख्या की, कि सामान्य जन की समझ में भी वह सरलता से समा सके। उन्होंने इस जगत्-पीडक दुःख की विविध व्याख्याएँ करके उसको जगत् का एकमात्र अशान्ति का मूल कारण सिद्ध किया। दुःख के कारण और उसकी निवृत्ति के लिए उन्होंने चार आर्य-सत्यों का प्रवचन किया : १. दुःख को आर्य-सत्य बताकर उन्होंने उसको जन्म, जरा, व्याधि और अभाव का कारण बताया; २. दुःख-समुदाय को आर्य-सत्य कह कर उन्होंने उसको तृष्णा को उत्पन्न करने का कारण बताया; ३. दुःख-निरोध को आर्य-सत्य कह कर उन्होंने उसके अनेकविध कारणों को खोज निकाला; और ४. दुःख-मुक्त होने के लिए उन्होंने सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक्

व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि, इस उपदेशाअष्टक को प्रचारित किया।

दिव्यचेता भगवान् बुद्ध के इन लोकोपकारी सद्वचनों को समाज में यथेष्ट आदर प्राप्त होने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि वे सभ्य एवं सुशिक्षित लोगों की संस्कृत भाषा में न होकर तत्कालीन समाज की लोक-भाषा पालि में थे। बुद्ध की वाणी ने प्रचलित लोकभाषा का आश्रय लेकर एक ओर तो अपने उपदेशों को सीधे समाज के कानों तक स्वयं पहुँचाया, और दूसरी ओर क्षीणोन्मुख समाप्तप्राय पालि भाषा को अपनाकर उन्होंने उसको अग्रसर होने का सुयोग दिया। बौद्धधर्म की इन विशेषताओं के कारण एक दिन वह भारत का राजधर्म मात्र बनकर न रह गया, वरन्, अपने प्रबल आचारपक्ष और परीक्षित सत्य के कारण, संसार का एक बहुत बड़ा जनसमाज उसका अनुयायी होने में अपना गौरव समझने लगा। तथागत ने ज्ञान और भक्ति की अपेक्षा कर्ममार्ग की श्रेष्ठता को सामने रखा, जिसका स्वत्व उन्होंने महान् ग्रंथ गीता से ग्रहण किया। उन्होंने ज्ञान एवं भक्ति को कर्ममूलक सिद्ध किया और मनुष्य को अपने उपदेशों द्वारा कर्म की ओर प्रवृत्त होने का प्रेरणा दी।

यही कारण था कि जिस हिन्दू धर्म ने पहिले-पहिल तथागत को नास्तिक कहकर बदनाम करना चाहा था, उनके उक्त महान् कार्यों के कारण, पीछे उनको अपने दशावतारों की श्रेणी में रखकर संमानित किया।

बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया वह आचारप्रधान था। आत्मदर्शी तथागत का पारलौकिक चिंतन, ऐहिक चिन्तन पर आधारित था। उन्होंने मानव-जीवन की वेदनाओं, दुःखों और उत्पीड़नों का मूल कारण आचार-विमुखता बताया, और कर्मों के सुधार में ही जीवन की निर्मलता एवं शांति को बताया। उन्होंने 'अव्याकृत' कहकर मानव-जीवन की संपूर्ण सिद्धि सत्कर्मों के क्रोड़ में बताई। बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म आचारपरक था, ऊहापोह-परक नहीं। इसीलिए वह साधारण समाज, अथच मानवमात्र का धर्म बन सका।

उपनिषद् और बौद्धधर्म

'गीता'[1] से अनुवर्तित उपनिषद्-ग्रंथों[2] को 'सर्वभूतहिते रत' की भावना को, प्राणिमात्र की दया-भावना को बौद्धधर्म में ज्यों-का-त्यों अपनाया गया है[3]।

---

१. गीता, २. ईश ६ ३. बोधिचर्यावतार, पृष्ठ ३३१

उपनिषद्-ग्रंथों में जिस बाह्याडंबर को हेय समझा है, उसको बौद्धाचार्यों ने भी उसी रूप में ग्रहण किया है। उपनिषद्-ज्ञान के उद्भावक ऋषिवरों ने संसार के क्लेशमय तापों को अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर उनकी दार्शनिक एवं बौद्धिक दृष्टि से व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त बुद्ध, एक दार्शनिक की अपेक्षा कवि-हृदय के थे। इसलिए उन्होंने संसारिक तापों को देखा ही नहीं है, वरन्, उनका अनुभव भी किया है। बौद्ध-धर्म की इन अति कोमल कवित्वमय अनुभूतियों को देखकर विद्वानों ने इसको हिन्दू-धर्म का ही एक रूप माना है।[1]

बौद्ध-दर्शन के अनुसार जीवन का अंतिम लक्ष्य है निर्वाणप्राप्ति; अर्थात् अनंत शान्ति में भरपूर डूब जाना। निर्वाण वस्तुतः जीवन की वह स्थिति है, जहाँ वह राग, द्वेष, मोह, मात्सर्य, स्व, पर और अभाव आदि जितने भी जीवन को उलझाए रखनेवाले क्रिया-कलाप हैं उनसे ऊपर उठ जाना है।[2] हिन्दू-दर्शन में जिसको जीवन्मुक्त एवं स्थितप्रज्ञ की उपाधि से संबोधित किया गया है, निर्वाणप्राप्त जीवन के ठीक वही विशेषण हैं।

संसार के सारे धर्म मनोजन्य हैं। इसलिए सर्वप्रथम मन की शुद्धता अपेक्ष्य है। कषाय-वस्त्रों को धारण कर लेने मात्र से ही संयम और सत्य की उपलब्धि नहीं होती है, उसके लिए पहिले राग-द्वेषादि कषायों (मलों) को धोकर साफ कर देना आवश्यक है।[3] हिंसा को अहिंसा से, बैर को मित्रता से विजय किया जा सकता है। अविद्या सभी क्लेशों का कारण है। इसलिए अविद्या को दूर करने का यत्न करना चाहिए। दुराचार, मात्सर्य, पाप आदि अविद्या के ही मल हैं।[4]

वेदों की प्रामाणिकता पर अविश्वास; व्यष्टिगत अनुभूतियों की सत्यता में विश्वास; धर्म की एकांगिता एवं यज्ञों के हिंसापरक बाह्याचारों का बहिष्कार; ये सभी बातें उपनिषदों और बौद्धों की दृष्टि से एक समान हैं। उपनिषदों की सैद्धांतिक परिणति ब्रह्मतत्त्व की खोज में होती है; वही बुद्ध का धर्म है। दोनों ही इस महान् सत्य को खोज निकालने के लिए बौद्धिक प्रयास को व्यर्थ कहते हैं। जीवन की अंतिम मंजिल की स्थिति दोनों की

---

१. डॉ० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३६१

२. यामाकामी सोगेन : सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्ट थाट, पृ० ३३

३. मज्झिमनिकाय ३८   ४. धम्मपद १।३, १।५, १।९, १८।८,९

दृष्टि में अपरिवर्तनीय ठहरती है। दोनों स्वीकार करते हैं कि 'स्व' और 'पर' के भेदभाव से तिरोहित वैराग्य, ध्यान और समाधि, ये तीनों ही मोक्ष एवं निर्वाण तक पहुँचने की सीढ़ियाँ हैं। दोनों की दृष्टि में जीव और जगत् परिवर्तनीय होने के कारण नाशवान् हैं।

बुद्ध का ब्राह्मण-अविरोधी दृष्टिकोण

वैदिक युग से जो वर्णाश्रम-व्यवस्था कर्म पर आधारित न होकर जाति पर आधारित होकर चली आ रही थी उसकी आलोचना करना बुद्ध ने इसलिए आवश्यक समझा कि वह व्यवस्था सामूहिक रूप से हितकर न होकर वैयक्तिक हितों की रक्षा करती आ रही थी; फिर भी, यह कदापि न समझना चाहिए कि बुद्ध ने अपने उपदेशों में सामाजिक नीति-नियमों की उपेक्षा की है।[1] बुद्ध ने, सामाजिक व्यवस्था का एकाधिकारी अपने को समझने वाले ब्राह्मणों के प्रति, जिन्होंने आध्यात्मिक उन्नति का एकाधिकार अपने अधीनस्थ कर लिया था, भरपूर विरोध प्रकट किया।[2] समाज की आध्यात्मिक और बौद्धिक उन्नति को अपने काबू में करके चैन से बैठे हुए ब्राह्मणों के विधि-विधानों को बुद्ध ने अस्वीकार कर व्यक्ति-व्यक्ति के लिए अपने धर्म-संघ में प्रविष्ट होने का आग्रह किया।

तथागत के उपदेशों में एक असामान्य बात यह थी कि उसकी ओर से कोई भी उपासक अपने धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों को करने में सर्वथा स्वतंत्र था। यही कारण था कि जिन भी ब्राह्मणों ने तथागत की वाणी का श्रवण किया, वे उनके उपासक बन गए; किन्तु उन्होंने अपनी सामाजिक स्थिति को एवं ब्राह्मण-परंपराओं को पूर्ववत् बरकरार बनाये रखा।[3] बुद्ध का यह पर-धर्माविरोधी दृष्टिकोण बहुत ही ऊँचे दर्जे का था।

वैदिक यज्ञवाद और ब्राह्मणग्रंथों की कर्म-पद्धतियाँ निश्चित ही बुद्ध को अभिमत न थीं, और यह बात बुद्ध के संबंध में नई भी नहीं कही जा सकती है, क्योंकि वैदिक यज्ञवाद की तीव्र निन्दा उपनिषदों में हो चुकी थी, जिसका समर्थन एवं जिसकी व्याख्या सांख्यकारों ने की। सांख्यदर्शन ने वैदिक यज्ञों

---

१. ई० जे० थामस : लाइफ ऑफ बुद्धा, पृ० १२८

२. मज्झिम ३।५।१, ४।४।२२

३. ओल्देनबर्ग : बुद्धा, पृ० ३८२-८३, १९२, नोट १

पर पहिला आरोप तो यह लगाया कि वे पशुहिंसा के कारण अपवित्र हैं, दूसरे में वे विनाशयुक्त हैं और तीसरे में उनके अन्दर सबसे बड़ी बुराई ऊँच-नीच की भावना में है।[1] इससे पूर्व गीताकार यज्ञों की विनश्वरता पर अपना स्पष्ट निर्णय दे चुका था।[2] कर्म के प्रति उपेक्षा की भावना का आरंभ उपनिषदों से ही हो चुका था;[3] किन्तु वे कर्म यदि भक्ति और वैराग्य की भावना से किए जायँ तो वे अधिक अनुकूल फलदायी हो सकते हैं, यह विकल्प गीताकार दे चुका था[4] और इसी परंपरा को लेकर शील की योजना में कर्म के महत्त्व पर जोर दिया गया।

वस्तुतः देखा जाय तो तथागत का ब्राह्मणों के प्रति कोई भी व्यक्तिगत द्वेषभाव नहीं था; बल्कि ब्राह्मणों से उनके संबंध बड़े मैत्रीपूर्ण थे। सैद्धांतिक दृष्टि से उन्होंने ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन कुछ दूसरी ही दृष्टि से किया; किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनके सारे उपदेश ब्राह्मण धर्म के विश्वव्याप्त आदर्शों के ही अनुकूल थे। ब्राह्मणों ने ब्रह्मज्ञान को जो अतिशय गुह्य, त्रैवर्णिक अधिकार के रूप में ही समेट कर व्यक्तिगत अधिकार की वस्तु बना दिया था, तथागत ने उसकी सर्वजनानुरूप व्याख्या की।[5]

बुद्ध के पुण्यसंबंधी सिद्धांत गीता से प्रभावित हैं। उन्होंने वैदिक यज्ञों में विहित पुण्यसंबंधी परिभाषाओं से भी दान को श्रेष्ठतर यज्ञ कहा है। धर्म तथा संघ के शरणागत हो जाना और संयमित होकर शिक्षापदों का पालन करना ही श्रेष्ठ यज्ञ है।[6] दान करने से आनंदलोक की उपलब्धि होती है। वह दान, द्वेष-विनिर्मुक्त और प्रसन्नचित्त होकर किया जाना चाहिए। वह ज्ञानी कहलाकर सुखी हो सकते हैं।[7]

इसलिए बौद्धों और ब्राह्मणों का जो द्वेष, विरोध है, वह इसलिए भी इतना बढ़ गया कि दोनों ने ही बुद्ध और उनकी विचारधारा को पूरी तरह न समझ सका।

---

१. सांख्यकारिका, कारिका २

२. गीता ९।२१ ३. बृहदारण्यकोपनिषद् ३।४।२२

४. गीता २।५७, ९।२६,२७

५. रायस डेविड्स : इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, जिल्द १०, पृ० २७४-२८६

६. थामस : लाइफ ऑफ बुद्धा, पृ० १७६; मिलाइए—गीता ४।२८, ३२, ३३; कूटदंतसुत्त, दीघ० १, १४४-१४७ ७. अंगुत्तर ३।३३७

बौद्धधर्म की विकृतावस्था

महायान संप्रदाय ने समाज को हिन्दुत्व के विरुद्ध उभाड़ने के उद्देश्य से मंत्र और योगाचार जैसे कुछ स्थूल आचारों का प्रचलन किया। उनके इन स्थूल आचारों में महासुखवाद का दृष्टिकोण समाहित था, जिसका मूर्तरूप मंत्रयान और वज्रयान जैसे उपसंप्रदायों में देखने को मिला। यद्यपि मंत्र और योग की ऐतिहासिक परंपरा वेदों तक पहुँचती है; किन्तु उनको तड़कीला-भड़कीला रूप बौद्ध साधकों ने ही दिया। बौद्ध धर्म के महायान का यह नया स्वरूप हिन्दुत्व और स्वयमेव बौद्ध धर्म के लिए एक बड़े खतरे का सूचक था। पाँचवीं शताब्दी से लेकर लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक का यह समय विशेषतः उत्तर भारत के आध्यात्मिक पतन का समय था। मन और इन्द्रिय को उनकी सहज, स्वाभाविक गति पर छोड़ देने के कारण एक तीसरे ही उपसंप्रदाय 'सहजयान' का आविर्भाव भी इसी समय हुआ। आगे चलकर इसकी सहजता केवल ऐंद्रियिक सुखों में ही सिकुड़कर रह गई और यह संप्रदाय मूलतः व्यभिचारवाद का परिचायक हो गया।

जिस पवित्र बौद्ध धर्म ने एक समय अपनी आचारिक उच्चताओं के कारण भारतीय समाज को और दुनिया के विभिन्न देशों को अपनी ओर आकर्षित किया था, जिसके आविर्भाव का एक मात्र उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों को दूर कर, उसको एक समान स्तर पर प्रतिष्ठित करना था, वह स्वयं ही इस विकृतावस्था को पहुँचा कि जिस धरती पर उसका जन्म हुआ, और जहाँ की सारी प्रकृति ने उसको पाकर अपने को धन्य समझा, वहीं से उसको उन्मूलित होने में देर न हुई। भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण कुछ इस प्रकार थे :

१. स्त्रियों को भिक्षुणी धर्म में अभिषिक्त करने के कारण व्यभिचार का प्रचार बढ़ा।

२. आत्मा को अनित्य कहकर समाज की आस्था से वह दूर होता गया।

३. श्रमणों ने सात्विक जीवन को छोड़कर राज्याश्रय में अपनी बुद्धि को लगाया।

४. पौराणिक कथाओं का निर्माण कर उनमें बुद्ध के उपदेशों का हलकापन प्रकट किया।

५. योगाभ्यास और भोगविलास के कारण श्रमणों के प्रति ब्राह्मणों एवं शैवों की प्रतिरोध भावना।

६. मंत्र और योगाचार की अधिकता।
७. पाँचवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच का समय जहाँ एक ओर दार्शनिक चिन्तन और बौद्धिक विकास का समय रहा, वहाँ दूसरी ओर बौद्ध-भिक्षुओं के पाखंडों से जनता की विमुखता।
८. पौराणिक धर्म की पुनः-प्रतिष्ठा के कारण बौद्ध-धर्म का उखड़ता हुआ अस्तित्व।
९. भिक्षु-भिक्षुणी, श्रावक-श्रावकी और कापालिक-कापालिनी के गुप्त व्यभिचारों का पर्दाफाश।
१०. इस्लाम के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण।
११. बौद्ध-दर्शन का स्वरूप नकारात्मक होने के कारण उसमें जीवन से पलायित होने की प्रवृतियाँ मौजूद थीं, जिनसे जनसाधारण की जिज्ञासाओं का समाधान न हो सका।
१२. मद्य-मैथुन की छूट। सहजिया वज्रयानियों ने शून्यता और करुणा को प्रज्ञा तथा उपाय की संज्ञा देकर दोनों के बीच नर-नारी के संबंध की नई बात को रखा। उपाय का प्रतीक तो साधक हो गया और प्रज्ञा का प्रतीक नारी बन गई।

ये सभी कारण थे, जिन्होंने मिलकर इस महान् मानव-धर्म की जड़ें खोखली कर दीं, और फलतः जिस धरती पर वह जन्मा, पनपा एवं दिनों-दिन अपनी लोकप्रियता के कारण उच्चासन पर प्रतिष्ठित हुआ, वहाँ अपनी जन्मभूमि से ही उसको विलुप्त होते भी देर न लगी।

वर्तमान भारत में बौद्धधर्म की अवस्था

किन्तु परम कल्याण की बात है कि हमारी सरकार बौद्धधर्म के पुनरुज्जीवन के लिए यत्नशील है, और बौद्धधर्मानुयायी देश आज इस धार्मिक एकता को लेकर भारत के साथ घनिष्ठ मैत्री की दिशा में यत्नशील है। पंचशील के सिद्धांतों पर चलकर, जिनका आधार बुद्धवाणी है, सद्भाव और मैत्री के प्रचार-प्रसार के लिए जो धरतीव्यापी कार्य हो रहे हैं, उनमें मनुष्यमात्र की भलाई निहित है।

आज, जब कि मनुष्य इतनी बौद्धिक उन्नति कर चुका है कि सारी दुनिया को उसने अपनी हथेली में बाँधकर रख दिया है, उसके मानसिक द्वन्द्व

और मन की अशांति को दूर करने के लिए शांतिमय बुद्धमार्ग ही श्रेयस्कर है।

आज, इस स्थिति में, अशांत मानवता के लिए भारत की यह अपनी अकेली देन होगी कि वह बौद्धधर्म के ऊँचे आदर्शों को जगाकर उन्हें दुनिया भर में फैलाये।

बौद्धन्याय

भगवान् तथागत ने जिस महान् धर्म को जन्म दिया था, उसके मूल में सामाजिक समझौते की भावना विद्यमान थी। दलगत विचारधाराओं का उन्होंने यावज्जीवन बहिष्कार किया। उनके लिए यह संभव न था कि वे दार्शनिक गुत्थियों के जंजाल में पड़कर अपने धार्मिक उपदेशों से दूर, दर्शन के ऊहापोह में फँसते। अपने जीवनकाल में बड़ी कड़ाई से उन्होंने अपने अनुयायियों को उधर जाने से रोका, टोका एवं निषेध किया। यही कारण है कि ज्ञानोपलब्धि के बाद सारनाथ में उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओं के लिए जो सबसे पहिला प्रवचन (५२८ ई० पूर्व) किया उसमें यही कहा था कि हे भिक्षुओ, बहुजन-हित के लिए और बहुजन-सुख के लिए विचरण करो। गृहस्थ के लिए उन्होंने जिव दश अकुशल कर्मपथ से दूर रहने का निर्देश किया है उनमें से एक दार्शनिक पक्ष भी था।

किन्तु बुद्ध-निर्वाण (३८३ ई० पूर्व) के लगभग दो वर्ष के भीतर ही उनके शिष्यों की दबी हुई इच्छायें प्रबल हो उठी, और बुद्ध के पवित्र उपदेशों को पीछे करके वे जीवन-जगत् के गूढ़-रहस्यों को सुलझाने में डट गए, जिसके फलस्वरूप चार दार्शनिक संप्रदाय आज हमारे सामने मौजूद हैं। इन चारों संप्रदायों का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है :

वैभाषिक	प्रत्यक्षवादी	संसार सत्य, निर्वाण सत्य
सौत्रांतिक	बाह्यार्थानुमेयवादी	संसार सत्य, निर्वाण असत्य
योगाचार	विज्ञानवादी	संसार असत्य, निर्वाण सत्य
माध्यमिक	शून्यवादी	संसार असत्य, निर्वाण असत्य

१. प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण के अनुसार सांसारिक वस्तु में, जिसके द्वारा असंख्य प्राणियों का जीवन-निर्वाण हो रहा है, वह अनंत सत्ता विद्यमान है; अतएव वह सत्य है।

२. बाह्यार्थानुमेयवाद के अनुसार बाह्य पदार्थ नाशवान् होने के कारण उनका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। वह अनुमान पर आधारित हैं : दर्पण के प्रतिबिंब को देखकर बिंब के अनुमान की भाँति। अनुमिति से बाह्य पदार्थों की सत्यता पर विश्वास किया जा सकता है।

३. विज्ञानवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रतिबिंब के द्वारा बिंब का आनुमानिक ज्ञान असत्य एवं मिथ्या ज्ञान है। चित् ही एकमात्र सत्ता है, जिसके आभास को हम जगत् के नाम से पुकारते हैं। चित् ही विज्ञान है।

४. शून्यवाद के अनुसार चित भी अस्वतंत्र है। पदार्थ की भाँति विज्ञान भी क्षणिक है। शून्य ही परमार्थ है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक और शून्य की पारमार्थिक हैं। पारमार्थिक शून्य ही सत्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन दार्शनिक संप्रदायों का जन्म किसी एक निश्चित दिन या किसी एक व्यक्ति से नहीं हुआ। उनके सिद्धान्त एक दूसरे से संबद्ध हैं। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर नवीं शताब्दी ईसवी तक के १५०० वर्षों में बौद्ध-दर्शन पनपा और फला-फूला। इस कालावधि को बौद्ध-साहित्य में 'त्रि-चक्र-परिवर्तन' के नाम से कहा जाता है, जिसको ५००-५०० वर्षों के तीन विभागों में अलग किंया जा सकता है।

ईसवी पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी तक पुद्गल-नैरात्म्य (आत्मा के निषेध) का समय रहा है। यह वैभाषिक सिद्धान्तों की उन्नति का समय था। उसके बाद के पाँच शतकों में पुद्गल-नैरात्म्य की जगह धर्म-नैरात्म्य ने ले ली थी। व्यक्ति-कल्याण, समष्टि-कल्याण में परिवर्तित हो गया था। शून्यवाद का उदय इसी समय हुआ। आर्य सत्य की जगह सांवृतिक एवं पारमार्थिक ने ले ली थी। वैभाषिकों के 'बहुत्ववाद' की जगह 'अद्वैतवाद' (शून्यवाद) ने घेर ली थी। अर्हत् की संकीर्णता से बोधिसत्व की भावना ने प्रबलता प्राप्त की, जिससे मैत्री और करुणा की वृद्धि हुई। मानव बुद्ध अब अलौकिक बुद्ध हो गए थे।

लगभग पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक बौद्धदर्शन के विकास की तीसरी स्थिति है। इस युग में बौद्ध विद्या की अपूर्व उन्नति हुई। एकांत शून्यवादी विचारधारा विज्ञानवाद की समर्थक इसी युग में हुई। फलस्वरूप जगत् को चित् या विज्ञान का परिणाम स्वीकार किया गया। इसके बाद के पाँच शतकों में बौद्ध तत्त्वज्ञान की अपेक्षा बौद्ध धर्म की अधिक उन्नति हुई। यह युग तंत्र और योगाचार का समय था।

बौद्धयुग

बौद्धन्याय का विकास

बौद्ध-साहित्य की दार्शनिक परंपरा का इतिहासबद्ध अध्ययन हम आचार्य नागार्जुन की कृतियों से कर सकते हैं। बौद्ध-दर्शन के इतिहास में नागार्जुन को एक युग-विधायक मनस्वी के रूप में याद किया जाता है। तिब्बत, चीन और मंगोलिया के जन-जीवन में इन आचार्यपाद का व्यक्तित्व आज भी संमान पा रहा है। बौद्ध-न्याय की प्रतिष्ठा और उसके प्रचार-प्रसार का संपूर्ण श्रेय आचार्य नागार्जुन की महान् कृतियों को प्राप्त है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विरचित महायान संप्रदाय के आधारभूरत ग्रन्थ 'महायानसूत्र' और 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' आदि ग्रन्थों के यशस्वी निर्माताओं के संबंध में आज भी कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकाव्यकार एवं महायान संप्रदाय के सर्वास्ति-वादी आचार्य अश्वघोष को हम सैद्धांतिक चर्चाओं का प्रतिपादन करते हुए अवश्य पाते हैं, किन्तु उनके विचारों में एकता एवं व्यवस्था का अभाव है। महायान संप्रदाय के इन विच्छिन्न सैद्धान्तिक विचारों को एक रूप में बाँधने और उनको अग्रसर करने का अपूर्व कार्य आचार्य नागार्जुन ने किया। नागार्जुन के समान अद्भुत तार्किक विश्व के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता है।

किन्तु नागार्जुन का दार्शनिक दृष्टिकोण समझने से पूर्व भारतीय न्याय-दर्शन की परम्परा से परिचित हो जाना आवश्यक है। षड्-दर्शनों के विकास में न्याय-दर्शन और वेदान्त की परंपरा अपना एक प्रतिष्ठित स्थान रखती है। ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय-दर्शन की दो प्रमुख धाराएँ हैं। पहिली परम्परा का प्रवर्तन महर्षि अक्षपाद गौतम (५०० ई० पूर्व) कृत 'न्याय-सूत्र' और उस पर लिखे गए वात्स्यायन-भाष्य (३०० ई०) से प्रारंभ होता है जिसको कि 'प्रकृत' की संज्ञा दी गई है। दूसरी परम्परा के आविर्भावक जैन और बौद्ध थे। इन दोनों धाराओं की प्रतिस्पर्धा के कुछ शतकों बाद न्याय-दर्शन के क्षेत्र में एक सर्वथा नया मोड़ आया, जिसको 'नव्य-न्याय' के नाम से कहा जाता है। नव्य-न्याय का उदय होते ही प्रकृत-न्याय का भी उसी में समावेश हो गया; किन्तु जैन-न्याय और बौद्ध-न्याय का पार्थक्य, प्रकृत या नव्य-न्याय से अन्त तक बना रहा।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डॉ० विद्याभूषण ने अपने इतिहास-ग्रंथ में

न्याय-दर्शन की इन तीन प्रवृत्तियों की सीमा को तीन युगों में इस प्रकार विभाजित किया है :

प्रकृत न्याय : ६५० ई० पूर्व से १०० ई० तक

मध्ययुगीन न्याय : १०० ई० से १२०० ई० तक

नव्य न्याय : ९०० ई० से

मध्ययुगीन न्याय की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि सम्राट् कनिष्क से लेकर सम्राट् हर्ष तक मध्यकालीन बौद्ध-न्याय का शास्त्रीय युग और गुप्तकाल से लेकर पाल युग तक बौद्ध-दर्शन का नैयायिक युग रहा है।

ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि न्याय-दर्शन की प्राचीन परम्परा का प्रवर्तक ग्रंथ अक्षपाद महर्षि गौतम का 'न्याय-सूत्र' है। गौतम के न्याय-सूत्रोंपर प्रथम भाष्य वात्स्यायन ने ३०० ई० में लिखा। प्राचीन न्याय की इस परंपरा को उद्योतकर (५५० ई०) ने 'न्याय-वार्तिक' लिख कर आगे बढ़ाया और तदनन्तर इस परम्परा की सुप्रतिष्ठा करनेवाले नैयायिकों में वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) तथा उदयन (९८४ ई०) प्रमुख हैं। अक्षपाद गौतम से लेकर उदयन तक की न्याय-परम्परा बड़े संघर्ष, तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन की रही है।

वात्स्यायन-भाष्य के बाद न्याय-दर्शन का संक्रांति-युग आरम्भ होता है। इस संक्रांति का मूल कारण बौद्ध-न्याय का आविर्भाव था, गौतमीय न्याय और बौद्ध-न्याय की इस पारस्परिक स्पर्धा से एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि भारतीय न्याय-दर्शन के क्षेत्र में दुनियाँ के दार्शनिकों को आश्चर्यचकित कर देनेवाले महान् सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई।

इस सैद्धान्तिक संघर्ष में जिन बौद्ध-नैयायिकों ने प्रमुख भाग लिया उसमें नागार्जुन (१७५ ई०), वसुबंधु (४०० ई०), दिङ्नाग (४२५ ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०) का प्रमुख स्थान है। प्रकृत न्याय और मध्ययुगीन न्याय के समर्थक विद्वानों में खंडन-मंडन की यह परम्परा १२वीं शताब्दी तक बनी रही। १२वीं शताब्दी में मिथिला के गंगेश उपाध्याय ने नव्य-न्याय की प्रतिष्ठा कर प्रकृत-न्याय की आधारभूमि को अजेय सिद्धान्तों से मण्डित किया।

नागार्जुन महायान सम्प्रदाय के माध्यमिक मत के अनुयायी आचार्य थे। बौद्ध-धर्म के इतिहास में माध्यमिक मत अतिप्राचीन और अतिमान्य मत

माना गया है। तथागत स्वयमेव इस मत के प्रवर्तक माने गये हैं। इस मत का सर्वप्रथम महान् ग्रंथ 'प्रज्ञापारमितासूत्र' है, जिस पर आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिककारिका' नामक व्याख्या लिखी। उनके दर्शन का यह आधारभूत ग्रन्थ है। इसमें उनके उच्च दार्शनिक विचारों और तर्कपूर्ण अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। यह ग्रंथ उनकी महान् मेधा का परिचायक ग्रन्थ है।

आचार्य नागार्जुन का दार्शनिक दृष्टिकोण शून्यवाद के नाम से प्रचलित है। शून्यवाद दार्शनिक जगत् का अति प्रभावशाली एवं सूक्ष्म मत माना गया है। 'शून्य एव धर्मा' माध्यमिकों का मूल आधार है। पंचविध धर्मों (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) का विस्तृत निरूपण आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' में किया है। नागार्जुन का परमतत्त्व अष्टनिषेधयुक्तः, अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद्य, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनागम, अनिर्गम और अनानार्थ है; किन्तु वह है सत्तात्मक; ऐसा सत्तात्मक शून्य, जो स्वयं में कल्पनातीत, अशब्द, अनक्षर और अगोचर है। नागार्जुन के अनुसार समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों की स्वभावहीनता ही पारमार्थिक रूप है। परमार्थ नाम उक्त पंचविध धर्मों की निःस्वभावता का है। निर्वाण का ही दूसरा नाम परमार्थ सत्य है। 'माध्यमिक कारिका' के २५वें अध्याय में निर्वाण की व्याख्या करते हुए आचार्यपाद ने कहा है: निर्वाण भाव और अभाव, दोनों से व्यतिरिक्त एक अनिर्वचनीय परम तत्त्व है।

आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रबल समर्थक उन्हीं के शिष्य आर्यदेव (२०० ई०) हुए। आर्यदेव के बाद की चार शताब्दियाँ अन्धकारपूर्ण हैं। छठी शताब्दी में दो प्रबल मेधावी आचार्यों का दर्शन होता है, जिनके नाम हैं भावविवेक और ब्रह्मपलित और जिनकी उद्भव भूमि है क्रमशः उड़ीसा तथा वलभी। इन्होंने आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित और आचार्य आर्यदेव द्वारा समर्थित 'शून्यवाद' को नई योजनाओं, नये दृष्टिकोणों के साथ आगे बढ़ाया। आचार्य भावविवेक ने 'माध्यमिक स्वातंत्रिक' और आचार्य बुद्धपालित ने 'माध्यमिक प्रासंगिक', इन दो दार्शनिक मार्गों का निर्माण कर शून्यवाद की वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा की। शून्यवाद के प्रकांड भाष्यकार आचार्य बुद्धपालित का मत चीन, तिब्बत और मंगोलिया तक प्रचारित हुआ। सातवीं शताब्दी में आचार्य चंद्रकीर्ति ने इस परम्परा का सफल नेतृत्व किया।

गौतमीय नैयायिकों के प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमा का नागार्जुन ने पर्याप्त खंडन किया है। इनका प्रतिषेध रूप 'शून्य' ही उनकी दृष्टि में परम तत्त्व है, जिसको शब्द और प्रमाणादि से बोधगम्य नहीं किया जा सकता है। न वह भाव है, न अभाव और न इन दोनों का संघात-विघात ही। शून्यता को उन्होंने 'निःस्वभाव' कहा है और इसी का अभिन्न स्वरूप बताया है 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को : 'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते माता।'

नैयायिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान पर भी बौद्धाचार्यों ने भरपूर हथौड़ों की चोट की है। प्रमाण-मीमांसा नैयायिकों का मूल विषय है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, न्याय के ये चार प्रमाण हैं। बौद्धाचार्यों की सैद्धान्तिक मान्यताएँ हैं कि भौतिक और मानसिक जितने भी पदार्थ हैं, सब मायाजन्य हैं। अतएव वे अस्तित्वहीन और कल्पित हैं। संसार वासनालिप्त हैं। इस स्वप्नोपम जगत् के विशेष्य-विशेष और भाव-अभाव का अस्तित्व ही क्या? नागार्जुन के मतानुसार जब ज्ञात और ज्ञेय दोनों ही कल्पनाप्रसूत हैं तब वास्तविक ज्ञान की बात सोचना ही व्यर्थ है।

गौतमीय न्याय के उत्तरवर्ती नैयायिकों ने आचार्य नागार्जुन के दार्शनिक दृष्टिकोण को 'अत्यंताभाव' की संज्ञा दी है। नागार्जुन की दृष्टि में ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान सभी निःस्वभाव हैं। उन्होंने दुःख को कल्पित, मोक्ष को मिथ्या और कर्मफल को असत्य तो बताया ही है, कहीं-कहीं आवेश में आकर निर्वाण के निरर्थक एवं नैतिक आदर्शों की भी अवहेलना की है। नागार्जुन की आदि से लेकर अंत तक एक ही दृष्टि है। प्रतीत्यसमुत्पाद ही उनकी दृष्टि का केंद्रबिंदु है। उसी की व्याख्या शून्यवाद है और उसी के माध्यम से उनके समग्र सिद्धान्त आविर्भूत हैं।

आचार्य नागार्जुन के बाद मध्ययुगीन बौद्धन्याय के क्षेत्र में आचार्य वसुबंधु का नाम आता है। वसुबंधु अल्पावस्था में ही बड़े वाग्मी, तार्किक और बौद्ध-दर्शन के धुरंधर आचार्य हो गए थे। 'परमार्थ-सप्तति' नामक महान् ग्रन्थ के निर्माणानन्तर विद्वत्समाज में उनके पांडित्य की धूम मच गई थी। अपने गुरु के विजेता सुप्रसिद्ध सांख्याचार्य विंध्यवासी कृत 'सांख्य-सप्तति' के खंडनार्थ उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ के प्रकाश में आते ही बौद्ध-न्याय के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित हो गया था।

आचार्य वसुबंधु के साथ संघभद्र नामक एक सर्वास्तिवादी विद्वान् के शास्त्रार्थ होने का उल्लेख मिलता है। प्रसंग ऐसा था कि वसुबंधु ने

'अभिधर्मकोश' लिखकर वैभाषिक संप्रदाय के सिद्धान्तों को अजेय बना दिया था, संघभद्र ने उक्त ग्रंथ के खंडनार्थ 'न्यायानुसार-शास्त्र' की रचना की और साथ ही वसुबंधु को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा; किन्तु इतिहासकारों के कथानुसार और ह्वेनसाँग के वृत्तान्तानुसार उसके तत्कालबाद ही संघभद्र की मृत्यु हो जाने के कारण दोनों विद्वानों में शास्त्रार्थ न हो सका। वसुबंधु ने उक्त विपक्षी-ग्रन्थ पर एक योग्यतापूर्ण टीका लिखकर अपने उदार पांडित्य का परिचय दिया।

आचार्य वसुबंधु के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक ग्रन्थ उनका 'अभिधर्मकोश' है। कश्मीर के वैभाषिक इस कोश-ग्रन्थ को बड़ा प्रामाणिक और अपना सर्वस्व मानते थे। बौद्ध-दर्शन की विचार-परंपरा का इतना समर्थ और मौलिक प्रतिपादन किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं मिलता है। सुप्रसिद्ध गद्यकार वाणभट्ट ने तो इस कोश-कृति के संबंध में यहाँ तक लिख दिया है कि शुक-शारिका तक इस कोश का उपदेश देते थे : 'शुकैरपि शाक्यशासन-कुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः'। 'अभिधर्मकोश' वैभाषिक संप्रदाय से विशिष्ट संबद्ध होने पर भी संपूर्ण बौद्ध-दर्शन का विश्वकोश है। ऐसा संमान और इतनी ख्याति इस देश के किसी दूसरे बौद्धाचार्य की कृति को आज तक नसीब न हुई। परमार्थ तथा युआनसाँग द्वारा क्रमशः छठी और सातवीं शताब्दी में इस कोश-कृति का दो बार चीनी भाषा में अनुवाद भी हुआ। इसकी सुप्रसिद्ध टीकाओं में स्थिरमति (तत्त्वार्थ), दिङ्नाग (मर्मप्रदीप) और यशोमित्र (स्फुटार्थ) की टीकाएँ प्रामाणिक मानी जाती हैं। डॉ० पुसें ने बड़े यत्न से इस ग्रंथ को खोजकर अनेक टीका-टिप्पणियों सहित छह जिल्दों में संपादित एवं प्रकाशित किया।

आचार्य वसुबंधु सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। भगवान् तथागत द्वारा प्रतिपादित त्रिकाल की अनित्यतासंबंधी वचनों के विरोध में 'सर्वास्तिवादी' मत का आविर्भाव हुआ था। आचार्य वसुबंधु ने 'अभिधर्मकोश' में लिखा है कि पंचविध धर्म (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) की सत्ता का भूत, वर्तमान एवं भविष्य में अस्तित्व प्रतिपादन करनेवाला मत 'सर्वास्तिवादी' मत कहलाता है : 'तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः'। सर्वास्तिवादी-मत के अनुसार त्रिकाल नित्य और सास्तित्व समन्वित है। यदि अतीत और अनागत को अनित्य एवं अस्तित्वहीन कहा जायगा, तो मनोविज्ञान का सर्वथा लोप हो जायगा, जो असंभव-सी बात है।

इसी अभिप्राय से आचार्य वसुबंधु ने पंचविध धर्म की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ माना है। उनके मतानुसार बाह्याभ्यंतरीय पदार्थों के सम्यग् ज्ञान के बिना क्लेशों एवं रागादि द्वेषों के उपशमन का दूसरा उपाय नहीं है : 'धर्माणां प्रतिचयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः'। इन आचार्यपाद ने धर्म की नित्यता, सर्वव्यापकता और उसकी शाश्वत एवं सनातन सत्ता पर बड़ी सूक्ष्मता तथा मौलिकता से विचार किया है। सर्वास्तिवादी दर्शन के चार आचार्यों भदंत धर्मत्राता, भदंत घोषक, आचार्य वसुमित्र और भदंत बुद्धदेव का इन्होंने बड़े आदर से स्मरण किया है।

वसुबंधु के कोश-ग्रन्थ की 'स्फुटार्था' लिखते हुए यशोमित्र ने वसुबधु को द्वितीय बुद्ध के नाम से स्मरण किया है : 'यं बुद्धिमतामग्रयं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः'। इससे सहज में ही वसुबंधु की विद्वत्ता और उनके संमानित जीवन का अनुमान किया जा सकता है।

नागार्जुन और वसुबंधु के बाद काल-क्रम की दृष्टि से बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में दिङ्नाग का नाम आता है। आचार्य दिङ्नाग को मध्ययुगीन बौद्ध-न्याय का पिता कहा जाता है। वे एक दिग्विजयी विद्वान् और साथ ही अद्भुत तार्किक थे।

बौद्ध-नैयायिकों के मतानुसार व्यक्ति और जाति में, विशेष और सामान्य में तथा द्रव्य और गुण में कोई वैभिन्य नहीं है। इनमें जो भेद हम करते भी हैं वह बुद्धि-कल्पित है, वास्तविक नहीं। केवल किसी वस्तु के संबंध में 'यह' कहा जा सकता है। उसके नाम, जाति, विशेष, सामान्य और गुण की कल्पना अपनी ओर से की जाती है। इसके अतिरिक्त गौतमीय नैयायिकों के अनुसार पदार्थ अपने नाम, गुण आदि के ही अनुसार विभाषित होता है। उसमें विशेषण-विशेष्य-भाव सदा बना रहता है और सामान्य की भी स्थिति बनी रहती है। क्योंकि जो कुछ सत् है, वह क्षणिक कैसे हो सकता है। उसमें एकत्व और अनेकत्व की अनुभूति सदा बनी रहती है। आचार्य दिङ्नाग शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते हैं; जब कि गौतमीय न्यायपरंपरा शब्द की स्वतंत्र सत्ता के प्रबल पक्षपाती हैं।

क्षणभंगुरवाद, प्रायः सभी उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों का सिद्धान्त रहा है; किन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे 'स्वातंत्रिक' विज्ञानवादी आचार्यों ने इसका विशेषरूप से प्रख्यापन किया है। दिङ्नाग के मतानुसार द्रव्य, गुण और कर्म विषयक सारा ज्ञान मिथ्या है। जब कि सभी बाह्य पदार्थ क्षणिक

हैं तो फिर उनका ज्ञान कैसे संभव हो सकता है : 'क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुं अशक्यत्वात्'। दिङ्नाग का कहना है कि भूत, भविष्य की प्रपंचजन्य कल्पना ही हमें क्षणिक पदार्थों में स्थिरता की बुद्धि कराती है। वास्तविक वस्तु तो विज्ञान है। इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग ने अपने प्रबल तर्कों द्वारा बौद्धन्याय की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए घोर परिश्रम किया।

बौद्धन्याय की चिरस्थायी प्रतिष्ठा करने के अतिरिक्त दिङ्नाग ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि बौद्धन्याय की जो विच्छिन्न अवस्था हो गई थी उसको गतिबद्ध रूप में व्यवस्थित कर अपने प्रामाणिक ग्रन्थों द्वारा उसके मार्ग को प्रशस्त भी किया। बौद्धन्याय के क्षेत्र में दिङ्नाग की सबसे बड़ी देन यह है कि एक ओर जहाँ उन्होंने ब्राह्मण-तार्किकों के चंगुल से उसका उद्धार कर उसको स्वतंत्र रूप दिया; वहाँ दूसरी ओर प्रतिपक्षियों का जमकर मुकाबला भी किया। उन्होने स्थान-स्थान और नगर-नगर में जा-जा कर अपनी विद्वत्ता के बल पर ब्राह्मण तार्किकों को परास्त किया। नालंदा महाविहार उस समय चोटी के विद्वानों का केंद्र था। वहाँ जाकर दिङ्नाग ने एक दुर्जय नामक ब्राह्मण-तार्किक को शास्त्रार्थ में पराजित किया और अपने प्रकांड पांडित्य से विद्वन्मंडली को चकित कर दिया। उड़ीसा और महाराष्ट्र में भी दिङ्नाग के शास्त्रार्थ हुए। गौतम और वात्स्यायन के दार्शनिक सिद्धान्तों के विपक्ष में उन्होंने बड़ी अजेय उक्तियाँ उपस्थित कीं। उनकी तार्किक बुद्धि का विजयघोष सारे भारत में व्याप्त हुआ और इस कारण वे 'तर्कपुंगव' के नाम से कहे जाने लगे।

बौद्ध-साहित्य

पालि

पालि-साहित्य की निर्माण भूमि यद्यपि भारत है, तथापि उसके सर्वांगीण अध्ययन के लिए हमें ज्ञान की उन शाखा-प्रशाखाओं को भी साथ लेना होगा, जो संस्कृत, पालि, तिब्बती और चीनी आदि भाषाओं में निर्मित एवं बौद्धधर्मानुयायी देशों में फली-फूली तथा पल्लवित हुई हैं। पालि-साहित्य की रचना तथागत से लेकर आजतक अबाध गति से हो रही है। पालि के इन २५०० वर्षों के इतिहास को बौद्ध-साहित्य के दिग्गज विद्वान् श्री भरतसिंह उपाध्याय ने दो मोटे भागों में विभाजित किया है : १ पालि या पिटक

साहित्य और २ अनुपालि या अनुपिटक साहित्य।[1] पहिले भाग की कालसीमा बुद्ध-परिनिर्वाण से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व तक और दूसरे भाग की रचना प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से आजतक चली आ रही है।

त्रिपिटक साहित्य

भगवान् के बुद्धत्व प्राप्त करने से लेकर परिनिर्वाण प्राप्त करने के बीच उन्होंने जो कुछ भी कहा उसी का संग्रह-संकलन त्रिपिटक में है। त्रिपिटक, अर्थात् तीन पिटारियाँ; जिनका नाम है : 'सुत्तपिटक', 'विनयपिटक' और 'अभिधम्मपिटक'। पहिला अनुशासन विषयक संकलन है, दूसरा उपदेशात्मक और तीसरा मनोवैज्ञानिक नीतियों पर आधारित दर्शन का दुरूह संग्रह। यद्यपि इस त्रिपिटक में प्रमाणित रूप से बुद्ध के विचार ही संगृहीत हैं, तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने जितना कुछ सोचा एवं कहा, वह सभी-का-सभी त्रिपिटक में आ गया है। इन त्रिपिटकों का संकलन-संपादन तथागत के अनुयायी भिक्षुओं ने किया।

त्रिपिटक, बौद्धधर्म के अनुश्रुतिग्रन्थ है। ३०० ई० पूर्व मगध में उन्हें संकलत किया गया था। 'सुत्तपिटक' के पाँचवें भाग 'खुद्दकनिकाय' में जातकों की कथाएँ संकलित हैं, जो कि तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में सुरक्षित थीं।[2] राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र में आयोजित तीनों संगीतियों के अधिवेशनों में त्रिपिटक का पुनः पुनः प्रामाणिकता के साथ संकलन होता रहा। तीसरी संगीति में अंतिम रूप से त्रिपिटक संकलित हुआ और उसकी एक प्रतिलिपि महेंद्र तथा दूसरे धर्मप्रचारक भिक्षु अपने साथ लंका को ले गए। लंका के महाविहार में त्रिपिटक का वर्षों तक मौखिक अध्ययन चलता रहा और बाद में वहाँ के राजा वट्टगामणि अभय के समय प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में उसको सिंहली भाषा में लिपिबद्ध किया गया।[3]

---

१. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ९१

२. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ११५; विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ११५

३. ओल्देनवर्ग : दीपवंश २०।२०-२१; गायगर : महावंश १००-१०१; बम्बई विश्वविद्यालय संस्करण : महावंश ३३।२४७९-८०; भदंत आनन्द कौसल्यायन : महावंश, १७८-७९; उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ९०

इस दृष्टि से त्रिपिटक के निर्माण, संकलन, संपादन का समय बुद्ध परिनिर्वाण से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व तक है। इस बीच पालि-साहित्य का विकास-विस्तार त्रिपिटक-संकलन के ही रूप में हुआ।

पिटक-साहित्य के सुत्त, विनय और अभिधम्म, तीन विभाग ऊपर बताये जा चुके हैं। 'सुत्तपिटक' के पाँच निकाय या शास्त्र हैं : १ दीघ, २ मज्झिम, ३ संयुत्त, ४ अंगुत्तर और ५ खुद्दक। इन पाँच निकायों के भी उपभेद हैं। 'विनयपिटक' भी तीन भागों में विभक्त है : १ सुत्त, २ खंधक और ३ परिवार। सुत्त विभंग के पुनः दो भाग हैं : १ पाराजिक और २ पाचित्तिय। खंधक विभंग के भी दो भाग हैं : १ महावग्ग और चुल्लवग्ग। इसी प्रकार 'अभिधम्मपिटक' में सात बृहद् ग्रंथ संकलित हैं, जिनके नाम हैं : १ धम्मसंगणि, २ विभंग, ३ धातुकथा, ४ पुग्गलपंजत्ति, ५ कथावत्थु, ६ यमक और ७ पट्ठनि।

'आजकल' के बौद्धधर्म विशेषांक में प्रकाशित त्रिपिटक-साहित्य के विकास का एक चार्ट यहाँ दिया जा रहा है।
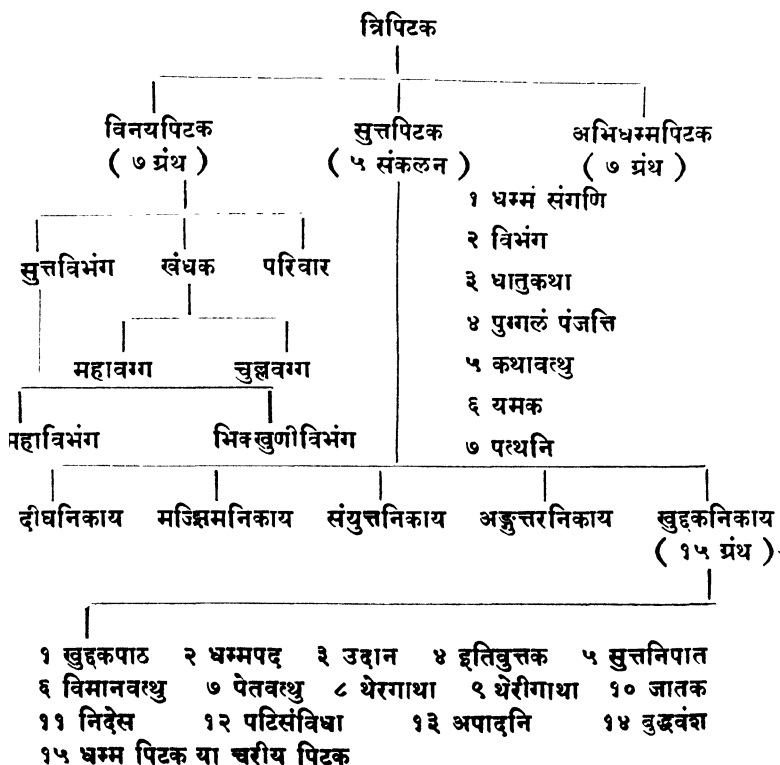
ऊपर की गई गणना के अनुसार यद्यपि इस चार्ट में कुछ हेर-फेर है, तथापि उससे त्रिपिटक-साहित्य[1] को समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

पवित्र बौद्धग्रंथ इतनी अधिक भाषाओं में मिलते हैं कि कोई एक व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि वह उन सबसे परिचित है। ये भाषाएँ हैं : पालि, संस्कृत, चीनी, तिब्बती, जापानी, अपभ्रंश और बहुत-सी मध्य एशियाई भाषाएँ। इनमें पालि भाषा के ही बौद्धग्रंथ ऐसे हैं जो अभी तक पूरे-के-पूरे मिलते हैं और जो अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में अनुवादों के द्वारा अधिक संख्या में पाठकों तक पहुँच सके हैं। आरम्भ की सबसे महत्त्वपूर्ण प्राकृतों में पालि भी एक है। भगवान् बुद्ध के उपदेशों को लिपिबद्ध करने के लिए स्थविरवादिन् बौद्धों ने इसी भाषा को चुना। शायद बुद्ध भगवान् ने मागधी में उपदेश दिये थे; लेकिन भारत में उनका प्रसार होने पर वे स्थानीय बोलियों में रूपांतरित हो गये। आज भी श्रीलंका, बर्मा और दक्षिण पूर्व एशिया के बौद्ध पालि को अपनी धर्मभाषा मानते हैं।

सिंहली परम्परा के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि राजा वत्तगामनि (ईसा पूर्व ८९–७७) के शासन काल में सिंहली भिक्षुओं की महापरिषद् द्वारा अंतिम स्वीकृति मिल जाने पर पालि में लेखन कार्य आरम्भ हुआ। राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र की तीन परिषदों ने पहले इस भाषा की शब्दावली की रचना की थी और आवश्यक नियम बनाये थे। चार सदियों से भी पहले से पालि, बोली जाने वाली भाषा के रूप में उपयोग में आ रही थी। साधारणतः पालि को तिपिटक (संस्कृत में त्रिपिटक) या तीन पिटारियाँ कहा जाता है। ये हैं : विनय, सुत्त और अभिधम्म।

---

१. आजकल, बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, परिशिष्ट १

नोट : ३० मार्च, १९५८ को 'नफेन' द्वारा प्रेषित एक समाचार के अनुसार नव नालंदा महा विहार पालि त्रिपटक को नागरी लिपि में प्रकाशित करने का प्रबन्ध कर रहा है। इस महा विहार की स्थापना बिहार सरकार ने की थी, जो कि बौद्धधर्म के सम्बन्ध में अनुसंधान कर रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये केन्द्रीय सरकार ने २ लाख तथा बिहार सरकार ने १ लाख ७२ हजार रुपया देना मंजूर किया है। यह संपूर्ण ग्रन्थ २३७ खण्डों में प्रकाशित होगा।

विनयपिटक

इस पिटक में निम्नलिखित ग्रन्थ आते हैं : (१) पतिमोक्ख ; (२) सुत्त विभंग, (३) खंधकस और (४) परिवार। कहा जाता है कि 'विनयपिटक' में भगवान् बुद्ध के वे कथन संगृहीत हैं जिनके द्वारा संघ-विषयक विभिन्न नियम निर्धारित किये गये। ये नियम 'पतिमोक्ख' में मिलते हैं। 'सुत्त विभंग' में उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है जिनके परिणाम-स्वरूप इन नियमों की घोषणा की गयी। 'खंधकस' के दो विभाग हैं : 'महावग्ग' (विशाल विभाग) और 'चुल्लवग्ग' (छोटा विभाग)। 'महावग्ग' में यह बताया गया है कि संघ में प्रवेश पाने, व्रत रखने आदि के क्या नियम हैं। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ से प्राचीन भारत के लोगों के जीवन के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसमें भगवान् बुद्ध के जीवन के विषय में भी पर्याप्त जानकारी मिलती है।

सुत्तपिटक

त्रिपिटकों में 'सुत्तपिटक' सबसे बड़ा और सबसे महत्त्वपूर्ण पिटक है। यह निम्नलिखित पाँच निकायों में विभक्त है :

(१) दिघ निकाय
(२) मज्झिम निकाय
(३) संयुक्त निकाय
(४) अंगुत्तर निकाय
(५) खुद्दक निकाय

} बताया जाता है कि इनमें भगवान् बुद्ध के प्रवचन संगृहीत हैं

अन्तिम निकाय में निम्नलिखित विविध कृतियाँ हैं :

(१) खुद्दकपथ	एक संक्षिप्त संग्रह
(२) धम्मपद	भगवान् बुद्ध के ४२३ प्रवचनों का संग्रह, जो २६ अध्यायों में है
(३) उदान (४) इतिवुत्तक	भगवान् बुद्ध के कथन और तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन
(५) सुत्तनिपथ	पाँच अध्यायों में काव्यात्मक सुत्त
(६) विमानवत्थु (७) पेतावत्थु	क्रमशः दैवी और नीलारक्त निवासों का वर्णन
(८) थेरगाथा	भिक्षुओं की कविताएँ
(९) थेरीगाथा	भिक्षुणियों की कविताएँ

(१०) जातक	भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ
(११) निद्देस	सुत्तनिपट के उत्तरार्ध की टीका। कहा जाता है यह टीका सारिपुत्त ने की थी
(१२) पतिसंभिदा	बौद्ध-दर्शन सम्बन्धी प्रश्नोत्तरी
(१३) अपादान	बौद्ध साधुओं के वीरतापूर्ण और पुनीत कार्यों के विवरणों का संग्रह
(१४) बुद्धवंस	२४ बुद्धों की गाथाएँ
(१५) चरीय पिटक	पद्य में जातकों का संग्रह

'सुत्तपिटक' को बुद्ध-धर्म की गद्य और पद्य में सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक कृति माना जाता है। पहले चार संग्रहों में भगवान् बुद्ध के प्रवचन हैं, जो या तो उनके उपदेश हैं, जिनके शुरू में प्रवचन के स्थाग और अवसर के बारे में संक्षिप्त टिप्पणियाँ हैं; या वे गद्य में सम्भाषण हैं, जिनमें कहीं-कहीं पद्य भी आ जाता है। 'खुद्दक निकाय' को विशेषकर यूरोपियनों ने बहुत पसन्द किया है, क्योंकि इसमें अति सुन्दर संक्षिप्त रचनाएँ संगृहीत हैं। 'धम्मपद' और 'सुत्तनिपट' भी इसी श्रेणी के ग्रंथ हैं। 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' में भिक्षुओं और भिक्षुणियों की कविताएँ हैं और जातकों में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की गाथाएँ हैं।

अभिधम्मपिटक

तीसरी पिटक 'अभिधम्म' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अध्यात्म का वर्णन अधिक नहीं है। इसमें भी उन्हीं विषयों की चर्चा की गयी है जो 'सुत्तपिटक' में हैं; लेकिन इसमें अधिक पांडित्यपूर्ण ढंग से उनका विवेचन किया गया है। इस पिटक में ये रचनाएँ आती हैं: (१) धम्म-संगनी, (२) विभंग, (३) कथा-वत्थु, (४) पुग्गल-पनत्ती, (५) धातु-कथा, (६) यमक और (७) पत्थनि। ये सभी पुस्तकें बाद की हैं और इनमें निकायों की अपेक्षा अधिक विस्तार से विषय का प्रतिपादन किया गया है। कहा जाता है कि जब बुद्ध भगवान् देवताओं में प्रचार करने के लिए स्वर्ग गये तो उन्होंने 'अभिधम्म' का पाठ किया था। बौद्धधर्म के दीर्घकालीन इतिहास में इस पिटक को सदा ही बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। इसमें 'कथावत्थु' भी सम्मिलित है, जो बताया जाता है, तीसरी परिषद् के प्रधान, तिस्स मोगलिपुत्त ने लिखी।

यह भी कहा गया है कि इसकी रचना सम्राट् अशोक के शासनकाल में ईसा पूर्व २५० के आसपास हुई।

पालि-साहित्य की आदिसंपत्ति बुद्ध-वचनों के उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के विभाजन हैं ; किन्तु उनमें इतनी वैज्ञानिकता नहीं है। पालि-साहित्य के ये सभी विभाग ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से पहिले ही संपन्न हो चुके थे। डॉ० विमलाचरण लाहा ने पिटक-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के उद्भव और विकास के लिए पाँच विभिन्न युगों का इस प्रकार उल्लेख किया है[1] :

प्रथम युग : ४८३–३८३ ई० पूर्व
द्वितीय युग : ३८३–२६५ ई० पूर्व
तृतीय युग : २६५–२३० ई० पूर्व
चतुर्थ युग : २३०–८० ई० पूर्व
पंचम युग : ८०–२० ई० पूर्व

अनुपिटक साहित्य

पहिले निर्देश किया जा चुका है कि पिटक-साहित्य के बाद अनुपिटक-साहित्य की रचना हुई, जिसकी स्थिति आज तक बनी हुई है। लगभग दो शताब्दियों के सुदीर्घ काल तक रचे जानेवाले इस अनुपिटक-साहित्य में एक ही रुचि, एक ही विधान और एक ही प्रकार के नीति-नियमों का जो अभाव दिखाई देता है उसका कारण भी उसकी यही दीर्घावधि है। अनुपिटक-साहित्य के आविर्भाव और विकास की अवस्थाओं को श्री उपाध्याय जी ने तीन भागों में विभक्त किया है :[2]

प्रथम : १०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक
द्वितीय : ५०० ई० से १२०० ई० तक
तृतीय : १२०० ई० से अब तक

पालि अनुपिटक-साहित्य के प्रथम युग को उपाध्याय जी ने 'प्राग्बुद्धघोष-युग', दूसरे युग को 'बुद्धघोषयुग' और तीसरे युग को 'उत्तरबुद्धघोषयुग' या 'बुद्धघोषयुग की परंपरा अथवा टीकाओं का युग' कहा है।[3] आचार्य बुद्धघोष को केन्द्र मानकर अनुपिटक-साहित्य का काल-विभाजन इसलिए किया गया है क्योंकि अनुपिटक-साहित्य में बुद्धघोष ही सबसे बड़ी विभूति थे।

---

१. डॉ० विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द १, पृ० १२–१३
२. भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १०८–१०९ ३. वही

प्रथम 'प्राग्बुद्धघोषयुग' में रचे गए अनुपिटक-साहित्य के ग्रन्थों में 'नेतिप्रकरण', 'पेटकोपदेश', 'सुत्तसंगह', 'मिलिन्दपञ्ह' और इतिहासप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दीपवंश' का नाम प्रमुख है। दूसरे 'बुद्धघोषयुग' का आरंभ आचार्य बुद्धघोष के ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' तथा उनके द्वारा रचित 'अर्थकथाओं' से होता है। इनके अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल की 'अर्थकथाएँ', लंका में रचित बृहद् ग्रन्थ 'महावंश', 'कच्चान व्याकरण' और अनिरुद्ध का 'अभिधम्मत्थसंगह' आदि की गणना की जाती है। तीसरा 'उत्तरबुद्धघोषयुग' बृहद् अर्थकथा-साहित्य का टीकाओं एवं अनुटीकाओं का युग है, जिसमें रचे गए ग्रंथों में: आचार्य बुद्धघोष कृत 'अर्थकथाओं' का मगध-भाषा में लिखित टीकाकार्य प्रथम है, जिसका निर्माण लंका के राजा पराक्रमबाहु के समय बारहवीं शताब्दी में हुआ। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में सिंहल के भिक्षु सारिपुत्त एवं उनके शिष्यों ने भी इस दिशा में कार्य किया। 'महावंश' का 'चूलवंश' भाग भी इसी युग में निर्मित हुआ। बरमी भिक्षुओं ने अनिरुद्ध के 'अभिधम्मत्थसंग्रह' की परम्परा में अनेक ग्रंथों की रचना इसी समय की। वर्तमान सदी में रचे गए आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी के 'विसुद्धिमग्गदीपिका' और 'अभिधम्मत्थसंग्रह-टीका' भी उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि पालि अनुपिटक-साहित्य के इस तीसरे युग में बरमा, स्याम, लंका और भारत आदि देशों में अनेक अच्छी कृतियों का निर्माण हुआ और आज भी वह स्थिति पूर्ववत् जारी है।

पालि साहित्य का विकास

पालि भारत की अति प्राचीन भाषा है, और उसके सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने भारतीय भाषाओं के निर्माण में अपना बहुत बड़ा योग ही नहीं दिया, वरन्, भारत के पड़ोसी देशों सिंहल, वर्मा और स्याम की भाषाओं के विकास को भी प्रभावित किया। इसलिए उक्त देशों के साथ भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों का अनुशीलन करने के लिए हमें पालि से बहुत सहायता मिल सकती है। पालि भारत की अति प्राचीन और प्रभावशाली भाषा होने के कारण अतीतकालीन भारत के ज्ञान-गौरव को प्रकाश में लाने के लिए एकमात्र साधन सिद्ध हो सकती है। और

१. विस्तार के लिये देखिये उपाध्यायजी का उक्त ग्रन्थ: छठा अध्याय, सातवां अध्याय और आठवां अध्याय

भगवान् तथागत की वाणी में उसका निरन्तर आवास होने के कारण बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में तो उसकी बहुत बड़ी देन कही जा सकती है।

पालि के प्राचीन ग्रंथों में 'मिलिन्नपन्ह' त्रिपिटकों के बाद अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है, जिसको कि महास्थविर नागसेन ने संकलित किया था। इस संकलन का वास्तविक रचनाकार एवं वास्तविक निर्माणकाल कौन है, इस सम्बन्ध में, उसके आंतरिक साक्ष्यों का समीक्षण करने के बाद बड़ी द्विविधा में पड़ जाना पड़ता है। किन्तु यह निश्चित-सा है कि वह हमें सम्प्रति जिस रूप में प्राप्त है, वही उसका मूल रूप था। उसमें सात अध्याय हैं। तीसरे अध्याय के अन्त में यह संकेत किया गया है कि मिलिन्द के प्रश्न समाप्त हो गए। इन तीनों अध्यायों का एक चीनी अनुवाद ३१७-४२० ई० के बीच 'नागसेन-सूत्र' के नाम से हुआ। इस दृष्टि से यह अवगत होता है कि उसके अन्तिम चार अध्याय बाद में जोड़े गए या उसकी जो प्रति चीन में उपलब्ध थी, उसमें केवल तीन ही अध्याय सुलभ थे। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसके निर्माण की पूर्वसीमा मिनान्दर के समकालीन या उसके कुछ बाद १५० ई० पूर्व और अन्तिम सीमा बुद्धघोष से पहिले ४०० ई० के पूर्व है।

बौद्धतत्त्वज्ञान, बौद्धनीतिशास्त्र और बौद्धमनोविज्ञान के अतिरिक्त इस ग्रन्थ का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। उसमें तत्त्वज्ञान, साहित्य, इतिहास और भूगोल आदि सभी विषयों का अपूर्व संयोग है, जिससे कि सहज में ही वह त्रिपिटकों के बाद स्थान प्राप्त कर लेता है।

पालि कृतियों में 'मिलिन्दपन्ह' के बाद आचार्य बुद्धदत्त की कृतियों का स्थान आता है। इन्होंने 'अभिधर्मपिटक' की अट्ठकथाओं का संक्षेप 'अभिधम्मावतार' में और 'विनयपिटक' की अट्ठकथाओं का संक्षेप 'विनय विनिच्छय' में किया। बुद्धदत्त चोलराज्य के अन्तर्गत उरगपुर (उरईपुर) के निवासी थे। उनका दीक्षण और शिक्षण अनुराधापुर के महाविहार में हुआ। वे तथागत के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए सिंहल गए थे और वहाँ से आकर उन्होंने कावेरी नदी के तट पर कृष्णदास या विष्णुदास नामक वैष्णव द्वारा निर्मित एक बिहार में रहकर अपने ग्रंथों का निर्माण किया।

आचार्य बुद्धदत्त के ही समय में अनुपिटक साहित्य के एक महान् व्याख्याकर बुद्धघोष हुए। बुद्ध-वाणी का अध्ययन करने के बाद बुद्धदत्त जब

अपनी आयु की अन्तिम सीमा का आभास पाकर लंका से अपनी जन्मभूमि की ओर लौट रहे थे, तो बीच नदी में उनका संमुखीकरण बुद्धघोष से हुआ, जो कि उसी कार्य के लिए लंका जा रहे थे। बुद्धघोष ने कहा 'भगवान् बुद्ध के सिद्धान्त (व्याख्याएँ) सिंहली भाषा में उपलब्ध हैं। मैं उन्हें मागधी में रूपान्तरित करने के उद्देश्य से सिंहल जा रहा हूँ।' और हमने बुद्धदत्त-प्रणीत जिन दो ग्रन्थों का उल्लेख ऊपर किया है, उनका आधार बुद्धघोष के ही ग्रन्थ थे।

बुद्धघोष के समय तक बौद्धों में संस्कृत का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। जिन बौद्ध विद्वानों ने अपनी कृतियों के लिए उसको अपनाया उनमें अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबंधु और दिङ्नाग प्रमुख हैं। इधर गुप्त राजाओं ने भी पालि की जगह संस्कृत में ही अपनी रुचि प्रदर्शित की।

किन्तु दूसरी ओर पालि भाषा के प्रति अपना अलग अनुराग रखनेवाले विद्वानों की भी कमी नहीं थी। बोधगया के भिक्षुसंग में महास्थविर रेवत के प्रधानत्व (५०० ई०) में बुद्धघोष ने प्रवेश किया और पालि के पुनरुद्धार के लिए पर्याप्त यत्न किया। उपसंपदा होने पर बुद्धघोष ने अपने गुरु रेवत से धर्म और विनय का गंभीर अध्ययन कर बौद्ध-साहित्य के एक बहुत बड़े व्याख्याकार के रूप में अपने को विश्रुत किया। यहाँ रहकर सर्व-प्रथम उन्होंने 'ञाणोदय' और 'अट्टसालिनी' ये दो ग्रन्थ लिखे।

अपने गुरु की ही प्रेरणा से बुद्धघोष उन अट्ठकथाओं के अध्ययन के लिए सिंहल गए थे, जो महामति महेन्द्र द्वारा मूलरूप में वहाँ ले जाई गई थीं। श्रीलंका पहुँचकर बुद्धघोष ने भिक्षु-संघ से सिंहली में अनूदित अट्ठकथाओं का अनुवाद मागधी में करने के लिए प्रार्थना की। भिक्षुओं ने उसकी परीक्षा के लिए दो पालि-गाथाएँ देकर उनकी व्याख्या करने के लिए कहा। बुद्धघोष ने उनकी व्याख्या बड़ी विद्वत्तापूर्ण ढंग से की और अपने उस व्याख्याग्रन्थ का नाम रखा 'विसुद्धिमग्ग'। भिक्षुसंघ ने संतुष्ट होकर उन्हें अट्ठकथाओं के अनुवाद की आज्ञा दे दी।

उन्होंने 'समन्तपासादिका', 'कंखावितरणी' (मातिकट्ठकथा) के अतिरिक्त प्रथम चार निकायों पर भी अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनमें से 'दीघनिकाय' पर 'सुमंगलविलासिनी', 'मज्झिमनिकाय' पर 'पपंचसूदनी', 'संयुत्तनिकाय' पर 'सारत्थप्पकासिनी' और 'अंगुत्तरनिकाय' पर 'मनोरथपुरणी' प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि 'खुद्दकनिकाय' के चार ग्रन्थों धम्मपद, जातक, खुद्दकपाठ,

और सुत्तनिपात पर भी बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ लिखीं : 'धम्मपदट्ठकथा' 'जातकट्ठकथा' और 'परमत्थजोतिक' (खुद्दक-सुत्त पर)। अनुराधापुर (सिंहल) महाविहार की परम्परा पर उन्होंने 'अभिधम्मपिटक' के सात ग्रन्थों पर अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनके नाम हैं 'अट्ठसालिनी' (धम्मसंगणि पर), 'संमोहविनोदिनी' (विभंग पर) और 'पंचप्पकरणट्ठकथा' (शेष पाँच ग्रन्थों पर) ।

पालि भाषा में संप्रति उपलब्ध 'जातकट्ठवण्णना' किसी सिंहली पुस्तक का अनुवाद है, जो कि पाँचवीं शताब्दी में किया गया था। मूल सिंहली पुस्तक संप्रति अप्राप्य है । यह अनुवाद अनुराधापुर की परंपरा के अनुसार रचित है। यह परंपरा बुद्धघोष कृत 'जातकट्ठकथा' पर निर्भर थी ।[1]

बुद्धघोष के बाद अट्ठकथाकार के रूप में थेर धम्मपाल का नाम उल्लेखनीय है । बुद्धघोष द्वारा 'खुद्दक-निकाय' के अछूते छः ग्रंथों पर उन्होंने संयुक्त रूप से 'परमत्थदीपिनी' ग्रंथ लिखा, जिसका मूल आधार सिंहली कथाएँ थीं। उन्होंने बुद्धघोष के 'विसुद्धिमग्ग' पर भी 'परमत्थमंजूषा' नामक पांडित्यपूर्ण टीका लिखी।

वंशग्रंथ

पालि-साहित्य के इतिहास में काल-विभाग की दृष्टि से वंशग्रन्थों की गणना यद्यपि अनुपिटकों के अन्तर्गत पहिले दिखाई जा चुकी है; किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से और समग्र बौद्ध-साहित्य से परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से इन वंशग्रन्थों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसलिए उनके संबंध में अलग से समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है ।

पालि साहित्य में वंश-ग्रंथों की वही स्थिति है, जो संस्कृत-साहित्य में अष्टादश महापुराणों तथा 'महाभारत' एवं 'राजतरंगिणी' आदि पौराणिक-ऐतिहासिक ग्रंथों की है; बल्कि संस्कृत के इन पुराण-इतिहास कोटि में परिगणित होनेवाले विपुल ग्रंथों की अपेक्षा पालि के वंशग्रन्थों में जो सामग्री संगृहीत है, उसमें अधिक संगति, अधिक स्पष्टीकरण और अधिक सत्यता दिखाई देती है ।[2]

पालि वंश-साहित्य के निर्माण की परंपरा का प्रवर्तन लगभग चौथी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध से प्रारंभ होकर बीसवीं शताब्दी ईसवी तक

१. कामिल बुल्के : रामकथा : उद्भव और विकास, पृ० ७६

२. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५४७

पहुँचती है। प्रमुख वंशग्रन्थों के नाम हैं: १ 'दीपवंश', २ 'महावंश', ३ 'चूलवंश', ४ 'बुद्धघोसुप्पत्ति', ५ 'सद्धमसंग्रह,' ६ 'महाबोधिवंश', ७ 'थूपवंश,' ८ 'अत्तनगलुविहारवंश', ९ 'दाठावंश', १० 'छकेसधातुवंश', ११ 'ग्रंधवंश' और १२ 'सासनवंश'।

दीपवंश[1]

'दीपवंश' लंका के साहित्य में पहिला इतिहास ग्रन्थ है, जिसमें लंका की शासन-सत्ता का आदि लेकर राजा महासेन (३२५-३५२ ई०) तक का क्रमबद्ध इतिहास वर्णित है। यद्यपि इसके लेखक का पता नहीं चलता है; फिर भी इतना स्पष्ट है कि इसकी रचना बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं श०) से पहिले, संभवतः ३५२-४५० ई० के बीच हुई।[2] दीपवंश में काव्यत्वगुण उतने नहीं हैं, जितना कि ऐतिहासिक दृष्टि से उसका महत्त्व है। उसके इस महत्त्व को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है।[3] 'दीपवंश' लंकाद्वीप की प्राचीन शासनपरंपरा को बतानेवाला एकमात्र पहिला ग्रंथ है, वरन्, पालि-साहित्य और बौद्धधर्म की विकास-परंपरा का क्रमबद्ध इतिवृत्त जानने के लिए भी उसकी उपयोगिता स्वतःसिद्ध है।

महावंश[4]

विषय की दृष्टि से, क्रम की दृष्टि से, आकार-प्रकार से एवं स्वरूप-शैली की दृष्टि से 'दीपवंश' का दाय लेकर ही 'महावंश' की रचना हुई प्रतीत होती है। फिर भी 'दीपवंश' की अपेक्षा 'महावंश' में काव्यत्वगुण अधिक हैं। उसको एक विशुद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य और काव्य-महाकाव्यों का प्रेरणा-ग्रंथ भी कहा जा सकता है। 'महावंश' मूलरूप में ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा तक ही था; किन्तु बाद में उसके कलेवर का परिवर्द्धन हुआ, जिसको कि 'चूलवंश' कहा जाता है।

'महावंश' पर १२ वीं शताब्दी में एक टीका लिखी गई, जिससे पता

---

१. रोमन लिपि मे ओल्देनबग द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसाइटी, लंदन से प्रकाशित, १८७९

२. वही, पृ० ५४९

३. मैक्समूलर : सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द १० (१); पृ० १३-१५, भूमिका; रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २७४; डॉ० गायगर : महावंश, पृ० १२-२०

४. डॉ० गायगर द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसाइटी, लंदन से प्रकाशित, १९०८ भदंत आनन्द कौसल्यायन द्वारा संपादित एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित, १९४२

चलता है कि 'महावंश' के रचयिता का नाम भदंत महानाम था।[1] विद्वानों का बहु-समर्थित मत इस वंशग्रंथ की रचना ईसा की पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम भाग या छठी शताब्दी का आदि भाग स्वीकार करता है।[2]

बुद्धघोसुप्पत्ति[3] (बुद्धघोषोत्पत्ति)

इस ग्रन्थ के रचयिता महामंगल सिंहली भिक्षु थे, जिन्होंने कि 'गंधट्टि' नामक व्याकरण की भी रचना की थी[4]। इनका स्थितिकाल १४वीं शताब्दी था।[5] इसके नाम से ही विदित है कि यह बुद्धघोष का जीवनी-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना अनुश्रुतियों पर आधारित होने के कारण उसमें कहीं कहीं ऐतिहासिक भूलें भी हो गयी हैं। 'महावंश' के परिवर्द्धित संस्करण में बरमी भिक्षु धम्मकित्ति (१३वीं श०) द्वारा उल्लिखित बुद्धघोष सम्बन्धी विवरण भिक्षु महामंगल के इस ग्रन्थ के विवरणों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक ठहरते हैं।

सद्धम्मसंगह[6]

इसमें आरंभ से लेकर १३वीं श० तक के भिक्षुसंघ का इतिहास वर्णित है, जिसका आधार बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ एवं 'दीपवंश' तथा 'महावंश' हैं। प्रियदर्शी अशोक के समय में आयोजित तीसरी बौद्ध संगीति के बाद प्रचारार्थ भेजे गए भिक्षुओं का वर्णन भी इस ग्रंथ में दिया गया है। इसमें ४० अध्याय हैं।

इस ग्रंथ के रचयिता धम्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महास्वामी) का स्थितिकाल चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध था, जिन्होंने कि 'बालावतार-व्याकरण' की भी रचना की थी।[7]

---

१. भदंत आनन्द कौसल्यायन : महावंश-अनुवाद, पृ० २ (परिचय)

२. फ्लीट : जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ० ५, पदसंकेत १ (१९०९); गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ३६; डॉ० विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द २, पृ० २१२; उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५५४

३. जेम्स ग्रे द्वारा संपादित एवं लन्दन से प्रकाशित, १८९२

४. मोबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृ० २६

५. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५६६

६. सदानन्द द्वारा सम्पादित एवं जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी, से प्रकाशित १८९०

७. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५६८

महाबोधिवंश[1] (बोधिवंश)

इस ग्रंथ की कथावस्तु के आधार भी 'दीपवंश', 'महावंश' आदि प्राचीन रचनाएँ हैं। इस ग्रन्थ में अनुराधापुर के बोधिवृक्ष की कथा पद्यबद्ध वर्णित है, जिसमें कि लेखक ने रूपकात्मक शैली में बौद्धधर्म का ही इतिहास दिया है। इस ग्रन्थ की रचना सिंहली भिक्षु उपतिस्स (उपतिष्य) ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में की थी। स्ट्राँग महोदय ने उपतिष्य को बुद्धघोष का समकालीन सिद्ध किया था; किन्तु डॉ० गायगर ने उसका प्रतिवाद कर प्रामाणिक आधारों पर यह सुझाया कि उपतिष्य का स्थितिकाल ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में था।[2]

थूपवंश[3] (स्तूपवंश)

इस वंशग्रन्थ की रचना सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर ने की है। वाचिस्सर (वागीश्वर) नाम के कई भिक्षु सिंहल में हो चुके हैं; किन्तु उन सभी में थूपवंशकार की ही अधिक विश्रुति है। 'गंधवंश' में इनके रचे हुए १८ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। सुप्रसिद्ध वेदांती वाचस्पति मिश्र और स्थविर वाचिस्सर का व्यक्तित्व प्रायः एक जैसी ऊँचाई पर गिना गया है।[4]

'थूपवंश' की रचना पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर की गई है। वह १३वीं शताब्दी में रचा गया और इसी समय उसका सिंहली रूपान्तर भी हुआ।[5] 'थूववंश' (स्तूपवंश) में भगवान् बुद्ध के स्मृतिस्वरूप धातुनिर्मित स्तूपों का इतिहास वर्णित है, जिसका आरंभ बुद्ध-परिनिर्वाण से लेकर लंका

---

१. एस० ए० स्ट्राँग द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसाइटी, लन्दन से प्रकाशित १८९१ तथा सिंहली संस्करण : भिक्षु उपतिस्स द्वारा सम्पादित एव कोलम्बो से प्रकाशित १८९१

२. डॉ० गायकर : पालि लिटरेचर ऐंड लैंग्वेज, पृ० ३७, तथा कुमारस्वामी : दीपवंश ऐंड महावंश, ७९

३. डॉ० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसाइटी, लंदन से प्रकाशित, १९३५; डा० लाहा का अंग्रेजी अनुवाद : बिललियोथिका इंडिका सीरीज १९४५; सिंहली संस्करण, कोलम्बो, १८९६

४. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५३९

५. डॉ० लाहा : महाबोधि, मई-जून, १९४६

के राजा दुट्ठगामणि (१०१–७७ ई० पूर्व) के समय तक पहुँचता है। स्तूपों के इतिहास के अतिरिक्त ई० पूर्व प्रथम शताब्दी तक बौद्धधर्म का जो विकास हुआ, उसका भी पूरा विवरण इस ग्रन्थ में मिलता है। लंका के धार्मिक इतिहास में 'थूपवंश' का बड़ा महत्त्व है।

अत्तनगलुविहारवंश

इस ग्रन्थ के लेखक का नाम अविदित है। सिंहली भिक्षु अनोमदस्सी के अनुरोध पर इस ग्रंथ का निर्माण १३वीं शताब्दी, पराक्रमबाहु (१२२९–१२४६ ई०) के समय हुआ।[1] किसी विहार के नाम पर इस ग्रंथ का नामकरण हुआ। इसका सिंहली संस्करण 'हत्थवनगल्लविहारवंश' के नाम से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में ११ अध्याय हैं और इसकी वर्णनशैली सरल एवं स्वाभाविक बताई गई है।[2]

दाठवंश[3]

इसका दूसरा नाम 'दंतधातुवंश' भी है, क्योंकि इसमें बुद्ध के दाँत-धातु की कथा है। इसके कथानक की समानता 'थूपवंश' से बैठती है। इस ग्रन्थ की रचना तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य महाथेर धम्मकित्ति (महास्थविर धर्मकीर्ति) ने की।[4] इन धर्मकीर्ति को संस्कृत-मागधी का पूर्णज्ञ, तर्कशास्त्र, व्याकरण, काव्य, आगम और विशेषतया छंदों का निष्णात विद्वान् बताया गया है।[5]

छकेसधातुवंश[6]

वंशग्रन्थों के निर्माण की परंपरा तेरहवीं शताब्दी के बाद कुछ शिथिल-सी दिखाई देती है। लगभग पाँच शतक बाद १९वीं शताब्दी में 'छकेस-

---

१. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ४४

२. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५७५

३. डॉ० रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित एवं जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी, लंदन से प्रकाशित, १८८४; डा० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित तथा अनूदित एवं पञ्जाब संस्कृत सीरीज में प्रकाशित, १९२५; सिंहली संस्करण, केलनिय १८८३

४. जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी, पृ० ६२, १८८६

५. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५७५

६. मिनयेफ द्वारा सम्पादित एवं जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी से प्रकाशित, १८८५

धातुवंश', 'सासनवंश' और 'गन्धवंश', इन तीन वंशग्रंथों का एक साथ निर्माण हुआ।

'छकेसधातुवंश' का निर्माण किसी वर्मी भिक्षु ने किया, जिसका नाम विदित नहीं होता है। इस ग्रंथ में भगवान् तथागत के छह केशों के ऊपर निर्मित स्तूपों का इतिहास वर्णित है।

सासनवंश[1] (शासनवंश)

'सासनवंश' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। उसकी आधारभूत सामग्री ही प्राचीन पालि ग्रन्थ है। उसमें बुद्ध-शासन का इतिहास वर्णित है। बुद्ध-परिनिर्वाण से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के सुदीर्घ समय में बौद्धधर्म का जिस क्रम से विकास हुआ, उसकी क्रमबद्ध स्थितियों का पूरा-पूरा हवाला इस ग्रन्थ में दिया हुआ है। तृतीय बौद्ध संगीति के बाद विदेशों में भेजे गए धर्मोपदेशक भिक्षुओं का भी इस ग्रन्थ में वर्णन है। बर्मी भिक्षु पञ्ञसामी (प्रज्ञास्वामी) ने उन्नीसवीं शताब्दी में इस ग्रन्थ का निर्माण किया।

गन्धवंश[2] (ग्रंथवंश)

इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इसमें पालि ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का इतिहास वर्णित है। इस दृष्टि से इस ग्रंथ का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पुस्तक में पालि ग्रन्थों की सूची, उनके रचयिताओं की सूची, उनके रचनास्थान का विवरण एवं उनके रचनाकाल का, रचना के उद्देश्य का विस्तार से वर्णन है। विषय की दृष्टि से पालि ग्रन्थकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण और तदनन्तर ऐतिहासिक क्रम से उनका परिचय, इस ग्रन्थ की विशेषता है। भारतीय और लंकावासी ग्रन्थकारों का इसमें अलग-अलग ब्यौरा दिया हुआ है। साथ ही एक सूची ऐसे ग्रन्थों की भी टाँक दी गई है, जिनके लेखकों का पता नहीं है। यह ग्रन्थ पालि-साहित्य के इतिहासकार एवं पालि-साहित्य के अध्येता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।[3] इसकी रचना बरमा में उन्नीसवीं शताब्दी में हुई।

---

१. मोबिल बोड द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसाइटी से प्रकाशित, १८९७
२. मिनयेफ द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी में प्रकाशित, १८८६
३. विस्तार के लिए उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५७६-५८१

पालि काव्य

पालि-साहित्य के क्षेत्र में काव्यों की उन्नत निर्माण-परंपरा का प्रायः अभाव ही समझना चाहिए। मानवजीवन की व्यापक एवं गहन अनुभूतियों का पहिला दर्शन हमें त्रिपिटकों में होता है। त्रिपिटकों में संगृहीत भगवान् तथागत के ऊँचे विचारों में यद्यपि काव्य-विषय की सर्वांगीणताएँ समाविष्ट हैं, फिर भी, संस्कृत में हम काव्यों का जिस दृष्टि से विश्लेषण एवं विवेचन पाते हैं, उस दृष्टि से त्रिपिटकों को हम काव्य न कह कर काव्यों के उपजीवी, पालि काव्यों के जन्मदाता कह सकते हैं। त्रिपिटकों के सुन्दर कथा-शिल्प को लेकर काव्यत्व की परिधियों में बाँध देने का यह कार्य दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक प्रधनतया लंका में और गौणतया बरमा में होता गया।[1]

विषय की दृष्टि से पालि में दो प्रकार से काव्यों का प्रणयन हुआ: वर्णनात्मक और आख्यानात्मक।

पहिली श्रेणी के काव्यग्रन्थों में कस्सप (कश्यप)[2] का 'अनागतवंश'[3] (प्राग्-बुद्धघोष[4]), भिक्षु कल्याणप्रियकृत 'तेलकटाहगाथा'[5] (संभवतः ३००ई० पूर्व)[6], बुद्धरक्खित (बुद्धरक्षित) का 'जिनालंकार'[7] (१२वीं श०)[8], मेधंकरकृत[9] 'जिनचरित'[10] (१३वीं श०[11]), स्थविर बुद्धप्पिय (बुद्धप्रिय)

---

१. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५८३

२. गंधवंश, पृ० ६१, ७२ (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी का संस्करण, १८८६)

३. मिनयेफ द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी से प्रकाशित, १८८६

४. रायस डेविड्स : विसुद्धिमग्ग, पृ० ७६१, ७६४

५. ई० आर० गणरत्न द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसाइटीसे प्रकाशित, १८८४

६. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृ० १६२
विंटरनित्स ने इसको बारहवीं शताब्दी की रचना माना है—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० २२३, किन्तु यह मत संप्रति मान्य नहीं समझा जाता है—उपाध्याय का इतिहासग्रन्थ, पृ० ५९१

७. जेम्स ग्रे द्वारा संपादित रोमन संस्करण, लंदन से प्रकाशित, १८९४; गैले का सिंहली संस्करण, १९००

८. जेम्स ग्रे : जिनालंकार, पृ० २७१, मिनयेफ : गंधवंश पृ० ७२; सदानन्द : सद्धम्मसंगह ९।२१

९. सद्धम्मसंगह, पृ० ६३; गन्धवंश पृ० ६२-७२

१०. डब्ल्यू० एच० डी० राउज द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसाइटी से १९०४ में प्रकाशित; चार्ल्स डरोइसिल का संस्करण रंगून से प्रकाशित, १९०६

११. रायस डेविड्स : जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी, पृ० ४ (१९०४-५); विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० २२४

का 'पज्जमधु'[१] (१३वीं श०[२]), सिंहली भिक्षु ब्रह्मचारी सोमप्पिय (सोमप्रिय) का 'सद्धम्मोपायन'[३] (१२वीं १३वीं श०[४]), अज्ञातकालीन एवं अविदित लेखक[५] का 'पज्जयतिदीपन'[६], बरमी भिक्षु मेघंकरकृत[७] 'लोकप्पदीपसार' या 'लोकदीपसार' (१४वीं श०) का नाम उल्लेखनीय है।

दूसरी श्रेणी के आख्यान काव्यों में प्रथम संस्कर्ता स्थविर रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) तथा द्वितीय संस्कर्ता भिक्षु वैदेह स्थविर[८] (वेदेह थेर) कृत 'रसवाहिनी'[९] (१३-१४वीं श०), बरमी भिक्षु शीलवंश कृत 'बुद्धालंकार' (१५वीं श०[१०]), बरमा में संकलित कथासंग्रह 'सहस्सवत्थुप्पकरण'[११] और बरमी राजा बोदोपया (बुद्धप्रिय) (१८वीं श०) के आग्रह से लिखा गया गद्यग्रंथ 'राजाधिराजविलासिनी'[१२] का नाम उल्लेखनीय है।

पालि व्याकरण

लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसवी तक पालि भाषा में किसी भी प्रकार के व्याकरण-ग्रंथ की रचना नहीं हो पाई थी। आचार्य बुद्धघोष (पाँचवीं शताब्दी) ने जितनी भी निष्पत्तियाँ या प्रयोग दिए हैं, उनका आधार

---

१. गुणरत्न द्वारा सम्पादित एवं जर्नल ऑफ़ पालि टैक्स्ट सोसाइटी से १८८७ में तथा देवमित्र द्वारा संपादित कोलम्बो से १८८७ में प्रकाशित
२. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ४४; विंटरनित्सः हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० २२३
३. ई० मारिस द्वारा संपादित एवं जर्नल आफ पालि टैक्स्ट सोसाइटी में प्रकाशित, १८८७
४. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५९५-५९६
५. उपाध्याय : वही, पृ० ५९६-५९७
६. लियोन फियर द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ़ पालि टैक्स्ट सोसाइटी से प्रकाशित, १८८४
७. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑफ़ बरमा, पृ० ३५
८. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ४३; विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० २२४; डॉ० लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द २, पृ० ६२५
९. दो सिंहली संस्करण : कोलम्बो से १९०१ और १९१७ में प्रकाशित
१०. मोबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृ० ४३
११. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ़ सिलोन, पृ० १२९
१२. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६००

पाणिनि-व्याकरण ही था।[1] यद्यपि बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार भगवान् तथागत के प्रधान शिष्य महाकच्चायन (महाकात्यायन) ने एक पालि-व्याकरण की रचना की थी और इसी प्रकार बोधिसत्त एवं सब्बगुणाकर के व्याकरण-ग्रन्थों का भी बौद्ध-परंपरा में नाम लिया जाता है; किन्तु इनमें संप्रति कोई भी व्याकरण उपलब्ध नहीं है।

उपाध्याय जी ने पालि के उपलब्ध व्याकरण को तीन शाखाओं या संप्रदायों में विभक्त किया है : १ 'कच्चायन-व्याकरण' और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य, २ 'मोग्गलायन-व्याकरण' और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य, ३ अग्गवंसकृत 'सद्दनीति' और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य।[2]

कच्चायन व्याकरण और उसका उपजीवी साहित्य

'कच्चायन-व्याकरण' पालि-साहित्य का प्रथम व्याकरण है, जिसके दूसरे नाम 'कच्चायन-व्याकरण', 'कात्यायन-व्याकरण' या 'कच्चायन-गन्ध' (कात्यायन-ग्रन्थ) भी है।[3] इन व्याकरणकार का सम्बन्ध न तो बुद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चायन से है और न वार्तिककार कात्यायन से ही; एवं 'नेत्तिपकरण' तथा 'पेटकोपदेस' के रचयिता कच्चायन से भी ये भिन्न हैं।[4] पाणिनि-व्याकरण, बुद्धघोष के ग्रन्थों, 'कातन्त्र-व्याकरण' और 'काशिकावृत्ति' से 'कच्चायन-व्याकरण' के रचनात्मक विधान का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि उसका निर्माण सातवीं शताब्दी के बाद हुआ।[5] वैयाकरण कच्चायन को 'महानिरुत्तिगंध' (महानिरुक्तिग्रन्थ) और 'चुल्लनिरुत्तिगंध' (संक्षिप्तनिरुक्तिग्रन्थ) नामक दो व्याकरण-ग्रंथों का रचयिता भी बताया गया है।[6]

'कच्चायन व्याकरण' पर पहिला भाष्य आचार्य विमलबुद्धि ने (११वीं से ७वीं श० के बीच) 'न्यास' नाम से लिखा, जिसका दूसरा नाम 'मुखमत्त-दीपिनी' भी उल्लिखित है।[7] सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य छपद नामक आचार्य (१२वीं श०) ने 'न्यास' की टीकास्वरूप 'न्यासप्रदीप' लिखा।

---

१. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६०१ २. वही, पृ० ६०३

३. डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा सम्पादित, अनुवादित एवं कलकत्ता से प्रकाशित, १८९१

४. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६०३ ५. वही ६०३-६०४

६. मिनयेफ : गंधवंश, पृ० ५९ तथा सुभूति : नाममाला, पृ० २८ (भूमिका-भाग)

७. गंधवंश, पृ० ६०; नाममाला, पृ० ९ (भूमिका)

'न्यास' पर एक टीकाग्रन्थ बरमी भिक्षु दाठानाग (१७वीं श०) ने 'निरुत्त-सारमंजूषा' नाम से लिखा।[1] छपद कृत 'न्यासप्रदीप' पर 'सुत्तनिद्देस' नामक एक व्याकरण-ग्रन्थ बुद्धाब्द १७१५ (११८१ ई०) में लिखा गया।[2] सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य स्थविर संघरक्खित (संघरक्षित १२वीं श०) ने भी 'कच्चायन व्याकरण' पर एक ग्रन्थ 'संबंधचिंता' नाम से लिखा। इन्हीं स्थविर ने भिक्षु धम्मसिदि (धर्मश्री) के 'खुद्दक-सिक्खा' पर टीकास्वरूप 'खुद्दकसिक्खा टीका' भी लिखी।

'कच्चायन-व्याकरण' पर लिखे गए ग्रन्थों में स्थविर धर्मश्री (१२वीं श०), 'सद्दत्थभेदचिंता' (शब्दार्थभेदचिंता), सरिपुत्त के शिष्य स्थविर बुद्धप्रिय-दीपंकर (१३वीं श०) की 'रूपासिद्धि', 'पञ्जमधु', धर्मकीर्ति (१४वीं श०) का 'बालावतार व्याकरण'[3], इस पर लिखी गई किसी अज्ञातनामा एवं अज्ञातकालीन लेखक की टीका; बरमी भिक्षु कंटकखियनागित (या नागित) रचित 'सद्दसारत्थजालिनी' (रचनाकाल १९०० बुद्धाब्द—१३५६ ई०), स्थविर महायास (१४वीं श०) कृत 'कच्चायनभेद' और 'कच्चायनसार'[4]; बरमी भिक्षु अरियालंकारकृत 'कच्चायनभेद' की एक टीका 'सारत्थविकासिनी' (बुद्धाब्द २१५२–१६०८ ई० में रचित) और अज्ञातकालीन भिक्षु उत्तम-सिक्ख (उत्तमशिक्ष) कृत दूसरी टीका 'कच्चायनभेद महाटीका'; 'कच्चायन-सार' पर स्वयं स्थविर महायास कृत 'कच्चायनसार-पुराणटीका'[5], बरमी भिक्षु सद्धमविलास-कृत 'कच्चायनसार-अभिनवटीका' (या सम्मोहविनाशिनी), बरमी नरेश क्यच्वा[6] (१५वीं श०) द्वारा लिखित 'सद्दबिन्दु' (शब्दबिन्दु—बुद्धाब्द २०२५–१४८१ ई० में रचित)[7]; ज्ञानविलास भिक्षु (१६वीं श०)

---

१. मैबिल बोड : दि पालि लिटरेचर आफ बरमा, पृ० ५५, सुभूति : नाममाला पृ० १० (भूमिका)

२. बोड : पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृ० १७; सुभूति : नाममाला, पृ० १५

३. डॉ० गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ४४, ५१

४. गंधवंश के अनुसार ये दोनों ग्रन्थ धम्मानन्द भिक्षु की रचनाएँ हैं—देखिए गंधवंश, पृ० ७४ (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट, सो० का संस्करण, १८८६)

५. डॉ० गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ५२; सिंहली विद्वान् सुभूति ने इसे किसी अज्ञात लेखक की रचना माना है; देखिए—नाममाला, पृ० ८४–८५ (भूमिका)

६. सासनवंश, पृ० ७६, बोड का संस्करण

७. सुभूति : नाममाला, पृ० ९१–९२ (भूमिका)

कृत 'सद्दबिन्दु' या 'लीनत्थसूदनी' नामक टीका; किसी अज्ञात लेखक (१६वीं श०) का 'बालप्पबोधन' (बालप्रबोधन), एक दूसरे अज्ञात-नामा तथा अज्ञातकालीन ग्रंथकार का 'अभिनवचुल्लनिरुक्ति' नामक व्याकरण; बरमी भिक्षु महाविजितावी (१७वीं श०) कृत 'कच्चायनवण्णना' तथा 'वाचकोपदेश'; और स्थविर शीलवंश-कृत 'धातुमंजूषा' आदि का नाम उल्लेखनीय है।

मोग्गल्लान व्याकरण और उसका उपजीवी साहित्य

'मोग्गल्लान-व्याकरण' का लंका और बरमा की बौद्ध-परंपरा में बड़ा आदर एवं प्रचलन है। यद्यपि वह अधिक प्राचीन नहीं है; तथापि 'कच्चायन-व्याकरण' की अपेक्षा वह अधिक सर्वांगीण और भाषा-उपादानों की दृष्टि से अधिक संयत एवं व्यवस्थित है।[1] इसका दूसरा नाम 'मागधसद्दलक्खण' भी है, जो कि पाणिनि-व्याकरण, कातन्त्र-व्याकरण, प्राचीन पालि-व्याकरण और चंद्रगोमिन् के व्याकरण पर आधारित है।

मोग्गल्लान महाथेर का 'मोग्गल्लान-व्याकरण' एक उच्चकोटि की रचना है।[2] अपने व्याकरण-ग्रन्थ पर मोग्गल्लायन महाथेर ने एक वुत्ति (वृत्ति) और उस पर एक पांडित्यपूर्ण टीका 'पञ्चिका' नाम से लिखी।[3] मोग्गल्लान महाथेर का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी का अंतिम भाग है।[4]

'मोग्गल्लान-व्याकरण' के आधार पर रचे गए ग्रन्थों में मोग्गल्लान के समकालीन उनके शिष्य पियदस्सी-कृत 'पदसाधन'[5], तित्थगाम (लंका) निवासी स्थविर राहुल वाचिस्सर कृत 'पदसाधनाटीका' (या बुद्धिप्पसादिनी-१४७२ ई० में रचित);[7] मोग्गल्लान-पंचिका-प्रदीप (१४५७ ई० में रचित),[6]

---

१. भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृ० ५० (वस्तुकथा) तथा उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६०८
२. देवमित्र द्वारा सम्पादित एवं कोलम्बो से प्रकाशित, १८९०
३. श्री धर्मानन्द नायक महास्थविर द्वारा सम्पादित एवं लंका से प्रकाशित, देखिये—पालि महाव्याकरण, पृ० ५१ (वस्तुकथा)
४. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६०९
५. जॉयसा : कैटलाग, पृ० २५
६. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६०९
७. डॉ० गायगर : पालि लिटरेचर ऐंड लैंग्वेज, पृ० ६२,७१

वनरतन मेधंकर (१३०० ई०)[१] कृत 'प्रयोगसिद्धि',[२] आचार्य धम्माराम नायक महाथेर (१८९६ ई०) कृत 'विद्यालंकार परिवेण' और अज्ञातनामा एवं अज्ञातकालीन लेखक की 'धातुमंजूषा'[3] आदि उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

सद्दनीति और उसका उपजीवी साहित्य

पालि व्याकरण की परंपरा का तीसरा 'सद्दनीति'[४] संप्रदाय बरमा की देन है। बरमा से पहिले सिंहल में व्याकरण की दिशा में अच्छा कार्य हो चुका एवं हो रहा था; किन्तु कुछ सिंहली भिक्षुओं ने बरमा में आकर जब 'सद्दनीति-व्याकरण' को देखा तो उन्हें यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि सिंहली-व्याकरण-परंपरा में अभी तक 'सद्दनीति' जैसी उच्चकोटि की रचना की समानता में कोई पुस्तक नहीं रची गई।[५]

बरमी भिक्षु अग्गवंश ने, जो कि 'अग्गपीडित तृतीय' के नाम से प्रसिद्ध थे, ११५४ ई० में 'सद्दनीति' व्याकरण की रचना की,[६] जो कि 'कच्चायन-व्याकरण' पर आधारित है।[७] हिंगुलवल जिनरतन नामक बरमी भिक्षु ने 'सद्दनीति' पर एक 'धातुरूपावली' के ढंग की 'धात्वर्थदीपनी' नामक पुस्तक लिखी। इनका समय निश्चित नहीं है।[८] 'सद्दनीति' व्याकरण की परंपरा में इसके अतिरिक्त दूसरी पुस्तकें देखने को नहीं मिलती हैं।

पालि के अन्य व्याकरण

इन तीनों संप्रदायों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भी पालि-साहित्य में व्याकरण-ग्रन्थों की विपुल रचना देखने को मिलती है, जिसका पूरा परिचय आचार्य सुभूतिकृत 'नाममाला' तथा डे जॉयसा के 'कैटलॉग' से प्राप्त किया जा सकता है। पालि के इन विपुल व्याकरण-ग्रन्थों में बरमी भिक्षु रामणेर धम्मदस्सी (१४वीं श०) कृत 'वच्चवाचक,' जिस पर बरमी भिक्षु सद्धम्मनंदी

१. वही, पृ० ५४ २. जायसा : कैटलाग, पृ० २६

३. जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृ० ३७७–४१२

४. हेमर स्मिथ द्वारा तीन भागों में सम्पादित—डॉ० लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द २, पृ० ६३६

५. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृ० १६

६. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६११

७. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लेंग्वेज, पृ० ५५

८. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६११

ने १७६८ ई० में एक टीका लिखी। इनके अतिरिक्त मंगल (१४वीं श०) कृत 'गंधदिट्ठि,' अरियंस (१५वीं श०) कृत 'गंधाभरण,' बरमी राजा क्यच्चा की पुत्री (१४८१) कृत 'विभत्त्यत्थप्पकरण', जिस पर बाद में 'विभत्थ', 'विभत्यत्थदीपनी' तथा 'विभत्तिकथावण्णगा' नाम से अनेक टीकाएँ लिखी गईं; जंबुध्वज (१७वीं श०) कृत 'संवण्णनानयदीपना', 'निरुत्तिसंगह' तथा 'सर्वज्ञन्यायदीपनी', सद्धम्म गुरु कृत 'शद्दवुत्ति' (शब्दवृत्ति १६५६ ई० में रचित), लंका के अंतरगमवंडार राजगुरु (१८वीं श०) कृत 'कारकपुप्फ-मंजरी'; बरमी भिक्षु विचित्ताचार (विचित्राचार–१८वीं श०) कृत 'नयलक्खणविभावनी' और अज्ञातनामा लेखकों की 'सुधीरमुखमंडन', 'सद्दविंदु', 'सद्दकलिका', 'सद्दविनिच्छय' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।[1]

पालि : कोश छन्द और काव्यशास्त्र-ग्रंथ

पालि कोशग्रंथों से दो ही ग्रंथों का नाम प्रमुखता से उल्लेखनीय है, जिनमें पहिला मोग्गल्लानकृत 'अभिधानप्पदीपिका'[2] और दूसरा बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति) कृत 'एकक्खरकोस'[3] है। 'अभिधानप्पदीपिका' संस्कृत के सुप्रसिद्धकोश 'अमरकोश' की शैली एवं उसके आधार पर निर्मित है।[4] सिंहल और बरमा में इसकी अधिक ख्याति है। इस कोशग्रंथ की रचना महाथेर मोग्गलायन ने लंकाधिपति परक्कम-भुज भूपाल (पराक्रमबाहु प्रथम ११५३–११८६ ई०) के समय[5] महाजेतवन नामक विहार में की थी।[6] ये कोशकार मोग्गल्लान पूर्वोक्त व्याकरणकार मोगल्लान से पृथक् व्यक्ति हुए,[7] 'गंधवंश' में जिनको 'नव मोग्गल्लान' कहा गया है।[8]

आचार्य सद्धर्मकीर्ति का कोश संस्कृत के एकाक्षरी कोश का पालि रूपांतर

---

१. विस्तार के लिये उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६११-६१४

२. सुभूति द्वारा सिंहली लिपि में संपादित एवं कोलम्बो से प्रकाशित १८८३; मुनि जिनविजय द्वारा नागरी लिपि में सपादित एवं गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित, १९८० वि०

३. मुनि जिनविजय द्वारा उक्त संस्करण में ही संपादित एवं प्रकाशित

४. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृ० १८८–१८९

५. मुनि जिनविजय : अभिधानप्पदीपिका, पृ० १५६

६. वही पृ० १५६

७. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६१६

८. गंधवंश, पृ० ६२

है, जिसका उल्लेख कि कोशकार ने पुष्पिका में कर दिया है। इस कोश का रचना १४६५ ई० में हुई।[1]

इसी प्रकार सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य स्थविर संघरक्खित (१२वीं श०) द्वारा लिखित 'वृत्तोदय' पालि का एक मात्र छन्दशास्त्र-विषयक ग्रन्थ है, जिस पर 'वचनत्थजोतिका' नामक एक टीका भी लिखी गई। इस विषय के अनधिक ख्यातिप्राप्त ग्रंथों में 'छंदोविचिति, 'कविसार-प्पकरण' और 'कविसारटीका-निस्सय' का नाम लिया जा सकता है।

इन्हीं स्थविर संघरक्खितकृत 'सुबोधालंकार' काव्यशास्त्र का एकमात्र पालिग्रन्थ है।

संस्कृत के ग्रंथकार

जिस प्रकार बौद्धधर्म की स्थविरवादी शाखा के प्रायः संपूर्ण ग्रन्थ पालि भाषा में उल्लिखित हैं, उसी प्रकार सर्वास्तिवादी शाखा के प्रवर्तक और अनुवर्तक विद्वानों की प्रायः समग्र कृतियाँ संस्कृत भाषा में लिखी हुई मिलती हैं। बौद्ध-विद्वानों की यह एक बहुत बड़ी दूरदर्शिता थी कि उन्होंने अपनी कृतियों का प्रणयन पालि को छोड़कर संस्कृत में किया। संस्कृत को अपना-कर उन्होंने एक ओर तो अपने अभीष्ट को यथाशक्ति पूरा किया और दूसरी ओर तथागत के समय से ही संस्कृत के प्रति बौद्ध जगत् में जो एक प्रकार से संप्रदायजन्य संकीर्णता की भावना पैदा होती चली आ रही थी, उसको दूर कर अपने उदार विचारों का परिचय दिया, और ऐसा करके उन्होंने बौद्धधर्म के महत्त्व को बढ़ाया।

अश्वघोष

इस प्रकार के संस्कृतानुरागी बौद्ध-विद्वानों में पहिला नाम अश्वघोष का है। अश्वघोष संस्कृत-साहित्य के एक सुपरिचित महाकवि और बौद्ध-न्याय के प्रकाण्ड दार्शनिक भी थे। संस्कृत-साहित्य में उनकी गणना भास एवं कालिदास जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थकारों में की जाती है। अश्वघोष सर्वास्तिवादी विचारधारा के बौद्ध थे। क्योंकि एक बौद्ध होने की अपेक्षा वे एक महाकवि के रूप में अधिक विख्यात हैं, इसलिए उनकी जीवनी और कृतियों पर महाकाव्यकारों के प्रसंग में प्रकाश डाला गया है।

---

१. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६१६

नागार्जुन

बौद्ध-न्याय के यशस्वी निर्माता होने के कारण बौद्ध-साहित्य के इतिहास में एवं शीर्षस्थानीय भारतीय दर्शनकारों की कोटि में आचार्य नागार्जुन के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं उनकी असामान्य प्रतिभा को आदर के साथ स्मरण किया जाता है। इन आचार्यपाद की पांडित्यपूर्ण कृतियों से बौद्ध-साहित्य गौरवान्वित है; किन्तु उनके जीवन से संबंधित प्रामाणिक जानकारी आज भी संदिग्धावस्था में है। यह जानकर हमें प्रभूत विस्मय होता है कि इस महा मनस्वी एवं अद्‌भुत विचारक की कीर्ति-कथा जहाँ एक ओर भारतीय धरती को लाँघकर सुदूर चीन, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों तक विस्तारित है वहाँ दूसरी ओर उनके जीवनचरित्र के वैविध्य का एक सर्वमान्य हल नहीं निकल सका है।

इसका प्रमुख कारण है 'नागार्जुन' नाम की अनेकरूपता। बौद्ध-दार्शनिक, तांत्रिक और रासायनिक आदि के रूप में एकाधिक नागार्जुन इतिहास की पुस्तकों में मिलते हैं। इनका स्थितिकाल भी इतिहासकारों ने ई० पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक विभिन्न तिथियों में रक्खा है, और एक के नाम से दूसरे की कृतियों को जोड़कर यह समस्या और भी जटिल बना दी है। जहाँ एक ओर हमें यह विदित होता है कि तांत्रिक एवं रासायनिक नागार्जुन का स्थितिकाल सातवीं-आठवीं शताब्दी है, और बौद्ध-दार्शनिक नागार्जुन उक्त नागार्जुन से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हुए, वहाँ दूसरी ओर तिब्बतीय एवं चीनी परंपरा के अनुसार तांत्रिक, रासायनिक और बौद्ध एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं। चीन और तिब्बत में प्रचलित ये अनुश्रुतियाँ हमें अतिरंजित लगती हैं। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि रासायनिक और दार्शनिक दोनों समान नामधारी नागार्जुन पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे। 'आरोग्य-मंजरी', 'रसेंद्रभंग', 'रसरत्नाकर' और 'योगशतक' प्रभृति कृतियों का निर्माता रासायनिक नागार्जुन था।

इतना स्पष्टीकरण कर देना भी आवश्यक है कि लौहशास्त्रविद् नाम से कुछ समालोचकों ने जो तीसरे ही नागार्जुन का उल्लेख किया है, वे रासायनिक नागार्जुन ही थे। ये रासायनिक नागार्जुन, दार्शनिक नागार्जुन के पूर्ववर्ती थे और इनका आनुमानिक स्थितिकाल ई० पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी के लगभग था। भ्रमवशात् कुछ विद्वानों ने एक ही नागार्जुन को

'सुश्रुत' का संस्कर्ता, सिद्ध लौहशास्त्रकार और सुप्रसिद्ध शून्यवादी सिद्ध किया है[1]; किन्तु अब पूरी तरह इतना निराकृत हो चुका है कि ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे।[2]

सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु एवं संस्कृत ग्रंथों के चीनी अनुवादक कुमारजीव ने ४०१-४०९ ई० के भीतर आचार्य नागार्जुन और आचार्य वसुबंधु के दो जीवनीग्रंथ लिखे थे। ४०५ ई० में कुमारजीव कृत नागार्जुन के जीवनी-ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था। इस जीवनी ग्रंथ के अनुसार नागार्जुन ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए और उनकी जन्मभूमि दक्षिण थी। युवान च्वांग ने नागार्जुन को दक्षिण कोशल या प्राचीन विदर्भ (बरार) का पैदा हुआ माना है। तिब्बतीय भाषा में बौद्धधर्म के इतिहासकार लामा तारानाथ ने नागार्जुन के गुरु का नाम राहुलभद्र बताया है और इस संबंध में कहा है कि नागार्जुन पहिले ब्राह्मण था तथा उसको महायान पंथ की प्रेरणा ज्ञानी श्रीकृष्ण एवं गणेश से प्राप्त हुई।[3] टी० वैटर्स ने नागार्जुन को छत्तीसगढ़ का निवासी बताया है।[4]

कुमारजीव-कृत ग्रंथ के अनुसार प्रौढ़ावस्था तक नागार्जुन ने वेदों का गंभीर अध्ययन किया और तदनंतर बौद्धधर्म की दीक्षा ग्रहण की। बौद्धधर्म में दीक्षित होने के बाद ९० दिनों तक उन्होंने त्रिपिटक का सूक्ष्म अध्ययन किया और इससे भी संतुष्ट न होकर हिमालयवासी एक विद्वान् से उन्होंने 'महायान-सूत्र' का ज्ञानोपार्जन किया।

लामा तारानाथ के मतानुसार आचार्य नागार्जुन ने जीवन का अधिकांश भाग नालंदा महाविहार में रहकर बिताया; किन्तु कुमारजीव का कहना है कि वे अधिकतया दक्षिण भारत में बौद्धधर्म का प्रचार करते हुए श्रीपर्वत (गुंटूर जिला में स्थित नागार्जुनी कोंडा) पर रहे। युआन च्वांग ने संसार को प्रकाशित करनेवाले नागार्जुन, अश्वघोष, कुमारलब्ध (कुमारलात) और आर्यदेव को चार सूर्य कहा है। वैटर्स ने नागार्जुन को उत्तरकालीन बौद्धधर्म का एक महान् आश्चर्य और रहस्य कहा है।[5]

---

१. डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ शील : पॉजिटिव साइंसेज ऑफ दि एंश्येंट हिन्दूज, पृ० ६२, १९१५

२. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन

३. डॉ० कर्न : मैनुअल ऑफ इंडिया बुद्धिज्म, पृ० १२२

४. वैटर्स : ऑन युआन च्वांग्स ट्रेवल्स इन इंडिया, पृ० २०० (१९०४)

५. वही, पृ० २०३ (दूसरी जिल्द)

कुमारजीव-कृत जीवनी-ग्रंथ की कुछ बातें अतिरंजित प्रतीत होती हैं। उन्होंने लिखा है कि आचार्य नागार्जुन ३०० वर्ष तक जीवित रहे। तिब्बती परंपराएँ इससे और आगे बढ़कर नागार्जुन की जीवनावधि को ५२८ या ६०० वर्ष बताती हैं। लामा तारानाथ ने नागार्जुन को कनिष्ककालीन बताया है, जब कि कतिपय दूसरे तिब्बती विद्वानों ने उसका जन्म बुद्धनिर्वाण के ४०० से ७०० वर्ष बाद बताया है।

सुप्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट ने एक नागार्जुन को मित्रसमुद्राधिपति सातवाहननरेश का मित्र बताया है।[1] ये बौद्ध नागार्जुन ही थे। इतिहासकारों की आधुनिकतम खोजों के अनुसार आचार्य नागार्जुन आँध्रनरेश सातवाहन गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६–१९६ ई०) के समकालीन ठहरते हैं।[2] विंटरनित्स ने नागार्जुन के इस स्थितिकाल के संबंध में गवेषणात्मक प्रकाश डाला है।[3]

कृतियाँ

आचार्य नागार्जुन के वर्चस्वी व्यक्तित्व एवं उनकी अद्भुत प्रतिभा का दर्शन उनकी महान् कृतियों को देखकर किया जा सकता है। चीनी और तिब्बतीय भाषाओं के अनुवाद के रूप में नागार्जुन के नाम से २० ग्रंथों का पता लगता है। बुनियु नंजियों ने भी अपने सुप्रसिद्ध 'सूचीग्रंथ' में नागार्जुन-कृत १८ कृतियों का उल्लेख किया है। ये सभी कृतियाँ दार्शनिक नागार्जुन द्वारा ही रचित हैं, इसमें पर्याप्त संदेह है। आचार्य नागार्जुन की स्वरचित १२ कृतियाँ ही ऐसी हैं, जिनको अधिकांश विद्वानों ने प्रामाणिक रूप से उन्हीं की बताया है। ये कृतियाँ हैं: १ 'माध्यमिक कारिका' या 'माध्यमिक शास्त्र', २ 'दशभूमि विभाषाशास्त्र', ३ 'महाप्रज्ञापारमितासूत्र-कारिका', ४ 'उपाय-कौशल्य', ५ 'प्रमाण-विध्वंसन', ६ 'विग्रह-व्यावर्तिनी', ७ 'चतुःस्तव', ८ 'युक्ति-षष्ठिका', ९ 'शून्यता-सप्तति', १० 'प्रतीत्यसमुत्पादहृदय', ११ 'महायान विंशक' और १२ 'सुहृल्लेख'।

'माध्यमिककारिका' पर नागार्जुन ने स्वयं 'अकुतोभय' नाम की व्याख्या

---

१. बाण: हर्षचरित, पृ० २५०–२५१ (निर्णय सागर प्रेस का संस्करण)
२. आजकल: बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १६०
३. विंटरनित्स: हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, भाग २

लिखी थी, जो कि तिब्बती भाषा में सुरक्षित है।[1] अपने अंतिम ग्रन्थ 'सुहृल्लेख' को उन्होंने एक पत्र के रूप में अपने मित्र यज्ञश्री गौतमीपुत्र को लिखा था। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में इत्सिंग का कहना है कि नीति और सदाचार विषयक उच्चकोटि की रचना को उस समय बच्चों और वयस्कों को रटाते तथा अध्ययन कराते थे।

नागार्जुन की उक्त बारह कृतियों में 'माध्यमिक कारिका' और 'विग्रह-व्यावर्तिनी' ही अपने मूल रूप संस्कृत में उपलब्ध हैं। शेष तिब्बतीय एवं चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित हैं।

आचार्य नागार्जुन ने जिस सूक्ष्म दार्शनिक मत शून्यवाद की प्रतिष्ठा की थी उसके प्रमुख व्याख्याकारों में बुद्धपालित और भावविवेक का नाम उल्लेखनीय है। इन दोनों विचारकों का स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी है और बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में उनका स्थान इसलिए माना जाता है कि उन्होंने क्रमशः प्रासंगिक एवं स्वतंत्र दो नये संप्रदायों की प्रतिष्ठा की थी। माध्यमिक संप्रदाय के अनुवर्ती विद्वानों में आर्यदेव, शांतिदेव, शांतरक्षित और कमलशील का नाम उल्लेखनीय है।

आर्य असंग

बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में असंग और वसुबंधु दो विख्यात सहोदर हुए हैं, जिन्होंने बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में शास्त्रीय युग की प्रतिष्ठा की। उनके एक छोटे भाई का नाम विरिंचिवत्स था, जिनका कोई भी उल्लेखनीय कार्य हमें नहीं मिलता है। पुरुषपुर (पेशावर) इनकी जन्मभूमि थी। असंग और वसुबंधु की शिक्षा काश्मीर में संपन्न हुई, जहाँ उन्होंने 'विभाषा-शास्त्र' का गंभीर अध्ययन किया एवं वैदिक ज्ञान में पारंगत हुए। आरंभ में दोनों भाई सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अनुयायी थे। उन दिनों इस संप्रदाय का काश्मीर और गंधार में अधिक प्रचलन था। दोनों भाई अयोध्या भी गए।

असंग योगाचार या विज्ञानवाद के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य माने गए हैं। उन्हीं के प्रभाव से वसुबंधु ने सर्वास्तिवाद को त्याग कर विज्ञानवाद

---

१. इस तिब्बती पाठ का संस्कृत अनुवाद स्वर्गीया इन्दु दातार ने बम्बई विश्वविद्यालय की डाक्टरेट के लिए किया था, जो अभी अप्रकाशित है। (आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १६१ का फुटनोट १)

को अपनाया। आर्य असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे, जिन्हें विज्ञानवाद का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है।

आर्य असंग के प्रमुख ग्रन्थों के नाम हैं: 'महायान संपरिग्रह', 'प्रकरण आर्यवाचा', 'योगाचार भूमिशास्त्र' और 'महायानसूत्रालंकार'। इनमें अंतिम दो कृतियाँ सर्वाधिक महत्त्व की हैं। 'योगाचार भूमिशास्त्र' के मूल संस्कृत रूप की खोज का श्रेय महापंडित राहुल जी को है। 'महायानसूत्रालंकार', असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना है, जिसमें कारिकाएँ मैत्रेयनाथ की हैं और उनकी व्याख्या असंग की।[1]

वसुबंधु

बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र में धर्म और दर्शन, दोनों विषयों के एक असामान्य अधिकारी के रूप में आचार्य वसुबंधु का नाम स्मरण किया जाता है। इन आचार्यपाद का जन्म गांधार (सीमाप्रांत) देश के पुरुषपुर नगर अर्थात् पेशावर में हुआ था।[2] ये कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण थे। प्रचंड दार्शनिक योगाचार संप्रदाय के अनुवर्ती विद्वान् आर्य असंग इनके ज्येष्ठ भ्राता थे।

सौभाग्य से आचार्य वसुबंधु की जीवनसंबंधी जानकारी के लिए हमारे पास यथेष्ट सामग्री विद्यमान है। सातवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्वेनत्सांग और इत्सिंग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्तों में वसुबंधु का पर्याप्त उल्लेख किया है। स्वतंत्र रूप से इनके दो जीवनी-ग्रन्थ भी लिखे गए। वसुबंधु का पहिला जीवनीकार कुमारजीव था, जिसने ४०१–४०९ ई० के बीच इनका जीवनचरित लिखा। दूसरे जीवनीकार परमार्थ (४९९–५६० ई०) ने भी इन पर एक ग्रन्थ लिखा। कुमारजीव की पुस्तक संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु परमार्थ की चीनी भाषा में अनूदित पुस्तक आज भी सुरक्षित है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् तकाकुसु ने किया है।[3]

इस जीवनी-ग्रंथ से विदित होता है कि आचार्य वसुबंधु युवावस्था में अपनी जन्मभूमि को छोड़कर तत्कालीन विद्वद्-भूमि अयोध्या चले आए थे, और वहीं उन्होंने स्थविर बुद्धमित्र से हीनयान संप्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। गुरुमठ में रहकर उन्होंने बौद्ध-दर्शन का गंभीर अध्ययन किया।

---

१. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १५१–१६२

२. हु–एन–त्सांग का भारतभ्रमण, पृ० ८५ (१९२९)

३. जे० आर० ए० एस०, १९०५

इसीलिए अयोध्या को वसुबंधु ने मातृभूमि के समान संमान एवं प्रेम से याद किया है। अपने अगाध पांडित्य का निर्माण, और जिन महान् कृतियों के द्वारा उनकी विलक्षण प्रतिभा जगद्विख्यात हुई, उनकी रचना वसुबंधु ने इसी भूमि में बैठकर की। अस्सी वर्ष के सुदीर्घ जीवन के सुख-दुःख उन्होंने इसी पवित्र भूमि के पादमूल में रहकर बिताए। अयोध्या के अतिरिक्त भी उन्होंने भारत के अनेक तीर्थस्थानों, प्रसिद्ध नगरों और ज्ञानपीठों का भी भ्रमण किया। शाकल और कौशांबी में भी वे कुछ समय तक रहे। स्थिरमति, दिङ्नाग, आर्य विमुक्तसेन और गुणप्रभ जैसे पारंगत नैयायिक इन्हीं के शिष्य थे।

आचार्य वसुबंधु के स्थितिकाल के संबंध में कुछ समय पूर्व विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के बीच विभिन्न तिथियों में उनके स्थितिकाल को रखा गया। ह्वेनत्सांग के मतानुसार वसुबंधु २८वाँ महात्मा हुआ है, जिसका स्थितिकाल ५१० ई० था[1]। मैक्समूलर छठी शताब्दी के अंतिम भाग में उनका होना निश्चित करते हैं।[2] इन्हीं मतों की आलोचना-प्रत्यालोचना लम्बे समय तक होती रही।[3]

जिन कुछ विद्वानों ने गंभीर प्रमाणों और लंबी बहसों को सामने रखकर विशेष उत्सुकता से वसुबंधु के स्थितिकाल पर विचार किया है, उनमें जापानी विद्वान् तकाकुसु प्रमुख हैं, जिनके मतानुसार वसुबंधु की समय-सीमा ४२०-५०० ई० के बीच बैठती है।[4] दूसरे जापानी विद्वान् ओजीहारा (Wogihara) ने वसुबंधु को पाँचवीं शताब्दी के अंत में रखा।[5] मेक्डानल साहब ने चौथी शताब्दी में वसुबंधु के स्थितिकाल के संबंध में

---

१. हु-एन-त्सांग का भारतभ्रमण, पृ० ९३ (१९२९)

२. इंडिया, पृ० ३०६

३. डॉ० के० वी० पाठक: इंडियन एंटिक्वेरी, पृ० १७० (१९११); डॉ० हार्नली, पृ० २६४; नरसिंहाचार्य ३१२ (१९१२); लेसन : इंडियन एण्टिक्वेरी, जिल्द २, पृ० १२०५; एडकिन्स : बुद्धा, पृ० १६१, २१८; इंडियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ४, पृ० १४२

४. जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०५, पृ० ३३ तथा वही १९१४, पृ० १०१३

५. इ० आर० इ०, भाग १२, पृ० ५९५

अपना खोजपूर्ण दृष्टिकोण रखा,[1] जिसका समर्थन और जिसकी व्याख्या डॉ० विद्याभूषण,[2] डॉ० स्मिथ[3] और डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य[4] ने की।

दिङ्नाग, शंकर स्वामी, ईश्वरकृष्ण और माठर प्रभृति ग्रंथकारों के ग्रन्थों का चीनी भाषा का भारतीय अनुवादक परमार्थ ५४६ ई० में चीन गया था। ये सभी ग्रन्थकार वसुबंधु के उत्तरवर्ती हैं। परमार्थ ने स्वयं वसुबंधु के ग्रन्थों का अनुवाद और उनकी जीवनी भी लिखी, जिसकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। इस दृष्टि से आधुनिक विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वसुबंधु निश्चित ही चौथी शताब्दी में हुए। उन्हें समुद्र गुप्त के अंतरंग मित्रों में बताया गया है। और उनका, इस दृष्टि से संभावित स्थितिकाल २८०-३६० ई० के बीच निर्धारित किया गया है।[5]

इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है। वसुबंधु अयोध्या के राजा विक्रमादित्य के बड़े प्रेमपात्र थे। इस राजा के पुत्र की शिक्षा-दीक्षा वसुबंधु द्वारा ही संपन्न हुई।[6] 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' के लेखक सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री वामनाचार्य ने उक्त विक्रमादित्य नरेश के पुत्र का नाम चंद्रप्रकाश बताया है और यह भी स्पष्ट किया है कि वसुबंधु का उनसे घनिष्ठ संबंध था।[7] ये चंद्रप्रकाश इतिहासकारों की दृष्टि से सम्राट् चंद्रगुप्त (३२०-३३०) ही थे।[8]

इन सब निष्कर्षों का मंथन करने पर अवगत होता है कि वसुबंधु निश्चित रूप से चौथी शताब्दी ईसवी में हुए। पूरे अस्सी वर्ष की आयु बिताकर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

जीवन के अंतिम दस वर्ष अपने बड़े भाई आर्य असंग की प्रेरणा एवं संसर्ग के कारण इन्होंने वैभाषिक मत का परित्याग करके महायान संप्रदाय

---

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३२५
२. जरनल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, पृ० २२७ (१९०५)
३. अरली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३२८-२९ (तृतीय संस्करण)
४. तत्त्वसंग्रह भूमिका, पृ० ६३-६९
५. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, खण्ड २, पृ० १४० (१९३९)
६. स्मिथ : अरली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३३२
७. वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्ति-३।२
८. उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास खंड, २, पृ० १४१

के योगाचारमतावलंबी के रूप में बिताये। आर्य असंग ने ही इन्हें योगाचार मत में दीक्षित किया। इसीलिए इन्हें वैभाषिक संप्रदाय के अंतर्गत न रखकर योगाचार संप्रदाय के अन्तर्गत रखा गया है। हीनयान संप्रदाय के वैभाषिकमतविषयक ग्रन्थों का निर्माण इन्होंने लगभग ७० वर्ष की अवस्था तक किया, और तदुपरांत अंतिम दस वर्षों में योगाचार संप्रदाय के ग्रन्थों का प्रणयन किया।

चीनी और तिब्बतीय साहित्य में वसुबंधु नामक छः ग्रन्थकारों का उल्लेख मिलता है। चीनी भाषा के त्रिपिटक ग्रन्थ में आचार्य वसुबंधु को २६ ग्रन्थों का रचयिता बताया गया है।[1] किन्तु आचार्य वसुबंधु की प्रामाणिक कृतियाँ इतिहासकारों की दृष्टि में इस प्रकार हैं[2] :

हीनयानसंप्रदायविषयक कृतियाँ : 'परमार्थसप्तति', 'तर्कशास्त्र', 'वादविधि', 'गाथासंग्रह' और 'अभिधर्मकोश'।

महायानसंप्रदायविषयक कृतियाँ : 'सद्धर्मपुंडरीकटीका', 'महापरिनिर्वाण-सूत्र-टीका', 'वज्रछेदिकाप्रज्ञापारमिताटीका', 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (विंशिका, त्रिंशिका)।

तिब्बतीय विद्वान् बुस्तोन ने वसुबंधु के प्रमुख ग्रन्थों की सूची में इन ग्रन्थों को भी जोड़ा है[3] : 'पंचस्कंधप्रकरण', 'व्याख्यायुक्ति', 'कर्मसिद्धिप्रकरण', 'महायानसूत्रालंकार-टीका', 'प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र-टीका' और 'मध्यान्त-विभागभाष्य'।

वसुबंधु ने अपने कोशग्रन्थ पर स्वयं एक भाष्य लिखा था। उनके इस 'अभिधर्म-कोश-भाष्य' की हस्तलिखित प्रति का पता महापंडित राहुल

---

१. विनयतोष भट्टाचार्य : तत्त्वसंग्रह–भूमिका, पृ० ६९–७०

२. डॉ० विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक, पृ० २६८–२६९; डॉ० विद्याभूषण : जे० आर० ए० एस०, पृ० ६०१–६०६ (१९१४); कीथ : इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग ४, पृ० २२१–२२७. रंगास्वामी आयंगर : जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग १२, पृ० ५८७–५९१; डॉ० तुशी (Tucci) : इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ४ (१९२८) पृ० ६३०–३६; विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ३५७–३५५, ३५९,

३. विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ३६०

सांकृत्यायन ने तिब्बत से लगाया। संभवतः प्रो० प्रह्लाद प्रधान ने इसका संपादन जयसवाल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पटना के प्रकाशनार्थ किया है।[1] इस भाष्य पर आचार्य यशोमित्र ने 'स्फुटार्था' व्याख्या लिखी।

बौद्ध न्याय का पिता : आचार्य दिङ्नाग

आचार्य दिङ्नाग की गणना बौद्ध-साहित्य के शीर्षस्थ विद्वानों की कोटि में की गई है। बौद्ध-न्याय के युगद्रष्टा होने के कारण दिङ्नाग का वर्चस्वी व्यक्तित्व भारतीय दर्शन के क्षेत्र में और विशेषतया, मध्यकालीन बौद्ध-दर्शन के निर्माताओं में अद्वितीय है। तिब्बतीय परंपराओं के अनुसार उनका जन्म तमिल प्रदेश के कांची (कंजीवरम्) के समीप सिंहवक्र नामक स्थान में हुआ था। तत्कालीन कांची नगरी विद्वानों की प्रसव-भूमि थी। स्थविरवादी संप्रदाय के आचार्य धम्मपाल, माध्यमिक संप्रदाय के आचार्य चंद्रकीर्ति और योगाचार संप्रदाय के आचार्य धर्मपाल जैसे सुप्रसिद्ध विद्वानों का जन्म इसी विद्वत्प्रसविनी भूमि में हुआ था। दिङ्नाग एक संभ्रान्त ब्राह्मण परिवार से संबद्ध थे।

दिङ्नाग के पहिले गुरु का नाम नागदत्त था, जिन्होंने इन्हें बौद्धधर्म में दीक्षित किया। कुछ दिन बाद सैद्धान्तिक मतभेद हो जाने के कारण गुरुमठ का परित्याग कर दिङ्नाग उत्तर भारत में चले आए। वहाँ उन दिनों वैभाषिक मत के धुरंधर आचार्य वसुबंधु के पाण्डित्य की प्रबल ख्याति हो रही थी। दिङ्नाग की असामान्य प्रतिभा से प्रभावित होकर वसुबंधु ने उन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। तिब्बतीय परंपरा का भी यह कहना है। अपने आचार्यपाद के समीप रहकर दिङ्नाग ने हीनयान और महायान, दोनों संप्रदायों के सिद्धान्तों का मौलिक ज्ञान अर्जित किया और गुरु की ख्याति के साथ-साथ विद्वत् समाज में शिष्य का अद्भुत व्यक्तित्व भी प्रकाश में आया।

बौद्ध-साहित्य के स्वर्ण-युग गुप्तकाल में आचार्य दिङ्नाग का जन्म हुआ था। बौद्ध-साहित्य के संवर्द्धन और बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए गुप्त-राजाओं ने जो कार्य किये वे अमर हैं। आचार्य दिङ्नाग का इतिहास-सम्मत स्थितिकाल चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध या पाँचवीं शताब्दी का आरम्भ

---

१. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १६२ का नोट २

है ।[1] उड़ीसा उनकी विश्रांतिभूमि थी और वहीं के अरण्यों में निर्वाण-पद प्राप्त कर वे जीवन्मुक्त हुए ।

दिङ्नाग की शिष्य-परंपरा में धर्मकीर्ति, शांतरक्षित और कर्मशील के नाम उल्लेखनीय हैं । चीनी-परंपरा से विदित होता है कि शंकर स्वामी भी इन्हींके शिष्य थे । मनोरथ ने धर्मकीर्तिकृत 'प्रमाण-वार्तिक-वृत्ति' की टिप्पणी करते हुए इस परंपरा का समर्थन किया है । डॉ० विद्याभूषण ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में आचार्य दिङ्नाग की जीवनी का विस्तार से परिचय दिया है ।[2]

दिङ्नाग ने न्यायदर्शन पर लगभग सौ पुस्तकें लिखीं थी, जिनमें से जो-जो चीनी और तिब्बतीय अनुवादों में सुरक्षित हैं, उनका विवरण बुनियु नंजियु ने अपने सूची-ग्रन्थ में दिया है । इत्सिंग ने लिखा है कि उनकी भारत-यात्रा के समय दिङ्नाग की पुस्तकों का अध्ययन पाठ्य-पुस्तकों की भाँति होता था ।[3] उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'प्रमाण-समुच्चय' है । यह संप्रति अपने मूलरूप संस्कृत में उपलब्ध न होकर, एक भारतीय पंडित हेमवर्मा द्वारा अनूदित तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है । उनके इस महान् ग्रन्थ का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि आजतक अधिकारी विद्वानों द्वारा उस पर दस प्रामाणिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं ।

'प्रमाण-समुच्चय-वृत्ति' उनका दूसरा ग्रन्थ है, जो कि उक्त ग्रन्थ की व्याख्या है और जिसकी उपलब्धि भी तिब्बतीय अनुवाद के रूप में है । 'न्यायप्रवेश' उनका तीसरा ग्रंथ है । कुछ समय पूर्व इसको शंकर स्वामी द्वारा विरचित बताया जाता था ; किन्तु आधुनिक खोजों ने पूर्णतया उसको दिङ्नाग की कृति प्रमाणित कर दिया है । सौभाग्य से यह ग्रंथ अपने मूलरूप में उपलब्ध है ।[4] उनके चौथे ग्रन्थ 'हेतुचक्र-निर्णय' को श्री दुर्गाचार्य चटर्जी ने तिब्बतीय अनुवाद के आधार पर संस्कृत में पुनर्मुद्रित किया है । इसका एक

---

१. डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य : तत्वसंग्रह-भूमिका, पृ० ७३
आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १६३
२. डॉ० विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक, पृ० २७४–८९
३. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १६३
४. गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, ग्रन्थांक ३८ में प्रो० ध्रुव द्वारा संपादित होकर प्रकाशित

अंग्रेजी अनुवाद भी निकल चुका है। उसका पाँचवा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'प्रमाणशास्त्र न्याय-प्रवेश' तिब्बती और चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित है। उनके दूसरे प्रमुख ग्रन्थ 'आलंबन-परीक्षा', 'आलंबनपरीक्षा-वृत्ति' 'त्रिकाल-परीक्षा' और 'मर्मप्रदीपवृत्ति' आदि भी तिब्बतीय अनुवादों के रूप में जीवित हैं।

दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'कुन्दमाला' नाटक को उसके संपादक श्री रामकृष्ण कवि ने दिङ्नाग कृत ठहराया है; किन्तु अब यह प्रामाणिक रूप से विदित हो गया है कि उक्त कृति का लेखक धीरनाग ११वीं शताब्दी के लगभग हुआ।

चंद्रगोमिन्

आचार्य चंद्रगोमिन् एक बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हुए। उन्होंने बौद्ध-साहित्य को अनेक उच्चकोटि की कृतियाँ दीं। एक ओर तो उन्होंने व्याकरण जैसे नीरस विषय पर अधिकारपूर्वक ग्रन्थ रचना की और दूसरी ओर काव्य, नाटक जैसे हृदयग्राही विषयों पर भी पुस्तकें लिखीं।

संस्कृत-साहित्य में उन्हें एक काव्यकार या नाटककार की अपेक्षा एक वैयाकरण के रूप में ही माना जाता है। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि जैसे एकमेव वैयाकरणों के होते हुए भी चंद्रगोमिन् ने उक्त विषय पर कुछ नये रूप में कहने की आवश्यकता समझी। परंपरा के विरुद्ध उनका यह एक साहससम्पूर्ण कदम था। व्याकरण के क्षेत्र में इन्होंने जिन नये नियमों, नयी पद्धतियों, नये शब्द-रूपों और नये प्रयोगों का निर्माण किया, उसके कारण व्याकरण में 'चांद्र-व्याकरण' के नाम से एक नये संप्रदाय की नींव पड़ी। पाणिनि-व्याकरण में जो प्रयोग असिद्ध कहे गये थे, और कात्यायन तथा पतंजलि ने भी जिन पर कुछ कहने का साहस नहीं किया, चंद्रगोमिन् ने उनको भी सिद्ध करके रख दिया। पतंजलि के 'महाभाष्य' की त्रुटियाँ को दर्शाने के उद्देश्य से ही उन्होंने अपने व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की थी।

चंद्रगोमिन् के कृतित्व के संबंध में जितनी जानकारी उपलब्ध है, उनकी जीवनी के संबंध में, उसकी अपेक्षा बहुत कम बातें विदित हुई हैं। उनके संबंध में इतना ही ज्ञात है कि वे महायान की योगाचार-शाखा के वरिष्ठ विद्वान् आचार्य वसुबंधु के प्रशिष्य और आचार्य स्थिरमति के शिष्य थे। ये बड़े घुमक्कड़ थे। डॉ० विद्याभूषण जी ने भ्रमवश इनका स्थितिकाल वामन

और जयादित्य ७वीं शती ई० के बाद रखा है[1]; किन्तु उनका विद्वत्संगत स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हैं।[2]

वाक्यपदीकार भर्तृहरि का कथन है कि चंद्रगोमिन् ने ही दक्षिण भारत से प्राप्त 'महाभाष्य' की प्रति को उत्तर भारत में लाकर उसकी विलुप्त परंपरा को पुनरुज्जीवित किया।[3] इस 'महाकाव्य' की पोथी को उन्होंने लंका से लौटते हुए दक्षिण में वररुचि नामक विद्वान् से प्राप्त किया था। यह वररुचि, वैयाकरण वररुचि कात्यायन से भिन्न था। 'राजतरंगिणी' में भी चंद्रगोमिन् को 'व्याकरण महाभाष्य' का पुनरुद्धारक कहा गया है।[4] महायान-संप्रदाय माध्यमिक दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् नालंदा महाविहार के आचार्य चंद्रकीर्ति के साथ चंद्रगोमिन् का गहरा शास्त्रार्थ हुआ था।[5]

इनके ग्रन्थों के नाम हैं: 'शिष्यलेख-धर्मकाव्य', 'आर्यसाधन-शतक' (काव्य), 'आर्य-तारान्तर-बलिविधि' (स्तुतिकाव्य), 'लोकानंद' (नाटक, केवल तिब्बती भाषा में उपलब्ध) और 'चांद्र व्याकरण'।

धर्मकीर्ति

दिङ्नाग जैसी अद्भुत प्रतिभा के एक दूसरे विद्वान् आचार्य धर्मकीर्ति हुए। चोल-देश के तिरूमलई नामक ग्राम में उनका जन्म सातवीं शताब्दी में हुआ! न्याय दर्शन का अध्ययन पहले उन्होंने दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से किया और बाद में नालंदा जाकर तत्कालीन महास्थविर धर्मपाल के शिष्य हो गये।

कुछ दिन पूर्व राहुलजी ने तिब्बत से 'प्रमाण-वार्तिक' का पता लगाकर धर्मकीर्ति का पांडित्य पूर्णतः प्रकाशित कर दिया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर प्राज्ञकर ने 'प्रमाणवार्तिक-भाष्य' या 'वार्तिक अलंकार' नामक टीका लिखी है।[6] धर्मकीर्ति के दूसरे ग्रन्थों के नाम हैं: 'प्रमाण-विनिश्चय', 'न्यायबिन्दु' 'संबंध-परीक्षा', 'हेतुबिन्दु', 'वाद-न्याय' और 'समानान्तरसिद्धि'।

---

१. डॉ० विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक, पृ० ३३५

२. डॉ० बेल्वेलकर : सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृ० ५८; डॉ० स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ३०९ (तृतीय संस्क०); विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटलेचर, भाग २, पृ० ३६५

३. भर्तृहरि : वाक्यपदीय २। ४८८, ८९   ४. राजतरंगिणी, १।१७५-१७७

५. उपाध्याय : गुप्त सा० इतिहास, पृ० १५१,१५२,१५९

६. जायसवाल इंस्टिट्यूट, पूना से १९५३ में प्रकाशित

भारत की अपूर्व बौद्धिक अभ्युन्नति का युग

दर्शनशास्त्र

दर्शनशास्त्र का सीधा संबंध जीवन से है। 'जीवन' और 'दर्शन' एक ही उद्देश्य के दो परिणाम हैं। दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है : उस परम श्रेय की खोज। उसीका सैद्धांतिक रूप दर्शन है और व्यावहारिक रूप जीवन। जीवन की सर्वांगीणता को निर्मित करनेवाले जो अतिसूक्ष्म सूत्र या तंतु हैं, उन्हींकी व्याख्या करना दर्शन का उद्देश्य है। दार्शनिक दृष्टि से जीवन पर विचार करने की एक निजी पद्धति है; अपने विशेष नियम हैं। इन नियम और पद्धतियों के माध्यम से जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन करना ही दर्शन का ध्येय है।

इस विराट् ब्रह्माण्ड के असंख्य, अद्भुत पदार्थों के समस्त जीवन की स्थिति और जीवन की सत्ता क्या है एवं उसके इन रोना, हँसना, सोचना, विचारना, सुख-दुःख आदि विभिन्न रूपों का अभिप्राय क्या है—दर्शनशास्त्र इसी जिज्ञासा को लेकर जन्मा है, और इसी पर उसमें विचार हुआ है। क्योंकि जीवन की मीमांसा करना ही दर्शन का एकमात्र उद्देश्य है, अतः जीवन से संबद्ध जितने भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक पदार्थ हैं, उनका तात्त्विक विश्लेषण करना भी दर्शन का कार्य हो जाता है।

मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, समाजविज्ञान और दूसरे-दूसरे विज्ञान जीवन की व्याख्या अपने-अपने ढंग एवं अपनी-अपनी विधि से करते हैं। उन सबका यह अलग-अलग दृष्टिकोण जीवन के किसी एक अंग पर ही विचार करने में समर्थ है। दर्शनशास्त्र का एक उद्देश्य यह भी है कि उक्त विज्ञानों की पारस्परिक विरुद्धगामी विचारधाराओं में भी वह

सामंजस्य स्थापित करता है। इस दृष्टि से दर्शन भी एक विज्ञान है, जिसके अन्तर्गत प्रमाणशास्त्र (एपिस्टेमोलॉजी), तत्त्वदर्शन (ऑंटोलाजी), व्यवहार-शास्त्र (एथिक्स), मनोविज्ञान (साइकॉलाजी) और सौंदर्यशास्त्र (ईस्थेटिक्स) आदि सभीका समावेश हो आता है।

चार वेद, उनके छह अंग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छंद और ज्योतिष) और चार उपांग (इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा) मिलकर चौदह विद्याओं की सृष्टि करते हैं। अष्टादश विद्याओं के मतावलंबी चार उपवेद (धनु, गांधर्व, आयु, अर्थ) को भी मिला लेते हैं। ये अष्टादश विद्याएँ ही सांगोपांग वेद कहलाती हैं।

वेद के अंतिम दो उपांग न्याय और मीमांसा का अन्तर्भाव दर्शनशास्त्र में होता है। दर्शन एक बृहद् एवं स्वतंत्र शास्त्र है। उसके मूलभूत तत्त्वों को जान लेने के बाद ही हम उसकी व्यापकता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

'दर्शन' शब्द 'श्रुति' और 'स्मृति' आदि शब्दों की भाँति एक बहुत बड़ी ज्ञान-परंपरा का इतिहास बतानेवाले अर्थ को अपने भीतर समाये है। उसमें कई संप्रदाय और विचार-विश्लेषण की असंख्य पद्धतियाँ समन्वित हैं।

दर्शनशास्त्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय धरती के अणु-अणु में कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएँ समाविष्ट हैं, जिनके प्रभाव से भारतवासी आदिकाल से ही आत्मानुसंधान की ओर प्रवृत्त रहे हैं। प्राचीन भारत के ऐतिहासिक जीवन का अध्ययन करने पर विदित होता है कि भारतीयों के अन्दर जन्मतः ही जीवन की अन्तिम मंजिल की खोज के लिए बड़ी उत्सुकता रही है। सांसारिक और पारलौकिक जीवन के विचारार्थ भारतीय मनस्वियों ने आज से सहस्रों वर्ष पूर्व, एक लम्बी अवधि तक निरंतर अनुसंधान किया है। उनके इन विचारों का प्रभाव बृहद् भारत के कोटि-कोटि जन-मन पर पड़ता रहा।

भारतीय दर्शनकारों ने पाश्चात्यों की भाँति दर्शन-विद्या को केवल बौद्धिक गवेषणा का विषय न मानकर, उसको व्यावहारिक रूप में उतारने का भी यत्न किया। इस व्यावहारिक उपपत्ति के कारण ही दर्शनशास्त्र के द्वारा चिन्तित और सुतर्कित ढंग पर ही भारतीय धर्म प्रतिष्ठित है। विचारशास्त्र (दर्शन) और आचारशास्त्र (धर्म) का ऐसा संबंध है कि जिसको अलग

नहीं किया जा सकता है। दर्शनविद्या में त्रिविध तापों की निवृत्ति के लिए यत्न है।[1]

आत्मानुसंधित्सु ऋषिप्रवरों ने एक लम्बे अर्से तक जिन सुचिन्तित विचारों की उद्भावना की उन्ही का संग्रह दर्शन ग्रन्थों में है। ये विचारक, देवयोनि और असुरयोनि, दोनों प्रकार के थे। अलौकिक प्रतिभासंपन्न मनस्वियों को ही 'ऋषि' कहा गया, चाहे वे स्त्री हों, चाहे शूद्र या चाहे देव-असुर कोई भी। 'ऋषि' एक अधिकार या उपाधि का नाम था। जिसने-जिसने इस प्रकार की दिव्य प्रतिभा को प्राप्त किया, वही-वही ऋषि कहा गया। इसी दृष्टि से तो वेदनिन्दक बौद्धों ने भी तथागत को 'महर्षि' कहकर स्मरण किया।

'ईशावास्योपनिषद्' के एक श्लोक से विदित होता है कि 'जिन्होंने यह कहा, उन्होंने ही किसी अन्य धीर ऋषि से सुनकर ऐसा कहा या इस श्लोक की रचना की[2]। इस श्रुति को रचनेवाले भी तो ऋषि ही थे। इन ऋषियों के दो प्रधान संप्रदाय थे : प्रवृत्तिधर्मानुयायी और निवृतिधर्मानुयायी। कर्मकाण्ड के प्रवर्तक तथा तदुक्त मन्त्रों के द्रष्टा या रचयिता प्रवृत्तिधर्मानुयायी और मोक्ष के साक्षात्कर्ता या तद्विषयक ज्ञान के प्रतिपादक निवृत्तिधर्मा ऋषि कहलाये। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् मोक्षविषयक ज्ञान के प्रतिपादक निवृत्तिधर्मा ऋषियों में वाक्, आंभृणी, जनक विदेह, अजातशत्रु याज्ञवल्क्य और कपिल प्रमुख थे।

निवृत्तिधर्मानुगामी ऋषियों के भी दो संप्रदाय हुए : आर्ष और अनार्ष। आर्ष के अन्तर्गत सांख्य, वेदान्त आदि की और अनार्ष के अन्तर्गत जैन-बौद्धों की गणना आती है। अपने मूलरूप में एक ही नदी की दो धाराएँ होने के कारण आर्ष और अनार्ष दोनों संप्रदायों का एक ही चरमोद्देश्य है : परमपद की उपलब्धि। इस महद्वस्तु परमपद की सम्यक् उपलब्धि के लिए भारतीय विचारकों ने एक ढंग से एवं एक ही दृष्टि से नहीं, वरन् विभिन्न दृष्टियों से अनुशीलन तथा अन्वेषण किया। अनेकमुख प्रयत्नों से एक ही लक्ष्य पर पहुँचकर सफल-काम होने के कारण ही भारतीय दर्शन की बड़ी भारी महिमा है। यह एक विलक्षण बात हमें दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हुए प्रतीत होती है कि इतनी घोर प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद

---

१. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ –सांख्यकारिका, १

२. इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे –ईशावास्य, १०

दर्शनग्रंथों की सहस्रमुखी धारणाओं का एक ही महासमुद्र में विलयित होने का यह तरीका कैसा है।

तात्विक दृष्टि से संसार के समग्र पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : सचेतन और अचेतन। इन द्विविध पदार्थों के बाहरी स्वरूपों पर विचार करनेवाले शास्त्र को 'विज्ञान' और उनकी भीतरी सूक्ष्मताओं पर प्रकाश डालनेवाले शास्त्र को 'दर्शन' कहते हैं। तात्पर्यभेद से विज्ञान और दर्शन विभिन्न कोटियों में विभाजित हो जाते हैं।

तात्पर्यभेद से भारतीय दर्शन दो प्रमुख संप्रदायों में अपना विकास करता आया है। वे दो संप्रदाय है : नास्तिक और आस्तिक। छह नास्तिक, दर्शन हैं और छह आस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शनों के नाम हैं : चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक और अर्हत्। वेदविरोधी होने के कारण इनका नाम नास्तिक पड़ा। सैद्धान्तिक दृष्टि से इनको अनीश्वरवादी या प्रत्यक्षवादी दर्शन कहा जाता है। आस्तिक दर्शनों के नाम हैं : न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त। आस्तिक दर्शनों की कोटि में परिगणित होनेवाले सांख्य और मीमांसा, ये दोनों दर्शन भी यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से अनीश्वरवादी है, किन्तु वे वेदविरोधी न होने के कारण नास्तिक दर्शनों से अलग हो जाते हैं। नास्तिक और आस्तिक, दोनों दर्शन-संप्रदाय परस्पर विरोधी हैं और उनके इस विरोध के कारण ही भारतीय दर्शन की इतनी अद्‌भुत उन्नति एवं विश्वविश्रुति हुई है।

'दर्शन' का अर्थ 'देखना' है। दार्शनिक समदृष्टिवाला होता है। विभिन्न विज्ञानों और अनेक शास्त्रों को एक साथ देखने की असामान्य क्षमता केवल दार्शनिक में होती है। इसी हेतु दर्शनविद्या को ज्ञानसर्वस्व कहा गया है। इस व्यापक ब्रह्माण्ड के अस्तित्व को विभिन्न दृष्टियों से देखने और विभिन्न पद्धतियों से उसका विश्लेषण करने के कारण ही दर्शनशास्त्र अनेकधा विभागों या संप्रदायों में विभक्त हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि परस्पर विरोधी नास्तिक और आस्तिक दोनों दर्शन-संप्रदायों के मूल सिद्धान्त प्राचीनतम हैं। भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अंग वेदों में ही हम दोनों दर्शन-संप्रदायों के विचारों का प्रतिपादन होते देखते हैं। देव और असुर, दोनों ही क्रमशः आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के प्रतिनिधि वैदिककाल से ही विरोधी विचारों को लेकर चले आ रहे थे।

भारत की अपूर्व बौद्धिक अभ्युन्नति का युग

वास्तविकतावादी आचार्य चार्वाक का नाम प्राचीनतम ग्रंथों में उपलब्ध होता है। 'महाभारत' में उनकी विस्तृत चर्चा है। चार्वाक से भी पूर्व नास्तिक दर्शन के प्राणभूत आचार्य बृहस्पति हो चुके थे, जिनको प्रमाण मानकर आचार्य चार्वाक ने सर्वत्र उनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। आचार्य बृहस्पति अवश्य ही महाभारत-काल से पूर्व विद्यमान थे।

नास्तिक-दर्शन की कोटि में गिने जानेवाले बौद्धों के चार दर्शन-संप्रदाय और जैनों का अर्हत् दर्शन भी अपनी मौलिक सत्ता को अनादिसिद्ध करते हैं। 'श्रीमद्भागवत' में जिन भगवान् ऋषभदेव को एक अवतार के रूप में स्मरण किया गया है, जैन उनको अपना प्रथम तीर्थंकार महात्मा मानते हैं। इसी प्रकार बौद्धों का कथन है कि त्रेतायुग के दाशरथी राम बुद्ध के ही एक अवतार थे और सिद्धार्थ गौतम उन्हीं बुद्ध के अंतिम अवतार हुए।

इस दृष्टि से यह कहना कि कौन दर्शन सर्वाधिक प्राचीन है, बहुत कठिन, वरन् असंभव भी प्रतीत होता है। वस्तुतः इन बारह दर्शन संप्रदायों की सैद्धान्तिक स्थापनाएँ परस्पर ऐसी गुँथी हुई हैं कि उनको अलग कर उनके मूल अस्तित्व की प्राचीनता के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित अकाट्य मत देना दुष्कर है। आस्तिकवाद और नास्तिकवाद पर मूल रूप में जिन सूत्र-ग्रंथों का प्रणयन किया गया है, वे अतिप्राचीन होने पर भी, भले ही आगे-पीछे रखे जा सकते हैं; किन्तु उनमें जिन विचारों की व्याख्या की गई है, निश्चित ही, उनको आगे-पीछे नहीं रखा जा सकता है।

उक्त द्वादश दर्शन-संप्रदायों के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विदित होता है कि उनका आविर्भाव एक समय में न होकर विभिन्न युगों एवं असमान अवस्थाओं में हुआ है। भारतीय दर्शनों की इतनी सुदीर्घ परंपरा वस्तुतः एक समय, एक संप्रदाय और एक व्यक्ति की न होकर विभिन्न आचार्यों, विभिन्न संप्रदायों और विभिन्न युगों की देन है। वेदमंत्रों में एक ओर तो हमें आस्तिक-दर्शनों के सिद्धान्त मिलते हैं और दूसरी ओर हमें ऐसे मंत्र भी देखने को मिलते हैं, जिनमें वेदनिन्दकों, नास्तिकों और असुरों का भी उल्लेख है। वेदमंत्रों में समाविष्ट इन विभिन्नमुखी विचार-धाराओं से प्रतीत होता है कि दर्शन के द्विविध संप्रदायों की नास्तिक और आस्तिक विचारधाराएँ वेदों जितनी ही सनातन हैं। वेदों में विकीर्णित इन्हीं विचारों को उत्तरकालीन ऋषि कहे जानेवाले चिन्तकों ने अपनी तर्कबुद्धि से बटोर कर सूत्र-ग्रन्थों का प्रणयन किया और आगे चलकर

विभिन्न ऋषि-संप्रदायों में इन सूत्र-ग्रन्थों पर बारीकी से विचार हुआ, जिसके फलस्वरूप दर्शनशास्त्र ने द्वादश संप्रदायों में समृद्ध होकर अपना विकास किया।

भारतीय दर्शनशास्त्र आज जिस रूप में विद्यमान है, अपने मूलरूप में उसका परिणाम इतना ही था, कहा नहीं जा सकता है। भारतीय साहित्य में दर्शनशास्त्र एक ऐसा विषय है, निर्विवाद रूप से जिसकी तुलना संसार का कोई दर्शन नहीं कर सकता।

दर्शनशास्त्र के संबंध से 'महाभारत' में कुछ ऐतिहासिक प्रकाश डाला गया है; किन्तु दुर्भाग्यवश 'महाभारत' आज जिस रूप में हमारे सामने विद्यमान है, उसकी बहुत सारी बातें बड़ी संदिग्धावस्था में हैं। 'महाभारत' का समग्र शान्तिपर्व ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का अंश है। इस पर्व में भीष्म पितामह ने महाभारतकालीन पाँच संप्रदायों का उल्लेख किया है। इन पाँच सम्प्रदायों को नाम हैं: सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत।[1] स्व० श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने इस महाभारतकालीन संप्रदाय-पंचक पर विस्तृत रूप से ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है।[2] महाभारतकार ने अनीश्वरवादी दर्शन सांख्य और ईश्वरवादी दर्शन योग के विषय में जो परिचय दिया है, प्रचलित दर्शनों से उसका मेल नहीं बैठता है। वैष्णवों की सगुण भक्ति-भावना ने ही पांचरात्र मत को जन्म दिया। पाशुपत मत के प्रवर्तक शैव थे और वेद मत उपनिषद् ग्रंथों के तत्त्वज्ञान पर आधृत था।

इससे स्पष्टतया यह प्रतीत होता है कि सांख्य और योग, इन दोनों संप्रदायों का आविर्भाव महाभारतकाल में ही हो चुका था और पांचरात्र, वेद तथा पाशुपत आदि दूसरे प्राचीन धर्म-संप्रदायों के साथ उनका उल्लेख होने के कारण उनकी प्राचीनता में संदेह की गुंजायश नहीं रहती।

सांख्यज्ञान की सर्वाविभूत भावना को लक्ष्य करके 'महाभारत' में एक श्लोक आता है, जिसका आशय है कि 'हे नरेंद्र, जो महत् ज्ञान महान् व्यक्तियों में वेदों के भीतर तथा योगशास्त्रों में देखा जाता है और पुराणों में भी जिसका उल्लेख विभिन्न प्रकार से हुआ है, वह सभी सांख्य से आया है'।[3]

---

१. सांख्यं योग: पांचरात्रं वेदा पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥
महाभारत, शांति० अध्या० ३४९

२. चिन्तामणि विनायक वैद्य: महाभारत-मीमांसा, प्रकरण १७

३. ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधे पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥ महाभारत, शांति०

अक्षपाद गौतम और कणाद काश्यप द्वारा न्याय तथा वैशेषिक दो दार्शनिक संप्रदायों का प्रवर्तन मौर्य-युग में ही हो चुका था। कुछ दिन पूर्व याकोबी महोदय ने गौतम और कणाद के दर्शन को जो नागार्जुन के शून्यवाद से प्रभावित होने की बात कही थी, वह बात अब सर्वथा निराकृत हो गयी और यह विद्वत्सम्मत-सा हो चुका है कि शून्यवादी आचार्य नागार्जुन नैयायिक गौतम तथा वैशेषिक कणाद के बाद हुए। 'चरक-संहिता' पर पड़े न्याय-वैशेषिक प्रभावों से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि उक्त दोनों दर्शन ईसा की प्रथम शताब्दी से भी पहले के हैं।

जैन-अनुश्रुति के अनुसार विदित होता है कि आर्यरक्षित के गुरु जैनाचार्य वज्रस्वामी (७१ ई०) के शिष्य कणाद काश्यप संभवतः पहली शताब्दी ई० के आस-पास हुए। सांख्य-दर्शनकार कपिल संभवतः उपनिषत्कालीन ऋषि थे।

पूर्वमीमांसा की रचना उत्तरमीमांसा से पहिले होते हुए भी जैमिनि और व्यास सैद्धान्तिक प्रतिपादन के समय एक-दूसरे को उद्धृत करते पाये जाते हैं, जिससे विदित होता है कि उद्धरण करने की यह शैली बाद की शिष्य-परंपरा ने प्रतिष्ठित की। इन्हीं के द्वारा समय-समय पर उक्त दोनों दर्शनों का संशोधन, संपादन और परिवर्द्धन होता गया। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का जो स्वरूप आज हमारे सामने विद्यमान है, उसके अंतिम संस्करण बहुत पीछे, मौर्ययुग से लेकर सातवाहन युग तक निरन्तर होते रहे।

योग-दर्शन के प्रवर्तक महामुनि पतंजलि हुए। किन्तु पतंजलि नाम की नानारूपात्मकता को देखकर यह तय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि उनमें से योग-दर्शन के रचयिता पतंजलि कौन थे। पतंजलि नाम से शास्त्रकार एक से अधिक हुए है। पतंजलि या पतंचलि नामक एक वंश का भी 'बृहदारण्यक' पढ़ने पर विद्वानों ने पता लगाया है। 'महाभारत' से यह भी विदित होता है कि पतंजलि नामक एक व्यक्ति इलावृत वर्ष या भारतवर्ष के उत्तर के मध्यदेश में उत्पन्न हुआ था। 'महाभाष्य' से लगता है कि एक पतंजलि लौहशास्त्रकार भी हुए।[1]

विद्वानों ने योगसूत्रों को षड्-दर्शनों में प्राचीन बताया है और यह अभिमत व्यक्त किया है कि उसकी रचना बौद्ध-युग से पहिले हो चुकी थी।[2]

---

१. पतञ्जलि योगदर्शन की भूमिका, पृ० २ (लखनऊ विश्वविद्यालय, १९)

२. वही, पृ० ८

ऐसा मान लेने पर इतना यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभाष्यकार पतंजलि, योग-सूत्रकार पतंजलि से भिन्न थे, क्योंकि वैयाकरण पतंजलि का समय लगभग ४०० ई० पूर्व निर्धारित है। इसके साथ ही विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि योगसूत्रों पर जो भाष्य लिखा गया, वह प्रचलित षड्-दर्शनों के भाष्यों से यद्यपि प्राचीनतम है, फिर भी उसका निर्माण बौद्ध-युग में हुआ। इस प्राचीनतम भाष्य के रचनेवाले व्यास थे, जो कि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास से भिन्न थे। योगसूत्र-भाष्य की प्राचीनतम बौद्ध-ग्रन्थों की भाषा की तरह भाषा और उसमें न्याय आदि अन्य दर्शनों के मतों का उल्लेख, उसको प्राचीनतम सिद्ध करते हैं।[1] योगसूत्रों पर लिखे गये व्यास-भाष्य का उल्लेख वात्स्यायन-भाष्य में हुआ है। कनिष्क के समकालीन भदन्त धर्मत्रात ने भी व्यास-भाष्य का उल्लेख किया है।[2]

वैदिक-युग में ब्राह्मण-ग्रंथों के पुरोहित आचार्यों ने जिस स्थूल कर्मवाद को प्रचारित किया, उसका भरपूर विरोध उसी युग के उपनिषत्कार ऋषियों ने किया। तदनन्तर महावीर और बुद्ध, इन दो समाज-सुधारक महात्माओं एवं संतों, और विशेषतः उनके अनुयायी आचार्यों ने अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं की प्रतिष्ठा के लिए एक ओर तो उपनिषद् ग्रन्थों के ऊँचे आदर्शों को लेकर अपनी स्थिति को कायम किया, दूसरी ओर उन्होंने जैसे ही सीधे वैदिक-धर्म के प्रति खुले आम अविश्वास की बातें समाज की स्वीकृति के लिए रखीं, वैसे ही, समाज उनका अनुयायी होने से भड़क कर उनको संदेह की दृष्टि से देखने लगा।

जैनाचार्यों और बौद्धाचार्यों ने पदार्थ-मीमांसा-पद्धति और तत्त्व-चिन्तन के तरीकों से वेद-विरोधी तर्कों को उपस्थित किया। यद्यपि वे जड़वादी नास्तिक दार्शनिकों के विचारों का हू-बहू उल्थामात्र नहीं थे, तथापि उनके मूल में वे ही भावनाएँ विद्यमान थीं। जैन-बौद्ध धर्मों से समाज के विमुख होने का एक बलवान् कारण यह भी था।

महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने जिन महानतम आदर्शों की उद्भावना की थी, अपने मूलरूप में वे किसी भी धर्म के विरोधी और किसी के भी सिद्धान्तों की आलोचना से संबद्ध नहीं थे। जैन और बौद्ध धर्मों में वैयक्तिक रूप में विरोधी संप्रदाय और आलोचनात्मक प्रक्रिया को उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रतिष्ठित किया है। भारत का यह युग बौद्धिक संघर्ष और विचार-संक्रांति का

---

१. वही, पृ० ८–९ २. शांतरक्षित : तत्त्व-संग्रह

युग रहा है। जैनाचार्यों और बौद्धाचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए ज्यों ही वैदिक धर्म के विरोध में खुले आम भर्त्सना का रुख अपनाया त्यों ही भारत का वैदिक धर्मानुयायी समाज और विचारक वर्ग तिलमिला उठा। फलतः जो हिन्दू-दर्शन-संप्रदाय बड़ी मंदगति से चले आ रहे थे, वे एकबारगी ही विरोधियों के प्रतीकार के लिए द्विगुणित उत्साह से आगे बढ़े। यह द्वादश दर्शन-संप्रदायों के चरमोत्कर्ष का युग था।

पहले संकेत किया जा चुका है कि दर्शनशास्त्र का अभ्युदय श्रुतिकाल में ही हो चुका था। श्रुतिकाल में प्रज्ञामूलक तर्कमूलक प्रवृत्तियों की प्रचुरता इस तथ्य के प्रमाण हैं। वैदिककालीन तर्कमूलक तत्त्वज्ञान संबंधी ऊहापोह ही कालान्तर में षड्दर्शनों के निर्माण का कारण हुआ और प्रज्ञामूलक तत्त्वज्ञान के आधार पर ही उपनिषद्-ग्रन्थों का ब्रह्मज्ञान खड़ा हुआ। उपनिषदों से भारतीय ज्ञान की सहस्रमुखी धाराएँ निःसृत हुईं और उपनिषदों के महावाक्य 'तत्त्वमसि' ने दर्शनों के व्याख्या भाग को समृद्धि दी।

भारतीय दर्शनों की विकास-परंपरा को अभ्युदय, भाष्य और वृत्ति, इन तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है। सूत्रकाल दर्शनों का अभ्युदय युग है, जिसकी सीमा ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी तक पहुँचती है। तदनन्तर लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक सूत्रग्रन्थों की निरन्तर व्याख्या होती रही। यही उनका भाष्यकाल है। भाष्यकाल का कुछ भाग और उसके बाद की कुछ शताब्दियाँ उनके वृत्तिकाल की सूचक हैं।

भारतीय दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण युग उनका भाष्य-युग है। इस युग में भारतीय दर्शनों पर जो व्यापक प्रकाश डाला गया, उसके कारण उसका महत्त्व संसार-विश्रुत हुआ। पारलौकिक जीवन की श्रेष्ठता के सम्मुख ऐहिक जीवन की निष्क्रियताओं को हेय बतानेवाले भारतीय दर्शन मानव की बौद्धिक पराकाष्ठा के उज्ज्वल प्रमाण इसी समय सिद्ध हुए।

नास्तिक दर्शन

उपनिषद्-ज्ञान का विकास उपनिषद्-युग के बहुत समय व्यतीत होने के बाद दृष्टिगोचर हुआ। उपनिषद्-विद्या के तात्त्विक, तर्कपूर्ण, अनेकमुख विचारों को लेकर बाद में अनेक बड़े-बड़े दर्शन-संप्रदायों का जन्म हुआ। तथागत भगवान् बुद्ध के समय तक लगभग ६२ ऐसे दार्शनिक सिद्धान्तों का

आविर्भाव हो चुका था, जिनका नाम 'ब्रह्मजालसुत्त' में लिखा हुआ मिलता है।[1]

उपनिषद्-ग्रन्थों की विचारधारा के आधार पर प्रमुख दो दार्शनिक संप्रदायों का जन्म हुआ : आस्तिक और नास्तिक। वैदिक-युग में जिन इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की प्रधानता थी, ब्राह्मण-युग में उनके स्थान पर प्रजापति प्रतिष्ठित हुए और यही प्रजापति ब्रह्मा भी कहलाने लगे। तदनन्तर 'महाभारत' के युग में ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रधान देवताओं के रूप में पूजे जाने लगे। इसी समय भागवत-धर्म का भी अभ्युदय हुआ, जिसने अपना विकास वासुदेव कृष्ण के महत्त्व को बढ़ाने में किया।

यद्यपि ब्राह्मण-धर्म की पशुहिंसा जैसे स्थूलकार्यों के विरुद्ध उपनिषद्-ग्रन्थों ने आवाज लगाकर समाज को उससे बहुत कुछ अंशों में विमुख कर दिया था; किन्तु इधर उपनिषत्-प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म के दुरूह स्वरूप को पहचानने में भी साधारण समाज कामयाब न हो सका। फलतः कर्म और ज्ञान, दोनों की स्थिति बनी रही।

'महाभारत' और 'गीता' में कर्म और ज्ञान के अतिरिक्त भक्ति को भी, एक सुगम सर्वसाधारण मानव के उद्धार का कारण बताया है। उधर एक संप्रदाय यौगिक क्रियाओं द्वारा जीवन्मुक्ति का नया सिद्धान्त प्रतिष्ठित करने में लगा था। इसलिए कहना चाहिए कि कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग की विभिन्न धाराओं का प्रादुर्भाव एक ही साथ होने लगा था, जिनके कारण आस्तिक दर्शन-संप्रदायों की बाद में प्रतिष्ठा हुई।

नास्तिक संप्रदाय आस्तिक संप्रदाय की अनेकमुखी मान्यताओं, सत्यान्वेषण की विरोधी प्रणालियों और श्रुति के विश्वासभाजकों में इतनी असमानताओं को देखकर जिस नये संप्रदाय का जन्म हुआ, उसे ही आस्तिक-विरोधी नास्तिक-संप्रदाय के नाम से कहा गया। नास्तिक-संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य हुए बृहस्पति, जिन्होंने नास्तिक-दर्शन पर एक समर्थ एवं बृहद् ग्रन्थ सूत्रों में लिखा। यह ग्रन्थ संप्रति अनुपलब्ध है; किन्तु उस ग्रन्थ के सिद्धान्तों को आधार बनाकर आचार्य चार्वाक ने पीछे से एक दूसरा ग्रन्थ लिखा।

आचार्य चार्वाक, आचार्य बृहस्पति के शिष्य थे। इन दोनों आचार्यों ने पंचतत्त्व की सत्ता पर बल दिया। इन आचार्यों के मतानुसार संसार के समग्र

१. बेल्वेलकर तथा रानडे : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग २, पृ० ४४८-४५०

पदार्थों की रचना पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच तत्त्वों के अनेकविध मेल से होती है। परमात्मा, आत्मा, धर्म, अधर्म और परलोक के विषय में जो मान्यताएँ चली आ रही थीं, नास्तिकवादी आचार्यों ने अतिशयोक्तिपूर्ण, कल्पित, भ्रम और रोचक कथाएँ कह कर उनकी उपेक्षा की एवं खिल्ली उड़ायी।

यहाँ तक कि नास्तिक-वादियों ने वेदों को भांड, धूर्त और निशाचरों (चोरों-राक्षसों) की रचनाएँ बताया है तथा उन पर चलने या विश्वास करनेवाले लोगों को अज्ञानी कहा है। चार्वाक-दर्शन घोर जड़वादी दर्शन है। नास्तिक-दर्शन की पंचतत्त्वों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने की है। पंचतत्त्व की जिन सूक्ष्मताओं का विश्लेषण और वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा उनके मौलिक पक्षों का प्रतिपादन इन आचार्यों ने किया है, वह सचमुच अद्भुत एवं विचारणीय है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक-दर्शन, षड्नास्तिक दर्शनों में शीर्षस्थानीय है। वेदों के विरुद्ध इतनी बुलंद आवाज दूसरे नास्तिक दर्शनों में नहीं मिलती, जितनी चार्वाक-दर्शन में। भारतीय परंपरा प्रस्तुत दर्शन के पिता आचार्य चार्वाक को ऋषिस्थानीय महामनस्वी के रूप में याद करती आयी है। जिनके नाम से उनके बौद्धिक ज्ञान को 'चार्वाक-दर्शन' के नाम से अभिहित किया जाता है।

चार्वाक एक असामान्य प्रतिभाशाली और अद्भुत क्रांतिकारी विचारक हुए हैं। भारत की इस धर्म-कर्म एवं आचार-विचार प्रधानधरती पर चार्वाक जैसे इतने प्राचीन स्वच्छन्द एवं निर्भीक युगविधायक मनस्वी को याद करके, अपने को घोर भोगवादी तथा भौतिकवादी सिद्ध करनेवाले आज के समस्त राष्ट्र आश्चर्य करते हैं। चार्वाक जैसे बुनियादी सिद्धान्तोंवाला व्यक्ति, जिसके विरुद्ध कि भारत का एक शक्तिशाली जन-समूह निरंतर नारे लगाता रहा, दुनिया के साहित्याकाश में एकमात्र देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति आज भी प्रकाशमान है। उसकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ अपनी जन्मभूमि में ही अतिशय प्राणघातक प्रहारों से अपनी रक्षा करती हुई आज भी उसी मान-शान से जी रही हैं, जिस रूप में उनका उद्भावक उनका निर्माण सहस्रों वर्ष पूर्व कर गया था।

चार्वाक का दार्शनिक दृष्टिकोण

आचार्य चार्वाक मूलतः प्रत्यक्षवादी विचारक था। उसके मतानुसार सृष्टि के निर्माण के चार हाथ हैं : पृथ्वी, जल, तेज और वायु। इस तत्त्व-चतुष्टय से ही देह की उत्पत्ति और उसमें चैतन्य का समावेश हुआ। देह-नाश के साथ चैतन्य भी विनष्ट हो जाता है। इसलिए चैतन्य-विशिष्ट देह ही आत्मा है। देहातिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। चार्वाक के मतानुसार दुःख की कल्पना कर सुख नहीं छोड़ा जा सकता है। मछली खानेवाला काँटे को भी साथ लाता है; किन्तु उसको खाते समय वह काँटा निकाल कर फेंक देता है। दुःख दूर किया जा सकता है; किन्तु उसके भय से सुख त्यागा नहीं जा सकता। मृग के भय से किसी को खेती न करता हुआ नहीं देखा गया। परलोक को सुख समझ कर ऐहिक सुख को त्यागनेवाले मनुष्य चार्वाक की दृष्टि से बिल्कुल गये-गुजरे और कल्पना के झूले में झूलनेवाले हैं। चार्वाक की दृष्टि में परलोक का भय सामने रखकर यज्ञानुष्ठान करना सब व्यर्थ है। वेद आदि उन धूर्तों की रचनाएँ हैं, जिन्होंने लोगों से धनोपार्जन के लिए अपना एक जरिया बनाया।

चार्वाक-दर्शन की दृष्टि से देह ही आत्मा है। स्त्री, पुत्र, धन, संपत्ति आदि से जो सुख होता है, वही स्वर्ग है। लोक में प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है। देह का नाश होना ही मोक्ष है। नास्तिक-दर्शन के सुप्रसिद्ध आचार्य बृहस्पति के अनुसार भी परलोक में होनेवाला न स्वर्ग है, न मोक्ष है, और न परलोक में जानेवाली आत्मा ही है। वर्णाश्रम-व्यवस्था केवल अपने-अपने कर्मानुसार है। जन्मान्तर के लिए उनका कोई फलाफल नहीं है। वेद, यज्ञविधान और भस्मालेपन पाखंडी और पौरुषविहीन लोगों की आजीविका के साधन हैं। उनमें कोई तत्त्व नहीं है। यदि यज्ञ में मारा हुआ पशु स्वर्ग में जाता है, तो यजमान अपने पिता का क्यों नहीं बलिदान करता!

चार्वाक के अनुसार जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है। परलोक और मोक्ष सब मन की भ्रांति है। अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ है। अर्थ और काम प्रधान इस चार्वाक दर्शन का दूसरा नाम लोकायत भी है—लोक अर्थात् जन-समुदाय, आयत अर्थात् फैला हुआ। चार्वाक के अनुयायियों ने नास्तिक दर्शन को इसलिए लोकायत नाम दिया कि उसका प्रचार-प्रसार समग्र समाज में है।

बृहस्पति और चार्वाक के अतिरिक्त और भी अनुयायी हुए हैं, जिनमें पुराण कश्यप का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने पाप-पुण्य, झूठ-सच, चोरी और व्यभिचार को कर्तव्यों की श्रेणी में रखकर उनके उपयोग के लिए बल दिया है।

नास्तिकवादी दार्शनिकों का मूल उद्देश्य दर्शनशास्त्र को जनसाधारण के लिए सुगम बनाना था।[1] उनकी दृष्टि लोकानुरंजन एवं लोक के आधार पर टिकी थी; किन्तु उसका प्रभाव अनुकूल न होकर प्रतिकूल ही सिद्ध हुआ। भारत की धर्मप्रवण और वेदविश्वासी जन-भावना को नास्तिकों की ये बातें लंबे समय तक प्रभावित नहीं कर सकीं।

नास्तिक दर्शनों में परिगणित होनेवाले बौद्धों के माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक आदि संप्रदाय और जैनों के अर्हत् दर्शन में बृहस्पति और चार्वाक के दृष्टिकोणों की छाया अवश्य है; किन्तु उनका विकास दूसरे ही रूप में दृष्टिगोचर हुआ। जैन-बौद्धों के समक्ष चार्वाक की स्थापनाएँ समाज में स्पष्ट हो चुकी थीं और उन्हें विश्वास हो चुका था कि अपने-अपने धर्मों को समाजप्रिय बनाने के लिए चार्वाक से सर्वथा भिन्न, मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। अतः जैन-बौद्धों की सैद्धांतिक मान्यताओं और चार्वाकादि के दृष्टिकोण में भिन्नता का यही कारण था। इन दोनों दर्शन-संप्रदायों की समीक्षा यथास्थान की गयी है।

सांख्य दर्शन

सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हुए, जो कि उपनिषत्कालीन ऋषि थे। सांख्य के विचार अपने मूलरूप में बहुत प्राचीन हैं। सांख्य-दर्शन, न्याय और वैशेषिक से भी प्राचीन है। 'कठ', 'छान्दोग्य', 'श्वेताश्वतर' और 'मैत्रेय' उपनिषदों एवं 'महाभारत', 'गीता' आदि ग्रन्थों में सांख्य के सिद्धान्त प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। सांख्य के इन प्राचीनतम बिखरे हुए विचारों को सुसंगत एवं वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित करने का कार्य महर्षि कपिल ने किया।

सांख्य द्वैतमूलक दर्शन है। प्रकृति और पुरुष उसके दो मूल तत्त्व हैं। सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा गया है। प्रकृति जड़ और एक है; पुरुष सचेतन और अनेक हैं। प्रकृति-पुरुष का संयोग ही जगत् की

---

१. वेल्वेलकर और रानडे : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० १५१-५८

उत्पत्ति का कारण है। प्रकृति और पुरुष से सर्वप्रथम जिस महत्तत्त्व की उपलब्धि होती है, उसे 'बुद्धितत्त्व' कहते हैं। बुद्धितत्त्व से सत्त्वप्रधान अहंकार और तमःप्रधान अहंकार की उत्पत्ति हुई है। सत्त्वप्रधान अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ एवं तमःप्रधान अहंकार से पंचतन्मात्राओं का आविर्भाव हुआ और पंचतन्मात्राओं से पंचतत्त्वयुक्त जगत् की उत्पत्ति हुई।

सांख्य के प्राचीन सिद्धान्त वेदान्त से बहुत कुछ साम्य रखते थे। इसीलिए उसमें ईश्वरत्व की सत्ता को स्वीकार किया गया था; किन्तु बाद में सांख्य निरीश्वरवादी हो गया। प्रकृति और पुरुष दो मूल कारणों के अतिरिक्त, ईश्वर नामक किसी तीसरी सत्ता को स्थान देने में सांख्य कतई मौन है। यही कारण है कि गौतम बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों की आधारभित्ति सांख्य की ठोस भूमि में निर्मित की। इसके अतिरिक्त जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों ने अहिंसावाद का लोकोपकारी सिद्धान्त भी सांख्य से ही अपनाया।

ऐतिहासिक विकास

सांख्य-दर्शन की विकास-परंपरा महर्षि कपिल के 'सांख्यसूत्र' से लेकर लगभग १७वीं शताब्दी ई० के ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विज्ञानभिक्षुकृत 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' तक निरंतर रूप से वर्तमान रही। महर्षि कपिल का व्यक्तित्व उपनिषद्, गीता और पुराणों में सर्वत्र विकीर्णित है। इतिहासकारों ने कपिल का समय बुद्धदेव से एक शतक पूर्व, लगभग सातवीं शताब्दी ई० पूर्व के मध्यभाग में रखा है।[१] महर्षि कपिल के नाम से प्रचलित 'सांख्यसूत्र' इतिहासकारों की दृष्टि में उनकी मौलिक कृति न होकर, उनके बाद संभवतः श० ई० के लगभग ६ठी की है।[२] 'सांख्यप्रवचनसूत्र' और 'तत्त्वसमास' को भी कपिल की कृतियाँ बताया जाता है; किन्तु सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।[3] मैक्समूलर साहब ने 'तत्त्वसमास' को ईश्वरकृष्ण की 'सांख्य-कारिका' से प्राचीन बताया है और उसको 'सांख्यसूत्र' का ही भाग बताया है।[४] किन्तु दूसरे विद्वान् उसको बहुत बाद की कृति मानते हैं।[५]

---

१. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० २५४

२. उपाध्याय : गुप्त-साम्राज्य का इतिहास, २, पृ० १०६

३. देवराज : भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० २-२५

४. मैक्समूलर : सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ० २९४

५. देवराज : भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० २५६

भारत की अपूर्व बौद्धिक अभ्युन्नति का युग

महर्षि कपिल की शिष्य-परंपरा में आसुरि और पंचशिख हुए हैं। पंचशिख ने सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ 'षष्ठितन्त्र' के द्वारा 'सांख्यसूत्र' के सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार किया था; किन्तु संप्रति पंचशिख की यह कृति उपलब्ध नहीं है। सांख्य-दर्शन पर उपलब्ध होनेवाली प्राचीनतम कृति ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' है। यह एक ऐसी कृति है, जिसने सांख्य-दर्शन की विलुप्त परंपरा को फिर से व्यवस्थित किया। ईश्वरकृष्ण का समय चौथी शताब्दी के लगभग है।

ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' इतनी विद्वत्प्रिय सिद्ध हुई कि बाद में उस पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयीं तथा दूसरी भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ। परमार्थ नामक एक बौद्ध-भिक्षु ने छठीं शताब्दी के लगभग चीनी भाषा में उसका अविकल अनुवाद किया। चीनी भाषा में अनूदित इस कृति का नाम 'हिरण्यसप्तति' या 'सुवर्णसप्तति' है और संप्रति वह उपलब्ध है।

'सांख्यकारिका' की व्याख्याओं में आचार्य माठर (दूसरी शताब्दी) की 'माठरवृत्ति', आचार्य गौड़पाद (पाँचवीं शताब्दी) की भाष्यकृति 'युक्तिदीपिका' उल्लेखनीय हैं। ये गौडपाद 'माण्डूक्योपनिषद्' के कारिकाकार गौड़पाद से भिन्न एवं परवर्ती थे। कारिकाकार गौड़पाद आचार्य शंकर के गुरु और मायावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं।[1] 'सांख्यकारिका' पर वाचस्पति मिश्र (नवम शताब्दी) ने एक प्रामाणिक टीका लिखी है, जिसका नाम है: 'सांख्य-तत्त्व-कौमुदी' और वह एक मूलग्रन्थ जितना महत्त्व रखती है। 'सांख्य-कारिका' पर एक टीका नारायण (नवम शताब्दी) ने 'सांख्यचंद्रिका' नाम से और आचार्य शंकर ने 'जयमंगला' नाम से लिखी है।

सांख्य-सूत्रों को कपिलकृत मानकर उनपर विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन भाष्य लिखा। विज्ञानभिक्षु का समय चौदहवीं शताब्दी है। 'अपने भाष्य ग्रन्थ में विज्ञानभिक्षु ने शंकर के मायावाद का खंडन और सांख्य की निरीश्वर-वादिता का समर्थन नहीं किया है। विज्ञानभिक्षु ने 'सांख्यसार', 'योगवार्तिक', 'योगसारसंग्रह' और 'ब्रह्मसूत्र' पर 'विज्ञानामृत' नामक टीका आदि ग्रन्थ लिखे हैं।

इस प्रकार सांख्य-दर्शन पर भाष्य, टीका और कुछ मूल-ग्रंथों के निर्माण की यह परंपरा निरन्तर बढ़ती रही और भारतीय दर्शन मे नयी विचार-

---

१. देवराज : भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० २५६

पद्धतियों की उद्भावना कर सांख्यकारों ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम किया।

कपिल और उनकी शिष्य-परम्परा

कपिल नाम के चार व्यक्ति हुए हैं। उनमें से एक कलियुग में हुए, जो गौतम ऋषि के वंशज थे और जिनके नाम पर कपिलवस्तु नगर की स्थापना हुई थी। दूसरे कपिल वे हुए, जो ब्रह्माजी के मानसपुत्र थे तथा जो मूल-ज्ञानी कहलाये जाते हैं। तीसरे कपिल अग्नि के अवतार थे। और चौथे कपिल वे थे, जो देवहूति एवं कर्दम ऋषि के पुत्र थे।[1]

'भागवत' के एक वर्णन में प्रजापति कर्दम और मनुपुत्री देवहूति का पुत्र कपिल ही विष्णु का अवतार बताया गया है, और उसीको सांख्य का आदि-प्रवर्तक भी माना गया है।[2] इस दृष्टि से यह निश्चित है कि देवहूति और कर्दम का पुत्र कपिल ही सांख्यशास्त्र का आदि-प्रवर्तक था। वह अत्यंत प्रतिभाशाली और बाल्यकाल से ही तेजस्वी व्यक्ति था। उसी को विष्णु का अवतार अथवा ब्रह्मा का मानसपुत्र कहा गया है; वही अग्नि का भी अवतार था।[3]

इस इतने भारतीय साहित्य में बहुचर्चित कपिल नाम की ऐतिहासिकता के संबंध में कुछ विवाद हैं। कोलब्रुक, जैकोबी और मैक्समूलर प्रकृति पाश्चात्य विद्वानों ने कपिल को एक कल्पित व्यक्ति माना है।[4] कीथ का कथन है कि कपिल शब्द हिरण्यगर्भ का पर्यायवाची है, और अग्नि, विष्णु तथा शिव आदि के साथ कपिल की एकात्मकता का उल्लेख 'रामायण' (बालकांड ४०। २५, निर्णयसागर प्रेस का संस्करण) तथा 'महाभारत' (वनपर्व १०७।३; २२३।१; शांतिपर्व ३४९।७०-७२; ३५२।३०–३१; कुंभकोणम् का संस्करण) आदि ग्रन्थों में मिलता है। अतः कपिल कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था।[5]

---

१. कृष्णशास्त्री तैलंग : सरस्वती (पत्रिका) अगस्त १९१६ ई०

२. भागवत, स्कंध ३, अध्याय २१, श्लोक ३२; अध्याय २४ श्लोक १९,३६; अध्याय २५, श्लोक १

३. पं० उदयवीर शास्त्री : सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ७–१०, विरजानंद वैदिक संस्थान, ज्वालापुर, सहारनपुर, २००७ वि०

४. डॉ० रिचर्ड : सांख्य ऐंड योग, पृ० २,३

५. कीथ : सांख्य सिस्टम, पृ० ९ तथा हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४८८

इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कवि-राज का कथन है कि कपिल एक महान् सिद्धिप्राप्त व्यक्ति थे। उसी के बल पर निर्वाण अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होने के पूर्व उन्होंने अपनी एक सिद्धदेह की स्वयं रचना की थी तथा सांख्य का उपदेश देने के लिए आसुरि के संमुख प्रकट हुए थे। इस तरह कपिल का कोई भौतिक शरीर नहीं था। अतएव कपिल ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हो सकता।[1]

कविराज जी ने अपनी सिद्धांत-स्थापना के लिए जो प्रमाण दिये, और उनसे पूर्व पाश्चात्य विद्वानों ने इस सम्बन्ध में जिन आधारों को लेकर कुछ कहा, उन सबका युक्तिपूर्वक खंडन श्री उदयवीर शास्त्री ने किया है।[2] शास्त्री जी ने कपिल के सम्बन्ध में बिखरे हुए प्रमाणों को सिलसिलेवार लगाकर यह सिद्ध किया है कि कपिल के जीवन का इतिहास शुद्ध घटनाओं पर आधृत है। उनका कथन है कि सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल का काल अत्यन्त प्राचीन था। उसका स्पष्ट निर्देश किया जाना कठिन है। उसके प्रादुर्भाव का समय सत्ययुग का अंत अथवा त्रेतायुग का प्रारम्भिक काल होना चाहिए।[3] इससे पूर्व कालिपाद भट्टाचार्य ने एक लेख में सिद्ध किया है कि कपिल सप्तम शतक ईसा पूर्व से भी पहले हुए।[4]

विस्तृत विवेचना करने के पश्चात् कपिल के जन्मस्थान के सम्बन्ध में शास्त्री जी का कथन है कि "इस प्रकार ब्रह्मावर्त देश की सीमाओं का अधिक निश्चित ज्ञान हो जोने पर हमारा यह विचार और भी स्पष्ट तथा पुष्ट हो जाता है कि कपिल का उत्पत्तिस्थान वर्तमान सिरमौर राज्य के अन्तर्गत 'रेणुका' नामक झील के ऊपर की ओर कहीं आस-पास ही था। यहीं पर कर्दम ऋषि का आश्रम भी था, जो सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर तथा ब्रह्मवर्त की पश्चिमी सीमा में अवस्थित था। इसलिए ब्रह्मवर्त देश में तत्का-लीन राजा स्वायंभुव मनु का, अपनी कन्या देवहूति का कर्दम के साथ विवाह करने के लिए वहाँ उपस्थित होना सर्वथा सामंजस्य पूर्ण है।[5]

---

१. सांख्यकारिका पर 'जयमंगला' नामक व्याख्या की भूमिका (अंग्रेजी), पृ० २-३
२. उदयवीर शास्त्री : सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० २४-३३
३. वही, पृ० ३९,४०,४२
४. भट्टाचार्य : इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्लि, पृ० ५१०-११, सितम्बर १९३२
५. उदयवीर शास्त्री : सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ६८

महर्षि कपिल को सत्ययुग या त्रेतायुग में रखने का सिद्धांत भले ही आपत्तिजनक हो सकता है; किन्तु उनके एक ऐतिहासिक व्यक्ति होने और सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। उनका स्थितिकाल सातवीं शताब्दी ई० पूर्व में रखना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

सांख्य-दर्शन के प्रणेता परमर्षि कपिल और उनकी कृतियों का अध्ययन करने के पश्चात् इस परम्परा के कुछ प्राचीन आचार्यों के संबंध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। कपिल के शिष्य आसुरि हुये। आसुरी के शिष्य पंचशिख ने इस बात का उल्लेख किया है कि किस प्रकार कपिल से आसुरि को सांख्य-दर्शन का ज्ञान प्राप्त हुआ था। कीथ और गार्बे प्रकृति विद्वान् आसुरि को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते[१]; किन्तु 'शतपथ ब्राह्मण'[२] और 'महाभारत'[3] के कतिपय स्थलों में आसुरि से संबद्ध उल्लेखों को देखकर उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति न मानना भारी भूल कही जायगी। इन प्रसंगों में लिखा है आसुरि ने कपिल से अध्यात्म विद्या का उपदेश लिया। वह उस दीक्षा और प्रव्रज्या-काल से पूर्व महायात्रिक और गृहस्थ था। वह वर्ष-सहस्रजीवी था।

आसुरि का शिष्य पंचशिख पराशरगोत्रीय था।[४] उसकी माता का नाम कपिला था।[५] वह दीर्घायु हुआ और उसने कपिलप्रणीत 'षष्ठितंत्र' को अपने गुरु से पढ़कर उसे अनेक शिष्यों को पढ़ाया तथा उस पर विस्तारपूर्वक व्याख्यान लिखे।[६] पंचशिख के शिष्यों में जनक धर्मध्वज भी एक था। 'विष्णु पुराण' में इनका वंशक्रम धर्मध्वज-मितध्वज-ऋतध्वज तथा खाण्डिक्यजनक-केशिध्वज, इस प्रकार है।[७] 'युक्तिदीपिका' के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि पंचशिख के दो शिष्य और थे: वसिष्ठ और करालजनक।[८] इक्ष्वाकु राजवंश का पुरोहित वसिष्ठ और विदेहों के जनकवंश का व्यक्ति निमिका दूसरा पुत्र करालजनक हुआ।[९] सांख्यदर्शन पर कुछ

---

१. कीथ : सांख्य सिस्टम, पृ० ४७-४८; गार्बे: सांख्य ऐंड योग, पृ० २-३

२. महाभारत, अध्याय ३२६-३२८; १२।१२०; १०।१३,१४

३. शतपथ १।६।३।२६; २।१।४।२७; ३।१।९; ४।१।२ आदि

४. महाभारत, शां० २२५।२४ (कुम्भकोणम् संस्करण)

५. वही २२०।१५-१६

६. वही २२०।१०

७. विष्णुपुराण, अंश ६, अध्याय ६

८. युक्तिदीपिका, ७०वीं कारिका

९. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का इतिहास, पृ० १९०

बिखरे हुए विचार याज्ञवल्क्य और दैवरातिजनक के भी उपलब्ध होते हैं।[1] इसी प्रकार 'सांख्यदर्शन के इतिहास' में पूर्व प्रकाशित सूचनाओं के आधार पर कुछ प्राचीन सांख्याचार्यों के नाम हैं : वोढु, सनक, सनंदन, सनातन, सहदेव, प्लुति, पुलह, भृगु, अंगिरस मरीच, क्रतु, दक्ष और अत्रि।[2] महर्षि भृगु ने सांख्यदर्शन पर एक ग्रन्थ लिखा था। 'महाभारत' के शांति-पर्व में भृगु-भारद्वाज-विवाद में जो सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन देखने को मिलता है[3], वह सांख्य-सिद्धान्तों पर आधृत है। इस विवरण से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि भृगु सांख्यशास्त्रज्ञ थे और इसलिए सांख्यदर्शन का अस्तित्व बहुत पुरातन ठहरता है। महर्षि वशिष्ठ भी सांख्य-दर्शन के ज्ञाता थे। उन्होंने यह ज्ञान हिरण्य-गर्भ से प्राप्त किया था।[4]

सांख्यदर्शन-विषयक 'महाभारत' में बिखरे हुए विचारों का परिचय कुछ तो दिया जा चुका है। उनके अतिरिक्त पुलस्त्य, कश्यप, शुक्र, सनत्कुमार, नारद, आर्ष्टिषेण, शुक, जैगीषव्य, वाल्मीकि, देवल, हारीत, भार्गव, पराशर और उलूक आदि सांख्याचार्यों के नाम तथा उनके सिद्धांतों की चर्चा 'महाभारत', 'बुद्धचरित' एवं 'माठरवृत्ति' आदि ग्रन्थों में हुई है। ये सभी आचार्य महाभारतकाल से पहले, कुछ उसके आस-पास और बहुत थोड़े उसके बाद हुए ; किन्तु मोटे तौर पर उनकी स्थिति विक्रम-पूर्व प्रथम शती से भी पहले की है ।

यह परंपरा ईश्वरकृष्ण, माठराचार्य आदि सांख्य के निर्माताओं द्वारा अनुवर्तित होती हुई, उनके पारवर्ती विद्वानों रुद्रिल विन्ध्यवासी, माधव आदि के समय सातवीं शताब्दी ईसवी तक अक्षुण रूप में बनी रही।

विंध्यवासी

आचार्य विंध्यवासी का वास्तविक नाम अज्ञात है, विंध्याटवी में निवास करने के कारण ही संभवतः उन्हें विंध्यवासी कहा गया। कमलशील की 'तत्त्वसंग्रह-पंजिका' से विदित होता है कि विंध्यवासी का वास्तविक नाम

---

१. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ३१५–३२३

२. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्लि, सितम्बर १९३२, पृ० ५०९–५२०; सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ४९५

३. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय १७५ ४. महाभारत, शां० ३१३।४५

रुद्रिल था।[1] डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने विंध्यवासी को वसुबंधु के गुरु बुद्धमित्र के समकालीन २५०-३२०ई० के बीच में रखा है।[2] विंध्यवासी उत्तर भारत और संभवतः वाराणसी के रहनेवाले थे।

बौद्ध आचार्य वसुबंधु के जीवनी-लेखक भिक्षु परमार्थ ने लिखा है कि अयोध्या में बुद्धमित्र के साथ विंध्यवासी का घोर शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें बुद्धमित्र बुरी तरह पराजित हुए और तत्कालीन अयोध्यानरेश द्वारा इस विजय के कारण विंध्यवासी को तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ प्रदान की गयी। बाद में गुरु की पराजय का बदला लेने की स्पर्धा से वसुबंधु विंध्याटवी पहुँचे; किन्तु तब तक विंध्यवासी का शरीरान्त हो चुका था।

ईश्वरकृष्ण

कुछ दिन पूर्व विंध्यवासी, वसुबंधु और ईश्वकृष्ण की कृतियों के संबंध में जो संदेह की बातें कही गयी थीं[3], उनका अब पूरी तरह से समाधान हो गया है;[4] और फलस्वरूप इन तीनों विद्वानों के संबंध में विस्तार से सूचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं।

सांख्य दर्शन के क्षेत्र में आचार्य ईश्वरकृष्ण का बड़ा सम्मान है। ईश्वरकृष्ण के स्थितिकाल के संबंध में बड़ा विवाद है, संभवतः बौद्धाचार्य वसुबंधु द्वारा 'सांख्यशास्त्र' का खंडन हो जाने के पश्चात् सांख्य की क्षीण पड़ गयी सत्ता को पुनः प्रकाशित अथवा पुनः प्रतिष्ठित करने की इच्छा से ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' की रचना की थी।[5] इस दृष्टि से उनको वसुबंधु के बाद रखा जाना चाहिए; किन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार ईश्वरकृष्ण, वसुबंधु से भी पहले ठहरते हैं। चीन में रहकर भिक्षु परमार्थ ने ५५७–५६९ ई० के बीच वसुबंधु का जो जीवनचरित लिखा था और ५७० ई० में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' का 'हिरण्यसप्तति' या 'सुवर्णसप्तति' के नाम से एक चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया था, वे दोनों ग्रंथ संप्रति उपलब्ध हैं। इन ग्रंथों के

---

१. यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च।
वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिना॥
तत्त्वसंग्रहपंजिका, पृ० २२, गायकवाड़ ओरि० सीरीज

२. तत्त्वसंग्रह-भूमिका, पृ० ६१–६४

३. जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो०, पृ० ४८ (१९०५)

४. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास २, पृ० ११५–११६

५. वही, पृ० ११७

आधार पर डॉ० तकाकुसू का अंदाज है कि ईश्वरकृष्ण का समय ४५० ई० के लगभग था।[1]

इसके विपरीत डॉ० विंसेंट स्मिथ ईश्वरकृष्ण को वसुबंधु से पहले रखते हैं। उनके मतानुसार वसुबंधु का समय (३२८-३६० ई०) चौथी शताब्दी में बैठता है, क्योंकि उनके ग्रन्थों का अनुवाद ४०४ ई० में चीनी भाषा में हो चुका था। इस दृष्टि से ईश्वरकृष्ण का समय २४० ई० के लगभग होना चाहिए।[2] कुछ इतिहासकारों ने तो यहाँ तक चातुरता दिखलाई है कि ईश्वर-कृष्ण को उन्होंने विक्रम की पहिली शताब्दी में रखा।[3]

डॉ० विद्याभूषण ने तिब्बती ग्रन्थों में सुरक्षित कुछ अनुश्रुतियों का परीक्षण करके यह मंतव्य दिया है कि ईश्वरकृष्ण और वसुबंधु समकालीन थे।[4] वसुबंधु की जीवनी में हम विस्तार से दिखा चुके हैं कि उनका स्थिति-काल चौथी श० ई० था। यही समय ईश्वरकृष्ण का भी है।

ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' सांख्यदर्शन की उच्चतम कृति है। उस पर जो अनेक टीकाएँ लिखी गईं उनसे उनकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

माठर और गौडपाद

ये दोनों सांख्यशास्त्री 'सांख्यकारिका' के भाष्यकारों के रूप ये विश्रुत है। माठर की 'माठरवृत्ति', 'सांख्यकारिका' का संमान्य भाष्य है। यह भाष्य भिक्षु परमार्थ के अनुवाद ग्रन्थ 'हिरण्यसप्तति' (५७० ई०) से पूर्व लिखा जा चुका था। इस दृष्टि से माठराचार्य का स्थितिकाल छठीं शताब्दी के आरम्भ में बैठता है। यही समय दूसरे भाष्यकार आचार्य गौड़पाद का भी है।

सांख्यदर्शन पर लिखी गई उत्तरवर्ती विद्वानों की बहुत-सी कृतियाँ आज भी विभिन्न हस्त-लेख-संग्रहों में देखने को मिलती हैं, जो प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। इस प्रकार की अप्रकाशित कृतियों का विश्लेषण करके जब तक उन्हें प्रकाश में नहीं लाया जाता तब तक सांख्य-दर्शन की और भारतीय

---

१. जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो० ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, पृ० ३३-५३, १९०५

२. डॉ० वेंसेंट स्मिथ : अरली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३२८-३२९ (तृतीय संस्करण)

३. उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३५७

४. डॉ० विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक, पृ० २७४-२७५

साहित्य के एक बड़े अंग की पूर्ति नहीं हो सकती है। इस दिशा में विद्वज्जन जागरूक हैं और नित्य ही नई खोजों के फलस्वरूप पुरानी स्थापनाओं का परिष्करण हो रहा है।

सांख्यसूत्रों के व्याख्याकार

'सांख्यषडाध्यायी' और तत्त्वसमास' दोनों ग्रन्थों को मिलाकर ही सांख्य-सूत्रों की पूर्ति होती है। इन दोनों ग्रन्थों पर अलग-अलग व्याख्याएँ लिखी गई हैं। कुछ सांख्यकारों ने प्रथम ग्रन्थ पर और कुछ ने केवल दूसरे ग्रंथ पर ही विचार किया है। उनके विचारों को हम उसी क्रम से यहाँ देंगे।

सांख्यषडाध्यायी के व्याख्याकार

स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' से ज्ञात होता है कि कपिल के सांख्यसूत्रों पर भागुरि मुनि ने एक भाष्य लिखा था।[1] 'संस्कारविधि' में भी भागुरिकृत भाष्य पढ़ने का विधान है।[2] किन्तु इस परम्परा की उपलब्धि बहुत बाद में जाकर होती है।

सांख्यसूत्रों के पहिले व्याख्याता अनिरुद्ध, विज्ञान भिक्षु और महादेव वेदांती का नाम प्रमुख है।

अनिरुद्धवृति के दो प्रामाणिक संस्करण संप्रति उपलब्ध हैं: पहिला डॉ० श्री प्रथमनाथ रिचर्ड गार्बे का[3] और दूसरा महामहोपाध्याय तर्कभूषण का।[4] दूसरा संस्करण प्रथम संस्करण का ही अनुकरण मात्र है; बल्कि डॉ० गार्बे का प्राक्कथन बहुत ही खोजपूर्ण है। डॉ० गार्बे ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अनिरुद्ध १५०० ई० के लगभग हुआ।[5]

सांख्यसूत्रों के दूसरे वृत्तिकार हुए विज्ञान भिक्षु। उनके स्थितिकाल के संबंध में अनेक मत हैं। हाल, गार्बे, विंटरनित्स और दासगुप्ता आदि ने उसको

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ७८, प्रथम संस्करण, १९३२ वि०

२. संस्कारविधिः, वेदारंभ संस्कार, द्वितीय संस्करण, १९४१ वि०

३. बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८८८ ई०

४. जीवानंद विद्यासागर फर्म, कलकत्ता, १९१६ ई०

५. सांख्यसूत्र, अनिरुद्धवृति की भूमिका, पृ० ८–९

१५५० ई० में रखा है।[1] कीथ का मन्तव्य है कि वह १६५० ई० में हुआ;[2] किन्तु फिर उन्होंने उसको सोलहवीं शताब्दी के मध्य में ही रखा।[3] विज्ञान-भिक्षु के संबंध में नई उपलब्धियों के अनुसार विस्तार से विवेचन किया है पी० के० गोडे ने। अपने इस लेख में उन्होंने पूर्वोक्त विद्वानों के मतों की समीक्षा करते हुए यह सिद्ध किया है कि भावागणेश के गुरु विज्ञानभिक्षु का समय १५२५–१५८० ई० के बीच कहीं था।[4]

तीसरे व्याख्याकार महादेव वेदांती की व्याख्या 'अनिरुद्धिवृत्ति' पर आधारित है। इसीलिए उसने अपनी व्याख्या का नाम 'वृत्तिसार' रखा। अब तक प्रायः यही विदित हुआ है कि महादेव वेदांती विज्ञानभिक्षु के बाद हुए। किन्तु आधुनिक गवेषणाओं ने यह सिद्ध किया है कि महादेव वेदांती, विज्ञानभिक्षु से पूर्व हुए।[5]

इन तीनों व्याख्याकारों की जीवनी, कृतित्व और उनके संबंध में विद्वानों द्वारा कही गयी बातों की समीक्षा करने पर शास्त्रीजी ने यह सिद्ध किया है कि उनका क्रम और समय इस प्रकार था :[6]

अनिरुद्ध : ११०० ई० के लगभग
महादेव : १३०० ई० के लगभग
विज्ञानभिक्षु : १४०० ई० के लगभग

तत्त्वसमास के व्याख्याकार

'षडाध्यायी' के अतिरिक्त कपिल का दूसरा ग्रंथ 'तत्त्वसमाससूत्र' है। इस पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखी हैं। इन व्याख्याओं का एक

१. एफ० इ० हाल : प्रफेस टु दि सांख्यसार, पृ० ३७; डॉ० गार्बे : प्रफेस टु दि सांख्यसूत्र-वृति बाई अनिरुद्ध, पृ० ८; सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ५३४–५३५ (अभ्यंकर संस्करण); विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० ४५७; दासगुप्ता : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, वाल्यूम १, पृ० २१२,२२१
२. कीथ : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४८९
३. कीथ : दि सांख्य सिस्टम, पृ० ११४, द्वितीय संस्करण
४. अडियार लाइब्रेरी बुलेटिन, फरवरी १९४४
५. शास्त्री : सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ३१३,३१६
६. वही पृ० ३१६

सुन्दर संस्करण वाराणसी से प्रकाशित है,[1] जिसमें नीचे लिखी व्याख्याएँ संकलित हैं :

मिषानंद	: सांख्यतत्त्वविवेचन	(१७०० ई०)
भावागणेश	: तत्त्वयाथार्थ्यदीपन	(१४०० ई०)
महादेव	: सर्वोपकारिणी टीका	(१३०० ई०)[2]
कृष्ण	: सांख्यसूत्रविवरण[3]	×
×	: क्रमदीपिका-तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति	×
केशव	: सांख्यतत्त्वप्रदीपिका[4]	(१७०० ई०)
यति, कविराज	: सांख्यतत्त्वप्रदीप	(वाचस्पति मिश्र के बाद)
कृष्ण मित्र	: तत्त्वमीमांसा	×
×	: सांख्यपरिभाषा	×

सांख्यसप्तति के व्याख्याकार

'सांख्यसप्तति' पर अनेक व्याख्यान ग्रन्थ लिए गए, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। उनकी पाँच प्राचीन व्याख्याओं का पता चलता है, जिनके नाम और जिनके रचयिताओंके नाम इस प्रकार हैं :

माठरवृत्ति	: आचार्य माठर
युक्तिदीपिका	: अज्ञात् (संदिग्ध नाम वाचस्पति मिश्र)
गौडपादभाष्य	: आचार्य गौड़पाद
जयमंगला	: अज्ञात् (संदिग्ध नाम शंकराचार्य)
तत्त्वकौमुदी	: वाचस्पति मिश्र

इनमें वाचस्पति मिश्र को छोड़ कर बाकी चार व्याख्याकारों के संबंध में प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री कम उपलब्ध है। इसलिए इस प्रकरण को हम वाचस्पति मिश्र से ही आरंभ कर फिर पूर्ववर्त्ती व्याख्याओं पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

---

१. चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९१८

२. इसका लेखक और रचनाकाल संदिग्ध है

३. इसका रचनाकाल अविदित है। इसके रचयिता के संबंध में देखिए : मोनियर विलियम्स : कैटेलोगस कैटेलोगरम, वाल्यूम १, परिशिष्ट पृ० ७८७

४. इसका रचनाकार संदिग्ध है तत्त्वसमास के व्याख्याकारों के लिए देखिए : सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ३१६-३३४

वाचस्पति मिश्र का नाम षड्दर्शन-व्याख्याकार के रूप में सर्वतः विश्रुत है। उनके स्थितिकाल और उनकी जीवनी के संबंध में भी विद्वान् एक मत नहीं हैं। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का एक संस्करण डॉ० गंगानाथ झा ने संपादित किया है।[1] इसकी भूमिका में डॉ० झा ने दिखाया है कि वाचस्पति मिश्र ८४१ ई० में हुए; किन्तु इस निबंध में उन्होंने जो प्रमाण दिए हैं उन पर आपत्ति प्रकट करते हुए श्री दिनेशचंद्र भट्टाचार्य ने यह सिद्ध किया है कि वाचस्पति मिश्र दशम शतक के उत्तरार्ध में हुए।[2] इन दोनों विद्वानों के मतों की आलोचना श्री उदयवीर शास्त्री ने की है। उनके मतानुसार ८४१ ई० (८९८ वि०) में मिश्र जी का स्थितिकाल है।[3] डॉ० झा का अभिमत यही है; किन्तु डॉ० झा के जो तर्क और युक्तियाँ हैं, वे विवादास्पद हैं।

पं० हरदत्त शर्मा द्वारा संपादित 'जयमंगला' टीका के संस्करण[4] की भूमिका में कविराज पं० गोपीनाथ जी ने दो बातों का उल्लेख किया है। एक बात तो उन्होंने यह कही है कि इस टीका का रचयिता शंकराचार्य न होकर शंकरार्य है और दूसरी बात यह कि वह बौद्ध था; वह कामन्दकीय 'नीतिसार' की 'जयमंगला' टीका का रचयिता शंकराचार्य से भिन्न था। लंबी आलोचना-प्रत्यालोचना के बाद शास्त्री जी ने 'सांख्यसप्तति' की 'जयमंगला' टीका के संबंध में जो विश्लेषण किया उसके संबंध में ये परिणाम निकाले हैं[5] :

(क) उसका रचनाकाल विक्रम के सप्तम शतक से इधर नहीं हो सकता है
(ख) उसके रचयिता का नाम शंकर है; न शंकराचार्य और न शंकरार्य
(ग) नीतिसार की टीका 'जयमंगला' के रचयिता से इसका रचयिता भिन्न है
(घ) वह बौद्ध मतानुयायी नहीं था

---

१. ओरिएण्टल बुक एजेंसी, पूना, १९३४ ई०

२. जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिट्यूट प्रयाग, वाल्यूम २, पार्ट ४, अगस्त १९४५, पृ० ३४९-३५६

३. सांख्यदर्शन का इतिहास पृ० ३५०

४. ओरिएण्टल सीरीज, कलकत्ता, १९२६

५. उदयवीर शास्त्री : सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ३८४-३८५

'सांख्यसप्तति' की 'युक्तिदीपिका' टीका भी प्रकाशित है।[1] इस संस्करण की पुष्पिका में ग्रन्थकर्ता का नाम वाचस्पति मिश्र दिया गया है; किन्तु टीका के संपादक ने इसको प्रक्षिप्तांश माना है, जो कि उचित भी है। उसके संबंध में शास्त्री जी द्वारा निकाले गए निष्कर्ष ये हैं[2]:

(क) युक्तिदीपिका, जयमंगला से प्राचीन हैं
(ख) उसका संभावित रचनाकाल विक्रम के पंचम शतक के आस-पास है
(ग) उसका रचयिता 'राजा' नाम का कोई व्यक्ति था
(घ) वह प्रसिद्ध राजा भोज नहीं था
(ङ) उसका दूसरा नाम 'राजवार्तिक' भी था

'गौडपादभाष्य' के रचयिता आचार्य गौडपाद, शंकराचार्य के दादा गुरु गौड़पाद से भिन्न थे। गौड़पादभाष्य पर 'युक्तिदीपिका' का प्रभाव लक्षित होता है, जिससे गौड़पादाचार्य का स्थितिकाल युक्तिदीपिकाकार के बाद पांचवीं-छठी शताब्दी में बैठता है।[3]

'माठरवृत्ति', 'सांख्यसप्तति' की सबसे प्राचीन उपलब्ध व्याख्या है। जिन उत्तरवर्ती चार व्याख्याओं का हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं, उन पर उसके प्रभाव के चिह्न स्पष्ट अंकित है। उसके संबंध में भी यहाँ हम शास्त्री जी के निष्कर्ष दे रहे हैं[4]:

१ माठर आचार्य विक्रम संवत् के प्रारंभ में हुए
२ वे युक्तिदीपिकाकार से पहिले हुए
३ परमार्थ ने ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिकाओं की जिस टीका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, वह वर्तमान 'माठरवृत्ति' है

कपिल का सांख्यसूत्र

कपिल का 'सांख्यसूत्र' संप्रति उपलब्ध है, जिसमें छह अध्याय और ५२४ सूत्र हैं। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कपिल-सूत्रों का जो सार दिया है, उपलब्ध सूत्रों से उनकी ठीक समानता बैठती है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-दर्शन पर प्रामाणिक आर्यायें लिखी हैं। वाचस्पति मिश्र की 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' भी इस विषय की उत्तम कृति है।

---

१. कलकत्ता, १९३८
२. सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ४०४
३. वही, पृ० ४०६
४. वही, पृ० ४५४

सांख्य-दर्शन में चार प्रकार के पदार्थों का प्रतिपादन है। वे चार पदार्थ हैं : केवल प्रकृति, केवल विकृति, प्रकृति-विकृति उभयरूप और प्रकृति-विकृति उभयरूप-भिन्न।

पदार्थ विवेचन

मूल प्रकृति ही केवल प्रकृति है, वह किसी की विकृति नहीं। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच महाभूत और एक मन, ये सोलह केवल प्रकृति हैं। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति। 'प्रधान', 'माया' और 'अव्यक्त' आदि उसके दूसरे नाम हैं। प्रकृति स्वयं सिद्ध है। उसके कारणों की कल्पना करने से अनवस्था दोष आ जाता है। सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि सत्तावान् हैं।

कनिष्ठ (मंद) अधिकारियों के लिए वैशेषिक और न्याय, मध्यम अधिकारियों के लिए सांख्य और उत्तम अधिकारियों के लिए वेदान्त की आवश्यकता हुई।

वैशेषिक और न्यायदर्शन के निर्माताओं ने आत्मभाव रहित नित्य विभु आत्मा में तो जिज्ञासुओं की बुद्धि अवश्य स्थिर की; किन्तु सुख-दुःख, काम-क्रोधादि देहेन्द्रिय धर्मों की अनित्यावस्था पर समर्थ प्रकाश नहीं डाला। अर्थात् इन देहज एवं इन्द्रियजन्य धर्मों से आत्मा को सर्वथा अलग मानकर उपदेश नहीं किया। सांख्य ने देहादि धर्मों से निर्लिप्त पुरुष का उपदेश किया है। एक बात और, पूर्वोक्त दोनों दर्शनों में प्रकृति, महत्त्व, पंचतन्मात्र संयुक्त अहंकार के संबंध में भी उपदेश नहीं है। किन्तु सांख्य में इन विषयों पर भी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस दृष्टि से वैशेषिक और न्याय की अपेक्षा सांख्य का स्थान ऊँचा है।

सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इन गुणों के न्यूनाधिक्य से ही सृष्टि होती है। सत्य सुखरूप है, दुःख रजरूप है और तम मोहरूप है। सृष्टि के समस्त पदार्थों का स्वरूप इन तीनों में अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे एक मणि, जिसके पास नहीं है, उसके लिए वह दुःखरूप है, जिसके पास है, उसका वह सुखरूप है और जो उदासीन है, उसका वह मोहरूप है।

प्रकृति सप्तधा है : महतत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और

यही विकृति के भी सात रूप है। अंतःकरणरूप महतत्त्व, अहंकार की प्रकृति और मूल प्रकृति की विकृति है। पाँच विषय और ग्यारह इन्द्रिय, इन सोलह पदार्थों की प्रकृति अहंकार है, जो महतत्त्व की विकृति है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, क्रमशः आकाश, वायु, तेज,जल, पृथिवी, इनकी प्रकृति और अहंकार की विकृति है, पाँच महाभूत, और श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण पाँच ज्ञानेन्द्रिय; वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रिय और ज्ञानकर्म उभयेंद्रियात्मक मन यह सोलह पदार्थ केवल विकार रूप हैं। ये किसी की प्रकृति नहीं है। पुरुष न तो प्रकृति है, न विकृति और न किसी का उभयरूप ही।

अहंकार त्रिविध है : सात्विक, राजस और तामस। ग्यारह इन्द्रिय सात्विक अहंकारज, पाँच शब्दादि विषय तामस अहंकारज और इन्द्रिय तथा विषय, दोनों राजस अहंकारज हैं।

एक केवल प्रकृति, सात प्रकृति तथा विकृति महदादि, सोलह केवल विकार, कुल मिलाकर चौबीस और उनमें पुरुष को मिला देने से पच्चीस तत्त्व होते हैं। प्रकृति और पुरुष का अंध-पंगु सम्बन्ध है। अचेतन प्रकृति अपनी प्रवृत्ति के लिए पुरुष को आश्रय बनाती है और उत्पत्ति-धर्म रहित पुरुष अपने भोग के लिए प्रकृति का आश्रय लेता है। दोनों एक-दूसरे पर अवलंबित हैं।

सांख्य अनीश्वरवादी दर्शन है। पुरुष और प्रकृति ही उसके प्रतिपादन के प्रधान विषय हैं। 'मैं सुख-दुःखातिरिक्त तीनों गुणों से रहित हूँ', इस प्रकार प्रकृति पुरुष में विवेक जब उत्पन्न होता है तब ज्ञानोपलब्धि होती है। जब प्रारब्ध कर्म का भोग समाप्त होकर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तब मोक्ष हो जाता है।

सांख्य सत्कार्यवादी दर्शन है। 'सांख्यकारिका' में सत्कार्यवाद की स्थापना के लिए असदकरण, उपादान ग्रहण, सर्वसंभवाभाव, शक्तस्य शक्यकरण और कारणभाव ये पाँच हेतु दिए गए हैं।[1] आचार्य शंकर ने भी न्याय के असत्कार्यवाद के खंडनार्थ जो युक्तियाँ उपस्थित की हैं, उन पर 'सांख्यकारिका' का उक्त प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।[2] सांख्यदर्शन में प्रकृति के विभिन्न रूप-

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात्संभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्—सांख्यकारिका

२. मिलाइए : वेदान्तसूत्र २।१।१८ और बृहदारण्यक-भाष्य, दशोपनिषद्, पृ० ६१३

गुणों का व्याख्या, परिमाणवाद या विकासवाद का प्रतिपादन, पुरुष और प्रकृति का विवेचन, पुनर्जन्म, मोक्ष और परमतत्त्व का विश्लेषण बहुत ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है।

योग दर्शन

योग दर्शन के विचार अपने मूलरूप में बहुत प्राचीन है। अथर्ववेद में योग द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्तियों का वर्णन, कठ, तैत्तिरीय एवं मैत्रायणी आदि उपनिषद् ग्रन्थों में योग शब्द की परिभाषा, बौद्ध-पिटिकों, गीता और 'महाभारत' में वर्णित योग सम्बन्धी प्रचुर सामग्री को देखकर योग दर्शन की अतिप्राचीनता का सहज में ही अनुमान लगता है।

योग दर्शन के प्रवर्तक आचार्य पतंजलि हुए, जिन्होंने विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में बिखरे हुए योग सम्बन्धी विचारों को संग्रह कर एवं उनको अपनी प्रतिभा से संजोकर विख्यात ग्रन्थ 'योग-सूत्र' की रचना की। 'योग-सूत्र' असाधारण प्रतिभा का परिचायक ग्रंथ है। ऐसा विशुद्ध तर्कसंमत, गंभीर और सर्वांगीण ग्रंथ संसार में दूसरा नहीं है। उसके न्यायानुसारिणी-लक्षण, युक्ति-श्रृंखला तथा प्रांजल दृष्टिकोण अतुलनीय है। योगसूत्रकार की गंभीर, निर्मल मेधाशक्ति की थाह पाना कठिन है। उसमें प्राचीन भारत के दार्शनिक गौरव की महिमा समाविष्ट है।[1]

कुछ दिन पूर्व 'पातंजल-योग-दर्शन' के सम्बन्ध में जो असंगत बातें प्रचारित हुई थीं और यह प्रवाद चलाया गया था कि उसकी रचना ४५० ई० के कुछ हो पूर्व हुई है,[2] उसका खण्डन कर आधुनिकतम अनुसंधायकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसकी रचना बौद्ध-युग से पहिले हो चुकी थी।[3]

योगसूत्रों के अतिरिक्त योग दर्शन विषयक कई प्राचीन ग्रन्थों का हवाला विद्वानों ने दिया है, जो अप्रकाशित है। ऐसे ग्रन्थों में जनककृत 'योग-प्रभा' अंगिराकृत 'योग-प्रदीप', कश्यपकृत 'योग-रत्नाकर', कौत्सकृत 'योग-विलास', मरीचकृत 'योग-सिद्धान्त' एवं 'भोगविलास', आचार्य संजयकृत 'प्रदर्शन-

---

१. पातञ्जल योगदर्शन की भूमिका, पृ० ९ (लखनऊ विश्व विद्यालय)
२. याकोबी : जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी, ३१, पृ० २९
३. पातञ्जल योगदर्शन की भूमिका, पृ० ८

योग' कौशिककृत 'योग-निदर्शन' और सूर्यकृत 'योग-मार्तण्ड' का नाम उल्लेखनीय है।[1]

पातंजल योगसूत्रों पर सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य व्यास ने लिखा। व्यास नाम भारतीय साहित्य का बड़ा ही जटिल, उलझा हुआ नाम है; इतना सुविदित है कि ये व्यास, कृष्णद्वैपायन व्यास से भिन्न एवं परवर्ती थे। व्यास-भाष्य, प्रचलित सभी दर्शनों के भाष्यों से अधिक प्राचीन प्रतीत होता है; किन्तु उसकी पूर्व सीमा बौद्ध मत के आविर्भाव की बाद है। यह बात उसकी सरल प्राचीन भाषा से प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों की भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के बाद स्पष्ट होती है और साथ ही न्याय आदि दर्शनों में उसके मतों का उल्लेख उसकी प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। वात्स्यायन-भाष्य में योग-भाष्य का उल्लेख और कनिष्क के समकालीन भदंत धर्मत्रात आदि के ग्रन्थों में व्यास-भाष्य के उद्धरण, उसकी प्राचीनता पर अपने समर्थन की मुहर लगाते हैं। इन आधारों पर उसका समय बौद्धयुग में निर्धारित किया गया है।[2]

व्यास-भाष्य के सम्बन्ध में डॉ० व्रजेन्द्रनाथशील का कथन है कि व्यास-भाष्य में दशमलव-गणना का ज्ञान अंकित है, जिसका आविष्कार-समय भारत में चौथी शताब्दी ई० है। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' का व्यास-भाष्य में कहीं भी संकेत नहीं हैं; जब कि इस प्रामाणिक ग्रन्थ के उल्लेख का संवरण, उसका परवर्ती कोई भी दार्शनिक न कर सका। ईश्वरकृष्ण का स्थितिकाल ४०० ई० है। अतएव व्यास-भाष्य इससे पहिले का होना चाहिए।[3]

इसी व्यास-भाष्य के आधार पर योगसूत्रों पर राजा भोज की 'भोजवृत्ति' है। तदनन्तर व्यास-भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' और विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक' भी इस क्षेत्र के प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

हठयोग, योग-दर्शन की ही एक शाखा है, जिस पर लिखे गए ग्रन्थों में 'शिवसंहिता' है। हठयोग के विख्यात आचार्य मच्छंदरनाथ (मत्स्येंद्रनाथ)

---

१. विस्तार के लिए धनराज शास्त्री : स्मृति-संग्रह तथा रामदास गौड़ : हिन्दुत्व, पृ० ५४४, ५४७

२. पातञ्जल योगदर्शन की भूमिका, पृ० ९

३. पौजिटिव साइंसेज ऑफ दि ऐंसेण्ट हिन्दूज, पृ० ५१ (१९१५)

हुए और उनके शिष्य गोरखनाथ; जिन्होंने नाथसंप्रदाय की प्रतिष्ठा कर हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया।

पातंजल योग दर्शन

'पातंजल-योग-दर्शन' समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य, इन चार पादों (अध्यायों) से विभक्त हैं। समाधि पाद में योग का उद्देश्य, उसका लक्षण और साधन वर्णित हैं; साधन पाद में क्लेश, कर्म, एवं कर्मफल का विवेचन है; विभूति पाद में योग के अंग, उनका परिणाम तथा अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के प्रकार वर्णित है; और चौथे कैवल्य पाद में मोक्ष का विवेचन है।

आत्मा और जगत् के संबंध में सांख्य-दर्शन ने जिन सिद्धान्तों को स्थिर किया है, योग-दर्शन भी उन्हीं का समर्थक है। सांख्यकार के अनुसार योगकार ने भी पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार किया है। योग-दर्शन में एक छब्बीसवाँ तत्त्व 'पुरुष-विशेष' भी सामिल है, जिससे योग-दर्शन, सांख्य-दर्शन की निरीश्वरवादी कोटि में परिगणित होने से बच गया।

चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[1] ये वृत्तियाँ पंचधा है : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।[2] प्रमाण तीन हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। मिथ्याज्ञान का नाम विपर्यय, ज्ञेय पदार्थ के सत्तारहित ज्ञान को ही विकल्प, अभाव-प्रत्यय-अवलंबित वृत्ति ही निद्रा और अनुभूत विषय का ध्यान 'स्मृति' कहलाती है।[3]

इन चित्तवृत्तयों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। चित्त को स्थिर करनेवाले प्रयत्न ही अभ्यास, और ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से विमुख हो जाना ही वैराग्य है।[4] समाधिलाभ के लिए ईश्वर-प्रणिधान आवश्यक है। पंचविध क्लेशों, कर्म, कर्मफल और आशय (कर्मवासनाएँ) से असंपृष्ट पुरुष विशेष ही ईश्वर है।[5] ईश्वर का प्रणिधान उसके वाचक 'ओ३म्' का जप करने से होता है।[6]

---

१. योगसूत्र १।३
२. वही १।६
३. वही १।७-११
४. वही १।१२।१५
५. वही १।२४
६. वही १।२७-२९

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाँच क्लेश हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योगाभ्यास के आठ अंग हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं।

जाति, देश, काल आदि सीमातीत, सार्वभौम महाव्रत है।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, ये नियम हैं।

पुरुषार्थशून्य गुण जब अपने कारण में लय हो जाते हैं तब कैवल्य-प्राप्ति होती है।[1] योग-दर्शन का यह अंतिम सूत्र है।

योग-दर्शन का उद्देश्य है कि मनुष्य पंचविध क्लेशों, नानाविध कर्मफलों से योग द्वारा विमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करे। योग-दर्शन में चित्त की पंचविध प्रवृत्तियाँ वर्णित हैं : क्षिप्त, मूड, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र; जिनका नाम उन्होंने 'चित्तभूति' रखा है। अंत की दो चित्त-भूतियों को ही उन्होंने योग की अधिकारिणी माना है, जिसके लिए उन्होने 'संप्रज्ञान' और 'असंप्रज्ञान' इन दो योगों का विधान किया है। असंप्रज्ञान योग पंचविध क्लेशों का नाश कर देता है और संप्रज्ञान योग को सिद्ध करके साधक मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। चंचल चित्त की प्रवृत्तियों को रोकने के लिए योग-दर्शनकार ने अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर प्रणिधान, प्राणायाम, समाधि और विषय-विरक्ति, इन साधनों का विधान किया है। योगसिद्धि के लिए योग के उक्त आठों अंगों का साधन परमावश्यक बताया है।

योग-दर्शन के अनुसार संसार दुःखमय है। जीवात्मा की मोक्षोपलब्धि के लिए एक मात्र उपाय योग है। ईश्वर नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है। देवगण और ऋषिगण को उसी से ज्ञान प्राप्त हुआ। योग-दर्शन का दूसरा नाम कर्मयोग भी है, क्योंकि साधक को वह मुक्ति के लिए समुचित कर्म सुझाता है।

न्याय दर्शन

भारतीय दर्शनों की परंपरा में न्याय-दर्शन का क्षेत्र बहुत विस्तृत और उसकी ख्याति अधिक है। लगभग विक्रमी पूर्व से लेकर आजतक उसका अध्ययन-अध्यापन और अर्जन-वर्धन होता आ रहा है। न्याय-दर्शन का एक

---

१. वही ४।३४

बृहद् भाग अभी केवल अप्रकाशित अवस्था में ही जीवित है। न्यायसूत्रों की ठीक रचनातिथि के सम्बन्ध में बहुत विवाद है ; किन्तु सर्वसामान्य मत यही है कि उसका निर्माण लगभग ४००-५०० ई० पूर्व से पहिले हो चुका था।

न्याय-दर्शन के निर्माण में गुप्तयुग का बड़ा हाथ रहा है। इस युग में न्याय-सूत्रों पर बृहद् भाष्य-ग्रन्थों और वार्तिक-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस युग में ही न्यायसूत्रों के दुरूह सूत्रात्मक ज्ञान को मनस्वी विचारकों ने अपने भाष्य-ग्रन्थों द्वारा सुगम बनाया और साथ ही न्याय-दर्शन की महानताओं को लोक-विश्रुत भी किया।

न्याय-दर्शन की दो शाखाएँ हैं : पदार्थ मीमांसा (कैटेगोरिस्ट) और प्रमाण मीमांसा (एपिस्टेमोलॉजिक)। पदार्थ मीमांसा के प्रणेता महर्षि गौतम और उनकी कृति 'न्यायसूत्र' है, जिसमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन सोलह पदार्थों का सम्यक् विवेचन है।

प्रमाण मीमांसा का अभ्युदय मिथिला के सुप्रसिद्ध नैयायिक गंगेश उपाध्याय ने (१२वीं श०) में 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ को लिखकर किया। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों का गम्भीर विवेचन किया गया है। पदार्थ मीमांसा और प्रमाण मीमांसा को क्रमशः 'प्राचीन न्याय' एवं 'नव्य न्याय' भी कहते हैं।

न्याय तर्क-श्रेणी का दर्शन है। उसमें पदार्थ-विवेचन और प्रमाण-विश्लेषण बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। उसकी विवेचन-पद्धति बहुत ही सूक्ष्म, दुर्गम और पारिभाषिक है। जैन-बौद्ध आचार्यों से बौद्धिक संघर्ष में अपने पक्ष की सर्वोपरि प्रतिष्ठा करने में हिन्दू नैयायिकों ने जिस अद्भुत पांडित्य का दिग्दर्शन कराया, उसका इतिहास हमारे सामने है।

न्यान दर्शन की सत्ता बहुत प्राचीन है। न्याय दर्शन तर्कवादी दर्शन है। तर्कशास्त्र का अस्तित्व बौद्धों से पहिले का है। उपनिषद्[१] 'रामायण[२]' 'महाभारत[३]', 'मनुस्मृति[४]', 'गौतमधर्मसूत्र[५]' और 'अर्थशास्त्र[६]', आदि ग्रन्थों में तर्कशास्त्र को हेतुविद्या, तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, वादविद्या, न्यायविद्या, न्याय-

---

१. बृहदारण्यक ४।५; छान्दो० ७।१।२

२. रामायण, अयो० १००।३९

३. महाभारत, शांति० १८०।४७

४. मनुस्मृति ७।४३

५. गौतम धर्मसूत्र ११।३

६. अर्थशास्त्र १।२।७

शास्त्र, प्रमाणशास्त्र आदि अनेक नामों से कहा गया है। न्याय का एक पुराना नाम आन्वीक्षिकी भी था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उसकी गणना चार विद्याओं में की है और उसको सब विद्याओं का प्रदीप, सब कर्मों का उपाय और सब धर्मों का आश्रय कहा है।[1] पंचावयवयुक्त वाक्य ही न्याय कहलाता है। 'महाभारत' के नारद को पंचावयवयुक्त वाक्य के गुण-दोषों का जाननेवाला कहा है: 'पंचावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषविद्'। इस प्रसंग की व्याख्या श्री सतीशचंद्र विद्याभूषण जी के ग्रन्थ में अच्छी तरह दर्शायी गयी है।[2]

न्याय दर्शन के प्रवर्त्तक मेधातिथि गौतम का समय इतिहासकारों ने ५५०–५०० वि० पूर्व निर्धारित किया है।[3] न्यायदर्शन पर सबसे पहिला सूत्रग्रन्थ 'न्यायसूत्र' अक्षपाद गौतम ने लिखा, जिनका स्थितिकाल १५० ई० मे था।[4] 'न्यायसूत्र' पर पहिला प्रामाणिक भाष्य वात्स्यापन का है, जिनका समय ४०० ई० था।[5] वे दाक्षिणात्य और संभवतः तत्कालीन विद्याकेंद्र कांची के निवासी थे।[6] वात्स्यायन के भाष्य का पहिला आलोचक, बौद्धाचार्य दिङ्नाग के तर्कों का समर्थ खंडनकर्ता उद्योतकर ६०८–६८८ ई० के बीच हुआ। उद्योतकर को विद्वानों ने हर्षवर्धन का समकालीन माना है।[7] प्रो० रेंडिल ने उद्योनकर के 'न्यायवार्तिक' को तर्कशास्त्र का महत्त्वपूर्ण एवं विश्व-साहित्य की ख्याति का ग्रन्थ माना है।[8] उद्योतकर थानेश्वर का निवासी था।[9] उद्योतकर के कार्तिक ग्रन्थ पर वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) ने 'तात्पर्य' टीका और उस पर भी उदयनाचार्य (१००० ई०) ने 'तात्पर्य टीका-परिशुद्धि' नामक उपटीका लिखी। उदयनाचार्य की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'कुसुमाञ्जलि' है। 'किरणावली' और 'न्यायपरिशिष्ठ' भी उदयन ने लिखे।

उद्योतकर के तर्कों के खण्डनार्थ बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने 'न्यायविंदु'

---

१. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या।
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

२. सतीशचन्द्र विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लॉजिक पृ० ५

३. वही, पृ० १७ ४. वही, पृ० ४७

५. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, २, पृ० ११९

६. वही, पृ० १०८ ७. वही, पृ० १२०–१२१

८. उक्त हिस्ट्री ग्रंथ, पृ० ३५ ९. वही, पृ० १२५

की रचना की थी। वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्य टीका' धर्मकीर्ति के तर्कों के ही खण्डन में लिखी गई। नवम शताब्दी में धर्मकीर्ति के ग्रंथ पर धर्मोत्तर ने 'न्यायबिन्दु-टीका' लिखी। जयन्तभट्ट ने भी 'न्यायसूत्र' पर 'न्याय मंजरी' नामक ग्रन्थ लिखा। इनका स्थितिकाल भी दसवीं शताब्दी था।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में लिखे गए ग्रंथों में वरदराज की 'तार्किक रक्षा' और केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' का नाम उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ में यद्यपि न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शन संप्रदायों के सिद्धान्तों का मिला-जुला रूप है; फिर भी नव्य-न्याय की भूमिका को तैयार करने के लिये उसमें प्रचुर उपकरण विद्यमान हैं, और इसीलिए उसकी गणना नव्य-न्याय में की जाती है।

दशवीं शताब्दी के बाद न्याय-दर्शन के क्षेत्र में एक जबर्दस्त परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का पूर्णरूप गंगेश उपाध्याय की 'तत्त्वचिंतामणी' में दिखाई देता है, जिसकी रचना बारहवीं शताब्दी में हुई। यहाँ से न्याय-दर्शन दो भागों में बँट गया : प्रकृत और नव्य। दसवीं शताब्दी तक न्याय-दर्शन पर जितने ग्रन्थ लिखे गए वे प्रकृत-न्याय के अन्तर्गत और तदनन्तर लिखे हुए ग्रन्थ नव्य-न्याय के अन्तर्गत गिने जाने लगे। प्रकृत-न्याय के ग्रंथकारों में तर्क उपस्थित करने की जो सरणी, उनकी युक्तियों का जो विधान और प्रतिपाद्य विषय के प्रमाणीकर के लिए जिन विधियों का प्रवर्तन किया था, हम देखते हैं कि नव्य-न्याय के ग्रंथकारों ने उनको सर्वथा बदले हुए रूप में ग्रहण किया। यद्यपि नव्य-नैयायिकों ने शब्दाडंबर के व्यूह में दार्शनिक तथ्यों को ढँक-सा दिया; तथापि उनकी तार्किक युक्तियों का विधान और अपने पक्ष को प्रतिपादन करने की शैली बड़ी वैज्ञानिक थी।

गंगेश उपाध्याय की 'तत्त्वचिंतामणि' नव्य-न्याय का प्रवर्तक ग्रन्थ है। उस पर लिखी गई अनेक टीकाएँ और उपटीकाएँ उसकी प्रामाणिकता की परिचायक है। 'तत्त्वचिंतामणि' पर लिखी गई प्रामाणिक टीकाओं में वासुदेव सार्वभौम (१५०० ई०) की 'तत्त्वचिंतामणि-व्याख्या' और रघुनाथ की 'दीधिति' प्रमुख हैं। रघुनाथ की 'दीधिति' पर गदाधर मिश्र (१६५० ई०) ने एक पांडित्यपूर्ण टीका लिखी, जिसका कि स्वतंत्र ग्रन्थ जितना महत्त्व है, और इसीलिए गदाधर मिश्र को, नव्य-न्याय के क्षेत्र में गंगेश उपाध्याय के बाद स्थान प्राप्त हुआ। तदनन्तर इस क्षेत्र में लिखे गए ग्रन्थ

अन्नभट्ट का 'तर्कसंग्रह', विश्वनाथ पंचानन की 'कारिकावली', जगदीश भट्टाचार्य का 'तर्कामृत' और लौगाक्षि भास्कर की 'तर्ककौमुदी' प्रसिद्ध है।

गौतम का न्यायसूत्र

'न्यायसूत्र' न्याय-दर्शन का मूल ग्रन्थ है। उसके बाद जितने भी मौलिक, भाष्य या टीका-ग्रन्थ लिखे गए, उन सभी में उतनी वैज्ञानिक दृष्टि, प्रौढ़ विचार, तर्कप्रणाली, प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों को निरर्थक बना देनेवाली असाधारण क्षमता नहीं दिखाई देती है। 'न्यायसूत्र' में पाँच अध्याय, प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक और प्रत्येक आह्निक में लगभग साठ-सत्तर तक सूत्र है।

न्याय-दर्शन की चरम परिणति निःश्रेयस् अर्थात् मुक्ति के सम्यक् अवबोधन में है। मुक्तावस्था को बिना तत्त्वज्ञान के नहीं पहुँचा जा सकता है। प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, हेत्वाभास, वितण्डा, छल, जाति और निग्रहस्थानों का सम्यगवबोधन ही तत्त्वज्ञान है।[1]

न्याय-दर्शन के अनुसार प्रमाण चार है: प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।[2] इंद्रिय और अर्थ या विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ऐसा ज्ञान जो असंदिग्ध और अव्यभिचारी हो, प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।[3] यथार्थ ज्ञान को प्रमा, प्रमाणापेक्षय प्रमाता और जिसका ज्ञान होता है उसे प्रमेय कहते हैं। अनुमान प्रमाण भी त्रिविध है: पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदिष्ट।[4] प्रसिद्ध साधर्म्य (गुण-समानता) से साध्य का साधन ही तीसरा उपमान प्रमाण है।[5] आप्तोपदेश ही चौथा शब्द प्रमाण है।[6] आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ही प्रमेय है।[7]

---

१. न्यायसूत्र १।१।१ २. वही १।१।३
३. वही १।१।४ ४. वही १।१।५
५. वही १।१।६ ६. वही १।१।७
७. इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के 'गुण' हैं। कर्मों में प्रवृत करनेवाले 'दोष' हैं। पुनरुत्पत्ति ही 'प्रेत्यभाव' है। प्रवृत्ति-दोषों का परिणाम ही 'फल' है। अपवर्ग को ही 'मोक्ष' कहते हैं और दुःखों से सर्वथा मुक्त होना ही 'अपवर्ग' है।

प्रमाण और प्रमेय के बाद बाकी, संशय आदि चौदह पदार्थों के लक्षण और उनकी परीक्षा का प्रतिपादन बड़े युक्ति-युक्त ढंग से किया गया है।

कणाद ने प्रमेय-विस्तार से आत्म और अनात्म पदार्थों का विवेचन किया; किन्तु तर्क-विधि से प्रमाणों की विस्तृत व्याख्या गौतम ने अपने न्याय-दर्शन में की। कणाद के वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा गौतम का न्याय-दर्शन अधिक व्यापक और अधिक तर्कप्रवण दर्शन है। गौतम के दर्शन में सोलह पदार्थों का सूक्ष्म विवेचन है। इन सोलह पदार्थों के नाम है: प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान।

न्याय-दर्शन की पदार्थ-प्रतिपादन की विधि भी सर्वथा भिन्न और अपेक्षातर प्रभावोत्पादक है। किसी मध्यस्थ के संमुख वादी-प्रतिवादी के रूप में उत्तर-प्रत्युत्तर की यह सिद्धान्त-विवेचन-पद्धति बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और ठोस आधारों पर खड़ी हैं।

न्याय-दर्शन यथार्थवादी सिद्धान्तों पर आधारित है। परमाणु, आत्मा और ईश्वर, जगत् के इन तीन आधारभूत कारणों का सम्यक् प्रतिपादन ही न्याय का विषय है। ज्ञान को न्याय-दर्शन में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। जीवन्मुक्ति का सबसे बड़ा अवरोधक मिथ्याज्ञान है, जिसका विनाश तत्वज्ञान से होता है। 'ऋते सत्यान्न मुक्तिः' ज्ञान के विना जीवनन्मुक्ति सर्वथा असंभव है, न्याय-दर्शन का यही मूलवाक्य है।

सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए न्यायदर्शनकार ने प्रथम प्रमाण को उपस्थित कर तदनन्तर प्रमेय अर्थात् विषय पर विचार किया। विषय के उपस्थित हो जाने पर मध्यस्थ अपनी संदेहनिवृति के अर्थ उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान संदेह-पदार्थ के द्वारा करता है। मध्यस्थ के संमुख फिर एक समस्या खड़ी होती है कि अमुक विषय पर विचार करने का अर्थ क्या है। यही प्रयोजन हुआ। विषय का प्रयोजन अवगत हो जाने के अनंतर वादी अपने पक्ष की पुष्टि के लिए दृष्टान्त देता है और जिस पक्ष को वह प्रतिपादित करता है वह उसका सिद्धान्त कहलाता है। सैद्धान्तिक प्रतिपादन के लिए वादी ने जिन युक्तियों को उपस्थित किया, प्रतिवादी अपनी मेधा के द्वारा उनका खण्ड-खण्ड कर देता है। यही अवयव पदार्थ हुआ। पुनः वादी अपनी खण्डित युक्तियों को पुष्ट करने के लिए प्रतिवादी की युक्तियों को निस्तेज बना देता है। यह तर्क

पक्ष हुआ। तर्क द्वारा वादी अपने पक्ष का जो मंडन करता है वही निर्णय हुआ। दोनों पक्ष पारस्परिक क्षोभ के कारण पंचावयव युक्तियाँ पेश करते हैं। वही 'वाद' अर्थात् शास्त्रार्थ हुआ। वादी के शास्त्र-संमत पक्ष को भी प्रतिवादी यदि स्वयं ही उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में कहता रहता है तो वह जल्प कहा जाता है। खीझकर प्रतिवादी जब सर्वथा व्यर्थ का विवाद करने लगता है तब उसका वह विवाद वितण्डा कहलाती है। इस वितण्डा के सभी हेतु अयुक्त होने के कारण हेत्वाभासमात्र रह जायेगें। अन्त में पराजित प्रतिवादी, वादी के वाक्यों का विरुद्धार्थ करके उसको छल में डालने का प्रयत्न करता है और अंत में जब वह व्याप्ति निरपेक्ष साधर्म्य-वैधर्म्य के द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट करने लगता है तब जाति में आ जाता है। अंत में प्रतिवादी को रोककर बन्द किया जाता है तब शास्त्रार्थ का वह निग्रहस्थान कहलाता है।

'प्रमाण' की विवेचना न्याय का प्रमुख विषय है। जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है उसे प्रमाण कहते हैं। तात्पर्य–ज्ञान का नाम 'प्रमा' है। न्याय के अनुसार चार प्रमाण है: प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द। आत्मा, मन और इन्द्रिय का संयोग रूप ज्ञान अथवा प्रमाण ही प्रत्यक्ष है। वस्तु के साथ इन्द्रिय संयोग ज्ञान ही अनुमान है। इसी को नैयायिकों ने व्याप्तिज्ञान भी कहा है, जो अनुमान की पहली सीढ़ी है। इसके पाँच खण्ड हैं, जो 'अवयव' कहलाते हैं और जिनके नाम है: प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन।

१. प्रतिज्ञा : साध्य का निर्देश करने वाला अर्थात् जो बात अनुमान द्वारा सिद्ध हो, उसका वर्णन करने वाला वाक्य, प्रतिज्ञा कहलाता है, जैसे : 'यहाँ पर आग है'।

२. हेतु : बात को प्रमाणित करने के लिये जो लक्षण या चिह्न दिए जाते हैं, जैसे : 'क्योंकि यहाँ धुँआँ है'।

३. उदाहरण : सिद्ध की जाने वाली बात, बताए हुए लक्षण के साथ जहाँ देखी गई हो उसे बतलाने वाला वाक्य, जैसे : 'जहाँ-जहाँ धुँआँ रहता है वहाँ-वहाँ आग रहती है' उदाहरणार्थ रसोई घर।

४. उपनय : जो वाक्य बतलाये हुए लिंग या चिह्न का होना प्रकट करे, जैसे—'यहाँ पर धुआँ है'।

५. निगमन : सिद्ध की जाने वाली बात सिद्ध हो गई, जैसे : 'इसलिए यहाँ पर आग है'।

प्रकृत न्याय के ये पाँच अनुभव हुए। नवीन न्याय के आचार्य अनुमान के लिए प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, इन तीनों को ही मानते हैं। मीमांसक और वेदान्ती भी इन्हीं को स्वीकार करते हैं। बौद्ध-न्याय प्रतिज्ञा और हेतु, इन दो को ही मानता है।

न्याय-दर्शन का तीसरा प्रमाण 'उपमान' है। परिचित वस्तु के सादृश्य से प्रमाण देकर अपरिचित वस्तु का ज्ञान कराना ही 'उपमान' का लक्ष्य है। जैसे : 'नीलगाय, गाय के सदृश ही होती है'। यह उपमित ज्ञान हुआ। वैशेषिक और बौद्ध-दर्शन उपमानको प्रत्यक्ष और शब्द-प्रमाण के ही अन्तर्गत मानते हैं।

चौथा प्रमाण 'शब्द' है। आप्त-वाक्य ही शब्द–प्रमाण है। जो साक्षात्कृतधर्मा हो वही आप्त है। दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ, इसके दो भेद हैं। प्रत्यक्ष जानी हुई बात को बतानेवाला दृष्टार्थ और अनुमान से जानी हुई बात को बतानेवाला अदृष्टार्थ कहा जाता है। नैयायिक वेद को ईश्वरकृत मानते हैं। अतएव वेद-वाक्य सदा सत्य है। किन्तु लौकिक वाक्य तभी सत्य हो सकता है, जब उसका बतानेवाला प्रामाणिक हो।

मीमांसकों और वेदान्तियों के अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संभव और अभाव, इन चार प्रमाणों को नैययिक अपने पूर्वोक्त चार प्रमाणों के अन्तर्गत ही मानते हैं।

प्रकृत न्याय का चरमोद्देश्य मोक्ष-साधन है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए न्याय में बारह प्रमेयों का विधान है : आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख, और अपवर्ग।

न्याय भी वैशेषिक के समान परमाणुवादी दर्शन है। उसमें न केवल विचार एवं तर्क के नियम वर्णित हैं, वरन्, प्रमेयों पर भी व्यापक प्रकाश डाला गया है। पाश्चात्य लाजिक केवल तर्कशास्त्र मात्र है; किन्तु न्याय-दर्शन तर्क और प्रमेय दोनों का निदर्शन करता है।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हुए, जिनका नाम उलूक तथा कणभुक् भी था और उनके 'कणाद-सूत्र' को इसलिए औलूक्य-दर्शन भी कहते हैं। कणादसूत्रों की रचना लगभग चार-सौ ईसवी पूर्व में हो चुकी थी। इस दृष्टि से वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन से भी प्राचीन ठहरता है।

लगभग अठारहवीं शताब्दी तक विश्वनाथ कृत 'भाषा परिच्छेद' और अन्नभट्ट के 'तर्कसंग्रह' तक वैशेषिक दर्शन का निरंतर विकास होता गया।

महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्रों पर एक बृहद् भाष्य-ग्रन्थ लिखा गया, जिसका स्थान कि अपने क्षेत्र के सर्वोत्कृष्ट है और जो अपने क्षेत्र का प्रामाणिक एवं सर्वप्रथम भाष्य है। इस भाष्य-ग्रन्थ का नाम 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' है, जिसको कि उसके प्रतिभाशाली प्रणेता आचार्य प्रशस्तपाद के नाम से 'प्रशस्तपाद-भाष्य' भी कहा जाता है।

वस्तुतः प्रशस्तपाद के इस ग्रन्थ का महत्त्व एक भाष्य के रूप में न होकर मौलिक ग्रन्थ के रूप में माना जाता है। स्वयं ग्रन्थकार ने उसको भाष्य–ग्रन्थ की कोटि में नहीं रखा है, और परवर्ती आचार्यों ने उसके सिद्धान्तों को प्रामाणिकता से उद्धृत कर उसकी मौलिकता को और भी स्पष्ट कर दिया। 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' के प्रामाणिक टीकाकार उदयनाचार्य ने उसको वैशेषिक दर्शन की मौलिक कृति स्वीकार किया है।

आचार्य प्रशस्तपाद का व्यक्तित्व वैशेषिक दर्शन के प्रमुख निर्माताओं के रूप में विख्यात है; किन्तु उनके स्थितिकाल के संबंध में विद्वान् एक मत नहीं रहे हैं। डॉ० कीथ ने प्रशस्तपाद को बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का परवर्ती एवं दिङ्नाग की दार्शनिक कृतियों से प्रभावित बताया है; किन्तु रूसी आलोचक शेरवास्की ने अपनी नवीन गवेषणाओं से यह सिद्ध किया है कि दिङ्नाग के गुरु बसुवंधु की कृतियाँ तक प्रशस्तपाद-भाष्य का प्रभाव है। प्रशस्तपाद के संबंध में अधिक विद्वानों की यह राय है कि या तो वे वसु-वंधु के (चौथी शताब्दी) पूर्ववर्ती थे अथवा उनके समसामयिक होने में तो कोई द्विविधा ही नहीं है।[1]

प्रशस्तपाद का भाष्य-ग्रंथ वैशेषिक के क्षेत्र में इतना सर्वप्रिय, प्रामाणिक ग्रन्थ साबित हुआ कि इस पर कई टीकाएँ लिखी गईं। इन टीकाओं में पहिली टीका व्योमकेश की 'व्योमवती' है, जो नवन शताब्दी में लिखी गई। लगभग दशवीं शताब्दी में उदयनाचार्य ने 'किरणावली' और श्रीधराचार्य ने 'न्याय-कंदली' नामक दो टीकाएँ 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' पर लिखी। तदनन्तर वल्लभाचार्य (१२वीं श०) की 'न्याय-लीलावती', पद्मनाभ मिश्र (१६वीं श०) का 'सेतु' और जगदीश भट्टाचार्य (१७वीं श०) की 'सूक्ति' आदि प्रशस्तपाद-

---

१. ए० बी० ध्रुव : न्याय प्रवेश-भूमिका, पृ० १३–२१, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरिज

भाष्य की उल्लेखनीय टीकाएँ है। अंतिम दोनों टीकाएँ केवल द्रव्य-पदार्थ तक ही सीमित हैं। इन टीकाग्रन्थों के अतिरिक्त शंकर मिश्र ने एक ग्रन्थ 'वैशेषिक सूत्रोपस्कार' नाम से लिखा।

न्याय वैशेषिक का समन्वय

न्याय-वैशेषिक के क्षेत्र में यह एक महत्त्व की बात हुई कि ११वीं शताब्दी ईसवी के लगभग शिवादित्य मिश्र कृत 'सप्तपदार्थी' में न्याय और वैशेषिक का परस्पर समन्वय हो गया और तदुपरांत दोनों दर्शनों के सिद्धान्त प्रायः एक ही तत्त्वज्ञान के समर्थक हो गए। न्याय और वैशेषिक के उत्तरकालीन सिद्धांत एक साथ मिलकर आगे बढ़ने के कारण न्याय-दर्शन की अनेक कृतियाँ वैशेषिक के और वैशेषिक दर्शन की कृतियाँ न्याय के अन्तर्गत परिगणित होने लगी। अन्नंभट्ट का 'तर्कसंग्रह' इसका उदाहरण है।

यद्यपि न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शन बहुत कुछ दशाओं में एक समान होने पर उनकी प्रतिपादन शैली तथा सिद्धान्तों में भी मौलिक अन्तर है, और दोनों दर्शनों की प्रमाण-मीमांसा, कारणता-विचार, पादर्श-विवेचन, तथा ईश्वर-सम्बन्धी विचारों के विश्लेषण में अपने अलग-अलग दृष्टिकोण, अलग-अलग स्थापनायें है; न्याय प्रमाणप्रधान या तर्कप्रधान और वैशेषिक तत्त्व-विवेचक दर्शन है; तथापि दोनों दर्शन अविरोधी, वरन्, एक-दूसरे के प्रपूरक भी है। एक निश्चित तथ्य पर पहुँचने के लिए दोनों के दृष्टिकोणों पर एकसाथ विचार करना आवश्यक हो जाता है। इसका ही कारण हुआ कि बाद में नैयायिकों और वैशेपिककारों के सिद्धान्त मिले-जुले रूप में आगे बढ़े और बाद में इसी पद्धति के ग्रन्थ लिखे जाने लगे।[1]

कणाद का वैशेषिक सूत्र

जिस प्रकार न्याय-दर्शन का मूल उद्देश्य अन्तर्जगत् के ज्ञान-तत्त्वों का समीक्षण करना तथा ध्यान, धारणादि उपायों द्वारा आत्मा का साक्षात्कार और मनःशान्ति की साम्यावस्था के उपायों का प्रतिपादन करना है, उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन का लक्ष्य आत्मा तथा आत्मेतर पदार्थों का परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य की सूक्ष्मताओं की जानकारी कराना और तत्त्वज्ञान की उपलब्धि पर प्रकाश डालना है।

---

१. देवराज : भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० २२४–२५४

वैशेषिक वहिर्जगत् के व्यापारों का विस्तार से समीक्षण, परीक्षण करता है। वह द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव, इन सात पदार्थों पर आधारित है। तत्त्वज्ञान की उपलब्धि के लिए इन सप्त-पदार्थों का सम्यक् ज्ञान परमावश्यक बताया गया है। द्रव्य नौ है, जिनके गुण और कर्म आश्रित धर्म है। द्रव्य, गुण और कर्म के संयोग से 'समवाय' पदार्थ की उत्पत्ति होती है। नाना रूपधारी वस्तुओं के वैविध्य को जानने के लिए 'विशेष' की आवश्यकता होती है। सामान्य और विशेष का दूसरे पदार्थों के साथ संबंध स्थापित करने के लिए 'समवाय' नामक नित्य पदार्थ की आवश्यकता होती है। अभाव नामक सातवां पदार्थ अनुष्ठान आदि निष्काम कर्मों के द्वारा मोक्ष प्राप्ति को सुझाता है।

महर्षि कणाद ने अपने इस दर्शन का प्रणयन कनिष्ठ अधिकारियों के लिए किया। कनिष्ठ अधिकारी वे हैं, जिन्हें आत्मा और अनात्मा का विवेक नहीं हैं; जिन्होंने नाशवान् एवं क्षणिक पदार्थों में ही आत्मबुद्धि स्थिर कर ली है। कणाद ने इन स्थूलबुद्धि लोगों के लिए सर्व प्रथम धर्म की सुगम मीमांसा करने के उपरान्त नाना रूपधारी असंख्य सांसारिक पदार्थों का स्वरूप-विवेचन, प्रत्येक पदार्थ का लक्षण देकर, विस्तार से समझाया है।

साक्षात्कृतधर्मा कणाद ने पदार्थों की तत्वज्ञान-विज्ञप्ति के लिए सबसे पहिले विधान अन्तःकरण की शुद्धि के लिए किया है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए उन्होंने, धर्मप्रवण होना आवश्य बताया है; क्योंकि धर्मप्रवण हुए बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता है; और इसलिए, अशुद्ध अन्तःकरण में विद्या का कथमपि प्रकाश नहीं हो सकता है। कणाद-दर्शन, इसीलिए धर्मप्रधान दर्शन है और उसका आरम्भ धर्म की व्याख्या से ही होता है। कणाद-दर्शन के प्रथम चार सूत्र है:

१ 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।' २ 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' ३ 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।' ४ 'धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।'

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः

अर्थात् अब हम जिज्ञासु और सुपात्र शिष्यों के लिए धर्म की व्याख्या करेंगे। धर्म वह है, जिसके सेवन से स्वर्ग और मुक्ति सुलभ हो जाते हैं। धर्म, क्योंकि वेदविहित होने के कारण अनुष्ठानयोग्य है और वेद, जिनमें धर्मानुष्ठान

का विधान है, ईश्वर-वचन होने के कारण स्वतः प्रमाण हैं। धर्म-विशेष ही पदार्थों के तत्त्वज्ञान का मूलकारण है। तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हो जाने के बाद साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव, इन सात भाव-पदार्थों का ज्ञान होता है। अतएव धर्मानुचरण आवश्यक है।

महर्षि कणाद के मतानुसार जीवात्मा और परमात्मा दोनों का अस्तित्व है और दोनों नित्य हैं। पदार्थ-ज्ञान के वैशिष्ट्य को बतानेवाले इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक' दर्शन पड़ा।

उद्देश-लक्षण-परीक्षा और उद्देश-विशेष-विभाग, इन भेदों का इस दर्शन में विवेचन है। पदार्थ-ज्ञान के लिए किसी वस्तु का नामोच्चारण उद्देश और उद्दिष्ट पदार्थों के भेद को स्पष्ट करना विभाग है। वस्तु के अनुगत धर्म को बताने वाला वाक्य लक्षण है।

१. पदार्थ सात है। इन पदार्थों में क्रिया और गुण का आश्रय एवं समवायीकारण ही द्रव्य-पदार्थ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये नौ द्रव्य हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु जब तक द्रव्य है, तब तक उनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श, ये गुण बने रहते हैं। आकाश का गुण शब्द है। अप्रत्यक्ष आकाश शब्दगुणी होने के कारण अनुमान-गम्य है। काल और दिक् बुद्धि का कारण हैं। आत्मा चेतन्याश्रित है। वह नित्य और विभु (व्यापक) है। नित्यज्ञान, नित्यइच्छा और नित्यसंकल्प युक्त सृष्टि का संचालक परमात्मा, जीवात्मा से भिन्न है। परमात्मा एक है जीवात्मा अनेक। इन्द्रियों के संयोग से सुखादिक विषयों का ज्ञान-साधन मन है। वह अणु और शीघ्रगामी है। इन्द्रियों का आपसी सम्बन्ध एक काल में एक साथ है; किन्तु मन का इन्द्रियों के साथ एक काल में एक ही साथ सम्बन्ध नहीं, युगपद् ज्ञान की प्रतीतिमात्र है। यह प्रतीति भ्रम है।

अंधकार द्रव्य नहीं है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये चार द्रव्य अनित्य है। इनके परमाणु नित्य हैं। शरीर चार प्रकार के हैं: अंडज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज।

२. द्रव्याश्रयी गुण कर्मरहित 'गुण' है। उसके चौबीस भेद हैं। उनके भी उपभेद हैं। बुद्धि भी चौबीस गुणों में एक है। बुद्धि दो प्रकार की है: संशयबुद्धि और निश्चयबुद्धि। अनिश्चय ज्ञान का नाम संशय और संशय-

रहित ज्ञान का नाम निश्चय है। बुद्धि के दो भेद और हैं : प्रमा और अप्रमा। प्रमा का दूसरा नाम विद्या और अप्रमा का दूसरा नाम अविद्या है। प्रमा से भिन्न बुद्धि अप्रमा है। अप्रमा के तीन भेद हैं : संशय, विपर्यय और स्वप्न। उल्टे निश्चय का नाम विपर्यय है और स्वप्न में प्रमारूप जो ज्ञान है वह स्वप्नांतिक कहलाता है।

यथार्थ ज्ञान का नाम प्रमा है, इसी को विद्या भी कहते हैं। प्रमाज्ञान भी दो प्रकार का है : प्रत्यक्ष और अनुमान। चक्षुरादि इंद्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष और व्याप्ति के द्वारा हेतु को देखकर जो ज्ञानोपलब्धि होती है वह अनुमान ज्ञान है। एक स्मृतिज्ञान है और दूसरा आर्षज्ञान। अनुभव की हुई वस्तु को याद करना स्मरण और मणि, मंत्र, औषधि से व्यवहित ज्ञान आर्ष कहलाता है। इस आर्षज्ञान का दूसरा नाम सिद्धज्ञान भी है, जो धर्ममूलक है।

देह के आभ्यन्तरिक व्यापार को यत्न कहते हैं। यह भी प्रवृति, निवृति और जीवनयोनि से तीन प्रकार का होता है। प्रवृति का कारण यत्न 'प्रवृति', निवृति का कारण यत्न 'निवृति' और श्वास, प्रश्वास का हेतु यत्न 'जीवनयोनि' है।

३. द्रव्य में रहनेवाला, गुण रहित और संयोग-विभाग को करने में किसी की अपेक्षा न रखने वाला 'कर्म' कहलाता है।

४. पदार्थों की एकाकार प्रतीति का कारण सामान्य है। सामान्य कहते हैं जाति के लिए; जैसे : गो आदि। जाति के दो प्रकार है परा और अपरा। पराजाति बहुत्वव्यापी है, जैसे : द्रव्य, गुण, कर्म, इन तीनों में रहती है। द्रव्यत्व द्रव्य में, गुणत्व गुण में और कर्मत्व कर्म में रहने के कारण तीनों में अपराजाति मानी गई है।

५. पृथिवी, जल, तेज, वायु, इनके परमाणुओं में और आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन इन नित्य द्रव्यों में रहने वाला 'विशेष' हैं।

६. नित्य संबंध का नाम 'समवाय' है।

७. अभाव चार प्रकार का है : प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। होगा, यह प्रागभाव है। टूट गया, यह प्रध्वंसाभाव है। गो, घोड़ा नहीं तथा घोड़ा गो नहीं, यह अन्योन्याभाव है और सर्वथा अभाव यह अत्यन्ताभाव है।

'वैशेषिक सूत्र' में दस अध्याय और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक है। वैशेषिक दर्शन में धर्म को मोक्षमूलक कहा गया है। इसलिए सूत्रकार ने अपने ग्रंथ का आरंभ 'धर्म की व्याख्या' से किया है। धर्म वह है, जिससे अभ्युदय और मोक्ष की उपलब्धि होती है।[1] धर्म विशेष से उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन षट् पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्यपूर्वक तत्वज्ञान से ही मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस की उपलब्धि होती है।[2]

द्रव्य-पदार्थ के अन्तर्गत पञ्चभूत, दिक्, काल, आत्मा और मन की गणना की जाती है।[3] गुण-द्रव्य सप्तदशविध है: रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।[4] सत्ता, अनित्यता, द्रव्यवत्ता, कार्यत्व, कारणत्व, और विशेष वाला होना, यह द्रव्य, गुण, कर्म के सामान्य धर्म है।[5] इसी प्रकार क्रिया और गुणयुक्त, समवायिकारण द्रव्य होता है।[6]

इसके उपरांत कार्य-कारण-भाव-संबंध, सामान्य-विशेष-भाव-संबंध नित्य-अनित्य-पदार्थ-प्रतिपादन और सत्-असत् कार्यों की मीमांसा की गई है। सूत्रकार ने वेद-वचनों को, ईश्वर-वचन होने के कारण, उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है।[7]

मीमांसा दर्शन

महर्षि जैमिनि मीमांसासूत्रों के निर्माता हैं। इस सूत्रग्रन्थ का निर्माण-काल विक्रमी के लगभग पाँच-सौ वर्ष पूर्व हो चुका था।[8] 'महाभाष्य' में आचार्य काशकृत्स्न के मीमांसा-ग्रन्थ का उल्लेख भी हुआ है। इसी प्रकार दूसरी शताब्दी ईसवी के आचार्य उपवर्ष और भावदास के वृत्तिग्रन्थों की भी चर्चा मात्र मिलती है; किन्तु प्रमाण रूप में वे उपलब्ध नहीं होते।

जैमिनि के बाद मीमांसा-दर्शन के विख्यात आचार्य शबरस्वामी हुए, जिनके भाष्य-ग्रन्थ में मीमांसा-दर्शन की विलुप्त-परंपरा पुनरुज्जीवित हुई।

---

१. यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः-वैशेषिक सूत्र १।१।२

२. वही १।१।४ | ३. वही १।१।५

४. वही १।१।६ | ५. वही १।१।८

६. वही १।१।१५ | ७. वही १०।२।९

८. बलदेव उपाध्यायः संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६२

जैमिनि-सूत्रों पर सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक भाष्य शबरस्वामी का है। इसी शाबर-भाष्य से मीमांसासूत्रों पर लिखी हुई उपवर्ष की एक प्राचीन वृत्ति का पता चलता है, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है।

शबरस्वामी मीमांसा-दर्शन के प्राणभूत आचार्य माने जाते हैं। उनकी उज्ज्वल कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने वाला उनका भाष्य ग्रन्थ है, जो कि 'द्वादशलणी' मीमांसा पर लिखा गया है। कुमारिल स्वामी (सप्तम शतक) से लेकर मुरारि मिश्र (द्वादश शतक) तक विभिन्न संप्रदायों के अनेक मीमांसकों ने जिन महानतम कृतियों का निर्माण किया, उन सब का मूल आधार शाबर-भाष्य ही है। शाबर-भाष्य मीमांसाशास्त्र की शाखा-प्रशाखाओं का मूल है।

शावर-भाष्य के तीन टीकाकारों ने तीन नवीन संप्रदायों की प्रतिष्ठा की, जिनके नाम हैं : भाट्टमत, गुरुमत और मुरारिमत। भाट्टमत के प्रवर्तक कुमारिल स्वामी हुए। कुमारिल जैसे प्रखर बुद्धि वाले तार्किक का ही कार्य था कि जिसने एक ओर तो अपनी अद्भुत तार्किक-शैली से बौद्ध-न्याय के बढ़ते हुए प्रभाव को क्षीण किया और दूसरी ओर अपने सिद्धान्तों को धार्मिक संप्रदाय का रूप देकर मीमांसा-दर्शन की लोकप्रियता को बढ़ाया। कुमारिल स्वामी का स्थितिकाल सातवीं शताब्दी था।[1]

गुरुमत संप्रदाय की अधिष्ठाता आचार्य प्रभाकर हुए। आधुनिकतम नई मान्यताओं ने अब इस मत को सर्वथा निरर्थक साबित कर दिया है कि प्रभाकर, कुमारिल के शिष्य थे और गुरु की उपाधि भी उन्हें कुमारिल द्वारा दी गई थी। प्रभाकर का स्थितिकाल ६५० ई० था।[2] तीसरे मुरारिमत संप्रदाय के प्रवर्तक मुरारि मिश्र हुए, जिनके मत को गंगेश उपाध्याय जैसे प्रखर दार्शनिक ने अपनी 'तत्त्वचिन्तामणि' में प्रामाणिकता से उद्धृत किया है।

इस प्रकार शावर-भाष्य का महत्त्व सहज में ही जाना जा सकता है। जनश्रुतियों के अनुसार शबरस्वामी प्रतापी सम्राट् विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य के पिता थे और उनकी चार पत्नियाँ चारों वर्णों की थीं, जिनमें क्षत्रिय पत्नी से विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। किन्तु यह किंवदन्ती कुछ भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखती है।

---

१. देवराज उपाध्याय : भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० २८७

२. वही, पृ० २८७

भारत की अपूर्व बौद्धिक अभ्युन्नति का युग

शाबर-भाष्य के कुछ आंतरिक प्रमाणों से विदित होता है कि उसकी रचना गुप्तकाल में हुई[1]। उसमें शून्यवाद, विज्ञानवाद जैसे सिद्धान्तों के उल्लेख के अतिरिक्त महायान संप्रदाय का स्पस्ट उल्लेख है। महायान संप्रदाय की प्रामाणिक जन्मतिथि कनिष्क की चौथी 'बौद्ध-संगीति' है। अतः गुप्तयुग में कहीं उनका स्थितिकाल था।

गुरुमत और भाट्टमत

शाबर-भाष्य के प्रभाकर और कुमारिल दो प्रकाण्ड टीकाकरों के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर उनकी असमानता का सहज में ही पता चल जाता है। प्रभाकर ने अपनी टीका में जहां भाष्यकार के सिद्धान्तों की ही पुष्टि की है, वहाँ कुमारिल ने कहीं-कहीं पर भाष्यकार के सिद्धान्तों की अवहेलना कर अपने स्वतंत्र मत की पुष्टि भी की है। इन दोनों सुप्रसिद्ध टीकाकारों की सैद्धान्तिक मान्यताओं में असमानता का कारण यही है और इसी कारण प्रभाकर ने अपने अलग 'गुरुमत' की प्रतिष्ठा कर और कुमारिल ने अपने 'भाट्टमत' की प्रतिष्ठा कर मीमांसा-दर्शन के क्षेत्र में दो दर्शन-संप्रदायों को जन्म दिया, आगे चलकर उनके अनुयायियों ने जिनका स्वतंत्र विकास किया।

दोनों मतों के अनुयायियों और उनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् विदित होता है कि 'गुरुमत' की अपेक्षा 'भाट्टमत' को अधिक अपनाया गया। उसका एक मात्र कारण 'भाट्टमत' की वैज्ञानिक ढंग से पदार्थ-विवेचन की क्षमता दिखाई देती है।

प्रभाकर के 'गुरुमत' पर उनके शिष्य शालिकानाथ की 'प्रकरणपञ्जिका' प्रसिद्ध है। शालिकानाथ ने शाबर-भाष्य पर एक परिशिष्ट भी लिखा। भाट्टमतानुयायियों की कृतियों में पार्थसारथि मिश्र की 'शास्त्रदीपिका' मंडन-मिश्र का 'विधिविवेक' तथा 'भावनाविवेक', माधवाचार्य का 'न्यायमाला-विस्तर', खंडदेव की 'भाट्टदीपिका' तथा हाल ही में प्राप्त 'मानमेयोदय' उल्लेखनीय हैं। भाट्टमतानुयायी मीमांसकों में वाचस्पति मिश्र, उम्बेक, विश्वेश्वरभट्ट, अप्पयदीक्षित और अनन्तदेव का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त आपदेव का 'मीमांसान्यायप्रकाश' और लौगाक्षिभास्कर का 'अर्थ-संग्रह' भी मीमांसा-दर्शन की गणनीय कृतियाँ हैं।

---

१. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, २, पृ० १२३

जैमिनि का मीमांसा सूत्र

जैमिनि मीमांसा-दर्शन के प्रवर्तक और उनका 'मीमांसासूत्र' मीमांसा दर्शन का अमर स्मारक है। 'मीमांसासूत्र' १२ अध्यायों में विभक्त और प्रत्येक अध्याय कई पादों में है। संपूर्ण पादों की संख्या ६० है। प्रत्येक पाद कई अधिकरणों में विभाजित है। अधिकरणों की कुल संख्या ९०७ है। प्रत्येक अधिकरण कई सूत्रों को मिलाकर बने हैं। 'मीमांसासूत्र' के कुल सूत्रों की संख्या २७४५ है। मीमांसा दर्शन के सूत्र सब दर्शनों के सूत्रों से प्राचीन माने जाते हैं।

मीमांसा-दर्शन का प्रत्येक अधिकरण विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धांत, इन पाँच भागों में विभक्त है। प्रत्येक सूत्र को समझने के लिए इनमें से एक भाग को पहिले समझना आवश्यक है। ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय के लिए उपक्रम (आरंभ), उपसंहार (समाप्ति), अभ्यास (बार-बार कथन), अपूर्वता (नवीनता), फल (उद्देश्य), अर्थवाद (सिद्धांत-प्रतिपादन के लिए दृष्टान्त, उपमा आदि) और उपमिति (साधक प्रमाणों द्वारा सिद्धि) इन सात बातों का ज्ञान आवश्यक है। ये सात बातें मीमांसासूत्रों के अर्थोद्घाटन की कुञ्जी हैं।

पूर्व मीमांसा कर्मकाण्डप्रधान दर्शन है। उसका कर्मफल में विश्वास होता है। मीमांसक को किसी बात के लिए यह निर्णय करना आवश्यक होता है कि वह बात विधि-वाक्य (प्रधान कर्मसूचक) है या केवल अर्थवाद (गौणवचन) ही।

आत्मा, ब्रह्म और जगत् आदि के संबंध में यह दर्शन सर्वथा मौन है। एतदर्थ ही इसको अनीश्वरवादी दर्शनों की कोटि में रखा गया है। वेद और उसके वाक्य की नित्यता प्रतिपादन करना इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है। उसमें मन्त्र की सत्ता सर्वोपरि मानी गई है। कर्म और कर्मफल के अतिरिक्त तीसरी बात को बताने में यह दर्शन एकदम मौन है। अतएव मीमांसकों का कथन है कि कर्म और उसके प्रतिपादक वचनों के अतिरिक्त न तो कोई देवता है और न कोई ब्रह्म-सत्ता।

दर्शन, ज्ञान का ही दूसरा नाम है। ज्ञान की सम्यक् मीमांसा प्रमाण परीक्षा से की जाती है। इस प्रमाण्यवाद का निरूपण नैयायिकों और मीमांसकों ने अपने-अपने ढंग से किया है। किन्तु मीमांसकों और नैयायिकों

में भेद यह है कि मीमांसक जब कि शब्द को नित्य मानते हैं; किन्तु नैयायिक अनित्य। सांख्य और मीमांसा दोनों दर्शन अनीश्वरवादी हैं; किन्तु दोनों वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास करते हैं। दोनों की दृष्टि में भेद इतना ही है कि सांख्य की दृष्टि से वेद प्रत्येक कल्पान्त में नवीनरूप धारण करता है; जब कि मीमांसा की दृष्टि में वह कल्पान्त में भी अविनश्वर है।

आस्तिक दर्शन के सभी सम्प्रदाय वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। किन्तु मीमांसा-दर्शन के सिद्धान्तों की प्रायः पूरी आधारभूमि श्रुति पर आधारित है। वैदिक साहित्य के कर्मकाण्ड भाग के प्रतिनिधि ग्रन्थों की कर्म-भावना को लेकर पूर्वमीमांसा दर्शन की रचना हुई और उपनिषद्-ग्रन्थों की ज्ञान-भावना को लेकर उत्तर मीमांसा दर्शन का प्रणयन हुआ। पूर्व मीमांसा में पूर्व के विचार और उत्तर मीमांसा में उत्तर के विचार निबद्ध हैं।

विद्या के दो प्रकार है : परा और अपरा। विद्या के परा भाग के अन्तर्गत न्याय, सांख्य, एवं उत्तर मीमांसा की गणना की गई, जो कि क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम अधिकारियों के लिये है; और दूसरी अपरा विद्या का प्रतिपादक दर्शन अकेला पूर्वमीमांसा है। वेद में निन्नानवे प्रतिशत भाग कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड का है और एक प्रतिशत भाग ज्ञानकाण्ड का। कर्मकाण्ड कनिष्ठ अधिकारी के लिये, कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड मध्यम अधिकारी के लिये और कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड उत्तम अधिकारी के लिये है।

मीमांसा-दर्शन के 'पूर्व' और 'उत्तर' का क्रम उनके निर्माण का क्रम नहीं है। उत्तरमीमांसा से पहिले रचे जाने के कारण इसका नाम पूर्वमीमांसा नहीं पड़ा है; वरन्, 'पूर्व' से अर्थ मनुष्य के प्रथम कर्म 'कर्मकाण्ड' से है और उत्तर से अर्थ तदुपरान्त के ज्ञानकाण्ड से है।

पूर्वमीमांसा यज्ञप्रधान दर्शन होने के कारण यज्ञविद्या, कर्मप्रधान दर्शन होने के कारण कर्ममीमांसा और द्वादश अध्यायी होने के कारण द्वादशलक्षणी भी कहा जाता है। उत्तर मीमांसा का दूसरा नाम वेदान्त है।

मीमांसादर्शन का विषय धर्म-विवेचन है: 'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्'।[1] मीमांसा का प्राचीन नाम न्याय होने के कारण मीमांसाशास्त्री ही प्रथम नैयायिक ठहरते हैं। शब्द-ज्ञान मीमांसा-दर्शन का प्रधान सिद्धान्त

---

१. श्लोकवार्तिक, श्लो० ११

है। मीमांसकों की सिद्धान्त-प्रतिपादन शैली बहुत ही समर्थ और अद्भुत तर्कपूर्ण है। जैसे 'पद' ज्ञान के लिये व्याकरण और 'प्रमाणज्ञान' के लिये न्याय का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, ठीक वैसे ही 'वाक्य' ज्ञान के लिये मीमांसा की आवश्यकता है। वाक्यार्थ-ज्ञान का मौलिक विश्लेषण कुमारिल स्वामी के 'अभिहितान्वयवाद' और प्रभाकराचार्य के 'अन्विताभिधानवाद' में बहुत ही व्यापकता से प्रतिपादित है।

वैदिक कर्मकाण्ड-विहित सिद्धान्तों के विरोधों के निराकरण में 'एकवाक्यता' का प्रतिपादन 'तैत्तिरीय संहिता',[1] 'ताण्डयब्राह्मण'[2] और 'छान्दोग्य उपनिषद्'[3] आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित है। वेद स्वयंसिद्ध, नित्य और अपौरुषेय है। भगवान् बादरायण कर्मप्रधान इस जगत् में संपूर्ण कर्म-फलों का प्रदाता ईश्वर को मानते हैं। आचार्य जैमिनि फलाफल का कारण ईश्वर को न मान कर यज्ञ, अनुष्ठान आदि विधानों को मानते हैं। यज्ञ, यागादि विधानों के द्वारा फलप्राप्ति का जो सूदूरभावी समय है उसकी दूरी को समझने के लिए मीमांसकों ने 'अपूर्व' के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर समझाया है कि कर्मों से अपूर्व, अर्थात् पुण्यापुण्य की उपलब्धि होती है और अपूर्व संकल्प प्राप्ति।

सूत्रकार जैमिनि ने तीन प्रमाण माने हैं: प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति को भी प्रमाण माना है और कुमारिल ने प्रभाकर के मत में अभाव को भी जोड़ दिया है। प्रभाकर के मतानुसार 'स्मृति' प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रमाण अनुभूतिजन्य ज्ञान है, जो स्मृतिजन्य ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। स्मृति, पूर्वज्ञान की अपेक्षा रखने के कारण प्रमाण नहीं है। स्मृतिजन्यज्ञान में भ्रम की संभावना रहती है।[4]

मीमांसा के मतानुसार ज्ञान प्रत्यक्षगम्य नहीं है, स्वतः प्रकाश है। प्रत्यक्ष बुद्धि अर्थविषयक होती है, बुद्धिविषयक नहीं 'अर्थविषये हि प्रत्यक्ष-बुद्धिः, न बुद्धिविषये।' प्रत्यक्ष, पदार्थों का होता है, न कि पदार्थों ज्ञान का, संवित् कभी संवेद्य नहीं होती है।[5]

प्रत्यक्ष प्रमाण सविकल्पक और निर्विकल्पक, दो प्रकार का होता है। प्रभाकर के मतानुसार निर्विकल्पक और सविकल्पक, दोनों प्रकार के ज्ञान

---

१. तैतिरीय संहिता, ७-५।७।१   २. ताण्ड्य ब्राह्मण ६।५।९
३. छान्दोग्य उपनिषद् ५।११।१   ४. कीथ : कर्म मीमांसा, पृ० २०
५. डॉ० गंगानाथ झा : प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व मीमांसा, पृ० २६

प्रमाण हैं, क्योंकि दोनों ही ज्ञाता को व्यवहार में लगा सकते हैं।[1] कुमारिल के मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु की श्रेणी या जाति तथा विशेष धर्म की प्रतीति नहीं होती है।[2] कुमारिल के मतानुसार अहंप्रत्यय द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है। वह जड़-बोधात्मक है; किन्तु प्रभाकर के मतानुसार ज्ञाता कभी अपना ज्ञेय नहीं हो सकता है। आत्मा ज्ञाता है; प्रत्येक ज्ञान में वह ज्ञाता के ही रूप में प्रकाशित होता है। आत्मा स्वयंप्रकाश नहीं, जड़ है।[3]

मीमांसा अनीश्वरवादी दर्शन है; किन्तु वह वेदों की नित्यता को स्वीकार करता है। इसलिए मीमांसा-दर्शन ईश्वर-अविश्वासी; किन्तु वेद-विश्वासी होने पर ही आस्तिक है। वेदों के शब्द, वाक्य और वाक्यों का क्रम मीमांसकों के अनुसार नित्य है। कुमारिल ने शब्द को एक द्रव्य माना है। शब्द नित्य है, उसका अर्थ भी नित्य है और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। शब्द की नित्यता पर मीमांसकों ने जो युक्ति-संगत तर्क दिए हैं, वे वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से सही है।[4]

कुमारिल के मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव ये पाँच पदार्थ हैं; किन्तु प्रभाकर के मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय (पारतंत्र्य), शक्ति, सादृश्य और संख्या, आठ पदार्थ है।[5]

पूर्व मीमांसा कर्म-प्रधान दर्शन है। उसने संपूर्ण कर्मों को तीन श्रेणियों में बाँटा है : काम्य, निषिद्ध और नित्य। किसी कामना की पूर्ति हेतु संपादित कर्म 'काम्य' कहलाते हैं। पुत्र, धन-धान्य, ऐश्वर्य या स्वर्ग प्राप्ति के लिए किये गये यज्ञानुष्ठान काम्य कर्म है। वेद-असंमत कर्म 'निषिद्ध' कर्म है। नित्य कर्म वे हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को करने चाहिए। सार्वभौम महाव्रत नित्य कर्म है। गुरुमत और भाट्टमत, दोनों ने नित्य कर्मों के संपादनार्थ बड़ा जोर दिया है। मीमांसकों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि भले ही काम्य-कर्मों और निषिद्ध कर्मों को न किया जाय; किन्तु नित्य कर्मों को करते रहना चाहिए। मुक्ति-लाभ के वे ही एकमात्र साधन है।[6]

---

१. हिरियन्ना : आउट लाइन्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी, पृ० ३०४

२. कीथ : कर्म मीमांसा, पृ० २६

३. हिरियन्ना : आउट लाइन्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी, पृ० ३०५

४. हिरियन्ना : आउट लाइन्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी, पृ० ३०९-३१०

५. डॉ० गंगानाथ झा : प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व मीमांसा, पृ० ८८

६. सुरेश्वराचार्य : नैष्कर्म्यसिद्धि १।१०।११

आत्मा जब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि धर्मों से छूट जाता है तब उसे मुक्त कहा जाता है। मोक्षावस्था में आत्मा, ज्ञान और आनन्द से भी आगे बढ़ जाता है।

उत्तर मीमांसा (वेदान्त-दर्शन)

मीमांसा-दर्शन के प्रसंग में संकेत किया जा चुका है कि उपनिषद्-ग्रन्थों की ज्ञानभावना को लेकर उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन का निर्माण हुआ है। उपनिषद्, क्योंकि, वैदिक साहित्य के अन्तिम हिस्से हैं, इसीलिए इस उत्तरमीमांसा का नाम वेदान्त दर्शन भी पड़ा। उपनिषद्-ग्रन्थों में वेदान्त का एक नाम 'श्रुति' भी है।[1] जिससे उपनिषद्, वेदान्त और श्रुति तीनों शब्द पर्यायवाची सिद्ध होते हैं।

वेदान्त का 'अन्त' शब्द उपनिषदों का परिभाषिक शब्द है, जिसको 'तात्पर्य', 'सिद्धान्त' या 'मन्तव्य' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वैदिक ज्ञान का अन्त अर्थात् पर्यवसान, ब्रह्मज्ञान में है, जिसका प्रतिपादन वेदान्त दर्शन में है।

'वेदान्तसूत्र' के रचयिता कृष्णद्वैपायन वेदव्यास थे। कृष्णद्वैपायन का एक नाम वादरायण भी था। इसीलिए 'वेदान्तसूत्र' का दूसरा नाम 'वादरायण-सूत्र' भी है। कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का समय और उनके जीवनचरित्र का विस्तार से वर्णन 'महाभारत' तथा वेदव्यास के प्रशंग में किया जा चुका है।

'वेदान्तसूत्र' की रचना का प्रमुख कारण उपनिषद्-ग्रन्थों की अनेक मुखी उद्भावनाओं की संगति के लिए था। सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि उपनिषद्-ग्रन्थों की स्थापनाओं में जो वैभिन्य की प्रतीति होती है, वह वास्तविक नहीं है; उनके प्रति अल्पज्ञान का ही यह कारण है। सारे उपनिषद् एक ही दार्शनिक मत का प्रतिपादन करते हैं।

वेदान्त विषय पर वादरायण व्यास से भी पूर्व काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि, आश्मरथ, जैमिनि और वादरि आदि दार्शनिक प्रकाश डाल चुके थे, जिनके मतों का वादरायण ने स्थान-स्थान पर हवाला दिया है; किन्तु वादरायण ने जिन सूत्रों की रचना की वे पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के सूत्रों से अधिक

१. मुण्डकोपनिषद् ३।२।६; श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१२

पण्डित्यपूर्ण, युक्तियुक्त और वैज्ञानिक ढंग के थे। इसलिए उन अनेक आचार्यों के सूत्रों में केवल वादरायण के ही सूत्र अपनी लोकप्रियता के कारण समय की गति में विलुप्त होने से बच गए।

पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा, दोनों श्रुति पर आधारित हैं। दोनों दर्शनों की श्रुतिसंगत व्याख्या करना मात्र ही उद्देश्य है। इस दृष्टि से वे परस्पर एक-दूसरे के पूरक भी हैं। किन्तु उत्तरवर्ती भाष्यकारों, व्याख्याकारों और टीकाकारों ने दोनों दर्शनों का विकास अलग-अलग ढंग से कर उनको सर्वथा असमान स्थिति में रख दिया। हम देखते हैं कि एक ही उद्गम से उद्भूत, अभिन्न उद्देश्य को लेकर चलने वाले उपनिषद्, गीता और वेदान्त-सूत्र एक 'प्रस्थानत्रयी' के अन्तर्गत परिगणित होने पर भी उनकी व्याख्याओं ने उनको सर्वथा असमान रूप दे दिया। एक ही वेदान्त-विषय में स्थान पानेवाली 'प्रस्थानत्रयी' का दार्शनिक दृष्टि से विभेद हो जाने के कारण वेदान्त से अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक वादों का अविर्भाव हुआ; जिनके उद्भावक आचार्यों और जिनके अनुयायी विद्वानों ने अपने-अपने स्वतंत्र संप्रदायों की प्रतिष्ठा कर डाली, आगे चलकर जो संप्रदाय अत्यन्त ही लोकविश्रुत हुए।

'वेदान्तसूत्र' या 'ब्रह्मसूत्र' पर सभी संप्रदायों के आचार्यों ने भाष्य लिखे। 'ब्रह्मसूत्र' पर शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य ने भाष्य लिखे। इनमें शांकर-भाष्य और रामानुज का 'श्रीभाष्य' ही अधिक प्रसिद्ध है। उक्त आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार भाष्य लिखे, जिससे 'वेदान्तसूत्र' के बहुमुखी ज्ञान का परिचय मिलता है। इन आचार्यों के संप्रदायों के अनुवर्ती विद्वानों ने उन पर अनेक टीकाएँ लिखीं।

यद्यपि वेदान्त-दर्शन की मान्यताओं को लेकर विभिन्न वादों एवं संप्रदायों की प्रतिष्ठा हुई; किन्तु 'वेदान्त' के नाम से शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित 'अद्वैतवाद' ही अधिक प्रसिद्धि पा सका। शांकर-भाष्य ही वेदान्तसूत्रों का प्रामाणिक भाष्य माना जाता है।

उक्त आचार्यों के अतिरिक्त भास्कर, यादव प्रकाश, केशव, नीलकंठ, बलदेव, विज्ञान भिक्षु प्रभृति विद्वानों ने भी 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखे; किन्तु उनकी लोकविश्रुति इतनी नहीं हुई। दूसरे भी विद्वानों ने सूत्रों पर व्याख्याएँ लिखी। द्राविड़, टंक, भारुचि, भर्तृप्रपंच, कपर्दी, ब्रह्मानंद, गुरुदेव आदि

व्याख्याकारों का नाम लिया जाता है; किन्तु उनके व्याख्या-ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं।

कृष्णद्वैपायन का ब्रह्मसूत्र

वैदिक धर्म तंत्रप्रधान धर्म था। उसके गूढ़ तत्त्वों का विवेचन भिन्न-भिन्न ऋषियों ने विभिन्न युगों में उपनिषद्-ग्रन्थों को रचकर किया। विभिन्न ऋषियों की अनेकमुखी विचारधाराओं में एकता बताने के अभिप्राय से बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की, जिससे कि 'ब्रह्मसूत्र' को भी उपनिषद्-ग्रन्थों की उच्चकोटि में स्थान प्राप्त हुआ।

किन्तु वैदिक धर्म के प्रवृत्तिविषयक ज्ञान का प्रतिपादन न तो उपनिषद् ही कर सके और न 'ब्रह्मसूत्र' ही; उसकी गम्भीर चिन्तना, 'गीता' में हुई। उपनिषद् और 'ब्रह्मसूत्र' के तत्त्वज्ञान को पूर्णता प्रदान करने वाले ग्रंथ 'गीता' को भी उन्हीं के समान माना जाने लगा, जिससे इन तीनों को मिलाकर एकनाम 'प्रस्थानत्रयी' से कहा जाने लगा। प्रस्थानत्रयी का अर्थ है वैदिक धर्म के आधारभूत तीन प्रधान ग्रन्थ। उनमें वैदिक धर्म के प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों पक्षों का प्रतिपादन है।[1]

वेदान्त दर्शन के अनुसार बहुसंख्य देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, स्थावरजंगात्मक समग्र विश्व-प्रपंच ब्रह्म-व्यतिरिक्त नहीं है। जो कुछ भी दृष्टिगत नानारूपधारी है, वह ब्रह्म-समाविष्ट है। वेदान्त-दर्शन के प्रतिपादक सूत्र 'ब्रह्मसूत्र' हैं। वेदान्त के तीन प्रधान ग्रंथों में उपनिषद् श्रुतिप्रस्थान, 'ब्रह्मसूत्र', न्यायप्रस्थान और 'गीता' स्मृतिप्रस्थान है। इन तीनों ग्रंथों में सारा वैदिक धर्म विलयित है। वैदिक धर्म के अनुयायी समाज के लिए वे सभी ग्रन्थ अमान्य थे, जिनमें इन तीन ग्रंथों का आधार नहीं था। फलतः बौद्ध-धर्म के पतन के बाद जो अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत प्रभृति धार्मिक संप्रदाय जन्मे उनके प्रवर्तक सभी आचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' पर अपने-अपने ढंग से भाष्य लिखे। अपने-अपने संप्रदायों के प्रचारार्थ और उनकी लोकविश्रुति के लिए इन तीन धर्म-ग्रंथों के सिद्धान्तों को अपनाना उस युग के धर्माचार्यों के लिए जरूरी हो हो गया था।

'ब्रह्मसूत्र' में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय चार पदों में विभक्त है। विभिन्न भाष्यकार आचार्यों ने इन सूत्रों की अर्थ-संगति और उनका

---

१. लो० तिलक : गीता रहस्य, पृ० ११-१२

विषय-वाचन अनेक मत से किया है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्मसूत्रों की अधिकरण-संख्या १९१, बलदेव भाष्य में १९८, श्रीकंठीय ब्रह्मसूत्र-मीमांसा-भाष्य में १८२, रामानुज भाष्य में १५६, निम्बार्क भाष्य में १५१, वल्लभाचार्य के अणुभाष्य में १६२ और मध्व के भाष्य में २२३ है। भास्कराचार्य और विज्ञानभिक्षु ने अधिकरण-संख्या की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। ऐसा अपवाद है कि 'ब्रह्मसूत्र' में ५५६ सूत्र थे।

'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वय' है, जिसमें ब्रह्म-निरूपण और विभिन्न श्रुतियों का समन्वय वर्णित है। दूसरे अध्याय का नाम 'अविरोध' है, जिसमें विरोधी दर्शनों का खण्डन करके युक्ति और प्रमाणों से वेदान्त मत का मण्डन किया गया है। तीसरे अध्याय का नाम 'साधन' है, जिसमें जीव और ब्रह्म के लक्षणों का प्रतिपादन करने के उपरान्त मुक्ति के बहिरंग एवं अंतरंग साधनों की मीमांसा और कर्मफलों का विवेचन है। चौथे अध्याय का नाम 'फल' है, जिसमें जीवन्मुक्ति, सगुण-निर्गुण-उपासना के फल पर तुलनात्मक प्रकाश डालने के उपरांत मुक्त-पुरुष का निर्देशन है।

ब्रह्म-जिज्ञासा के साथ 'ब्रह्मसूत्र' के विषय का आरंभ होता है।[1] वेदान्त के अनुसार ब्रह्म वह है, जिसके द्वारा इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय है।[2] ब्रह्म के सम्बन्ध में सूत्रकार के इस निर्देश को लेकर आचार्यों ने विभिन्न व्याख्याएँ की हैं।[3] इन विभिन्न आचार्यों ने ब्रह्मसूत्रों के अर्थ-ज्ञान को और उसके विषय को अनेक संगतियों के आधार पर स्पष्ट किया। प्रधानतया तीन संगतियों को भाष्यकारों ने सूत्रों के अर्थबोध का माध्यम बनाया। उनके नाम हैं : शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति और पादसंगति। इनके अतिरिक्त कुछ गौण संगतियों के नाम हैं : आक्षेपसंगति, प्रत्युदाहरणसंगति और प्रासंगिक संगति। 'ब्रह्मसूत्र' का प्रत्येक अधिकरण पंचावयव है : विषय, संशय, संगति, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष।

वेदान्त पराविद्या होने के कारण उत्तम अधिकारी के चिन्तन का विषय है। उसमें विशुद्ध ज्ञान का प्रतिपादन है। उत्तम पुरुष वह है जिसका अन्तःकरण ऐहिक या जन्मान्तर के कर्म या उपासना द्वारा शुद्ध हो चुका है। वही इस परमार्थ ज्ञान में प्रवृत्त हो सकता है। कर्मकाण्ड में विहित यज्ञ, दान, तप,

---

१. अथातो ब्रह्म जिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१।१

२. जन्माद्यस्य यतः—ब्रह्मसूत्र १।१।२

३. कर्मकर : कम्पैरिजन ऑफ दि भाष्याज्, पृ० ३३

स्वाध्याय आदि कर्मों से जिनका हृदय विशुद्ध है, जो योग-साधन द्वारा जितेन्द्रिय एवं विषयादिरहित हैं, ऐसे उत्तम मुमुक्षु पुरुषों के लिये अध्यात्म विद्या के उपदेश की इच्छा से प्रस्तुत दर्शन वेदान्त का निर्माण हुआ।

जगत्, जीव और ब्रह्म के स्वरूपों का विवेचन एवं उनके पारस्परिक संबंधों की मीमांसा प्रस्तुत दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है। सर्वसाधारण की स्कूल भावना के अनुकूल न्याय और वैशेषिक में जीव, जगत् और परमाणु, इन तीन तत्वों का विवेचन कर ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध किया है। वैशेषिक ने मूलरूप नित्य परमाणु के साथ ब्रह्म-संयोग से सृष्टि की उत्पति मानी है। सांख्य ने कुछ आगे बढ़कर पुरुष-प्रकृति के द्वारा सृष्टि के विकास की सूक्ष्म तात्त्विक विवेचना की है। सांख्य के इस स्वयंसृष्ट जगत् विषयक मत का न्याय ने यह कर खण्डन किया कि पुरुष जगत् का द्रष्टा है कर्ता नहीं।

वेदान्त ने सांख्य के प्रकृति-पुरुषरूपी द्वैधभाव को मिटा कर उनका समावेश एक ही परम तत्व ब्रह्म में किया। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् का निमित्त भी है और उपादान भी। इस एकीभाव के कारण ही वेदान्त को अद्वैतवादी दर्शन कहा जाता है।

इस नाना नाम-रूपात्मक भासमान जगत् के मूल में आधारभूत होकर रहनेवाले इस नित्य और निर्विकार ब्रह्मतत्व के स्वरूप का निरूपण भी वेदान्त में है। वेदान्त के अनुसार जगत् में जो नाना दृश्य दिखाई दे रहे हैं, वे सब परिणामी और अनित्य है। वे बदलते रहते हैं; किन्तु उनका ज्ञान करने वाला या दृष्टा आत्मा सदा एक स्वरूप रहता है। ब्रह्म नित्यस्वरूप या आत्मस्वरूप है। नाना ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञाता के ही सगुण, सोपाधि या मायात्मक रूप हैं, ऐसा जानकर ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत को वेदान्त दूर कर देता है।

सृष्टि विषयक ज्ञान के लिए वेदांत में तीन सिद्धान्त है: विवर्तवाद, दृष्टि-सृष्टि-वाद और अवच्छेदवाद। विवर्तवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त या कल्पित रूप है। उदाहरणार्थ रस्सी को यदि हम सर्प समझें तो रस्सी सत्यवस्तु है और सर्प उसका विवर्त या भ्रांतिजन्य प्रतीति। इसी सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए दृष्टि-सृष्टिवाद की आवश्यकता हुई। इसके अनुसार माया या नानारूप में मन की प्रवृत्ति हैं। मन से ही ये सृष्ट हैं। ये नाना नामरूप उसी प्रकार मन पर वृतियों से पृथक् कोई दूसरी वस्तु नहीं हैं

जड़ चित्त के बाहर की कोई वस्तु नहीं है। इन वृतियों का शमन करना ही मोक्ष-प्राप्ति है।

एक तीसरा वाद 'अवच्छेदवाद' उक्त दोनों वादों की कमी को पूरा करने के लिए सृष्ट हुआ, जिसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की जो प्रतीति होती है वह एकरस या अनवच्छिन्न सत्ता के भीतर माया द्वारा अवच्छेद या परिमिति के आरोप के कारण होती है।

वेदान्तियों का एक संप्रदाय उक्त तीनों वादों के स्थान पर एक ही 'विम्ब-प्रतिविम्बवाद' का अनुयायी है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म, प्रकृति या माया के बीच अनेक प्रकार से प्रतिबिंबित होता है, जिससे नाना नाम-रूपों की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त एक पांचवाँ 'अज्ञातवाद' है, जिसे 'प्रौढ़िवाद' की कहते हैं। यह वाद उक्त सृष्टिविषयक मतों को नहीं मानता है। उसके अनुसार जो जैसा है वह वैसा है और सब ब्रह्म है। ब्रह्म अनिर्वचनीय है। वह शब्दातीत है। हमारे पास जो भाषा है वह द्वैत की है, उसमें भेदबुद्धि है।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म यद्यपि स्वगत, सजातीय और विजातीय, इन तीनों भेदों से परे है; तथापि, व्यक्त और सगुणत्व भी उसके बाहर नहीं हैं। इस संबंध में 'पंचदशी' में कहा गया है कि रजोगुण की प्रवृति से प्रकृति दो रूपों में विभक्त होती है: सत्वप्रधान और तमःप्रधान। सत्वप्रधान प्रकृति के भी दो रूप हैं: शुद्धसत्य और अशुद्धसत्य। प्रकृति के इन्हीं भेदों में प्रतिबिंबित होने के कारण ब्रह्म में 'जीव' का स्वरूप-दर्शन हुआ है।

यही कारण है कि एक ही वेदान्त विषय को लेकर निर्गुण और सगुण, दोनों संप्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। अद्वैतरूप निर्गुण ब्रह्म के प्रधान आचार्य शंकर और सगुण, सोपाधि ब्रह्म के प्रधान आचार्य वल्लभ तथा रामानुज हुए, जिन्होंने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया।

शांकर दर्शन (अद्वैत वेदान्त)

भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में शंकराचार्य का प्रमुख स्थान है। आचार्य शंकर का अद्भुत व्यक्तित्व विश्व-दर्शन का प्रेरणाकेंद्र बना हुआ है। याज्ञवल्क्य, आरुणि, गौतम, कणाद, कपिल और वादरायण जैसे दिव्य

प्रतिभा की आर्ष विभूतियों की परंपरा में आचार्य शंकर का व्यक्तित्व स्थान पाने योग्य है। वे एक युग-प्रवर्तक असामान्य प्रतिभा के महापुरुष हुए हैं। शंकराचार्य की प्रतिभा का अनुमान, उनके भाष्य पर परवर्ती विद्वानों द्वारा लिखी गई प्रचुर टीकाओं और व्याख्याओं को देखकर, अनायास ही लगाया जा सकता है।

शङ्कराचार्य की जीवनावधि ६८८-७२० ई० के बीच ३२ वर्ष की बताई जाती है।[1] इस अल्पायु में ही उन्होंने जो अद्भुत कार्य किए, इतिहास में

---

१. शंकराचार्य के जन्म और निर्वाण के संबंध में बड़ा विवाद है। भारतीय साहित्य के किसी दूसरे महापुरुष के संबंध में इतने मत-मतान्तर नहीं रहे हैं। लगभग छठी शताब्दी ई० पूर्व से लेकर नवम शताब्दी ई० के बीच विभिन्न तिथियों में निर्णीत उनका स्थितिकाल सामान्य पाठक के लिए बड़ी उलझन की स्थिति पैदा कर देता है। उदाहरण के लिए देखिए :

जन्मकाल ५०२ ई० पूर्व, निर्वाणकाल ४७७ ई० पूर्व : कामकोटिपीठ (कुम्भकोणम्) के अनुसार तथा देवाकर मठ के अनुसार, देखिए-शंकर दिग्विजय

५९० ई० पूर्व : के० टी० तैलंग : इंडियन एंटीक्वेरी, भाग ११, पृ० १७४, २६३; भाग १३, पृ० ६५; भाग १४, पृ० ६४, १८५; भाग १८, पृ० ८२, २१८, २३७

तीसरी शताब्दी का उत्तरार्ध : बी० इंद्र : इंडियन एंटीक्वेरी, भाग १३, पृ० ४१२

चौथी शताब्दी से पाँचवीं श० : एन भाष्याचार्य : एज ऑफ शंकर, पृ० ४२

छठी शताब्दी : भंडारकर : रिपोर्ट, पृ० १५, १८८२-८३; ई० रामचंद्र : लाइफ्स ऑफ ईमिनेंट हिन्दू आथर्स, पृ० ५०;

६८८-७२० ई० : लो० तिलक : गीता रहस्य, पृ० ५६४-५६५ (महानुभाव पंथ के 'दर्शनप्रकाश' के आधार पर)

६५०-७४० : मोनियर विलियम्स : इंडियन विजडम, पृ० ४८; टी० फोक्स : जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो०, भाग १७, पृ० १९६

६५०-७५० ई० : बर्नेल तथा तारानाथ : एलिमेंट्स ऑफ साउथ इंडियन फिलासफी, पृ० ३३ तथा हिस्ट्री ऑफ बुधिज्म; पीटर्सन : सुभाषितावली की भूमिका, पृ० १२६; विंडिशमैन : शंकर; वेबर : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० ५१; मैक्डानल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २४२

सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध या आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध : राइस : मैसूर गजेटियर, भाग १, पृ० ३७७; फ्लीट : इण्डियन एंटीक्वेरी, भाग १२, पृ० ३५०; भाग १३, पृ० ४१२; भाग १४, पृ० ३५०

आठवीं शताब्दी : टीले : आउट लाइन्स ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ एंश्येण्ट रेलिजन्स, पृ० १४०; मैक्समूलर : इंडिया, पृ० ३६०; एम० बार्थ : दि रेलिजन्स ऑफ इण्डिया, पृ० ८९; कैवली रामास्वामी : डकन पोइट्स, पृ० ६; कॉवेल : सर्वदर्शन संग्रह की भूमिका, पृ० ८; गफ : प्रिफेस टु फिलासफी ऑफ दि उपनिषद्स, पृ० ८;

उनका स्थान अमर है। उनकी दैवीय प्रतिभा के अनुसार विश्वास किया जाता है कि आठ बर्ष की अल्पायु में ही वे वेदवित् हो चुके थे। वे बड़े कोमल हृदय और मातृ-भक्त थे। कहा जाता है कि संन्यासी होने पर भी उन्होंने अपनी मृतक माता का दाह-संस्कार हिन्दू-कर्मकाण्ड के अनुसार संपन्न किया था। उत्तराखंड की पवित्र धरा हिमालय पर स्थित केदारपुरी में उन्होंने शरीर त्यागा। आचार्य शङ्कर ने उपनिषद्, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता' इस 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य लिखा। शङ्कराचार्य जहाँ अद्वितीय दार्शनिक थे, वहाँ उच्चकोटि के कवि और बड़े भक्त-हृदय भी थे। 'उपदेशसाहस्री' 'शतश्लोकी' आदि उनकी दार्शनिक प्रतिभा के स्वतंत्र प्रकरण ग्रन्थ है। 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र,' 'हरिमीडे स्तोत्र,' 'आनंदलहरी' और 'सौन्दर्यलहरी' में उनके कविहृदय तथा भक्तहृदय के सरस उद्गार प्रगट हुए हैं।

शांकर-भाष्य पर आचार्य पद्मपाद की 'पंचदशिका' पहिली टीका है। तदनंतर वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका सर्वोत्तम है। वाचस्पति मिश्र की सभी आस्तिक दर्शनों पर लिखी हुई संपूर्ण टीका-कृतियों में 'भामती' का विशेष महत्त्व है। 'पंचपादिका' पर प्रकाशात्मन् ने 'विवरण' लिखा। 'भामती' पर अमलानन्द का 'कल्पतरु' और उस पर भी अप्पय दीक्षित का 'कल्पतरु-विमल' उल्लेखनीय है।

मीमांसा-दर्शन के गुरुमत और भाट्टमत की तरह वेदान्त-दर्शन में भी 'भामती' और 'विवरण' से दो संप्रदाय चले। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन-संग्रह', 'विवरण-प्रमेय-संग्रह' और 'पंचदशी' लिखकर वेदान्त की परंपरा को समृद्ध किया। शांकर-भाष्य पर आनंदगिरि और गोविन्दानंद ने क्रमशः 'न्याय-निर्णय' तथा 'रत्नप्रभा' दो टीकाएँ लिखीं। आचार्य शंकर के शिष्य

जैकब : ट्रांसलेशन ऑफ वेदांतसार, पृ० २८; आर० मित्र : नोटिसेज, भाग ७, पृ० १७

७८८-८२५ ई० : एम० ङफ तथा के० बी० पाठक : इण्डियन एंटीकेरी, भाग ११, पृ० १७४ तथा जर्नल ऑफ दि बम्बई ब्राँच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग १८, पृ० २१६; भारती, पृ० ५०, १९२५ ई०

नवम शताब्दी : विल्सन : फ्रिफेस टु दि सस्कृत डिक्शनरी, पृ० १७ तथा एसेज, भाग १; गजेटियर, भाग १, पृ० ३७७; डब्ल्यू० लोगन : इण्डियन एंटीकेरी, भाग १६, पृ० १६०; भाग ४०, पृ० ११६; वेंकटेश्वर : जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो०, पृ० १५१, १९१६; टेलर : डेडीकेशन टु दि ट्रांसलेशन ऑफ प्रबोधचद्रोदय

सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' और 'वार्तिक' दो ग्रंथ लिखे। सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञ मुनि ने भी 'संक्षेप शारीरिक' नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। वेदान्त के तर्कशैली के ग्रन्थों में महाकवि श्रीहर्ष का 'खंडनखंडखाद्य' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर चित्सुखाचार्य ने 'चित्सुखी' टीका लिखी। मधुसूदन सरस्वती का 'अद्वैतसिद्धि' भी वेदान्त का विद्वतापूर्ण ग्रन्थ है। तदनंतर धर्मराजाध्वरीन्द्र का 'वेदान्त-परिभाषा' और सदानंद का 'वेदान्तसार' की प्रसिद्धि है।

उपनिषद्, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता' पर विभिन्न संप्रदायों के अनेक आचार्यों ने अपने-अपने सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भाष्य, टीकाएँ, वार्तिक और तिलक आदि लिखे, जिनमें शंकराचार्य के अतिरिक्त रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य प्रधान भाष्यकार एवं विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों का नाम प्रमुख है।

विशिष्टाद्वैत

रामानुजाचार्य 'विशिष्टाद्वैत' मत के प्रवर्तक हुए। विशिष्टाद्वैत का दूसरा नाम 'श्रीसंप्रदाय' भी है। वेदान्त के आचार्यों में शङ्कराचार्य के बाद रामानुज ही अधिक ख्याति के आचार्य हुए। रामानुज ने शंकर के बौद्धिक दृष्टिकोण अद्वैतवाद के स्थान पर साधारण समाज के ज्ञातव्य ईश्वर को प्रेम, भक्ति, पूजा, उपासना, आकांक्षा और प्रयत्न के द्वारा प्राप्त करने की विधियों का वर्णन किया। सगुण, सोपाधि और सकरुण ब्रह्म के स्वरूप की विवेचना रामानुज ने ही की।

आचार्य रामानुज के दर्शन की आधारभूमि वैष्णव धर्म की मान्यताओं पर आधारित है। वैष्णव धर्म का इतिहास बहुत प्राचीन है; किन्तु उसके दार्शनिक आधार रामानुज से ही प्रतिष्ठित हुए। वैदिक युग के देवतावाद ने ही आगे चलकर भागवत धर्म की प्रतिष्ठा की, जो कि वैष्णव धर्म में नामान्तरित होकर उत्तरोत्तर समग्र भारत में विख्यात हुआ।

वैष्णव धर्म के दो संप्रदाय हैं। इन दोनों संप्रदायों की अलग-अलग दार्शनिक मान्यतायें है। इसी हेतु वैष्णव-साहित्य को 'उभय वेदान्त' कहा जाता है। रामानुज से पूर्व दक्षिण में यामुनाचार्य और नाथमुनि वैष्णव धर्म का प्रचार कर चुके थे। वैष्णवजन वेद, उपनिषद्, 'गीता', 'ब्रह्मसूत्र' के अतिरिक्त पुराण और तामिल भाषा के कुछ ग्रन्थों को 'आगम' कहकर प्रमाण

मानते हैं। आगम-ग्रन्थों की प्रामाणिकता के लिए ही यामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' तथा 'महापुरुषनिर्णय' दो ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'सिद्धित्रय' और 'गीतार्थसंग्रह' भी उन्होंने लिखे।

रामानुज के 'श्रीभाष्य' में वेदान्तसूत्रों की प्रामाणिक व्याख्या तो है ही, साथ ही वैष्णव-संप्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि का भी वह आधारस्तंभ है। इस भाष्य पर सुदर्शन भट्ट की प्रामाणिक 'श्रुतप्रकाशिका' टीका है। आचार्य रामानुज ने 'गीता-भाष्य', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदान्तसार' और 'वेदान्तदीप' आदि ग्रन्थ भी लिखे।

रामानुज-दर्शन की परम्परा में वेंकटनाथ या वेदान्तदेशिक एक विख्यात (१३५०) विद्वान् हुए। उन्होंने एक ओर तो शंकर के अद्वैत का बड़े पांडित्य-पूर्ण ढंग से खंडन किया और दूसरी ओर विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों को व्यवस्थित किया। उन्होंने 'श्रीभाष्य' पर 'तत्त्वटीका', 'गीताभाष्य' पर 'तात्पर्यचन्द्रिका' तथा स्वतन्त्र ग्रंथों में 'तत्त्वमुक्ताकलाप', 'शतदूषणी' और 'सेश्वरमीमांसा' ग्रंथ लिखे। तदनन्तर रामानुज के सिद्धान्तों की खुलकर व्याख्या श्रीनिवासाचार्य (१७००) ने अपनी 'यतीन्द्र-मत-दीपिका' में की। रंगरामानुज ने (१८००) उपनिषद्-ग्रन्थों पर विशिष्टाद्वैतवाद के अनुकूल टीका लिखी।

रामानुज दर्शन का विकास

रामानुज-दर्शन वस्तुतः हिन्दू-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का कारण था। मध्व, वल्लभ, चैतन्य और रामानंद के सिद्धान्त रामानुज की भावना को ही लेकर विकसित हुए। इन सभी आचार्यों ने शांकर-दर्शन का खण्डन और रामानुज-दर्शन का समर्थन किया। यह सगुण भक्ति का वैभवशाली युग था।

द्वैताद्वैत मत के प्रवर्तक निम्बार्काचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' नामक भाष्य लिखा। निम्बार्क के ही अनुयायी विद्वान् केशव ने भी 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखे। अपने भाष्य में निम्बार्काचार्य ने कहीं-कहीं रामानुज-सिद्धान्तों की आलोचना की है।[1] इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी था।

शांकर वेदान्त के दूसरे आचार्य मध्व हुए। ये द्वैतवाद के प्रवर्तक थे। इनके दूसरे नाम पूर्णप्रज्ञ या आनन्दतीर्थ भी हैं। इसीलिए उनके दर्शन को 'पूर्णप्रज्ञ-दर्शन' भी कहते हैं। लोकमान्य के मतानुसार मध्वाचार्य ने ७९ वर्ष की

---

१. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ७५१

अवस्था में १२५५ वि० को समाधि ग्रहण की थी[1]; किन्तु डॉ० भांडारकर की नई खोजों के अनुसार उनका समय १२५४-१३३३ वि० के बीच ठहरता है[2]। मध्वाचार्य ने भी 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा और उनके 'अनुव्याख्यान' पर जयतीर्थ ने 'न्यायसुधा' नामक एक प्रामाणिक टीका लिखी। जयतीर्थ ने एक 'पादावली' ग्रंथ भी लिखा, जिसमें श्रीहर्ष के टीकाकार चित्सुखाचार्य के सिद्धान्तों की आलोचना की गई है। व्यासराज ने भी 'भेदोज्जीवन' और 'न्यायामृत' लिखा। मधुसूदन सरस्वती ने अपनी 'अद्वैतसिद्धि' में 'न्यायामृत' की आलोचना की है, जिसका उत्तर रामाचार्य ने अपनी 'न्यायामृततरंगिणी' में दिया और पुनः जिसका प्रत्युतर 'न्यायतरंगिणी-सौरभ' में दिया गया।

मध्व-दर्शन में भ्रम-ज्ञान की बड़ी ही वैज्ञानिक व्याख्या है। उन्होंने जड़-जड़ का भेद, जड़-चेतन का भेद, जीव-जीव का भेद, जीव-ईश्वर का भेद और जड़-ईश्वर का भेद आदि पर व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा ही तर्क-संगत स्पष्टीकरण दिया है।[3]

शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक तीसरे आचार्य वल्लभ हुए, जो कि थे तो दक्षिणात्य; किन्तु जिनका साधनाक्षेत्र उत्तर भारत रहा। वे विष्णुस्वामी के अनुयायी थे। वल्लभाचार्य का ब्रह्मसूत्र-भाष्य 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने 'प्रस्थानत्रयी' की तरह 'भागवत' को भी प्रामाणिक मानकर उस पर 'सुबोधिनी' टीका लिखी, जिसका कि संप्रति सर्वाधिक प्रचार है। वल्लभाचार्य का संप्रदाय 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रचलित है। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण 'ब्रह्मवाद' कहलाता है।[4] वल्लभाचार्य पंद्रहवीं शताब्दी में हुए।

चौथे वैष्णवाचार्य चैतन्य महाप्रभु हुए, जिन्होंने वैष्णव धर्म का प्रचार बंगाल में किया। महाप्रभु राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनके दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन उनके अनुयायी आचार्य जीव गोस्वामी ने 'षट् संदर्भ' लिख कर और वलदेव ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'गोविन्द-भाष्य' लिख कर किया। महाप्रभु भी १५ वीं शताब्दी में हुए।

---

१. तिलक : गीता रहस्य, पृ० १६
२. भंडारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड अदर, पृ० ५९
३. नागराज शर्मा : रेन ऑफ रियलिज्म इन इण्डियन फिलासफी
४. श्यामसुंदरदास : हिन्दी भाषा और साहित्य, पृ० ४०६-४०७

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

प्राचीन भारत के राजकुल

प्रस्तर धातु काल

भारत में राजनीतिक रंगमंच के निर्माण का आरंभ लगभग प्रागैतिहासिक गोधूलि में ही हो चुका था। प्रस्तर-धातुयुगीन (Chalcolithic age) सैंधव सभ्यता के उपलब्ध प्रमाणों से आज पूर्णतया स्पष्टीकरण हो चुका है कि धर्म, राजनीति, संस्कृति, कला और साहित्य की दृष्टि से तत्कालीन समाज अपना पूर्णतया विकास कर चुका था। फिर भी सिंधु-घाटी की इस वीरान सभ्यता की इन थोड़ी-सी उपलब्धियों के आधार पर उस बृहद् जन-जीवन की सर्वांगीण जानकारी प्राप्त करने के लिए आज हम पूर्णकाम नहीं हो सके हैं।

ऋग्वैदिक काल

ऋग्वैदिक काल के आर्य-कबीलों का इतिहास जानने के लिए, प्रस्तर-धातु युगीन सैंधव-सभ्यता का पता लगाने की अपेक्षा, पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। तत्कालीन ज्ञानमना ऋषिजनों द्वारा निर्मित एक संपूर्ण वाङ्मय के अधिष्ठाता ग्रन्थ, 'ऋग्वेद' में वैदिक युग के धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला, काव्य, भूगोल और राजनीति का विशद वर्णन सुरक्षित है। वैदिक राष्ट्र का सारा शक्ति-संचयन उनके राजनीतिक और सामाजिक संगठन पर आधारित था। वैदिक युग की एक सर्वाधिक जानने योग्य बात यह है कि उस जैसा ज्ञानजीवी युग भारत में फिर कभी भी देखने को नहीं मिला। वैदिक आर्यों जैसी ऊँची सूझ और उन जैसा सुलझा मस्तिष्क इतने व्यापक पैमाने पर भारत के किसी भी युग में देखने को नहीं मिला।

उत्तर वैदिक काल

उत्तर वैदिक काल में जीवन की सुव्यवस्था, जन-संगठन, जनपद राज्यों का निर्माण और सामाजिक अभ्युत्थान, सभी अपनी चरमोन्नति पर थे। यह युग पूर्णतया पुरोहितों के हाथ में था। उत्तर वैदिक युग की ज्ञान-भावना के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं : यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद की संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

उत्तर वैदिक युग की ज्ञान-भावना का विकास आगे चलकर अनेक विषयों के निर्माण में हुआ। आध्यात्मिक चिंतन के आदिस्रोत उपनिषद्-ग्रन्थों के दाय को लेकर आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त करने वाले हिन्दुओं के षड्दर्शन रचे गए। इस युग के बौद्धिक चिंतन ने ही शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छंद, कल्प और ज्योतिष आदि छह वेदांगों को दिशाएँ देकर ज्ञान के क्षेत्र में अपूर्व वृद्धि की। आगे चलकर ज्ञान की ये शाखाएँ भी अनेक उपशाखाओं में फलित हुईं।

सूत्रों काव्यों एवं धर्मग्रन्थों का काल (प्राग्बौद्धकाल)

लगभग छठी-सातवीं शती ई० पूर्व में ज्ञान के क्षेत्र में नई-नई संभावनाओं की सृष्टि हुई। ज्ञान की दिशा में मौखिक आदान-प्रदान की पद्धतियों को सदाशय एवं चिरंजीविनी बनाने के लिए लेखन-कला का सूत्रपात हुआ। इस नये युग की नव-निर्माण लेखन-पद्धति ने हमें सूत्रों, काव्यों और विधिग्रन्थों का नया ज्ञान दिया है।

छह वेदांगों में निर्दिष्ट 'कल्प' विषय के विस्तृत व्याख्या-ग्रन्थों के निर्माण की परम्परा का आरंभ इसी समय हुआ। धर्मसंबंधी सारे सूत्रों के निकाय को कल्प कहते हैं, जो कि श्रौत, गृह्य और धर्म, तीन वर्गों में विभाजित हुए। वैदिक व्याकरण और वेदमंत्रों के व्याख्या-ग्रन्थ 'निरुक्त' की रचना महर्षि यास्क ने इसी समय की। संपूर्ण संस्कृत-साहित्य में 'निरुक्त' सर्वप्रथम विशुद्ध गद्य ग्रन्थ के रूप में परिचित हुआ। शालातुर-निवासी महावैयाकरण पाणिनि मुनि की महाकृति 'अष्टाध्यायी' की रचना भी इसी समय हुई।

'रामायण' और 'महाभारत' के निर्माण से काव्यों एवं महाकाव्यों की उदय-वेला के आरंभ का भी यही युग है। इन दोनों ग्रंथों में एक ओर तो संस्कृत की सुदूरभूत काव्य-भावना का चिरंतन स्वत्व सुरक्षित रहा और दूसरी

ओर उनके द्वारा संस्कृत की बृहत् काव्य-परम्परा का प्रवर्तन प्रशस्त हुआ। उनका निर्माण सदियों के अध्यवसाय के परिणाम-स्वरूप हुआ, और उनकी स्वत्व-सामग्री को लेकर सदियों तक काव्य-निर्माण का अध्यवसाय चलता रहा। उनका अस्तित्व न केवल साहित्य के ही क्षेत्र में सीमित होकर रह गया, वरन्, धर्म की पवित्र पुस्तकों के रूप में भी भारत के घर-घर में श्रद्धा, भक्ति और आदर के साथ वे पूजित एवं प्रतिष्ठित हुए।

तत्कालीन राष्ट्र संगठन

लगभग छठी-सातवीं शती ई० पूर्व के भारत की यदि हम राष्ट्र-संगठन की दृष्टि से समीक्षा करते हैं तो हमें लगता है कि उसका यह क्षेत्र भी काफी उन्नतावस्था को पहुँचा हुआ था। इस प्राग्बुद्धयुगीन भारत में 'षोडश महा-जनपदों' का निर्माण हो चुका था, जिनके नाम थे : १ काशी, २ कोशल, ३ अंग ४ मगध ५ वज्जि ६ मल्ल ७ चेदि ८ वत्स ९ कुरु १० पंचाल ११ मत्स्य १२ शूरसेन १३ अस्सक १४ अवंति १५ गंधार और १६ कम्बोज।

जैन बौद्ध काल (भारतीय धर्म का पुनःसंस्करण)

ईस्वी पूर्व छठी शती का समय संसार की सारी मनुष्य जाति के इतिहास में एक विचित्र संयोग का समय रहा है। धरती के प्रायः हर कोने में एक साथ एक नई विचार-क्रांति का ऐसा युग दुबारा देखने को नहीं मिलता है; और विचित्र बात यह कि इस विश्व-व्यापी-विचार-क्रांति का प्रतिनिधित्व किया धार्मिक आंदोलनों ने।

भारत में इस धार्मिक आंदोलन के जन्मदाता हुए जैन और बौद्ध, जिनका प्रतिनिधित्व किया दो क्षत्रिय राजकुमारों : महावीर और गौतम बुद्ध ने। ब्राह्मणों के अहंवादी वर्णवाद और यज्ञों की रक्तिम व्यवस्था के विरोध में महावीर तथा बुद्ध से भी पहिले लगभग ६२ सुधारवादी धार्मिक संप्रदाय आवाज बुलन्द कर चुके थे; किन्तु वे अधिक समय तक न ठहर सके, एवं उनके द्वारा इस क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य न हो सका। महावीर और गौतम ही दो ऐसे असामान्य प्रतिभा के महापुरुष हुए, जिन्होंने संपूर्ण भारत के परंपरागत ज्ञान-कर्म के धरातल को सर्वथा उलट दिया।

बुद्धयुगीन भारत में हमें धार्मिक एवं विचार-क्रांति के अतिरिक्त राष्ट्रीय स्वातंत्र्य का अस्तित्व भी देखने को मिलता है। इस युग में हमें राज्य-

शासित राष्ट्रों के अतिरिक्त अनेक गणतंत्रों की व्यवस्था का भी पता लगता है। कपिलवस्तु के शाक्य, सुंसुमगिरि के भग्ग, अल्लकप्प के बुली, केसपुत्त के कालाम, रामगाम के कोलिय, पावा के मल्ल, कुशीनारा के मल्ल, पिप्फलिवन के मोरिय, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवी आदि ऐसे ही गणतंत्रीय जनपद थे। बुद्ध, गौतम शाक्यकुलीय थे।

बुद्ध के जीवनकाल में भारत के सर्वाधिक शक्ति-संपन्न चार राज्य थे: कोशाम्बी (वत्स), अवंति, कोशल और मगध। अपने-अपने राज्य-विस्तार के लिए इन राज्यों में निरंतर संघर्ष होता रहा और अन्त में सभी राज्यों को स्वायत्त कर भारत में शक्तिशाली मगध-साम्राज्य का एकाधिकार हुआ।

मगध के राजकुल का प्रतिष्ठाता

मगध के राजकुल का प्रतिष्ठाता बृहद्रथ था। उसके बाद उसका पुत्र जरासंध पिता का उत्तराधिकारी हुआ। इस राजकुल का बुद्ध के उदय के बाद छठी शती ई० पूर्व में अन्त हुआ, जब कि मगध पर हर्यक कुल का बिंबिसार शासन कर रहा था। बिंबिसार का राज्याधिरोहण ५४३-४४ ई० पूर्व में हुआ और ५२ वर्ष राज्य करने के उपरांत लगभग ४९१ ई० पूर्व में उसका पुत्र अजातशत्रु मगध का स्वामी नियुक्त हुआ।[1] अजातशत्रु के बाद क्रमश उदयिन्-अनिरुद्ध-मुंड-नागदासक आदि बिंबिसार-वंश के राजाओं ने मगध पर राज्य किया।[2] तदनन्तर अमात्य शिशुनाग मगध का स्वामी हुआ[3], जो वि बिंबिसार की कई पीढ़ियों बाद हुआ।[4]

नंदवंश

चतुर्थ शती ई० पूर्व के मध्य में महापद्म नामक एक अज्ञात सामरिक ने शिशुनाग-वंश का अन्त कर उसकी जगह एक नये राजकुल की प्रतिष्ठा की भारतीय इतिहास में जो 'नंदकुल' के नाम से विख्यात हुआ। महापद्म अत्यंत बलशाली शासक था। उसके बाद उसके आठ बेटों ने मगध पर

१. राय चौधरी : पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंश्येंट इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० १८४-१८६

२. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ८४

३. विंसेंट स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३६

४. राय चौधरी : पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंश्येंट इण्डिया, पृ० १७८-१७९ (चतु० सं०

शासन किया। उनमें अंतिम शासक धननंद, सिकन्दर का समकालीन था। लगभग ३२१-२२ ई० पूर्व में नंदों का राजकुल नष्ट हो चुका था।[1]

नंदवंश के विनष्ट हो जाने पर भारत का राजनीतिक धरातल वर्षों तक डगमगाता रहा। विदेशी शासकों के हमलों ने, विशेषतः ग्रीक सामरिक सिकन्दर महान् के आक्रमणों ने भारतीय राजनीति में एक जबरदस्त खलबली मचा दी। भारतीय राजवंशों का ग्रीक शासकों के सर्वथा अधीनस्थ हो जाने की दुर्बलता की रक्षा करने में मगध की राज्यगद्दी के यशस्वी स्वामी मौर्य चंद्रगुप्त ने साहसपूर्ण कार्य किया।

नन्दवंश का उत्तराधिकार

मगध का राजकुल (३७४-१९० ई० पूर्व तक)

मौर्य साम्राज्य

बिंबिसार और अजातशत्रु के समय छठीं शती ई० पूर्व में जिस महान् मगध-साम्राज्य की प्रतिष्ठा हुई थी, चौथी शती ई० पूर्व में आकर वह अपने पूर्ण गौरव एवं भरे वैभव को प्राप्त हो गया था, और उसकी यह भरी-पूरी संपन्नावस्था लगभग दूसरी शती ई० पूर्व तक अक्षुण्ण रूप से बनी रही। यह समय मौर्य-साम्राज्य के शासन का युग था। इतिहासकारों ने मौर्य-साम्राज्य की सीमा को ३७४-१९० ई० पूर्व के बीच निर्धारित किया है।[2] विभिन्न पुराण-ग्रन्थों में मौर्यवंश के सम्बन्ध में जो अनेकरूपताएँ देखने को मिलती हैं उनका ऐतिहासिक परीक्षण करके विद्वानों ने मौर्य-साम्राज्य के शासकों का क्रमः चन्द्रगुप्त-बिंदुसार-अशोक-कुणाल-दशरथ-(बंधुपालित)-संप्रति (इंद्रपालित)-शालिशूक-सोमधर्मा-(देवधर्मा)-शतधनुष-(शतधन्वा) और बृहद्रथ या बृहदश्व, इस प्रकार दिया है।[3]

---

१. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० ८७

२. चंद्रगुप्त विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृ० ६१७ (डॉ० जायसवाल की स्थापना से समर्थित)

३. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १३९ (परिशिष्ट-२)
डॉ० उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १६२ (परिशिष्ट-ख)

चंद्रगुप्त

नन्दवंश के महान् वैभव को परास्त कर देने वाले नीतिज्ञ राजा चन्द्रगुप्त मौर्य के कुल-मूल के सम्बन्ध में एक जैसी अनुश्रुतियाँ नहीं है। उसके संबंध में एक किंवदन्ती तो यह है कि वह नन्दराजा द्वारा मुरा नामक एक शूद्रा रखेल से उत्पन्न हुआ,[1] जिससे कि उसको 'मौर्य' कहा गया; किन्तु 'मुरा' शब्द का अपत्यवाचक 'मौर्य' न होकर 'मौरेय' होता है। इसलिए यह स्थापना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती है। दूसरी पालि-ग्रन्थों की अनुश्रुति के अनुसार वह शाक्यों की एक शाखा 'मोरियों' से उत्पन्न कहा गया है।[2] मध्यकालीन अभिलेखों में भी उसे क्षत्रियवंशज कहा गया है, और उसके सम्बन्ध में आज यही प्रामाणिक उपलब्धि है कि मगध राजकुल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था और वह क्षत्रिय था। उसका राज्यारोहण ३२१ ई० पूर्व और २९७ ई० पूर्व, २४ वर्षों के सुशासन के बाद उसका अन्त हुआ।[3]

मेगस्थनीज और कौटिल्य

मेगस्थनीज और कौटिल्य मौर्य चंद्रगुप्त के समय के दो अद्भुत विद्वान् हुए, जिनकी कृतियों में तत्कालीन व्यवस्था का विशद वर्णन देखने को मिलता है। मेगस्थनीज ने जो पुस्तक 'इंडिका' लिखी थी, मूलरूप में आज वह उपलब्ध नहीं है; किन्तु उसके बहुत-सारे लेख ग्रीक एवं रोमन लेखकों की पुस्तकों में सुरक्षित है।[4] आचार्य कौटिल्य (विष्णुगुप्त, चाणक्य) न केवल मौर्य चंद्रगुप्त के गौरवान्वित शासन की शान है, वरन्, वे संपूर्ण मौर्य-साम्राज्य की यशस्वी जीवनी के उज्ज्वल स्मारक भी हैं। उनके संबंध में आगे यथास्थान विस्तार से कहा गया है।

बिंदुसार

चंद्रगुप्त के बाद मगध की राजगद्दी पर उसका पुत्र बिंदुसार नियुक्त हुआ। बिंदुसार के संबंध में बहुत कम ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हैं।

---

१. चन्द्रगुप्तं नन्दस्यैव पत्न्यन्तरस्य मुरासंज्ञस्य पुत्रं मौर्याणां प्रथमम्

२. गायगर : महावंश, पृ० २७

३. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० ११४, १२२

४. मैक्क्रिंडल : एंश्येंट इण्डिया, मेगस्थनीज ऐण्ड आर्यन्

उसने लगभग २९७–२७२ ई० पूर्व के बीच लगभग पच्चीस वर्ष विपत्तियों से लड़-भिड़कर मगध की राजगद्दी को सुरक्षित रखा।

प्रियदर्शी प्रतापी अशोक

नन्दराजाओं द्वारा शासित मगध की राजसत्ता पर जिस मौर्य-साम्राज्य का आरंभ ई० पूर्व चौथी शताब्दी में प्रतापी सम्राट् चंद्रगुप्त ने किया था, उसको, अनेक विपत्तियों एवं विद्रोहों के बीच किसी प्रकार सुरक्षित रख कर उसके पुत्र बिंदुसार ने अपने पुत्र अशोक तक पहुँचाया। मौर्यवंश की राजगद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त होते ही अशोक महान् ने मगध की साम्राज्य-परंपरा में एक सर्वथा नये युग का सूत्रपात किया; मगध के इतिहास में एक चमकीले अध्याय को योजित किया। मौर्य अशोक, अपनी असामान्य कार्य-पद्धति के कारण, प्राचीन भारत के इतिहास में एक अद्वितीय शासक के रूप में स्मरण किया जाने लगा, वरन्, संसार के महानतम शासकों में उसकी गणना की जाने लगी। अशोक का शासनकाल २७२–२३२ ई० पूर्व रहा।[1]

अशोक बौद्ध था और बौद्धधर्म के प्रचारार्थ उसने अपने प्रचारकों एवं राजदूतों को विदेशों में भेजा। संभवतः रक्त-रंजित कलिंग-विजय के बाद वैराग्यवश बौद्धधर्म की सादगी-सच्चाई से प्रभावित होकर वह 'सम्राट्' से 'प्रियदर्शी' बन गया। अशोक बड़ा ही सहिष्णु और बहुश्रुत विद्वान् था। 'कर्तव्य की नितांत असंकुचित व्याख्या तथा सार्वभौमिक धर्म के सर्वप्रथम निरूपण का श्रेय अशोक को ही देना चाहिए'[2] अशोक की महानता के द्योतक उसके अभिलेख आज भी उसकी उज्ज्वल कीर्ति को ताजी बनाए हैं।

सम्राट् अशोक की धर्मलिपियाँ मौर्य साम्राज्य की एवं प्राचीन भारत की महत्त्वपूर्ण साहित्य-कृतियाँ हैं। वस्तुतः मौर्य-साम्राज्य की सारी ऐतिहासिक दारोमदार और उसका सारा प्रभुत्व अशोक के अभिलेखों पर आधारित है। उनके बिना, कहना चाहिए कि, मौर्यवंश का इतिहास अधूरा ही रह जाता है। अशोक के ये अभिलेख साहित्य की अमर धरोहर होने के अतिरिक्त इतिहास और पुरातत्त्व के क्षेत्र में भी सहेजनीय सामग्री हैं; उसी प्रकार राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से उनकी अपनी अलग गौरवगाथा है।

---

१. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १२४–१३६; डॉ० उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० १४७–१५८; दि आक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ११६

२. राधा कुमुद मुकर्जी : अशोक, पृ० ६०–७६

अशोक के ये अभिलेख पर्वतों पर, प्रस्तर-स्तम्भों पर और प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्णित, एवं खनित तीन रूपों में उपलब्ध हुए हैं। साहित्य, पुरातत्त्व इतिहास के अतिरिक्त इन कृतियों में कला की सर्वांगीणता एवं अनुपम सौंदर्य भरपूर है।[1]

अशोक के अभिलेख : तत्कालीन साहित्य की महानतम कृतियाँ

विश्व-संस्कृति के इतिहास, भारतीय इतिहास और विशेषतः पालि साहित्य के इतिहास में सम्राट् अशोक की अभिलेखकृतियाँ अमर धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ये अभिलेख उत्तर में हिमालय तक, दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व में उड़ीसा से लेकर पश्चिम में काठियावाड़ तक के विस्तृत भू-भागों में पहाड़ी चट्टानों तथा पत्थर के विशाल तोरणों पर उत्कीर्णित हुए मिले हैं। तीन दृष्टियों से इन अभिलेखों का विशेष महत्व है :[2]

१. इन अभिलेखों की सहज, स्वाभाविक, उदात्त और गंभीर वाणी द्वारा अशोक की जीवनी पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

२. ये अभिलेख अशोक तथा अशोककालीन इतिहास-निर्माण के लिए स्वतः प्रमाण हैं, और इसीलिए इतिहासकारों ने उनको सदैव प्रामाणिकता से उद्धृत किया है।

३. इन अभिलेखों से पालि भाषा के स्वरूप और उसके विकासक्रम पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

शान्ति, सद्भाव और अहिंसा की जिस त्रिवेणी को बहा लाकर भगवान् तथागत ने भारत की चित्त-भूमि को उर्वर किया था, अशोक के जीवनादर्श उसी से निर्मित एवं परिपुष्ट हुए। अपने विजयलिप्सु और युद्धरत स्वभाव के कारण कलिंग की रक्तमयी रणक्रीडा के पश्चात्ताप की प्रतिक्रिया से निश्चित ही वह विक्षिप्त हो जाता या कथंचित् आत्महत्या कर लेता, यदि उसको भगवान् बुद्ध का परम शांतिमय आश्रय न मिला होता। कलिंग-विजय की प्रतिक्रिया से उसके जीवन का एक नया और सर्वोच्च अध्याय आरम्भ हुआ, जिसकी

---

१. The noblest and the most perfect examples of it are the works of the Emperor Asoka.
फर्गुसन : कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वाल्यूम, १, पृ० ६१८

२. भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६१७, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००८ वि.

विस्तृत सूचनाएँ उसके तेरहवें अभिलेख में सुरक्षित हैं। तभी से वह 'प्रियदर्शी' बना।

बुद्धधर्मानुयायी होने के बाद भी वह यद्यपि राज-पाट संभालता रहा; किन्तु अनासक्त भाव से। 'प्रियदर्शी' हो जाने के बाद उसके जीवन की दूसरी अवस्था दिखाई दी उसके उपासक होने में। बिहार में जाकर भिक्षुओं के साथ धर्मचर्चा और ज्ञानचर्चा करना उसकी नियमित चर्या हो गई थी।[1] यह उसका 'राजर्षि' रूप था।

अशोक के अभिलेखों का वर्गीकरण

कालक्रम की दृष्टि से इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने अशोक के अभिलेखों को आठ भागों में वर्गीकृत किया है।[2] उसी क्रम को प्रामाणिकता के साथ पालि- साहित्य के विद्वान् श्री भरतसिंह उपाध्याय ने भी अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है।[3] यह वर्ग-विभाजन इस प्रकार है :

१. लघु अभिलेख : ये संख्या में सात हैं, जो सहसराम (बिहार), रूपनाथ (जबलपुर के समीप), बैराट (जयपुर), ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर (तीनों मैसूर) और मास्की (हैदराबाद)में उपलब्ध हुए हैं।

२. एक भाब्रू अभिलेख : जयपुर रियासत में बैराट के समीप मिला है।

३. चतुर्दश अभिलेख : (२५६ ई० पूर्व के लगभग) ये लेख पहाड़ों की चट्टानों पर उत्कीर्णित हैं, जो शहवाजगढ़ी, मनसेहर (पेशावर), कालसी (देहरादून), गिरनार (काठियाबाड़), धौली (कटक) और जौगढ़ (मद्रास) में मिले हैं।

४. दो कलिंग अभिलेख : (२५६ ई० पूर्व) कलिंग के पत्थर की चट्टानों पर खुदे हुए मिले हैं।

५. तीन गुफालेख : (२५७–२५० ई० पूर्व) गया के समीप बाराबर नामक पहाड़ी में उपलब्ध हुए हैं।

६. दो तराई स्तंभ लेख : (२४९ ई० पूर्व) नेपाल की तराई में रुक्मनदेई और निग्लिवा नामक गाँवों के पास मिले हैं।

७. सप्त स्तंभलेख : (३४३–३४२ ई० पूर्व) ये अभिलेख स्तंभों पर

---

१. राधा कुमुद मुकर्जी : मेन ऐंड थॉट इन एंशियंट इंडिया, पृ० १३०

२. विसेंट स्मिथ : ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १०३-१०४

३. भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६१८-६१९

उत्कीर्णित मेरठ, टोपरा (अंबाला), प्रयाग, लौरिया अरराज, लौरिया नंदनगढ़ और रामपुरवा (तीनों चंपारन, बिहार) इन छह स्थानों पर मिले हैं।

८. चार गौण स्तंभलेख : (२४२-२३२ ई० पूर्व) इनमें से दो लेख साँची और सारनाथ के तोरणों पर खुदे हुए हैं और दो प्रयाग-स्तंभ पर पीछे से जोड़ दिए गए हैं।

अशोक की तीसरी बौद्धसंगीति

साहित्य-निर्माण की दृष्टि से इतिहासकारों ने मौर्य-साम्राज्य को उत्तर वैदिक युग के अन्तर्गत परिगणित किया है। पूर्वनंद-युग में सूत्र-ग्रंथों की रचना का जो कार्य प्रारंभ हुआ था। उसका कार्य मौर्य-युग तक और उसके बाद भी लगभग १०० ई० पूर्व तक चलता है। इस युग की एक महत्त्वपूर्ण यादगार बौद्ध-संगीति है।

अपने अभिषेक के सत्रहवें वर्ष सम्राट् अशोक ने पाटलिपुत्र में बौद्ध-धर्म की विच्छिन्न परम्परा और बौद्ध-धर्म के विभक्त संप्रदायों की विचारधारा का एकीकरण करने के लिए देशभर के ख्यातनामा विद्वानों और बौद्ध-दार्शनिकों को आमंत्रित कर एक बृहद्-अधिवेशन आयोजित किया था, इतिहास में जिसको 'तृतीय बौद्ध-संगीति' के नाम से याद किया जाता है।[1] सुप्रसिद्ध बौद्ध-विद्वान् मोग्गलिपुत्त तिष्यरक्षित उसका प्रधान था और निरन्तर नौ मास तक यह अधिवेशन चलता रहा। प्रथम बौद्ध-संगीति का अधिवेशन महाकश्यप के राजगृह में बुलाया गया था और द्वितीय बौद्ध-संगीति वैशाली में आयोजित हुई थी। चौथी कनिष्क के समय में हुई थी।

इस तीसरी बौद्ध-संगीति के बाद ही बौद्ध-त्रिपिटकों के निर्माण का कार्य समाप्त हुआ। अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त के द्वारा अन्तिम 'अभिधर्मपिटक' की कथावस्तु पूर्ण हुई, जिसके कारण बौद्ध-साहित्य के भावी निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

जैन साहित्य

बौद्ध-साहित्य के साथ-साथ जैन-साहित्य का भी मौर्य-युग में निर्माण हुआ। महावीर स्वामी ने जैन-धर्मसम्बन्धी जिन धार्मिक प्रवचनों एवं उपादेय

---

१. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० १२९ अशोक द्वारा आयोजित तीसरी बौद्ध-संगीति के संबंध में विस्तार से सूचनाएँ 'बौद्ध साहित्य' के प्रकरण में दी गई हैं।

शिक्षाओं का प्रचलन किया था, यद्यपि, पहिले-पहल उनका अंगों-उपांगों में सम्पादन, वर्गीकरण एवं व्यवस्थापन उन्हीं के शिष्य आचार्य सुधर्म कर चुके थे और आचार्य सुधर्म की परंपरा का आचार्य जंबू स्वामी, आचार्य प्रभव और तदनन्तर आचार्य स्वयंभव ने उसको उत्तरोत्तर प्रबुद्ध एवं प्रशस्त किया, तथापि, जैन-वाङ्मय का बहुमुखी विकास मौर्य-युग में ही आकर हुआ। 'दशवैकालिक-सूत्र' के यशस्वी निर्माता आचार्य स्वयंभव और उनके उत्तरवर्ती सुप्रसिद्ध आचार्यद्वय यशोभद्र तथा संभूतिविजय का स्थितिकाल मौर्य-युग का आरंभिक भाग है।

तदनन्तर जैन-साहित्य के सुप्रसिद्ध निर्माता आचार्य भद्रबाहु हुए, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे और जिन्होंने जैन-धर्म-ग्रंथों पर 'निर्युक्ति' नामक एक पांडित्यपूर्ण भाष्य की रचना की। इसी युग में आचार्य भद्रबाहु के उत्तरवर्ती आचार्य स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैनाचार्यों की एक संगत का अधिवेशन आमंत्रित किया। और इसी 'संगत' में जैन-धर्म-ग्रन्थ पहिले-पहल संकलित हुए। मगध में विलुप्त १४ पूर्वसंयुक्त के १२वें अंग का कुछ अंश नेपाल से प्राप्त कर वह इसी समय पुनर्निर्मित हुआ। आचार्य भद्रबाहु जब कर्णाटक से मगध वापिस आए तब उनके समक्ष आचार्य स्थूलभद्र ने उक्त संकलन संमत्यर्थ प्रस्तुत किया ; किन्तु आचार्य भद्रबाहु ने उसकी प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया। फलतः इसी समय, इस मत-वैभिन्न्य के कारण जैनियों के दो संप्रदाय हो गए। जैनियों के ११ अंग-ग्रन्थों के कतिपय अंशों का निर्माण भी मौर्य-युग में हुआ।

दर्शन

जैन और बौद्ध-न्याय में भारतीय षड्-दर्शनों के विकास की परंपरा के संकेत विद्यमान हैं। यद्यपि आचार्य कौटिल्य के युग तक आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक दर्शन) इन तीन दार्शनिक संप्रदायों का ही उल्लेख मिलता है; फिर भी, न्याय और मीमांसा दर्शन की जड़ें कौटिल्य के समय तक जम चुकी थीं। कौटिल्य ने प्रमाणरूप में न्यायशास्त्र का स्मरण किया है।[1] इसी प्रकार 'आपस्तंब धर्मसूत्र' में न्यायविदों और

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र ३, १, पृ० १५०

मीमांसकों का उल्लेख मिलने के कारण उक्त दोनों दर्शन-संप्रदायों की प्राचीनता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।[1]

इस दृष्टि से यद्यपि प्रतीत होता है कि कौटिल्य के समय तक न्याय-दर्शन की परंपरा का बीजारोपण हो चुका था, तथापि इतना स्पष्ट है कि तब तक वह एक विशिष्ट संप्रदाय का रूप धारण न कर सका था।

व्याकरण

संस्कृत साहित्य के इतिहास में व्याकरणशास्त्र के बृहद् नियमों एवं भाषाशास्त्र के गंभीर विचारों के निर्माता पाणिनि, व्याडि, कात्यायन और पतंजलि, इन चार यशस्वी आचार्यों का नाम आदर से स्मरण किया जाता है। पाणिनि को छोड़कर शेष तीनों वैयाकरण मौर्य युग में ही हुए हैं। 'महाभारत' के पुनः संस्करण का युग भी यही था। भारतीय अर्थशास्त्र का पहिला निर्माता आचार्य कौटिल्य तो उन महान् प्रतिभाशाली मनस्वियों में से है, जिनके कृतित्व के कारण मौर्य-साम्राज्य और संपूर्ण भारतीय साहित्य गौरवान्वित हो रहा है।

मौर्य राजाओं की वंश तालिका

इतिहासकार विद्वानों द्वारा मौर्य-राजाओं की शासन-व्यवस्था के संबंध में एक-जैसी मान्यताएँ स्थापित किए जाने पर भी उनके ऐतिहासिक वृत्त और विशेषतः उनके वंशक्रम की तिथियों में कुछ पूर्वापर का भेद रखा गया है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने मगध-साम्राज्य की ऐतिहासिक परम्परा को 'नंद-मौर्य-साम्राज्य' के सम्मिलित रूप में उसकी स्थिति को ३७४–१९० ई० पूर्व के बीच रखा है। उन्होंने इस अवधि को 'पूर्व नंद-युग' और 'उत्तर नंद-युग' नामक दो अभिधानों में विभाजित किया है। 'मौर्य-साम्राज्य' को श्री विद्यालंकार जी ने 'नव नंदवंश' के नाम से कहा है। मौर्यशासन से नंदयुग को योजित करने का उनका उद्देश्य संभवतः यह जान पड़ता है क्योंकि मगध की राजसत्ता की उपलब्धि नंद राजाओं से ही आरम्भ हुई थी।

---

१. आपस्तंब धर्मसूत्र २, ४, ८, १३; २, ६, १४, १३

दिवंगत इतिहासवेत्ता डॉ० काशीप्रसाद जी जायसवाल ने वायु, विष्णु और मत्स्य आदि पुराणों में उल्लिखित ऐतिहासिक वृत्तों की तुलनात्मक समीक्षा करने के उपरान्त मौर्य-वंश की एक सूची तैयार की थी। डॉ० जयसवाल के मत से समर्थित श्री विद्यालंकार जी के ग्रन्थ में मौर्यवंश की प्रामाणिक तालिका इस प्रकार उद्धृत है :[1]

प्रथम सूची

डॉ० जयसवाल और श्री विद्यालंकार जी की सूची से कुछ भिन्नता लिए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी और डॉ० भगवतशरण उपाध्याय द्वारा अपने-अपने प्रामाणिक इतिहासग्रंथों में मौर्य-राजाओं का वंशवृत्त एवं उनके शासन की ऐतिहासिक स्थिति इस प्रकार उल्लिखित है[2] :

---

१. जयचंद विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृ० ६१७

२. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १३९, परिशिष्ट २ (१९५६)
   डॉ० उपाध्याय : " पृ० १६२, परिशिष्ट ख (१९४९)

द्वितीय सूची

चन्द्रगुप्त मौर्य (लगभग ३२१–२९७ ई० पूर्व)

विंदुसार (२९७–२७२ ई० पूर्व)

- सुषीम अथवा सुमन
- अशोक (२७२–२३२ ई० पूर्व) (अशोक की पत्नियाँ: विविदशा देवी, पद्मावती, असंदिमित्रा, कारुवाकी, तिष्यरक्षिता)
- तिस्म
- अन्य पुत्र

अशोक के पुत्र:

- कुणाल अथवा सुयशस् (२३२–२२४ ई० पूर्व)
- जालौक
- तीवर

कुणाल के पुत्र:

- दशरथ (बंधुपालित ?) (२२४–२१६ ई० पूर्व)
- संप्रति (इंद्रपालित ?) (२१६–२०७ ई० पूर्व)

संप्रति → शालिशूक (बृहस्पति ?)

(कुछ पुराण इसका १३ वर्ष का शासनकाल बताते हैं ; परंतु अन्य पुराणों में इसका उल्लेख तक नहीं है । संभवतः इसका शासन स्वल्पकालीन था, संभवतः एक या दो साल : २०७–२०६ ई० पूर्व ?)

देववर्मन् या सोमशर्मन् (लगभग २०६–१९९ ई० पूर्व)

शतधनुष् या शतधन्वन् (लगभग १९९–१९१ ई० पूर्व)

बृहद्रथ (लगभग १९१–१८४ ई० पूर्व)

आचार्य कौटिल्य और उनका अर्थशास्त्र

आचार्य कौटिल्य का महा व्यक्तित्व एक अद्भुत पारंगत राजनीतिज्ञ के रूप में मौर्य-साम्राज्य के विपुलयश के साथ एकप्राण होकर एक ओर तो भारत के राजनीतिक इतिहास में अपनी कीर्ति-कथा को अमर बनाए है और दूसरी ओर अपनी अतुलनीय, अद्भुत कृति के कारण संस्कृत-साहित्य के इतिहास में भी अपने विषय के आदि एवं अन्तिम विद्वान् होने का गौरव प्राप्त कर रहे हैं। आचार्य कौटिल्य की इन असाधारण खूबियों के कारण ही पुराणों से लेकर काव्य, नाटक और कोश-ग्रन्थों में सर्वत्र उनके नाम-माहात्म्य की कथाएँ उल्लिखित (व्याप्त) हैं। कौटिल्य द्वारा नंद-वंश के विनाश और मौर्य-वंश की प्रतिष्ठा के संबंध में 'विष्णु-पुराण'[1] एक विवरण प्रस्तुत करता है :

'महाभद्र तथा उसके नौ पुत्र १०० वर्ष तक राज्य करेंगे। अंत में कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण उस राज्य-परंपरा के अंतिम उत्तराधिकार नंद-वंश का नाश करेगा। नंद-वंश के समूल विनष्ट हो जाने पर मौर्य-वंश पृथिवी का उपभोग करेगा। मौर्यवंश के पहिले प्रतापी शासक चंद्रगुप्त को कौटिल्य राज्याभिषिक्त करेगा। उसका पुत्र विन्दुसार और विन्दुसार का पुत्र अशोक होगा।'

इस पुराण-प्रोक्त विवरण से दो मोटी बातों का पता यह लगता है कि मगध के राज्य-सिंहासन पर पहले नंद-वंश का अधिकार था और उसके बाद

---

१. महाभद्रः। तत्पुत्राश्चैकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति। नवैव। तान्नन्दान्कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति। तस्यापि पुत्रो बिन्दुसारो भविष्यति। तस्याप्यशोकवर्धनः। —विष्णुपुराण

कौटिल्य के कौशल से मगध की राज-सत्ता छिनकर मौर्य-वंश के हाथों में आई। इस दृष्टि से मौर्य-वंश की सत्यता पर आधारित आचार्य कौटिल्य के सही व्यक्तित्व का पता लगाने के लिए नंद-वंश की प्रामाणिक जानकारी और उससे भी पूर्व मगध की शासन-परंपरा, दोनों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

मगध की शासन-परंपरा

मगध या मागध भारतीय इतिहास का एक सुपरिचित अति पुरातन नाम है। वेदों से लेकर पुराणों तक सर्वत्र मागधभूमि और मगधवंश की चर्चाएँ उल्लिखित हैं। पुराणों से यह भी विदित होता है कि महाभारत युद्ध से पूर्व मगध में बार्हद्रथों का राज्य स्थापित हो चुका था और चेदि नरेश उपरिचार के पुत्र बृहद्रथ सर्वप्रथम मगधनरेश की उपाधि से विभूषित भी हो चुके थे। उनके पुत्र जरासन्ध और पौत्र सहदेव महाभारत युद्ध के समकालीन व्यक्ति थे। उनकी तेईसवीं पीढ़ी के बाद मगध के राज-सिंहासन पर अवंतिनरेश चंद्रप्रद्योत का अधिकार हुआ। तदनन्तर गिरिव्रज का शिशुनागवंश मगध पर अधिष्ठित हुआ, जिसके उत्तराधिकारियों की ऐतिहासिक परंपरा है: शिशुनाग-काकवर्ण-क्षेत्रधर्मन्-छत्राजीत और बिम्बसार। इनमें बिम्बसार ही सर्वाधिक प्रतापी नरेश हुआ, जो कि तीर्थंकर महावीर स्वामी एवं गौतम बुद्ध का समकालीन था।

बिम्बसार से मगध-राजवंश की परंपरा क्रमशः अजातशत्रु-दर्शक-उदयाश्व-(उदायी)-नंदिवर्धन तक पहुँचकर अंत में महानंदि के हाथों में पहुँची। महानंदि इस वंश का अंतिम एवं महान् बलशाली सम्राट् हुआ, जिसका एक शूद्रा स्त्री द्वारा नंद नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी शूद्रापुत्र नंद ने मगध की राज्यगद्दी पर नंदवंश की प्रतिष्ठा की।

ऐतिहासिक खोजों से विदित है कि ५८५-३१५ वि० पूर्व (६४२-३७२ ई० पूर्व) तक मगध की शासनसत्ता शिशुनागवंश के आधीन रही, और तदनन्तर नंदवंश उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसका प्रथम यशस्वी सम्राट् महापद्मनंद था। ८८ वर्ष के राज्योपरांत वह दिवंगत हुआ। तदनंतर लगभग २२ वर्ष तक उसके उत्तराधिकारियों का अस्तित्व बने रहने के बाद मगध की राजलक्ष्मी मौर्यों के अधीनस्थ हुई। चंद्रगुप्त मौर्यवंश का पहिला

सम्राट् हुआ, जिसको पंचनद की ओर से नंदवंश के विरोध में उभाड़कर स्वाभिमानी ब्राह्मणपुत्र चाणक्य मगध की ओर लाया।

भारतीय इतिहास का उदीयमान नक्षत्र और मौर्यवंश के महाप्रतापी सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य ने विष्णुगुप्त नामक एक अद्भुत कुटिलमति राजनीतिज्ञ ब्राह्मण की सहायता से मगध के नंदवंश को विनष्ट कर तथा शक्तिशाली यवनराज सिकन्दर के संपूर्ण प्रयत्नों को विफल कर लगभग ३२१ ई० पूर्व में एक विराट् साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसको इतिहासकारों ने मौर्य-साम्राज्य के नाम से पुकारा। चंद्रगुप्त सामान्य क्षत्रियवंश से प्रसूत था। लगभग २४ वर्ष तक मगध की राजगद्दी पर उसका एकछत्र शासन रहा।

ग्रीक सेनापति सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज़ की अनुपलब्ध कृति 'इंडिका' के अन्यत्र उद्धृत अंशों से और चंद्रगुप्त के महामात्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से विदित होता है कि चंद्रगुप्त मौर्य एक असाधारण दिग्विजयी सम्राट् हुआ है और उसने अपने राज्यकाल में धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक उन्नति के लिए अविरल प्रयत्न किया।

कौटिल्य के पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रकार

आरंभ में धर्म, अर्थ और काम, इस त्रिवर्गशास्त्र पर एक ही साथ विचार किया गया। इन तीनों शास्त्रों के स्वतंत्र अस्तित्व की विविक्ति बाद में हुई। 'महाभारत' के शांतिपर्व से विदित होता है कि इस त्रिवर्गशास्त्र का रचयिता ब्रह्मा था, और बाद में भगवान् शंकर ने ब्रह्मा द्वारा रचित उस बृहद् धर्म-अर्थ-कामात्मक शास्त्र का संक्षेप किया, जिसका नाम हुआ 'वैशालाक्ष'[1]। कालांतर में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का प्रणयन इसी 'वैशालाक्ष' ग्रंथ के आधार पर हुआ।

सहस्राक्ष इन्द्र ने अर्थशास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम था 'बाहुदंतक'। 'महाभारत' में लिखा है कि इन्द्र ने भगवान् शिव द्वारा रचित दस-सहस्र अध्याय परिमाण का एक 'वैशालाक्ष' नामक त्रिवर्गात्मक शास्त्र प्राप्त किया था। आचार्य पुरन्दर (इंद्र) ने शिव के बृहद् ग्रन्थ का पाँच-सहस्र अध्यायों में संक्षिप्तीकरण किया।[2] इंद्र, बाहुदंती पुत्र थे। इसलिए उनके इस ग्रन्थ का नाम 'बाहुदंतक' अभिहित हुआ। इंद्र को अनेक शास्त्रों

---

१. महाभारत, शां० ५८।८९, ९०   २. वही

का प्रवर्तक माना गया है। इंद्र और उनकी शिष्य-परंपरा पर आयुर्वेद के प्रकरण में विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है।

बृहस्पति ने भी अर्थशास्त्र की रचना की थी, वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से इस बात का प्रामाणिक हवाला मिलता है।[1] बृहस्पति देवों के पुरोहित थे।[2] 'महाभारत' में भी इन्हें देवगुरु और 'अर्थशास्त्र' का रचयिता कहा गया है। इनके सम्बन्ध में वहाँ लिखा हुआ है कि ये चक्रवर्ती मरुत से पहिले हुए।[3] 'कातंत्र' में इन्हें व्याकरण का प्रवक्ता कहा गया है।[4] व्याकरण का ज्ञान इन्हें ब्रह्मा से मिला था, जिसका समर्थन 'महाभाष्य' भी करता है।

देवगुरु बृहस्पति अर्थशास्त्र के अपूर्व विद्वान् हुए। युगों की अल्पायु को ध्यान में रखकर उन्होंने इंद्ररचित 'बाहुदंतक' त्रिवर्गात्मक शास्त्र को तीन-सहस्र अध्याओं में संक्षिप्त किया। इस संस्करण में अर्थवर्ग की प्रधानता थी। 'महाभारत', कामन्दकीय 'नीतिसार', 'याज्ञवल्क्यस्मृति' की 'बालक्रीडा' नाम्नी-टीका और कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' प्रभृति ग्रन्थों में 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र' के अनेक बचन उद्धृत हुए मिलते हैं।

बार्हस्पत्य अर्थसूत्र से विदित होता है कि इन्द्र ने बृहस्पति से अर्थशास्त्र का अध्ययन किया था।[5] संप्रति उपलब्ध 'बृहस्पतिसूत्र' किसी दूसरे की रचना[6] है। बृहस्पति को इतिहास-पुराणों का प्रवचनकार[7] और 'अगदतंत्र' नामक आयुर्वेद ग्रन्थ का रचयिता भी माना जाता है।[8]

महर्षि अंगिरा अर्थशास्त्रविद् थे। 'महाभारत' के दो श्लोकों से उनकी राज-नीति-विषयक प्रवीणता का पता चलता है।[9] उशना कवि अर्थशास्त्र के विद्वान् और संभवतः किसी अर्थशास्त्र-विषयक ग्रन्थ के निर्माता भी थे। 'चरकसंहिता' में 'औशनस-अर्थशास्त्र' का उल्लेख मिलता है।[10] 'महाभारत' के शांतिपर्व में उशना के राजनीतिविषयक विचार उद्धृत हैं।[11] उशना ने बृहस्पति प्रोक्त

---

१. कामसूत्र १।१।७ २. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२६

३. महाभारत ५७।६ ४. कातंत्र व्याकरण १।४

५. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ५७

६. वही, पृ० ४६ ७. वायु पुराण १०३।५९

८. अष्टांगहृदय, वाग्भटविमर्श, पृ० १८, षष्ठावृत्ति, निर्णयसागर प्रेस का संस्करण

९. अर्थशास्त्र, पृ० ३२ (गणपति शास्त्री की टीका)

१०. चरक संहिता, वि० ८।५४ ११. महाभारत, शां० ५६।४०, ४२; ११८।१०

त्रि-सहस्र अध्यायात्मक ग्रंथ का एक संक्षिप्त संस्करण किया था, जो अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं है; किन्तु ऐसा विदित होता है कि 'शुक्रनीतिसार' उसी का संस्करण है। महाकवि कालिदास ने भी अपने 'कुमारसंभव' में उशना कवि की नीति का उल्लेख किया है।[१] उशना कवि असुरों के पुरोहित थे।[२] 'मत्स्यपुराण' में उशना को वास्तुशास्त्र का उपदेशक भी कहा गया है।[3]

चंद्रपुत्र बुद्ध अपरनाम राजपुत्र को 'मत्स्यपुराण' के उक्त प्रसंग में सर्व-शास्त्रार्थविद् कहा गया है। 'नीतिवाक्यामृत' की टीका में भी राजपुत्र के राजनीतिशास्त्र-विषयक अनेक श्लोक उद्धृत हैं। संभवतः राजपुत्र का अर्थ-शास्त्र कोई छन्दोबद्ध रचना थी।

विष्णुगुप्त कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पिशुन (नारद) के अनेक मत उद्धृत हैं, जिनको देखकर पता चलता है कि पिशुन का बृहद् 'अर्थशास्त्र' विष्णुगुप्त के समय तक वर्तमान था। उसके उद्धरणों को देखकर यह भी ज्ञात होता है कि उसमें भेदनीति की विस्तृत चर्चा रही होगी। आज भी नारद का नाम भेदनीतिज्ञ के व्यंग्यार्थ में लोकप्रचलित है। 'रामायण' में नारदीय 'अर्थशास्त्र' के अनेक श्लोक उद्धृत है।[४] यही बात 'महाभारत' में भी देखने को मिलती है।[५]

म० म० काणे महोदय ने, डॉ० भंडारकर की इस बात को स्वीकार नहीं किया है कि पिशुन, नारद का ही अपर नाम था, और इसलिए वे नारद को अर्थशास्त्रकार नहीं मानते;[६] किन्तु हमें काणे महोदय का यह अभिमत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। नारद बहुश्रुत एवं बहुज्ञ थे। उन्होंने शिक्षा, शिल्प, गांधर्व, ज्योतिष, हस्तिशास्त्र और योग आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे थे।

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के अध्ययन से हमें यह विदित होता है कि ग्रंथकार के समक्ष उस विषय के अनेक अच्छे ग्रन्थ विद्यमान थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में द्रोण भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत हैं।[७] 'महाभारत' में लिखा

---

१. कुमारसंभव ३।६

२. जैमिनीय ब्राह्मण १।१२५; ताण्ड्य ब्राह्मण ७।५।२०; बौधायन श्रौतसूत्र १८।४६

३. मत्स्यपुराण २५२।३

४. रामायण, अयोध्या०, अध्याय १००

५. महाभारत, सभा० अध्याय ५

६. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० २०६

७. अर्थशास्त्र १।७; १।१५; १।१६; ५।६; ८।३

है कि भरद्वाज ने 'राजशास्त्र' का प्रणयन किया था।[1] कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में उद्धृत[2] भरद्वाज के इन वचनों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि राजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र की दिशा में उनका ज्ञान बहुत व्यापक था। भरद्वाज के पिता बृहस्पति के 'अर्थशास्त्र' का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। इस दृष्टि से भरद्वाज का भी एक निष्णात अर्थशास्त्रज्ञ होने का विश्वास और भी दृढ हो जाता है।

'महाभाष्य' में किसी भागुरी नाम्नी विदुषी का उल्लेख मिलता है।[3] संभवतः वह वैयाकरण भागुरि की स्वसा रही हो। इस विदुषी ने किसी लोकायतशास्त्र का व्याख्यान किया था। यह लोकायतशास्त्र कोई अर्थशास्त्रवत् ग्रन्थ प्रतीत होता है।[4]

आचार्य कौणपदंत भी अर्थशास्त्र के रचयिता थे। 'त्रिकाण्डकोश' में कौणपदंत का दूसरा नाम भीष्म दिया है।[5] भारत-युद्ध का प्रमुख व्यक्ति होने के कारण भीष्म का नाम अपरिचित नहीं है। महाभारतकाल में जितने भी अर्थशास्त्रविद् हुए, उनमें भीष्म का नाम प्रमुख है।

वातव्याधि का दूसरा नाम उद्धव था। इसी दूसरे नाम से इनके परिचय का उल्लेख हुआ मिलता है। 'महाभारत' में वर्णित वृष्णि अंधकों के सात मंत्रियों में-से उद्धव भी एक था।[6] 'मत्स्यपुराण' में भी उद्धव के पांडित्य के सूत्र मिलते हैं।[7] 'अर्थशास्त्र' में इनका उल्लेख हुआ है; किन्तु अन्यत्र कहीं भी इनके अर्थशास्त्र-विषयक मत का उल्लेख नहीं मिलता है।

दीर्घचारायण भी इस परंपरा के एक आचार्य थे। 'अर्थशास्त्र' में उनका भी उल्लेख मिलता है। दीर्घचारायण मगध के प्रद्योतवंश का प्रतिष्ठाता महाराज बालक के पिता का परम मित्र एवं बालक का गुरु था। इसी नाम का एक व्यक्ति कोशलराज प्रसेनजित् का भी मन्त्री हुआ, जो प्रस्तुत दीर्घचारायण से पृथक् था।[8] चारायणीय संप्रदाय का उल्लेख 'अष्टाध्यायी', 'महाभाष्य' और

---

१. महाभारत, शां० ५८।३। २. अर्थशास्त्र : १२।१
३. महाभाष्य ७।३।४५ (वर्णिका भागुरी लोकायतस्य। वर्तिका भागुरी लोकायतस्य। कैयट-वर्णिकेति व्याख्यानीत्यर्थः भागुरी टीकाविशेषः)
४. कामसूत्र १।२।१५; १।२।२८ ५. त्रिकाण्डकोश २।८।१२
६. महाभारत, सभा० १४।६३।६४ ७. मत्स्यपुराण ४६।२३
८. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का इतिहास, पृ० २४८

'काशिकावृत्ति' आदि व्याकरण के अनेक प्रमुख ग्रन्थों में मिलता है।[1] संभवतः अर्थशास्त्रकार चारायण भी उसी परंपरा का आचार्य था।

कृषि और वास्तु भी अर्थशास्त्र के ही दो अंग माने जाते हैं। विष्णुगुप्त कौटिल्य से पूर्व कृषि और वास्तु पर भी स्वतंत्र रूप से विचार हो चुका था। 'अर्थशास्त्र' की गणपति शास्त्री कृत टीका में पराशर अथवा वृद्ध पराशर प्रोक्त 'कृषिशास्त्र' का उल्लेख है।[2] 'मत्स्यपुराण' में वास्तुशास्त्रोपदेशक १८ प्राचीन आचार्यों का उल्लेख है।[3] वराहमिहिर कृत 'बृहत्संहिता' की उत्पल-भट्ट कृत टीका में आचार्य शक्र का वास्तुशास्त्रविषयक एक श्लोक को उद्धृत किया गया है।[4] 'मत्स्यपुराण' में महर्षि अत्रि की गणना वास्तुशास्त्र के अष्टादश उपदेशकों में की गई है।[5] इसी पुराण में वास्तुशास्त्रविद् महर्षि भृगु का भी एक नाम है।[6] शिल्पशास्त्र के जनक विश्वकर्मा का गुरु भी यही भृगु था, 'महाभारत' में इसका प्रमाण सुरक्षित है।[7]

इस प्रकार कौटिल्य से पूर्व अर्थशास्त्र पर गंभीरतापूर्वक विचार हो चुका था और उन सुविचारित कृतियों में से बहुत-सी कृतियाँ कौटिल्य के समक्ष थी। यही कारण था कि वह इतना महान् ग्रन्थ लिख सका।

कौटिल्य नाम का निराकरण

आचार्य कौटिल्य की ख्याति दूसरे ही नामों से है। उनका एक लोक-विश्रुत नाम चाणक्य भी है। चाणक्य उन्हें चणक का पुत्र होने के कारण और कौटिल्य उन्हें कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण कहा जाता है। ये दोनों नाम उनके पितृ-प्रदत्त नाम न होकर वंशज नाम या उपाधि नाम हैं। उनका वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। कौटिल्य के इस विष्णुगुप्त नाम का हवाला आचार्य कामन्दक के 'नीतिसार' में उपलब्ध होता है, जिसकी रचना ४०० ई० के लगभग हुई। आचार्य कामन्दक कृत 'नीतिसार' की आरंभिक पुष्पिका से हमें चार बातों की जानकारी होती है। पहली बात तो यह कि कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' का प्रणयन किया, दूसरी बात यह कि कामन्दक के नीति-ग्रन्थ का आधार वही 'अर्थशास्त्र' था, तीसरी बात यह कि

---

१. अष्टाध्यायी ४।१।९९; महाभाष्य १।१।३७ काशिकावृत्ति, ६।२ ६९
२. अर्थशास्त्र, भाग १, पृ० ३२, २८३
३. मत्स्यपुराण २५२।२
४. बृहत्संहिताटीका ५२·४१
५. मत्स्यपुराण २५२।२
६. वही २५२।२–४
७. महाभारत १।१० २१२।३४

कौटिल्य ने नंदवंश का उन्मूलन कर उसकी जगह मौर्यवंश को प्रतिष्ठित किया और चौथी बात यह कि कौटिल्य का असली नाम विष्णुगुप्त था।

'कामन्दकीय 'नीतिसार' उसी विद्वान् के ग्रन्थ का आधार है, जिसके वज्र ने, पर्वत की तरह अडिग, नंदवंश को समूल उखाड़ फेंका था, जिसने चंद्रगुप्त को पृथिवी का स्वामी बनाया और जिसने अर्थशास्त्ररूपी समुद्र से नीतिशास्त्ररूपी नवनीत का दोहन किया, ऐसे उस विष्णुगुप्त नामक विद्वान् को नमस्कार है।'[1]

'नीतिसार' के अतिरिक्त संस्कृत के कतिपय कोश-ग्रंथों से आचार्य विष्णुगुप्त के पर्यायवाची नामों का पता लगता है, जिनमें कौटिल्य और चाणक्य के अतिरिक्त कतिपय अप्रचलित नामों का भी उल्लेख मिलता है। ये नाम प्राचीन और अर्वाचीन सभी ग्रन्थों में मिलते हैं।[2] विभिन्न कोश-ग्रंथों के एकमुखी वचनों की संगति से आचार्य कौटिल्य के वास्तविक नाम और उनके लिए प्रयुक्त होने वाले दूसरे नामों का स्वतः ही निराकण हो जाता है।

अर्थशास्त्र का प्रणेता

कामन्दकीय 'नीतिसार' के पूर्वोक्त प्रमाणों से सुनिश्चित है कि 'अर्थशास्त्र' का निर्माण आचार्य कौटिल्य ने किया। कुछ दिन पूर्व विदेशी विद्वानों के एक संप्रदाय ने यहाँ तक सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि 'अर्थशास्त्र' एक जाली ग्रन्थ है और जिसके नाम को उसके साथ जोड़ा गया है, वह कौटिल्य भी एक कल्पित नाम है। विदेशी विद्वानों की इन भ्रांत धारणाओं और कल्पनाओं को व्यर्थ सिद्ध करने वाली नई खोजों का सविस्तार उल्लेख आगे किया जायेगा। यहाँ

---

१. नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ ६ ॥ नीतिसार, ४, ५, ७

२. विष्णुगुप्तस्तु कौटिल्यश्चाणक्यो द्रामिलोऽङ्गुलः ।
वात्स्यायनो मल्लनागः पक्षिलस्वामिनावपि ॥
वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः ।
द्रामिलः पक्षिलः स्वामी विष्णुगुप्तोऽगुलश्च सः ॥ हेमचन्द्र
वात्स्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः ।
द्रामिल पक्षिलः स्वामी मल्लनागोऽङ्गुलोऽपि च ॥ यादवप्रकाश वैजयंती
कात्यायनो वररुचिर्मेयजिच्च पुनर्वसुः ।
कात्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः ॥
द्रामिल पक्षिलः स्वामी मल्लनागोऽङ्गुलोऽपि च । भोजराज नाममल्लिका

तो इतना भर बता देना यथेष्ट है कि 'अर्थशास्त्र' का प्रणेता विष्णुगुप्त कौटिल्य ही था।

'अर्थशास्त्र' का समाप्ति-सूचक एक श्लोक आता है, जिसका निष्कर्ष है कि 'इस ग्रंथ की रचना उसने की, जिसने कि शास्त्र, शस्त्र और नंदराजा द्वारा शासित पृथिवी का एक साथ उद्धार किया'।[1]

'अर्थशास्त्र' के इस श्लोक में वर्णित नंदराजा द्वारा शासित राजसत्ता को विनष्ट कर उसकी जगह मौर्य-साम्राज्य की प्रतिष्ठा करने वाले अद्भुत राजनीति-विशारद आचार्य कौटिल्य का निर्देश पहिले किया जा चुका है। इससे प्रामाणित है कि 'अर्थशास्त्र' का निर्माता कौटिल्य ही था। उक्त श्लोक में कौटिल्य की अहंवादिता का आभास है, जो कि सर्वथा युक्त भी है। ऐसा विदित होता है कि आचार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र के भारी पंडित तो थे ही, वरन्, दूसरे शास्त्रों और शस्त्रविद्याओं में भी प्रवीण थे। 'अर्थशास्त्र' की सभी बातें पूर्णतया सत्य हैं और उसके लेखक ने उनको अपने वैयक्तिक अनुभव पर तौलकर लिखा है।[2]

'अर्थशास्त्र' और कौटिल्य के संबंध में कुछ दिन पूर्व जो विवाद चल पड़ा था, आधुनिकतम खोजों ने उसको सर्वथा व्यर्थ सिद्ध कर अंतिमरूप से प्रामाणित कर दिया है कि 'अर्थशास्त्र' का निर्माता विष्णुगुप्त कौटिल्य ही था।

अर्थशास्त्र का रचनाकाल

'अर्थशास्त्र' और उसके निर्माता कौटिल्य के सम्बन्ध में जितना विवाद रहा, उससे कहीं अधिक भ्रमपूर्ण धारणाएँ उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में प्रचारित हुई। आचार्य कौटिल्य की जीवन-सम्बन्धी जानकारी और उनके अद्भुत ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' की छान-बीन करने में देशी-विदेशी विद्वानों का वर्षों तक घोर विवाद चलता रहा। इस तर्क-वितर्क की परम्परा में जिन देशी-विदेशी विद्वानों ने भरपूर खोज की उनमें पं० शामशास्त्री, पं० गणपतिशास्त्री, श्री काशीप्रसाद जयसवाल, श्री नरेन्द्रनाथ लाहा, श्री राधामुकुद मुकर्जी, श्री देवदत्त भंडारकर, श्री रमेश मजूमदार, श्री उपेन्द्र घोषाल, श्री प्राणनाथ विद्यालंकार, श्री विनय कुमार सरकार और श्री जयचन्द्र विद्यालंकार प्रमुख हैं। इसी प्रकार विदेशी

---

१. येन शास्त्रं च शस्त्रं च नंदराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥ अर्थशास्त्र १५।१।८०

२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिवलाइजेशन, पृ० ८८

विद्वानों में श्री हिलेब्रॉट, श्री हर्टल, याकोबी साहब, श्री विंसेंट स्मिथ, श्री औटो स्टाइन, डॉ० जौली, डॉ० विंटरनित्स और डॉ० कीथ का नाम उल्लेखनीय है।

'अर्थशास्त्र' और उसके निर्माता के सम्बन्ध में विदेशी विद्वानों की स्थापनाओं को निर्मूल साबित करने के लिए भारतीय विद्वानों ने जो तर्कपूर्ण प्रमाण उपस्थित किए वे बड़े आधारित, नपे-तुले, सत्य और साथ ही मनोरंजक भी हैं।

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के उद्धारक के रूप में पं० शामशास्त्री का नाम 'अर्थ-शास्त्र' के ही साथ अमर हो चुका है। श्री शास्त्री जी ने मैसूर राज्य से प्राप्त कर इस महाग्रन्थ के कुछ अंशों को पहिले-पहल १९०५ ई० में इण्डियन एंटिक्वेरी में सानुवाद प्रकाशित किया और बाद में १९०९ ई० में संपूर्ण ग्रन्थ को बड़ी शुद्धता के साथ प्रकाशित भी किया।[१] पं० शामशास्त्री ने ग्रन्थ के विस्तृत उपोद्घात में बड़े पांडित्यपूर्ण प्रमाणों को साथ रखकर 'अर्थशास्त्र' के सम्बन्ध में तीन बातों का विशेष रूप से उल्लेख किया। पहली बात उन्होंने यह सिद्ध की कि आचार्य कौटिल्य चंद्रगुप्त मौर्य के आमात्य थे, दूसरी बात उन्होंने यह दिखाई कि 'अर्थशास्त्र' कौटिल्य की ही कृति है और तीसरा निराकरण उन्होंने यह भी किया कि 'अर्थशास्त्र' का यही प्रामाणिक मूल पाठ है। १९०५ ई० में शामशास्त्री ने 'अर्थशास्त्र' के जिस अनुवाद को प्रकाशित किया था, ट्रावनकोर राज्य द्वारा प्रकाशित कामन्दकीय 'नीतिसार' की टीका में 'अर्थशास्त्र' के उद्धृत अंशों से उसका मिलान ठीक नहीं बैठता है।[२]

अर्थशास्त्र विषयक विवाद

'अर्थशास्त्र' कौटिल्य की कृति है और वह अपने मूलरूप में उपलब्ध है, पं० शामशास्त्री की इन दो अन्तिम बातों का समर्थन हिलेब्रांट, हर्टल, याकोबी (१९१२ ई०) और स्मिथ ने भी किया। विन्सेंट स्मिथ ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'अर्ली हिस्ट्री' के तीसरे संस्करण (१९१४ ई०) में शास्त्री जी की उक्त स्थापनाओं को मान्यता देकर उन पर अपने समर्थन की अंतिम मुहर लगा दी।

स्मिथ के उक्त इतिहास-ग्रन्थ के लगभग आठ वर्ष बाद विदेशी विद्वानों के एक दल ने कौटिल्य, उनके 'अर्थशास्त्र' और उसकी प्रामाणिकता के बारे में

---

१. बिब्लियोथिका संस्कृतिका, सं० ३७ (मैसूर, १९०९)

२. डॉ० सोराबजी : नोट्स आन दि अध्यक्षप्रचार, १९१४ ई०

अविश्वास की नई मान्यताएँ स्थापित यह कीं कि कौटिल्य, ग्रंथकार का वास्तविक नाम न होकर कल्पित नाम है और वह तीसरी श० का एक जाली ग्रंथ है।[1] औटो स्टाइन ने 'मेगस्थनीज ऐंड कौटिल्य' नामक अपनी समीक्षात्मक पुस्तक में मेगस्थनीज और कौटिल्य की बातों में पारस्परिक विरोध दिखाने का यत्न किया। ओटो स्टाइन के बाद डॉ० जौली इस क्षेत्र में आए और उन्होंने इस सम्बन्ध में जिन नई मान्यताओं को जन्म दिया वे आज भी हमारे सामने हैं।

सन् १९२३ ई० में डॉ० जौली की पंजाब संस्कृत सीरीज, लाहौर से एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका नाम है 'अर्थशास्त्र ऑफ कौटिल्य'। अपनी इस पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने यह सिद्ध किया कि 'अर्थशास्त्र' तीसरी शताब्दी में लिखा गया एक जाली ग्रन्थ है। इसके रचयिता कौटिल्य को डॉ० जौली ने एक कल्पित राजमंत्री कहा है।

डॉ० जौली के उक्त मत को अतर्क्य कहकर डॉ० विंटरनित्स ने अपने ग्रंथ 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' (१९२७ ई०) में जौली साहब के मत की ही पुष्टि की। इनके पश्चात् डॉ० कीथ ने १९२८ ई० में 'सर आशुतोष स्मारक ग्रंथ' के प्रथम भाग में एक लेख लिखकर भरपूर शब्दों में यह सिद्ध किया कि 'अर्थशास्त्र' की रचना ३०० ई० से पहिले की कदापि नहीं हो सकती है। इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने एक नई बात यह जोड़ दी कि सम्पूर्ण 'अर्थशास्त्र' ही एक अप्रामाणिक रचना है।

डॉ० जौली के भ्रमपूर्ण प्रचार और अपनी प्रस्तावना में उद्धृत उनके तर्कों का डॉ० काशीप्रसाद जयसवाल ने खंडिन किया और प्रामाणिक आधारों को साक्षी रखकर स्पष्ट किया कि 'अर्थशास्त्र' जैसा संस्कृत-साहित्य का महान् ग्रंथ जाली नहीं है। उसका रचयिता कौटिल्य एक कल्पित व्यक्ति न होकर सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का राजमंत्री था। 'अर्थशास्त्र' उसीकी प्रामाणिक कृति है और जिसकी रचना ४०० ई० पू० में हुई।[2]

इसी प्रकार श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने, डॉ० कीथ द्वारा उक्त निबंध में उपस्थित किए गए तर्क और उनके समाधानों की विस्तृत आलोचना करके दूसरे इतिहासकारों की इस राय से कि कौटिल्य, चंद्रगुप्त मौर्य

---

१. जे० बी० ओ० आर० एस० २, पृ० ८०

२. विस्तृत विवरण के लिए : डॉ० जयसवाल : हिन्दूराजतंत्र १, का परिशिष्ट ग, का 'पहिले खंड के अतिरिक्त नोट' पृ० ३२७–३६८

(३२५–२७३ ई० पू०) के आमात्य थे और 'अर्थशास्त्र' उन्हीं की कृति है, जो अपने प्रामाणिक रूप में उपलब्ध है, अपना अभिमत भी कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' को ३०० ई० पू० के लगभग रचे जाने के समर्थन में प्रस्तुत किया ।[1]

इस प्रकार कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के संबंध में इन आधुनिकतम गवेषणाओं से, कुछ दिन पूर्व डॉ० जौली प्रभृति विद्वानों द्वारा उठाई गई भ्रांतियों का, सर्वथा निराकरण हो जाता है और 'अर्थशास्त्र' संबंधी सभी तथ्य प्रामाणिक रूप से प्रकाश में आ जाते हैं ।

अर्थशास्त्र का व्यापक प्रभाव

संस्कृत-साहित्य के कतिपय ग्रन्थकारों की कृतियों पर 'अर्थशास्त्र' का प्रभाव है, जिससे उसकी सार्वभौमिक मान्यता का पता चलता है। ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में विद्यमान महाकवि कालिदास से लेकर याज्ञवल्क्य, वात्स्यायन, विष्णुशर्मा, विशाखदत्त, दण्डी और बाण प्रभृति महाकवि स्मृतिकार, गद्यकार और नाटककारों की कृतियाँ 'अर्थशास्त्र' से प्रभावित हैं। वैसे भी स्वतंत्र रूप में 'अर्थशास्त्र' का दाय लेकर अनेक कृतियाँ उस विषय पर संस्कृत में रची गई; किन्तु दूसरे विषय के जिन ग्रन्थों में कौटिलीय अर्थशास्त्र का महत्त्व एवं उसकी शैली का अनुकरण है, उनकी संख्या भी पर्याप्त है ।

महाकवि कालिदास (१०० ई० पू०) के 'रघुवंश,' 'कुमारसंभव' और 'शाकुन्तल' आदि ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' से प्रभावित है ।[2] इसी प्रकार 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' (१५० ई०) में भी पर्याप्त रूप से हमें 'अर्थशास्त्र' का जिक्र मिलता है ।[3] आचार्य वात्स्यायन (३०० ई०) ने तो अपने 'कामसूत्र' का एकमात्र आधार कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' स्वीकार किया है और इसी हेतु दोनों ग्रंथों का प्रकरण-विभाजन भी एक जैसा है ।[4]

संस्कृत में लोकप्रिय कथाओं का एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ 'पंचतंत्र' संप्रति अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं, जिसकी रचना ३०० ई० पू०

---

१. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा २, पृ० ५४७; ६७३–७००

२. मिलाइए : अर्थशास्त्र २।१; १०।७; १७।५५; ७।३; ९।१; ७।१५; १।२; ८।३
क्रमश : रघुवंश १५।२९ तथा कुमारसंभव ६।७३, रघु० १७।४९, १२।५५, १७।५६, १७।७६, १७।८९, १८।५० तथा शाकुन्तल २।५

३. प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार : कौटिल्य अर्थशास्त्र की प्रस्तावना, पृ० ८–९.

४. कामसूत्रमिदं प्रणीतम् । तस्यायं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः । कामसूत्र १।१

मानी जाती है और अपने विषय का जिसे दुनियाँ के कथा-काव्यों में पहिला ग्रंथ माना जाता है। उसके विभिन्न रूपों में विष्णुशर्माकृत 'पंचतंत्र' ही प्रधान है, जिसकी रचना कथमपि ३०० ई० से बाद की नहीं है। इस ग्रन्थ में चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' को 'मनुस्मृति' और 'कामसूत्र' की तरह अपने विषय का एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ कहा गया है।[1] 'पंचतंत्र' के प्रथम अध्याय में एक दूसरे स्थल पर 'अर्थशास्त्र' को 'नयःशास्त्र' से भी अभिहित किया गया है।

संस्कृत-साहित्य का एक बहुश्रुत नाटक 'मुद्राराक्षस' है, जिसका रचयिता विशाखदत्त ६०० ई० के लगभग हुआ। यह नाटक एक प्रकार से आचार्य कौटिल्य की आंशिक जीवनी है। 'मुद्राराक्षस' से महामति कौटिल्य के अतुल व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

विशाखदत्त के समकालीन कथाकार एवं काव्यशास्त्री आचार्य दण्डी ने कौटिलीय दण्डनीति के अध्ययन पर तो जोर दिया ही है, वरन्, उसके कलेवर के संबंध में भी एक ऐतिहासिक बात कही है। दण्डी का कथन है कि 'आचार्य विष्णुगुप्त-निर्मित उस दण्डनीति का अध्ययन करो, जिसको उन्होंने मौर्य (चंद्रगुप्त) के लिए छह-हजार श्लोकों में संक्षिप्त किया था। जो भी इस उत्तम ग्रन्थ को पढ़ेगा उसको यथेष्ट फल मिलेगा।'[2]

'कादम्बरी' नामक कथाकृति के निर्माता बाण (७०० ई०) ने कौटिल्य-शास्त्र का उल्लेख तो किया है, किन्तु न जाने क्यों उन्होंने उसको निकृष्ट शास्त्र कह कर अभिहित किया है! बाण का कथन है कि 'उन लोगों के लिए क्या कहा जाय जो अतिनृशंस कार्य को उचित बताने वाले कौटिल्य-शास्त्र को प्रमाण मानते हैं'?[3]

अर्थशास्त्र और उसकी परंपरा

विराट् हिन्दू जाति के राजनीति-विषयक साहित्य का निर्माण लगभग ६५० ई० पूर्व में हो चुका था। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के सैकड़ों शब्दों पर एवं

---

१. ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि। अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि। कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि। पंचतंत्र

२. अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इदमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैःसंक्षिप्ता। सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकार्यक्षमेति।
दशकुमारचरित, उच्छ्वास ८

३. किं वा तेषां सांप्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशेकौटिल्यशास्त्रप्रमाणम्?

उसकी लेखनशैली पर कल्पसूत्रों की शब्दावली एवं उनकी लेखन-शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।[1] जिससे प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र-विषयक ग्रन्थों का निर्माण कल्पसूत्रों (७०० ई० पू०) के बाद और विशेषरूप से 'बौधायन धर्मसूत्र' (५०० ई० पू०) के बाद होना आरंभ हो गया था। बौद्ध-धर्म के प्राणसर्वस्व जातक-ग्रन्थों का रचना-काल तथागत बुद्ध से पूर्व अर्थात् लगभग ६०० ई० पू० बैठता है। इन जातक-ग्रन्थों में अर्थशास्त्र को एक प्रमुख विज्ञान के रूप में परिगणित किया जाने लगा था और मंत्रियों के लिए उसका अध्ययन आवश्यक कहा जाने लगा था।[2]

सूत्रकाल की समाप्ति (२०० ई० पू०) के समय अर्थशास्त्र एक प्रामाणिक शास्त्र के रूप में समादृत हो चुका था। सूत्र-ग्रंथों में अर्थशास्त्र-विषयक साहित्य की चर्चाओं को देखकर उसकी मान्यता का सहसा ही अनुमान लगाया जा सकता है।[3] गृह्यसूत्रों में तो आदित्य नामक एक अर्थशास्त्रवित् आचार्य का उल्लेख तक मिलता है।[4] 'महाभारत' में हिन्दू-राजनीतिशास्त्र का सिलसिलेवार इतिहास दिया गया है और इस परंपरा के कतिपय प्राचीन आचार्यों की सूची भी दी गयी है।[5]

अर्थशास्त्र की प्राचीन परंपरा का अध्ययन करते समय इस सम्बन्ध में एक बात जानने योग्य यह है कि आरंभ में दण्डनीति और शासनसंबंधी कार्यों का उल्लेख भी अर्थशास्त्र के लिए ही होता था; किन्तु कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से केवल जनपद-सम्बन्धी कार्यों का ही विधान होने लगा था।[6] आचार्य उशना के राजनीतिशास्त्र-विषयक ग्रन्थ को 'दण्डनीतिशास्त्र[7]' और आचार्य बृहस्पति के ग्रन्थ को 'अर्थशास्त्र[8]' इसीलिए कहा गया। इसी परंपरा के अनुसार महाभारतकार ने भी प्रजापति के ग्रंथ को 'राजशास्त्र' कह कर स्मरण किया।[9] इसी प्रकार कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जो ग्रन्थकार ऐतिहासिक व्यक्ति माने गए हैं, वे शांतिपर्व में दैवी विभूति और पौराणिक माने गए हैं।[10]

---

१. प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार : कौटिल्य अर्थशास्त्र की प्रस्तावना
२. फास्बोल : जातक, जिल्द २, पृ० ३०, ७४
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २, ५, १०, १४
४. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३, १२, १६
५. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ५८, ५९
६. अर्थशास्त्र, अ० १५, पृ० ४२४
७. विशाखदत्त : मुद्राराक्षस, १।७
८. वात्स्यायन : कामसूत्र, १
९. महाभारत, शांतिपर्व, अ० ५९
१०. जयसवाल : हिन्दू राजतंत्र १, पृ० ६ का फुटनोट

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

समग्र पूर्ववर्ती आचार्य-परंपरा के सिद्धान्तों और संप्रति उनकी जो अनुपलब्ध कृतियाँ हैं, उन सब का निचोड़ एक साथ हम कौटिल्य के 'अर्थ-शास्त्र' में पाते हैं। आचार्य कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रवित् ऐसे १८ आचार्यों का उल्लेख किया है, जिनसे दाय ग्रहण कर उन्होंने अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया। इस प्राचीन आचार्य-परंपरा के परिचय से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र का निर्माण बहुत पहिले हो चुका था और बहुत पहिले ही विभिन्न ग्रन्थों में आदर के साथ उसका उल्लेख होने लग गया था, जिसकी व्यापक व्याख्या हम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पाते हैं।

जैनधर्मानुयायी राजा अशोक के पुत्र राजा जालौक के शासन-सुधारों एवं उसकी कीर्ति का वर्णन करते हुए कल्हण का कथन है कि जलौक राजा ने राजा युधिष्ठिर के समान अपनी शासन-व्यवस्था को सबल बनाए रखने के लिए धर्माध्यक्ष, धनाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, परराष्ट्र-सचिव, पुरोहित, ज्योतिषी आदि अष्टादश कर्मस्थानों (कार्य-विभागों) की स्थापना की[1]। इससे विदित होता है कि राजकाज के संचालनार्थ भारत में प्राचीनकाल से ही अनेक विभाग स्थापित किए जाने की परंपरा थी। ई० पूर्व ४०० से ४०० ई० के बीच में रचे गए धर्मशास्त्र-विषयक ग्रंथों में सर्वत्र ही हमें अर्थशास्त्र की विस्तृत चर्चाएँ और प्राचीन अर्थशास्त्रों के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है; किन्तु ये सभी चर्चाएँ बिखरी हालत में हैं। आचार्य कामन्दक ने ४०० ई० के लगभग एक पद्यमय ग्रथ 'नीतिसार' लिखा था, जो कि आचार्य शुक्रकृत ग्रन्थ 'शुक्रनीतिसार' का संस्करण रूप था और आधुनिक विद्वानों ने उसके उन उद्धरणों का जिनको कि मध्ययुग के बाद वाले धर्मशास्त्र के टीकाकारों ने उद्धृत किया था, मिलान करने पर पता लगाया कि कामन्दक के 'नीतिसार' का १७वीं श० के लगभग पुनः संस्करण हुआ।[2]

ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में विरचित 'अग्नि' और 'मत्स्य' आदि पुराणों में भी यद्यपि अर्थशास्त्र-सम्बन्धी चर्चाएँ और तद्विषयक कुछ आचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं; तथापि वे विशेष महत्त्व के नहीं हैं। नवम-दशम शताब्दी के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। पहला अर्थशास्त्र-विषयक ग्रंथ 'बृहस्पति-

---

१. राजतरंगिणी १।११८-१२०

२. जयसवाल : हिन्दू राजतत्र १, पृ० ७ का फुटनोट

सूत्र' को डॉ० एफ० डब्ल्यू० थामस ने सम्पादित एवं प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ अपने मूलरूप में बहुत प्राचीन था; किन्तु जिस रूप में वह आज उपलब्ध है, वह नवम-दशम शताब्दी का पुनः संस्करण है। इसी प्रकार दूसरा ग्रन्थ दशवीं शताब्दी में विरचित सूत्रात्मक शैली का 'नीतिवाक्यामृत' है, जिसके रचयिता का नाम सोमदेव था। जैन-दृष्टिकोण से आचार्य हेमचंद्र (१२वीं श०) ने 'लघ्वर्हन्नीति', धारानरेश भोज (११वीं श०) ने 'युक्तिकल्पतरु' और चंडेश्वर ने 'नीतिरत्नाकर' एवं 'नीतिप्रकाशिका' आदि ग्रंथों को लिखकर 'अर्थशास्त्र' की परम्परा को प्रशस्त किया। अर्थशास्त्र-विषयक ग्रंथों के निर्माण की परंपरा लगभग १८वीं श० तक पहुँचती है। अर्थशास्त्र का यह अंत्येष्टि युग नितान्त अवनति का है। १४वीं से १८वीं शताब्दी तक के ग्रंथकारों में चन्द्रशेखर, मित्र मिश्र और नीलकण्ठ प्रमुख हैं, जिनके ग्रन्थों का क्रमशः नाम है : 'राजनीतिरत्नाकर'[1], 'वीरमित्रोदय'[2] और 'राजनीतिमयूख'।[3] चन्द्रशेखर के ग्रन्थ में दो अन्य अर्थशास्त्र-विषयक ग्रन्थों का नाम उद्धृत है। उनमें से एक ग्रन्थ का नाम है 'राजनीतिकल्पतरु', जिसके रचयिता हुए लक्ष्मीधर; और दूसरे का नाम है 'राजनीतिकामधेनु', जिसके रचयिता का पता नहीं चलता।

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य, उनका 'अर्थशास्त्र' और उसकी परंपरा का आकण्ठ अध्ययन करने के पश्चात् हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत-साहित्य की मानवृद्धि में 'अर्थशास्त्र' का अविस्मरणीय योग रहा है, और आचार्य कौटिल्य कल्पनाप्रसूत व्यक्ति न होकर एक युगविधायक महारथी के रूप में संस्कृत भाषा की महानताओं के साथ अजर एवं अमर हो चुके हैं।

---

१. जयसवाल : बिहार ओड़ीसा रिसर्च सोसायटी

२. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित

३. स्व० बा० गोविन्द दास, काशी के पुस्तकालय में सुरक्षित

संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान युग

(२७५ ई० पूर्व से २२५ ई० तक)

सातवाहन साम्राज्य

मौर्यों के राजवंश का उत्तराधिकार

भारतीय इतिहास में सातवाहन-साम्राज्य एक विशिष्ट परम्परा का अनुवर्तक युग रहा है। संस्कृत-साहित्य के बहुमुखी विकास, उसके सर्वांग-निर्माण के लिए सातवाहन नरपतियों ने जो यत्न किए इतिहास उनका साक्षी है। यही कारण है कि सातवाहन-साम्राज्य के प्रतापी शासकों का यश पुराणों से लेकर काव्य-नाटक और कथा-कृतियों में सर्वत्र संमान के साथ याद किया गया है।

सातवाहन-साम्राज्य की ऐतिहासिक जानकारी के लिए पहिले प्रमाण पुराण-ग्रन्थ हैं। 'मत्स्य', 'वायु', 'ब्रह्माण्ड', 'भागवत' और 'विष्णु' आदि पुराणों में यशस्वी सातवाहन-नृपतियों का जो वंश-वृत्त उल्लिखित है वह एक जैसा नहीं है। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ एवं पुरातत्ववेत्ता विद्वान् पार्जीटर महोदय ने उक्त पुराण-ग्रन्थों का सम्यक् शोध करने के पश्चात् पहिले-पहल सातवाहन-राजाओं की एक वंशतालिका तैयार की थी।[1] इस वंशतालिका के अनुसार सातवाहन-साम्राज्य का पहिला शासक सिमुक और अंतिम तीसवाँ शासक पुलोभावि बैठता है।

स्वतंत्र शोध के आधार पर, पार्जीटर महोदय की उक्त सूची को दृष्टि में रखकर, स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल ने सातवाहनवंश की एक तालिका तैयार की थी, जो कि पार्जीटर की सूची की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और

---

१. ए कैटेलॉग ऑफ दि इण्डियन कौइन्स इन दि ब्रिटिश म्युजियम, भूमिका भाग, पृ० ६४, टि० ४

विश्वासयोग्य कही जा सकती है; यद्यपि दोनों विद्वानों के विचारों में कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई देता है। जायसवाल जी भी पार्जीटर महोदय की ही भाँति सिमुक सातवाहन से ही सातवाहन राज-वंश का अभ्युदय स्वीकार करते हैं, जिसका समय उन्होंने २१३ ई० पूर्व निर्धारित किया। सातवाहन-साम्राज्य की अन्तिम सीमा जायसवाल जी के मतानुसार पुलोमावि चतुर्थ में समाप्त होती है, जिसका समय २३८ ई० है। पार्जीटर ने सातवाहन-शासकों की संख्या तीस बताई है और जायसवाल जी ने एक कम उनतीस ही।[१] जायसवाल जी की ही सूची संप्रति सर्वसंमत एवं प्रामाणिक सूची समझी जाती है, जिसको प्रकरण के अन्त में दिया जा रहा है।

इधर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने सातवाहन-युग और गुप्त-युग को मिलाकर उसे साहित्य-निर्माण की दृष्टि से 'अश्वमेध-पुनरुद्धार' के युग से अभिहित किया है। जिसकी सीमा उन्होंने २१२ ई० पूर्व से ५३३ ई० तक रखी है।[२] इसी भांति श्री विद्यालंकार जी ने संपूर्ण सातवाहन युग को, उसके अभ्युदय एवं ह्रास के हिसाब से पाँच विभिन्न युगों में वर्गीकृत किया है, जिनकी सीमायें और जिनके नाम इस प्रकार हैं :[३]

१. २१२–१०० ई० पूर्व तक	शुंगयुग या चेदी-सातवाहन-यवनशुंगयुग
२. १००–५८ ई० पूर्व तक	शकयुग या शकसातवाहनयुग
३. ५७ ई० पूर्व से ७८ ई० तक	सातवाहन-समृद्धि-युग
४. ७८–१८० ई० तक	तुखार-सातवाहन-युग
५. १८०–२३८ ई० तक	आभीर-सातवाहन-युग

इस दृष्टि से सातवाहन-साम्राज्य के भीतर अज्ञाकुलीन शुंग-वंश, कलिंग के खारवेल कण्व राजाओं का युग और आंध्र-राजाओं का युग सभी समा जाते हैं। कुछ इतिहासकारों के मत से आंध्र-सातवाहन का अभ्युदय राजा सिमुक अथवा शिशुक द्वारा २४० ई० पूर्व के लगभग हुआ और राजा श्रीचन्द्र के समय तक लगभग २२५ ई० में उसका अन्त हुआ।[४] आंध्रभृत्य इन राजाओं का पारिवारिक नाम था।[५]

---

१. जयसवाल : हिन्दूराज तंत्र, प्रथम खण्ड

२. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा २, पृ० ९०६

३. वही, क्रमशः

४. उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० १७६

५. दि कलेक्टिड वर्क्स ऑफ भंडारकर, भाग १, पृ० ५१

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

सातवाहन-राजवंश का अस्तित्व दक्षिण में बहुत प्राचीन समय से था। सातवाहन राजा दाक्षिणात्य आंध्रवंशीय थे और वे कदम्बों से पूर्व कुन्तल (कर्णाटक) प्रदेश पर राज्य करते थे।[1] अनेक प्रमाणों एवं अनुसंधानों के आधार पर इतिहासकारों ने पता लगाया है कि आंध्रभृत्य या सातवाहन राजा ब्राह्मण थे।[2]

सातवाहनों का मूल बहुत ही अंधकार में है।[3] सांची (मध्यप्रदेश) और नाना घाट (पूना जिला) में उपलब्ध इनके अभिलेखों का अध्ययन कर इस बात की समानता स्थापित करना बहुत ही कठिन हो जाता है कि आँध्र और सातवाहन एक ही थे। इस संबंध में इतिहासकारों की राय है कि सातवाहनों ने अपनी शक्ति का आरंभ पहिले दक्षिण में किया और शीघ्र ही उन्होंने आँध्र भी अपने आधीन कर लिया। किन्तु शक और आभीर आक्रमणों के फलस्वरूप जब उनकी सत्ता पश्चिमी प्रदेशों से उठ गई तब उनकी शक्ति गोदावरी एवं कृष्णा की भूमि तक ही सीमित रह गई। इसी अवस्था में वे आँध्र कहे गए।[4]

सातवाहनों के उपलब्ध अभिलेखों में दक्षिण की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों का प्रचुरता से अध्ययन किया जा सकता है,[5] जिससे पूर्णतया प्रकट हो जाता है कि उनका मूल दक्षिण में ही था।

---

१. राय चौधरी : पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ एंश्येंट इण्डिया, पृ० २७७-२७९

२. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १; जे० आर० ए० एस० (१९२९) पृ० ५९९; पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ एश्येंट इंडिया, पृ० २८०-२८२; एपिग्रेफिया इंडिका, ८, पृ० ६१-६२

३. डॉ० सुक्थकर उनका मूल बेलारी जिला बताते हैं—एन० भंडा० इंस्टि०, पृ० २१, १९१८-१९; डॉ० राय चौधरी के मतानुसार उनका मूल 'मध्यदेश के निकट दक्षिण की भूमि' है—पोल० हिस्ट्री ऑफ एं०, पृ० ३४२, चतुर्थ संस्करण; महामहोपाध्याय मीराशी उन्हें बरार अथवा बेणगंगा के तटवर्ती भूमि का मूल निवासी बताते हैं—जे० एन० एस० आई०, भाग २, पृ० ९४

४. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० १४७

५. डॉ० भंडारकर : 'डेकन ऑफ दि सातवाहन पीरियड', इंडियन ऐन्टि० ४७, पृ० १४९ क्रमशः तथा वही ४८, पृ० ७७

शुंग युग

शुंग-साम्राज्य का अधिष्ठाता और शुंग-वंश का एकमात्र उदीयमान रत्न पुष्यमित्र हुआ। लगभग तीसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त और दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरंभ में मौर्य-साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लग गई थी। यवनों के आक्रमण ने मौर्य-वंश की इस पतनोन्मुख स्थिति को और भी अशक्त बना दिया। इस पर भी जो कुछ रही-सही शक्ति थी उस पर अंतिम आघात पुष्यमित्र ने किया और मौर्य-साम्राज्य सर्वथा विलुप्त हो गया।[1] इस प्रकार मगध की राजसत्ता पर शुंग-वंश का पूर्णाधिपत्य हुआ।

'वायु', 'ब्रह्माण्ड' और 'विष्णु' प्रभृति पुराणों में शुंग-वंश की संपूर्ण आयु को ११२ वर्ष की बताया गया है।[2] शुंग-वंश का पहिला प्रतापी शासक पुष्यमित्र का निधनकाल कुछ इतिहासकारों ने ३६ वर्ष राज्य करने के उपरांत लगभग १४८ ई० पू० बताया है, जिससे कि उसका राज्याभिषिक्त होना १८४ ई० पू० सिद्ध होता है।[3] कुछ इतिहासकार, पुराणों की गणना को प्रधानता देते हुए शुंग-वंश की शासनावधि को तो ११२ वर्ष मानते हैं और शुंग-वंश की परिधि को १८४-७२ ई० पू० के भीतर मानते हैं;[4] किन्तु उधर राय चौधरी के कथनानुसार पुष्यमित्र का ३६ वर्ष राज्य करने के उपरान्त १५१ ई० पू० में अंतकाल हुआ।[5] इस दृष्टि से पुष्यमित्र का मगध की गद्दी पर आसीन होना १८७ ई० पू० बैठता है।

राय चौधरी शुंग-वंश की अवधि के लिए ११२ वर्ष का समय देते हैं और उनके अनुसार शुंग-युग १८७–७५ ई० पू० के बीच बैठता है।[6]

विभिन्न इतिहासकारों की उक्त स्थापनाएँ तीन वर्ष के हेर-फेर के बावजूद भी लगभग एक जैसी हैं। इतना निश्चित है कि पुष्यमित्र ने दस वर्ष राज्य किया और संपूर्ण शुंग-साम्राज्य मगध की गद्दी पर ११२ वर्ष अधिष्ठित रहा।

---

१. राय चौधरी : पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ एंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २५० (तृतीय संस्करण)
२. वायुपुराण ९९।३४३; ब्रह्माण्ड पुराण ३।७४।१५६; विष्णुपुराण ४।२४।३७
३. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४३
   उपाध्याय : वही, पृ० १६९
४. श्रीनिवासाचार्य और रामस्वामी ऐयंगर : प्राचीन भारत, हिन्दूकाल (११५०)
५. राय चौधरी : पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ एंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ३२६
६. राय चौधरी : पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ एंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ३३२

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

कथाकार बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में लिखा है कि 'प्रतिज्ञादुर्बल' राजा बृहद्रथ (बृहदश्व) को सेना का निरीक्षण करते हुए उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मार डाला था।[१] यह बृहद्रथ या बृहदश्व मौर्य-साम्राज्य का अंतिम उत्तराधिकारी हुआ, जिसका शासनकाल १९५-१८८ ई० पू० बैठता है।[२] इतिहासकारों ने पुष्यमित्र को ब्राह्मणवंशीय बताया है।[३] 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' में शुंगों को आचार्य कहा गया है।[४] लामा तारानाथ ने पुष्यमित्र को ब्राह्मण, किसी राजा का पुरोहित, यहाँ तक कि उसको 'ब्राह्मण राजा' भी कहा है।[५]

पुष्यमित्र का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अग्निमित्र हुआ। शुंग-साम्राज्य के लगभग दस राजा हुए; किन्तु उनका इतिहास विलुप्त है।[६] शुंग-वंश का अंतिम राजा देवभूति हुआ, पुष्यमित्र से देवभूमि तक लगभग ११२ वर्ष शुंग-साम्राज्य की राज्यस्थिति कायम रही। 'विष्णुपुराण' के अनुसार वसुदेव नामक मंत्री ने अपने व्यसनी स्वामी शुंगराज देवभूति को मार कर स्वयं उसकी गद्दी ले ली थी।[७] 'हर्षचरित' में भी लिखा है कि मंत्री वसुदेव ने उसकी दासी-पुत्री को उसकी सम्राज्ञी के रूप में भेज कर उस मदनमथित कामुक की हत्या करा दी थी।[८]

सातवाहन राजाओं की वंशावली

'मत्स्य,' 'वायु', 'ब्रह्माण्ड', 'विष्णु' और 'भागवत' अदि पुराणों में बिखरी हुई सातवाहन राजाओं की वंशावली-सम्बन्धी सामग्री को एकत्र करके पार्जीटर महोदय ने एक तालिका बनाई थी, कुछ-कुछ सुधार के बाद जयसवाल जी ने भी जिसको उसी रूप में अंगीकार किया। जयसवाल जी द्वारा अंगीकृत तालिका को विद्यालंकार जी ने प्रामाणिकता के साथ इस प्रकार दिया है[९] :

---

१. वाण : हर्षचरित, प्रतिज्ञा दुर्बलं च बलदर्शन···पृ० १९९ (बंबई संस्करण १९२५) तथा कावेल और टामस का अनुवाद, पृ० १९३
२. चंद्रगुप्त विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा २, पृ० ६१७
३. पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एंश्येण्ट इन्डिया, पृ० ३०७, ३०८ (चतुर्थ संस्करण)
४. आश्वलायन गृह्यसूत्र १२।१३।५
५. शीफनर का अनुवाद, अध्याय १६
६. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १४३
७. विष्णुपुराण ४।२४, ३९, पृ० ३५२ (गीताप्रेस का संस्करण)
८. हर्षचरित ६, पृ० १९९ (बम्बई संस्करण)
९. भा० इ० रू० २, पृ० ८९-९५

संख्या	राजाओं का क्रम	राज्यावधि	राज्य-सीमा
१	सिमुक सातवाहन	२३ वर्ष	२०५/२१३ से १८२/१९० ई० पूर्व
२	कृष्ण	१० या १८ ,,	१८२/१९० ,, २७२ ,,
३	शातकर्णि (१)	१० ,,	१७२ ,, १६२ ,,
४	पूर्वोत्संग	१८ ,,	१६२ ,, १४४ ,,
५	स्कंधस्तंभि	१८ ,,	१४४ ,, १२६ ,,
६	लंबोदर	१८ ,,	१२६ ,, ११८ ,,
७	मेघस्वाति	१८ ,,	११८ ,, १०० ,,
८	(गौत०) शातकर्णि (२)	५६ ,,	१०० ,, ४४ ,,
९	(वाशि०) पुलोमावि (१)	३६ ,,	४४ ,, ८ ,,
१०	कृष्ण (२ गौरकृष्ण)	२५ ,,	८ ई० पूर्व से १७ ई०
११	हाल	५ ,,	१७ से २१ ई०
१२	पत्तलक	५ ,,	२१ ,, २६ ,,
१३	पुरिकसेन	२१ ,,	२६ ,, ४७ ,,
१४	स्वाति (साति)	१८ ,,	४७ ,, ६५ ,,
१५	स्कंदस्वाति	७ ,,	६५ ,, ७२ ,,
१६	महेन्द्र शातकर्णि	३ ,,	७२ ,, ७५ ,,
१७	कुंतल शातकर्णि	८ ,,	७५ ,, ८३ ,,
१८	सुंदर शातकर्णि	१ ,,	८३ ,, ८४ ,,
१९	(वासि०) पुलोमावि (२)	४ ,,	८४ ,, ८८ ,,
२०	(माठ०) शिवस्वामी	२८ ,,	८८ ,, ११६ ,,
२१	गौतमीपुत्र पुलोमावि (३)	३ ,,	११६ ,, १४४ ,,
२२	(वासि०) चतखट शातकर्णि	१३ ,,	१४४ ,, १५७ ,,
२३	(गौत०) यज्ञश्री शातकर्णि	२९ ,,	१५७ ,, १८६ ,,
२४	शातकर्णि (३)	२९ ,,	१८६ ,, २१५ ,,
२५	(वासि०) शिवश्री	७ ,,	२१५ ,, २२२ ,,
२६	शिवस्कंद	० ,,	२२२ ,, — ,,
२७	विजय	६ ,,	२२२ ,, २२८ ,,
२८	(वासि०) चंद्रश्री शातकर्णि	३ ,,	२२८ ,, २३१ ,,
२९	पुलोमावि (४)	७ ,,	२३१ ,, २३८ ,,

कण्वकुल

पुराणों की गणना के अनुसार पहिले बताया जा चुका है कि शुंगवंश ने कुल मिलाकर ११२ वर्षों तक राज्य किया। काण्वायनों अथवा कण्वों का पहिला शासक वसुदेव था, जिसने ७२ ई० पूर्व दासीपुत्री द्वारा कामुक राजा शुंग देवभूति का वध कराकर मगध की राजगद्दी पर अपना अधिकार किया था।[1] कण्वों का कुल भी शुंगों की भांति ब्राह्मण ही था।[2]

काण्वकुल के चार राजा हुए, जिनके नाम थे वसुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मन्, जिनका आरंभ शुंगों के बाद हुआ। इन सभी के राज्यकाल का कुल जोड़ ४५ वर्ष बैठता है। इन चार कण्व राजाओं को 'शुंगभृत्य' भी कहा गया है।[3] पुराणों में जो कण्वों के बाद आंध्रों का उदय बताया गया है, वह इतिहास-संमत नहीं बैठता है। आंध्र-सातवाहनों का उदय लगभग २२० ई० पूर्व में हो चुका था, और इस दृष्टि से सिमुक, कण्वों का नाश करने वाला सिद्ध नहीं होता है। इसलिए कण्वों के अन्तिम राजा सुशर्मन् को मार कर सिमुक से भिन्न किसी दूसरे सातवाहन राजा ने २७ ई० पूर्व मगध पर अधिकार किया था।[4]

खारबेलकुल

अशोक की मृत्यु के बाद कालिंग पर जिस 'चेदि' नामक ब्राह्मण कुल की प्रतिष्ठा हुई थी, खारबेल उसी कुल का था। वह जैन हो गया था और अपने बल-विक्रम से उसने एक बहुत बड़े साम्राज्य का निर्माण कर दिया था। उत्तर और दक्षिण में प्रतिष्ठित मौर्यों एवं सातवाहनों के शक्तिशाली साम्राज्यों को उसने चुनौती दी। उसने दो बार मगध को पराभूत किया और कलिंग की कालिमा को धोया।

हाथीगुंफा (भुवनेश्वर, पुरी जिला के समीप) में उपलब्ध अभिलेख में

---

१. पार्जिटर : डेनेस्टीज़ ऑफ दि कलि एज, पृ० ७१
   डॉ० उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १७०
२. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० १४४
३. 'चत्वारः शुंगभृत्यास्ते नृपाः कण्वायना द्विजाः' वायुपुराण
४. डॉ० उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० १७०

चेदि-कुल के तृतीय नरेश खारबेल की कीर्तिकथा उल्लिखित है।[1] इस अभिलेख के आधार पर कुछ विद्वानों ने खारबेल का शासन-काल भ्रमात्मक दिया है।[2] आधुनिक इतिहासकारों का अभिमत है कि खारबेल योनराज (यवनराज) दिमित (डेमिट्रियस Demetrios[3]) का समकालीन था और हाथीगुंफा एवं नानाघाट के अभिलेखों की एकता प्रकट होने के कारण वह सातवाहन-कुल के तीसरे राजा शातकर्णि का समकालीन था, जिससे कि खारवेल का समय २०० ई० पूर्व के लगभग ठहरता है।[4] उसके अभिलेख से इतना विदित होता है कि लेख, गणित, व्यवहार (कानून) और अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर वह २४ वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा।

कलिंगराज खारबेल की पूर्व एवं परवर्ती वंश-परम्परा के सम्बन्ध में इससे अधिक कोई वृत्त मालूम नहीं होता है।

हिन्दू ग्रीक युग

ग्रीक-शासकों ने भारत के सिंध और पंजाब आदि प्रदेशों पर लगभग डेढ-सौ वर्ष तक राज्य किया। ग्रीक-विजेताओं के कई आक्रमण भारत पर हुए। सबसे पहिला आक्रमण मकदूनीया के महान् विजेता सिकन्दर ने ३२६ ई० पूर्व में भारत पर किया। दूसरा ग्रीक आक्रमण सेल्यूकस द्वारा ३०६ ई० पूर्व में हुआ। इसी प्रकार तीसरा आक्रमण अंतियोकस् तृतीय ने लगभग ३०६ ई० पूर्व में किया। बाद के शक्तिशाली आक्रमणकारों में बाख्त्री के दिमित्रिय, युक्रेतिद और मिनेंडर नामक तीन विजेताओं के नाम उल्लेखनीय हैं। ये तीनों आक्रमण लगभग २०६-१७५ ई० पूर्व के बीच हुए। इन्हीं

---

१. एपिग्रेफिया इण्डिका, २० जनवरी, १९३०, पृ० ७१ तथा उसके आगे; जयसवाल: जे० बी० ओ० आर० एस० १९१८ (४) पृ० ३६४; वही, १९२७ (१३) पृ० २२१; वही, १९२८ (१४) पृ० १५०

२. डॉ० राय चौधरी: पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ एंश्येंट इण्डिया, पृ० ३१४-१५ ३३७-३८, ३४५ (चतुर्थ संस्करण)

३. राखालदास बनर्जी और डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल: एपि० इंडिका, २० जन०, पृ० ७९ तथा टार्न: दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया, परिशिष्ट ५, पृ० ४५७-५९

४. डॉ० उपाध्याय: प्रा० भा० इति०, पृ० १७९; डॉ० त्रिपाठी खरबेल का समय प्रथम शती ई० पूर्व के तृतीय चरण में कभी रखते हैं। देखिए प्रा० भा० इति०, पृ० १५२

राजवंशों ने लगभग डेढ़-सौ वर्ष भारत के सीमाप्रांत, सिंधु और पंजाब में जमकर शासन किया।[1]

उपर्युक्त अंत के तीनों ग्रीक-शासकों में मिनेंडर सबसे शक्तिशाली, न्यायपरायण और उदार था। अपने अंतिम दिनों में वह इतना धार्मिक, सहिष्णु हुआ कि उसने बौद्ध-धर्म ही ग्रहण कर लिया था। इस शासक के सिक्के काबुल, मथुरा और बुन्देलखंड आदि विविध प्रदेशों में मिले हैं। मिनेंडर की मृत्यु १५०-१४५ ई० पूर्व के बीच हुई।[2]

भारतीय धर्म और आचार-विचारों को ग्रहण करने में इन नवागत ग्रीक सामरिकों ने बड़ी ही मुलामियत से काम लिया। यह एक विस्मय की बात थी कि ग्रीक जाति के साथ भारतीयों का, राजनीति की अपेक्षा, विचारों के आदान-प्रदान के क्षेत्र में अधिक सम्बन्ध रहा है। दोनों जातियों का यह सामंजस्य उनके सत्संबंधों का कारण सिद्ध हुआ।

ग्रीक-शासकों के बाद और कुषाण-राज्य के पूर्व भारत के विभिन्न भागों में हिन्दू-पार्थव (पह्लव), शक-राजकुल : पश्चिमोत्तर के क्षत्रप, मथुरा के क्षत्रप, महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जैन के क्षत्रप आदि विभिन्न राजकुल प्रतिष्ठित थे।

इन राजकुलों में उज्जैन के क्षत्रपवंश का ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्व है। शकों के इस राजकुल ने पश्चिमी भारत पर सदियों तक राज्य किया। इसका पहिला राजा यसामोतिक का पुत्र चष्टन १३० ई० में राज्याधिकारी नियुक्त हुआ। अंधाऊ-अभिलेख के आधार पर डॉ० भंडारकर ने चष्टन और रुद्रदामन् को सम्मिलित राज्य का सञ्चालक माना है।[3] जिससे कि डुब्रोआ सहमत नहीं है।[4] चष्टन के बाद उसके निर्बल पुत्र जयदामन् से होकर उज्जैन के क्षत्रपवंश के यशस्वी शासक रुद्रदामन् के हाथों में शासन की बागडोर गई। उसके विजयों की प्रशस्ति जूनागढ़ के गिरनार पर्वत पर

१. विस्तार के लिए देखिए : डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० १५४-१५९; डॉ० उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० १९०-१९९

२. डब्ल्यू० डब्ल्यू० टार्न : दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया, पृ० २२६, (कैंब्रिज १९३८); एच० जी० रालिंसन : बैक्ट्रिया (लंदन १९१२); इंडिया ऐंड दि वैस्टर्न वर्ल्ड (कैंब्रिज १९१६) कैंब्रिज हिस्ट्री, खंड १, अध्याय २२, पृ० ५४०-५६२

३. डॉ० भंडारकर : इंडियन एंटीक्वेरी ४७ (१९१८) पृ० १५४

४. डुब्रोआ : ऐंश्येण्ट हिस्ट्री ऑफ डेक्कन, पृ० २७

खुदी हुई है।[1] यह संस्कृत भाषा की प्रथम गद्यमयी प्रशस्ति है, जिसका समय शक संवत्० ७२ (१५० ई०) है।

रुद्रदामन् के बाद शकों का यह कुल लगभग दो-सौ वर्षों तक बना रहा; किन्तु इन उत्तराधिकारी उज्जैन के शक-शासकों का इतिहास सर्वथा अंधकार से ढका है।[2] गुप्तकाल के आरंभ तक शकों का राजकुल किसी भी प्रकार जीवित था। 'हर्षचरित' और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का शकराज, जिसे कुमारावस्था में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मारा था, संभवतः इस कुल का रुद्रसिंह तृतीय रहा, जिसके कि अनेक सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। उज्जैन एवं सौराष्ट्र से शकों का सर्वथा मूलोच्छेद कर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने 'शकारि' का वीरुद धारण किया था।[3]

कुषाण राजवंश[4]

कुषाण-राज्य का संस्थापक विजेता कुजूल कडफिसेस था। लगभग १६५ ई० पूर्व में ह्युंग-नु नामक जिस तुर्की खानाबदोस जाति ने उत्तर-पश्चिमी चीन के कान-सू नामक प्रांत में बसनेवाली यहूदी-जाति पर आक्रमण किया था, वही जाति तिब्बत की सीमा को पार करती हुई भारत में प्रविष्ट हुई और कुछ दिन यहाँ रह जाने के बाद वही जाति कुषाण-राज्य की संस्थापक बनी, जिसका पहिला बीर नेता कुजूल-कडफिसेस अथवा वांग था।[5] ईसवी सन् की पहिली सदी के उत्तरार्ध में अथवा दूसरी सदी के प्रारंभ में कुषाण-साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ।[6]

कुजूल कडफिसेस का उत्तराधिकारी उसका पुत्र वीम कडफिसेस गद्दी पर बैठा और तदनन्तर कनिष्क महान् कुषाण-साम्राज्य का दिग्विजयी शासक नियुक्त हुआ। कनिष्क के राज्यारोहणकाल के संबंध में इतिहासकार एक-

---

१. एपिग्रेफिया इंडिका ८, पृ० ३६-४९
२. रैप्सन : कैटलाग ऑफ दि कोइम्स ऑफ आंध्र डेनेस्टी, दि वेस्टर्न क्षत्रप्स (लंदन १९०८)
३. उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० २१२
४. स्मिथः दि कुषाण आर इण्डो-स्केथिन पीरियड ऑफ इण्डियन हिस्ट्री (जे आर ए एस, पृ० १-६४, १९०३); आर० डॉ० बनर्जी : इण्डि० एंटि० ३७, पृ० ३५ (१९०८); स्टेनकोनो : सी० आई० आई २, भूमिका पृ० ४९-८२
५. उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २१६
६. वही

मत नहीं हैं। ५८ ई० पू० से लेकर २७८ ई० तक विभिन्न तिथियों में कनिष्क का स्थितिकाल निर्धारित किया गया है।[1] यहाँ तक भी कुछ इतिहासकारों का मत है कि कनिष्क, कुजूल और वीम का पूर्ववर्ती था[2]; किन्तु कुषाण-राजवंश के संबंध में नई शोधों के अनुसार कुजूल, वीम, कनिष्क, वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव शासक क्रमशः बैठते हैं।

उत्तर भारत में जिस शक-संवत् का आज भी प्रचलन है, इतिहासकार उसको कनिष्क द्वारा संचालित बताते हैं। शक संवत् और ईसवी सन् का ७८ वर्षों का अंतर है। इस दृष्टि से कनिष्क का राज्याधिरोहण-काल लगभग ७८ ई० में बैठता है :[3] कनिष्क, महान् विजेता और बौद्धधर्म का संरक्षक था। उसके पराक्रमों और निर्माण-कार्यों की तुलना मौर्य चन्द्रगुप्त तथा मौर्य अशोक जैसे महान् राजाओं से स्थापित की जा सकती है। उसकी सैनिक योग्यता चंद्रगुप्त मौर्य जितनी और उसकी धार्मिक सहिष्णुता अशोक जैसी महान् थी।

संस्कृत की अभ्युन्नति

शक्तिशाली मौर्य-साम्राज्य के अन्तिम दिनों में उसका सारा बल-वैभव क्षीणोन्मुख होता जा रहा था। नई-नई ताकतें गुप्त रूप में अपना प्रसार कर रही थी। इसी कारण मौर्य-साम्राज्य के अंतिम दिनों में ही समग्र भारत की राजनीति एक भारी क्रांति के भय से आतंकित थी। कतिपय ग्रीक-आक्रमणों से भारत के आशान्वित राजवंशों को भय था कि मगध पर यवनों का एकाधिपत्य न हो जाय। किन्तु पुष्यमित्र की प्रभावशाली व्यवस्था ने मगध को यवनों के हाथ में जाने से तो बचा दिया; किन्तु सीमाप्रान्त, सिन्ध और पंजाब पर ग्रीक-शासकों का एकाधिकार हो ही गया।

इधर आंध्रवंशीय सातवाहनों ने अपने बल-विक्रम और नीतिज्ञता के कारण दक्षिण भारत में अपना निष्कंटक शासन स्थापित कर लिया था। उत्तर भारत की ओर कुषाण-वंश की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी और कनिष्क के शासक नियुक्त होते ही कुषाण-साम्राज्य की शक्ति अतुलित हो

---

१. जे० आर० ए० एस० १९१३, १९१४; इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, खंड ५, १९२९, पृ० ४९-८०

२. फ्लीट : जे० आर० ए० एस० १९०३

३. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १७१-पृ० २१६

गई। इस समय भारत की राज-काज व्यवस्था प्रायः चार भागों में विभाजित थी। दक्षिण के स्वामी सातवाहन थे; पूर्वी भारत में शुङ्ग-वंश का आधिपत्य था; पश्चिम में ग्रीकशासकों का बोलबाला था और उत्तर भारत तथा कुछ हिस्से पश्चिम-पूरब के कुषाण-राज्य के अधिकार में थे।

विभिन्न संस्कारों, विभिन्न दृष्टिकोणों और विभिन्न धर्मों के संयोग का यह समय भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य के लिये बहुत ही अनुकूल रहा, जैसी कि संभावना नहीं की जा सकती थी। संस्कृत-साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन करने पर हमें विदित होता है कि मौर्य-साम्राज्य के बाद मगध की राज-सत्ता के उत्तराधिकारियों से लेकर भारत के विभिन्न भागों में प्रतिष्ठित अनेक राजवंशों के सुशासन में संस्कृत की आशातीत उन्नति हुई। लगभग तीसरी शताब्दी ई० पूर्व के उत्तरार्द्ध से लेकर तीसरी शताब्दी ईसवी के पूर्वार्द्ध तक के लगभग पाँच सौ वर्ष संस्कृत-साहित्य के निर्माणार्थ महत्त्वपूर्ण वर्ष रहे हैं।

निष्कर्ष यह है कि सातवाहन-वंश, शुंग-वंश, ग्रीक-वंश और कुषाण-वंश को मिलाकर लगभग पाँच सौ वर्षों का समय संस्कृत-साहित्य के पुनरुत्थान का समय कहा जा सकता है।

इस युग में संस्कृत-साहित्य के अर्जन-बर्द्धन के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। भारतीय स्मृति-ग्रंथों के निर्माण का एकमात्र युग यही रहा है। 'महाभारत' का जो बृहद् रूप आज हमारे सामने विद्यमान है, उसका अंतिम संस्कार इसी युग में हुआ। रामकथा की जिस पवित्र-परंपरा को वैदिक युग से चले आते आख्यानों के आधार पर आदिकवि वाल्मीकि ने एकरूप में संबद्ध किया, वह अनेक शताब्दियों में विकसित होती हुई सातवाहन युग में आकर अंतिम प्रामाणिकता के साथ संकलित हुई और फलतः 'रामायण' का वर्तमान-आकार-प्रकार भी निर्मित हुआ।

आज संसार के साहित्य में संस्कृत के जिन महानतम काव्य-नाटकों की समानता में इनी-गिनी कृतियाँ ही टिक सकती हैं, उनका श्रीगणेश इसी युग में हुआ। पाणिनि-व्याकरण का प्रामाणिक भाष्य और संस्कृत के प्रमुख कोश-ग्रंथों का निर्माण इसी युग में हुआ। यही वह युग था, जिनमें जैन तथा बौद्धों के लोकोपकारी साहित्य का निर्माण हुआ। आयुर्वेद, रसायन, दर्शन, ज्योतिष विषयों की युग-विधायक कृतियों से साहित्याकाश का कोना-कोना प्रकाशमान हो उठा। इसी युग में इतिहास और पुरातत्त्व के क्षेत्र में अमर

धरोहर के रूप में प्रतिष्ठा पाने योग्य कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिलेख उत्कीर्णित हुए। स्थापत्यकला, मूर्तिकला और वास्तुकला के क्षेत्र में इस युग के निपुण कलाकारों ने जिन नई शैलियों, नई साज-सज्जाओं और नये प्रसाधनों का आकलन किया वे आज विश्वव्यापी महत्त्व को प्राप्त हैं।

तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए सातवाहन राजाओं के सिक्के और अभिलेख इतिहास की मूल्यवान् सामग्री के रूप में समाहित हैं।[1] सातवाहन राजा बड़े धर्मपरायण, दानी, सहिष्णु और उदार थे। ब्राह्मण और जैन-बौद्ध सभी धर्म इस युग में सुख एवं चैन से अपनी-अपनी प्रगति करते रहे। एक ओर अनेक बौद्ध-विहारों का निर्माण हुआ और दूसरी ओर अनेक यज्ञकर्म संपन्न हुए। इतिहास की यह एक स्मरणीय बात है कि सातवाहन राजा ब्राह्मण होते हुए भी धर्म से बड़े उदार थे। यवनों तक के लिए उनके राज्याश्रय में पूरी धार्मिक स्वतंत्रता और आत्मोन्नति के लिए सभी सुविधाएँ प्राप्य थीं।

ग्रीक संस्कृति का सुप्रभाव

ग्रीक जाति के डेढ़ सौ वर्षों के लम्बे शासन ने भारतीय संस्कृति और साहित्य को अत्यधिक प्रभावित और प्रोत्साहित किया। ग्रीक जाति की जड़ें जम चुकने के बाद उनका पहिला प्रभाव तो यहाँ के सिक्कों पर पड़ा। ग्रीक सिक्कों के अनुकरण पर भारत में भी वैसी ही सुंदर आकृति के सिक्के बनने लगे थे।

पाश्चात्य विद्वानों ने ग्रीक और भारत के इस संधिकाल में कुछ अत्युक्ति-पूर्ण बातों का भी प्रचार किया; किन्तु समय की सच्चाइयों और भविष्य की नई खोजों के फलस्वरूप वे अत्युक्तिपूर्ण बातें निरर्थक सी हो गई हैं। ११७ ई० पूर्व में वर्तमान संत क्रिसस्टम (St. Chrysastom) का कथन था कि भारतीय होमर-काव्य को गाया करते थे। बाद में प्लूटार्क और एलियन आदि विद्वानों ने भी उक्त कथन का समर्थन किया; किन्तु इतिहास-कारों ने इन बातों को असत्य साबित कर दिया है।

इसी प्रकार 'यवनिका' शब्द को लेकर कुछ विद्वानों ने भारतीय रंगमंच पर ग्रीक-संस्कृति के प्रभाव का आक्षेप लगाया; किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि डेढ़-सौ वर्षों के एकच्छत्र शासन-काल में भी

---

१. डॉ० भंडारकर : डेक्कन ऑफ दि सातवाहन पीरियड, इण्डि० एण्टि०, खंड ४७ (१९१८), पृ० १४९ क्रमशः

भारतीय ग्रीक-भाषा से सर्वथा परिचित रहे। यही कारण था कि स्वयमेव ग्रीक शासकों ने अपने सिक्कों पर ग्रीक भाषा के साथ-साथ भारतीय भाषाओं का भी उल्लेख किया। एक बात ध्यान देने योग्य, इस सम्बन्ध में यह भी है कि भारत में ग्रीक-राजाओं के जो अभिलेख सीमाप्रांत, मथुरा और बुन्देलखण्ड आदि स्थानों में उपलब्ध हुए हैं, उनमें ग्रीक-भाषा का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

किन्तु, भारतीय कला और ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रीकों का प्रभाव अवश्य उल्लेखनीय है। वास्तुकला और तक्षणकला (Architecture and Sculpture) के जो नमूने ग्रीक-कला के अनुकरण पर निर्मित हुए मिलते हैं, उनमें प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के तक्षशिला में निर्मित एक देवमंदिर के ऊँचे 'यवन-स्तंभ' और कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में आविर्भूत गांधार-शैली की स्थापना का संपूर्ण श्रेय ग्रीक कलाकारों को ही दिया जा सकता है। गांधार-शैली की भारतीय कलाकारों की कृतियों में भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाओं से संबंधित प्रस्तर-उत्कीर्ण बहुत कुछ ग्रीककला के ही अनुकरण है। पेशावर, लाहौर और पंजाबराज्य शिमला के संग्रहालयों में ग्रीक-अनुकरण की कुछ कलाकृतियाँ, मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

कला के अतिरिक्त भारतीय ज्योतिष भी ग्रीक-ज्योतिष से बहुत प्रभावित हुआ। यह प्रभाव गणित के क्षेत्र में बहुलता से दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रीक और भारतीय ज्योतिषियों में बहुत निकट का संबंध रहा है। 'गार्गी-संहिता' में तो यहाँ तक उल्लिखित है कि 'यद्यपि यवन बर्बर हैं; किन्तु ज्योतिर्विद्या के प्रवर्तक होने के कारण वे देवताओं के समान स्तुत्य हैं।'[1]

भारतीय ज्योतिष में बहुत-सी ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें ग्रीक ज्योतिष से अविकलरूप में ली गईं, जो आज तक ज्यों-की-त्यों व्यवहृत होती हैं। भारतीय ज्योतिष में अनेक लाक्षणिक शब्द और कुछ विशिष्ट सिद्धान्त ग्रीक-ज्योतिष से उद्धृत हैं। भारतीय ज्योतिष में जो 'होड़ा-चक्र' आज भी प्रचलित है उसका मूल ग्रीक-ज्योतिष का 'होरस्कोपस' (Horoskopus) है। ग्रीक-ज्योतिष में 'होरा' घड़ी अथवा घंटा के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार भारतीय ज्योतिष का 'जामित्रलग्न' ग्रीक के 'दायामेत्रान्' (Diametron) पर आधारित है। नक्षत्रविद्या की बहुत कुछ जानकारी भारत को ग्रीकों के

---

१. गार्गी संहिता

संपर्क से हुई। 'रोमक' और 'पोलस' सिद्धान्त ग्रीक-ज्योतिष की देन हैं। भविष्य-फल निकालने की विधि में भारतीय ज्योतिषियों ने ग्रीक-ज्योतिषियों के वैज्ञानिक तरीकों का अनुकरण किया।

इस प्रकार विदित होता है कि भारतीय संस्कृति और साहित्य, दोनों क्षेत्रों में ग्रीक-शासन के संपर्क से यथेष्ट उन्नति हुई। धार्मिक मामलों में भी ग्रीक-शासकों ने जहाँ तक हो सका, उदारता का व्यवहार किया। मिनेंडर जैसे धर्मप्राण शासक ने तो न केवल अनेक बौद्ध-विहारों का निर्माण कराया एवं ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा और कलाकारों को अपने राज्य में आश्रय देकर संमानित किया, वरन्, स्वयं भी भारतीय संस्कारों के एकरूप होकर बौद्ध धर्म से इतना प्रभावित हुआ कि अंत में बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर अपनी उदार-भावना का उदाहरण पेश किया।

कुषाणकालीन संस्कृति

सम्राट् कनिष्क जहाँ उत्कट राज्यलिप्सु और अद्भुत युद्धजीवी शासक था, वहाँ उसमें प्रजा-वात्सल्य, गुण-ग्राहिता, धार्मिक-औदार्य और कलाप्रेम आदि सद्गुण भरपूर थे। अनेक भव्य-स्तूप और बड़े-बड़े नगरों की रचना उसके कला-प्रेम और निर्माण कार्यों के प्रतीक थे। अपनी राजनगरी पुरुषपुर (पेशावर) में उसने अगिशन नामक एक ग्रीक-शिल्पी द्वारा अनुपम कलापूर्ण काष्ठ-स्तंभ निर्मित करवाया था।[1] इसी प्रकार कनिष्कपुर (कानिसपोर) में उसने एक भव्य नया नगर बसाया था। उसने अनेक बौद्ध-विहारों का भी निर्माण किया। कल्हण के कथनानुसार जैनधर्मानुयायी राजा अशोक के वंश में क्रमशः जलौक, उसके बाद दामोदर, तदनन्तर हुष्क, जुष्क, कनिष्क हुए, जिन्होंने अपने नाम के अनुसार हुष्कपुर, जुष्कपुर और कनिष्कपुर नामक तीन नगरों को बसाया। तीनों बड़े धर्मात्मा थे।[2]

कनिष्क के समय में एक सुधार यह हुआ कि बौद्ध-धर्म के अन्दर जो धार्मिक संकीर्णता कुछ समय से घर कर रही थी उसको दूर किया। तथागत बुद्ध एक पथ-प्रदर्शक एवं महापुरुष मात्र न रह कर अब देवत्व के स्थान पर पूजे जाने लगे थे। हीनयान के विरोध में जिस नये संप्रदाय महायान का आविर्भाव हुआ वह हिन्दू-धर्म के भक्ति-मार्ग के अधिक निकट था। इस नये

---

१. स्टेन कोनो : कोर्प्स इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, खंड २, भाग १, नं० ७२, पृ० १३७
२. राजतरंगिणी १।१६८–७०

बौद्ध-संप्रदाय के आविर्भाव के कारण कला के क्षेत्र में भी अनेक नवीनताओं का सृजन हुआ। प्राचीन बौद्ध-कला में बुद्ध-भगवान् की कोई मूर्ति उत्कीर्णित नहीं थी। अब तथागत की भव्य प्रतिमायें निर्मित की गईं।

कला के क्षेत्र में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि हिन्दू ग्रीक-युग में जिस गांधार-शैली का प्रचलन हुआ था, उसमें विदेशी प्रभाव की मात्रा अधिक थी। कनिष्क के समय में महायान संप्रदाय के कारण गांधारशैली विशुद्ध-भारतीय शैली में परिवर्तित होने लग गई थी और गुप्त-युग में पहुँच कर उसका पूर्णतः भारतीय-करण हो गया।

कनिष्क का स्वयं कोई धर्म नहीं था। उसके सिक्कों पर ग्रीक, ईरानी, हिन्दू और बौद्ध सभी धर्मों के देवताओं एवं महापुरुषों की आकृतियाँ उत्कीर्णित हुई मिलती हैं। बौद्धों के प्रति उसकी बहुत आस्था थी। इसलिए बौद्ध-समाज उसको बौद्ध-धर्मानुयायी ही सिद्ध करता है। और इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि वह बौद्ध रहा भी हो; किन्तु बाहरी प्रदर्शन के लिए उसने किसी भी धार्मिक संप्रदाय में अपने को बंदी नहीं बनाया।

कनिष्क की चौथी बौद्धसंगीति

सम्राट् कनिष्क द्वारा आयोजित चौथी बौद्ध-संगीति इतिहास की एक चिरस्मरणीय घटना है। इस संगीति के साथ कुषाण-साम्राज्य की उज्ज्वल कीर्ति बौद्ध-धर्म के इतिहास का एक प्रमुख भाग और कनिष्क महान् का यशस्वी व्यक्तित्व सभी एकप्राण हैं। वैशाली की सर्वास्तिवादी दार्शनिकों की यह चौथी बौद्ध-संगीति ऐतिहासिक दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। इसी संगीति के बाद भारतीय बौद्ध-संघ थेरवाद (स्थविरवाद), सब्बात्थिवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंघिक (महासांघिक), इन तीन शाखाओं में विभाजित हुआ। इन महासांघिकों ने ही आगे चलकर महायान संप्रदाय की प्रतिष्ठा की। इससे पूर्व तीसरी बौद्ध-संगीति अशोक महान् ने पाटलिपुत्र में, दूसरी बौद्ध-संगीति वैशाली में और पहली महाकश्यप के राजगृह में आयोजित हुई थी।

बौद्ध-धर्म और बौद्ध-सिद्धान्तों के पारस्परिक मतभेद एवं विरोध के कारण कनिष्क की विचारधारा में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ पड़ गयी थीं कि उनको कतिपय विद्वान् सुलझा नहीं सके। फलतः अपने गुरु आचार्य पार्श्व की अनुमति से

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

कनिष्क ने एक बृहद् विद्वत्समाज का अधिवेशन आयोजित किया, जो कि चौथी बौद्ध-संगीति के नाम से प्रचलित हुआ। इस अधिवेशन में सर्वास्तिवादी संप्रदाय के पाँच सौ उद्भट विद्वानों को निर्णयार्थ भारत के विभिन्न भागों से आमंत्रित किया गया। पाँच सौ बौद्ध-भिक्षुओं की यह संगीति काश्मीर के कुंडलवन महाविहार में आयोजित की गई थी।[1]

हीनयान शाखा के वैभाषिक संप्रदाय के सर्वास्तिवादी आचार्य वसुमित्र इस संगीति के अध्यक्ष नियुक्त किए गए और वसुमित्र की अनुपस्थिति में सुप्रसिद्ध महाकवि अश्वघोष अध्यक्ष का कार्य-संचालन करते रहे। बौद्ध-सिद्धान्त-संबंधी अनेक विवादास्पद प्रश्नों पर इस संगीति में विचार-विनिमय हुआ। फलस्वरूप अनेक ग्रन्थों का संपादन और कतिपय प्रामाणिक भाष्यों का निर्माण हुआ। इन भाष्य-ग्रन्थों में निर्णीत वाक्यों को भविष्य के लिए ताम्रपत्रों पर खुदवा कर उन्हें स्तूपों पर सज्जित किया गया संपूर्ण बौद्ध-धर्मानुयायियों ने इन विद्वन्निर्णीत अन्तिम सिद्धान्तों पर अपनी स्वीकृति लिखी।

इस बौद्ध-संगीति ने जो बृहद् भाष्य-ग्रंथ निर्मित किया उसका नाम 'विभाषा शास्त्र' है। इसके अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन पर कतिपय भाष्य रचे गये। भारत की यह मूल्यवान् ग्रंथ-संपत्ति पुरातत्त्व के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित कर देने वाले कनिष्क-कालीन ताम्रपत्र आज कथावशिष्ट मात्र रह गये हैं।

साहित्य का निर्माण

सातवाहन-युग से लेकर कुषाण-युग तक महाकाव्य, काव्य, नाटक, कथाकाव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, जैन-बौद्ध-साहित्य, आयुर्वेद प्रभृति सभी विषयों पर इस युग में अनुपम कृतियों का निर्माण हुआ महाकाव्यों के क्षेत्र में 'रामायण' और 'महाभारत' इन दो ग्रन्थराजों का अन्तिम संस्करण सातवाहन-युग में हुआ। 'महाभारत' में कुछ नये अंश भी इस समय जोड़े गये। संस्कृत की नाटक-कृतियों का पहिला निर्माता भास सातवाहन राजा नारायण काण्व (५३ ४१ ई० पू०) का समकालीन था।[2] 'बुद्धचरित' और 'सौंदरानंद' महाकाव्यों के रचयिता अश्वघोष इसी युग में हुआ।

---

१. युआन च्वांग : सि० यु० की; (बील १, पृ० १५१-१५६; वाटर्स १, पृ० २७०-२७८)

२. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, २, पृ० १६७-१६८

सातवाहन-युग तक सांख्य, न्याय, योग और वैशेषिक इन चार दर्शन-संप्रदायों की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी और उनमें से कुछ को पूर्णख्याति प्रदान करने वाले दर्शनकार इसी युग में हुए। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दर्शनों के अन्तिम संस्करण मौर्य-युग से लेकर सातवाहन-युग तक निरन्तर होते रहे।

व्याकरण के क्षेत्र में 'अष्टाध्यायी' के महान् व्याख्याता पतंजलि इसी युग में हुये, जिन्होंने 'महाभाष्य' की रचना कर व्याकरण के गूढ-रहस्यों का उद्घाटन किया। यही पतंजलि 'योगसूत्रों' के रचयिता थे। ज्योतिष के क्षेत्र में गर्गाचार्य की 'गर्गसंहिता' इसी युग में निर्मित हुई। संस्कृत का एकमात्र कोशकार अमरसिंह का स्थितिकाल यही है। 'उसका समय संभवतः पहली शताब्दी ई० पूर्व था। प्रायः उसी समय बौद्धों ने संस्कृत में लिखना शुरू किया था और अमरसिंह भी बौद्ध था'।[1]

जैनाचार्य वज्रस्वामी के शिष्य आर्यरक्षित ने जैन-सूत्रों का चार विभागों में वर्गीकरण ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग किया। आयुर्वेद के प्रमुख चरक कनिष्क के समय में हुए। रसायनशास्त्र के निर्माणकर्त्ता आचार्य नागार्जुन भी इसी युग में हुए। आचार्य सुश्रुत, धन्वन्तरि के शिष्य और आचार्य चरक के परवर्ती ठहरते हैं।[2] 'सुश्रुत संहिता' का पहिला संस्करण नागार्जुन ने और दूसरा वाग्भट ने किया।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि सातवाहन-युग में अध्ययन-अध्यापन की भाषा संस्कृत न होकर प्राकृत थी। यहाँ तक कि प्राकृत भाषा ही उस समय की राजभाषा भी थी। हाल की 'गाथासप्तशती', गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और सर्वशर्मन् का 'कातंत्र व्याकरण' प्राकृत भाषा की कृतियाँ इसी युग में निर्मित हुईं। सातवाहन हाल का समय १७-२१ ई० में था। इनकी रची हुई 'गाथा सप्तशती' सुभाषित काव्य की सर्वप्रथम कृति थी, जो महाराष्ट्री प्राकृत में उल्लिखित। वाण ने भी इस कृति का लेखक स्पष्ट रूप से सातवाहन को वतायाहै।[3]

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार : भा० इ० रू०, २, पृ० ९२२

२. चरकसहिता ३०, २७५

३. अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः॥ हर्षचरित, भूमिका, श्लोक १३

किन्तु शुंग-युग में संस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस युग में लेखों को अंगीकृत करने का सारा ढंग मंत्री से लेकर अमात्य, प्रधान, प्रतिनिधि, युवराज, पुरोहित और राजा तक संस्कृत में प्रचलित था।[1] ये प्रणालियाँ आद्योपांत सारी संस्कृत में हैं। इस दृष्टि से शुंगयुग संस्कृत भाषा के पुनरभ्युदय का महत्त्वपूर्ण युग रहा है।[2]

धर्मसूत्रों के व्याख्यारूप स्मृति-ग्रन्थों का निर्माण शुंग-युग में हुआ।[3] 'मनुस्मृति' का रचनाकाल खिष्ट्रीय संवत् के पूर्व हो चुका था। उसका समय संभवतः शुंग-काल के लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व है।[4] 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का रचनाकाल भी १५०–२०० ई० के बीच है।

सम्राट् कनिष्क अतिशय विद्याप्रेमी और विद्वानों का आदर करनेवाला स्वयं भी विद्वान् था। विख्यात दार्शनिक और उद्भट विद्वान् उसके सभा-पंडित थे। उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में पंडितों का जमघट लगा रहता था। कनिष्क न केवल अपने विद्वानों से शास्त्र-श्रवण करता था, वरन् स्वयं भी शास्त्र-चर्चाओं में सक्रिय भाग लेता था। अनुश्रुतियों के अनुसार पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन, चरक और मातृचेट जैसे अद्भुत दार्शनिक, काव्यकार और आयुर्वेदज्ञ, कनिष्क के सभा-पंडित थे। पार्श्व, वसुमित्र और अश्वघोष को तो स्वयं कनिष्क ने अपनी चौथी बौद्ध-संगीति में आमंत्रित किया था। नागार्जुन और चरक भी संभवतः कनिष्क-राज्य से संबंधित थे। मातृचेट के संबंध में नहीं कहा जा सकता है कि वह भी कनिष्क का समकालीन था और उसके संबंध में बौद्ध-अनुश्रुतियों का कथन कितना सत्य है।

---

१. शुक्रनीतिसार २, श्लोक ३६२–३६९

२. जायसवाल : जे० बी० ओ० आर० एस, खंड ४, पृ० २५७–२६५

३. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड १, पृ० २७९

४. उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ६४

गुप्त-साम्राज्य

(२७५-५१०)

गुप्तवंश का विकास

गुप्त-साम्राज्य संस्कृत-साहित्य की सर्वांगीण प्रगति का युग रहा है। संस्कृत-साहित्य की समृद्धि के लिए विपुल वैभव को छोड़ देने वाले इस महान् युग का परिचय पाये बिना उसकी देन को समझने का हमारा प्रयास अधूरा ही समझा जायगा। इस दृष्टि से गुप्त-युग की वंशावली का ऐतिहासिक क्रम जानना आवश्यक है।

इतिहास-ग्रंथों में गुप्त-काल को स्वर्ण-युग के नाम से स्मरण किया जाता है। गुप्त-साम्राज्य के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि प्राचीन भारत के दूसरे साम्राज्यों के उदय और अस्त का लेखा-जोखा तैयार करने एवं उनका ऐतिहासिक आधार खोजने में इतिहासकारों को जितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, गुप्त-साम्राज्य के सम्बन्ध में वैसी असुविधा नहीं हुई; क्योंकि गुप्त-शासकों के अनुवृत्त जानने के लिए तत्सम्बन्धी सामग्री का अभाव न था। इस सामग्री के आधार पर हम पाते हैं कि गुप्त-साम्राज्य राजनीति, धर्म, साहित्य, कला और व्यवसाय, सभी दृष्टि से समुन्नत था और इसी सर्वांगीण-समृद्धि के कारण उसको स्वर्ण-युग कहा गया।

इस महान् साम्राज्य की स्थापना का सुयश श्रीगुप्त को है, जिसका शासन-काल इतिहासकारों ने २७५-३०० ई० के बीच माना है।[1] इस साम्राज्य के शासकों के पीछे जुड़े हुए 'गुप्त' शब्द को लेकर इतिहासकारों ने उसका संबंध विभिन्न वंश-तालिकाओं से जोड़ा है; किन्तु संप्रति सर्वसंमत सिद्धांत गुप्त-राजाओं को क्षत्रिय मानने के पक्ष में हैं।[2] श्रीगुप्त के बाद उसका पुत्र घटोत्कचगुप्त उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ, जिसका शासन-काल ३००-३१९ ई० है।[3] श्रीगुप्त और घटोत्कचगुप्त के शासन-काल-सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है।

---

१. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १८०; उपाध्याय : वही २, पृ० २३१

२. जायसवाल : जरनल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १९, मार्च-जून १९३३, पृ० ११५-११६

३. उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २३१

घटोत्कचगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य के इतिहास में एक नये अध्याय का सूत्रपात होता है। घटोत्कचगुप्त के उत्तराधिकारी उसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्त-साम्राज्य की कीर्ति को दिग्-दिगन्तर में फैलाया। लिच्छवी-वंशोद्भवा कुमारी देवी, चन्द्रगुप्त प्रथम की सहधर्मिणी थी। समुद्रगुप्त की विरुदावलियों में 'लिच्छवीदौहित्रः' शब्द से लिच्छवी-वंश के साथ चन्द्रगुप्त प्रथम के संबंध का स्पष्टीकरण होता है। इस विवाह की यादगार में चन्द्रगुप्त प्रथम ने बड़े-बड़े उत्सव आयोजित किए। यहाँ तक कि अपने सुवर्ण-सिक्कों पर उसने इस यादगार को उत्कीर्णित करवाया।[1] लिच्छवी-वंश के साथ किए गए इस वैवाहिक संबंध के कारण चन्द्रगुप्त प्रथम की राज्य-सीमा एवं उसकी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई।[2] इन्हीं चन्द्रगुप्त प्रथम ने एक गुप्त संवत् भी चलाया था, जिसका आरंभ २६ फरवरी, ३२० ई० से १५ मार्च ३२१ ई० है।[3] इस यशस्वी शासक ने ३२०-३३५ ई० तक लगभग १५ वर्ष राज्य किया। उसके बाद दिग्विजयी समुद्रगुप्त अभिषिक्त हुए और उन्होंने ३३५-३७५ ई० तक राज्य किया।

समुद्रगुप्त के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त ने राज्य-भार संभाला। इस बीच एक घटना यह हुई कि रामगुप्त ने भयाक्रान्त होकर राज्य-रक्षा के लिये किसी शकराज को अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को उपहार में देने की शर्त पर उससे सन्धि कर ली। यह बात उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय को बहुत अनुचित लगी और उसने अपनी भाभी ध्रुवदेवी की मानरक्षा के लिए, छल से भाई रामगुप्त का वध कर राज्यसत्ता को स्वायत्त किया। अन्त में उसने अपनी विधवा भाभी से पाणिग्रहण कर, एक ओर गुप्त-साम्राज्य की वंश-परम्परा को जीवित रखा और दूसरी ओर अपने उच्च चरित्र से एक अपूर्व आदर्श की प्रतिष्ठा की।

चंद्रगुप्त द्वितीय जैसे महान् विजेता, अद्भुत शक्ति सम्पन्न और नीतिपरायण शासक भारतीय इतिहास में बहुत कम हुए हैं। शक्तिशाली शकों का विध्वंस करके उसने 'शकारि' और अविजित बल-विक्रमी होने के कारण 'विक्रमादित्य' के वीरुद से ख्याति अर्जित की। चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने लगभग ३७५-४१४ ई० तक इस पृथिवी पर निष्कंटक 'एकाधिराज्य' का उपभोग किया।

---

१. जे०ए०एस०बी० नमिस्मेटिक सप्लिमेंट नं० ४७, खंड ३, (१९३७) पृ० १०१-१११

२. विन्सेंट स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० २९५-२९६ (चतुर्थ सं०)

३. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १८२

'महेन्द्रादित्य' का वीरुद धारण करने वाले ध्रुवदेवी से उत्पन्न चंद्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त ने ४१४–४५५ ई० तक गुप्त-साम्राज्य के यश को सुरक्षित रखकर अपने पुत्र 'विक्रमादित्य' वीरुदधारी स्कन्दगुप्त के हाथों में उसे सौंपा। स्कन्दगुप्त ने ४५५–४६७ ई० तक राज्य किया। स्कंदगुप्त परम भागवतधर्म का अनुयायी था और उसका पिता भी परम भागवत था।[1] तत्पश्चात् गुप्त-साम्राज्य की बागडोर क्रमशः पुरुगुप्त, प्रकाशादित्य, नरसिंहगुप्त बालादित्य, कुमारगुप्त द्वितीय, बुद्धगुप्त और भानुगुप्त, के हाथों में गई और इन्होंने लगभग ४६७–५१० ई० तक उसका संचालन किया। इनके बाद भी गुप्त-साम्राज्य की वंश-परम्परा के अन्तिम सम्राट् विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य और वैण्यगुप्त द्वादशादित्य के नाम मिलते हैं; किन्तु इनके संबंध में प्रकाश डालने वाली ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है।

गुप्त सम्राटों की वंशावली[2]
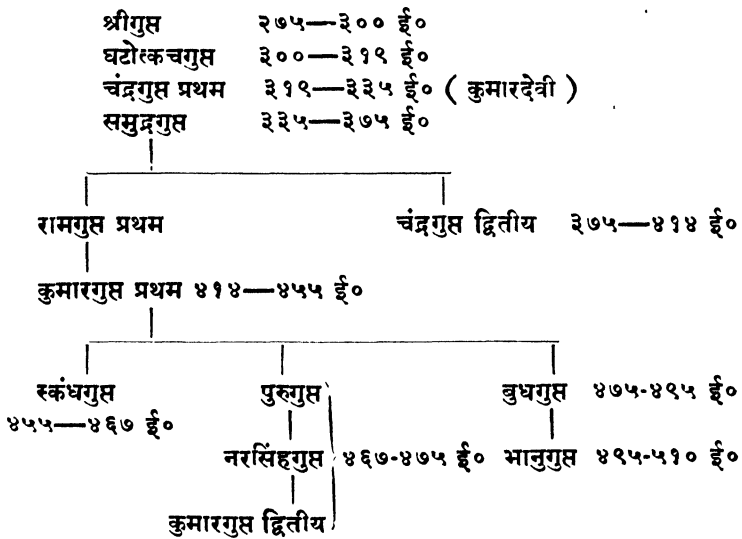
१. परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रः, तत्पादानुध्यातो परमभागवतो-महाराजाधिराजः श्रीस्कंदगुप्त :—बिहार स्टोन पिलर, इन्स्क्रिप्शन ऑफ स्कन्दगुप्त, कोर्प्स इन्स्क्रिप्शन इण्डिकेरम, वाल्यूम ३, प्लेट १२

१. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास पृ० २०२

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

गुप्त सम्राटों की संस्कृतप्रियता

गुप्त-साम्राज्य संस्कृत भाषा के प्रश्रय का एकमात्र युग रहा है। गुप्त-सम्राटों की संस्कृतप्रियता के ही कारण संस्कृत-साहित्य की समग्र दिशाएँ प्रकाशमान हुईं। वीरभोग्या इस भारत-वसुंधरा का दीर्घकाल तक एकच्छत्र शासन का स्वामित्व प्राप्त करनेवाले गुप्त-सम्राटों की वस्तुतः ऐसी असाधारण विशेषताएँ थीं, जिनकी तुलना में भारत के सारे प्रभावशाली राजवंश फीके पड़ जाते हैं। बृहद् भारत की खुशहाली एवं अभ्युन्नति का उन्होंने सर्वदा ध्यान रखा। अपनी प्रजा की सुख-शांति और समृद्धि के लिए वे निरंतर प्रयत्नशील रहे। सैकड़ों राजाओं के अधिराट् (क्षितिपशतपतिः) होते हुए भी उन्होंने अपने अधीनस्थ नरेशों पर अत्याचार नहीं किए। देश का आर्थिक स्तर सशक्त बनाए रखने के लिए उन्होंने व्यापार के क्षेत्र में मौलिक सुधार किए। उनकी राज्य-व्यवस्था में विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ, जिन्हें कि विभागीय मंत्री कहा जा सकता है, अपने-अपने क्षेत्र की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। एतदर्थ ही अद्भुत प्रतिभा-संपन्न और अतिशय मेधावी गुप्त-सम्राटों की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ कभी भी न बिगड़ने पाईं।

गुप्त-साम्राज्य के उज्ज्वल यश को पृथिवी के ओर-छोर तक प्रसारित करने का एकमात्र श्रेय उस युग की साहित्यिक देन को है। संस्कृत की तत्कालीन महान् कृतियों के साथ गुप्त-साम्राज्य की कीर्ति-कथा एकप्राण होकर अमर है। गुप्त-साम्राज्य का उदय संस्कृत-साहित्य के चतुर्मुखी विकास के लिए एक वरदान स्वरूप था। संस्कृत भाषा के अभ्युदय के एकमात्र कारण गुप्त-सम्राटों के रचनात्मक कार्य थे।

वस्तुतः ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय का मूल कारण तत्कालीन साहित्यिक क्रांति ही थी। वैदिक काल से लेकर सूत्रकाल तक संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार उन्नतावस्था में था। बौद्धयुगीन भारत में संस्कृत का स्थान पालि ने ले लिया था, जिससे कि उसकी उन्नत परंपरा टूट-सी गई। तथागत लोक-प्रचार के हेतु स्वयं ही संस्कृत की जगह साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग करते थे। मौर्ययुग और शुंगयुग में संस्कृत को राहत मिली और निःसंदेह उसने अपनी पूर्वागत परंपरा को, जो कि सूत्रकाल के बाद विच्छिन्न हो गई थी, पकड़ा; किन्तु उसके भावी विकास के लिए जिन

प्रचुर तत्वों और अनुकूल सुविधाओं की आवश्यकता थी, उनकी उपलब्धि संस्कृत को गुप्त-काल में ही सुलभ हुई।

क्षत्रपकाल में संस्कृत को अवश्य कुछ प्रश्रय एवं गति मिली; फलतः उज्जैन के महाक्षत्रप रुद्रदामन् का शक संवत् ७२ वें (१५० ई०) का जूनागढ़ वाला लंबा शिलालेख उसकी संस्कृतप्रियता का द्योतक कहा जा सकता है। इससे भी पूर्व पुष्यमित्र (१८४-१४८ ई० पू०) का एक अयोध्या वाला लघु अभिलेख संस्कृत में ही लिखा गया था[1]; फिर भी संस्कृत भाषा के चरमोदय के लिए यह किंचित् सामग्री गुप्तकालीन कार्यों के समक्ष नगण्य-सी है।

गुप्त-युग में संस्कृत भाषा को अभ्युन्नति का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि गुप्त-सम्राट् स्वयमेव कलामर्मज्ञ और संस्कृतज्ञ थे। समुद्रगुप्त संस्कृत भाषा के गांभीर्य और मर्म को भली भाँति जानता था। अनेक काव्य-क्रियाओं के कारण वह 'कविराज' का वीरुद् धारण किए था।[2] संस्कृत ही गुप्त सम्राटों के संमुख ऐसी सर्वांगीण एवं समुन्नत भाषा थी, जिसके समक्ष दुनिया की कोई भी भाषा टिक नहीं सकती थी। संस्कृत, भारत की अपनी भाषा होने के कारण और संपूर्ण वेद, वेदांग, धर्म, दर्शन, ज्योतिष और साहित्य की बहुमूल्य कृतियों की अधिकारिणी भाषा होने के कारण, गुप्त-सम्राटों ने जहाँ तक हो सका, संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिए उसे पर्याप्त सुविधाएँ एवं यथेष्ट गौरव प्रदान किया।

गुप्त-साम्राज्य की मुद्राओं, अभिलेखों और राजपत्रों को देखकर विदित होता है कि उस समय संस्कृत को राष्ट्रभाषा जितना संमान प्राप्त था। संस्कृत के सर्वव्यापी प्रचार के लिए गुप्त-सम्राटों ने उल्लेखनीय कार्य किए। अपनी प्रजा को संस्कृत की शिक्षा देने के लिए उन्होंने असंख्य मठों एवं संघारामों में बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा संस्कृत के अध्यापन की व्यवस्था की। समाज को शिक्षित बनाने के लिए दो भाषाएँ माध्यम बनाई संस्कृत और प्राकृत। संस्कृत भाषा में शिक्षित वर्ग को और प्राकृत भाषा में अनपढ़ वर्ग को शिक्षा दिलाने का प्रबंध किया,। गुप्तलिपि वस्तुतः ब्राह्मीलिपि का ही एक रूप थी।

अपने सिक्कों पर गुप्त-नरपतियों ने संस्कृत के श्लोक खुदवा कर संस्कृत भाषा के प्रति अपना अनुराग तो जाहिर किया ही, वरन्, उनके इस कार्य से

---

१. एपिग्रेफिया इण्डिका २०, पृ० ५४-५८

२. प्रयाग का स्तंभ लेख

संपूर्ण प्रजाजन अपनी प्राचीन भाषा संस्कृत के प्रति जागरूक भी हुआ। गुप्तकालीन शिलालेखों, स्तंभलेखों, ताम्रपत्रों और प्रशस्तियों पर उत्कीर्णित संस्कृत भाषा की पदावली इस बात का प्रमाण है कि गुप्त-युग की उर्वर साहित्यिक धरती पर वह खूब पनपी और फूली-फली।

संस्कृत के प्रति सामंजस्य की भावना

लगभग पांचवीं शताब्दी ई० पूर्व से जैन-बौद्धों की संस्कृत के प्रति जो द्वेष एवं विरोध की भावना चली आ रही थी, गुप्त-युग में आकर उसमें समझौता हो गया। धार्मिक पक्षपात के कारण ब्राह्मण धर्म के प्रति जैन-बौद्धों में जो संशयात्मक एवं प्रतिरोध की प्रवृतियाँ शताब्दियों से जीवित रहती चली आ रही थीं, गुप्त-युग की अति उदार और समन्वयवादी व्यवस्था के कारण उनका अंत तो हुआ ही, वरन्, भाषा के प्रति भी जो सांप्रदायिक संकीर्णताएँ घर की हुई थीं, वे भी विलुप्त हो गईं। प्राकृत और पालि के प्रति जैन-बौद्धों में जो संकीर्ण मोह चला आ रहा था, उसकी भी अत्येष्टि हुई।

बौद्ध एवं जैन धर्मावलंबी विद्वानों की ओर से संस्कृत भाषा के प्रति जो ब्राह्मणत्व का आरोप था वह दूर हुआ और पालि तथा प्राकृत की जगह उन्होंने संस्कृत को ही अपनी ग्रंथ-रचना का विषय बनाया। इस समझौता-वादी व्यवस्था के कारण संस्कृत भाषा की मान्यता इतनी बढ़ी कि सुप्रसिद्ध बौद्ध-दार्शनिक और काव्यकार बसुबन्धु तथा दिङ्नाग सरीखे बौद्ध विद्वानों ने अपनी परंपरागत पालि को छोड़कर संस्कृत में ही ग्रन्थ-रचना की। ब्राह्मण धर्म के प्रति, बौद्ध और जैन धर्म के आचार्यों ने भरपूर प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धा एवं तर्क-वितर्क के कारण संस्कृत भाषा को अद्वितीय कृतियों से संपन्न किया। बौद्ध और जैन धर्म के मूल ग्रन्थों पर भाष्य और मौलिक कृतियाँ भी इस युग में संस्कृत में लिखी गई।

इस दृष्टि से यह कहना कदाचित् असत्य न होगा कि संस्कृत-साहित्य के और भाषा-निर्माण के क्षेत्र में जैसा सर्वांगीण विकास और बहुमुखी उन्नति गुप्त-काल में हुई, वैसी न तो उससे पूर्व हुई और न आज तक।

चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का युग संस्कृत-साहित्य के निर्माण के लिए बड़ा ही अनुकूल रहा है। 'विक्रमादित्य के नवरत्नों' के संबंध में जो ख्यातियाँ और परम्परागत अनुश्रुतियाँ आज प्रचलित हैं, उनका संबंध इन्हीं गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय से है। ये नवरत्न वस्तुतः कौन थे, इस सम्बन्ध में

प्रामाणिक और अंतिम निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। नवरत्नों की कोटि में जिन नामों का उल्लेख परवर्ती ग्रन्थकारों ने किया है, ऐतिहासिक दृष्टि से वे समकालीन नहीं बैठते हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल से जिन मेधावी साहित्यकारों का सम्बन्ध था, उनमें कालिदास, अमरसिंह और धन्वतंरि प्रमुख हैं। इसी प्रकार कुमारगुप्त द्वितीय के शासनकाल में मन्दसौर अभिलेख का रचयिता वत्सभट्टि के अतिरिक्त आर्यभट्ट (जन्म ४७६ ई०), वराहमिहिर (५०५-५८७ ई०) और ब्रह्मगुप्त (५९८ ई०), का नाम भी उल्लेखनीय है।

संस्कृत साहित्य की सर्वांगीण प्रगति

गुप्त-साम्राज्य में संस्कृत भाषा को तो प्रश्रय मिला ही, साथ ही संस्कृत-साहित्य की सर्वांगीण प्रगति और उसके चरमाभ्युदय का एकमात्र अपूर्व युग भी यही रहा। गुप्त-सम्राटों की विद्याभिरुचि और उनके विद्वत्सेवी स्वभाव के कारण संस्कृत-साहित्य का प्रांगण असंख्य अनुपम कृतियों से भरपूर हुआ। सम्राट् समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन-समय इस दिशा में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, काव्य और नाटक, प्रायः सभी प्रधान विषयों पर इस युग में बहुमूल्य कृतियों का निर्माण हुआ। बौद्ध-धर्म के हीनयान और महायान, दोनों संप्रदायों पर भरपूर ग्रंथ-रचना का यही समय है। बौद्ध-साहित्य के निर्माण के लिए गुप्त-युग ही एकमात्र समय रहा। यही बौद्ध-न्याय के आविर्भाव का युग था। बौद्ध-साहित्य के इतिहास में जितनी साहित्यिक उन्नति इस युग में हुई उतनी किसी युग में नहीं। जैन-धर्म भी इस युग में खूब पनपा और अपना विकास करता गया। जैन-आगमों की क्रमबद्ध-व्यवस्था का समय यही था।

गुप्त-साम्राज्य के शांतिमय वातावरण में अनुकूल परिस्थितियों को पाकर तत्कालीन भारत के प्रमुख तीनों धर्म : ब्राह्मण, जैन और बौद्ध खूब फूले और फले। पारस्परिक सहयोग और मैत्रीभाव के कारण तीनों धर्म निर्द्वन्द्व होकर अपना-अपना विकास करते रहे।

गुप्त-युग प्रधानतया भागवत धर्म के पुनरभ्युदय का युग था। जिस भारतीय धरती पर बौद्ध-धर्म का अभ्युदय हुआ और जिसके वचनामृतों एवं प्रभाव से सुदूर देश भी अछूते न रह सके, अपनी जन्मभूमि भारत में ही उसको ब्राह्मण-धर्म की समन्वयात्मक उदारता एवं संशोधित स्वरूप ने

आत्मसात् कर लिया और वही ब्राह्मण-धर्म बाद में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के विस्तृत भू-भाग में हिन्दू-धर्म के नाम से प्रचलित हुआ।

वैदिक धर्म की पशुहिंसा और कर्मकांड के प्रतिबन्धों से समाज की उस पर आस्था कम हो गई थी। उपनिषदों का शुष्क ब्रह्मवाद भी समाज को वशीभूत करने में सफल न रहा। फलतः भक्तिप्रधान भागवत धर्म का उदय हुआ और विष्णु, शिव, सूर्य, देवी आदि देवताओं की पूजा-अर्चना की प्रथाओं ने प्रसिद्धि प्राप्त की। जिस प्रकार सम्राट् अशोक के समय में बौद्ध-धर्म की उन्नति हुई उसी प्रकार गुप्त-साम्राज्य में वैष्णव-धर्म चरमोन्नति को पहुँचा।

यद्यपि गुप्त-सम्राट् स्वयं वैष्णव धर्म के अनुयायी रहे, किन्तु जैन-बौद्ध धर्मों की अभ्युन्नति के लिए उन्होंने यथेष्ट सुविधाएँ प्रदान कीं। वैष्णव धर्म तत्कालीन राज-धर्म होने पर भी बौद्ध-जैन धर्मों से वह अविरोधी बना रहा। हिन्दू-मंदिरों की भांति जैन और बौद्ध-मंदिरों के निर्माणार्थ गुप्त-नरेशों ने प्रचुर धन व्यय किया। धार्मिक उदारता की दृष्टि से गुप्त-युग को धर्मनिरपेक्ष साम्राज्य कहा जा सकता है।

उक्त धार्मिक दृष्टिकोण को सामने रखकर गुप्त-साम्राज्य के साहित्यिक विकास की सम्यक् जानकारी के लिए इतिहासकारों ने उसको तीन भागों में विभक्त किया है: ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य।[1] इन तीनों ही धर्मों के साहित्य: धर्म, दर्शन, कोश, काव्य, नाटक, आयुर्वेद, कामशास्त्र, काव्यशास्त्र, विज्ञान और शिल्पशास्त्र आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण कृतियों का निर्माण हुआ। इस युग में संस्कृत-साहित्य के निर्माणार्थ ऐसी महान् विभूतियों का आविर्भाव हुआ, जिनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का योग पाकर साहित्याकाश का कोना-कोना निमज्जित होकर प्रकाशमान हो उठा।

दर्शनशास्त्र

भारतीय ज्ञान-जिज्ञासा के पहिले ऐतिहासिक संस्मरण उसके दर्शन हैं, जिनकी संख्या छह है। भारतीय दर्शनकारों ने पाश्चात्य दार्शनिकों की भाँति दर्शन-विद्या को केवल बौद्धिक गवेषणा तक ही सीमित न रखकर उसको व्यावहारिक रूप में ग्रहण किया है। दर्शन-विद्या के द्वारा चिन्तित और सुतर्कित, उसका व्यावहारिक रूप ही भारतीय धर्म का प्रतिष्ठाता है। इसलिए

१. उपाध्याय: गुप्त साम्राज्य का इतिहास, २, पृ० ९१

भारतीय साहित्य में विचारशास्त्र (दर्शन) और आचारशास्त्र (धर्म) दोनों को इस प्रकार जोड़ दिया गया है कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है।

श्रुतिकालीन तर्कमूलक तत्त्वज्ञान ही भारतीय षड्दर्शनों का कारण और प्रज्ञामूलक तत्त्वज्ञान ही उपनिषदों का जन्मदाता है। भारतीय दर्शनों के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए उन्हें तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है : सूत्रयुग, भाष्ययुग और वृत्तियुग। गुप्तयुग दर्शनों के भाष्य का युग है। दर्शनशास्त्र के इतिहास में भाष्ययुग का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि यही एकमात्र युग है, जब कि भारतीय दर्शनशास्त्र ने संसारव्यापी ख्याति अर्जित की। गुप्त-युग में न्याय, वैशेषिक, सांख्य और पूर्वमीमांसा दर्शन पर महत्त्वपूर्ण भाष्य-कृतियों का निर्माण हुआ।

न्यायदर्शन

न्याय-दर्शन के आदि प्रणेता अक्षपाद महर्षि गौतम (५०० ई० पू०) हुए। उनके न्यायसूत्रों पर पहिला प्रामाणिक भाष्य आचार्य वात्स्यायन ने लिखा। वात्स्यायन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। वात्स्यायन, इनका गोत्र नाम है और पक्षिलस्वामी वास्तविक नाम। इतिहास-कारों ने इनका दाक्षिणात्य और संभवतः तत्कालीन विद्या-केन्द्र कांची का निवासी बताया है।[1] आचार्य वात्स्यायन के स्थितिकाल के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं।[2] इतना तो स्पष्ट ही है कि सुप्रसिद्ध बौद्ध-नैयायिक आचार्य दिङ्नाग ने वात्स्यायन के 'न्याय-भाष्य' के खंडनार्थ 'प्रमाण-समुच्चय' की रचना की। सामान्यतया वात्स्यायन का स्थितिकाल तीसरी-चौथी शताब्दी बैठता है।[3] सम्भवतः घटोत्कचगुप्त या उसके पुत्र चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल में आचार्य वात्स्यायन का आनुमानिक स्थितिकाल था।

न्याय-दर्शन की परम्परा में दूसरे गुप्तकालीन नैयायिक उद्योतकर हुए। उन्होंने 'न्याय-वार्तिक' की रचना कर वात्स्यायन-भाष्य पर किए गए बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग के आक्षेपों का प्रतीकार किया।

---

१. उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास २, पृ० ११८
२. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३५२
३. उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास २, पृ० ११९

बौद्ध नैयायिक वसुबंधु, समुद्रगुप्त के अन्तरंग मित्रों में से था। बौद्ध-नैयायिक दिङ्नाग भी गुप्तकालीन था। अनुश्रुतियों के अनुसार दिङ्नाग प्रखर समालोचक था। यहाँ तक कि उसने कालिदास की कविता की भी आलोचना की थी एवं तत्कालीन कवियों को भी आलोडित किया था।

आचार्य उद्योतकर भरद्वाजगोत्रीय थानेश्वर के निवासी थे।[1] आचार्य उद्योतकर छठी शताब्दी के आरम्भ में हुए[2]—संभवतः भानुगुप्त के शासनकाल में।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महामुनि कणाद लगभग ४००–५०० ई० पू० में हुए, जिनके ग्रंथ का नाम 'कणाद-सूत्र' है। वैशेषिक दर्शन की परंपरा में पहिले भाष्यकार आचार्य प्रशस्तपाद हुए, जिन्होंने 'कणाद-सूत्र' पर पहले-पहल प्रामाणिक भाष्य लिखा। आचार्य प्रशस्तपाद के भाष्य-ग्रंथ का नाम 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' है, जो कि अपने यशस्वी प्रणेता के नाम से 'प्रशस्तपाद-भाष्य' से विश्रुत है। इस भाष्य-ग्रंथ का मौलिक ग्रंथ जैसा महत्त्व है। आचार्य प्रशस्तपाद के स्थितिकाल के संबंध में विद्वानों की अंतिम राय है कि या तो वे वसुबंधु (चौथी शताब्दी[3]) के पूर्ववर्ती थे, अन्यथा उनके सम-सामयिक होने में तो कोई द्विविधा ही नहीं है।[4] आचार्य वसुबंधु, सम्राट् समुद्रगुप्त के अंतरंग मित्रों में से थे। अतएव प्रशस्तपाद का भी यही समय है।

सांख्य दर्शन

सांख्य-दर्शन के प्रवर्त्तक उपनिषत्कालीन महर्षि कपिल थे; जिनकी कृति 'सांख्यसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। सांख्य-दर्शन के आचार्यों और उनके ग्रंथों की प्राचीन परंपरा विलुप्त है।

गुप्त-साम्राज्य की छत्रछाया में सांख्य-दर्शन की अपूर्व उन्नति हुई। बल्कि

---

१. डॉ० विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लाजिक, पृ० १२५

२. उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास २, पृ० १२०–१२१

३. मेक्डानल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३२५, डॉ० विद्याभूषण : जनरल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, पृ० २२७ (१९०५)

४. ए० बी० ध्रुव : न्यायप्रवेश-भूमिका, पृ० १६–२१ (गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज)

ऐसा कहा जाय, कि सांख्य-दर्शन के क्षेत्र में जैसी महान् कृतियों का प्रणयन गुप्त-युग में हुआ, वैसा किसी भी युग में नहीं, तो असत्य न होगा। इस युग में सांख्य-दर्शन पर मौलिक और भाष्य दोनों प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये। गुप्त-युग के प्रमुख सांख्यकारों में विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण, माठर और गौडपादाचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं।

बौद्ध-भिक्षु परमार्थ ने छठी शताब्दी में आचार्य वसुबन्धु की एक जीवनी लिखी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान तकाकुसु ने किया।[1] इस जीवनी-ग्रंथ में लिखा हुआ है कि तत्कालीन अयोध्या-नरेश विक्रमादित्य के समय वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र से विन्ध्यवासी का शास्त्रार्थ हुआ। उसमें बुद्धमित्र पराजित हुए। इस विजय के उपलक्ष्य में साहित्यानुरागी नरेश विक्रमादित्य ने विन्ध्यवासी को तीन लाख सुवर्ण मुद्राएँ प्रदान कर संमानित किया। अपने गुरु के पराजय की बात जब वसुबन्धु को विदित हुई तो वे विन्ध्यवासी से शास्त्रार्थ करने के लिये अयोध्या आये; किन्तु इसी बीच विन्ध्यवासी का विन्ध्याटवी में देहान्त हो चुका था। फलतः वसुबन्धु ने विन्ध्यवासी के 'सांख्य-शास्त्र' के खंडनार्थ 'परमार्थ-सप्तति' की रचना की। इसी आधार पर विद्वानों ने विन्ध्यवासी का स्थितिकाल वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र के समय २५०–३२० ई० के बीच माना है।[2] कमलशील की 'तत्त्वसंग्रह-पंजिका' से विदित होता है कि विन्ध्यवासी का वास्तविक नाम रुद्रिल था।[3]

गुप्त-युग के दूसरे सांख्यकार आचार्य ईश्वरकृष्ण हुये। इनकी कृति 'सांख्यकारिका' सांख्य-दर्शन की शीर्षस्थानीय कृति है। श्री वासुदेव उपाध्याय का कथन है कि ईश्वरकृष्ण की कृति 'सांख्यकारिका' पर गुप्तकालीन आचार्य वात्स्यायन के 'न्यायसूत्र-भाष्य' का प्रभाव है।[4] उपाध्याय जी का यह भी संभावित मन्तव्य है कि बौद्धाचार्य वसुबंधु द्वारा 'सांख्यशास्त्र' का खंडन करने के पश्चात् सांख्य की विलुप्त परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करने के हेतु ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' की रचना की थी। अतः अवश्य ही ईश्वरकृष्ण का स्थितिकाल वसुबंधु के अनन्तर है।[5]

---

१. जे० आर० ए० एस०, १९०५ ई०
२. डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य : तत्त्वसंग्रह-भूमिका, पृ० ६२–६४
३. तत्त्वसंग्रह-पंजिका, पृ० २२ (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज)
४. न्यायसूत्र-भाष्य १।१।५
५. उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास २, पृ० ११७

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

आचार्य वसुबंधु का जीवनी-लेखक बौद्ध पर्यटक परमार्थ का उल्लेख आचार्य विंध्यवासी के प्रकरण में किया जा चुका है। भिक्षु परमार्थ ने चीन में रहकर ५५७–५६९ ई० के लगभग 'सांख्यकारिका' का, जो 'हिरण्यसप्तति' या 'सुवर्णसप्तति' के नाम से चीनी भाषा में अनुवाद किया था वह संप्रति उपलब्ध है, और इस अनुवाद-ग्रन्थ के आधार पर यह निश्चित-सा है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण छठीं शताब्दी से पहिले हुए। एक मत ईश्वरकृष्ण को विक्रम की प्रथम शताब्दी में रखता है, जो कि सर्वथा भ्रमपूर्ण है।[1]

तिब्बत में प्रचलित एक अनुश्रुति के अनुसार ईश्वरकृष्ण और दिङ्नाग में शास्त्रार्थ होने की बात मिलती है।[2] यदि यह बात सत्य हो तो आचार्य ईश्वरकृष्ण को वसुबंधु के समय चौथी शताब्दी के मध्य सम्राट् समुद्रगुप्त के शासनकाल में होना चाहिए।

गुप्तकाल के सांख्यशास्त्रियों में आचार्य माठर और आचार्य गौडपाद का नाम भी उल्लेखनीय है। इन दोनों आचार्यों का व्यक्तित्व 'सांख्यकारिका' के भाष्यकारों के रूप में विश्रुत है। माठर की 'माठरवृत्ति', 'सांख्यकारिका' का प्राचीनतम एक प्रामाणिक भाष्य है। यह भाष्य भिक्षु परमार्थ के अनुवाद ग्रंथ 'हिरण्यसप्तति' से पूर्व लिखा जा चुका था। इसलिए आचार्य माठर छठीं शताब्दी से पूर्व सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार गौडपादाचार्य ने भी 'सांख्यकारिका' पर एक भाष्य लिखा, जिसका समय कि छठी शताब्दी का आरंभ भाग है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा-दर्शन का विषय धर्म-विवेचन करना है : 'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्'।[3] वैदिक कर्मकाण्ड में विहित सिद्धान्तों के विरोधों के निराकरण में 'एकवाक्यता' का प्रतिपादन संहिता,[4] ब्राह्मण[5] और उपनिषद्[6] आदि ग्रन्थों तक सर्वत्र विद्यमान है। 'शब्द' ज्ञान मीमांसा दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। जिस प्रकार 'पद' ज्ञान के लिए व्याकरण, 'प्रमाण'

---

१. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३५७
२. डॉ० विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लाजिक, पृ० २७४–२७५
३. श्लोकवार्तिक, श्लोक० ११
४. तैत्तिरीय संहिता, ७।५।७।१
५. ताण्ड्य महाब्राह्मण ६।५९
६. छांदोग्य उपनिषद् ५।११।१

ज्ञान के लिए न्याय एकमात्र दर्शन हैं, उसी प्रकार 'वाक्य' ज्ञान के लिए मीमांसा दर्शन प्रमुख है। महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के आदि आचार्य हैं, जिन्होंने लगभग ५००-६०० ई० पू० में 'मीमांसासूत्र' का प्रणयन किया।[1]

'मीमांसा-सूत्र' के प्रामाणिक भाष्यकार और मीमांसा-दर्शन के प्रमुख आचार्य शबर स्वामी गुप्त युग में हुए[2]। इनके भाष्य-ग्रन्थ का नाम 'द्वादश-लक्षणी' है कुमारिल (सप्तम शतक) से लेकर मुरारि मिश्र (द्वादश-शतक) तक मीमांसा दर्शन की सुदीर्घ परंपरा के जितने भी विभिन्न संप्रदायों के आचार्य हुए उनके ग्रन्थों का मूल शबर-भाष्य ही है। शबर-भाष्य के प्रमुख तीन टीकाकारों ने तीन संप्रदायों की प्रतिष्ठा की, जिनके नाम हैं: भाट्टमत, गुरुमत और मुरारिमत, और जिनके प्रवर्तक हुए क्रमशः कुमारिल भट्ट, प्रभाकर और मुरारि मिश्र।

पुरुषार्थ साहित्य

पुरुषार्थ-साहित्य के अन्तर्गत ऐहिक जीवन के उपयोगी शास्त्र: ज्योतिष, आयुर्वेद, अर्थ, काम, नीति और शिल्प आदि की गणना की जाती है। गुप्त-साम्राज्य के खुशहाली वातावरण में इन सभी विषयों पर प्रायः कुछ-न-कुछ लिखा ही गया। गुप्तयुग में ऐसे ज्योतिर्विद् आचार्य हुए, जिनके वर्चस्वी व्यक्तित्व के कारण भारतीय ज्योतिष की ख्याति संसार भर में फैली। ऐसे सुप्रसिद्ध आचार्यों में आर्य भट्ट, लल्ल, वराहमिहिर, और कल्याण वर्मा प्रमुख हैं।

आयुर्वेद-विषय के सुप्रसिद्ध रसायनशास्त्री नागार्जुन का यही समय है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सुप्रसिद्ध अमात्य शिखरस्वामी का 'कामन्दकीय नीतिसार' अर्थशास्त्र की परंपरा का एकमात्र ग्रंथ माना जाता है।[3] याकोबी साहब ने इस ग्रन्थ का निर्माणकाल चौथी शताब्दी माना है। यह पद्यमय ग्रंथ आचार्य शुक्रकृत 'शुक्रनीतिसार' का ही संस्करण है।[4] ग्रंथकार ने अपने ग्रंथ का आधार विष्णुगुप्त कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' को मान कर उन्हें नमस्कार किया है।[5]

---

१. बलदेव उपाध्याय: संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६२
२. उपाध्याय: गुप्त साम्राज्य का इतिहास २, पृ० १२३
३. जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग, १८ (१९३२)
४. जायसवाल: हिन्दू राजतंत्र, १ पृ० ७ का फुटनोट
५. कामन्दकीय नीतिसार, श्लोक ४, ५, ६, ७

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

कामशास्त्र का आधारभूत ग्रंथ, जिस ग्रन्थ पर कि संपूर्ण कामशास्त्र का गौरव और अस्तित्व निर्भर है, 'कामसूत्र' का प्रणयन गुप्त-युग में ही हुआ।[1] इसके रचयिता आचार्य वात्स्यायन का निर्देश न्यायसूत्रों के भाष्यकार के रूप में 'न्याय-दर्शन' के प्रकरण में किया गया है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार 'कामसूत्र' में सातवाहन या आन्ध्रभृत्य वंश के एक राजा का उल्लेख मिलता है। वह राजा अवश्य ही ईसवी सन् के आरंभ में वर्तमान रहा होगा। आन्ध्रवंश का राज्य लगभग २१८ ई० में समाप्त हुआ। वात्स्यायन का समय इसी के आस-पास है।[2] किन्तु आधुनिक खोजों से सुविदित हो गया है कि न तो आन्ध्रवंश की अंतिम सीमा उक्त अवधि तक है और नहीं वात्स्यायन सातवाहन-युग में हुए हैं।

धार्मिक साहित्य

पहिले निर्देश किया जा चुका है कि गुप्त-सम्राट् प्रधानतः भागवत धर्म के अनुयायी थे। इसलिए गुप्तकालीन भारत में हिन्दूधर्म अपनी उन्नतावस्था में था। बृहद् हिन्दू धर्म के आचार-विचार एवं कर्म-संस्कारों के प्रतिपादक ग्रन्थ इसी युग में निर्मित एवं सम्पादित, संस्कृत हुए। धार्मिक साहित्य के निर्माण में पुराणों का प्रमुख भाग है। पुराण, भारतीय आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र का विश्वकोश है। महापुराणों की संख्या अष्टादश है। इनकी रचना एक समय में न होकर लगभग वैदिक युग से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक होती रही। विद्वानों के मतानुसार गुप्त-युग में कुछ पुराणों का संस्करण हुआ।[3] 'स्कन्द-पुराण' के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा जाता है कि उसका नामकरण गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त के नाम से हुआ।[4] 'वायु', 'भविष्य', 'विष्णु' और 'भागवत' पुराणों में गुप्तवंश का पर्याप्त उल्लेख है, जिससे स्पष्ट होता है कि गुप्त-युग में उनका संस्कार अवश्य हुआ।

गुप्त-युग धर्मशास्त्र का व्याख्या-युग है। श्लोकबद्ध स्मृतिग्रन्थ, सूत्रग्रन्थों की व्याख्या के ही परिचायक हैं। 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'पराशरस्मृति',

---

१. सोशल लाइफ इन एंश्येंट इण्डिया (कलकत्ता)

२. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १०३, अनु० डॉ० कपिलदेव द्विवेदी (१९५६)

३. राखालदास बनर्जी : इम्पीरियल गुप्त, पृ० १२

४. पी० के० आचार्य : डिक्शनरी ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर, पृ० ११०

'बृहस्पतिस्मृति' और 'कात्यायनसूत्र' आदि धर्मग्रंथों में कुछ का तो निर्माण इसी समय हुआ और बाकी का संस्करण।[1]

काव्य साहित्य

गुप्त-युग के काव्य-साहित्य में प्रमुख स्थान उन काव्य-कृतियों का है, जो पाषाण-खंडों पर उत्कीर्णित हैं। 'प्रयाग-प्रशस्ति' का लेखक हरिषेण इस विषय का पहिला कवि है। हरिषेण, सम्राट् समुद्रगुप्त की विद्वत्सभा के अग्रणी विद्वान्, उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ और निपुण न्यायाधीश थे।[2] साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों क्षेत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाली प्रयाग-स्तंभ पर उत्कीर्णित सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के महान् निर्माता संस्कृतज्ञ विद्वान् हरिषेण की काव्य-प्रतिभा आज भी उसी ताजगी और गौरव के साथ जीवित है। गुप्त-साम्राज्य की सहेजनीय महानतम विशेषताओं में, शताब्दियों की दूरी के बावजूद भी प्रयाग-स्तंभ पर उत्कीर्णित हरिषेण की प्रशस्ति, जिस स्तंभ पर कि प्रियदर्शी अशोक के महानतम शांति-संदेश भी खुदे हुए हैं, एक अमर देन है। इस प्रशस्ति से जहाँ दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त के असाधारण व्यक्तित्व और उसके दूरदर्शी ज्ञान का पता चलता है, वहाँ, दूसरी ओर उसके प्रशस्तिकार हरिषेण के प्रखर पांडित्य एवं अद्भुत कवि-कर्म-पटुता का गौरव भी उसमें सुरक्षित है।

गुप्त-युग के दूसरे प्रशस्तिकार वीरसेन हुए, जो पाटलिपुत्र-निवासी और जिनका कुल नाम शाब था और जो व्याकरण, दर्शन, राजनीति आदि शास्त्रों में पारंगत और सिद्धहस्त कवि भी थे।[3] ये, सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विद्वत्सभा के अमर रत्न और सम्राट् के निभृत व्यक्ति एवं राज-कार्जों के सलाहकार भी थे। इन्हीं सम्राट् की प्रशंसा में उत्कीर्णित उदयगिरि गुफा का अभिलेख इन्हीं वीरसेन द्वारा उल्लिखित है।

मन्दसौर-प्रशस्ति के अमर लेखक वत्सभट्टि, सम्राट् कुमारगुप्त के समकालीन थे। यह प्रशस्ति मालव संवत् ५२९ (४७३ ई०) में उत्कीर्णित की गई। मंदसौर-प्रशस्ति के दूसरे लेखक वासुल हुये, जिन्होंने मालव नरेश यशोधर्मन्

---

१. काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० २१०   २. प्रयागप्रशस्ति

३. कौत्सशाब इतिख्यातः वीरसेन कुलाख्यया।
शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः॥ (उदयगिरि गुफा की प्रशस्ति)

(छठी शताब्दी) के यश को अपनी प्रशस्ति में चिरस्थायी बनाया। वासुल मालवनरेश के सभा-पंडित एवं विश्वासपात्र थे। इसी प्रकार मौखरी-नरेश ईशानवर्मा के सभापंडित रविशान्ति की गौरवगाथा हरहा-अभिलेख में सुरक्षित है, जिसका रचनाकाल मालव संवत् ६११ (५५५ ई०) है।

काव्य-साहित्य के अन्तर्गत दूसरा वर्ग उन काव्यकारों का है, जिनकी अमर कृतियों में गुप्त-साम्राज्य का संपूर्ण गौरव और संस्कृत-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग समाहित है। ऐसे यशस्वी एवं संस्कृत साहित्य के प्राणभूत महामनस्वियों में पहिला नाम महाकवि कालिदास का है। महाकवि कालिदास का व्यक्तित्व आज विश्वविश्रुत है। उनकी कृतियों के अध्ययन से और परवर्ती ग्रंथकार द्वारा उद्धृत ऐतिहासिक वृत्तों से सुनिश्चित है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे; यद्यपि कालिदास के स्थितिकाल-सम्बन्धी मत-मतान्तर आज भी बने हुये हैं।

दूसरे गुप्तकालीन काव्यकारों में काश्मीरदेशीय मातृगुप्ताचार्य हुये; जो सरस्वती के कृपापात्र होने के साथ-साथ लक्ष्मी के भी कृपापात्र थे। डॉ० आफ्रेक्ट के मतानुसार इनका स्थितिकाल ४३० ई० था। मातृगुप्ताचार्य के ही आश्रित महाकवि भर्तृमेण्ठ का समय भी यही है, जिन्होंने 'हयग्रीववध' जैसा महाकाव्य लिखकर इतिहास में अपना नाम बनाया। इन दोनों का समय पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

नाटककारों की श्रेणी में 'मृच्छकटिक' नाटक के सुप्रसिद्ध लेखक शूद्रक और 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त भी इसी युग में हुये।

इनके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध कथाकार सुबन्धु भी गुप्तयुग में हुये, जिसका समय बाण (सप्तम शतक) से पूर्व और उद्योतकर (पंचम शतक) के बाद छठी शताब्दी है। सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री भामह और संस्कृत के एकमात्र कोशकार अमरसिंह भी इसी युग में हुए।

शिक्षा

विश्व-विख्यात नालंदा महाविहार की गणना संसार के उन अत्युन्नत विद्यापीठों में की जाती है, जिनके द्वारा मानवता को पहले-पहल ज्ञान का आलोक मिला। इस नालंदा महाविहार में वेद, वेदांग, पुराण, दर्शन, व्याकरण, धर्मशास्त्र और साहित्य आदि अनेक विषयों के पारंगत विद्वानों

द्वारा अध्यापन कार्य होता था। दूर-दूर देशों के विद्यार्थी इस विद्यापीठ में अध्ययनार्थ आते और ज्ञान-संपत्ति लेकर अपने देशों को लौटते। नालंदा महाविहार वास्तविक अर्थों में विश्वविद्यालय का रूप धारण कर चुका था। चीनी-पर्यटक ईत्सिंग ने अपने यात्राविवरण में स्पष्ट किया है कि नालंदा विश्वविद्यालय में चारों वेदों (ऋक्, साम, यजु, अथर्व), षड्-वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष), पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र-विषयक १४ विद्याओं का अध्ययन होता था। महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्य ग्रन्थों का भी उस समय विशेष प्रचार था। गुरु-शिष्य संबंधों का बहुत ही आदर्शपूर्ण निर्वाह होता था।

यह नालंदा विश्वविद्यालय गुप्त-सम्राटों के ही शासन में जन्मा और संवृद्ध हुआ। इस महाविहार का वास्तविक निर्माता कौन था; किन्तु शकादित्य कुमारगुप्त प्रथम ने ५ वीं सदी ईस्वी में नालंदा महाविहार को पर्याप्त दान देकर उसको विश्वविद्यालय जैसी उन्नतावस्था में संपन्न किया। तदुपरांत उत्तरकालीन गुप्त-राजाओं में बुधगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य आदि ने उसकी सुव्यवस्था के लिए सदैव सचेष्ट रहे। कालिदास, दिङ्नाग, अमरसिंह, धन्वन्तरि, आर्यभट्ट, और ब्रह्मगुप्त जैसे उद्भट काव्यकार, कोशकार आयुर्वेदज्ञ और ज्योतिषशास्त्र के विद्वानों के सहयोग से तत्कालीन शिक्षा-दीक्षा का स्तर निस्संदेह बहुत उन्नत रहा होगा।

कला की सर्वांगीण उन्नति

गुप्त-सम्राट् न केवल साहित्य मर्मज्ञ, विद्वत्सेवी, असाधारण कलावित् और बड़े-बड़े कलाकारों के आश्रयदाता ही थे अपितु संगीत कला में भी निपुण थे। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की संगीत-प्रियता के सम्बन्ध में लिखा है। कि अपने गायन-वादन से उसने तुम्बुरु और नारद तक को लज्जित कर दिया था। समुद्रगुप्त वीणा-वादन में सिद्धहस्त था। यह संगीत प्रेम उसका यहां तक बढ़ा कि अपने सिक्का तक में उसने वीणा-वादन करते हुए अपनी आकृति उत्कीर्णित की।

गुप्तकाल में चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला का भी अच्छा प्रचार था। अजंता की जगत्प्रसिद्ध, चित्रकला, जिसका निर्माण कि पहली शताब्दी से सप्तम शताब्दी ई० के बीच हुआ, गुप्तकाल में ही निमित हुई। अजंता के ये

भित्तिचित्र गुप्त-सम्राटों की अत्यधिक कलाप्रियता और भारतीय कलाकारों की प्रवीण हस्तकला-कौशल का अद्वितीय उदाहरण उपस्थित करते हैं। ग्वालियर राज्य स्थित बाघ की गुफाओं के भित्तिचित्र भी इसी काल में निर्मित हुये। महाकवि कालिदास की कृतियों में अजंता और बाघ आदि दरीगृहों का स्थान-स्थान पर उल्लेख है।

वास्तुकला के क्षेत्र में भी गुप्त-युग बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। उस युग की कुछ उपलब्ध वास्तुकला-संबंधी सामग्री के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन वास्तुविद्या-विशारदों की असाधारण प्रतिभा उनमें विद्यमान है। गुप्त-युग की बहुत-सारी वास्तुकला-सामग्री तो संप्रति अनुपलब्ध है। झाँसी जिले के देवगढ़ और कानपुर जिले की भीतर गाँव के मंदिरों की भव्य वास्तुकला गुप्त-युग की अविस्मरणीय देन है। उक्त दोनों मन्दिरों की दीवारों में बैठाई गई मृन्मयी मूर्तियों से विदित होता है कि उस युग में वास्तु-कला की अद्भुत उन्नति थी।[1] इन मूर्तियों में तत्कालीन वैष्णव धर्म की व्यापकता का भी आभास मिलता है। भीतरगाँव मंदिर की हजारों उत्खचित ईंटें और पकाई मिट्टी की खानें लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

मूर्तिकला के निर्माण में तो गुप्त-युग बड़ा उन्नत और वैभवशाली समझा जाता है। गुप्तकाल की तक्षण-कला (भास्कर्य) भारतीय इतिहास के लिए सर्वथा अद्वितीय देन है। कुषाण-युग में ग्रीक-प्रभावों से उन्मुक्त जिस गांधार शैली की शुरुआत हुई थी, गुप्तकाल में वह सर्वथा भारतीय रूप-रंग में परिवर्तित हो गई। गुप्तकाल में निर्मित अनेकों अद्भुत मूर्तियाँ न केवल उसकी धार्मिक अभ्युदय की सूचना देती हैं, अपितु तत्कालीन भास्कर्य कला की व्यापकता पर भी प्रकाश डालती हैं। भगवान् बुद्ध की समाक्षक धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा तत्कालीन भारतीय तक्षकों (Sculptors) की असाधारण कौशल का उदाहरण उपस्थित करती है। हजारों आकृतियों में निर्मित इस काल की मृन्मयी मूर्तियाँ गुप्तकालीन शिल्पियों के कला-पांडित्य की परिचायिका है। सारनाथ और मथुरा संग्रहालय की सजीव मूर्तियों को देखकर भारतीय कलाकारों का अध्यवसाय याद आता है। गुप्त-कलावंतों की कृतियाँ अपनी सजीवता, सादगी, गति तथा 'टेकनीक' की उत्तमता के लिए प्रसिद्ध हैं।[2]

---

१. विंसेन्ट स्मिथ : ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १६१

२. त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० २०८

चित्रकला, वस्तुकला और मूर्तिकला के अतिरिक्त गुप्तकाल में धातु-निर्मित कला-कृतियों का भी दर्शन होता है। कुर्किहार आदि स्थानों से उपलब्ध ताम्रनिर्मित पुरुषाकार विशाल बुद्ध-प्रतिमाओं में गुप्तकालीन कलावंतों की असामान्य प्रतिभा विद्यमान है। दिल्ली के निकट मेहरौली का लौह-स्तंभ तो मानो गुप्तकालीन शिल्प का अमर स्मारक है। यह लौह-स्तंभ सदियों से गर्वोन्नत प्रकृति के शीतातप प्रभाओं को आत्मसात करता हुआ अपनी पूर्वावस्था में ही अपने निर्माताओं की गौरवगाथा का उद्घोष कर रहा है।

मध्यकालीन राज्याश्रय

६००-१३०० ई० : ७०० वर्ष

संस्कृत-साहित्य के पुनरुत्थान युग में हमने भारत की राजनीतिक व्यवस्था के तत्कालीन स्वामियों में जिन सातवाहन, शुंग, हिन्दू-ग्रीक और कुषाण राजवंशों की चर्चा की है उनकी राज्य-सीमायें लगभग तीसरी शताब्दी ईस्वी के मध्य तक पहुँचती हैं। तीसरी शताब्दी के अन्तिम पचहत्तर वर्षों में संस्कृत की अभिवृद्धि के लिए कोई उल्लेखनीय कार्य तत्कालीन शासकों की छत्रछाया में नहीं हुआ।

राजनीति की दृष्टि से भी ये पचहत्तर वर्ष सन्तोष, सुव्यवस्था और प्रगति के लिए भी धुंधले ही कहे जा सकते हैं। इस बीच साहित्य के क्षेत्र में भी कोई विशेष प्रगति नहीं दिखाई देती है। दर्शन, ज्योतिष, पुराण और स्मृतियों के क्षेत्र में इस बीच जो कुछ भी निर्माण कार्य हुए उनमें राज्याश्रय का कोई हाथ नहीं था और राज्याश्रित न होने पर भी उनका विशेष कोई ऐतिहासिक मूल्य भी नहीं के बराबर है।

लगभग तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुप्त-साम्राज्य की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद भारत के राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। साहित्य की प्रायः सभी दिशाएँ गुप्त-साम्राज्य का अनुकूल आश्रय पाकर प्रकाशमान हुई और यही स्थिति लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक बनी रही, जब तक कि गुप्त वंश का अस्तित्व भारत में बना रहा।

गुप्त-साम्राज्य की ऐतिहासिक जानकारी लगभग भानुगुप्त तक उपलब्ध है, जिसका शासनकाल ४९५–५१० ई० के बीच बैठता है। उसके उत्तराधिकारी क्रमशः विष्णुगुप्त चंद्रादित्य, और वैण्यगुप्त द्वादशादित्य के सम्बन्ध में

उनकी राज्य-व्यवस्था एवं निर्माण-कार्यों का पता लगाने योग्य सामग्री का संप्रति अभाव है।

भानुगुप्त के बाद से लेकर थानेश्वर की राजगद्दी के हर्षवंशीय अज्ञातवृत्त चार शासकों : नरवर्धन, आदित्यवर्धन, प्रभाकरवर्धन और राज्यवर्धन; तक भारत की राजनीति बड़ी अस्त-व्यस्त, अस्पष्ट और अविदित रही है। यह स्थिति लगभग हर्षवर्धन के नियुक्त होने तक बनी रही। थानेश्वर की राजसत्ता पर हर्षवर्धन का आधिपत्य होते ही हिन्दू-साम्राज्य की उज्ज्वल कीर्ति पर बीच में जो अपयश का कुहरा छा गया था, वह सर्वथा साफ हो गया। भारतीय इतिहास का यह मध्य-युग था।

मध्ययुगीन राजवंश

गुप्त-वंश के अन्त के बाद हर्ष-वंश के अभ्युदय से लेकर देवगिरी के यादव-वंश तक का समय संस्कृत-साहित्य का मध्य-युग है। इस मध्य-युग की सीमा उक्त राजवंशों के हिसाब से लगभग छठीं शताब्दी से लेकर लगभग तेरहवीं शताब्दी तक पहुँचती है। संस्कृत-साहित्य के निर्माण के लिए यह मध्य-युग परमोत्कर्ष और अतिशय उन्नति का युग रहा है।

मध्य-युग के निर्माणकर्ता राजवंशों में हर्ष-वंश, आयुध-वंश, गहडवाल-वंश, पाल-वंश, सेन-वंश, कर्कोटक-वंश, उत्पल-वंश, परमार-वंश, चालुक्य-वंश, पल्लव-वंश और यादव-वंश, प्रमुख हैं। मध्य-युग राजनीतिक दृष्टि से अतिशय क्रांति और उथल-पुथल का समय रहा है। इस राजनीतिक क्रान्ति और उथल-पुथल के बावजूद भी साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में इस युग के विद्याप्रेमी शासकों का आश्रय पाकर तत्कालीन ग्रन्थकारों ने जिन असामान्य कृतियों का प्रणयन किया, इतिहास में आज वे अमर नाम हैं। विभिन्न राजकुलों की एक समान इस संस्कृत-प्रियता को देखकर एवं विद्वानों के प्रति उनके आदरभाव की परंपरा को देखकर सचमुच ही संस्कृत-साहित्य भारत के राजकुलों की एक मात्र देन कही जायगी और, इस दृष्टि से, संस्कृत की दीर्घायु के साथ भारत के इन राजवंशों का यश भी एकप्राण होकर चिरस्मरणीय रहेगा। क्योंकि संस्कृत-साहित्य का प्रायः समग्र कलेवर राज-सत्ता की छत्रछाया में निर्मित हुआ है, इसलिए यह आवश्यक है कि मध्य-युग के साहित्य से परिचय प्राप्त करने से पूर्व तत्कालीन राजवंशों का परिचय प्राप्त किया जाय।

उत्तरी सीमा के राज्य

कन्नौज के राजवंश

हर्षवंश

यद्यपि श्रीकंठ (थानेश्वर) की राजगद्दी की प्रतिष्ठा हर्ष के पूर्वज ही कर चुके थे; किन्तु हर्ष के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण थानेश्वर का यह राजवंश 'हर्षवंश' के नाम से ही प्रख्यात हुआ। हर्ष के पूर्व-पुरुषों में पुष्य-भूति प्रथम व्यक्ति था; किन्तु हर्ष के अभिलेखों में प्रभावशाली चार पूर्वाधिकारियों का ही नाम देखने को मिलता है, जिनके क्रमशः नाम हैं : नरवर्धन, उसका पौत्र आदित्यवर्धन, उसका पुत्र प्रभाकरवर्धन और उसका पुत्र राज्यवर्धन। पाँचवी शताब्दी के अंत में अथवा छठीं शताब्दी के आरंभ में हूणों की अतुल शक्ति का पराभव करके नरवर्धन ने थानेश्वर में अपने राजवंश की प्रतिष्ठा की।[1] हर्ष के इन पूर्वपुरुषों में प्रभाकरवर्धन सर्वाधिक शक्तिशाली राजा हुआ है, 'हर्षचरित' में जिसको 'हूणहरिणकेसरी', 'सिंधुराज ज्वर' आदि प्रशंसापूर्ण उपाधियों से स्मरण किया गया है।[2] प्रभाकरवर्धन की मृत्यु ६०५ ई० में हुई।[3]

बड़े भाई राज्यवर्धन की हत्या हो जाने के बाद विवश होकर हर्षवर्धन को थानेश्वर की राजगद्दी संभालनी पड़ी। यद्यपि हर्ष का राजकाज और उसका शासनकाल न तो अशोक जैसे उच्चादर्शों का परिचायक एवं चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे युद्ध-कौशल से युक्त रहा है, तथापि उसने जिन संघर्षमयी कठिन स्थितियों को पार कर अपने उत्तराधिकार को सुरक्षित बनाये रखा और थोड़ी-सी ही सुविधाओं के भीतर जिस सुंदर व्यवस्था को दर्शाया, उसके कारण हर्ष की गणना अशोक और चन्द्रगुप्त के साथ की जाती है।[4]

---

१. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २२० (१९५६)

२. हूणहरिणकेशरी सिंधुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरः गंधाराधिपगंधद्विपकूटपालकः लाट-पाटवपाटच्चरः मालवलक्ष्मीलतापरशुः•••••• । हर्षचरित, कलकत्ता संस्करण, पृ० २४३-२४४; कावेल और टामस का संस्करण, पृ० १०१

३. डॉ० उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २९६ (१९४९)

४. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. २२०

सौभाग्यवश हर्ष के वंशवृतांत और उसके शासन की प्रामाणिक जानकारी के लिए पर्याप्त अभिलेख[1] और देशी-विदेशी विद्वानों की पुस्तकें आज हमारे पास सुरक्षित हैं। हुएन्-त्साँग का भ्रमण वृतांत 'सि-यु-की' और उसके जीवनीकार हुई-ली की पुस्तक (Life of Huen-Tsang) इस संबंध में अवलोकनीय है। हर्ष के सभापंडित और संस्कृत-साहित्य का ख्याति प्राप्त गद्यकार बाणभट्ट के ऐतिहासिक काव्य 'हर्षचरित' में हर्षवर्धन के इतिहास पर प्रामाणिक प्रकाश डाला गया है।

वाटर्स और बील के अनुवादों में हर्ष के दिग्विजय का जो तिथिक्रम दिया गया है[2], वह इतना विरुद्धगामी है कि उससे हर्ष की राज्यस्थिति का प्रामाणिक हाल नहीं जाना जा सकता है। आधुनिक इतिहासकारों का अभिमत है कि प्रायः ४० वर्षों के घटनापूर्ण शासन के पश्चात् ६४७ अथवा ६४८ में हर्ष का विधन हुआ।[3] इस दृष्टि से ६०७ अथवा ६०८ ई० में हर्ष का राज्याधिष्ठित होना सिद्ध होता है।

हर्षयुगीन भारत की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था बड़ी सुव्यवस्थित थी। इतिहास के पृष्ठों में वह एक अद्भुत दिग्विजयी योद्धा के रूप में दुहराया जाता है। उसके राज्यकाल में निरन्तर उत्पात और अनवरत युद्ध होते रहे, जिनके बावजूद कि उसने अपूर्व साहस और अद्भुत बल-विक्रम से अपने साम्राज्य को उत्तरोत्तर संमृद्ध एवं सशक्त बनाया। हर्ष के पूर्वजों की राजधानी 'हर्षचरित' के अनुसार श्रीकण्ठ (थानेश्वर) थी। हर्ष ने उसको कन्नौज स्थानान्तरित किया। कन्नौज पहुँचने पर हर्ष का 'भारतीय पंचप्रांतों के अठारह राजाओं, हजारों अन्य धर्मावलम्बियों ने, स्वागत सत्कार किया।[4]'

हर्ष का धार्मिक दृष्टिकोण बहुत उदार था। धर्म के प्रति उसके समन्वयवादी

---

१. एपिग्रेफिया इंडिका ४, पृ० २०८–२११ (बाँसवाड़ा ताम्रपत्र); वही, १, पृ० ६७–७५ (मधुवन ताम्रपत्र); C. I. I. ३, पृ० २३१–२३२ (सोनपत ताम्रमुद्रा, नं० ५२); एपि० इंडि० २१, पृ० ७४–७६ (नालंदा मुद्रा); वही, ६, पृ० १–१२ (पुलकेशिन द्वितीय का शिलालेख)

२. वाटर्स : ट्रांसलेशन ऑफ ट्रेवल्स, १, पृ० ३४३ बील : ट्रांस० ट्रे०, पृ० २१३

३. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २३५

४. जीवनचरित, पृ० १७७

सिद्धान्तों को देखकर यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि उसका व्यक्तिगत धर्म कौन था। उसके तीनों पूर्वज सूर्य (आदित्य) के उपासक थे।[1] हर्ष ने जहाँ अनेक बौद्ध-विहारों तथा बौद्ध-स्तूपों का निर्माण कर बौद्ध धर्म के प्रति अपने अतुल अनुराग का परिचय दिया[2], वहाँ दूसरी ओर, उसने हिन्दू-देवताओं के प्रति श्रद्धाभाव और ब्राह्मणों को भोजन-वस्त्र एवं दान-दक्षिणा देकर संमानित भी किया। धार्मिक मामलों में वह सदैव ही उदार और सहिष्णु रहा है। ब्रह्मत्व की चिंतना में व्यस्त कपिल, कणाद, वेदान्ती, ऐश्वरकरणिक (आस्तिक) और लोकायतिक आदि अनेक संप्रदाय उस समय समानरूप से उन्नति कर रहे थे।[3] हर्ष के जीवन-सिद्धान्तों में एक बहुत बड़ी उल्लेखनीय बात यह रही है कि उसने आत्मोन्नति के लिए जहाँ भौतिक और आध्यात्मिक उपायों का बड़े यत्न से पालन किया, वहाँ अपनी सम्पूर्ण प्रजा के जीवन में भी उन ऊँचे कर्तव्यों को उतारा। वाटर्स,[4] बील[5] के अनुवादों और आधुनिक इतिहासकारों[6] की स्थापनाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि हर्ष सामान्यतया बौद्ध धर्मावलम्बी था, और उसको बौद्ध बनाने में उसकी भगिनी राज्यश्री का बड़ा हाथ रहा।

हर्ष का विद्वत्प्रेम

हर्ष अद्भुत योद्धा होने के अतिरिक्त बड़ा गुणग्राही और विद्वत्सेवी-शासक भी था। विद्या के प्रति उसके हार्दिक प्रेम का प्रमाण तत्कालीन नालंदा विश्वविद्यालय की अभ्युन्नति है। हर्ष के समकालीन एवं सुपरिचित चीनी पर्यटक ह्वेनत्सांग का कथन है कि 'हर्ष के युग में नालंदा विश्वविद्यालय चरमोत्कर्ष पर था; वहाँ विविध विषयों के लगभग सौ पारंगत विद्वानों द्वारा विभिन्न विषयों के अध्ययन की व्यवस्था थी; वहाँ देशी-विदेशी विद्यार्थियों की संख्या दस हजार के करीब थी।[7]' नालंदा उस समय ज्ञानोपदेश और शास्त्रचर्चा के लिए भारत का ही नहीं, विश्व भर का प्रमुख केंद्र

---

१. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २३२

२. वाटर्स, १, पृ० ३४४

३. कावेल तथा टामस : हर्षचरित, पृ० २३६

४. वाटर्स, १, पृ० ३४४

५. बील, १, पृ० २१४

६. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २३३; डॉ० उपाध्याय : वही, पृ० ३०७

७. जीवनवृत्तांत, पृ० ११२

था। प्रचुर धन दान कर हर्ष ने नालंदा महाविहार को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया था। अपने राजकीय क्षेत्रों की आय का चतुर्थांश उसने विद्वानों के पुरस्कार के लिए सुरक्षित रखा हुआ था।[1] हर्ष के सुसंपन्न शासन में रहनेवाला संपूर्ण विद्वत्समाज बहुत सुखी और ज्ञान के प्रचार-प्रसार में निरन्तर व्यस्त था। हर्ष जितना ही दानशील था, उसकी छत्रछाया में रहने वाला विद्वत्समाज वैभव एवं धन-संपति के प्रति उतना ही विरक्त था। उदाहरण के लिए दानी हर्ष ने जयसेन नामक एक बौद्ध विद्वान् को 'उड़ीसा के अस्सी बड़े नगरों की आय' दानस्वरूप भेंट देनी चाही; किन्तु उस त्यागी विद्वान् ने उसको लेने से इन्कार कर दिया।[2]

गुणी और ज्ञानी हर्ष की विद्वत्सभा में बाणभट्ट, मयूरभट्ट, और मातंग दिवाकर जैसे प्रख्यात विद्वान् साहित्य-सृजन में एकाग्र थे। बाणभट्ट जैसे अद्वितीय गद्यकार ने 'कादम्बरी' जैसी उच्चकोटि की रचना हर्ष के ही आश्रय में रहकर की थी।

हर्ष की रचनाएँ

हर्ष के भाल में श्री और सरस्वती दोनों का यश एक साथ अंकित था। वह शौर्यवान्, पराक्रमी, सुशासक, विद्वत्सेवी और स्वयमेव एक सिद्धहस्त नाटककार एवं कवि था। बाण[3], सोड्ढल[4] (११वीं श०) और जयदेव[5] (१२वीं श०) जैसे विख्यात विद्वानों ने हर्ष के काव्यगुण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हर्ष की कतित्वप्रतिभा को अमर बनाए रखने वाली उसकी तीन नाटक कृतियाँ हैं: 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानंद'।

यद्यपि उक्त कृतियों का निर्माता कुछ विद्वानों ने धावक कवि को बताया है; किन्तु आधुनिक इतिहासकार हर्ष को ही उनका कर्ता सिद्ध करते हैं।[6]

---

१. वाटर्स, १, पृ० १७६; बील, १, पृ० ८७

२. जीवनवृतांत, पृ० १५४

३. टामस और कावेल: ट्रांसलेशन ऑफ हर्षचरित, पृ० ५८, ६५

४. सोड्ढल: उदयसुंदरीकथा, पृ० २, (गायकबाड़ सीरीज, नं० ११; कृष्णमाचारी का संस्करण, बड़ोदा १९२०)

५. जयदेव: प्रसन्नराधव, १।२२, (पराजपे और पेंसे का संस्करण, पूना १८९४)

६. डॉ० त्रिपाठी: प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २३५; डॉ० उपाध्याय: वही, पृ० ३०८

कन्नौज वंश की परम्परा

यशोवर्मन

प्रतापी हर्ष के बाद कन्नौज की राजगद्दी लगभग ७८ वर्षों तक किसी प्रभावशाली शासक के अभाव में सूनी-सी रही। उत्तर भारत में मध्ययुगीन हिन्दू-साम्राज्य के इन अन्धकारपूर्ण अठहत्तर वर्षों की सीमा हर्षवर्धन के निधन (६४७ ई०) से लेकर यशोवर्मन के राज्यारोहण तक है। लगभग ७२५ ई० में यशस्वी राजा यशोवर्मन ने कन्नौज के विलुप्त राजवंश को पुनर्जीवित किया। यशोवर्मन की वंश-परम्परा के सम्बन्ध में इतिहासकार मौन हैं। कुछ विद्वान् उसका सम्बन्ध मौर्यकुल से स्थापित करते हैं और कुछ उसके नाम के पीछे 'वर्मन' जुड़ा हुआ जानकर उसे मौखरी राजवंश से योजित करते हैं; किन्तु आधुनिक इतिहासकारों को ये दोनों मत अमान्य है। उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से इतना ही विदित है कि वह काश्मीर के दिग्विजयी राजा ललितादित्य मुक्तापीड का समकालीन था[1] और उसके राज्यकाल की सीमा लगभग (७२५–७५२ ई०) के बीच थी।[2]

नृपति यशोवर्मन बड़ा विद्वत्सेवी और अद्भुत मेधावी शासक था। उसके समकालीन और संभवतः समाश्रित काव्यकार वाक्पतिराज ने अपने प्राकृत काव्य 'गौडवहो' में यशोवर्मन को एक महान् विजेता एवं बड़ा शक्तिशाली नरेश कहा है। यद्यपि वाक्पतिराज के इस ग्रन्थ की कुछ बातें अतिरंजित हो गई है, तथापि इतना अवश्य ही सत्य जान पड़ता है कि मगधनाथ जीवितगुप्त द्वितीय के साथ यशोवर्मन का कठिन समर हुआ था। 'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' का यशस्वी लेखक एवं संस्कृत का अद्वितीय नाटककार भवभूति भी यशोवर्मन का समकालीन था।[3]

आयुधवंश

यशोवर्मन की मृत्यु के लगभग १८–२० वर्ष बाद कन्नौज की राजगद्दी पर एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा हुई, जो कि 'आयुध वंश' के नाम से प्रख्यात है। इस आयुध-कुल के तीन शासक हुए : वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध।

---

१. डॉ० उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३०९

२. डॉ० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० १९२।२१२

३. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास पृ० २३७

इनमें वज्रायुध का नाम 'कर्पूरमंजरी' में उल्लिखित है ।[1] जैन 'हरिवंश' के अनुसार इन्द्रायुध का समय शक संवत् ७०५ (७८३–८४ ई०) था ।[2] इन आयुध राजाओं का शासनकाल ७७०-७९४ ई० के बीच था ।[3]

प्रतीहारवंश

तदुपरांत आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कन्नौज के राज-सिंहासन पर प्रतीहार-साम्राज्य की स्थापना हुई, जिनमें पहिला शासक नागभट्ट था। नागभट्ट के बाद उसका प्रपौत्र वत्सराज, फिर उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय, फिर रामचन्द्र, उसके बाद उसका पुत्र मिहिरभोज और मिहिरभोज के बाद उसका पुत्र निर्भयराज महेंद्रपाल प्रथम, लगभग ८८५ ई० में कन्नौज की राजगद्दी का स्वामी नियुक्त हुआ। इन प्रतीहार राजाओं का मूलस्थान मध्य राजपूताना मंदौर (जोधपुर) था ।[4] वहाँ से वे अवंति और तदनंतर कन्नौज में प्रविष्ट हुए ।[5]

इस राजवंश में महेंद्रपाल प्रथम 'निर्भयराज' ही एक ऐसा शासक हुआ, जिसने विद्वानों का संमान और साहित्य की अभिवृद्धि के लिए साहित्यकारों को सुविधाएँ प्रदान कीं। उसकी राजसभा का सर्वाधिक देदीप्यमान रत्न, कवि एवं काव्यशास्त्र का निर्माता राजशेखर था। 'कर्पूरमंजरी', 'बालरामायण', 'बालभारत' और 'काव्यमीमांसा' आदि ग्रन्थों का निर्माण कर राजशेखर ने अपने और अपने आश्रयदाता के यश को अमर बनाया। निर्भयराज ९१० ई० में दिवंगत हुए ।[6]

महेंद्रपाल प्रथम के उत्तराधिकारियों में महीपाल, महेंद्रपाल द्वितीय, देवपाल, विजयपाल और राज्यपाल हुए।

---

१. राजशेखर : कर्पूरमंजरी ३, ५२, पृ० ७४, २६६ (कोनो और लन्मान का संस्करण)
२. बम्बई गजेटियर १८९६, खंड १, भाग २, पृ० १९७, नोट २; इंडि० एंटि०, १५, पृ० १४१–१४२
३. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २३८; डॉ० उपाध्याय : वही, पृ० ३१०–११
४. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २३९
५. बम्बई गजेटियर १८९६, खंड १, भाग २, पृ० १९७, नोट २; एपि० इंडि० ६, पृ० १९५–१९६; जर्नल, खंड १०, पृ० ३२–२५, कलकत्ता विश्वविद्यालय १६
६. डॉ० उपाध्यय : प्रा० भा० इति० पृ० ३१४

गहड्वालवंश

गुर्जर-प्रतीहार-साम्राज्य का शासक राज्यपाल १०१८ ई० में महमूद के साथ लड़ाई करता मारा गया था। उसके बाद उसका पुत्र त्रिलोचनपाल कन्नौज की राजगद्दी पर आसीन हुआ।[1] किन्तु वह भी महमूद की दूसरी चढ़ाई में पदच्युत हो गया। इस राजवंश का अन्तिम राजा यशपाल १०३६ ई० तक कन्नौज की राजगद्दी का स्वामी बना रहा।[2] उसके बाद कुछ वर्षों कन्नौज के राज्य-सिंहासन के लिए बड़ा संघर्ष रहा, और अन्त में गहडवालवंशीय वीर पुरुष चन्द्रदेव ने गोपाल नामक किसी राजा को परास्त कर[3] १०८० और १०८५ के बीच कभी, कान्यकुब्ज में गहडवाल राजकुल की प्रतिष्ठा की। उसके बाद १११४ ई० में उसका पुत्र गोविन्दचन्द्र गद्दी पर आसीन हुआ[4] और उसके बाद क्रमशः विजयचन्द्र और जयचन्द्र कन्नौज की राजगद्दी के उत्तराधिकारी नियुक्त हुए। जयचन्द्र का राज्यारोहण काल ११७० ई० है, और ११९४ ई० में सिहाबुद्दीन गोरी के साथ घमासान युद्ध करते हुए उसका शरीरांत हुआ।[5] जयचन्द्र के बाद उसके पुत्र हरिश्चन्द्र ने कुछ दिनों राज्य किया। उसका समय निश्चित नहीं है; किन्तु १२२६ ई० तक गंगा-यमुना का दाब मुसलमानों के अधिकार में जा चुका था।[6]

गहडवालों के मूल इतिहास के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी अभी तक नहीं मिल पाई है। इतिहासकारों की संभावित धारणा है कि कदाचित् गहडवाल इस देश की कोई नगण्य जाति से संबद्ध रहे हों, जो राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर और ब्राह्मणधर्म को संरक्षित कर क्षत्रिय से विख्यात हुए।[7]

जयचन्द के शासन में कुछ घटनाएँ ऐसी घटित हुई, जिससे कि वह देशद्रोही कहकर लांछित किया गया, और उसके सम्बन्ध में कहा गया कि उसने सिहाबुद्दीन गोरी को भारत पर आक्रमण करने के हेतु आमंत्रित किया था; किन्तु ये बातें सर्वथा भ्रमपूर्ण एवं निराधार हैं। जयचन्द बड़ा वीर पुरुष एवं राजनीतिज्ञ शासक था। वह विद्वानों का आश्रयदाता और स्वयं

---

१. डॉ० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० २८५-२८७

२. डॉ० उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३१५

३. इंडि० एंटी० १७, पृ० ६१-६४; वही, पृ० १७६; जे० ए० एस० बी० ६१

४. डॉ० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० ३०७-४१६

५. डॉ० उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० ३१८

६. डॉ० त्रिपाठी : वही, पृ० २४७

७. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इतिहास, पृ० २४५

भी विद्या का प्रेमी था। उसके दरबारियों में श्रीहर्ष जैसे काव्यकार, दार्शनिक प्रचण्ड विद्वान का नाम उल्लेखनीय है। महाकाव्य के क्षेत्र में 'नैषधचरित' और दर्शन के क्षेत्र में 'खंडन-खंड-खाद्य' श्रीहर्ष की ऊँची प्रतिभा के प्रमाण ग्रन्थ हैं।

पूर्वी सीमा के राज्य

भारत के पूर्वी सीमा के राजकुलों में नेपाल का ठाकुरीकुल, बंगाल का पालवंश तथा सेनवंश, कामरूप (आसाम) के प्राग्ज्योतिषपुर (गौहाटी) का राजवंश और कलिंग (उड़िसा) के भुवनेश्वर के केशरी तथा कलिंगनगर (कलिंगपत्तन) के पूर्वी गंग प्रमुखतया उल्लेखनीय है।

ठाकुरीवंश

छठी सदी ईसवी के अन्त में तथा सातवीं सदी ईसवी के आरम्भ में नेपाल के ठाकुरी राजवंश में अंशुवर्मन का शासन था।[1] वह लिच्छिवि-नरेश शिवदेव का मंत्री था और शनैः-शनैः सारी राजशक्ति को अपने हाथ में केन्द्रित कर वह उस घाटी का पूर्णाधिपति बन बैठा।[2] साहित्यिक अभ्युन्नति की दृष्टि से नेपाल के ठाकुरी कुल की कुछ भी उल्लेखनीय विशेषता नहीं है।

पालवंश

लगभग ४०० ई० पूर्व में बंगाल नंदों और मौर्यों द्वारा अधिकृत एवं शासित रहा। तब से लेकर लगभग सातवीं सदी तक कन्नौज के यशोवर्मन् , काश्मीर के ललितादित्य और कामरूप के श्रीहर्ष आदि राजाओं ने उसको लूटा-खसोटा। इस अराजकता एवं अत्याचार के कारण जनता ने एकत्र होकर ७६५ ई० में गोपाल को अपना शासक नियुक्त किया, जो बंगाल के गोपालवंश का पहिला नृपति था।[3] पालवंश के उत्तराधिकारियों में धर्मपाल, नारायणपाल,

---

१. इंडि० एंटी० १३, पृ० ४१३

२. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इतिहास, पृ० २४८

३. स्मिथ : इंडि० एंटी० ३८, पृ० २३३-४८ (१९०९); आर० डी० बनर्जी : मेमो० ए० एस०, बंगाल खंड ५, नं० ३; आर० सी० मजूमदार : अर्ली हिस्ट्री ऑफ बंगाल (ढाका, १९२४); एच० सी० राय : डेनेस्टीज टिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, १, अध्याय ६, पृ० २७१-३९०

राज्यपाल, महीपाल, रामपाल, कुमारपाल और गोविंदपाल ने लगभग ७७० ई० से ११७५ ई० तक बंगाल में राज्य किया।[1]

पाल-नरेश बड़े धार्मिक एवं सहिष्णु थे। वे स्वयं तो बौद्धधर्मानुयायी थे; किन्तु उन्होने प्रायः सभी धर्मावलंवियों का आदर-स्वागत किया। वे बड़े विद्याप्रेमी और ज्ञानी स्वभाव के भी थे। सुप्रसिद्ध नालन्दा महाविहार और दूसरे देवमन्दिरों के निर्माणार्थ उन्होंने प्रभूत दान दिया। कला के वे विशेष प्रेमी थे। धीमान् और उसके पुत्र वितपाल नामक दो कलाकारों ने चित्रकला, मूर्तिकला और तक्षणकला क्षेत्र में अद्वितीय कृतियों का निर्माण पालराजाओं के आश्रय में रहकर ही किया।[2] गोविन्दपाल के शासन के १४ वें वर्ष ११७५ ई० में निर्मित एक शिलालेख[3] पालवंश की अन्तिम सीमा का उपलब्ध प्रमाण है।

पाल-नरेश बौद्ध थे, और इसलिए तथा ज्ञान के प्रति जन्मसिद्ध अभिरुचि के कारण उन्होंने बौद्ध-दर्शन एवं बौद्ध-दर्शनकारों को संरक्षण दिया। अतीश नामक बौद्ध-भिक्षु ने ग्यारहवीं शती के मध्य तिब्बत में जाकर वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार-प्रसार किया।[4] राजा रामपाल की संरक्षकता में एक विराट् व्यक्तित्व के विद्वान् संध्याकरनंदी ने अपने श्लेषात्मक महाकाव्य 'रामपाल-चरित' की रचना की। उसके कथानक में राजा रामपाल और 'रामायण' दोनों की कथाएँ एक साथ निबद्ध हैं।

सेनवंश

बंगाल के पालवंश की विजित एवं विनष्ट राजगद्दी के उत्तराधिकार में सेन-साम्राज्य की स्थापना हुई। सेन राजा दक्षिण भारतीय ब्राह्मण कुल से संबंधित थे; किन्तु धीरे-धीरे वे कर्णाटक क्षत्रिय हो गए।[5]

---

१. म० म० हरप्रसाद शास्त्री : मेमो० ए० एस०, बंगाल ३, संख्या, १; जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, दिस० १९२८, पृ० ५३४
२. विंसेन्ट स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ४१७ (चतुर्थ संस्करण)
३. जे० बी० ओ० आर० एस०, दिस० १९२८, पृ० ५३४
४. डॉ० उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० ३२८
५. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० २७२ तथा जी० एम० सरकार : अर्ली हिस्ट्री ऑफ बंगाल (सेन पीरियड)

सेनवंश के प्रथम अधिष्ठाता सामन्तसेन ने ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पाल-साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर सेन-साम्राज्य की नीव डाली। सामन्तसेन चन्द्रवंशीय था और उसके पिता का नाम वीरसेन था। उसके बाद सामन्तसेन के पौत्र विजयसेन ने लगभग ६२ वर्ष (१०९५-११५८ ई०) तक राज्य किया। उसके बाद उसका विद्वान् पुत्र बल्लालसेन ११५८ ई० में सेन-साम्राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। वह बड़ा समाज-सुधारक और विद्याप्रेमी राजा हुआ। उसने 'दानसागर' और 'अद्भुतसागर' नामक दो ग्रन्थों का प्रणयन किया। दूसरे ग्रन्थ की पूर्ति उसके पुत्र ने की।

बल्लालसेन के बाद उसका अनुरूप पुत्र लक्ष्मणसेन या राय लखमिया लगभग ११८० ई० में सेन-साम्राज्य का स्वामी नियुक्त हुआ। उसने अपने नाम से (११९९ ई० से) एक नये संवत् का भी आरंभ किया।[1] उसकी मृत्यु के लगभग ५० वर्ष उपरांत सेनवंश के उत्तराधिकारी बंगाल पर शासन करते रहे। लक्ष्मणसेन विद्वानों का आश्रयदाता और स्वयमेव अपने पिता की भाँति कविकर्मदक्ष था। उसने अपने पिता द्वारा आरंभित अपूर्ण 'अद्भुतसागर' नामक ग्रन्थ की पूर्ति की। सुप्रसिद्ध काव्यकार एवं 'पीयूषवर्षी' उपाधि से विख्यात जयदेव उसकी विद्वत्सभा का संमानित विद्वान् था। 'पवनदूत' का निर्माता धोयिक भी उसका राजकवि था।

पूर्वी सीमा के कामरूप (आसाम) के राजवंश और कलिंग (उड़ीसा) के राजवंश जिस प्रकार ख्याति की दृष्टि से धुँधले हैं, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी स्वयं अथवा उनके प्रोत्साहन से उनके द्वारा कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ।[2]

पश्चिमोत्तर सीमा के राज्य

पश्चिमोत्तर सीमा के राज्यों में सिंध, काबुल-पंजाब और काश्मीर तीन का नाम प्रमुखता से उल्लेखनीय है। सिन्ध और काबुल के राजवंशों की अपेक्षा काश्मीर का राजवंश भारतीय साहित्य के अर्जन-वर्धन में बहुत ही उत्सुक रहा।

---

१. सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबली वाल्यूम, खंड, ३, पृ० १-५
२. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, २७३-७४
डॉ० उपाध्याय : वही, पृ० ३३०

रायवंश

सिन्ध के राजवंश के सम्बन्ध में बहुत सामग्री उपलब्ध नहीं है। जिस समय सिन्ध पर अरबों का आक्रमण हो रहा था, उससे पहिले सिन्ध पर रायकुल का आधिपत्य था। इस रायकुल में पाँच राजा हुए, जिनका शासन-काल कुल मिलकर १३७ वर्षों का बैठता है।[1] जब चीनी यात्री भारत-भ्रमण (६२९-६४५ ई०) कर रहा था तब सिन्ध का राजा एक बौद्ध शूद्र (शु-तो-लो) था[2], सम्भवतः जिसका हर्ष के साथ भी युद्ध हुआ।[3]

सिन्ध पर अरबों की विजय हिजरी १५ (६३६-३७ ई०) में हुई, और तभी से उन्होंने मेल-जोल की ऐसी नीति अख्तियार की कि वहाँ के मूल वासिन्दो ने भी विधर्मी-शासन का कोई विरोध नहीं किया। भारतीय परिस्थितियों ने धीरे-धीरे अरबों पर अपना प्रभाव डाल दिया, और इसका फल यह हुआ कि जहाँ एक ओर ज्योतिष के क्षेत्र में दोनों जातियों का आदान-प्रदान हुआ, वहाँ 'चरक' जैसे आयुर्वेद-ग्रन्थों और 'पंचतंत्र' जैसी कथाकृतियों का अरबी में अनुवाद होने लगा।[4]

शाहीयवंश

कुषाण-साम्राज्य के ध्वंस होजाने पर भी काबुल और पंजाब में उनके कुछ अवशेष जीवित थे। इन्हीं अवशिष्ट कुषाण जाति के लोगों ने ही अपना उपनाम 'शाहीय' (शाही) रखा।[5] चीनी यात्री यूआन्-च्वांग के भारत-भ्रमण के पूर्व ही विदेशी कुषाण हिन्दू-साम्राज्य में सर्वथा विलीन हो चुके थे।[6]

काबुल और पंजाब में तुर्कीशाही और 'हिन्दूशाहीय' दो राजकुलों का अस्तित्व रहा। तुर्कीशाही वंश के अंतिम राजा लगतूर्मान को उसके ब्राह्मण मंत्री कल्लर ने राज्यच्युत कर 'हिन्दूशाहीय' नामक नये राजकुल की प्रतिष्ठा की, जिसके उत्तराधिकारी हुए क्रमशः सामंद, कमलू, भीम, जयपाल,

---

१. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० २५२

२. वाटर्स, २, पृ० २५२

३. कावेल और टामस : हर्षचरित, पृ० ७६; हर्षचरित, कलकत्ता संस्करण, पृ० २१०-२११

४. डेनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, १, पृ० २०-२४

५. सचाउ का अनुवाद : अल्बेरूनीज इंडिया, २, पृ० १०-११

६. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति०, पृ० २५४

आनंदपाल, तरोजनपाल और भीमपाल।[1] लगभग १०२६ ई० तक इस राजवंश का अस्तित्व बना रहा।

करकोटकवंश

सिंध और पंजाब के पश्चिमोत्तरीय राजवंशों के द्वारा साहित्य के क्षेत्र में कुछ भी कार्य नहीं हुआ; किन्तु काश्मीर के करकोटक वंश के सुशासन में साहित्य के क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई। यद्यपि काश्मीर के ऐतिहासिक वृत्तान्तों को जानने के लिए कल्हण और जोनराज के ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता मिलती है; किन्तु सातवीं शताब्दी से पहिले का इतिहास इनके ग्रन्थों से भी नहीं जाना जा सकता है। मौर्य अशोक, उसका पुत्र जालौक, कुषाण राजा कनिष्क और हुविष्क तथा मिहरकुल के राजाओं ने काश्मीर में अपने-अपने राज्य कायम किए। गुप्त राजाओं के शासन में काश्मीर अछूता ही रहा। काश्मीर के इन पूर्ववर्ती राजकुलों की साहित्यिक, सांस्कृतिक देन थोड़े ही अंशों में उपलब्ध होती है।[2]

काश्मीर का धारावाहिक इतिहास लगभग सातवीं शताब्दी से आरंभ होता है। करकोटकवंश का पहिला शासक दुर्लभवर्धन, गोनंद-वंश के ध्वस्त होने पर काश्मीर की राजगद्दी पर आसीन हुआ। इस वंश का नामकरण दुर्लभवर्धन के आदि पुरुष नाग-करकोटक के नाम से हुआ। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग दुलर्भवर्धन के राज्यकाल में दो वर्ष (६३१–३३ ई०) तक सुखपूर्वक काश्मीर में रहा। काश्मीर की राजगद्दी पर करकोटक वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली राजा दुर्लभवर्धन का तीसरा पुत्र ललितादित्य मुक्तापीड ७२४–७६० तक काश्मीर में बना रहा। छोटे-बड़े देवालयों के अतिरिक्त काश्मीर में मार्तण्ड-मंदिर का निर्माण ललितादित्य के महान् व्यक्तित्व का अमर स्मारक है।[3]

ललितादित्य मुक्तापीड के बाद उसके गुणग्राही पौत्र जयापीड विनयादित्य ने ७७९–८१० ई० तक शासन किया। उसके प्रताप की पहुँच कन्नौज और नेपाल तक थी। उसकी राजसभा में विद्वानों का जमघट रहता था।

---

१. सचाउ का अनुवाद : अल्बेरूनीज इंडिया २, पृ० १३
२. डेनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया १, ३, पृ० १०७–१०८
३. डॉ० उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, ३३९

सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री उद्भट, वामन और 'कुट्टनीमत' का लेखक दामोदर गुप्त उसकी ही विद्वत्सभा के देदीप्यमान रत्न थे।

उत्पलवंश

जयापीड विनयादित्य के सिर पर मंडराती हुई युद्धों की निरंतर दुर्घटा ने उसको क्रूर और अत्याचारी बना दिया था। उसके बाद काश्मीर की गद्दी पर दुर्बल राजा आसीन होते गए और लगभग नवम शताब्दी के मध्य में करकोटक राजवंश की जगह काश्मीर में उत्पल राजवंश की प्रतिष्ठा हुई, जिसका पहिला राजा अवंतिवर्मन् ८५५-८८३ ई० तक वहाँ का शासक बना रहा। यह राजा बड़ा दानी और निर्माणरुचि का था। 'ध्वन्यालोक' का यशस्वी प्रणेता आचार्य आनन्दवर्धन, अवन्तिवर्मन् का आश्रित विद्वान् था।

उसके बाद इस वंश में उसका पुत्र शंकरवर्मन्, उसका पुत्र गोपालवर्मन् क्रमशः राज्याधिकारी हुए। तदनंतर उन्मत्तावंती और उसके पुत्र शूरवर्मन् (९३९ ई०) के साथ उत्पल राजवंश समाप्त हो गया। उसके बाद भी मुसलिम विजेताओं तक काश्मीर में पर्वगुप्त का कुल और लोहार राजकुल राज्य करते रहे।

राजपूत काल

परमारवंश

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में त्रिपुरी के कलचुरी,[1] जेजाकभुक्ति (बुन्देलखंड) के चंदेल[2], मालवा के परमार[3], अनहिलवाड के चालुक्य प्रमुख हैं। इनमें परमार ही एकमात्र ऐसा राजवंश था, जिसने साहित्य की अभिवृद्धि के क्षेत्र में अपना योग दिया।

अहमदाबाद के हरसोल नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख से विदित हुआ है कि परमार राष्ट्रकूट वंश से संबंधित थे[4] और उनका मूल निवास

१. हीरालाल : 'दि कलचुरीज ऑफ त्रिपुरी' ए० बी० आर० आई०, पृ० २८०-२९५, (१९२७)

२. स्मिथ : कंट्रीब्यूशन टु दि हिस्ट्री ऑफ बुंदेलखण्ड, जे० ए० एस० बी०, खण्ड १, भाग १, पृ० १-५२ (१८८१)

३. सी० ई० लूआर्ड तथा के० के० लेले : परमार्स ऑफ धार ऐंण्ड मालवा (बम्बई १९०८)

४. एपिग्रेफिया इण्डिका, १९, पृ० २३६-२४४

दक्कन था[1], वे प्रतीहारों की ही भाँति अग्निकुलीय थे। उज्जैन के प्रतीहार-वंश को पराजित कर उसकी जगह परमारों ने अपनी शासनसत्ता स्थापित की। परमारवंश के पहिले प्रतापी राजा सीयक हर्ष का राज्यारोहण काल ९४९-९७२ ई० है।[2]

सीयक हर्ष के बाद उसका बलवान् पुत्र मुंज, उपनाम वाक्पति, परमारों की गद्दी पर ९७४ ई० में आसीन हुआ। मुंज वाक्पति बड़ा प्रतापी, कलाप्रेमी और साहित्यानुरागी राजा था। उसके 'उत्पलराज', 'अमोघवर्ष', 'श्रीवल्लभ' और 'पृथ्वीवल्लभ' आदि अनेक वीरुद थे। उसके निर्माण-कार्यों में मध्यप्रदेश स्थित धारानगरी (धार) में खुदवाया हुआ मुंजसागर आज भी उसकी उज्ज्वल कीर्ति का स्मरण दिलाता है। वह स्वयं काव्यमर्मज्ञ और कवियों का आदर करनेवाला था। 'नवसाहसांकचरित' का रचयिता पद्मगुप्त, 'दशरूपक' का निर्माता धनंजय, 'दशरूपावलोक' का कर्ता धनंजय का भाई धनिक और 'अभिधान-रत्नमाला' एवं 'मृतसंजीवनी' का रचयिता भट्ट हलायुध उसकी राजसभा के विद्वान् थे।

वाक्पति मुंज के बाद उसका अनुज सिंधुल (सिंधुराज) अथवा नवसाहसांक, परमार राजकुल का स्वामी नियुक्त हुआ और अल्पकालीन शासन के बाद ही उसने अपने पुत्र भोज के शक्तिशाली हाथ में परमार-वंश की बागडोर सौंप दी।[3] ऐतिहासिक नगरी धारा को भोज ने अपनी राजधानी के लिए चुना। अभिलेखों में उसको 'सार्वभौम' और 'पृथ्वी का अधिकारी' कहा गया है।[4] भोज ने 'पचपन वर्ष, सात मास और तीन दिन' राज्य किया।

भोज असाधारण योद्धा होने के साथ-साथ उच्चकोटि का ग्रन्थकार भी था। साहित्य के क्षेत्र में वह 'कविराज' की उपाधि से विख्यात था। उसको लगभग दो दर्जन ग्रन्थों का निर्माता बताया गया है। चिकित्सा, ज्योतिष, गणित, कोश, व्याकरण, धर्म, वास्तु, अलंकार और कला आदि अनेक विषयों पर उसने ग्रंथ लिखे। उसकी कृतियों में 'आयुर्वेद-सर्वस्व', 'राजमृगांक',

---

१. गांगुली : हिस्ट्री ऑफ दि परमार डेनेस्टी, पृ० ९, ढाका १९३३
२. डॉ० उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० ३४६
३. विस्तार के लिए : प्रो० पी० टी० एस० आयंगर : भोजराज (मद्रास १९३१) तथा विश्वेश्वरनाथ रेऊ : राजा भोज (प्रयाग १९३२)
४. एपिग्रेफिया इंडिका १, पृ० २३७-२३८

'व्यवहार-समुच्चय', 'शब्दानुशासन', 'समरांगण-सूत्रधार', 'सरस्वती-कण्ठाभरण', 'नाममालिका' और 'युक्तिकल्पतरु' उल्लेखनीय है ।[1] वह विद्या का संरक्षक और विद्वानों का प्रोत्साहक भी था । उसने धारा में संस्कृत का एक विद्यालय भी स्थापित किया था, जहाँ कि पारंगत विद्वानों के संरक्षण में दूर-दूर के विद्यार्थी आकर विद्यालाभ करके लौटते थे । इस भोजशाला के ग्यारह प्रकोष्ठ आज भी जीवित हैं ।

योद्धा और विद्वान् होने के अतिरिक्त वह अद्भुत कलाप्रेमी भी था । उसने अपने राज्य में अनेक कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण करवाया[2], जो मन्दिर कि उसकी शिवभक्ति के परिचायक थे ।

भोज के बाद जयसिंह, मालवा का स्वामी नियुक्त हुआ; किन्तु उसके बाद मालवा का शासन दुर्बल राजाओं के हाथों में गया और लगभग १३०५ ई० में मालवा के हिन्दू राजवंश को अल्लाउद्दीन की सेना ने सदा के लिए सुला दिया ।

चालुक्यवंश : अन्हिलवाड (गुजरात)

इतिहासकारों ने चालुक्यों के तीन कुलों का उल्लेख किया है : १. गुजरात (अन्हिलवाड) के चालुक्य, २. वातापि के चालुक्य और ३. कल्याण के चालुक्य ।[3] चालुक्यों का एक कुल पूर्वी चालुक्य या वेंगी चालुक्य से भी प्रसिद्ध था; किन्तु वह भी वातापि के चालुक्यों की ही एक शाखा थी ।

इन चालुक्य-राजकुलों में पहिला अन्हिलवाड का चालुक्यकुल साहित्यकारों का आश्रयदाता रहा है । इस कुल का प्रतिष्ठापक मूलराज सोलंकी था । गुजरात के अनुवृत्त से विदित होता है कि मूलराज का पिता राजी कन्नौज के कल्याणकटक का राजपुत्र और उसकी माता चावड़ा अथवा चापोटक भी राजकुल की कन्या थी ।[4] अपने मामा को मारकर वह ९४१ ई० में सिंहासनस्थ हुआ ।[5] उसके बाद उसके भतीजे भीम प्रथम ने १०२१–१०६३ ई० तक

---

१. डॉ० त्रिपाठी : प्रा० भा० इति० पृ० २८६; डॉ० उपाध्याय : वही, पृ० ३४८
२. एपिग्रेफिया इंडिका, १, पृ० २३८, श्लोक २०
३. डॉ० उपाध्याय : प्रा० भा० इति०, पृ० ३५१
४. डॉ० त्रिपाठी : वही, पृ० २८७
५. एपिग्रेफिया इण्डिका ६, पृ० १९१ तथा वही ९, पृ० १–१०

राज किया और तदनंतर १०६३–१०९३ ई० तक सिद्धराज जयसिंह उसका उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। जयसिंह बड़ा ही विद्वत्प्रेमी राजा हुआ। शास्त्रचर्चा का उसे बड़ा शौक था। जैनाचार्य हेमचन्द्र उसके दरबारी विद्वानों में प्रमुख था।

जयसिंह का कोई पुत्र न होने के कारण उसका उत्तराधिकारी कुमारपाल[1] नियुक्त हुआ, जो कि उसका कोई संबंधी था। उसने सुप्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया था। वह शिवभक्त था; किन्तु जैनाचार्य हेमचंद्र के प्रभाव से वह जैनधर्म में दीक्षित हुआ, जिसके कारण कि उसने अपने राज्य में पशुवध का सर्वथा निषेध कर दिया था।[2] उसी के शासन में हेमचंद्र ने अपने ग्रन्थ लिखे। जयसिंह ने 'कुमारपालचरित' में उसकी जीवनी लिखी। कुमारपाल संभवतः ११७१ में मरा और अजयपाल उसकी गद्दी पर आसीन हुआ।

चालुक्यवंश : कल्याण[3]

दाक्षिणात्य कल्याण के चालुक्यों में सबसे पहिला शासक तैलप हुआ, जो कि तैलप कीर्तिवर्मन् द्वितीय का वंशज था और जिससे वातापि के चालुक्यों का रक्त-संबंध था।[4] कल्याण के चालुक्यवंश के उत्तराधिकारी क्रमशः सत्याश्रय (९९७–१००८ ई०), विक्रमादित्य पंचम (संभवतः १००८–१०१६ ई०), जयसिंह द्वितीय (१०१६–१०४२ ई०), सोमेश्वर प्रथम (आहवमल्ल १०४२–१०६८ ई०), सोमेश्वर द्वितीय (संभवतः १०६८–१०७६ ई०) और विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६–११२६ ई०) हुये।

---

१. जयसिंह : कुमारपालचरित (शांति विजय गणि द्वारा संपादित एवं बम्बई से प्रकाशित १९२६)

२. देखिए—गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज से प्रकाशित सोमप्रभ का कुमारपाल-प्रतिबोध, संख्या १४: यशःपाल का मोहपराजय, संख्या ९

३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ डेकन, प्रकरण १२, पृ० १३६–१५९ (तृतीय संस्करण); एस० एल० कतरे : दि चालुक्याज ऑफ कल्याणी, इंडियन कल्चर, खंड ४, संख्या १, पृ० ४३–५२; इंडि० हिस्टा० क्वा०, १७ मार्च, १९४१, पृ० ११–३४; फ्लीट : डेनेस्टिक्स ऑफ दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स

४. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३१०
डॉ० उपाध्याय : वही, पृ० ३५५

विक्रमादित्य षष्ठ के बाद भी चालुक्यों के अन्तिम शासक सोमेश्वर चतुर्थ (११८२ ई०) तक कल्याण में चालुक्यवंश का अस्तित्व बना रहा; किन्तु विक्रमादित्य षष्ठ ही इस वंश में सर्वाधिक प्रतापी राजा हुआ। वह युद्धप्रेमी तथा राज्यलिप्सु तो था ही, साथ ही विद्या के प्रति उसका अनुराग भी कम न था। उसने दूर-दूर से बड़े प्रतिभाशाली विद्वानों को बुलाकर उन्हें अपनी राजसभा में जुटाया हुआ था। 'विक्रमांकदेवचरित' के रचयिता काश्मीरदेशीय कवि बिल्हण और 'मिताक्षरा' का ख्यातिप्राप्त प्रणेता महामना विज्ञानेश्वर उसी की सभा के विद्वान् थे। विक्रमादित्य षष्ठ के उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय (११२६–११३८) ने भी 'मानसोल्लास' की रचना कर अपने साहित्यप्रेम को प्रकट किया था।

पल्लववंश

पल्लवों की ऐतिहासिक जानकारी के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित हल नहीं निकल सका है। विभिन्न इतिहासकारों के इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं।[1] सामान्यरूप से इतिहासकारों ने पल्लवों को दक्षिण भारत का ब्राह्मण-जातीय बताया है, बाद में जो युद्धजीवी होने के कारण क्षत्रिय मान लिए गए।

तीसरी-चौथी सदी ईस्वी के बीच के प्राकृत भाषा में उत्कीर्णित तीन ताम्रपत्रों से विदित होता है कि पल्लव राजवंश के आदि पुरुष बप्पदेव ने दक्षिण भारत में कांची (कांजीवरम्) और धान्यटक (धरणीकोट्टा) नामक दो राजधानियाँ कायम कर पल्लव-साम्राज्य की शुरूआत की।[2] बप्पदेव के बाद उसका पुत्र शिवस्कन्दवर्मन् और तदनन्तर विष्णुगोप नामक व्यक्ति पल्लव-राजगद्दी का स्वामी बना, जिसने समुद्रगुप्त को आत्मसमर्पण किया।[3] इन तीनों शासकों का शासनकाल तीसरी से छठी शताब्दी ईस्वी का अन्त है।

छठी शताब्दी ईस्वी के अन्तिम भाग में सिंहविष्णु नामक एक प्रतापी सामन्त ने नया पल्लववंश प्रतिष्ठित किया। सिंहविष्णु के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम सप्तम श० ई० के आरम्भ में राजगद्दी पर आसीन हुआ।

---

१. इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, खंड ५२, अप्रेल १९२३, पृ० ७७–८२; आयंगर : जनरल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, खंड २, भाग १, पृ० २२–६६; जायसवाल : जनरल ऑफ दि विहार ऐण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, मार्च, जून १९३३, पृ० १८०–८३

२. गोपालन् : हिस्ट्री ऑफ दि पलवाज ऑफ काञ्ची, पृ० ३२

३. उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३७१

महेन्द्रवर्मन् प्रथम बड़ा पराक्रमी, कलाप्रेमी, साहित्यानुरागी और निर्माणकर्ता था। वह शैव था और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के मन्दिर उसने बनवाये। एक व्यंग्यात्मक प्रहसन 'मत्तविलास प्रहसन' का निर्माता भी उसे मानते हैं। सातवीं सदी ईस्वी के द्वितीय चरण से लेकर लगभग ८९५ ई० तक पल्लववंश के सुप्रसिद्ध शासकों में क्रमशः नरसिंहवर्मन् प्रथम, परमेश्वरवर्मन् प्रथम, नरसिंहवर्मन् द्वितीय, नन्दिवर्मन्, दन्तिवर्मन् और अन्तिम अपराजितवर्मन् के नाम उल्लेखनीय हैं।[1]

पल्लवों के लगभग छह-सौ वर्षों के शासनकाल में दक्षिण भारत धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में बहुत ही उन्नत था। सभी शासक प्रायः धर्म से उदार थे। पल्लवराजाओं में अधिकांश शैव हुए हैं; किन्तु वैष्णवों के प्रति उनका किसी भी प्रकार धार्मिक मालिन्य नहीं रहा। सन्त अय्यर और तिरुज्ञान सम्बन्दर जैसे शैवधर्म के प्रचारक सन्त इसी युग में हुए।

इसी धार्मिक-सहिष्णुता ने पल्लव राजाओं को प्रजाप्रेमी और कलानुरागी भी बनाया। दक्षिण भारत के भव्य कलापूर्ण मन्दिरों में पल्लव राजवंश की कलारसिकता का परिचय मिलता है। इन मन्दिरों पर उत्कीर्णित पल्लव राजाओं की सराजमहिषी पुरुषाकार प्रतिमायें वास्तुकला के अद्भुत नमूने हैं।

पल्लव राजवंश का भव्य इतिहास उसकी साहित्यिक अभिरुचियों में सन्निहित है। संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ और तत्कालीन संस्कृतज्ञ पंडितों के आदरार्थ पल्लव-राजाओं के कार्य इतिहास की अमिट घटनायें हैं। पल्लव-राजनगरी कांची में संस्कृताध्यापन के लिए बहुत बड़ा प्राचीन केंद्र था। यही कारण है संस्कृत के ग्रंथों में कांची का नाम पर्याप्त रूप में उल्लिखित है। पल्लवों के प्रायः सभी अभिलेख संस्कृत में हैं।

दिङ्नाग, मयूरशर्मन्, दण्डी, मातृदत्त आदि संस्कृत और वैदिक साहित्य के विद्वान् अपनी ज्ञानपिपासा के उपशमनार्थ विद्या की तीर्थ-नगरी कांची में आए। विद्वत्प्रेमी सिंहविष्णु ने तो महाकवि माघ को अपने यहाँ आमंत्रित किया। 'व्यंग्य-विषयक प्रहसन 'मत्तविलास' का रचयिता महेंद्रवर्मन् की संस्कृतज्ञ प्रतिभा का पहिले ही उल्लेख किया गया है। विद्वानों की राय में भास और शूद्रक के नाटकों को अभिनययोग्य बनाने के लिए इसी समय संक्षिप्त किया गया।[2]

---

१. त्रिपाठी : प्रा० भा० इत०, पृ० ३३२-३४

२. हिस्ट्री ऑफ दी पल्लवाज ऑफ काञ्ची, पृ० १५९

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

यादववंश

कल्याण के चालुक्य वंश के पतनानन्तर यादवों ने अपने साम्राज्य की नींव डाली। देवगिरी के यादववंश के प्रतिष्ठाता भिल्लम् पंचम ने लगभग ११८७ ई० में अपनी राजधानी को देवगिरी (हैदराबाद रियासत के दौलताबाद) बनाया। लगभग १२१० ई० से १३१२ ई० तक यादवकुल के ख्यातिप्राप्त राजाओं में क्रमशः जैत्रपाल, सिंघण, कृष्ण, महादेव और रामचन्द्र शासक हुए।

इस वंश का सबसे प्रतापी राजा सिंघण हुआ। वह बड़ा धार्मिक, सहिष्णु और विद्याप्रेमी राजा था। 'संगीतरत्नाकर' का रचयिता शार्ङ्गधर और सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् चांगदेव उसकी सभा के पंडित थे। चांगदेव ने ज्योतिष के अध्ययन और विशेषरूप से भास्कराचार्य कृत 'सिद्धान्तशिरोमणि' के अध्ययनार्थ पटना (जिला खानदेश) में एक विद्यालय की स्थापना की। सिंघण ने स्वयं 'संगीतरत्नाकर' पर एक टीका लिखी।[1]

महादेव और रामचन्द्र के शासनकाल में सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्रज्ञ हेमाद्रि हुआ, जिसने 'चतुर्वर्गचिंतामणि' जैसा अद्वितीय स्मृति-ग्रंथ लिखा।

मध्ययुगीन साहित्य की रूपरेखा

भारतीय साहित्य के चतुर्मुखी विकास और उसकी सर्वांगीण प्रगति के लिए छह-सौ ईसवी से लेकर तेरह सौ ईसवी तक के लगभग सात सौ वर्ष इतिहास में अपना बेजोड़ स्थान रखते हैं। इस युग में साहित्य-निर्माण के अतिरिक्त भारत की धार्मिक अभ्युन्नति, कलाभ्युदय और बौद्धिक चिंतन के विभिन्न क्षेत्रों में भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए।

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने मध्ययुग के साहित्य पर एक पांडित्यपूर्ण पुस्तक लिखी है: 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'।[2] अपनी इस उच्चकोटि की पुस्तक में उन्होंने मध्ययुग की सीमा ६००-१२०० ई० के भीतर निर्धारित की है; किन्तु मध्ययुग की वैभवशाली परंपरा का विस्तार लगभग १३ वीं शताब्दी तक पहुँचता है, जैसा कि उक्त पुस्तक के अनेक स्थलों में १२ वीं शताब्दी के बाद के कुछ प्रसंगों का समावेश देखकर भी अवगत किया जा सकता है।

---

१. ई० यच०·डी०, पृ० १९४-९५

२. हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद

इस युग के प्रधान धर्म बौद्ध, जैन और हिन्दू थे। ये धर्म अपने-अपने छोटे-मोटे उपसंप्रदायों के साथ चरमोन्नति की अवस्था में रहे। इनके अतिरिक्त धर्म के दूसरे संप्रदायों का भी उदय, अस्त होता रहा। अनेक विचारवान् मनस्वियों द्वारा अजेय दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा भी इसी युग में हुई। कला के क्षेत्र में तक्षण, वास्तु और चित्र सभी की स्थिति उन्नतावस्था में थी। अध्ययन-अध्यापन के जिन विद्यानिकेतनों की पहिले ही प्रतिष्ठा हो चुकी थी, उनमें से कुछ तो सर्वथा विलुप्त-से हो चुके थे, कुछ का पुनरुद्धार हुआ था और कुछ की नये शिरे से रचना होकर उनमें ज्ञान की विभिन्न विचार-वीथियों का निरंतर निर्माण होता रहा है।

मध्ययुग ही एक ऐसा समय रहा है, जिसमें संस्कृत-साहित्य के सैकड़ों सर्वोच्च ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। संस्कृत-साहित्य को इतनी अभिवृद्धि और अभ्युन्नति के उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने के प्रायः सारे-के-सारे प्रयत्न इसी मध्ययुग में हुए। मध्ययुग में रचे गए संपूर्ण साहित्य की तालिका एक साथ प्रस्तुत करना सर्वथा दुर्गम है। इस प्रसंग में भारत के विभिन्न तत्कालीन राजकुलों के आश्रय में संस्कृत और संस्कृत के ग्रन्थकारों ने जो उन्नति की है उसी की रूपरेखा प्रस्तुत करना उद्देश्य है। मध्ययुग के ये संस्कृतप्रेमी राजकुल संस्कृत के बृहद् वाङ्मय को समृद्धि प्रदान करने में तत्कालीन विद्वानों के आश्रय होने के अतिरिक्त उनके प्रेरणास्रोत भी रहे हैं।

साहित्य के प्राय: जितने भी अङ्ग थे उन सभी पर इस युग में अतुलनीय कृतियों का निर्माण हुआ। महाकाव्य, काव्य, ऐतिहासिक काव्य, गद्यकाव्य, नाटक, चम्पू, सुभाषित, अलंकारशास्त्र, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, पशुचिकित्सा, पशुविज्ञान, कामशास्त्र, संगीत, राजनीति, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, हिन्दू दर्शन, जैन और बौद्ध दर्शन आदि सभी विषयों पर इस युग में जमकर चिन्तन हुआ।

भारवि के 'किरातार्जुनीय' से लेकर श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' तक जितना भी महाकाव्य-वैभव है उसका निर्माण प्रायः इसी समय हुआ। काव्य के क्षेत्र में अमरु कवि का 'अमरुकशतक' क्षेमेन्द्र के ग्रंथ, श्रीहर्ष के प्रशस्तिग्रन्थ, राजानक जयरथ कृत 'हरिचरितचिन्तामणि', दामोदर का 'कुट्टनीमत', आदि; ऐतिहासिक काव्यों में बाण का 'हर्षचरित' पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित' बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित', प्रवरसेन का प्राकृत 'सेतुबंध', वाक्पतिराज का प्राकृत 'गउडवहो' आदि; गीतिकाव्य के क्षेत्र में भर्तृहरि के शतकत्रय,

जयदेव का 'गीतगोविन्द' आदि; नाटकों के क्षेत्र में शूद्रक, हर्षवर्द्धन, भवभूति, भट्टनारायण, विशाखदत्त, राजशेखर आदि की कृतियाँ; गद्यकाव्य के क्षेत्र में दण्डी, सुबंधु और बाण की सर्वोच्च कृतियाँ; चम्पुओं में एकमात्र ग्रन्थ त्रिविक्रम भट्ट का 'नलचम्पू', सोमदेव का 'यशस्तिलकचम्पू' आदि; सुभाषित ग्रंथों के क्षेत्र में अमित गति का 'सुभाषितरत्नसंदोह', वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' आदि; कृतियाँ प्रमुख हैं।

रस, अलंकार, ध्वनि और शब्दशक्ति-विषयक काव्यशास्त्र तथा छंदशास्त्र पर लिखे गए मध्ययुगीन ग्रन्थों में राजानक मम्मट का 'काव्यप्रकाश', ध्वनिकार का 'ध्वन्यालोक', राजशेखर की 'काव्यमीमांसा', हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' तथा 'छन्दोऽनुशासन' और दामोदर मिश्र का 'वाणीभूषण' उल्लेखनीय हैं। 'काशिकावृत्ति' इस युग की प्रथम व्याकरण कृति है, जिसकी रचना जयादित्य और वामन ने ६६२ ई० में की। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय', 'महाभाष्यदीपिका', 'महाभाष्यत्रिपदी'; चन्द्रगोमिन् का 'चांद्र-व्याकरण', हेमचन्द्र का 'सिद्धहेम'; नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में कामन्दक का 'नीतिसार', सोमदेव का 'नीतिवाक्यामृत' प्रमुख हैं। अर्थशास्त्र के विभिन्न अंगों में कृषि, भवननिर्माण, शिल्प, रत्नपरीक्षा, धातुविज्ञान और नौ-शास्त्र जैसे नये विषयों पर भी इस युग में अनेक कृतियाँ लिखी गईं। दर्शन के प्रायः सभी संप्रदायों पर तर्कप्रधान ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

'अमरकोश' जैसी अपने विषय की एकमात्र कृति का निर्माण भी इसी युग में हुआ, जिसके प्रभाव से पुरुषोत्तमदेव का 'त्रिकांडकोश', शाश्वत का 'अनेकार्थसमुच्चय', हलायुध की 'अभिधानरत्नमाला', हेमचन्द्र का 'अभिधान चिन्तामणि' आदि ग्रन्थ लिखे गए। धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' पर लिखी गई मध्ययुगीन टीकाओं में मेधातिथि, गोविन्दराज और विज्ञानेश्वर की टीकाएँ प्रमुख हैं। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर यशोधर की 'जयमंगला' टीका का निर्माण भी इसी युग में हुआ। ज्योतिरीश्वर, कोक्कन और जयदेव आदि ने भी कामशास्त्र पर स्वतंत्र कृतियाँ लिखीं। 'संगीतरत्नाकर' का रचयिता आचार्य शार्ङ्गदेव भी मध्ययुग में ही हुआ। आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थों में वृद्ध वाग्भट का 'अष्टांगहृदय', वाग्भट की 'अष्टांगहृदयसंहिता', माधवकर का 'माधवनिदान', चक्रपाणिदत्त का 'चिकित्सासारसंग्रह' और आयुर्वेद के क्षेत्र में लल्ल, ब्रह्मदेव, भास्कराचार्य, पृथुयशा, और श्रीपति का नाम उल्लेखनीय है। मध्ययुग ही एक ऐसा समय है, जब कि भारतीय ज्योतिष का विदेशों में व्यापक प्रचार हुआ।

मध्ययुग की जनभाषा

मध्ययुग की जनभाषा प्राकृत थी। प्राकृत भाषा का परिष्कार और उसमें अद्वितीय कृतियों का प्रणयन भी इसी युग में हुआ। प्राचीन कही जाने वाली तामिल, तेलगु, मलयालम् और कनाड़ी आदि दाक्षिणात्य भाषाओं का भी इस युग में अच्छा स्थान बन चुका था, यद्यपि वे आदि से ही क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में आज तक चली आ रही हैं। प्राकृत और दाक्षिणात्य भाषाओं के बावजूद भी साहित्य-रचना के लिए संस्कृत भाषा का ही अधिक बोलबाला रहा है; फिर भी प्राकृत के विभिन्न रूपों : मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, आवंतिक और अपभ्रंश आदि पर सबसे अधिक कृतियाँ मध्ययुग में निर्मित हुईं।

मध्ययुग का प्राकृत साहित्य

पुराने समय में, जब कि देश का पढ़ा-लिखा समाज संस्कृत भाषा का व्यवहार करता था, सामान्य जनता की भाषा प्राकृत थी। यही उस समय की लोकभाषा थी। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों को लोक-प्रसिद्धि के दृष्टिकोण से लोकभाषा प्राकृत में ही प्रचारित किया। यह पुरानी प्राकृत ही पालि के नाम से भी कही जाती है। बुद्ध के बाद उसके परम अनुयायी सम्राट् अशोक ने अपनी धर्माज्ञाओं को लोकभाषा पुरानी प्राकृत (पालि) में खुदवा कर समाज में प्रचलित किया। लंका, वर्मा, स्याम और कोरिया आदि विदेशों में हीनयान संप्रदाय के प्रायः सभी प्रामाणिक ग्रन्थ पुरानी प्राकृत (पालि) में लिखे।उपलब्ध होते हैं। पालि का सबसे प्राचीन व्याकरण कच्चायन (कात्यायन) व्याकरण है।

बुद्धकालीन और अशोककालीन राजभाषा यद्यपि संस्कृत ही थी, फिर भी, सामान्य समाज की जानकारी के अभिप्राय से बुद्ध ने अपने महान् उपदेशों को और अशोक ने अपनी धर्माज्ञाओं को लोक-भाषा प्राकृत में ही प्रचारित किया। प्राकृत भी यद्यपि संस्कृत की ही संग थी; किन्तु पीछे चलकर संस्कृत से उसकी भिन्नता बढ़ती गई और विभिन्न रूपों में बदल कर उसने स्वतंत्र रूप से अपना विकास किया। प्राकृत भाषा का यह परिवर्तित रूप हमें आगे चलकर मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, आवंतिक और अपभ्रंश में मिलता है। प्रायः अपने मूल-प्रदेशों के नाम से ही इनका ऐसा नामकरण हुआ।

मागधी

मागधी भाषा में लिखा हुआ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। संस्कृत के नाटकों में अनपढ़ पात्रों के मुख से इस भाषा को कहलाया गया है। 'शाकुन्तल', 'प्रबोधचंद्रोदय' और 'वेणीसंहार' प्रभृति नाटकों में इस प्रकार के प्रसंग आये हैं। इसके अतिरिक्त मागधी का प्रौढ़रूप अशोक की धर्मलिपियों में भी मिलता है।

अर्धमागधी

मागधी और शौरसेनी के संमिश्रण से प्राकृत भाषा का एक और भी रूप देखने को मिलता है, जिसे अर्धमागधी कहते हैं। जैनों के आगम-ग्रंथ और दूसरे भी कई जैन-काव्य अर्धमागधी में ही लिखे हुए हैं। ये भाषायें मगध और उसके आस-पास के प्रदेशों की मूल भाषाएँ थीं।

शौरसेनी

संस्कृत के नाटककारों ने अपने नाटकों में जिस प्रकार अनपढ़ पुरुष-पात्रों के लिए मागधी का प्रयोग कराया, उसी प्रकार अनपढ़ स्त्री पात्रों की भाषा उन्होंने शौरसेनी रखी और विदूषकों ने भी प्रायः इसी भाषा का व्यवहार किया। 'शाकुन्तल,' 'मृच्छकटिक' और 'रत्नावली' आदि नाटकों में ऐसा ही देखने को मिल सकता है। दिगंबरी जैनों का अधिकांश साहित्य शौरसेनी में उल्लिखित है। 'पवयनसार' और 'कत्तिकेयानुपेक्खा' आदि प्रमुख दिगम्बरीय ग्रन्थ इसके उदाहरण है। मथुरा प्रदेश की मूल भाषा होने के कारण इसका ऐसा नामकरण हुआ।

महाराष्ट्री

महाराष्ट्र प्रदेश की मूल भाषा होने के कारण प्राकृत का एक रूप महाराष्ट्री हुआ। साहित्य के लिए और विशेष रूप से काव्य-रचना के लिए इस भाषा को बहुत उपयुक्त समझा गया है। हाल की 'गाथासप्तशती' (सतसई), प्रवरसेन कृत 'सेतुबंध' (रावणवहो), वाक्पतिराज का 'गौडवहो' (गउडवहो), हेमचन्द्र का 'द्व्याश्रयकाव्य' और एक 'वज्जालग' सुभाषित काव्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखे हुए हैं। इन काव्य-

ग्रंथों के अतिरिक्त राजशेखरकृत 'कर्पूरमंजरी' भी महाराष्ट्री में है। 'कर्पूर मंजरी' में उद्धृत हरिवृद्ध, नंदिवृद्ध और पोतिष आदि प्राकृत भाषा के ग्रन्थकारों की कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं है।

धार (मध्य प्रदेश) की भोजशाला में शिलाओं पर उत्कीर्णित महाराजा भोज और दूसरे अज्ञातनामा लेखक की अलग-अलग दो कृतियाँ 'कूर्मशतक' महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी हुई मिली हैं। इसी स्थान से मदन कवि (१२वीं श०) कृत एक दो अंकों की 'पारिजातमंजरी' (विजयश्री) नामक अधूरी नाटिका दो शिलाखंडों पर उत्कीर्णित प्राप्त हुई है। श्री काशीनाथ लेले ने इन दो अंकों की प्रतिलिपि करवाकर जर्मन भेजा और वहाँ से संस्कृतज्ञ विज्ञान हुल्टज महोदय ने १९०६ ई० में 'एपिग्राफिया इंडिका' में उसका सार तथा उस पर अपनी एक प्रस्तावना भी लिखी। मुझे भोजशाला में ऐसी ही अधिक महत्त्व की सामग्री प्राप्त होने की आशा है। उसका उत्खनन होना आवश्यक है। आज इन दो अंकों को श्री अनंतवामन वाकणकर द्वारा भाषान्तर सहित भोजशाला-प्रबंध समिति ने प्रकाशित करवा दिया है।[1] इस नाटिका में भी महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

इसके अतिरिक्त दिगम्बरी जैनों का कुछ कथा-साहित्य और जीवन-चरित्र-विषयक काव्य इस भाषा में लिखे हुए मिलते हैं। पटियाला ग्राम (जोधपुर) से प्राप्त प्रतिहारवंशीय राजा कक्कुक का ८६१ का लिखा शिलालेख महाराष्ट्री प्राकृत में मिला है।[2]

पैशाची

पैशाची प्राकृत भारत की बहुत प्राचीन लोकभाषा है। पश्चिमोत्तर प्रदेश और विशेषतः काश्मीर की यह मूल भाषा थी। इसमें लिखी हुई गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' आज उसके अनूदित रूप नेपाल वास्तव्य बुद्धस्वामी (८ वीं० श०) कृत 'बृहत्कथाश्लोक-संग्रह', काश्मीरदेशीय क्षेमेंद्र (११००) कृत 'बृहत्कथामंजरी' और दूसरे काश्मीरदेशीय सोमदेव (११००) कृत 'कथासरित्सागर' के रूप में उपलब्ध होते हैं।

---

१. पारिजातमंजरी, भोज प्रकाशन, धार, १९५३,
२. ओझा : म० मा० सं०, पृ० १३६

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

आवंतिक

राजशेखर के एक श्लोक से विदित होता है कि इसका दूसरा नाम भूत-भाषा या चूलिका पैशाची था और यह अवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा तथा चंबल का दोआब) और दशपुर (मंदसौर) की लोकभाषा थी।[१] यह पैशाची प्राकृत का ही एक भेद है, जिसको कि दूसरी श० ई० के आसपास पंजाब की मूल निवासी शक्तिशाली मालव जाति ने राजपूताना से प्रवेश कर अवंती देश में अपनी विजयध्वजा फैलाकर, प्रचलित किया।[२]

अपभ्रंश

अपभ्रंश किसी देशविशेष की लोकभाषा न होकर उसका प्रचार प्रायः सर्वत्र था। मागधी से लेकर आवंतिक तक जितनी भी प्राकृत हैं उन्हीं का बिगड़ा हुआ मिश्रितरूप अपभ्रंश है। हेमचंद्र के व्याकरण-ग्रन्थ में अपभ्रंश के १७५ भेद और उदाहरण गिनाये गये हैं।[3] जिससे उसकी व्यापकता और समृद्धि का पता चलता है। भारत में सर्वत्र उसका प्रचार था। चारणों और भाटों की डिंगल भाषा और पुरानी हिन्दी की जन्मदात्री भाषा अपभ्रंश ही है। धनपाल की दसवीं श० ई० में रचित 'भवि-सयत्त कहा' अपभ्रंश का प्रथम बृहद् ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इस भाषा में महेश्वरसूरि, पुष्पदंत, नयनंदी, बरदत्त, सोमप्रभ और हेमचन्द्र आदि ने अनेक ग्रन्थ लिखे।[४]

---
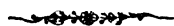
१. नागरी प्रचारीणी पत्रिका, भाग २, पृ० १० राजशेखर का श्लोक

२. ओझा : म० भा० सं०, पृ० १३८

३. हेमचन्द्रव्याकरण

४. ओझा : म० भा० सं०, पृ० १३७-३८

परिशिष्ट

भारत के बृहद् इतिहास की निर्माण सामग्री

भारतीयों की ऊँची मेधा और उनके अतलदर्शी विचारों का अध्ययन कर सहज में ही भारत के उज्ज्वल अतीत का पता लगाया जा सकता है। यह एक अतर्कित एवं विश्रुत तथा विद्वत्समर्थित सच्चाई है कि आध्यात्मिक जीवन के निर्माण और ज्ञान की अभ्युन्नति की दिशा में भारतवासी एकाग्र मन-कर्म से सहस्रों वर्षों तक संलग्न रहे हैं। संसार का बुद्धिजीवी वर्ग भारत की विपुल ज्ञान-संपदा को पाकर उन महामति भारतीयों के प्रति आज भी श्रद्धा से नमित है।

ज्ञान के क्षेत्र में इतने सर्वसंपन्न होने पर भी हमें महत् आश्चर्य तब होता है, जब कि हम देखते हैं कि हमारे इस बृहद् साहित्य में आज एक भी ऐसी कृति नाममात्र के लिए हमारे पास नहीं है, जिसमें हमारे देश की इस बृहद् ज्ञान-संपदा को क्रमबद्ध रूप से सुरक्षित रखने वाला कोई इतिहास ग्रन्थ उपलब्ध हो। इसका कारण तत्कालीन ज्ञानमना संप्रदायों की उदासीनता रही हो; अथवा उनमें ऐतिहासिक मेधा की कमी रही हो; या कि इस प्रकार के पार्थिव क्षणभंगुर प्रयासों को उपनिबद्ध कर देने में उनका विश्वास न रहा हो; किन्तु आज हमारे सामने यह प्रकट सत्य है कि लिवी (Livy) का 'एनल्स' (Annals), हेरोदोतस् (Herodotus) की 'हिस्टरीज' (Histories) जैसे इतिहासकारों की उत्तम इतिहास-कृतियों जैसी, भारतीय इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने योग्य, कृतियाँ संप्राप्य नहीं हैं।

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

प्राचीन भारतीय वाङ्मय और प्राचीन भारतीय लोक-जीवन का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करने वाला ऐसा समर्थित ग्रन्थ यद्यपि भारतीय साहित्य में नहीं है, जिसमें कि तिथिक्रम से सिलसिलेवार इतिवृत्त संग्रथित हों; किन्तु भारतीय इतिहास की सामग्री प्रस्तुत करने वाले ग्रंथों का भी उसमें सर्वथा अभाव हो, ऐसी बात नहीं है। भारतीय साहित्य में ऐसी विपुल सामग्री भरपूर है, जिसके आधार पर प्राचीन भारत का एक बृहद् इतिहास निर्मित किया जा सकता है; किन्तु इतने व्यापक पैमाने के कार्य को संपन्न करने के लिए अध्यवसायी एवं अद्भुत क्षमावंत विद्वानों के सामूहिक यत्न की आवश्यकता है। और आज भारतीय इतिहासकारों तथा भारतीय साहित्य के प्रति आसक्त विदेशी विद्वानों की वर्तमान खोजपूर्ण कृतियों को देखकर इतिहास के विद्यार्थी का यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है कि भारतीय साहित्य का एवं भारतीय लोक-जीवन का सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत करने वाला उत्तम ग्रंथ शीघ्र ही देखने को मिल सकेगा।

इतिहास की सामग्री

भारत के बृहद् इतिहास को प्रस्तुत करने के लिए दो प्रकार की सामग्री उपलब्ध है : १ साहित्यिक और २ पुरातत्त्व-संबंधी। यह सामग्री भारतीय और अभारतीय दो विभागों में पृथक् की जा सकती है।[1]

साहित्यिक ग्रंथ

भारतीय इतिहास को निर्मित करने के पहिले साधन वेदों में सुरक्षित हैं। आर्यों का भारत में प्रवेश करने तथा 'दास' और 'दस्यु' कहे जानेवाली अनार्य जातियों से आर्यों के निरंतर संघर्ष, आर्यों का सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान आदि बातों का इतिहास ऋग्वेद से संकलित किया जा सकता है। 'एतरेय', 'शतपथ' एवं 'तैत्तिरीय' आदि ब्राह्मण-ग्रंथों और 'बृहदारण्यक' तथा 'छान्दोग्य' आदि उपनिषद्-ग्रन्थों में भी विपुल इतिहास-सामग्री बिखरी हुई।[2] प्राचीन भारत की प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के मूल्यवान संग्रह बौद्धों के पिटक, निकाय, जातक, और जैनों के कल्पसूत्र,

१. दि इम्पीरीयल गजेटियर ऑफ इण्डिया, खंड २, पृ० १ से (आक्सफोर्ड १९०९)
२. डॉ० अग्निलालचन्द दास : ऋग्वैदिक कल्चर तथा ऋग्वैदिक इण्डिया

उत्तराध्ययन, आचारांग आदि सूत्रग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त 'गार्गी संहिता[1]' पाणिनि की 'अष्टाध्यायी[2]', पतंजलि का 'महाभाष्य' और कालिदास[3] के काव्य-नाटक प्रभृति इतिहासेतर ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर भी तत्कालीन इतिहास की बहुत-सारी बातों को जाना जा सकता है।

ऐतिहासिक ग्रंथ

ऊपर दर्शित इतिहासेतर साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त हमारे संमुख ऐसे भी अनेक इतिहासपरक ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रामाणिक इतिवृत्त सुरक्षित हैं। इस दिशा में 'रामायण' और 'महाभारत' दो ऐसे महान् ग्रन्थ हैं, जो महाकाव्यों की कोटि में शोभायमान होते हुए भी जिन्हें तत्कालीन भारत के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन का दर्पण कहा जा सकता है। बृहद् पुराणग्रन्थों में भारत की अनंत ऐतिहासिक सामग्री भरपूर है। यद्यपि पुराणों में कथित बहुत-सी बातें नितान्त उलझी हुई हैं तथापि उनकी समीक्षा कर और उनको सुलझा कर सर्वथा अदृष्ट एवं विलुप्त तथ्य प्रकाश में लाये जा सकते हैं।[4]

हमारे पास ऐसे भी ग्रन्थ हैं जो विशुद्ध ऐतिहासिक हैं और जिनके द्वारा बिना काँट-छाँट किए, भारतीय इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। यह ग्रन्थ-सामग्री कुछ तो काव्यात्मक है, कुछ जीवनीपरक कुछ ऐतिहासिक और कुछ मिश्रित। ऐसे ग्रन्थों में बाणभट्ट का 'हर्षचरित', वाक्पतिराज का 'गउडवहो', पद्मगुप्त (परिमलगुप्त) का 'नवसाहसांकचरित', बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित', संध्याकरनंदी का 'रामचरित', कल्हण की 'राजतरंगिणी', हेमचन्द्र का 'द्व्याश्रयकाव्य' तथा 'कुमारपालचरित', जयानक (जयरथ) का 'पृथ्वीराजविजय', सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी' अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन', जयसिंहसूरि का 'हम्मीरमदमर्दन', मेरुतुंग की 'प्रबंधचिन्तामणि', राजशेखर का 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध', चंद्रप्रभसूरि का 'प्रभावकचरित', गंगादेवी का 'कंपरायचरित' (मधुराविजय), जयसिंहसूरि, चरित्रसुन्दरगणि तथा जिनमंडनोपाध्याय के एक ही शीर्षक के तीन ग्रंथ 'कुमारपालचरित', जिनहर्षगणि का 'वस्तुपालचरित', जयचंद्रसूरि का 'हम्मीर

---

१. डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल : जे० बी० ओ० आर० एस०
२. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनी
३. डॉ० भगवतशरण उपाध्याय : इण्डिया इन कालिदास
४. डॉ० उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ५-६ (१९४९)

महाकाव्य', आनन्दभट्ट का 'बल्लालचरित', गंगाधर पण्डित का 'मण्डलीक महाकाव्य' और राजनाथ का 'अच्युतराजाभ्युदयकाव्य' तथा 'मूषकवंश' आदि का नाम उल्लेखनीय है[1], जिन पर विस्तार से प्रकाश आगे डाला गया है।

भारतीय इतिहास की सामग्री जुटाने के लिए 'नंदिक्कलंबम्', 'कुलोत्तुंगणपिल्लै-त्तमिल', 'कलिंगत्तुप्परणि' और चोलवंश-चरितम्' आदि तमिल भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त उपयोगी हैं।[2] बौद्धधर्म और बौद्ध-साहित्य की ऐतिहासिक जानकारी के लिए पालि में उल्लिखित वंशग्रन्थों का बड़ा महत्त्व है।[3]

विदेशी विद्वानों की कृतियाँ

भारतीय इतिहास की बहुमूल्य सामग्री उन विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्तों में भी सुरक्षित है, जिन्होंने स्वयं भ्रमण कर आँखों देखा हाल लिखा है, अथवा तत्कालीन भारतीयों के मौखिक रूप में सुरक्षित वृत्तान्तों का संकलन-संपादन किया है। भारत की जीवनिका लिखने वाले ऐसे विद्वान् यूनान, रोम, चीन, तिब्बत और अरब आदि अनेक देशों के हैं। यूनानी इतिहासकार हेरोदोतस् (४८४–४२५ ई० पूर्व) इस क्षेत्र का पहिला विद्वान् था, जिसने पाँचवीं श० ई० पूर्व में सीमाप्रांत (भारत) और हरवमी (ईरान) के साम्राज्यों के राजनीतिक संपर्क पर प्रकाश डाला है। सिकन्दर द्वारा सिंध और पंजाब पर किए गए आक्रमणों के सम्बन्ध में जिन यूनानी तथा रोमक लेखकों ने प्रकाश डाला है उनके नाम हैं: क्विंतस, कर्तियस, सियोदोरस, सिकुलस, एरियन, स्ट्रैबो और प्लुतार्च आदि। ईरान के सम्राट् आर्टजेरेक्सस मेमन (Artaxerxes Mnemon) के राजवैद्य टेशियस ने भी भारत के सम्बन्ध में लिखा है। सीरिया के सम्राट् सिल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज (४०० ई० पूर्व) वर्षों तक मौर्य चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा। मेगस्थनीज की भारत-सम्बन्धी पुस्तक 'इंडिका' संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु एरियन, एप्पियन, स्ट्रैबो, जस्टिन आदि विदेशी इतिहासकारों की पुस्तकों में उसके लंबे अवतरण उद्धृत हैं। किसी अज्ञातनाम यूनानी द्वारा प्रथम शती ई० में लिखी गई 'एरिथ्रियन-सागर का पेरिप्लस' (Periplus

---

१. म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा: भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १, (भूमिका)
२. डॉ० त्रिपाठी: प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ४; डॉ० उपाध्याय: वही, पृ० ७
३. भरतसिंह उपाध्याय: पालि साहित्य का इतिहास

of the Erythean Sea) नामक पुस्तक और मिस्र के राजा क्लाडियस टालेमी (Klaudios Ptolimy) का 'भूगोल' (ज्यॉग्राफी) भी इस दिशा की उल्लेखनीय पुस्तकें हैं। प्लिनी (Pliny २३-७९ ई०) की 'नेचुरल हिस्ट्री' और ईजिप्ट के मठाधीश समस इंडिकोप्लुस्टस (Cosmas Indicopleustes), जो ५४७ ई० में भारत आया था, उसके द्वारा लिखित 'दि क्रिश्चियन टोपोग्राफी ऑफ दि यूनिवर्स' (The Christian Topography of The universe) भी भारतीय इतिहास के लिए उपयोगी पुस्तकें हैं।

ग्रीक और रोम की भांति चीन का भी भारत से घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध रहा है। भारत में बौद्ध-धर्म के आविर्भाव और उसकी लोकप्रियता ने चीन-भारत की सांस्कृतिक मैत्री को और भी दृढ़ बनाया। चीनी इतिहासकारों में शु-मा-चीन (S-Su-Ma Chien १०० ई० पूर्व) प्रथम व्यक्ति था, जिसके इतिहास में भारत-विषयक[१] ऐतिह्य की सामग्री संकलित है। तदनंतर फाह्यान (३९९-४१४ ई०), हुएन्-त्सांग (६२९-६४५)[3] और ईत्सिंग (६७३-६९५ ई०) के भारत-विषयक संस्मरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।[२] इनके अतिरिक्त हुई-ली (Hwui-Li) रचित हुएन्-त्सांग की 'जीवनी' (Life) एवं मात्वान्-लिन (Ma-twanlin १३वीं शती) की कृतियों और विशेषतया तिब्बतीय इतिहासकार लामा तारानाथ के ग्रंथ 'कंग्युर' एवं 'तंग्युर' विशेष महत्त्व के हैं।

मुसलिम पर्यटकों में संस्कृत और ज्योतिष का प्रकांड पंडित अल्बेरुनी का नाम उल्लेखनीय है। इस विद्वान् की लिखी हुई (१०३० ई०) 'तहक़ीकए-हिन्द (तारीख-उल-हिन्द) पुस्तक में भारत और भारतीयों के संबंध में विपुल जानकारी भरपूर है। इस दिशा में उससे भी पूर्व अल्-विलादुरी, सुलेमान और अल् मसऊदी आदि मुसलमान इतिहासकार कार्य कर चुके थे। प्राचीन भारत की ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करने वाली हसन निजामी, मीर खोंद और फरिश्ता आदि मुसलिम लेखकों की कृतियाँ अवलोकनीय हैं।[४]

---

१. देखिए—फो० क्रो० की   २. देखिए—सी यु की

३. चीन के साथ भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और साहित्यिक संबंधों के बारे में डॉ० चाउ सिआंग कुआंग ने एक बहुत ही सुन्दर पुस्तक अंग्रेजी में लिखी थी, जिसका हिन्दी अनुवाद 'चीनी बौद्धधर्म का इतिहास' नाम से भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है

४. डॉ० त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ६, डॉ० उपाध्याय : वही. पृ० ८

भारतीय राजकुलों की संरक्षकता में साहित्य का निर्माण

पुरातत्त्व : अभिलेख, सिक्के, भग्नावशेष

भारतीय इतिहास के लिए विशेष महत्त्व की उपयोगी सामग्री भू-गर्भस्थ अभिलेखों में बिखरी है। ये अभिलेख हजारों की संख्या में तो प्राप्त हो चुके हैं और उनकी अनंत राशि अभी अपने उद्धारकों की प्रतीक्षा में है। ये अभिलेख शिलाओं, स्तम्भों, प्रस्तर-पट्टों, दरीगृहों और धातु-पत्रों पर उत्कीर्णित हैं, जो कि संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं में हैं। भारतीय भाषाओं में आलिखित भी अनेक अभिलेख हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन से भारत और भारत के साथ विदेशों के सुदूरभूत संबंधों का प्रामाणिक इतिहास लिखा जा सकता है।[१]

अभिलेखों की ही भाँति सिक्के भी इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री हैं। ये सिक्के सोना, चाँदी, ताँबा आदि अनेक धातुओं के हैं। प्राचीन भारत के राजनीतिक धरातल का पता लगाने के लिए सिक्के बड़े उपयोग के साधन हैं। प्राचीन भारत के गणराज्यों, तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन भी इन मुद्राओं द्वारा सुगमता से किया जा सकता है। किन्तु सिक्कों का अध्ययन और उनके आधार पर इतिहास का निर्माण एक अत्यन्त ही कठिन एवं सतर्कता का कार्य है। रोमन इतिहासकार प्लिनी की भारतसंबंधी भ्रामक स्थापनाएँ, सिक्कों के मनगढंत अध्ययन के लिए, प्रसिद्ध हैं।

अभिलेखों और सिक्कों के अतिरिक्त इतिहास की दृष्टि से स्मारक-भग्नावशेषों का भी अपना स्थान है। मंदिर, स्तूप और बिहार हमारे धार्मिक विश्वासों के प्रतीक हो रहे हैं, वरन्, उनके द्वारा तत्कालीन इतिहास और वास्तु-शिल्प की विभिन्न कला-वीथियों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सैंधव सभ्यता के भग्नावशेष, अजंता के जीर्ण कला-मंदिर, असंख्य बौद्ध बिहार, प्राचीन देवमंदिर और सहस्रों मूर्तियों में प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री बिखरी हुई है।

---

१. विस्तार के लिए देखिए—ओझा : भारतीय प्राचीन लिपिमाला

व्याकरणशास्त्र

भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाषा और विचारों का क्षेत्र सदा एक जैसा नहीं रहा है। आज हमारे पास विचार है और उनको अभिव्यक्ति देने के लिए जोरदार भाषा भी; किन्तु आरम्भ में ऐसा नहीं था। भाषा और विचारों का क्षेत्र सदा ही विकासमान रहा है। भाषा और विचारों के तारतम्य के इतिहास को बाँधनेवाली विद्या व्याकरण है। व्याकरण एक शास्त्र है, जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और जो कि अपने आप में सर्वांगपूर्ण है।

संस्कृत भाषा के व्याकरण की अपनी अलग विधाएँ और चिन्तन के अपने स्वतन्त्र ध्येय हैं। इतने महान् ध्येय और महती विधाएँ संसार की किसी भी भाषा के व्याकरण में देखने को नहीं मिलती हैं। भारतीय वाङ्मय के अध्ययन-अनुशीलन से विदित होता है कि ब्रह्मा से लेकर इंद्रादि देवताओं और ज्ञानवंत ऋषि-महर्षियों के समय तक व्याकरणशास्त्र की विभिन्न वीथियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं। गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि भाषाशास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित होकर व्याकरणशास्त्र की यह महान् थाती पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के हाथों में आई। भाषा का जो बृहद् स्वरूप तत्कालीन भारत की कोटि-कोटि जनता के कंठ में समा चुका था, इस मुनित्रय ने उसको अपनी महान् कृतियों में बाँधा। उनके बाद संस्कृत के सैकड़ों वैयाकरणों ने वार्तिक, वृत्ति, व्याख्या और टीकाओं द्वारा व्याकरण-ज्ञान की इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति के संबंध में ठीक-ठीक बताना दुष्कर है; किन्तु इतना निश्चित है कि उसका उदय और उसके विचार की विधियों का सूत्रपात वैदिक युग में ही हो चुका था। चारों मंत्र-संहिताओं में व्याकरण की दृष्टि से अनेक पदों की व्युत्पत्तियाँ दर्शित हैं। वेदमंत्रों के इन प्रसंगों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक व्याकरणशास्त्र के प्रकृति-प्रत्यय, धातु-उपसर्ग और समासजनित पूर्वपद-उत्तरपद आदि विषयों का विभाग हो चुका था। 'रामायण' की रचना तक तो वैज्ञानिक ढंग से व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन स्थिर हो चुका था। शाकटायन और यास्क जैसे उद्भट भाषाशास्त्रियों द्वारा सुविचारित व्याकरण-विषयक अनेक नई बातें प्रकाश में आ चुकी थीं और तत्कालीन विद्वत्समाज उनके ग्रन्थों की ओर बड़ी उत्सुकता से बढ़ रहा था।

आज, इतनी सहस्राब्दियों की दूरी पर बैठ कर हम व्याकरणशास्त्र के जन्मदाता उन पुरातन महात्माओं के महत्त्व का और साथ ही व्याकरण के उन्नत ध्येयों का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकने में असमर्थ हैं। आज हमारी आस्थाओं और विचारों के तौर-तरीकों में बड़ा अन्तर आ गया है। कहा नहीं जा सकता है कि यह अंतर हमारी उन्नति के फलस्वरूप आया या उसका कोई दूसरा ही कारण था; किन्तु आज इतना अवश्य लगता है कि इतनी दूरी पर बढ़ कर भी पुरातन को पचा देने या उसके तत्त्व को ग्रहण करने की हमारी मेधाशक्ति में अवश्य ही क्षीणता आ गई है।

इस क्षीणता का एक बहुत बड़ा कारण आज की हमारी अध्ययन-अध्यापन प्रणाली है। विधिवत् संस्कृत का अध्ययन करने वाला कोई भी स्नातक आज इस बात को अस्वीकार न करेगा कि हमारी संस्कृत की पाठशालाओं में जिस ढंग से शिक्षा का आरंभ कराया जाता है, वह इतना अवैज्ञानिक है कि वर्षों के बाद भी विद्यार्थी यह नहीं जान पाता है कि उसने आज तक क्या किया।

व्याकरण के क्षेत्र में यह अवस्था और भी चिन्तनीय है, और यही कारण है कि व्याकरण का आरंभ करने से पूर्व ही विद्यार्थी बहुत डर-हिचक कर उसमें प्रवेश करता है। व्याकरणशास्त्र के लिए परंपरा से जो वैशिष्ट्य की बात कही जाती रही है, अथवा दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा उसको जो अधिक संमान देने की पद्धति रही है, उसका अभिप्राय आज व्याकरण को अति जटिल,

दुर्बोध और अगम्य के रूप में ग्रहण किया जाता है। यह आज की अवैज्ञानिक पठन-पाठन प्रणाली का परिणाम है।

मेधाशक्ति के स्वतंत्र विकास और चिंतन की परमोच्च स्थिति का निर्माण करने में व्याकरण का पहिला स्थान रहा है। वैयाकरणों के सम्बन्ध में परंपरा से यह अनुश्रुति कदाचित् तभी चली आ रही है कि आधी मात्रा भर कम कर देने से वह उतना ही हर्ष मनाता है, जितना कि पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में : 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'। व्याकरणशास्त्र का यही वास्तविक उद्देश्य है।

व्याकरण के महान् ज्ञान की यह थाती, जिस पर संस्कृत भाषा और भारत को गर्व है, सहस्राब्दियों की दूरी से होकर आज हम तक आई है ; और भाषाशास्त्र का जो अपरिमित स्वामित्व हमें मिला है, उसका एकमात्र कारण भी वही है। उसके इतिहास का विधिवत् अध्ययन करने पर ही हम उसके अतलदर्शी ज्ञान की थाह पा सकते हैं।

व्याकरणशास्त्र के आदिम स्रष्टा, वक्ता और प्रवक्ता

संस्कृत-साहित्य का यह सर्वसंमत सिद्धान्त है कि सभी विद्याओं एवं सारे शास्त्रों के आदिम वक्ता महाज्ञानी ब्रह्मा थे। यद्यपि यह 'ब्रह्मा' शब्द कर्तृत्व के कारण अनेक व्यक्तियों का अभिधानवाची रहा है; किन्तु यह प्रायः निश्चित-सा हो गया है कि सर्वविद्याविद् महामेधावी आदि में ब्रह्मा नाम से एक ही व्यक्ति था और वह ऐतिहासिक व्यक्ति था। बाद में यह नाम उपाधिसूचक हो गया।[1] 'ऋक्तंत्र' में लिखा है कि इस व्याकरणशास्त्र के ज्ञान को ब्रह्मा ने बृहस्पति से कहा और वही ज्ञान-परंपरा क्रमशः बृहस्पति से इन्द्र, इन्द्र से भरद्वाज, भरद्वाज से ऋषियों एवं ऋषियों से ब्राह्मणों के पास आयी।[2]

ब्रह्मा के बाद व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता बृहस्पति हुए, ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिन्हें देवों का पुरोहित कहा गया है।[3] वे अर्थशास्त्रकार थे[4] और 'अगदतंत्र' का रचयिता भी उन्हें माना जाता है।[5] व्याकरण के क्षेत्र में उनकी रचना का कहीं

---

१. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, द्वितीय भाग; युधिष्ठिर मीमांसक: संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ६७, टि० २; पृ० ४६

२. ऋक्तंत्र १।४

३. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२६

४. कामसूत्र १।१७

५. अष्टांगहृदय, पृ० १८ (निर्णय सागर प्रेस)

भी उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु 'ऋक्तंत्र' के अतिरिक्त 'महाभाष्य' के इस उद्धरण से कि, बृहस्पति ने इन्द्र के लिये प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था,[1] यह बात सिद्ध होती है कि बृहस्पति अवश्यमेव व्याकरण के प्रवक्ता हुए।

इन्द्र भी व्याकरण का प्रवक्ता था। उसने बृहस्पति से प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश का विशेष ज्ञान प्राप्त किया था; किन्तु उसके संबंध में एक विशेष बात यह है कि उसने पदों के प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग द्वारा शब्दोपदेश-प्रक्रिया की कल्पना द्वारा परंपरागत व्याकरण-ज्ञान का संस्कार भी किया। उसने पुरा-आगत अव्याकृत वाणी को प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कारयुक्त किया।[2] व्याकरण के लिये इन्द्र की यह विशेष देन थी।

इस दृष्टि से, व्याकरण ज्ञान के आदिम वक्ता ब्रह्मा हुए और प्रवक्ता बृहस्पति, इन्द्र, भरद्वाज आदि ऋषि एवं ब्राह्मण। किन्तु 'ऋक्तंत्र' की अपेक्षा 'अष्टाध्यायी' में हमें प्राचीन वैयाकरणों का उल्लेख विस्तार से मिलता है।

यास्क कृत 'निरुक्त' के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने आठ शाब्दिक आचार्यों का उल्लेख किया है।[3] वे आठ शाब्दिक संभवतः वोपदेव कृत 'कविकल्पद्रुम' में वर्णित इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर, जैनेंद्र आदि ही थे।[4] इनके अतिरिक्त भोज-रचित 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की टीका, भास्कराचार्य की 'लीलावती' आदि में भी आठ वैयाकरणों का उल्लेख है।[5] देवनन्दी ने सात वैयाकरण[6]; किन्तु 'रामायण'[7] और 'गीतासार'[8] प्रभृति ग्रन्थों में नौ वैयाकरण गिनाये गए हैं। उधर 'काशिकावृत्ति' में केवल पाँच वैयाकरणों का ही संकेत है।[9]

---

१. महाभाष्य १।१।१

२. तैत्तिरीय संहिता ६।४।७ तथा सायण का ऋग्भाष्य उपोद्घात, भाग १, पृ० २६, पूना संस्करण

३. दुर्गाचार्य : निरुक्त-विवृति, पृ० ७४, ७८

४. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेंद्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

५. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ४९, फुटनोट, १, २

६. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १६०

७. रामायण, उत्तरकांड, ३६।४७ (ला जर्नल प्रेस, मद्रास का संस्करण)

८. भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना का हस्तलेख, सं० १६४ (१८८३–८४)

९. काशिकावृत्ति ४।२।६०

इन ग्रन्थों की समीक्षा करने पर प्रतीत होता है कि उनमें एक जैसी बातें नहीं लिखी हुई हैं। किस ग्रन्थ का क्रम या निर्देश सच्चा माना जाय, यह समस्या और भी जटिल है। ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त ग्रन्थों में आये नामों की जब हम संगति ढूढते हैं तो, वह भी हमें किसी एक क्रम में आबद्ध नहीं दिखाई देती है।

संस्कृत-व्याकरण के प्राणभूत आचार्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का अध्ययन करने पर एक नई ही बात सामने आती है। प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों में जो संख्याएँ या जैसे विवरण दिए गए हैं, पाणिनि उससे कुछ अलग ही कहते हैं। पाणिनि के शब्दानुशासन में आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन, ये दस नाम दिए गए हैं।[1]

व्याकरण इतिहास के अध्ययन की सुगम विधि

संस्कृत व्याकरणशास्त्र के अध्ययन की प्राग्व्याप्ति ब्रह्मा तक और उसका उत्तरोत्तर विकास-विस्तार आज तक पहुँचता है। इस इतने असीमित विषय को छोटी-छोटी सीमाओं में बाँध कर पढ़ने से उसके सम्बन्ध की छोटी-बड़ी बातें सुगमता से ग्रहण की जा सकती हैं। इसलिए उसके आज तक के इतिहास को हमने कुछ भागों में विभक्त किया है।

व्याकरणशास्त्र की इस सुदीर्घ-परम्परा के ऐतिहासिक केंद्रबिंदु आचार्य पाणिनि हैं। पाणिनि के उदयकाल से ही ऐसा प्रतीत होता है, जैसे व्याकरण का सारा अस्तित्व और व्याकरण की सारी थाती 'अष्टाध्यायी' में सिमिट करके एकाकार हो गई। पाणिनि ने अपने पूर्व के सभी व्याकरण-सम्प्रदायों का मन्थन कर उन्हें वैज्ञानिक ढंग से 'अष्टाध्यायी' में बैठाया और पाणिनि के बाद व्याकरण की जितनी भी शाखाएँ पल्लवित हुईं, उन सब का मूल उद्गम पाणिनीय व्याकरण ही रहा।

इसलिए व्याकरणशास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन पाणिनि को केंद्र बनाकर प्रस्तुत किया गया है। प्राक्पाणिनि, पाणिनि और उत्तर पाणिनि, इस क्रम से व्याकरणशास्त्र की सारी आचार्य-परम्परा को रखकर व्याकरणशास्त्र के

---

१. क्रमशः देखिए : अष्टाध्यायी ६।१।९२; १।२।२५; ८।३।२०; ७।१।७४; ६।१।१३०; ७।२।६३; ३।४।१११; १।१।१६; ५।४।११२ और ६।१।१२३

क्षेत्र में जो नई निष्पत्तियाँ और जो नये प्रयोग निर्मित हुए, उनकी संक्षिप्त रूपरेखा दो गई है। पाणिनि से पहिले लगभग तेईस आचार्य हुए, जिनके नाम हैं : इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, वैयाघ्रपद, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनक, गौतम, व्याडि, आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन।

इन तेईस वैयाकरणों की भी दो श्रेणियाँ हैं। पहिली श्रेणी के वे वैयाकरण आचार्य हैं, जो पाणिनि से पहिले हुए, किन्तु जिनका नाम पाणिनि व्याकरण में नहीं मिलता है और दूसरी श्रेणी के वे आचार्य हैं, जिनका उल्लेख पाणिनि ने अपने व्याकरण में किया है। इस दृष्टि से व्याडि तक के तेरह आचार्य पहिली श्रेणी में और उसके बाद के दस आचार्य दूसरी श्रेणी में आते हैं। इनका कालक्रम आगे-पीछे हो सकता है; किन्तु उनका अध्ययन पाणिनि के निर्देशों पर ही किया गया है।

कालक्रम का आधार

इन आचार्यों के कालक्रम का दृष्टिकोण श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी की पुस्तक के अनुसार दिया गया है। कुछ विद्वानों की दृष्टि से कालक्रम का यह आधार ठीक नहीं बैठता है। मैंने भी पाणिनि का स्थितिकाल आधुनिक विद्वानों की अधिक राय के आधार पर ही रखा है। कालक्रम के बारीक विचार भले ही विवादास्पद हो सकते हैं; किन्तु मोटे तौर पर उनके पूर्वापर की सीमाएँ सही हैं।

प्राक्पाणिनि

अष्टाध्यायी में अनुक्त आचार्य

इन्द्र का उल्लेख पहिले किया जा चुका है; ब्रह्मा और बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित व्याकरणशास्त्र का उन्होंने संस्कार किया था। उन्होंने शास्त्र-जिज्ञासु देवों की प्रार्थना करने पर उन्हें व्याकरण-ज्ञान में दीक्षित किया।[1] इन्द्र के पिता का नाम कश्यप और माता का नाम अदिति था। दक्ष प्रजापति इनके नाना थे। बाहुदंती पुत्र के नाम से भी ग्रन्थकारों ने इनका उल्लेख

---

१. तैत्तिरीय संहिता, ६।४।७, पृ० ४७

किया है।[1] वेदांत, मीमांसा दर्शन और शब्दशास्त्र का ज्ञान इन्होंने प्रजापति से प्राप्त किया था।[2] भारद्वाज, धन्वंतरि, कश्यप, वाशिष्ठ, भृगु, अत्रि आदि इनके शिष्य थे।[3] इन्होंने 'ऐंद्र व्याकरण' के अतिरिक्त आयुर्वेद-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, मीमांसा दर्शन, पुराण और गाथाओं पर भी ग्रंथ लिखे थे।[4] इन्द्र बड़े दीर्घजीवी थे। वे लगभग ५०० वर्ष जीवित रहे। उनका संभावित स्थिति-काल ८५०० वि० पूर्व में रखा जा सकता है।[5]

वायु

वायु के संबंध में प्रकाश डालने वाली सामग्री कम उपलब्ध है। व्याकरण-शास्त्र का प्रतिपादन करते समय इंद्र ने वायु से सहायता प्राप्त की थी।[6] अतः इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे इन्द्र के समकालीन ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इन्द्र और वायु ने ही सर्वप्रथम व्याकरणशास्त्र का संस्कार किया। वाणी को 'ऐंद्रावायवः' नाम देने का अभिप्राय भी यही था। वायु को शब्दशास्त्र का ज्ञाता भी कहा गया है।[7] ब्रह्मा से वायु ने पुराणों की शिक्षा प्राप्त की।[8] और वही पुराण-ज्ञान उन्होंने अपने शिष्य उशना कवि को दिया।[9] 'वायुपुराण' के रचयिता वही मातरिश्वा वायु ही थे।[10]

भरद्वाज

'ऋक्तंत्र' के पूर्वोक्त वाक्य में ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र के बाद भरद्वाज को चौथा व्याकरण-प्रवक्ता बताया गया है।[11] वे बृहस्पति के पुत्र थे। 'काशिका-वृत्ति' में भरद्वाज की ११ संतानें बताई गई हैं।[12] व्याकरण[13] तथा आयुर्वेद[14] का ज्ञान इन्होंने इंद्र से और पुराणों[15] का ज्ञान तृणंजय से प्राप्त किया था।

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र १।८
२. छांदोग्य उपनिषद्, ८।७–११; पार्थसारथिमिश्र कृत 'श्लोकवार्तिक' की टीका
३. काश्यप संहिता १।२०
४. युधिष्ठिर मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६०-६४
५. वही, पृ० ५९
६. तैत्तिरीय संहिता ६।४।७
७. वायुपुराण : २।४४
८. वही, १०३।५८
९. वही, १०३।५९
१०. वही १।४७
११. ऋक्तंत्र १।४
१२. काशिका-वृत्ति २।१।१९, २।४।८४
१३. ऐतरेय आरण्यक २।२।४
१४. चरकसंहिता, सूत्रस्थान १।२३
१५. वायुपुराण १०३।६३

'रामायण' के एक प्रसंग से प्रतीत होता है कि प्रयाग के गंगा-यमुना के संगम पर भरद्वाज का आश्रम था,[1] जिसके चिह्न आज भी वहाँ सुरक्षित हैं। 'ऐतरेय आरण्यक' में उन्हें 'अनूचानतं' और 'दीर्घजीवितम्' लिखा है।[2] 'रामायण' के कई स्थलों से विदित होता है कि वे राम के समकालीन थे।[3] अतः उनका संभावित समय त्रेतायुग के अन्तिम चरण ७५०० वि० पूर्व रखा जा सकता है। उनकी कृतियाँ थीं : 'भरद्वाज व्याकरण', 'आयुर्वेद संहिता', 'धनुर्वेद', 'राजशास्त्र', 'अर्थशास्त्र', 'यंत्रसर्वस्व', 'पुराण' और 'शिक्षा'; जिनमें 'यंत्रसर्वस्व'[4] और 'शिक्षा,[5]' उनके दो ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं।

भागुरि

भगुर के पुत्र भागुरि हुए और संभवतया 'महाभाष्य' में उद्धृत[6] लोकायत शास्त्र की प्रणेत्री भागुरी इनकी बहन थी। इनके गुरुपाद का नाम बृहद्गर्ग था।।[7] इनकी कृतियों के नाम हैं : 'भागुरि-व्याकरण', 'सामवेदीय शाखा', 'ब्राह्मण', 'अलंकार ग्रन्थ', 'त्रिकांडकोश', 'सांख्यदर्शन भाष्य' और 'दैवतग्रन्थ'। इनका समय ३१०० वि० पूर्व दिया गया है।[8]

पौष्करसादि

इस परंपरा में पौष्करसादि पाँचवें प्राचीन आचार्य हैं। इनके पिता का नाम संभवतः पुष्करसत् था।[9] वे प्राग्देशीय थे[10] और संभवतः अजमेर (राजस्थान) के समीप किसी पुष्कर नामक स्थान के निवासी रहे हों।[11]

---

१. रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ५४   २. ऐतरेय आरण्यक १।२।२

३. रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ५४, उत्तरकांड ३८।१५

४. इस ग्रंथ का वर्तमान नाम "विमानशास्त्र' है। वह इसी नाम से आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा, दिल्ली से प्रकाशित हुआ

५. भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना से प्रकाशित

६. महाभाष्य ७।३।४५   ७. बृहत्संहिता, पृ० ५८१

८. विस्तार के लिए देखिए-भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, तथा मीमांसक का पूर्वोक्त ग्रंथ पृ० ६९–७४

९. अष्टाध्यायी ७।३।२०; काशिका २।४।६३; बालमनोरमा, भाग २, पृ० २८७

१०. हरदत्त : पदमंजरी, भाग १, पृ० ४०९; अष्टाध्यायी २।४।६०

११. यज्ञेश्वरभट्ट : गणरत्नावली ४।१।९६, पृ० १७५

ये पाणिनि के पूर्ववर्ती और संभवतः भारतयुद्ध के आसपास ३१०० वि० पूर्व हुये।[1]

चारायण

चारायण का, 'महाभाष्य' में पाणिनि और रौढि के साथ स्मरण किया गया है।[2] देवपाल ने भी अपनी टीका में इनके एक सूत्र को उद्धृत किया है।[3] इससे प्रतीत होता है कि ये प्राचीन वैयाकरण थे। चारायण कृष्ण यजुर्वेद की चारायणीय शाखा के प्रवक्ता (पं० भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास; भाग १, पृ० १९०-१९१) और काश्मीर से प्राप्त 'चारायणी शिक्षा'[4] के रचयिता थे। इनका संभावित स्थितिकाल पौष्करसादि (३१०० वि० पूर्व) के ही लगभग था।

काशकृत्स्न

एक प्राचीन वैयाकरण के रूप में आचार्य काशकृत्स्न का उल्लेख 'महाभाष्य' और 'कविकल्पद्रुम' एवं उनके सूत्रों का उल्लेख 'महाभाष्यप्रदीप' तथा 'वाक्यपदीय' आदि अनेक ग्रंथों में हुआ,[5] है जिससे व्याकरण की दिशा में उनके बहुज्ञ व्यक्तित्व का पता लगता है। उनका समय भी भारतयुद्ध के आसपास था। मीमांसक जी की पुस्तक में काशकृत्स्न की कृतियों के संबंध में गंभीर विश्लेषण करने के उपरान्त पता लगाया गया है कि उन्होंने एक त्रि-अध्यायी व्याकरण ग्रन्थ और चतुरध्यायी मीमांसाशास्त्र का प्रणयन किया था।[6]

वैयाघ्रपद

वैयाघ्रपद (३१०० वि० पूर्व) को एक वरिष्ठ वैयाकरण के रूप में याद

---

१. मीमांसक जी का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ७६

२. महाभाष्य १।१।७३   ३. लौगाक्षिगृह्य-टीका ५।१

४. डॉ० कीलहार्न : इंडियन ऐण्टीक्वेरी, जुलाई १८७६ ई०

५. महाभाष्य, प्रथम आह्निक (पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नमिति; कविकल्पद्रुम अष्टशाब्दिक, महाभाष्यप्रदीप १।२५०-५।१।२१; वाक्यपदीय; काण्ड १, पृ० ४०

६. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ८२-८६

किया गया है।[1] ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता है कि ब्राह्मणग्रन्थों[2] और आरण्यकग्रंथों[3] में जिस वैयाघ्रपद का उल्लेख हुआ है, वह वैयाकरण वैयाघ्रपद ही था। वैयाघ्रपदीय व्याकरण को विद्वानों ने दश अध्याय परिमाण का बताया है। मीमांसकजी ने पं० गुरुपद हालदार द्वारा उल्लिखित[4] इस विश्वास का खंडन किया है कि इस व्याकरण ग्रंथ का नाम 'वैयाघ्रपद' था और उसके रचनाकार का नाम व्याघ्रपाद।[5]

माध्यन्दिनि

'काशिका' में उद्धृत[6] एक कारिका से विदित होता है कि आचार्य माध्यंदिनि ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवर्तन किया था। माध्यंदिनि के पिता मध्यंदिन का उल्लेख पाणिनि ने किया है[7], 'वायुपुराण' में जिसको याज्ञवल्क्य का साक्षात् शिष्य बताया गया है।[8] इन बचनों से प्रतीत होता है कि मध्यंदिन का पुत्र माध्यंदिनि, पाणिनि से प्राचीन लगभग ३००० वि० पूर्व में हुआ। इनकी रचनाओं के नाम हैं: 'शुक्लयजुःपादपाठ और 'माध्यंदिन-शिक्षा'।

रौढि

पाणिनि के प्राग्-भूत आचार्यों में रौढि का उल्लेख काशिकाकार ने आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि की परंपरा में किया है।[9] इनके संबंध में इतना भर पता लगता है कि ये वैयाकरण थे। इनकी रचनाओं का कुछ पता नहीं लगता है।

शौनक

रौढि की ही भांति आचार्य शौनक के संबंध में भी अधिक ज्ञात नहीं होता है, मात्र इसके कि उन्होंने भी व्याकरणशास्त्र पर कुछ लिखा था,

---

१. काशिका ७।१।९४

२. शतपथ ब्राह्मण १०।६।१।७, ८; जैमिनिब्राह्मण ३।७।३।२; ४।९।१।१

३. शांखायन आरण्यक ९।७

४. मिलाइए–गुरुपद हालदार : व्याकरण दर्शनेर इतिहास (बंगला), पृ० ४४४

५. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ८७

६. काशिका ७।१।९४

७. अष्टाध्यायी ४।१।८६

८. वायुपुराण ६१।२४।२५

९. काशिका ६।२।३६

जिसका एक उद्धरण 'चरक संहिता' के टीकाकार जज्जट ने उद्धृत किया है ।[1]

गौतम

आचार्य गौतम को महाभाष्यकार ने आपिशलि पाणिनि और रौढि के साथ बैठाया है ।[2] गौतम शाखाकार भी थे और 'गौतमगृह्य' तथा 'गौतम धर्मशास्त्र' का रचयिता भी इन्हें ही माना जाता है[3], जिससे ये पाणिनि के पूर्ववर्ती ठहरते हैं । गौतम प्रोक्त 'गौतमी शिक्षा' काशी से प्रकाशित हो चुकी है ।

रौढि, शौनक और गौतम का संभावित स्थितिकाल ३००० वि० पूर्व था ।

व्याडि

आचार्य व्याडि इस परम्परा के १३वें वैयाकरण हैं, जो पाणिनि के पूर्ववर्ती थे; किन्तु पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में जिनका उल्लेख नहीं मिलता है । शौनक ऋषि के 'ऋक्प्रातिशाख्य' में इनके मत उद्धृत हैं ।[4] व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण था । वामन ने 'काशिका' में उसको दाक्षि के नाम से स्मरण किया है ।[5] इन्हें पाणिनि का ममेरा भाई माना जाता है; किन्तु वास्तव में वह पाणिनि का मामा था । उसने एक दश अष्टाध्यायी व्याकरण की रचना की थी ।

आचार्य व्याडि का परिचय एक संग्रहकार के रूप में अधिक विश्रुत है । पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरण आचार्यों की परम्परा में व्याडि का स्थान बहुत ऊँचा है । उसकी असाधारण विद्वत्ता के परिचायक उसके ग्रन्थ हैं । उसका संग्रहग्रंथ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु 'वाक्यपदीय' के टीकाकार पुण्यराज की सहादत के अनुसार[6] और नागेश की उद्धरणी[7] को देखकर

---

१. चरकसंहिता–टीका, चिकित्सास्थान २।२७   २. महाभाष्य ६।२।२६

३. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ९१

४. ऋक्प्रातिशाख्य २।२३।२८; ६।४३; १३।३१।३७

५. काशिका ६।२।६९

६. वाक्यपदीय टीका, पृ० ३८३ (काशी संस्करण)

७. महाभाष्य, नवाह्निक, पृ० ५५ (निर्णय सागर संस्करण)

मालूम होता है कि उसका परिमाण एक लाख श्लोकों का था। उसने 'बालचरित' (महाकाव्य), 'अमरकोश-टीका','परिभाषापाठ', 'व्याडीय परिभाषा-वृत्ति', 'लिंगानुशासन', 'विकृतिवल्ली' और कोश आदि ग्रंथों की भी रचना की थी।[1]

इन्द्र से लेकर व्याडि तक तेरह प्राचीनतम वैयाकरण आचार्यों का परिचय दिया गया है। 'महाभाष्य', 'काशिका' और 'कविकल्पद्रुम' प्रभृति व्याकरण-ग्रंथों में व्याकरण के इन आदिम आचार्यों का संक्षेप में और विस्तार से उल्लेख किया गया है। इनकी जीवनी, सिद्धान्तों और कुछ उपलब्ध कृतियों के आधार पर यह निश्चित-सा हो चुका है कि, यद्यपि इनका उल्लेख पाणिनि ने नहीं किया है, तब भी ये पाणिनि के पूर्ववर्ती थे।

पाणिनि प्रोक्त दश वैयाकरण

पाणिनि के पूर्ववर्ती इन तेरह आचार्यों के अतिरिक्त दश आचार्य और हुए हैं। इन दश आचार्यों को पाणिनि से पहिले मानने का प्रामाणिक आधार यह है कि पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में उनका उल्लेख किया है। 'अष्टाध्यायी' में जिस क्रम से उनका उल्लेख हुआ है, उसी क्रम से यहाँ उनका परिचय प्रस्तुत किया जायगा। 'अष्टाध्यायी' में उनका क्रम है: आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन।

आपिशलि

आपिशलि व्याकरण के बहुत बड़े आचार्य थे। 'अष्टाध्यायी'[2], 'महाभाष्य[3]', 'न्यास'[4] और 'महाभाष्यप्रदीप'[5] आदि ग्रंथों में उनके बहुचर्चित व्यक्तित्व को देखकर सहज ही में उनकी महानता का पता लग जाता है। हालदारजी ने आपिशलि को याज्ञवल्क्य का श्वशुर लिखा है।[6] उनकी यह बात गवेषणीय है। अनेक प्रमाणों को देकर मीमांसक जी ने यह सिद्ध किया है कि आपिशलि

---

१. इसके विस्तृत परिचय के लिए देखिए-मीमांसक जी का ग्रंथ, पृ० १९४-२०८

२. अष्टाध्यायी ६।१।९२   ३. महाभाष्य ४।२।४५

४. न्यास ४।२।४५   ५. महाभाष्यप्रदीप ५।१।२१

६. व्याकरण दर्शनेर इतिहास (बंगला) पृ० ५१६

का स्थितिकाल विक्रम से कम-से-कम २९०० वर्ष पूर्व था।[१] एक 'अष्टाध्यायी' व्याकरण-ग्रंथ के अतिरिक्त आपिशलि ने 'धातुपाठ', 'गणपाठ', 'उणादिसूत्र' और 'शिक्षा' नामक चार ग्रंथ और लिखे। उनके 'उणादिसूत्र' और 'शिक्षा' ग्रंथ उपलब्ध हैं।

काश्यप

आचार्य काश्यप का उल्लेख 'अष्टाध्यायी' में दो बार हुआ है[२], जिनको कि इससे पूर्व 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' में भी स्मरण किया गया है।[३] ये भारतयुद्ध के समय हुए। इन्होंने व्याकरण, कल्प, छंदःशास्त्र, आयुर्वेद, पुराण और दर्शन पर ग्रंथ लिखे; किन्तु निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता है कि इन ग्रन्थों का रचयिता इस नाम का एक ही व्यक्ति हुआ या एक ही नाम के भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुए।[४]

गार्ग्य

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में गार्ग्य का उल्लेख तीन स्थानों पर हुआ है।[५] इनके मत के उद्धरण 'ऋक्प्रातिशाख्य' और 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' में भी उपलब्ध होते हैं।[६] यदि इनका यह नाम गोत्रवाची है तो इनका मूलपुरुष गर्ग, वैयाकरण भारद्वाज का पुत्र था। यास्क के 'निरुक्त' में जिस गार्ग्य का उल्लेख हुआ है[७], मीमांसक जी के मतानुसार, वही यह वैयाकरण गार्ग्य था।[८] इस दृष्टि से गार्ग्य का स्थितिकाल ५५०० वि० पूर्व था। गार्ग्य ने एक सर्वांगपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ के अतिरिक्त 'निरुक्त', 'सामवेद पदपाठ', 'शाकल्यतंत्र', 'तत्त्वशास्त्र', 'देवर्षिचरित' और 'सामतंत्र', ये छह ग्रन्थ रचे। ये सभी ग्रन्थ वैयाकरण गार्ग्य ने ही लिखे, यह विचारणीय है।

गालव

इस परंपरा के चौथे वैयाकरण गालव का उल्लेख 'अष्टाध्यायी' में चार

---

१. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ९६

२. अष्टाध्यायी १।२।२५; ८।४।६७ ३. प्रातिशाख्य ४।५

४. मीमांसक जी का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १०४

५. अष्टाध्यायी ७।३।९९; ८।३।२०; ८।४।६७ ६. ऋक्प्रातिशाख्य १३।३१

७. निरुक्त १।१२; १।३; १३।३१ ८ मीमांसक जी का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १०५

बार हुआ है।[1] अन्यत्र भी इनकी चर्चा है। 'महाभारत' के शांतिपर्व में उद्धृत[2] शिक्षा का प्रवक्ता पांचाल बाभ्रव्य गालव ही यदि वैयाकरण गालव था तो बाभ्रव्य उसका गोत्र और पञ्जाब उसका देश होना चाहिए। इस दृष्टि से वह भी गार्ग्य के ही आस-पास हुआ। एक व्याकरण-ग्रन्थ के अतिरिक्त गालव ने संहिता, ब्राह्मण, 'क्रमपाठ', 'शिक्षा', 'निरुक्त', 'दैवत ग्रन्थ', 'शाकल्य-तंत्र', और 'कामसूत्र' आदि विषयों तथा नामों से ग्रन्थ लिखे।

चाक्रवर्मण

चाक्रवर्मण को हालदार जी ने कश्यप का पौत्र लिखा है।[3] 'अष्टाध्यायी' में इनका उल्लेख है।[4] इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही विदित है कि ये प्राचीन वैयाकरण थे।

भारद्वाज

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में भारद्वाज शब्द का दो बार उल्लेख हुआ है[5]; किन्तु उनमें पहिला नाम देशवाची है।[6] इनका पूर्व पुरुष भरद्वाज संभवतः इंद्र का दीर्घजीवी शिष्य भरद्वाज ही था। सुकेशा भारद्वाज, गर्दभीविपीत भारद्वाज, कृष्ण भारद्वाज और द्रोण भारद्वाज आदि इन वैयाकरण भारद्वाज से भिन्न थे। उसका स्थितिकाल २८०० वि० पूर्व था। व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त उन्होने वार्तिक, आयुर्वेद और अर्थशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे थे।

शाकटायन

शाकटायन का तीन बार 'अष्टाध्यायी' में उल्लेख हुआ है[7] और पतंजलि ने भी उसके व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता होने की बात लिखी है।[8] 'निरुक्त' में भी वैयाकरण शाकटायन का मत उद्धृत है।[9] पं० गोपीनाथ भट्ट ने दो शाकटायन नामक व्यक्तियों का उल्लेख किया है। एक वाध्र्यश्ववंश्य[10] और दूसरा

---

१. अष्टाध्यायी ६।३।६१; ७।१।७४; ७।३।९९; ८।४।६७

२. महाभारत, शान्तिपर्व ३४२।१०३, १०४

३. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, (बंगला) पृ० ५१९

४. अष्टाध्यायी : ६।१।१३०

५. अष्टाध्यायी ४।२।१४५; ७।२।६३

६. काशिका ४।२।१४५

७. अष्टाध्यायी ३।४।११; ८।३।१८; ८।४।५०

८. महाभाष्य ३।३।१

९. निरुक्त १।१२

१०. संस्कार रत्नमाला, पृ० ४३०

काण्ववंश्य।[1] मीमांसक जी ने काण्ववंशीय शाकटायन को वैयाकरण शाकटायन माना है।[2] उसका स्थितिकाल ३१०० वि० पूर्व था। शाकटायन ने व्याकरण पर अपूर्व ग्रन्थ लिखा था। वह बहुज्ञ था। उसने 'दैवत-ग्रन्थ', 'कोश', 'ऋक्तंत्र', 'लघुऋक्तंत्र', 'सामतंत्र', 'पंचपादी उणादिसूत्र' और 'श्राद्ध-कल्प' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे।

शाकल्य

आचार्य शाकल्य को पाणिनि ने चार बार उद्‌धृत किया है।[3] अन्यत्र भी इनका उल्लेख हुआ है। संस्कृत साहित्य में चार शाकल्य नाम के व्यक्ति मिलते हैं: शाकल्य, स्थविर शाकल्य, विदग्ध शाकल्य और वेदमित्र (देवमित्र) शाकल्य। मीमांसक जी के मतानुसार पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में उद्‌धृत शाकल्य और ऋग्वेद का पदकार शाकल्य निश्चय ही एक व्यक्ति था और उसका समय २८०० वि० पूर्व था।[4] शाकल्य के व्याकरण में लौकिक और वैदिक, उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था। उसने शाकलचरण और पदपाठ पर भी ग्रंथ लिखे।

सेनक

आचार्य सेनक का उल्लेख 'अष्टाध्यायी' के एक सूत्र में मिलता है।[5] इसके अतिरिक्त उसके संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। वह २९०० वि० पूर्व में हुआ।

स्फोटायन

स्फोटायन 'अष्टाध्यायी' प्रोक्त[6] अन्तिम वैयाकरण हुये। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। यह तो उनका कर्तृत्व नाम है। वैयाकरण-निकाय में 'स्फोटवाद' एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। स्फोट संभवतः उसके किसी पूर्वज का नाम था। हेमचंद्र के 'अभिधानचिन्तामणि' कोश में स्फोटायन का दूसरा नाम कक्षीवान् लिखा हुआ है।[7] यही बात केशव ने भी लिखी है।[8] उसका स्थितिकाल २८०० वि० पूर्व था।

---

१. वही पृ० ४३७ २. मीमांसक जी का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ११६
३. अष्टाध्यायी १।१।१६; ६।१।१२७; ८।३।१९ और ८।४।५१
४. मीमांसक जी का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १२३ ५. अष्टाध्यायी ५।४।११
६. अष्टाध्यायी ६।१।१२३ ७. अभिधान-चिंतामणि, पृ० ३४०
८. नानार्थार्णव संक्षेप, पृ० ८३, श्लोक १३६

इस प्रकार आपिशलि से लेकर स्फोटायन तक वर्णित दश आचार्य और उनसे पूर्व के तेरह आचार्य, कुल मिलाकर ये तेईस वैयाकरण आचार्य पाणिनि से पहिले हुये। इन तेईस आचार्यों को हम व्याकरणशास्त्र की प्राचीनतम परंपरा के प्रवर्तक या पिता कह सकते हैं। उनके व्यक्तित्व का परिचय हमें रचयिता की अपेक्षा स्रष्टा, वक्ता और प्रवक्ता के रूप में ही अधिक उपलब्ध होता है। उनमें प्रायः सबकी रचनाएँ विलुप्त हैं; किन्तु उन्होंने व्याकरणशास्त्र पर पर्याप्त आलोचन-विवेचन किया, जिनकी आलोचनाओं का गंभीर अध्ययन कर पाणिनि 'अष्टाध्यायी' जैसी महानतम कृति का निर्माण कर सके।

पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी

पाणिनि व्याकरणशास्त्र का एक सुपरिचित एवं सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त नाम है। उनके उत्तरवर्ती जितने भी व्याकरण-सम्प्रदायों का जन्म हुआ, उनमें पाणिनि को बड़े आदर से स्मरण किया गया। अनेक ग्रंथों में उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी चर्चाएँ बिखरी हुई मिलती हैं। पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्डशेष' कोश में उनके पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालंकि, शालातुरीय और आहिक, ये छह, पर्यायवाची नाम दिए गए हैं।

महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शर्मा ने शालंकि शब्द को लेकर पाणिनि के पिता का नाम शालंक लिखा है।[१] हरिदत्त की 'पणोऽस्यातीति पणी, तस्यापत्यं पाणिनः, पणिनस्यापत्यं पाणिनो युवा पाणिनिः' इस निरुक्ति के अनुसार पाणिनि के पिता का नाम पाणिन ठहरता है[२]। पतंजलि ने पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा है[३], जिससे प्रतीत होता है कि उनकी माता दक्ष कुल से उत्पन्न थी। संग्रहकार व्याडि का दाक्षायण नाम हम पहिले ले चुके हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि वे पाणिनि के मामा थे। छंदःशास्त्र के रचयिता पिंगल, पाणिनि के छोटे भाई थे।[४]

पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष था।[५] माहेश्वर को भी पाणिनि का एक गुरु कहा गया है, जिसका कोई आधार नहीं मिलता है। पाणिनि के अनेक शिष्य भी थे[६]। उनमें कौत्स का नाम ही लिखित रूप में उपलब्ध होता है।[७]

---

१. महाभाष्य नवाह्निक भूमिका, पृ० १८ २. पदमंजरी, भाग २, पृ० १४

३. महाभाष्य १।१।२०

४. ऋक्सर्वानुक्रमणीवृत्ति, पृ० ७० तथा शिक्षाप्रकाश नाम्नी टीका, पृ० ३८५

५. कथासरित्सागर, लं० १, तरं० ४, श्लोक २० ६. महाभाष्य १।४।१

७. वही, ३।२।१०८ तथा जैनेंद्र व्याकरण की महानंदि-वृत्ति २।२।८८, ९९

शालातुरीय होने से पाणिनि को शालातुर ग्राम का निवासी बताया गया है[1], जो कि अटक के समीप लाहुर नामक स्थान के आस-पास है; किन्तु आधुनिक खोजों से यह निष्कर्ष निकला है कि शालातुर पाणिनि का जन्मस्थान न होकर उनके पूर्वजों का निवास-स्थान था। पाणिनि का जन्म वाहीक देश अथवा उसके समीप हुआ था।[2]

पाणिनि के जन्मकाल और उनके जन्मस्थान के संबंध में बड़ा विवाद है। पाणिनि पर सैकड़ों लेख और अनेक बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गए हैं; किन्तु उनके संबंध में विद्वान् अब भी एकमत नहीं हैं। विद्वानों की कुछ समीक्षाओं पर विचार करने के अनंतर आगे पाणिनि के जन्म और निवास-स्थान पर प्रकाश डाला गया है।

पाणिनि को लौकिक संस्कृत का पहिला वैयाकरण माना जाता है, यद्यपि उन्होंने स्वयं अपने पूर्ववर्ती दो सूत्रकारों-पाराशर्य तथा शिलालि के नाम और क्रमशः उनके द्वारा विरचित 'भिक्षुसूत्र' एवं 'नटसूत्र' का उल्लेख किया है।[3] इससे विदित होता है कि पाणिनि को उक्त सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध थे और इतने प्राचीन काल में व्याकरणशास्त्र के साथ-साथ नाट्यशास्त्र पर भी सूत्र ग्रंथों का निर्माण हो चुका था। पाणिनि का ग्रन्थ यद्यपि सर्वांगीण एवं प्रामाणिक कृति है, फिर भी उसको देखकर यह विश्वास होता है कि उसके मूल में अवश्य ही ऐसे कतिपय ग्रन्थ रहे होगें, जिनके पथचिह्नों पर चलकर पाणिनि इतना महाग्रंथ तैयार कर सके। कुछ विद्वानों का इस सम्बन्ध में संकेत भी है कि 'किन्तु यह भली-भांति समझ लेना चाहिए कि 'अष्टाध्यायी' की पूर्णता केवल पाणिनि की व्यक्तिगत योग्यता को सिद्ध नहीं करती। वे एक ऐसा ग्रन्थ लिख सके, इसका अर्थ यह है कि अनेक पीढ़ियों से उस विषय के अध्ययन का क्रम-विकास होता आता था।······पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' अनेक पीढ़ियों की क्रमिक और सामूहिक चेष्टा का परिणाम है; अनेक विद्वानों के प्रामाणिक प्रयत्नों के बाद पाणिनि अन्त में एक पूर्ण वस्तु तैयार कर सके।'[4]

'अष्टाध्यायी' के प्राणभूत १४ सूत्रों का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि पाणिनि ने शिवोपासना करके उक्त १४ माहेश्वर सूत्रों (प्रत्याहार सूत्रों) की उपलब्धि कर अपने बृहद् व्याकरण का निर्माण किया था। गुरुज्ञान से

---

१. वर्धमान : गणरत्न महोदधि, पृ० १ २. अष्टाध्यायी ४।२।११७

३. अष्टाध्यायी ४।३।११०

४. जयचंद्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा १, पृ० ४२५

संतुष्ट न होकर उसको शिवोपासना करनी पड़ी थी। भगवान् शंकर की आराधना कर व्याकरण-ज्ञान को प्राप्त करने का सम्बन्ध एक ऋषि से स्थापित करते हुए अलबेरूनी ने अपने ग्रन्थ में एक मनोरंजक चर्चा की है। व्याकरण की उत्पत्ति के संबंध में एक परंपरागत मौखिक कथा का हवाला देते हुए अलबेरूनी ने लिखा है कि 'एक दिन समलवाहन या संस्कृत रूप सातवाहन नामक एक राजा ने अपनी रानियों के साथ जल-विहार करते हुए एक रानी से कहा : 'मा उदकं-देहि !' अर्थात् मुझ पर पानी मत फेंको। रानी ने उसका अर्थ समझा 'मोदकं देहि' अर्थात् मिठाई दो। इसलिए मिठाई लाकर राजा के संमुख रख दी। इस बात से राजा-रानी में बड़ी तकरार हुई। फलतः अपनी रीति के अनुसार राजा सब कुछ त्यागकर एक कोने में छिपकर बैठ गया। इसी समय एक ऋषि ने आकर राजा को आश्वासित किया कि वह समाज से इस भाषा-सम्बन्धी विकार एवं द्विविधा को दूर कर देगा। ऋषि अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए महादेव के पास जाकर अपने अभीष्ट के लिए प्रार्थना करने लगे। फलतः महादेव ने ऋषि को कुछ व्याकरण के प्रयोग सिखा दिए, वैसे ही जैसे अबुल असवद दुएली ने अरबी भाषा के लिए प्रवचन किए थे। महादेव ने ऋषि को व्याकरणशास्त्र से परिपूर्ण करने का भी वचन दिया। ऋषि ने आकर राजा को व्याकरणशास्त्र में दीक्षित किया और इस प्रकार व्याकरण-शास्त्र की रचना हुई।'[1]

अलबेरूनी ने कुछ प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों और उनके निर्माताओं की सूची इस प्रकार दी है :[2]

१ ऐंद्र व्याकरण	:	देवश्रेष्ठ इंद्र रचित
२ चांद्र व्याकरण	:	बौद्धभिक्षु चंद्र विरचित
३ शाकट व्याकरण	:	शाकटायन-वंशीय शाकट रचित
४ पाणिनि व्याकरण	:	पाणिनि विरचित
५ कातंत्र व्याकरण	:	शर्वशर्मन् कृत
६ शशिदेववृत्ति	:	शशिदेवकृत
७ दुर्गविवृति	:	×
८ शिष्यहितावृत्ति	:	उग्रभूति रचित

'शिष्यहितावृत्ति' के रचयिता आचार्य उग्रभूति को अलबेरूनी ने अपने समकालीन शासक जयपाल के पुत्र शाह आनन्दपाल का शिक्षक एवं गुरु

१. अलबेरूनी का भारत, पृ० ४१-४२, अनु० २. वही, पृ० ४०

बताया है और उक्त व्याकरणग्रंथ के संबंध में एक मनोरंजक कथा इस प्रकार सुनाई है कि 'उक्त पुस्तक विद्वानों की संमति की मुहर लगाने के लिए जब कश्मीर भेजी गई तो वहाँ के विद्वत्समाज् ने उस पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। उग्रभूति ने यह बात शाह आनन्दपाल से कही। शाह ने २,००,००० दिर्हम और इतने ही मूल्यपरिमाण के उपहार कश्मीर में उन लोगों को वितरित करने के लिए भेजे, जो 'शिष्यहितावृत्ति' का अध्ययन करते थे। इसके परिणामस्वरूप काश्मीर में उक्त पुस्तक का सर्वाधिक प्रचार हुआ।'[1]

'महाभाष्य' के पुनरुद्धरण और 'चांद्र-व्याकरण' के संबंध में कल्हण का कहना है कि 'इंद्र के समान तेजस्वी अभिमन्यु राजा' (भगवान् बुद्ध के निर्वाण के डेढ़-सौ वर्ष पश्चात्) जिसने अपने नाम से एक नया नगर अभिमन्युपुर भी बसाया था, चंद्राचार्य प्रभृति महापंडितों ने उसकी आज्ञा से व्याकरण 'महाभाष्य' के विलुप्त प्रभाव का पुनः प्रचार किया और अपने नाम से 'चन्द्रव्याकरण' की भी रचना की'।[2] यह चन्द्राचार्य अपने समसामयिक काश्यपगोत्रीय चन्द्रदेव से पृथक् व्यक्ति था।[3]

पाणिनि-व्याकरण के इन कतिपय पूर्वापर-कृतियों के बावजूद भी जितना संमान 'अष्टाध्यायी' को मिला उतना किसी को भी नहीं। यद्यपि पाणिनि से भी पूर्व व्याकरण के क्षेत्र में प्रातिशाख्य ग्रन्थ ने इस मार्ग का निर्माण करना आरंभ कर दिया था, और ऐन्द्र, चांद्र आदि व्याकरणों की भी रचना हो चुकी थी; किन्तु प्रातिशाख्य-ग्रंथ केवल वैदिक पद्धतियों के ही निर्देष्टा थे ऐन्द्र प्रभृति व्याकरण एक प्रकार से विद्वत्समाज की वस्तु न होकर आरंभिक विद्यार्थियों के उपयोग तक ही सीमित रहे। मध्य युग के बृहत्तर भारत में भाषाशास्त्र के क्षेत्र में 'कातन्त्र-व्याकरण' को यद्यपि पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई, तथापि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' ही एक ऐसी सर्वांगीण कृति सिद्ध हुई जिसके नियम, निर्देश और निष्पत्तियाँ आगामी सहस्रों वर्षों तक अन्तिम प्रमाण के साथ स्वीकार की जाती रहेंगी।

पाणिनि-व्याकरण ही अपने बृहद् नीति-नियमों के कारण इतनी व्यापक ख्याति को अर्जित कर सका, जिसके आधार पर कहा जाने लगा कि भारतीय व्याकरण में ही दुनियाँ में सबसे पहिले शब्दों का विवेचन हुआ; प्रकृति एवं

---

१. वही, पृ० ४१ २. कल्हण: राजतरंगिणी १।१७५-१७७ ३. वही १।१८४

प्रत्यय का अंतर पहिचाना गया; प्रत्ययों का कार्य-निर्धारण निश्चित किया गया; सर्वांगीण अति शुद्ध व्याकरण-पद्धति का निर्माण हुआ; इन सभी बातों की तुलना संसार के किसी भी देश के व्याकरण से नहीं की जा सकती है।[1]

भारत की भाषागत परंपरा एवं साहित्य के क्षेत्र में पाणिनि व्याकरण ने एक सर्वथा नये युग का अनुवर्तन किया। यह युग लौकिक संस्कृत का युग कहा जाता है, जिसमें कि वैदिक युग की अपेक्षा कई बातों में साहित्य की अभिवृद्धि के लिए नये-नये कार्य हुए। सुप्रसिद्ध भाषाविद् सुनीति बाबू के शब्दों में 'जब ऋग्वेद की भाषा जरा पुरानी और साधारण लोगों के लिए आंशिक रूप से दुर्बोध होने लगी तब लगभग ईसा से पाँच-सौ वर्ष पहिले उत्तर-पश्चिमांचल और मध्यदेश में ब्राह्मणों के आगमों और विद्यायतनों में, इस भारतीय आर्य भाषा का एक अर्वाचीनतर रूप विशिष्ट साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। आधुनिक उत्तर-पश्चिम पंजाब के अधिवासी वैयाकरण ऋषि पाणिनि ने इस नवीन साहित्यिक भाषा के व्याकरण (अष्टाध्यायी) की रचना की और इसका 'लौकिक' भाषा के नाम से उल्लेख किया। पीछे इस लौकिक भाषा का संस्कृत नाम पड़ा। देव भाषा भी इसी को कहते हैं।[2]'

संस्कृत व्याकरणशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण इतिहासग्रंथ के लेखक श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि की जीवनी और उनके कृतित्व के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि यास्क, शौनक, पाणिनि पिंगल और कौत्स प्रायः एक ही समय के लगभग हुए। इनका पौर्वापर्य बहुत ही स्वल्प है। इस दृष्टि से पाणिनि का काल भारतयुद्ध से लेकर अधिसीम कृष्ण के काल तक लगभग २५० वर्षों के मध्य में है। उसकी संभावित अवधि उन्होंने २८०० सौ विक्रम पूर्व में रखी है।[3]

इसी प्रकार डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का पाणिनि पर लिखा हुआ प्रबन्ध ग्रन्थ बहुत ही पांडित्यपूर्ण है। पाणिनि के अतिरिक्त संस्कृत के व्याकरणशास्त्र के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। अग्रवाल जी का दृष्टिकोण नितांत मौलिक और तत्कालीन कला, संस्कृति, विशेषतः

---

१. मेक्डोनल : इंडियाज पास्ट, पृ० १६३

२. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या : भारत की भाषाएँ और भाषा संबंधी समस्याएँ, पृ० ३५-३६

३. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, खंड १, पृ० १३९-१४०

'अष्टाध्यायी' पर केंद्रित है। 'अष्टाध्यायी' का इतना सुंदर मंथन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। अपने इस महाग्रन्थ में डॉ० अग्रवाल ने पाणिनि को पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व के मध्य में, संभवतः ४८०-४१० ई० पूर्व में रखा है।[१] अन्य विद्वानों के मतानुसार पाणिनि का स्थितिकाल इस प्रकार है :[२]

पं० सत्यव्रत सामश्रमी	:	२४०० ई० पूर्व
रजवाडे और वैद्य	:	९००–८००ई० पूर्व
वेलबेलकर	:	७००-६०० ई० पूर्व
भंडारकार	:	७०० ई० पूर्व
उपाध्याय	:	५०० ई० पूर्व
मेक्डोनल	:	५०० ई० पूर्व
मैक्समूलर	:	३५० ई० पूर्व
कीथ	:	३०० ई० पूर्व

इस संबंध में और भी मत-मतांतर हैं और भविष्य में भी नई-नई मान्यताएँ देखने को मिलेंगी। इस दृष्टि से पाणिनि के स्थितिकाल के संबंध में एक निश्चित नई राय देना पाठकों का भार कम करने की अपेक्षा बढ़ाना ही कहा जायगा। अतः सुनीति बाबू के शब्दों में मेरा भी यही अभिमत है कि पाणिनि का जन्म गांधार में शालातुर (आधुनिक अटक नगर के समीप लाहौर या लाहोर) नामक गाँव में हुआ था, तथा उनकी शिक्षा तक्षशिला में संपन्न हुई। ये दोनों स्थान उदीच्य प्रदेश में हैं। उसका उदयकाल संभवतः ५वीं शताब्दी ई० पूर्व रहा होगा, क्योंकि वह पारसीकों तथा पारसीकों के सेवक यवनों या ग्रीकों से सुपरिचित था।[3] पाणिनि का शरीरांत संभवतः सिंह द्वारा हुआ था।[४]

---

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : इंडिया : ऐज नोन टू पाणिनि, पृ० ४५६–४७५, लखनऊ १९५३

२. उनके मतों के लिए द्रष्टव्य ग्रन्थ : कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड १; इंडियाज पास्ट; अर्लि हिस्ट्री ऑफ दि दक्कन; हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट संस्कृत लिटरेचर; हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर

३. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ६६

४. पंचतंत्र, मित्रसंप्राप्ति, श्लोक ३६ (जीवानन्द संस्करण) तथा इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, पृ० १४२, जून १९४७

पाणिनिकृत ग्रन्थों के नाम हैं : [1]'पाणिनितंत्र', 'प्रत्याहारसूत्र', 'अष्टाध्यायी', 'अष्टाध्यायीवृत्ति', 'जाम्बवतीविजय' (पाताल-विजय) और 'द्विरूपकोश'।

पाणिनि के उत्तरवर्ती वैयाकरण

पाणिनि के बाद व्याकरण की अनेक शाखाएँ प्रकाश में आई। पाणिनि के पहिले भी व्याकरण पर कुछ कम तादात में ग्रन्थ नहीं लिखे गये थे; किन्तु पाणिनि के बाद इस विषय पर जो कुछ लिखा गया वह अधिक वैज्ञानिक एवं तत्कालीन समाज के अधिक उपयोगी था। व्याकरण एक भाषाशास्त्र का विषय है। भाषाएँ नित्य ही परिष्कृत एवं विकसित होती गई। अपने समय तक के सारे भाषा-विकास को पाणिनि ने अपनी पुस्तक में बैठा दिया था; और उसके बाद के वैयाकरणों ने भी यद्यपि उसी की विरासत को लेकर साहित्य की श्रीवृद्धि की; फिर भी पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा उसकी उत्तरवर्ती कृतियों में कुछ नवीनता के दर्शन अवश्य होते हैं। ऐसा संभवतः इसलिए हुआ था कि भाषा-विकास की संपूर्ण विधियों को आत्मसात् करने में पाणिनि थोड़ा चूक गया था। पाणिनि व्याकरण की इन कमियों को पूरा किया पाणिनि के उत्तरवर्ती 'अष्टाध्यायी' के वार्तिककारों, भाष्यकारों और कुछ मौलिक ग्रन्थकारों ने।

अष्टाध्यायी के वार्तिककार

'अष्टाध्यायी' पर अनेक वैयाकरणों ने वार्तिक लिखे। उनमें से कुछ के ही नाम उपलब्ध होते हैं, बाकी को 'अपरे' 'अन्ये' कहकर ही छोड़ दिया गया है। 'महाभाष्य' में सात वार्तिककारों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं : कात्य या कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति और वैयाघ्रपद। अंतिम दो नाम 'महाभाष्य' की टीकाओं में लिखे मिलते हैं। इनका हम इसी क्रम से परिचय प्रस्तुत करेंगे।

कात्यायन

'महाभाष्य' में कात्यायन को एक वार्तिककार के रूप में स्मरण किया

---

१. इनके विशेष अध्ययन के लिए देखिए : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, खंड १, पृ० १४३-१६८

गया है।[1] किन्तु कात्यायन का नाम व्याकरणशास्त्र के महान् प्रतिभाशाली आचार्य पाणिनि और महाभाष्यकार पतंजलि के साथ लिया जाता है। इस 'मुनित्रय' की व्याप्ति और ख्याति व्याकरणशास्त्र के ओर-छोर तक बिखरी हुई है। कात्यायन ने पाणिनि व्याकरण की पूर्ति के लिए वार्तिकों की रचना की थी। इन वार्तिकों का पाणिनि कृत सूत्रों जितनी ही मौलिकता और मान्यता है।

पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्डशेष' कोश में इनके कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु, मेधाजित् और वररुचि, ये पर्यायवाची नाम दिए गए हैं। महाभाष्यकार ने मेधाजित् को छोड़कर शेष चार नामों का उल्लेख किया है। श्रुतधर नाम से भी एक कात्यायन का उल्लेख मिलता है।[2] किन्तु यह नाम वैयाकरण कात्यायन से भिन्न किसी दूसरे के लिए प्रयुक्त हुआ है।[3]

उनके पितामह का नाम याज्ञवल्क्य पिता का नाम कात्यायन और उनका पूरा नाम वररुचि कात्यायन था। वही वररुचि कात्यायन 'अष्टाध्यायी' के यशस्वी वार्तिककार हैं।[4] कात्यायन शाखा का अध्ययन महाराष्ट्र में प्रचलित है[5]; अतएव कात्यायन दाक्षिणात्य थे। इनका स्थितिकाल मीमांसकजी ने २७०० वर्ष वि० पूर्व रखा है।[6]

इन्होंने काव्य, नाटक, व्याकरण, धर्मशास्त्र एवं स्फुट रूप से कई विषयों पर ग्रंथ लिखे। इनके कुछ ग्रन्थों के नाम हैं : 'वार्तिकपाठ', 'स्वर्गारोहण-काव्य', 'भ्राजसंज्ञक श्लोक', 'स्मृति कात्यायन' और 'उभयसारिका भाण'। इनके नाम से अनेक ग्रन्थ हस्तलेखों के रूप में सुरक्षित हैं। उनके लिए आफेक्ट की सूची अवलोकनीय है।

भारद्वाज

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर रचे गए भारद्वाजकृत वार्तिकों का पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में अनेक बार उल्लेख किया है।[7] एक भारद्वाज नामक

---

१. महाभाष्य ३।२।११८ २. कथासरित्सागर, लं० १, तरं० २, श्लोक ६६-७०

३. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० २१५

४. सं० व्या० इति०, पृ० २११-२१४ ५. महाभाष्य १।१।१

६. सं० व्या० इति०, पृ० २१४

७. महाभाष्य १।१।२०,५६, १।२।२२, १।३।६७, ३।१।३८,४८,८९, ४।१।७९, ६।४।४७, १५५

वैयाकरण का उल्लेख पाणिनि से पहिले किया जा चुका है। बहुत संभव है कि वार्तिककार भारद्वाज ने वैयाकरण भारद्वाज के ग्रन्थ पर ही वार्तिक लिखे हों; किन्तु यह निश्चित नहीं है, इनके संबंध में इससे अधिक कोई जानकारी नहीं है कि ये महाभाष्यकार पतंजलि से पहिले हुए। 'वार्तिकपाठ' इनकी रचना है।

सुनाग

सुनाग इस परम्परा के तीसरे वार्तिककार हैं। हालदार जी ने उसको नागवंशीय समझ कर उसे पाणिनि का पूर्वभावी माना है[1], जो कि भ्रमात्मक है। सुनाग ने 'अष्टाध्यायी' पर वार्तिक लिखे हैं।[2] अतः वह पाणिनि के पहिले न होकर उनके बाद में हुआ। बल्कि कैयट ने तो यहाँ तक लिखा है कि सुनाग कात्यायन के बाद हुए।[3] 'महाभाष्य' में उद्धृत सौनाग वार्तिकों के रचयिता हरिदत्त के उल्लेखानुसार यही सुनाग था।[4] अतएव सुनाग का स्थितिकाल कात्यायन और पतंजलि के बीच होना चाहिए।

क्रोष्टा

वार्तिककार क्रोष्टा के संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, इनके सम्बन्ध में इतना तो निश्चित है कि ये एक अच्छे वार्तिककार थे और इन्होंने भी अपने वार्तिक 'अष्टाध्यायी' पर लिखे। पतंजलि ने भी इनका उल्लेख केवल एक ही जगह पर किया है।[5] इसलिए ये पतंजलि के पहिले, कदाचित्, सुनाग के ही समकालीन थे।

वाडव

क्रोष्टा की ही भांति वार्तिककार वाडव का नाम 'महाभाष्य' में केवल एक बार स्मरण किया गया है।[6] वाडव नाम की 'महाभाष्य' में दो स्थानों पर अवश्य चर्चा हुई है[7]; किन्तु निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि ये दोनों नाम अभिन्न थे या कि दो व्यक्तियों के थे।

---

१. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृ० ४४५
२. महाभाष्य ४।३।११५
३. महाभाष्य प्रदीप २।२।१८
४. पदमंजरी, भाग २, पृ० ७६१
५. महाभाष्य १।१।३
६. वही, ८।२।१०६
७. वही, ३।२।१४ तथा ७।३।१

व्याघ्रभूति

व्याघ्रभूति इस परम्परा के ऐसे वार्तिककार हुए, जिनके सम्बन्ध में काफी विवाद रहा। महाभाष्यकार ने अन्य वार्तिककारों का उल्लेख जहाँ किया है, वहाँ इनका उल्लेख करना न जाने क्यों छोड़ दिया। हालदार जी ने इन्हें पाणिनि का शिष्य बताया है।[1] किन्तु इस सम्बन्ध में अभी प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। 'महाभाष्य' में जो 'जग्धिर्विधिल्यपि' श्लोक-वार्तिक उद्धृत हुआ है[2], कैयट, त्रिलोचनदास और सुपद्ममकरन्द के मतानुसार उसका कर्ता व्याघ्रभूति ही ठहरता है।[3] न्यासकार इस को आगमवचन मानता है।[4]

वैयाघ्रपद

आचार्य वैयाघ्रपद का उल्लेख हम व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता के रूप के पहिले भी कर चुके हैं। 'काशिका' में उद्धृत[5] एक श्लोक को भट्टोजि दीक्षित ने वैयाघ्रपद विरचित वार्तिक लिखा है[6], जिससे यह भ्रम होता है कि वैयाघ्रपद के नाम के दो वैयाकरण थे: एक तो व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता पाणिनि का पूर्ववर्ती और दूसरा वार्तिककार, पाणिनि का उत्तरवर्ती।

वार्तिकों के भाष्यकार

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर अनेक विद्वानों ने वार्तिक लिखे। जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है; किन्तु इन वार्तिकों पर भी भाष्य लिखे गए। इन वार्तिक-भाष्यों का पता हमें 'महाभाष्य' के अध्ययन से विदित होता है।[7] इतिहासकारों का ऐसा मंतव्य है कि अकेले 'कात्यायन' के 'वार्तिकपाठ' पर कम-से कम तीन व्याख्याएँ पतंजलि के 'महाभाष्य' से पहिले लिखी जा चुकी थीं और वे पतंजलि के समय तक वर्तमान थीं। इसी प्रकार भारद्वाज, सौनाग आदि के वार्तिक-पाठों पर भी अनेक भाष्य लिखे गए थे।[8] किन्तु

---

१. हालदार: व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृ० ४४४

२. महाभाष्य २।४।३६

३. कातंत्रचतुष्टय, सुपद्म, सुबंत २४

४. न्यास ७।१।९४

५. काशिका ८।२।१

६. शब्दकौस्तुभ १।१।५९

७. महाभाष्य १।३।२; ३।४।६७; ६।३।६१; १।१।१० और २।१।१ आदि

८. सं० व्या० इति०, पृ० २३१

वास्तविकता यह है कि आज उनके संबंध में केवल धुंधली सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। 'महाभाष्य' के बाद लिखे गए वार्तिक-भाष्यों में से तीन वैयाकरणों का नाम उपलब्ध होता है। उनके नाम हैं : हेलाराज, राघवसू और राजरुद्र।

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

स्वयं पाणिनि ने अपने 'शब्दानुशासन' पर एक वृत्ति की रचना की थी, इसके प्रमाण 'महाभाष्य', 'काशिका', 'महाभाष्यदीपिका' आदि अनेक ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं।

कुणि

भर्तृहरि, कैयट और हरिदत्त प्रभृति वैयाकरणों ने आचार्य कुणि के नाम से एक 'अष्टाध्यायी वृत्ति' का उल्लेख किया है।[1] 'ब्रह्मांडपुराण' में वर्णित वसिष्ठ के पुत्र कुणि से यह वैयाकरण कुणि भिन्न था। इसके संबंध में इतना ही विदित है कि यह पतंजलि से पहिले हुआ है।

माथुर

पतंजलि से पूर्व के एक दूसरे वृत्तिकार माथुर का और पता लगता है।[2] माथुर इनका देशज नाम है। संभवतः ये मथुरा के थे।

श्वोभूति

आचार्य जिनेंद्रबुद्धि ने अपने न्यास-ग्रन्थ में श्वोभूति कृत 'अष्टाध्यायीवृत्ति' का उल्लेख किया है।[3] 'महाभाष्य' के एक अज्ञातनाम 'श्लोकवार्तिक' के रचयिता ने भी श्वोभूति का हवाला दिया है,[4] जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि श्वोभूति उस वार्तिककार का शिष्य था। कुछ विद्वान् इन्हें पाणिनि का शिष्य भी मानते हैं।[5] ये पतंजलि से पहिले हुए।

---

१. भर्तृहरि : महाभाष्य-व्याख्या १।१।३८; कैयटः महाभाष्यप्रदीप १।१।७५; हरिदत्त : पदमंजरी, भाग १, पृ० १४५

२. महाभाष्य ४।३।१०१: भाषावृत्ति १।२।५७ ३. काशिका ७।२।११

४. महाभाष्य १।१।५६ तथा महाभाष्य प्रदीप १।१।५८

५. सं० व्या० इति०, पृ० ३२०

वररुचि

आचार्य वररुचि ने भी 'अष्टाध्यायी' पर एक वृत्ति लिखी थी, जिसका उल्लेख हस्तलेखों की सूचियों में हुआ है।[1] ये वररुचि वार्तिककार वररुचि से भिन्न एवं उनके उत्तरवर्ती थे। इनका दूसरा नाम श्रुति था और ये विक्रम संवत् के प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य के सभासद थे;[2] संभवतः उनके धर्माधिकारी भी।[3] इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे : 'अष्टाध्यायीवृत्ति', 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य-व्याख्या', 'निरुक्त समुच्चय', 'लिंगविशेषविधि', 'प्रयोगविधि', 'कातंत्र-उत्तरार्ध', 'प्राकृत-प्रकाश', 'कोश', 'उपसर्गसूत्र' और 'यंत्रकौमुदी'।

देवनंदी

देवनंदी ने भी 'अष्टाध्यायी' पर 'शब्दावतार-न्यास' नामक एक टीका लिखी थी, जो संप्रति अप्राप्त है। इनका दूसरा नाम पूज्यपाद भी था। ये जैनाचार्य थे। जैनग्रन्थ में इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि एवं पूज्यपाद से स्मरण किया गया है। चंदय्य कवि द्वारा कन्नाडी भाषा में उल्लिखित देवनंदी के जीवनचरित से प्रतीत होता है कि इनके पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। कर्नाटक के काले नामक गाँव में इनका जन्म हुआ। इनके पूर्वज वैदिक धर्मानुयायी थे; किन्तु इनके पिता जैन हो गए। गंगवंशीय राजा दुर्विनीत इनका शिष्य था। दुर्विनीत का राज्यकाल ५३९–५६९ वि० तक बना रहा। अतः इनका स्थितिकाल भी छठी शती में बैठता है।[4] इनके रचे हुए ग्रन्थ हैं : 'अष्टाध्यायी शब्दावतारन्यास', 'जैनेन्द्र-व्याकरण', वैद्यक ग्रन्थ, 'तत्त्वार्थसूत्रटीका', 'धातुपाठ', 'गणपाठ' और 'लिंगानुशासन'।

दुर्विनीत

पूज्यपाद देवनन्दी के आश्रयदाता राजा दुर्विनीत के नाम से एक 'शब्दावतार' नामक ग्रंथ का उल्लेख हुआ है। महाराज पृथ्वीकोंकण के एक दानपत्र से इस बात की पुष्टि होती है कि महाराज दुर्विनीत ने शब्दावतार,

---

१. आफ्रेक्ट की सूची, राजकीय पुस्तकालय मद्रास, पृ० ३४२

२. सदुक्तिकर्णामृत, पृ० २९७ ३. वाररुच निरुक्त समुच्चय, पृ० ४२

४. इनके संबंध में विशेष विवरण के लिए देखिए: प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास पृ० ११६–११९; मीमांसक : सं० व्या० इति०, पृ० ३२४–३२८

बृहत्कथा और किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग की टीका लिखी थी।[1] मीमांसक जी का कथन है कि दुर्विनीत के गुरु आचार्य पूज्यपाद ने 'शब्दावतार' की रचना कर उसको अपने शिष्य के नाम से प्रसिद्ध किया था।[2]

चुल्लिभट्ट

'काशिका' के प्रथमश्लोक की व्याख्या करते हुए न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने चुल्लिभट्ट की 'अष्टाध्यायीवृत्ति' का उल्लेख किया है।[3] यदि यह सही हो तो चुल्लिभट्ट को न्यासकार (७०० वि०) से भी प्राचीन होना चाहिए।

निर्लूर

इसी प्रसंग में न्यासकार ने निर्लूर-कृत एक वृत्ति का भी उल्लेख किया है। 'काशिका' के दूसरे व्याख्याकार विद्यासागर ने भी ऐसा ही लिखा है।[4] और 'कातंत्र परिशिष्ट' में श्रीदत्त ने भी निर्लूरकृत वृत्ति का अस्तित्व स्वीकार किया है।[5]

जयादित्य : वामन

'काशिका' के संयुक्त लेखक जयादित्य और वामन ने 'अष्टाध्यायी' पर अलग-अलग वृत्तियाँ लिखीं।[6] 'काशिका' के आदि पाँच अध्याय जयादित्य ने और शेष तीन अध्याय वामन ने लिखे। इत्संग ने अपने भारतयात्रा-विवरण में जयादित्य की मृत्यु का ७१८वीं वि० में उल्लेख किया है।[7] जयादित्य का यह अन्तिम समय था। संस्कृत-साहित्य में वामन नाम के अनेक ग्रंथकार हुए। 'विश्रांतविद्याधर' नामक जैन व्याकरण का रचयिता, प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री और 'लिंगानुशासन' का रचयिता 'काशिका' का रचयिता चौथा ही वामन है। वामन के स्थितिकाल और जन्मस्थान के विषय में कहीं भी उल्लेख नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि 'काशिका' की रचना वाराणसी में हुई।[8]

---

१. कृष्णमाचार्य : हि० क्लै० सं० लि०, पृ० १४७ २. सं० व्या० इति०, पृ० ३२९
३. न्यास, भाग १, पृ० ९
४. काशिका टीका, राज० पु० मद्रास का सूचीपत्र, भाग ३, खंड १ ए, पृ० ३५०७
५. न्यास की भूमिका, पृ० ९ ६. सं० व्या० इति०, पृ० ३३२
७. भारतयात्रा, पृ० २७०
८. पदमंजरी, भाग १, पृ० ४; उणादिवृत्ति, पृ० १७३; भाषावृत्ति-टीका ८।४।६७

विमलमति

विमलमति ने 'अष्टाध्यायी' पर 'भागवृत्ति' लिखी थी, जो अप्राप्य है ; किन्तु 'पदमंजरी', 'भाषावृत्ति', 'दुर्घटवृत्ति', 'अमरटीका सर्वस्व', 'शब्दकौस्तुभ' और 'सिद्धांतकौमुदी' आदि अनेक ग्रन्थों में 'भागवृत्ति' के अस्तित्व के प्रमाण विद्यमान हैं। 'भागवृत्ति' के रचयिता के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। हालदार ने विमलमति को ही उसका रचयिता स्वीकार किया है।[1] मीमांसक जी का कथन है कि भागवृत्तिकार का वास्तविक नाम विमलमति हो था और भर्तृहरि उसकी औपाधिक संज्ञा थी।[2] विमलमति का स्थितिकाल ७वीं ८वीं शती था।

भर्तृश्वर : जयंत भट्ट : अभिनन्द

वर्धमान सूरि के 'गणरत्नमहोदधि' के एक उदाहरण[3] से प्रतीत होता है कि भर्तृश्वर (८ वीं शती) ने भी 'अष्टाध्यायी' पर एक वृत्ति लिखी थी। ८वीं शती में वर्तमान नैयायिक जयंत भट्ट ने भी 'अष्टाध्यायी' पर एक वृत्ति लिखी थी, जिसका संकेत उन्होंने अपने 'अभिनवागमाडम्बर' नामक रूपक के आरंभ में किया है। जयंत भट्ट के पिता का नाम चन्द्र और पुत्र का नाम अभिनन्द था। अभिनंद भी पिता की ही भाँति बड़ा विद्वान् था। उसने अपने वंश का पूरा वृत्तांत 'कादम्बरी-कथासार' के आरंभ में दिया है। उसने 'न्यायमंजरी', 'नयकलिका' और 'पल्लव' नाम्नी टीका आदि ग्रन्थ लिखे।

केशव : इन्दुमित्र : मैत्रेयरक्षित : पुरुषोत्तमदेव : सृष्टिधर

१२वीं शती में वर्तमान केशव की वृत्ति का अनेक ग्रन्थों में हवाला लिखा हुआ मिलता है[4]। इसी शती में लिखी हुई इंदुमित्र की 'इंदुमती वृत्ति' का अस्तित्व भी विट्ठल की 'प्रक्रियाकौमुदी' में देखने को मिलता है।[5] १२वीं शती के ही एक तीसरे वैयाकरण मैत्रेयरक्षित की 'दुर्घटवृत्ति' का भी नामही सुनने को मिलता है।[6] पुरुषोत्तम देव ने 'अष्टाध्यायी' पर जो लघुवृत्ति लिखी थी उसका नाम 'भाषावृत्ति' था[7]। वंगदेशीय विद्वान् सृष्टिधर ने पुरुषोत्तमदेव की 'दुर्घटवृत्ति' पर 'भाषावृत्त्यर्थविवृति' लिखी थी।

---

१. व्या० दर्श० इति० पृ० ४८२ २. सं० व्या० इति० पृ० ३३९

३. गणरत्नमहोदधि, पृ० २१९

४. भाषावृत्ति ५।२।११२; भाषावृत्ति व्याख्या ८।४।२०

५. प्रक्रियाकौमुदी, भाग १, पृ० ६१०, ६८६; भाग २, पृ० १४५

६. उणादिवृत्ति, पृ० ८०, १४२ ७. अमरकोश टीका सर्वस्व, भाग २, पृ० २७७

शरणदेव ने भी १३वीं शती में 'अष्टाध्यायी' पर 'दुर्घटवृत्ति' का रचना की थी, वृत्तिकार के कहने से सर्वरक्षित ने जिसका संक्षेप करके प्रतिसंस्कार किया था। यह संप्रति उपलब्ध है और उसमें अनेक मौलिक बातें हैं।

भट्टोजि दीक्षित

व्याकरण के इतिहास में भट्टोजि दीक्षित का एक विशिष्ट स्थान है। व्याकरण पर उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। 'अष्टाध्यायी' पर लिखी हुई उनकी 'शब्दकौस्तुभ' नाम्नी बृहद् वृत्ति के संप्रति कुछ अंश उपलब्ध हैं। भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। उनकी वंशावली इस प्रकार है :
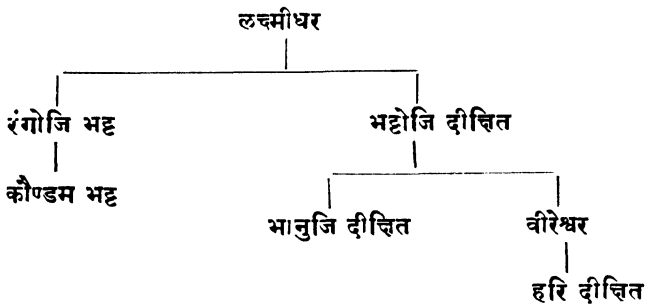
भट्टोजि दीक्षित ने नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण से व्याकरण का अध्ययन किया था।[1] अप्पय दीक्षित भी उनके एक गुरु थे। ये १६वीं शती में हुए। 'शब्दकौस्तुभ', 'सिद्धांतकौमुदी' और 'प्रौढमनोरमा', उनकी श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। 'शब्दकौस्तुभ' पर लगभग सात टीकाएँ लिखी गईं; जिनके नाम हैं :

१	नागेश	:	विषमपदी
२	वैद्यनाथ पायगुण्डे	:	प्रभा
३	विद्यानाथ शुक्ल	:	उद्योत
४	राघवेंद्राचार्य	:	प्रभा
५	कृष्णमित्र	:	भावप्रदीप
६	भास्करदीक्षित	:	शब्दकौस्तुभदूषण
७	जगन्नाथ	:	शब्दकौस्तुभखंडन

अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित ने पाणिनीय सूत्रों पर 'सूत्रप्रकाश' नामक वृत्ति लिखी,

१. प्रौढमनोरमा, भाग ३, पृ० १, चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित १९९१ वि०

जो हस्तलेख के रूप में सुरक्षित है।[1] उसके पिता का नाम रंगराज अध्वरी, भाई का नाम अप्पा दीक्षित और भतीजे का नाम नीलकण्ठ दीक्षित था; वही नीलकंठ दीक्षित, जिसने 'शिवलीलार्णव' काव्य का प्रणयन किया था। इस काव्य ग्रन्थ से विदित होता है कि अप्पय दीक्षित ७२ वर्ष तक जीवित रहे और उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थों की रचना की।[2] पोद्दार जी ने एक निर्णयपत्र के आधार पर अप्पय दीक्षित का समय १६५७ ई० (१७१४ वि०) पर्यंत रखा है;[3] किन्तु मीमांसक जी के मतानुसार वह १५३०–१६०२ वि० के बीच हुआ।[4]

अन्य वृत्तिकार

एक स्वरचित अष्टाध्यायी-वृत्ति का उल्लेख नीलकंठ वाजपेयी (सं० १६००–१६५०) ने अपनी 'परिभाषा-वृत्ति' में किया है;[5] किन्तु वह संप्रति अप्राप्य है। अन्नंभट्ट (१७ वीं० शती) की 'पाणिनीय-मिताक्षरा' वृत्ति काशी से प्रकाशित हो चुकी है। काशीनिवासी ओरंभट्ट (१९ वीं० शती) ने भी एक 'व्याकरणदीपिका' वृत्ति लिखी थी, जो उपलब्ध है। सुप्रसिद्ध आर्य-समाजी विद्वान् दयानंद सरस्वती (१८८१–१९४० वि०) रचित 'अष्टाध्यायी-भाष्य' दो खंडों में वैदिक पुस्तकालय, अजमेर से प्रकाशित हो चुकी है।

जिन अज्ञातकालीन विद्वानों की वृत्तियाँ हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध हैं उनमें अप्पन नैनार्य कृत 'प्रक्रियादीपिका'[6] नारायण सुधी कृत 'अष्टाध्यायी-प्रदीप',[7] रुद्रधर कृत 'अष्टाध्यायी वृत्ति',[8] उदयन कृत 'मितवृत्त्यर्थसंग्रह',[9] आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

हस्तलेखों के रूप में विखरे हुए कुछ ऐसे वृत्तिग्रंथों को मीमांसक जी ने उद्धृत किया जिनके रचयिता तथा रचना-काल का कुछ पता नहीं है। ये ग्रंथ उन्होंने राजकीय पुस्तकालय मद्रास के सूचीपत्र से खोज निकाले हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है:

---

१. आडियार राज० पुस्त० सूची पत्र, भाग २, पृ० ७५ २. शिवलीलार्णव सर्ग १
३. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० २८५
४. सं० व्या० इति०, पृ० २५४ ५. परिभाषावृत्ति, पृ० ३६
६. राज० पुस्त० मद्रास, सूचीपत्र, भाग ३, खंड १ ए, पृ० ३६०१, ग्रन्थांक २५४१
७. वही भाग ४, खंड १ ए, पृ० ४२७५
८. सरस्वती भवन, काशी, संग्रह नं० १९ वेष्टन सं० ११
९. रघुनाथ पुस्तकालय, जम्मू, पृ० ४५

ग्रन्थ	सूचीपत्र ग्रन्थांक
पाणिनीय सूत्रवृत्ति	११५७७
पाणिनीय सूत्रविवरण	११५७८
पाणिनीय सूत्रविवृति	११५७९
पाणिनीय सूत्रविवृति-लघुवृत्तिकारिका	११५८०
पाणिनीय सूत्रव्याख्यान	११५८१

इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ हस्तलिखित पोथियों के संग्रहों में अज्ञात दशा में विद्यमान हैं। इनकी खोज आवश्यक है।

व्याकरणशास्त्र में नये युग का निर्माण

पतंजलि

व्याकरणशास्त्र के इतिहास में नई उपलब्धियों के स्रष्टा एवं नये उपादानों का जन्मदाता पतंजलि एक ऐसा बहुज्ञ मेधावी वैयाकरण हुआ, जिसके कारण ब्रह्मा से लेकर पाणिनि तक की अति दीर्घ व्याकरण-परंपरा अनेक विचार-वीथियों में फैलकर अपनी चरमोन्नत अवस्था में पहुँची। पाणिनि और पतंजलि के बीच अनेक वैयाकरण आये और कात्यायन को छोड़ कर, कर्तव्य-निर्वाह का-सा साधारण दायित्व पूरा करके चलते बने, किन्तु पाणिनि की महान् थाती को, उसकी छोड़ी हुई उतनी भारी विरासत को पूरी सफलता के साथ आगे बढ़ाने का दुष्कर कार्य किया अकेले पतंजलि ने।

पतंजलि एक महान् विचारक मनस्वी था। व्याकरण के क्षेत्र में नये युग का निर्माण कर अपनी असामान्य प्रतिभा की छाप वह आगे की पीढ़ियों के लिए छोड़ गया। उसको पाणिनीय व्याकरण का अद्वितीय व्याख्याता कहा जाता है; किन्तु उसकी ऊँची सूझ और उसके मौलिक विचार सर्वत्र ही उसको एक स्वतंत्र विचारक की कोटि में खड़ा करते हैं। पाणिनि का वह कटु आलोचक भी था, इस प्रकार की निर्भीकता और अवशंवद आचरण पांडित्य का ही एक अलंकरण या विशेषण है। पाणिनि के विवेक, व्यक्तित्व और विचारों ने पतंजलि को इतना ऊँचा उठाया, इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त है कि उसने पाणिनि को चमकाया।

इतने बहुश्रुत विद्वान् के लिए कोशकारों एवं प्राचीन ग्रन्थकारों के मुख से यदि हम गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत्, चूर्णिकाकार

या पदकार आदि अनेक नाम निकले हुए पाते हैं, तो इसमें अत्युक्ति ही क्या है। ऐसा तो होना ही चाहिए था, किन्तु ये सभी नाम वस्तुतः पतंजलि के ही हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। इनमें इतना तो स्वीकार्य ही है कि आदि के दो नामों को छोड़कर शेष पाँच नाम ग्रन्थकारों ने पतंजलि के पर्याय में ही प्रयुक्त किया है।

पतंजलि वैयाकरण तो था ही, इसके अतिरिक्त उतना ही अधिकार उसका सांख्य, योग, न्याय, आयुर्वेद, कोश, रसायन और यहाँ तक कि काव्य आदि विषयों पर भी था। उसके इस सर्वांगीण व्यक्तित्व का उल्लेख तद्विषयक ग्रन्थों में देखने को मिलता है।[1]

मीमांसक जी ने अनेक बाह्य और आभ्यंतर प्रमाणों को उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि पतंजलि १२०० वि० पूर्व में हुए; किन्तु संप्रति यह मत मान्य नहीं है।[2] पहिले संकेत किया गया है कि पतंजलि अनेक विषयों का अधिकारी विद्वान् था। उसके नाम से विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में इन कृतियों का उल्लेख मिलता है: 'महानंदकाव्य', 'चरक-परिष्करणग्रन्थ', 'कोश ग्रन्थ', 'सांख्यशास्त्र', 'रसशास्त्र' और 'लौहशास्त्र'। इनके अतिरिक्त उसके रचे हुए तीन ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं: 'सामवेदीय निदानसूत्र', 'योगसूत्र' और 'महाभाष्य'। 'महाभाष्य' व्याकरणशास्त्र का विश्वकोश है।

महाभाष्य के टीकाकार

'महाभाष्य' का महत्त्व, उस पर लिखी गई अनेक टीकाओं को देखकर, सहज ही में हृदयंगम हो जाता है। उनमें से कुछ-टीकाएँ तो नष्ट हो चुकी हैं और जो बची भी हैं, उनमें से भी कुछ टीकाकारों का परिचय नहीं मिलता है। बहुत-सी टीकाएँ हस्तलिखित पोथियों के रूप में जीवित हैं, जिन पर अभी तक कोई प्रकाश नहीं डाला गया है।

---

१. योगसूत्र व्यासभाष्य ३।४४ उसपर नागेश की टीका ४।१।४; न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका १।१।१; युक्तिदीपिका टीका, पृ० ३२, १००, १३९, १४५, १४९, १७५; चक्रपाणिकृत चरक टीका का प्रारम्भ; वाक्यपदीय टीका, पृ० २८४; तथा मैक्स-मूलर: हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट संस्कृत लिटरेचर, पृ० २३९

२. सं० व्या० इति०, पृ० २४०-२४७

भर्तृहरि

'महाभाष्य' की उपलब्ध टीकाओं में सर्वाधिक प्राचीन टीका भर्तृहरि की है। भर्तृहरि की टीका प्राचीन तो है, वरन्, उसका महत्त्व इसलिए भी है, कि वह प्रामाणिक भी है। व्याकरण-निकाय में भर्तृहरि ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनको पतंजलि के बाद स्थान दिया गया है।

भर्तृहरि ने अपने संबंध में कुछ भी नहीं लिखा है। पुण्यराज के कथनानुसार मालूम होता है कि भर्तृहरि के गुरु का नाम वसुरात था।[१] चीनी यात्री इत्सिंग ने भ्रमवश भर्तृहरि को बौद्ध लिखा है[२], किन्तु वह बौद्ध न होकर कट्टर वैदिक धर्मानुयायी था।[३] 'प्रबंध चिंतामणि' के प्रमाण से भर्तृहरि महाराज शूद्रक के भाई सिद्ध होते हैं[४], और महाराज समुद्रगुप्त शूद्रक को किसी विक्रम संवत् का प्रवर्तक मानते हैं।[५] पं० भगवद्दत्त जी ने शूद्रक का स्थितिकाल ५०० वि० पूर्व दिया है।[६] मीमांसक जी ने भी भर्तृहरि को ४५० वि० पूर्व में रखा है। भर्तृहरि के ग्रंथों के नाम हैं: 'महाभाष्यदीपिका' (महाभाष्य-व्याख्या), 'वाक्यपदीय' (स्वोपज्ञटीका), 'भट्टिकाव्य' 'भागवृत्ति' (अष्टाध्यायी वृत्ति), 'नीतिशतक', श्रृङ्गारशतक, 'वैराग्यशतक','मीमांसासूत्रवृत्ति','वेदांतसूत्रवृत्ति' (अनुपलब्ध) और 'शब्दधातु समीक्षा'।

मीमांसक जी ने भर्तृहरि का जो स्थितिकाल दिया है और उनके नाम से जो 'भट्टिकाव्य' का उल्लेख किया है वह सही नहीं है। 'भट्टिकाव्य' के सम्बन्ध में महाकाव्यों के प्रकरण में प्रकाश डाला गया है और भट्टि तथा भर्तृ के सम्बन्ध में जो भ्रम हुआ है उसका भी वहाँ स्पष्टीकरण किया गया है।

कैयट

'महाभाष्य' का दूसरा टीकाकार कैयट हुआ। इनके टीका ग्रन्थ 'महाभाष्यप्रदीप' के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति से पता चलता है कि इनके पिता का नाम जैयट उपाध्याय था। भीमसेन कृत 'सुधासागर' नामक टीका में कैयट और उब्बट को मम्मट का अनुज लिखा हुआ है; किन्तु यजुर्वेद भाष्य की पुष्पिका में उब्बट ने अपने पिता का नाम वज्रट लिखा है। अतः भीमसेन (१८ वीं श०) का कथन असत्य है। 'देवीशतक' के व्याख्याकार से वैयाकरण

---

१. पृ० २८४, २८६ २. इत्सिंग की भारतयात्रा, पृ० २७४

३. सं० व्या० इति० पृ० २५७ ४. प्रबंधचिन्तामणि, पृ० १२१

५. कृष्णचरित, राजकविवर्णन ११ ६. भारत का बृहद् इतिहास २, पृ० २९१-३०६

कैयट भिन्न हैं। क्योंकि उक्त व्याख्या ग्रन्थ की रचना १०३४ वि० में हुई, जब कि वैयाकरण कैयट ११०० वि० पूर्व में हुए। कैयट के एक शिष्य उद्योतकर का उल्लेख चन्द्रसागर सूरि ने एक वैयाकरण के रूप में किया है।[1] नैयायिक उद्योतकर और वैयाकरण उद्योतकर भिन्न-भिन्न थे। कैयट के नाम से प्रतीत होता है कि वह काश्मीरी था। 'महाभाष्य प्रदीप' कैयट की उच्चकोटि की रचना है, जिस पर लिखी गई अनेक टीकाओं का उल्लेख आगे किया जायगा।

ज्येष्ठकलश : मैत्रेयरक्षित

श्रीकृष्णमाचार्य ने ज्येष्ठकलश को भी 'महाभाष्य' की एक नष्टंगत टीका का लेखक माना है;[2] किन्तु दूसरे विद्वान् इस बात को नहीं मानते हैं।[3] एक बौद्ध वैयाकरण मैत्रेयरक्षित (१२ वीं शती०) ने भी संभवतः 'महाभाष्य' पर एक टीका लिखी थी,[4] जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। इनके ग्रन्थों के नाम हैं : 'न्यासपरतंत्र प्रदीप टीका', 'धातुप्रदीप' और 'दुर्घटवृत्ति'।

पुरुषोत्तमदेव

पुरुषोत्तमदेव (१२ वीं शती वि०) एक प्रसिद्ध वैयाकरण और कोशकार हुए। इनकी 'प्राणपणित' नामक महाभाष्य-वृत्ति पर मणिकंठ ने एक व्याख्या लिखी थी।[5] ये बंगाल के रहने वाले और बौद्धमतानुयायी थे, क्योंकि अपनी 'प्राणपणित' और 'भाषावृत्ति' टीकाओं के मंगल श्लोकों में इन्होंने बुद्ध को नमस्कार किया है। 'भाषावृत्ति' के व्याख्याकार सृष्टिधराचार्य का कहना है कि पुरुषोत्तमदेव ने राजा लक्ष्मणसेन की आज्ञा से 'भाषावृत्ति' की रचना की थी।[6] लक्ष्मणसेन का राज्यकाल १३ वीं शती ही इनका स्थितिकाल था। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनके नाम हैं : 'महाभाष्य-लघुवृत्ति', 'कुंडली-व्याख्यान', 'कारककारिका', 'भाषावृत्ति' (अष्टाध्यायी पर), 'दुर्घटवृत्ति', 'परिभाषा वृत्ति', 'ज्ञापक समुच्चय', 'उणादिवृत्ति', 'त्रिकांडशेषकोष', 'अमरकोशपरिशिष्ट',

---

१. हैमबृहद्वृत्ति, भाग १, पृ० १८८, २१०

२. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० १६५

३. विक्रमांकदेव चरित की भूमिका, पृ० ११; गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, वाराणसी से प्रकाशित; मीमांसक : सं० व्या० इति०, पृ० २८४–२८५

४. सीरदेव : परिभाषावृत्ति, पृ० ५१, ७१, १५४ ५. भाषावृत्ति, पृ० १

६. भाषावृत्त्यर्थविवृति १

'हारावली कोश' और 'वर्णदेशना'। इनकी 'महाभाष्य लघुवृत्ति' पर शंकर ने एक व्याख्या लिखी है।[1]

धनेश्वर, प्रसिद्ध वैयाकरण वोपदेव के गुरु थे।[2] धनेश भी इनका उपनाम था। वोपदेव का स्थितिकाल १३ वीं शताब्दी है। ये भी उसी समय हुए। इन्होने 'महाभाष्य' पर चिन्तामणि नामक टीका लिखी।[3] इनके दूसरे ग्रन्थ का नाम 'प्रक्रियामणि' है।

शेषनारायण

'महाभाष्य' के टीकाकार शेषनारायण के सम्बन्ध में भ्रमवश आफ्रेक्ट ने लिखा है कि उसके पिता का नाम कृष्णसूरि था।[4] इसी प्रकार कृष्णमाचार्य ने भी शेषनारायण को कृष्णसूरि का पुत्र और वीरेश्वर का भाई लिखने की भूल की है।[5] पाणिनीय व्याकरण निकाय में शेषकृष्ण के वंश का विस्तार से परिचय उपलब्ध है।[6] इस वंशावली से ज्ञात होता है कि शेषनारायण, शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर का समकालीन था। शेषकृष्ण का स्थितिकाल १६वीं श० वि० के आस-पास बैठता है। इनके ग्रन्थों के नाम हैं: 'सूक्तिरत्नाकर' (महाभाष्यटीका) और 'श्रौतसर्वस्व' (मीमांसा दर्शन)।

विष्णुमित्र

विष्णुमित्र ने 'महाभाष्य' पर 'क्षीरोदक' नामक एक टिप्पण लिखा, जिसका उल्लेख शिवरामेंद्र सरस्वती[7] तथा भट्टोजिदीक्षित[8] ने किया है। एक विष्णुमित्र 'ऋक्प्रातिशाख्य' के वृत्तिकार भी हुए। इनके पिता का नाम देवमित्र था। दोनों की भिन्नता-अभिन्नता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। ये भट्टोजिदीक्षित (१६वीं श०) के पहिले हुए। 'महाभाष्य-टिप्पण', इनका एक ही ग्रन्थ है।

---

१. इण्डियन हिस्टोरिकल कार्टर्ली, सित० १९४३
२. संस्कृत व्या० इतिहास, पृ० १९१
३. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृ० ४५७
४. इंडिया आफिस, लंदन का सूचीपत्र भाग १, पृ० ७०, ग्रन्थ संख्या ३६०
५. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट० पृ० ६५४
६. देखिए-सं० व्या० इति०, पृ० २९३-२९४
७. महाभाष्य टीका
८. शब्दकौस्तुभ १।१।८

नीलकण्ठ

नीलकंठ वाजपेयी के पितामह का नाम रामचंद्र और पिता का नाम बटेश्वर था। बटेश्वर के दीक्षागुरु, अप्पय दीक्षित के पुत्र, नीलकंठ के गुरु तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती थे। भट्टोजि दीक्षित की 'सिद्धांतकौमुदी' के तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती और अप्पय दीक्षित दोनों समकालीन थे। पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुंभट्ट के गुरु भी यही ज्ञानेन्द्र थे। अतः नीलकण्ठ का स्थितिकाल भट्टोजि दीक्षित और पेरुंभट्ट के बीच लगभग १७वीं शती होना चाहिए। 'भाष्यतत्त्वविवेक' (महाभाष्य पर), 'सिद्धांतकौमुदी-सुबोधिनी', 'पाणिनीयदीपिका' और 'परिभाषावृत्ति' नामक उनकी चार कृतियाँ हैं।

शेषविष्णु

बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित ५७७४ संख्यक हस्तलेख 'महाभाष्य प्रकाशिका' के प्रथमाह्निक की अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है कि शेषविष्णु, पाणिनीय निकाय में निर्दिष्ट शेषवंश में पैदा हुए थे। इनके प्रपितामह का नाम शेषनारायण, पितामह का नाम कृष्णसूरि और पिता का नाम महादेवसूरि था। अतः शेषविष्णु का स्थितिकाल १७वीं शती होना चाहिए। इनकी 'महाभाष्य प्रकाशिका' के प्रारम्भिक दो आह्निक ही उपलब्ध हैं।

शिवरामेंद्र सरस्वती

शिवरामेंद्र सरस्वती कृत तीन हस्तलिखित कृतियों का अभी तक पता लगा है। इनकी 'महाभाष्य-रत्नाकर' नामक टीका को सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी में श्री मीमांसक जी ने स्वयं देखा है। उनकी दूसरी कृति 'णेरणाविति पाणिनीयसूत्रस्य व्याख्यानम्', रघुनाथमन्दिर के पुस्तकालय, जम्मू में सुरक्षित है। इस पुस्तकालय के सूचीपत्र के संपादक श्री स्टाइन ने इस ग्रन्थ के संबंध में लिखा है कि वह संपूर्ण है और उसका रचनाकाल १७०१ है।[1] तीसरी कृति 'सिद्धान्तकौमुदी' की 'रत्नाकर' नाम्नी टीका का उल्लेख आफ्रेक्ट के सूचीपत्र में हुआ है। इस ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि शिवरामेंद्र सरस्वती, भट्टोजि दीक्षित के बाद, संभवतः १७ वीं शती में हुए।

---

१. सूचीपत्र, पृ० ४१

अन्यान्य टीकाकार

'महाभाष्य' के कुछ अज्ञातकालीन टीकाकारों के नाम हैं : प्रयाग वेंकटाद्रि, तिरुमलयज्वा, कुमारतातय, राजनसिंह, नारायण, सर्वेश्वर दीक्षित और गोपालकृष्ण शास्त्री। इनकी कृतियाँ हस्तलिखित पोथियों के रूप में मद्रास, मैसूर के राजकीय पुस्तकालयों, आडियार पुस्तकालय, सरस्वती भवन पुस्तकालय के सूचीपत्रों में निर्दिष्ट हैं।

महाभाष्य में उद्धृत कुछ वैयाकरण

'महाभाष्य' में जिन प्राचीन वैयाकरणों के मत उद्धृत हैं उनमें गोनर्दीय का नाम प्रमुख है।[1] उधर कैयट, राजशेखर और 'वैजयंती' कोशकार गोनर्दीय को पतंजलि का ही नामांतर मानते हैं।[2] गोनर्दीय देशज नाम प्रतीत होता है। गोनर्द नाम से राजतंरगिणीकार ने काश्मीर के तीन राजाओं का उल्लेख किया है। उत्तर प्रदेश के गोंडा जिला को भी प्राचीन गोनर्द कहा गया है। यदि गोनर्द कोई वैयाकरण हुए हों तो उन्हें पतंजलि का पूर्ववर्ती ही मानना चाहिए।

'महाभाष्य' और 'कामसूत्र' में गोणिकापुत्र नाम से एक वैयाकरण का उल्लेख है।[3] ये भी पतंजलि के पहिले हुए। पतंजलि ने सौर्य भगवान् नामक एक वैयाकरण का मत उद्धृत किया है।[4] कैयट ने लिखा है कि यह वैयाकरण किसी सौर्य नामक नगर का निवासी था।[5] 'काशिका' में भी सौर्य नगर का नाम उल्लिखित है।[6] इनके मत को पतंजलि ने बड़े आदर से उद्धृत किया है। इनके अतिरिक्त कुरणवाड[7] और भगवंत[8] इन दो प्राचीन वैयाकरणों के मत भी 'महाभाष्य' में देखने को मिलते हैं।

महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकार

प्रदीपकार कैयट का उल्लेख 'महाभाष्य' के टीकाकारों के प्रसंग में

१. देखिए महाभाष्य १।१।२१; १।१।२९; ३।१।९२; ७।२।१०१
२. उद्योत १।१।२१; काव्यमीमांसा, पृ० २६; वैजयंती कोश, पृ० ९६, श्लोक १५७
३. महाभाष्य १।४।५०; कामसूत्र १।१।१६
४. महाभाष्य ८।२।१०६
५. महाभाष्यप्रदीप ८।२।१०६
६. काशिका २।४।७
७. महाभाष्य ३।२।१४; ७।३।१
८. वही, ७।३।८

हो चुका है। पूर्वोक्त प्रकरण के अध्ययन से यह जानकारी हो जाती है कि 'महाभाष्य' पर अनेकों टीकाएँ लिखी गईं। उन सभी टीकाओं में कैयट के 'महाभाष्यप्रदीप' को ही भावी वैयाकरणों ने सर्वाधिक संमान दिया है। उस पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गईं।

चिंतामणि

कैयटप्रदीप का पहिला व्याख्याता चिंतामणि हुआ। चिंतामणि के नाम से दो कृतियों का हस्तलिखित पोथियों के रूप में श्री मीमांसक जी ने उल्लेख किया है: 'महाभाष्यकैयटप्रकाश' और 'प्रक्रियाकौमुदीटीका'। पहिली अपूर्ण पोथी अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में है और दूसरी भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना में। पूना वाली पोथी का लिपिकाल १५१४ वि० है। अतः चिंतामणि को निश्चित ही १५ वीं शती से पहिले का होना चाहिए। एक चिंतामणि शेषवंशीय भी थे। इनके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहने योग्य सामग्री उपलब्ध नहीं है।

नागनाथ

नागनाथ, कैयटकृत 'प्रदीप' का दूसरा व्याख्याकार है। उसकी व्याख्या का नाम, 'महाभाष्य-प्रदीपोद्योतन' है। उसकी एक हस्तलिखित प्रति[1] के आरंभिक अंश से ज्ञात हुआ है कि नागनाथ शेषवंशीय थे, क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं को शेष वीरेश्वर का शिष्य एवं अनुज लिखा है। इसके अतिरिक्त विट्ठल कृत 'प्रक्रियाकौमुदी' की टीका में भी नागनाथ को वीरेश्वर का अनुज लिखा हुआ है। अतएव स्पष्ट है कि 'महाभाष्य-प्रदीपोद्योतम' का कर्ता नागनाथ, वीरेश्वर के समकालीन सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ।

रामचन्द्र

रामचंद्र सरस्वती की 'महाभाष्यप्रदीप' पर लिखी हुई 'विवरण' नामक लघु व्याख्या का हस्तलेखों के रूप में दो सूचीग्रन्थों में उल्लेख हुआ है।[2]

---

१. राजकीय पुस्तकालय, मद्रास का सूचीपत्र, भाग २, खंड १ ए, पृ० ४६४८, ग्रं० सं० ३१४१

२. वही, भाग ४, खण्ड १ सी०, पृ० ५७३१, ग्रं० सं० ३८६७ तथा राजकीय पुस्तकालय, मैसूर का सूचीपत्र, पृ० ३१९

आफ्रेक्ट ने रामचन्द्र का दूसरा नाम सत्यानन्द लिखा है। इस आधार पर मीमांसक जी ने रामचन्द्र सरस्वती को ईश्वरानंद सरस्वती का गुरु माना है। ईश्वरानंद सरस्वतीकृत 'बृहद्-महाभाष्य-प्रदीप-विवरण' रघुनाथ पुस्तकालय, जम्मू के हस्तलेख-संग्रह में हैं, जिसका लिपिकाल १६०३ है।[1] इस दृष्टि से रामचन्द्र १६ वीं १७ वीं शती में हुए।

ईश्वरानंद

ईश्वरानंद सरस्वती कृत जिस 'महाभाष्य-प्रदीप-विवरण' का संकेत किया गया है। उसकी दूसरी हस्तलिखित प्रति राजकीय पुस्तकालय, मद्रास में भी सुरक्षित है।[2] ये भी रामचंद्र के ही समकालीन थे।

अन्नंभट्ट

अन्नंभट्ट कृत 'महाभाष्य-प्रदीपोद्योतन' के प्रत्येक आह्निक के अंतिमांशों से विदित होता है कि वे अद्वैतवादी विद्वान् राघव सोमयाजी के वंशज तथा तैलंगदेशीय दाक्षिणात्य थे। उनके पिता का नाम तिरुमलाचार्य था। काशी में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। कृष्णमाचार्य के कथनानुसार अन्नंभट्ट के गुरु का नाम शेषवीरेश्वर था।[3] इस दृष्टि से अन्नंभट्ट का स्थितिकाल १६ वीं १७ वीं शती में निश्चित होता है। इन्होंने कई ग्रंथ लिखे, जिनके नाम हैं: 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन', 'राणकोज्जीवनी टीका', 'ब्रह्मसूत्र-व्याख्या', 'अष्टाध्यायी मिताक्षरावृत्ति' और 'तर्कसंग्रह'।

नारायण शास्त्री

नारायण शास्त्री कृत 'महाभाष्यप्रदीप-व्याख्या' के अनुसार इनके गुरु का नाम म० म० धर्मराज यज्वा था।[4] ये धर्मराज यज्वा कौंडिन्यगोत्रीय नल्ला दीक्षित और नारायण दीक्षित के भाई थे। नारायण शास्त्री का स्थितिकाल १८ वीं शती बैठता है।

---

१. सूचीपत्र, पृ० ४२

२. सूचीपत्र, भाग ४, पृ० ५७२९, ५७८०, ग्रं० सं० ३८६६, ३८९४

३. हि० का० सं० लि०, पृ० ६५४

४. राज० पुस्त० मद्रास का सूचीपत्र, भाग १, खण्ड १ ए, पृ० ५७, ग्रन्थ सं० ९

नागेश भट्ट

नागेश भट्ट का नाम व्याकरण के इतिहास में शीर्षस्थानीय विद्वानों की श्रेणी में आता है। अपने युग के ये विख्यात विद्वान् थे। व्याकरण के अतिरिक्त दर्शन, धर्म और ज्योतिष के क्षेत्र में भी इनकी ख्याति थी। इनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सती देवी था। ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनका उपनाम नागोजि भट्ट था। भट्टोजि दीक्षित के पुत्र हरिदत्त दीक्षित इनके व्याकरण गुरु और वैद्यनाथ पायगुंडे इनके शिष्य थे। ये शृंगवेरपुर के राजा रामसिंह के सभा-पंडित थे। भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर लिखी हुई नागेश के टीका-ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति इंडिया आफिस के सूचीपत्र में उद्धृत है, जिसका लेखनकाल १७६९ वि० है। अतः नागेश इससे पूर्व हुए। 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' के अतिरिक्त इनके लिखे हुए ग्रन्थ हैं: 'लघु-शब्देंदुशेखर', 'बृहद् शब्देंदुशेखर', 'परिभाषेंदुशेखर', 'लघुमंजूषा', 'स्फोटवाद' और 'महाभाष्य प्रत्याख्यानसंग्रह'।

वैद्यनाथ पायगुंडे

नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुंडे ने 'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' पर 'छाया' नाम्नी व्याख्या लिखी, जिसका कुछ भाग पं० शिवदत्त शर्मा ने निर्णय सागर प्रेस, बंबई से प्रकाशित किया है। इनके गुरु नागेश का पुत्र बाल शर्मा इनका शिष्य था। बाल शर्मा ने अपने सहाध्यायी मन्नुदेव के सहयोग से एवं संस्कृतप्रेमी विद्वान् हेनरी टामस कोलब्रुक के आग्रह पर 'धर्मशास्त्र-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। अतः इनका समय १८वीं शती है।

मल्लयज्वा : रामसेवक

सुप्रसिद्ध वैयाकरण 'महाभाष्यप्रदीप' का व्याख्याकार तिरुमल्लयज्वा, मल्लयज्वा का पुत्र था। तिरुमल्लयज्वा कृत 'दर्शपौर्णमासमंत्र-भाष्य' के आरंभिक अंश से प्रकट होता है कि उसके पिता मल्लयज्वा ने कैयट के 'महाभाष्यप्रदीप' पर एक टिप्पण ग्रन्थ लिखा था[1]। कैयट ग्रन्थ के एक व्याख्याकार रामसेवक (१८वीं श०) हुए। 'शब्दकौस्तुभ-भावप्रदीप' और 'सिद्धांतकौमुदी-रत्नार्णव' का लेखक कृष्णमित्र इनका पुत्र था।

---

१. देखिए आड्यार पुस्तकालय का सूचीपत्र, भाग २, पृ० ७३

प्रवर्तकोपाध्याय

प्रवर्तकोपाध्याय नामक एक अज्ञातकालीन विद्वान् का लिखा हुआ 'महाभाष्यप्रदीपप्रकाशिका' या 'महाभाष्यप्रदीपप्रकाश' ग्रंथ का उल्लेख दक्षिण भारत के पुस्तकालयों—मद्रास, आडियार, मैसूर और त्रिवेंद्रम् आदि के सूचीग्रन्थों—में मिलता है। संभवतः ये दाक्षिणात्य थे।

अन्यान्य व्याख्याकार

इनके अतिरिक्त आदेश कृत 'महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति', नारायण कृत 'महाभाष्य-प्रदीप-विवरण', सर्वेश्वर सोमयाजी कृत 'महाभाष्य-प्रदीपस्फूर्ति' और हरिराम कृत 'महाभाष्य-प्रदीप-व्याख्या' आदि कतिपय व्याख्या-ग्रन्थों का उल्लेख विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों के सूचीपत्रों में देखने को मिलता है। निष्कर्ष यह है कि लगभग १९वीं शती तक कैयट के ग्रंथ पर व्याख्याएँ लिखी गईं।

काशिका के व्याख्याकार

'काशिका' के संयुक्त लेखक जयादित्य और वामन का उल्लेख अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों के प्रकरण में हो चुका है। व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में 'काशिका' का मौलिक महत्त्व है, और सम्भवतः यही कारण था कि अनेक वैयाकरणों ने उस पर व्याख्याएँ लिखकर उसकी उपयोगिता एवं लोकप्रियता को सिद्ध किया।

जिनेन्द्रबुद्धि

'काशिका' की उपलब्ध होने वाली व्याख्याओं में जिनेन्द्रबुद्धि रचित 'काशिकाविवरण-पंजिका' सर्वाधिक प्राचीन है, जिसकी प्रसिद्धि 'न्यास' नाम से है। जिनेन्द्रबुद्धि बौद्ध था और उसका स्थितिकाल आठवीं शती था। यह 'न्यास' व्याख्या भी इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि उस पर मैत्रेयरक्षित (१२वीं शती) ने 'तंत्रप्रदीप', मल्लिनाथ (१४वीं शती) ने 'न्यासोद्योत', महामिश्र (१५वीं शती) ने 'व्याकरण-प्रकाश', और रत्नमति आदि ने व्याख्या ग्रन्थ लिखे।

अन्यान्य व्याख्याकार

जिनेन्द्रबुद्धि के बाद 'काशिका' पर इन्दुमित्र (१२वीं शती से पूर्व) ने 'अनुन्यास', एक अज्ञातनामा विद्वान् ने (१३वीं शती से पूर्व) 'महान्यास',

विद्यासागर मुनि (१२वीं शती से पूर्व) ने 'प्रक्रिया-मंजरी[1]', धर्मसूत्रों के व्याख्याता हरिदत्तमिश्र (१२वीं शती) ने 'पदमंजरी' लिखी, रंगनाथ यज्वा (१८वीं शती) ने जिस पर 'मंजरी मकरन्द' तथा शिवभट्ट ने 'कुंकुमविलास' नामक व्याख्याएँ लिखीं। रामदेव मिश्र १२वीं शती में हुए। उन्होंने भी 'काशिका' पर 'वृत्तिप्रदीप' टीका लिखी। इनके अतिरिक्त त्रिवेन्द्रम् और आफ्रेक्ट के सूचीपत्रों में 'काशिका' की दो व्याख्याएँ : 'वृत्तिरत्न' एवं 'चिकित्सा' का नाम मिलता है।

व्याकरणशास्त्र के विकाश की संक्षिप्त रूपरेखा

पाणिनीय व्याकरण से प्रभावित व्याकरण की जिन विभिन्न शाखाओं का उल्लेख इस प्रकरण में किया गया है उसके विकास की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है :

पाणिनीय व्याकरण की अत्यधिक लोकप्रसिद्धि को देखकर विभिन्न वैयाकरणों ने समय-समय पर ऐसे ग्रन्थों को लिखने का यत्न किया, जिनमें उन्होंने धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, एवं लिंगानुशासन की विधियों को निरे-निरे ढंग पर क्रमबद्ध रूप में वर्गीकृत किया ; किन्तु वैयाकरणों की ये विभिन्न शाखाएँ धर्मसापेक्ष्य और अपाणिनीय रीतियों की अनुयायिनी होने के नाते अधिकांशतया न तो लोकप्रसिद्धि प्राप्त कर सकी और नहीं अधिक समय तक जीवित रह सकीं।

एक बौद्ध विद्वान् चंद्रगोमिन् ने ५०० ई० के लगभग 'चान्द्र-व्याकरण' लिखकर 'चान्द्र-व्याकरण' संप्रदाय की स्थापना की। लंका में यह व्याकरण अधिक प्रचलित हुआ और १३ वीं शताब्दी में एक बौद्धाचार्य काश्यप ने 'बालावबोध' लिखकर 'चांद्र-व्याकरण' का परिष्कार एवं नवीनीकरण किया। इस शाखा के लगभग दस ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बतीय भाषा में भी हुआ।

जैन-संप्रदाय में व्याकरणशास्त्र की परम्परा के प्रवर्तक जिन महावीर को माना जाता है। जिन महावीर ने देवश्रेष्ठ इंद्र से व्याकरण-विषयक जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर पाया था, उन्हीं से जिन और इन्द्र के नाम से 'जिनेंद्र' शाखा का प्रवर्तन हुआ। जिनेंद्र-व्याकरण के एक ग्रन्थ में सात

---

१. राज० पुस्त० मद्रास का सूचीपत्र, भाग ३, खण्ड १ ए, पृ० ३५०७

सौ सूत्र और दूसरे ग्रंथ में तीन-सौ सूत्र संकलित हैं। इन सूत्रों की निष्पक्ष विधियाँ पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा कहीं अधिक दुस्तर हैं। 'पूज्यपाद' देवनन्दि या जिनेन्द्र ने इन सूत्रों का प्रणयन किया। इन सूत्रों पर पहिली टीका अभयनन्दी (८ वीं शताब्दी ई०) ने और दूसरी सोमदेव (११ वीं शताब्दी ई०) ने की है। दिगम्बर संप्रदाय के अनुयायी किसी अज्ञात-नामा लेखक ने 'पंचवस्तु' नाम से जिनेंद्र-व्याकरण का एक संस्करण तैयार किया।

नवम शताब्दी में एक श्वेताम्बरीय जैन विद्वान् शाकटायन ने 'शब्दानुशासन' की रचना और उसपर स्वयं ही 'अमोघवृत्ति' नामक टीका लिख कर शाकटायन-व्याकरण की परंपरा का प्रवर्तन किया। यह ग्रन्थ पाणिनि, चान्द्र और जैनेंद्र-व्याकरणों के आधार पर लिखा गया। इसकी पद्धति 'सिद्धान्तकौमुदी' से मिलती है। ११ वीं शताब्दी में दयापाल नामक एक वैयाकरण ने 'रूपसिद्धि' नामक ग्रन्थ लिखकर शाकटायन व्याकरण का नवीनीकरण किया और इसका पुनः एक संस्करण १४ वीं शताब्दी में अभयचंद ने 'प्रक्रिया-संग्रह' ग्रंथ लिख कर किया।

जैनाचार्य हेमचंद्र (१०८८–११७२ ई०) ने 'शब्दानुशासन' ग्रन्थ और उस पर स्वयं ही 'बृहद्वृत्ति' नामक टीका लिखकर एक नये संप्रदाय का प्रवर्तन किया, जिस पर पुनः मेघविजय (१७वीं श०) ने 'शब्दचन्द्रिका' नामक टीका लिखी। इसी प्रकार देवेन्द्रसूरि ने 'बृहद्वृत्ति' या 'हेमलघुन्यास' नामक उपटीका लिखी

शर्ववर्मा या शरवर्मा ने एक नई 'कातंत्रशाखा' का प्रवर्तन किया। कहा जाता है कि वह सुप्रसिद्ध 'बृहत्कथा' के रचयिता गुणाढय का प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् था। उसने राजा सातवाहन की छह मास में व्याकरण की शिक्षा के लिए की गई प्रतिज्ञा को, भगवान् सुब्रह्मण्य की उपासना करके एक नये व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर, पूरा किया था। यही व्याकरण 'कातंत्र', 'कलाप' या 'कौमार' के नाम से प्रचलित हुआ। इस व्याकरण की रचना ई० पू० प्रथम शताब्दी में हो चुकी थी। आठवीं शताब्दी में इस पर दुर्गसिंह ने टीका लिखी। काश्मीर के जयधर भट्ट ने कातंत्र-व्याकरण की परंपरा में एक नया ग्रन्थ 'वालबोधिनी' लिखा, जिस पर कि उग्रभूति ने 'न्यास' नामक टीका लिखी।

व्याकरणशास्त्र

१३वीं शताब्दी के मध्य में नरेंद्र नामक एक विद्वान् ने 'सारस्वत' व्याकरण की रचना की, जिसके सूत्रों को अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने क्रमबद्ध कर, उन पर 'सारस्वत-प्रक्रिया' नामक एक विद्वत्तापूर्ण टीका १३वीं शताब्दी के अंत में लिखी। अनुभूतिस्वरूपाचार्य की यह 'प्रक्रिया' टीका इतनी विद्वत्प्रिय एवं जनप्रिय साबित हुई कि भट्टोजि दीक्षित के समय तक उस पर लगभग १८ टीकाएँ लिखी गईं, जिनका उल्लेख मीमांसक जी ने किया है।

१३वीं शताब्दी में ही बोपदेव ने 'मुग्धबोध' लिखकर एक नई पद्धति को सामने रखा। बोपदेव ने ही 'कविकल्पद्रुम' भी लिखा, जिसमें उन्होंने अन्त्याक्षर क्रम से धातुओं को व्यवस्थित किया और स्वयं ही उस पर 'कामधेनु' नामक टीका भी लिखी। रामतर्कवागीश ने 'मुग्धबोध' पर एक टीका-ग्रंथ लिखा।

'अष्टाध्यायी' के अनुकरण पर धारानरेश भोज (१००५–१०५४ ई०) ने 'सरस्वतीकंठाभरण' और इसी शताब्दी में जैयट के पुत्र कैयट ने 'महाभाष्य' पर 'प्रदीप' टीका लिखी। इस टीका पर नागेशभट्ट और अन्नंभट्ट ने १७ वीं शताब्दी में क्रमशः 'उद्योत' और 'उद्योतन' उपटीकाएँ लिखीं।

१२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लंका के एक बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति ने आरंभिक विद्यार्थियों के लिए 'रूपावतार' नामक एक व्याकरण-ग्रन्थ लिखा। तदनंतर शरणदेव ने एक 'दुर्घटवृत्ति' ग्रन्थ (११७३ ई०) और १४ वीं शताब्दी में विमल सरस्वती ने 'रूपमाला' ग्रन्थ लिखे।

१४ वीं शताब्दी में विजयनगर के माधव के भाई सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकार सायण ने अपने भाई के नाम पर 'माधवीयधातुवृत्ति' नामक ग्रन्थ लिखा।

१३ वीं १४ वीं शताब्दी के बीच क्रमदीश्वर नामक एक विद्वान् ने पाणिनीय व्याकरण का संक्षिप्त रूप 'संक्षिप्तसार' लिखकर 'जौमर' शाखा का प्रवर्तन किया। बाद में जूमरनंदी ने 'संक्षिप्तसागर' पर 'रसवती' नामक पांडित्यपूर्ण टीका लिख कर इस संप्रदाय के सिद्धान्तों का सर्वथा नवीनीकरण किया, जिसके कारण कि इन्हीं विद्वान् के नाम से इस शाखा की प्रसिद्धि हुई। क्रमदीश्वर के ग्रंथ पर एक टीका गोपीचन्द्र ने 'गोपीचन्द्रिका' नाम से लिखी।

१४ वीं शताब्दी में पद्मनाभ भट्ट ने पाणिनीय व्याकरण पर 'सौपद्म'

व्याकरण लिखकर उसका नवीनीकरण किया और स्वयं ही उस पर 'सुपद्म-पंजिका' नामक टीका भी लिखी।

चैतन्य स्वामी के शिष्य रूपगोस्वामी ने भी 'हरिनामामृत' से एक व्याकरण लिखा, जिसकी परंपरा को जीवगोस्वामी ने 'हरिनामामृत', दूसरे अज्ञातनामा लेखक ने 'चैतन्यामृत' और बालराम पंचानन ने 'प्रबोधचन्द्रिका' लिख कर आगे बढ़ाया।

संस्कृत-व्याकरण के आरंभिक विद्यार्थियों के हेतु रामचन्द्र (१५ वीं श०) ने पाणिनि-सूत्रों को वैज्ञानिक ढंग से क्रमबद्ध कर 'प्रक्रियाकौमुदी' ग्रन्थ लिखा। इसी परंपरा में नारायण भट्ट (१६ वीं श०) ने 'प्रक्रियासर्वस्व' और अप्पय दीक्षित (१६ वीं श०) ने 'पाणिनिवादनक्षत्रमाला' ग्रंथ लिखे।

तदनंतर १७ वीं शताब्दी में व्याकरणशास्त्र का एक अद्भुत आचार्य भट्टोजि दीक्षित ने रामचन्द्र कृत 'प्रक्रिया-कौमुदी' के अनुकरण पर 'सिद्धान्त-कौमुदी' लिखी। यह ग्रन्थ व्याकरण के क्षेत्र में 'अष्टाध्यायी' जितनी मौलिकता एवं उपयोगिता रखता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह अप्पय दीक्षित का शिष्य था। अपने इस अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ पर भट्टोजि दीक्षित ने एक प्रौढ टीका 'प्रौढ़मनोरमा' नाम से लिखी। 'शब्दकौस्तुभ', 'लिंगानुशासनवृत्ति' और 'वैयाकरणमतोन्मज्जन', इन तीन व्याकरण ग्रन्थों का भी भट्टोजि दीक्षित ने निर्माण किया।

भट्टोजि दीक्षित के शिष्य वरदराज (१७ वीं श०) ने 'सिद्धान्तकौमुदी' के संक्षिप्त संस्करणों के रूप में 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' और 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' लिखे। इसी समय के लगभग भट्टोजि दीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने 'वैयाकरण-मतोन्मज्जन' के टीकास्वरूप 'वैयाकरणभूषणसार' ग्रंथ लिखा।

भट्टोजि दीक्षित के पौत्र, हरि दीक्षित के शिष्य नागेश भट्ट १७वीं शताब्दी का सुप्रसिद्ध वैयाकरण, योगदर्शनविद्, धर्मशास्त्री और काव्यशास्त्री हुआ। उसने जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' की टीका और सिद्धान्तकौमुदी' पर 'बृहत् शब्दे-न्दुशेखर' एवं 'लघुशब्देन्दुशेखर' नामक दो विद्वत्तापूर्ण टीका-ग्रन्थ लिखे। उसने कैयटकृत 'महाभाष्यप्रदीप' पर 'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' नामक उपटीका लिखी। उसने व्याकरणशास्त्र का दार्शनिक दृष्टि से 'मंजूषा', 'लघुमंजूषा' और 'परमलघुमंजूषा' नामक तीन ग्रन्थों में वैयाकरणों के स्फोटवाद का

विवेचन किया। उसने 'परिभाषेन्दुशेखर' में व्याकरण की परिभाषाओं की विस्तार से व्याख्या की। इनका उल्लेख पहिले भी किया जा चुका है।

१८वीं शताब्दी में नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने व्याकरण पर अनेक मौलिक और टीका ग्रन्थों का निर्माण किया। इसी प्रकार जिनेन्द्र-सरस्वती ने एक विद्वत्तापूर्ण आलोचनात्मक टीका 'तत्त्वबोधिनी', वासुदेव दीक्षित ने 'बालमनोरमा-टीका' ग्रंथ भी १७वीं शताब्दी में लिखे।

इन ग्रंथों एवं टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त पाणिनि, वररुचि, शबरस्वामी, हर्षवर्धन, शान्तनवाचार्य और शन्तनु आदि वैयाकरणों ने 'लिंगानुशासन', 'गणपाठ', 'उणादिसूत्र', 'फिट्सूत्र' और 'धातुपाठ' आदि विभिन्न ग्रन्थों को लिखकर व्याकरणशास्त्र का सर्वांगीण निर्माण किया।

व्याकरणशास्त्र पर विशेषतया भाष्य, व्याख्या, टीका और गौणतया मूल ग्रन्थों को लिखने की यह परंपरा निरंतर प्रगति पर रही और उसके फलस्वरूप विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों में सैकड़ों कृतियाँ आज भी ऐसी देखने को मिलती हैं, जिनका किसी भी इतिहास में उल्लेख नहीं हुआ है।

व्याकरणशास्त्र का सर्वेक्षण करने पर हमें यह प्रतीत होता है कि सृष्टि के जन्म से लेकर आजतक उसकी महान् परम्परा में कोई व्यतिक्रम नहीं आया है। संसार के किसी भी साहित्य में भाषाशास्त्र पर इतना गम्भीर विचार नहीं हुआ।

प्राकृत व्याकरण

प्राकृत का सबसे पहिला व्याकरण वररुचि (५०० ई० पूर्व) का 'प्राकृत-प्रकाश' है। कात्यायन के प्रसंग में वररुचि के संबंध में बताया जा चुका है। सातवीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य भामह ने उक्त ग्रंथ के अंतिम अध्याय को छोड़कर शेष आठ अध्यायों पर 'मनोरमा' नाम की टीका लिखी। दशवीं शताब्दी में वररुचि व्याकरण पर एक विद्वत्तापूर्ण टीका, रामपाणिपाद ने 'प्राकृतप्रकाशवृत्ति' के नाम से लिखी। कृष्णलीलांशुक (१२वीं श०) ने भी एक काव्य ग्रन्थ 'श्रीचिह्नप्रकाश' लिखकर उसमें वररुचि-व्याकरण के उदाहरणों को स्पष्ट किया है।

प्राकृत भाषा का सबसे पहिला व्याकरण 'प्राकृतसूत्र' है। इसका रचयिता रामायणकार महर्षि बाल्मीकि को बताया जाता है। इसीलिए इस सूत्र-ग्रन्थ का दूसरा नाम 'वाल्मीकिसूत्र' भी कहते हैं; किन्तु जिस रूप में आज वह उपलब्ध

है उसका विश्लेषण करने पर विद्वानों ने उस सूत्रग्रंथ को बहुत बाद का लिखा हुआ बताया है। इस सूत्र-ग्रन्थ पर १४वीं शताब्दी में त्रिविक्रम पण्डित ने 'प्राकृतसूत्रवृत्ति' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी। इन्हीं टीकाकार को इस सूत्र-ग्रंथ का वास्तविक रचयिता माना जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने व्याकरण ग्रन्थ के आठवें अध्याय में प्राकृत-व्याकरण पर भी प्रकाश डाला है। त्रिविक्रम ने 'प्राकृतशब्दानुशासन' ग्रन्थ भी लिखा है। इसी शताब्दी में सिंहराज ने 'प्राकृतरूपावतार' ग्रन्थ लिखा। इनके अतिरिक्त जैनाचार्य श्रुतसागर (१६वीं श०) ने सटीक 'औदार्यचिंतामणि', इसी समय दूसरे जैनाचार्य शुभचन्द्र ने 'चिन्तामणि', लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषाचन्द्रिका', चंद्र पण्डित ने 'प्राकृतलक्षण', शेषनाग ने 'प्राकृत-व्याकरणसूत्र' और उस पर लंकेश्वर ने 'प्राकृतकामधेनु' टीका, रामतर्क वागीश (१७वीं शताब्दी) ने 'प्राकृत कल्पतरु' और मार्कण्डेय (१७वीं श०) ने 'प्राकृतसर्वस्व' लिखकर व्याकरण-शास्त्र की परंपरा को समृद्ध किया।

ज्योतिषशास्त्र

ज्योतिषशास्त्र

षड्वेदांगों के परिचय में ज्योतिषशास्त्र का संकेत पहिले किया जा चुका है; किन्तु एक बृहद् सर्वांगपूर्ण शास्त्र होने के नाते, वर्तमान युग के लिए अति उपयोगी विषय होने के सबब से और संस्कृत-साहित्य के मान को दुनिया के हर हिस्से में प्रतिष्ठित करने के कारण ज्योतिषशास्त्र का बड़ा महत्त्व है, जिसका बृहद् परिचय पाने के लिए एक स्वतंत्र अध्याय की आवश्यकता है।

ज्योतिषशास्त्र के अस्तित्व को हम वेदों और वैदिक साहित्य में सर्वत्र पाते हैं। वेदों में सूर्य, चन्द्रमा और दूसरे कतिपय नक्षत्रों के लिए देवत्व रूप में स्तुतिपरक ऋचाएँ गाई गई हैं। इन मंत्रों में नक्षत्रों के प्रति वैदिक ऋषियों की रहस्यपूर्ण उत्सुकता का भाव विद्यमान है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में ग्रह-नक्षत्रों के प्रति वैदिक ऋचाओं जैसी रहस्यात्मकता की जगह उनका रूप-रंग, गुण और प्रभाव आदि पर विचार किया जाने लगा था। वैदिक यज्ञों की विधियाँ संपन्न करने के लिए ऋतु, अयन, दिनमान और लग्न आदि के शुभाशुभ के लिए ब्राह्मण-युग में ज्योतिष का ज्ञान अनिवार्य समझा जाने लगा और ज्योतिष की इसी अनिवार्य आवश्यकता के कारण पीछे चलकर षड्वेदांगों में उसको स्वतंत्र स्थान मिला।

ज्योतिषशास्त्र को पहिले-पहल गणित और फलित, इन दो रूपों में स्वीकार किया गया। बाद में वह स्कंध-त्रय के नाम से कहा जाने लगा, जिसको सिद्धान्त, संहिता और होरा, इन तीन विभागों में विभाजित किया गया और संप्रति उसका पंचरूपात्मक होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त में विकास हुआ। आज ज्योतिष का क्षेत्र इतना बढ़ गया है कि मनोविज्ञान,

जीवविज्ञान, पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान और चिकित्साशास्त्र आदि अनेक विषयों तक उसका प्रवेश है।

होरा, ज्योतिष का एक अंग है, जिसका नाम जातक भी है। जन्मकुंडली में द्वादश भावों के फलाफल का विवेचन करना ही होराशास्त्र का विषय है। वराहमिहिर, नारचन्द्र, सिद्धसेन, ढुंढिराज, केशव, श्रीपति और श्रीधर प्रभृति ज्योतिर्विद् होरा-ज्योतिष के प्रतिनिधि आचार्य हुए। गणित ज्योतिष में कालगणना, सौर-चान्द्र मानों का प्रतिपादन, ग्रहगतियों का निरूपण, प्रश्नोत्तर विवेचन और अक्षक्षेत्र-संबंधी अक्षज्या, लंबज्या, द्युज्या, कुज्या, तद्धृति, समशंक आदि का निरूपण वर्णित हैं। गणित-ज्योतिष का वर्तमान विकास उसके सिद्धान्त, तंत्र और करण, इन तीन भेदों में प्रतिपादित है।

संहिता ज्योतिष के अन्तर्गत भू-शोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक, आयाद्यानयन, गृहोपकरण, इष्टिकाद्वार, गेहारंभ, गृहप्रवेश, मुहूर्तगणना, उल्कापात, अतिवृष्टि, ग्रहों के उदय-अस्त का विचार और ग्रहण-फल आदि विषयों का विवेचन है। प्रश्न ज्योतिष में प्रश्नाक्षर, प्रश्न-लग्न और स्वरज्ञान की विधियाँ वर्णित हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक विषय भी है, जिसमें प्रश्नकर्ता के हाव, भाव, विचार और चेष्टाओं के माध्यम से भी विचार किया जाता है। केरलज्योतिष प्रश्नशास्त्र के लिए प्रसिद्ध है। शकुन-ज्योतिष का एक नाम निमित्तिशास्त्र भी है। इसमें शुभाशुभ फलों का वर्णन है।

ज्योतिषशास्त्र की प्राचीनता

ज्योतिषशास्त्र अपने मूलरूप में बहुत प्राचीन है। उसकी व्यापकता और प्रभाव वेद-मंत्रों तक विस्तारित है। ज्योतिष का अस्तित्व वेदों जितना पुराना है। वेद-मंत्रों और वैदिक साहित्य में हमें उसके सूत्र बिखरे हुए मिलते हैं। इन सूत्रों की व्याख्या और उन पर किए गए आगे के विचारकों द्वारा अनुसंधान के ही फलस्वरूप इतने बृहद् शास्त्र का निर्माण हुआ। ऋग्वेद-संहिता के एक मंत्र में द्वादश राशियों की गणना से वर्ष के ३६० दिन गिने गए हैं। ऋग्वेद की यह राशि-चक्र-गणना ज्योतिष की अति प्राचीन स्थिति पर एक प्रामाणिक प्रकाश डालती है।[1]

---

१. ऋग्वेद संहिता, १, १६४, ११

मंत्रसंहिताओं में

वैदिक संहिताओं में नक्षत्रपुञ्ज, देवतापुञ्ज, नीहारिका आदि विषयों के नाम, रूप और आकृति का वर्णन मिलता है। आकाश-मंडल में ग्रहों की गति का अध्ययन और भूमंडल पर उनके प्रभाव का वर्णन, सभी की वैज्ञानिक व्याख्या वेद-मंत्रों में वर्णित है।[1]

डॉ० शामशास्त्री ने ज्योतिषशास्त्रविषयक प्राचीन ग्रन्थों का अनुशीलन कर उसके प्राचीनस्वरूप पर एक प्रामाणिक प्रकाश डाला है और यह सिद्ध किया है कि अयन, मलमास, क्षयमास, नक्षत्रभेद, सौरमास, चान्द्रमास आदि ज्योतिष-विषयक चर्चाओं का मूल लगभग वेदों जितना प्राचीन है।[2]

तैत्तिरीय संहिता में हमें द्वादश मासों का नाम क्रमशः मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस् और तपस्य लिखा हुआ मिलता है।[3] इसी संहिताग्रन्थ में इन बारह मासों को छह ऋतुओं में विभाजित किया गया है, जिनके नाम हैं : मधु-माधव : वसंत, शुक्र-शुचि : ग्रीष्म, नभस्-नभस्य : वर्षा, इष-ऊर्ज : शरद्, सहस्-सहस्य : हेमंत और तपस्-तपस्य : शिशिर।[4] इस संहिता में ऋतु को एक ऐसे पात्र का प्रतीक माना गया है, जो द्विमुखी होता है और जिसके इन मुखों का ज्ञान करना कठिन है।[5]

ऋग्वेद संहिता में हमें समय-ज्ञान की परिधि के लिए 'युग' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसकी व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने सतयुग और त्रेतादि का उल्लेख किया है।[6] तैत्तिरीय संहिता में पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यो, सूर्य और चंद्र आदि ग्रहों पर विचार करते हुए कहा गया है कि सूर्य आकाश-मंडल की परिक्रमा करता है; चंद्रमा नक्षत्र-मण्डल की और वायु अंतरिक्ष लोक की। वहीं अग्नि को पृथ्वीस्थानीय बताया गया है।[7]

विद्वानों के मतानुसार वैदिक युग में कृत्तिका नक्षत्र से गणना की जाती थी और कृत्तिका का प्रथम चरण ही संपातबिंदु समझा जाता था। अथर्ववेद में हमें अट्ठाईस नक्षत्रों के नाम और उनकी गणना का क्रम भी मालूम

---

१. तिलक : ओरिजन आर रिसर्चेज इन्टु दि ऐंटीक्विटी ऑफ वेदाज, पृ० १–९, १७३८

२. डॉ० शाम शास्त्री : वेदांग ज्योतिषका, भूमिका, पृ० १–२६

३. तैत्तिरीय संहिता १।४।१४ ४. वही, ४।४।१७ ५. वही, ६।५।३

६. ऋग्वेद संहिता भाष्य १।१०३।४; १।१५८।६ ७. तैत्तिरीय संहिता ७।५।१३

होता है।[1] नक्षत्र-निर्देश के अतिरिक्त ऋग्वेद में राशियों की संख्या बारह ही स्वीकार की गई है।[2]

वेदों की कुछ ऋचाओं में नक्षत्र शब्द सभी ताराओं के लिए प्रयुक्त हुआ है; जैसे : सर्वशक्तिमान् सूर्य के आगमन से नक्षत्र (तारे) और रात चोर की तरह भागते हैं।[3] किन्तु कुछ ऋचाओं में नक्षत्र शब्द विशेषरूप से उन ताराओं के लिए प्रयुक्त होने लगा था जो चंद्रमार्ग में पड़ते हैं; यथा : चंद्रमा ताराओं के बीच रहता है।[4] तैत्तिरीय संहिता के एक अनुवादक में सब नक्षत्रों के नाम गिनाये गए हैं। यहाँ भी नक्षत्र शब्द चन्द्रमार्ग में पड़नेवाले तारा-पुञ्जों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।[5] अथर्ववेद संहिता के एक लंबे प्रसंग से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि नक्षत्रों का अर्थ तारा-समूह ही लिया जाता था।[6] वैदिक संहिताओं में 'ग्रह' शब्द के व्यापक उल्लेख को देखकर[7] वेबर साहब का कथन है कि भारत में ही ग्रहों का आविष्कार हुआ होगा, क्योंकि उनके नाम विशेष रूप से भारतीय हैं।[8]

वैदिक साहित्य में

मंत्र संहिताओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य और विशेषतया ब्राह्मण-ग्रन्थों में ज्योतिषज्ञान-विषयक पर्याप्त सामग्री बिखरी हुई है। 'शतपथ ब्राह्मण' में सप्तर्षिमंडल को 'ऋक्ष' के नाम से कहा गया है[9]; ऋक् संहिता में इन्हीं ऋक्षों के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये जो ऋक्ष हैं, जो ऊपर आकाश में स्थित हैं और रात में दिखाई पड़ते हैं, दिन को कहाँ चले जाते हैं।[10] ब्राह्मण ग्रंथों में ग्रह-मंडल के विषय में विस्तार से चर्चाएँ मिलती हैं। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में कहा गया है कि बृहस्पति जब पहिले प्रकट हुआ था तब वह तिष्य (पुष्य) नक्षत्र के पास था।[11] 'शतपथ ब्राह्मण' में शुक्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शुक्र वही है जो चमकता है। वह चमकता है, इसीलिए उसको शुक्र कहा गया है।[12]

---

१. अथर्ववेद संहिता, १९।७ २. ऋग्वेद संहिता, १।१६४।११, ४९

३. ऋग्वेद संहिता १।५०।२; अथर्ववेद संहिता, १३।२।१७; २०।४७।१४

४. ऋग्वेद संहिता, १०।८५।२; अथर्ववेद संहिता, १४।१।२

५. तैत्तिरीय संहिता, ४।४।१० ६. अथर्ववेद संहिता, १९।७।१–५

७. वही, १९।९।७–१० ८. वेबर : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० २५१

९. शतपथ ब्राह्मण : २।१।२।४ १०. ऋग्वेद संहिता : १।२४।१०

११. तैत्तिरीय ब्राह्मण : ३।१।१ १२. शतपथ ब्राह्मण : ४।२।१

ज्योतिषशास्त्र

वैदिक संहिताओं से बढ़कर उनके व्याख्या रूप ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रंथों में हमें ज्योतिष के विभिन्न अंगों पर विस्तृत चर्चाएँ मिलती हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में एक नई बात हमें यह दिखाई पड़ती है कि ऋग्वेद में जहाँ ऋतुओं की संख्या छः दी गई है, वहाँ इस ब्राह्मण-ग्रन्थ में हेमन्त और शिशिर को एक ही ऋतु मानकर कुल पाँच ऋतुओं की गणना की गई है।[1] और वसंत को वर्ष का शिर, ग्रीष्म को दहिना पंख, शरद् को बाँया पंख, वर्षा को पूँछ और हेमन्त को मध्य भाग कहा गया है।[2] 'शतपथ ब्राह्मण' में ऋतुओं की उत्पत्ति और ऋतु-व्यवस्था के लिए समय नियत किया है।[3] तथा उत्तरायण और दक्षिणायन का विभाजन द्वादश मास को दृष्टि में रखकर किया गया है।[4] 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि ऋतुएँ जिसमें वास करती हैं उसे वर्ष या संवत्सर कहते हैं : 'ऋतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुम्।'[5] एक ब्राह्मण ग्रंथ में अनन्त लोकों की अविनश्वर सत्ता का वर्णन करने के उपरांत कुछ लोकों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।[6]

ब्राह्मण-ग्रंथों में नक्षत्रों के स्वरूप का बड़ा ही सुंदर वर्णन मिलता है। एक स्थान पर प्रजापति को नक्षत्र का प्रतीक बनाकर चित्रा, हस्त, स्वाति आदि नक्षत्र उसके विभिन्न अंग माने गये हैं।[7] उत्तरायण और दक्षिणायन के सम्बन्ध में कहा गया है कि संवत्सरस्वरूप पक्षी का विषुवान् तो शिर है और उसके पूर्वापर छः-छः मास उसके दो पंख हैं।[8]

'छान्दोग्य' उपनिषद् की एक कथा के अनुसार नारद जी ने सनत्कुमार ऋषि के पास जाकर ब्रह्मविद्या पढ़ने की इच्छा प्रकट की थी। ऋषि सनत्कुमार के यह पूछे जाने पर कि वे (नारद जी) कौन-कौन सी विद्याएँ अब तक पढ़ चुके हैं, नारद जी ने अपनी अधीत विद्याओं में नक्षत्रविद्या (ज्योतिष) और राशिविद्या (अंकगणित) का नाम लिया।[9] 'मुण्डकोपनिषद्' के एक दूसरे प्रसंग से हमें यह भी विदित होता है कि गणित और ज्योतिष आदि लौकिक ज्ञान से संबद्ध विषय भी आध्यात्मिक ज्ञान के सहायक समझे जाते थे और इसलिए प्रत्येक ब्रह्मज्ञान-जिज्ञासु इनका अध्ययन करना आवश्यक समझता था।[10]

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण १।१
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।४।१
३. शतपथ ब्राह्मण १।६।३
४. वही, २।१।३
५. वही, ६।७।१।१८
६. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।११।१
७. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।२
८. वही, १।२।३
९. छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।२।४
१०. मुंडकोपनिषद् १।१।३–५

महाभारत में

'महाभारत' के युग तक ज्योतिष का कितना विस्तार हो चुका था, इसकी सविस्तर चर्चाएँ हमें उसमें देखने को मिलती हैं। पांडवों के बनवास की अवधि का परिसीमन करने के लिए जब दुर्योधन ने यह प्रश्न भीष्म के सम्मुख रखा तो भीष्म ने कहा था '......समय के बढ़ने तथा नक्षत्रों के हटने से प्रति पाँचवें वर्ष दो अधिमास (मलमास) होते हैं। मेरी समझ में तो वन गए हुए इन पांडवों को तेरह वर्ष से पाँच मास और बारह दिन अधिक हो गए हैं।[1]

वेदांग ज्योतिष के समय में उत्तरायण का आरंभ धनिष्ठा नक्षत्र से होता था; किन्तु अयन के अन्तर के कारण (महाभारत) में यह स्थिति श्रवण नक्षत्र से आरम्भ हुई।[2] 'महाभारत' के एक श्लोक से 'ऐसा कहा जाता है कि 'पहिले दिन, फिर रात, तदनंतर शुक्ल इत्यादि पक्ष, मास, श्रवण इत्यादि नक्षत्र, और तब शिशिर आदि ऋतुएँ उत्पन्न हुईं,'[3] स्पष्टतया यह विदित होता है कि नक्षत्र गणना तब श्रवण से होती थी। महाभारत-युग में दिनाङ्क-गणना चन्द्रतिथि और सूर्यतिथि दोनों के अनुसार चलती थी।[4]

'महाभारत' में पाण्डवों के बनवासकाल में अपर्व पर ही सूर्यग्रहण की बात लिखी है।[5] महाभारत-युद्ध के समय एक ग्रहण के १३ दिन बाद ही दूसरे ग्रहण का योग पड़ा था, जिसको कि महा अनिष्ट का सूचक बताया गया है।[6] इतिहासकारों का मत है कि इतने सन्निकट दो ग्रहणों का योग बताना कवि की कल्पना है।[7] फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि उस समय ग्रहण योग के सम्बन्ध में विचार होने लग गया था। इसी प्रकार ग्रहों की भी बारीक चर्चाएँ 'महाभारत' में देखने को मिलती हैं।[8]

कल्पसूत्रों में

कल्पसूत्रों में भी ज्योतिष-विषयक चर्चाएँ विस्तार से लिखी हुई मिलती हैं।

---

१. महाभारत, विराटपर्व, ५२।३-४ — २. वही, आदिपर्व, ७१।३४
३. वही, अश्वमेधपर्व, ४४।२ — ४. वही, वनपर्व, २००।१२४-१२५
५. वही, सभापर्व, ७९।१९ — ६. वही, भीष्मपर्व, ३।३२
७. दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ११५; डॉ० गोरखप्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ७५-७६
८. महाभारत, भीष्मपर्व, ३।१२-१५, १७, १८, २७; १००, ३७; कर्णपर्व १४।१

ज्योतिषशास्त्र

'गृह्यसूत्र' में मासों के नक्षत्र-प्रयुक्त नाम आये हैं।[1] 'श्रौतसूत्र' में तो मधु-माधव मासनाम के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[2] 'श्रौतसूत्र' में वसंत से मासारंभ माना गया है।[3] 'गृह्यसूत्र' के अनेक स्थलों पर तिथिवाचक शब्दों का उल्लेख हुआ है।[4] नक्षत्रों के नाम भी उनमें बहुलता से लिखे हुए मिलते हैं।[5] 'गृह्यसूत्र' में ध्रुव, अरुन्धती और सप्तर्षि आदि ताराओं के नाम आये हैं।[6] 'गृह्यसूत्र' में अग्न्याधान के लिए नक्षत्र बताये गए हैं[7] और कहा गया है कि उत्तरप्रोष्ठपद, फाल्गुनी और रोहिणी नक्षत्रों में खेत जोतना चाहिए।[8] इसी प्रकार 'पारस्करसूत्र' में भी विवाह के संबंध में, खेत जोतने के संबंध में और नक्षत्रों के शुभाशुभ फल के विषय में अनेकविध चर्चाएँ देखने को मिलती हैं।[9]

निरुक्त और अष्टाध्यायी में

'निरुक्त' में मुहूर्त और क्षण नामक काल-परिमाणों के प्रसंग में ज्योतिष-विषयक अनेक बातें प्रकाश में आती हैं।[10] सप्तर्षियों का भी उसमें उल्लेख है।[11] दिन, रात्रि शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन की भी उसमें चर्चाएँ हैं[12]। इस संबंध की सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो 'निरुक्त' में ब्रह्मा के अहोरात्र का परिमाण बताये जाने वाले प्रसंग में मिलती है।[13]

पाणिनि व्याकरण में हमें ज्योतिष-विषयक अनेक नई बातों का पता लगता है। उसमें संवत्सर के अर्थ में प्रयुक्त वर्षनाम, हायन, मासों के नक्षत्रप्रयुक्त चैत्रादि नाम, कालवाचक नाड़ी शब्द, नक्षत्रनाम, ग्रह शब्द का प्रयोग आदि अनेक ज्योतिष-विषयक बातें देखने को मिलती हैं।[14]

---

१. गृह्यसूत्र २।१।१ २. श्रौतसूत्र ४।१२ ३. वही
४. गृह्यसूत्र २।३।१; २।४।१ ५. गृह्यसूत्र ३।५; श्रौतसूत्र १।४; गृह्यसूत्र २।१०।३
६. गृह्यसूत्र १।७।१२ ७. वही १।७।२२
८. वही १।१०।३ ९. पारस्करसूत्र ३।१२; २।१६; १।२१
१०. निरुक्त २।२५ ११. वही १०।२६
१२. वही १४।९ १३. वही १४।४
१४. अष्टाध्यायी : ५।८।८८; ७।३।१६; ४।१।२७; ५।१।१३०; ४।२।२१; ५।४।१५९; ३।१।११६; ४।२।२३; १।२।६१; १।२।६२; ३।१।१४३ आदि। इस संबध में विस्तार के लिए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का पाणिनि पर लिखा हुआ बृहद् प्रबंध ग्रंथ अवलोकनीय है

जैन साहित्य में

जैनियों का धार्मिक साहित्य चार अनुयोगों से विभाजित है, जिनमें से एक का नाम गणितानुयोग है। जैनाचार्यों ने संख्यान (अंकविद्या एवं ज्योतिष) का ज्ञान आवश्यक बताया है।[1] इसी संख्यानशास्त्र की महत्ता को महावीराचार्य अपने 'गणितसार-संग्रह' के आरंभ में इस प्रकार प्रकट करते हैं : "कृतर्थ, पूज्य और जगत् के स्वामी तीर्थकरों की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा से उपलब्ध संख्यानरूपी समुद्र में से कुछ सार निकाल कर मैं इस 'गणितसार-संग्रह' ग्रंथ को अपनी मति-शक्ति के अनुसार कहता हूँ, जो लघु होते हुए भी अनल्पर्थक है।[2]"

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्योतिष की समय-सीमाओं का ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत ही उसके प्राचीन अस्तित्व का पता लगाया जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र प्रकृति के तत्त्वों पर आधारित मानव-ज्ञान-अभिलाषा का अति-प्राचीन माध्यम रहा है। इतिहासकारों ने ज्योतिष का आविर्भाव मानवजाति के आविर्भाव के साथ-साथ स्वीकार किया है और इसी दृष्टि से उसको इन छह विभिन्न युगों में विभाजित किया है :[3]

ज्योतिषशास्त्र का काल विभाजन

१. अन्धयुग	:	आदिकाल से १००००	ई० पू० तक
२. उदयकाल	:	१००००–५००	ई० पू० तक
३. आदिकाल	:	५००	ई० पू० से ५०० ई० तक
४. पूर्व मध्यकाल	:	५००–१०००	ई० तक
५. उत्तर मध्यकाल	:	१०००–१६००	ई० तक
६. आधुनिक काल	:	१६००	ई० से अब तक

अन्धकार युग

दुनियाँ के प्रायः सभी देशों के इतिहास का आरंभ 'अन्धकार-युग' से होता है। इस अन्धकार-युग की सारी घटनाएँ, सारे क्रिया-कलाप यद्यपि

---

१. भगवती सूत्र ९०; उत्तराध्ययन सूत्र २५।७।८।३८

२. महावीर : गणितसारसंग्रह, अध्याय १, श्लोक ९–१९

३. नेमिचंद शास्त्री : भारतीय ज्योतिष, पृ० ४२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२ ई०

आदि-अन्तहीन होते हैं, तथापि इतिहासकारों ने उनका अस्तित्व दूसरे साक्षात्कृत-युगों से किसी भी अंश में कम नहीं माना है। इसीलिए 'अन्धकार-युग' का महत्त्व इतिहास के लिए बहुत बड़ा रहा है।

भारतीय ज्योतिष की विकास-परम्पराओं को आधार मानकर इतिहास-कारों ने उसका एक बहुत बड़ा अंश 'अन्धकार-युग' की देन के रूप में अलग रखा है। इस अंश का आधार आनुमानिक होते हुए भी असत्य नहीं हैं; ठीक उसी प्रकार, जैसे कि हम एक विशाल वट-वृक्ष की शाखाओं को सामने देखकर उसकी दीर्घायु का सारा दारोमदार अप्रत्यक्ष, धरती के अन्दर छिपे हुए, उसके मूल का अनुमान लगा लेते हैं।

आदि मानव की अनन्त जिज्ञासाओं में एक जिज्ञासा काल-ज्ञान, स्थिति-ज्ञान और दिशा-ज्ञान की भी थी, इसीलिए कि बिना इस जिज्ञासा का समाधान पाये उसके बहुत से दूसरे कार्य पूरे नहीं हो सकते थे। इसी जिज्ञासा के समाधान हेतु मनुष्य ने जब एकनिष्ठ होकर प्रयत्न किया तभी से ज्योतिष का उदय हुआ। मानव-जिज्ञासा के इसी सूत्ररूप की व्याख्या; भाष्य और वृत्ति में ही उत्तरोत्तर ज्योतिष का विकास होता गया। दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष और अयन आदि दैनिक जानकारी के विषयों का ज्ञान मनुष्य को बिना प्रयास ही उपलब्ध होता गया।

संसार के सभी देशों में ज्ञान के विभिन्न रूप वहाँ की प्रकृति के अनुरूप अंकुरित हुए हैं। भारत की मूल प्रकृति अध्यात्मवादी रही है। अतएव उसके समग्र शास्त्रों का मूल उसी अध्यात्म-भावना में समाविष्ट है। भारतीय ज्ञान के साक्षात् स्वरूप वहाँ के ऋषिगण ही ज्योतिषशास्त्र के पहले निर्माता भी हैं। अंधकार-युग का संपूर्ण ज्योतिषज्ञान अध्यात्मप्रिय ऋषियों की चिन्तनपूर्ण विचारधारा में मिला-जुला है। इस युग में ज्योतिषशास्त्र एक अस्पष्ट, अप्रधान और अस्वतंत्रावस्था में धर्म और दर्शन के साथ एकाकार था।

उदयकाल

ज्योतिषशास्त्र के इस उदय-युग की सीमा लगभग वैदिक संहिताओं के व्याख्यास्वरूप रचा गया वैदिक-साहित्य के निर्माण के आस-पास बैठती है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् प्रभृति वैदिक साहित्य के प्रधान विषयों में मास, ऋतु, वर्ष, अयन, युग, ग्रह, ग्रहण, नक्षत्र, विषुव, मान, दिन और रात संबंधी चर्चायें ही ज्योतिषशास्त्र के उदय की समर्थ सामग्री है। यहाँ से

ज्योतिष एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अपने मौलिक अस्तित्व की प्रतिष्ठा करते हुए प्रतीत होता है। जैनधर्म के द्वादशांग-साहित्य में ज्योतिषशास्त्र के विकासमान सिद्धान्तों का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक साहित्य की अंत्येष्टि के बाद षड्-वेदांगों के निर्माण का क्रम आता है। षड्वेदांगों के निर्माण का समय ७००-१०० ई० पू० के भीतर आ जाता है। षड्वेदांगों में ज्योतिष को एक स्वतन्त्र स्थान प्राप्त है। ५०० ई० पू० तक हमें कोई भी ऐसी कृति उपलब्ध नहीं होती है, जिसके आधार पर हम ज्योतिषशास्त्र की एक प्रामाणिक परम्परा को जोड़ सकें; किन्तु इतना निश्चित है कि इस समय तक ज्योतिष को भी दूसरे वेदांगों की भांति मान्यता मिल चुकी थी, जिसका प्रामाणिक इतिहास हम ५०० ई० पूर्व के बाद पाते हैं।

किन्तु इस पांचवीं शती ई० पूर्व से पहिले रचे गए साहित्य में और पांचवीं शती तथा उसके कुछ बाद ही निर्मित ज्योतिष-विषयक कुछ ग्रंथों के आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन ज्ञान-मना साहित्यिकों के समक्ष ज्योतिष की मान्यता एवं उसकी उपयोगिता स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई थी। यद्यपि इस समय की हमें कोई भी कृति नहीं मिलती है; फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि तब भी ज्योतिष पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की जाने लगी थी।

वेदचक्षूरूप सिद्धान्त, होरा और संहिता, इस त्रिस्कंधात्मक ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक अठारह महर्षियों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम हैं: सूर्य, पितामह, व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पौलिश, च्यवन, यवन, भृगु, और शौनक। यह नामावली 'कश्यपसंहिता' में दी गई है, किन्तु 'पराशर संहिता' में 'पुलस्त्य' नाम से एक दूसरे ही प्राचीन महर्षि का उल्लेख मिलता है।

'पराशरसंहिता' के अनुसार ज्योतिर्विद्या का यह महान् ज्ञान शिष्य-परंपरा द्वारा आगे विश्रुत हुआ। सूर्य से मायारुण, ब्रह्मा से नारद, व्यास से वैशंपायन आदि शिष्य, वशिष्ठ से माण्डव्य एवं वामदेव, पराशर से मैत्रेय और इसी प्रकार पुलस्त्य, गर्ग तथा अत्रि आदि से उनके शिष्यों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया।[1]

१. इसका विधिवत् वर्णन देखिए, सुधाकर द्विवेदी: गणकतरंगिणी (संस्कृत) पृ० १-२, बाराणसी, १९३३ ई०

ज्योतिषशास्त्र

इस ऋषि-महर्षि-परंपरा द्वारा प्रवर्तित ज्योतिर्विद्या-संबंधी ज्ञान जिन कृतियों के माध्यम से सुरक्षित होता हुआ आगे की पीढ़ियों तक पहुँचा, उन सभी कृतियों का आज अभाव है। उनमें से जो कुछ आज सुलभ भी हैं, वे भी मूल कृतियाँ न होकर उनका संस्करण मात्र हैं।

विमानविद्या पर 'पाराशर्यकल्प' नामक एक ग्रंथ संप्रति उपलब्ध है। उसके संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है वह पराशर की ही मूल कृति है; किन्तु इतना निश्चित है कि उनके वंशज किसी व्यास ने ही उसको लिखा है।

पराशर के एक शिष्य मैत्रेय का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनका एक शिष्य कौशिक भी था, जिसके ज्योतिषशास्त्र में कुछ प्रश्न लिखे मिलते हैं।[१]

'कश्यपसंहिता' और 'पराशरसंहिता' के उक्त प्रसंग में गर्ग को ज्योतिष-शास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों में गिना गया है। ज्योतिष का ही एक अंग वायसशास्त्र भी है। इस विषय पर 'वायसरुत' नामक गर्ग ऋषि कृत एक ग्रंथ उपलब्ध है।[२] ज्योतिष से ही संबद्ध वारिशास्त्र-विषयक एक आठ पत्रों का दूसरा ग्रंथ राजकीय पुस्तकालय नेपाल के हस्तलेख-संग्रह में सुरक्षित है।[३] गर्ग को 'देवर्षिचरित' का लेखक भी कहा गया है।[४]

महर्षि भरद्वाज ने 'यंत्रसर्वस्व' नामक एक कला-कौशल-विषयक विज्ञान-ग्रंथ लिखा था। उसका कुछ भाग बड़ौदा के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के विमान-विषयक एक अंश को श्री प्रियरत्न जी (स्वामी ब्रह्ममुनि जी) ने 'विमानशास्त्र' के नाम से प्रकाशित किया है।[५] इसी प्रकार तंजोर के हस्तलेख-संग्रह में भी अगस्त्य कृत एक फलित-विषयक प्राचीन ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।[६]

ये ग्रन्थ आज जिस रूप में उपलब्ध हैं उस दृष्टि से उनकी प्रामाणिकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है; किन्तु इतना

---

१. अद्भुतसागर, पृ० ५६९

२. बड़ौदा के हस्तलेख-संग्रह का सूचीपत्र, भाग २, पृ० १२४८, संख्या, १२०३४, ग्रंथांक १२०

३. नेपाल के राजकीय पुस्तकालय का सूचीपत्र, ग्रं० सं० २६३३, पृ० ७६

४. महाभारत, शां० २१२।३३

५. आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा दिल्ली से प्रकाशित

६. तंजौर भंडार का सूचीपत्र, सं० ११४८९-९२

निश्चित है कि ज्योतिषविद्या पर पुरातन समय में ही विचार होने लग गया था, और पुरातन विद्या-निकेतनों में ही ज्योतिर्विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन भी होने लग गया था।

पाणिनि के उक्थादिगण में एक गणसूत्र का उल्लेख हुआ है : 'द्विपदी ज्योतिषि',[1] जिससे ज्योतिषशास्त्र-सम्बन्धी किसी प्राचीन 'द्विपदी' (दो पदवाली) पुस्तिका का आभास मिलता है। इसके अतिरिक्त ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित उत्पात, संवत्सर और मुहूर्त विषय पर लिखे गए कुछ प्राचीन ग्रन्थों का निर्देश भी 'गणपाठ' में मिलता है।[2] नक्षत्रों का वर्णन पाणिनि ने तीन प्रकरणों में किया है,[3] जिससे विश्वास होता है कि पाणिनि के समय तक नक्षत्र-सम्बन्धी ज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर था।

आदिकाल

ज्योतिष को एक स्वतंत्र विषय के रूप में अग्रसर होने का सुअवसर इसी युग में मिला। पूर्ववर्ती दो युगों का दाय ग्रहण कर ज्योतिष के बीजरूप में बिखरे तत्त्वों को अंकुरित होने और विकसित होने का अवकाश भी इसी युग में प्राप्त हुआ। पहिले-पहल ज्योतिष की आवश्यकता वैदिक यज्ञों की संपन्नता तक ही सीमित थी; बाद में धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों की व्यवस्थाओं के लिए भी ज्योतिष को एक उपयोगी शास्त्र माना जाने लगा। वेदांग के रूप में ज्योतिष को मान्य स्थान इससे पूर्व ही प्राप्त हो चुका था; किन्तु उसकी सर्वाङ्गीण प्रगति इसी समय हुई।

यों तो षड्-वेदांगों की रचना के लिए विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत दिए हैं; किन्तु सामान्यतः ७००–६०० ई० पू० से उसका आरम्भ इतिहास की दृष्टि से उपयुक्त बैठता है। ज्योतिषवेदांग की रचना को मैक्समूलर ने ३०० ई० पूर्व, वेबर ने ५०० ई० पूर्व, ह्विटनी ने १३३८ ई० पूर्व और कोलब्रुक ने १४१० ई० पूर्व माना है। यद्यपि तत्कालीन नक्षत्र-गणना और संपात की गति का अनुसंधान करने पर वेदांगज्योतिष का निर्माणकाल १४०८ ई० पूर्व बैठता है; फिर भी उसका मूर्त रूप लगभग ५०० ई० पूर्व के आस-पास ही दृष्टिगोचर होता है।

ऋग्-यजु-अथर्व, इन तीनों संहिताओं से संबद्ध ज्योतिष ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद से

---

१. अष्टाध्यायी २।४।६०　　　　२. वही, ४।३।७३

३. वही, ४।२।३; ५, २१, २२; ४।३।३४–३७

संबंधित ज्योतिषवेदांग के संग्रहकर्ता लगभ नामक ऋषि को माना गया है। इस वेदांगज्योतिष में ३६ कारिकाएँ हैं। यजुर्वेदज्योतिष में ४९ कारिकाएँ हैं, जिनमें पूरी ३० कारिकाएँ ऋग्वेदज्योतिष की और शेष नवीन हैं। अथर्व-ज्योतिष में १६२ श्लोक संकलित हैं, जो कि फलादेश की दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण और पूर्ववर्ती कारिका-संग्रहों से बृहद् हैं।

इस युग में विरचित ज्योतिष की कुछ उच्चतम कृतियों में ऋग्-ज्योतिष यजुः-ज्योतिष और अथर्व-ज्योतिष उल्लेखनीय हैं। जैन-ज्योतिष की प्राकृत भाषा में उल्लिखित 'सूर्यप्रज्ञप्ति' है, जिस पर आचार्य मलयगिरि सूरि ने एक संस्कृत टीका लिखी है। प्राचीन जैन-ज्योतिष के मौलिक ग्रन्थों में 'चंद्रप्रज्ञप्ति' और 'ज्योतिषकरण्डक' का नाम भी उल्लेखनीय है। 'ज्योतिषकरण्डक' का रचना काल ४००–३०० ई० पूर्व बताया जाता है, जो संदिग्ध है।

पितामह सिद्धांत का परिवर्द्धित एवं परिवर्तित रूप 'लघुवाशिष्ठसिद्धांत' ९४ श्लोकों की एक कृति संप्रति उपलब्ध है,[1] जिसको कि डॉ० थीबो ने विष्णुचंद्र नामक किसी विद्वान् द्वारा संपादित बताया है। 'रोमक सिद्धांत' के व्याख्या-कार आचार्य लाटदेव हुए, जिसका रचनाकाल १००–२०० ई० के आसपास माना जाता है। 'पौलिशसिद्धांत' और 'सूर्यसिद्धांत' भी इसी युग की कृतियाँ हैं।

ज्योतिष के पुरातन आचार्यों में ऋषिपुत्र का नाम मिलता है, जिनके सिद्धांतों का उल्लेख 'बृहत्संहिता' की टीका में भट्टोत्पल ने किया है,[2] और जिसके उदाहरणों से ज्ञात होता है कि आचार्य वराहमिहिर, ऋषिपुत्र के ज्योतिष-विषयक विलुप्त ग्रंथ से सुपरिचित थे। इन्हें गर्ग मुनि का पुत्र बताया जाता है। इनके अतिरिक्त आर्यभट्ट प्रथम (४७६ ई० जन्म)[3] का 'आर्यभट्टीय' और 'तंत्रग्रंथ', मध्यदेश के राजा वयरसिंह के पुत्र कालकाचार्य (३०० ई०) कृत फुटकर रूप में उपलब्ध होने वाले, विलुप्त संहिता-ग्रन्थ के ज्योतिष-विषयक सिद्धांत, द्वितीय आर्यभट्ट (भास्कर के पूर्ववर्ती) का 'महाआर्यभट्ट सिद्धांत', विक्रमभट्ट के पुत्र लल्लाचार्य (४२१ ई०) का 'धीबृद्धिदतंत्र' नामक ग्रहगणितग्रन्थ और 'रत्नकोश' नामक मुहूर्तग्रन्थ, इस युग की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।[4]

---

१. दीक्षित : भारतीय ज्योतिष, (ज्योतिष-सिद्धान्त-काल), पृ० २१५

२. बृहत्संहिता २।३; २४।२

३. भारतीय ज्योतिष, पृ० २६३; भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ८१

४. भारतीय ज्योतिष, पृ० ३१३

काँचीनरेश सिंहवर्मा के २२ वें संवत्सर (३८० ई० श० सं०) में मुनि सर्वनंदि कृत किसी पुरातन प्राकृत ग्रन्थ के आधार पर सिंहसूरि का 'लोक विभाग' नामक संस्कृत ग्रंथ २२३० श्लोकपरिमाण का है।[१] इसी प्रकार दूसरे जैनाचार्य यतिवृषभ का गणित संबंधी दूसरा ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति' ४०० वि० की रचना है।[२]

पूर्व मध्यकाल

ज्योतिषशास्त्र के अर्जन-बर्द्धन और उसकी सर्वांगीण प्रगति के लिए ये पांच शतक बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। सिद्धान्त, संहिता और होरा जैसे ज्योतिष के विभिन्न भेदों का निर्माण और उनकी बारीकियों पर सूक्ष्म विचार होना इसी युग से आरंभ हो गया था। अंकगणित, बीजगणित और रेखा-गणित विषयक आश्चर्यकारी सिद्धान्तों के निर्माण का एकमात्र समय यही था। फलित ज्योतिष इस युग की प्रमुख देन है।

आचार्य वराहमिहिर इस युग के प्रवर्तक और प्रथम कोटि के विद्वान् हुए, जिनका स्थितिकाल लगभग पांचवीं शताब्दी के दो-चार वर्ष इधर-उधर बैठता है। यशस्वी सम्राट् विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से वराहमिहिर भी एक रत्न गिने जाते हैं। 'बृहज्जातक' वराहमिहिर के अगाध पांडित्य और अद्भुत ज्ञान का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यवन-होराशास्त्र के संकलन रूप में विरचित 'सारावली' नामक जातक-ग्रंथ के रचयिता आचार्य कल्याण वर्मा का समय ५७७ ई० के आस-पास है।[3] यह ग्रन्थ ढाई हजार श्लोकों का बताया जाता है। आचार्य वराहमिहिर के पुत्र (छठीं शताब्दी) पृथुयशा ने फलित ज्योतिष पर 'षट्पञ्चाशिका' ग्रंथ लिखा, जिस पर भट्टोत्पल ने एक टीका लिखी।

इस युग के प्रमुख आचार्य ब्रह्मगुप्त ५९८ ई० में हुए[४], जिन्होंने तीस वर्ष की अल्पायु में ही 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' नामक एक अद्भुत ग्रन्थ की रचना कर अपनी असाधारण ख्याति को अर्जित किया। ६७ वर्ष की आयु में

१. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३ २. वही, पृ० १०

३. भारतीय ज्योतिष, पृ० २९२; भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ११५ तथा फुटनोट २, ३

४. भारतीय ज्योतिष, पृ० ३००; इण्डियन एंटीक्वेरी, भा० १७, पृ० १९२, जुलाई, १८८८

एक दूसरे 'खण्डखाद्यक' नामक करण-ग्रन्थ की भी इन्होंने रचना की, जिसके नामकरण के साथ, श्रुति-परम्परा के अनुसार, ब्राह्मणधर्म और बौद्ध-जैन धर्मों के पारस्परिक धार्मिक द्रोह का अतीत युग याद आ जाता है। ब्रह्मगुप्त की उक्त कृतियाँ अरब में क्रमशः 'असिन्द हिन्द' और 'अलअर्कन्द' नामों से विख्यात हुईं।

'लघुमानस' नामक करण-ग्रन्थ के रचयिता आचार्य मुंजाल और 'ज्योतिष पटल' तथा 'गणितसारसंग्रह' के कर्ता जैनाचार्य महावीर इसी समय हुए। इस युग के अद्‌भुत टीकाकार विद्वान् भट्टोत्पल का नाम विशेपरूप से उल्लेखनीय है। ये प्रधानतः आचार्य वराहमिहिर के टीकाकार थे और यह सत्य है कि वराहमिहिर के व्यक्तित्व को असामान्य ख्याति तक पहुँचाने के लिए भट्टोत्पल की टीका का नाम उल्लेखनीय है। 'प्रश्नज्ञान' नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ भी इन्होंने लिखा था। भट्टोत्पल ८८८ ई० में हुए। इसी प्रकार चन्द्रसेन नामक एक दाक्षिणात्य ज्योतिर्विद् ने लगभग चार हजार श्लोकों का एक 'केवल-ज्ञान-होरा' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसका दक्षिण में अच्छा प्रचार है।

श्रीपति नामक एक ज्योतिर्विद् हुए, जिन्होंने लगभग इस युग के सभी ग्रंथकारों में से सर्वाधिक ग्रन्थ लिखे। इनका स्थितिकाल लगभग दशम शताब्दी के उत्तरार्ध था। गणित ज्योतिप-विषयक इनके ग्रन्थों के नाम हैं: 'पाटीगणित', 'बीजगणित' तथा 'सिद्धान्तशेखर'; और फलित-विषयक ग्रन्थों के नाम हैं: 'श्रीपतिपद्धति', 'रत्नावली', 'रत्नसार' एवं रत्नमाला। सिंहतिलक नामक एक जैनाचार्य ने इनके प्रथम ग्रन्थ पर 'तिलक' नामक टीका लिखी। कर्नाटकवासी दाक्षिणात्य विद्वान् श्रीधराचार्य लगभग आचार्य श्रीपति के ही समकालीन हुए। इन्होंने 'गणितसार', 'ज्योतिर्ज्ञान' ग्रन्थों के अतिरिक्त एक ग्रन्थ 'जातकतिलक' कन्नड़ भाषा में भी लिखा।

इन ज्योतिर्विद् आचार्यों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के ज्योतिष ग्रंथ 'आय-ज्ञानतिलक' के लेखक आचार्य भट्टवोसरि हुए। जैनाचार्य पद्मनंदि (१०वीं ई०) का 'जम्बुद्दीपपण्णत्ति' नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना भी इसी समय हुई।

उत्तर मध्यकाल (व्याख्या युग)

ज्योतिषशास्त्र का यह युग व्याख्या या आलोचना का युग था। वैसे मौलिक ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गए; किन्तु प्रधानता व्याख्याग्रंथों की ही रही।

इसी युग के महान् आविष्कारों में गोल-गणित का आविर्भाव और केंद्राभिकर्षिणी तथा केंद्रापसारिणी क्रियात्मक शक्तियों का अनुसंधान प्रमुख है। इस युग के ज्योतिर्विदों ने पृथिवी को स्थिर और सूर्य को गतिशील सिद्ध किया। ग्रह-गणित-विषयक लम्बन, यति, आयनवलन, आक्षवलन, आयनदृक्कर्म, आक्षदृक्कर्म, भूमाबिंबसाधन प्रभृति विभिन्न तरीकों द्वारा आकाश-मंडलीय ग्रहों की युक्ति का मिलान किया गया। यंत्रों का निर्माण और उनके द्वारा ग्रहवेधनिरीक्षण के तरीकों पर भी पहिले-पहिल प्रकाश इसी युग में डाला गया।

गणित ज्योतिष के अतिरिक्त फलित ज्योतिष के विभिन्न अंगों का निर्माण भी इस युग में हुआ। जातक, मुहूर्त, सामुद्रिक, ताजिक, रमल और प्रश्न जैसे फलित ज्योतिष के अंग पहिले-पहल इसी युग में निर्मित हुए। यवन-संस्कृति के संपर्क से ताजिक और रमल, इन दो विषयों की विशेष उन्नति हुई।

ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में भास्कराचार्य का नाम शीर्षस्थानीय ज्योतिर्विद् आचार्यों की कोटि में लिया जाता है। वस्तुतः वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के बाद भास्कराचार्य ही एक ऐसे अद्भुत विद्वान् हुए हैं, जिनके कारण भारतीय ज्योतिष को विश्वव्यापी ख्याति और विपुल यश उपलब्ध हुआ है। इनका स्थितिकाल ११९४ ई० है। 'सिद्धान्तशिरोमणि' इनका प्रमुख ग्रन्थ है, जिसका आधार ब्रह्मगुप्त और पृथूदकस्वामी के सिद्धान्त हैं। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों आर्यभट्ट, लल्ल और ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्तों की इन्होंने आलोचना की है। 'मुहूर्तचिन्तामणि' की 'पीयूषधारा' टीका में उद्धृत इनके एक फलित-विषयक ग्रन्थ का भी पता चलता है, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। भास्कराचार्य सिद्धहस्त कवि भी थे।

जैनाचार्य दुर्गदेव का स्थितिकाल १०३२ ई० के लगभग था। इन्होंने 'अर्धकांड' और 'रिट्ठसमुच्चय' ग्रन्थ लिखे। एक दूसरे जैनाचार्य अभय प्रभुदेव ने १०२० ई० के लगभग 'आरंभसिद्धि' (व्यवहारचर्या) ग्रन्थ लिखा, जिस पर के सोलहवीं शताब्दी के आस-पास हंसगणि ने टीका लिखी। मल्लिषेण एक तीसरे जैनाचार्य का समय १०४३ ई० है। इन्होंने 'आर्यसद्भाव' ग्रन्थ लिखा।

दाक्षिणात्य विद्वान् राजादित्य, नरपति विष्णुवर्धन के राज-पंडित ११२० ई० में हुए, जिनको कि 'कर्णाटक-कविचरित' नामक ग्रन्थ में कन्नड़देशीय गणित-विषयक प्रथम ग्रन्थ का रचयिता बताया गया है। इनके कन्नड़ भाषा में लिखे हुए ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ हैं: 'व्यवहार-गणित',

'क्षेत्र गणित', 'व्यवहाररत्न', 'जैनगणितसूत्र-टीका, 'चित्रह सुगे' और 'लीलावती'; और जो सभी उपलब्ध हैं।

मिथिला-नरेश लक्ष्मणसेन के पुत्र बल्लालसेन ने राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद ११६८ ई० में 'अद्भुतसागर' ग्रन्थ की रचना की। यह एक संग्रह-ग्रंथ है, जिसमें पूर्ववर्ती सभी ज्योतिर्विदों के सिद्धान्त संगृहीत हैं और जिसकी श्लोकसंख्या लगभग आठ हजार है।

श्रीपति के ग्रंथ के टीकाकार पद्मप्रभु सूरि ने १२९४ ई० में 'भुवन-दीपक' नामक एक महत्त्वपूर्ण लघु ग्रन्थ लिखा। इनके अतिरिक्त नरचन्द्र उपाध्याय (१३२४ ई०) के 'बेड़ाजातक-वृत्ति', 'प्रश्नशतक', 'प्रश्नचतुर्विंशतिका', 'जन्मसमुद्र', 'लग्नविचार', 'ज्योतिषप्रकाश'; अट्ठकवि (१३०० ई०) का 'अट्ठमत'; फीरोजशाह तुगलुक के प्रमुख सभापंडित महेंद्रसूरि कृत 'यंत्रराज' (१२९२ ई०); केशव (१४५६ ई०) के 'ग्रहकौतुक', 'वर्षग्रहसिद्धि', 'तिथिसिद्धि', 'जातकपद्धति', 'जातकपद्धतिविवृति', 'ताजिकपद्धति', 'सिद्धान्तवासनापाठ', 'मुहूर्ततत्त्व', 'गणितदीपिका' आदि, ग्रंथों का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य केशव के पुत्र आचार्य गणेश दैवज्ञ (१५१७ ई०) एक बहुश्रुत विद्वान् हुए, जिन्होंने १३ वर्ष की अल्पायु में ही 'ग्रहलाघव' जैसे कठिनतम ग्रंथ की रचना कर अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। 'लघुतिथि-चिन्तामणि', 'बृहत्तिथि-चिन्तामणि', 'सिद्धान्त-शिरोमणि-टीका', 'लीलावती-टीका', 'विवाह-बृन्दावन-टीका', 'मुहूर्ततत्त्व-टीका', 'श्राद्धादिनिर्णय', 'छन्दार्णवटीका', 'सुधीरञ्जनी-तर्जनी-यंत्र', 'कृष्णजन्माष्टमी-निर्णय', 'होलिकानिर्णय' आदि अनेक ग्रंथों की आचार्य गणेश दैवज्ञ ने रचना की।

नृसिंह दैवज्ञ के पुत्र ढुण्ढिराज (१५४१ ई०) का 'जातकाभरण' जिस प्रकार अपने कलेवर में बृहद् है, उसी प्रकार अपने विषय का भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। तदनंतर आनंद दैवज्ञ के पुत्र नीलकंठ दैवज्ञ ने अरबी-फारसी भाषा के ज्योतिषग्रन्थों के आधार पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'ताजिक नीलकंठी' का निर्माण किया। आचार्य नीलकंठ के अनुज राम दैवज्ञ (१५२२ ई०) ने भी 'मुहूर्त-चिन्तामणि' नामक एक अच्छे ग्रंथ को रचा, जो अधिक विख्यात है। श्रीपति की 'रत्नमाला' का इस ग्रंथ पर प्रभाव है। श्रुतिपरंपरा है कि इन्होंने अकबर की आज्ञा से 'रामविनोद' और टोडरमल की प्रसन्नता के लिए 'टोडरानंद' नामक ज्योतिषविषयक दो ग्रंथों का निर्माण किया था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है।

'ग्रहलाघव' के टीकाकार मल्लारि, पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में हुए। 'मुहूर्तमार्तण्ड' के रचयिता एक नारायण पंडित का स्थितिकाल १५७१ ई० था और 'केशवपद्धति' के टीकाकार दूसरे नारायण पंडित १५८८ ई० के आस-पास हुए। 'सूर्यसिद्धान्त' की एक विद्वत्तापूर्ण टीका 'गूढार्थप्रकाशिका' के रचयिता रंगनाथ का समय १५७५ ई० है।

इस परम्परा के दूसरे टीकाकारों में गोविन्द दैवज्ञ और नृसिंह दैवज्ञ का नाम भी उल्लेखनीय है। गोविन्द दैवज्ञ ने 'मुहूर्तचिन्तामणि' पर एक 'पीयूषधारा' टीका लिखी, जो कि मौलिक ग्रंथ की भाँति अपना स्वतंत्र महत्त्व रखती है। नृसिंह दैवज्ञ ने 'सूर्यसिद्धान्त' और 'सिद्धान्तशिरोमणि' पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं।

इन ग्रंथकारों एवं टीकाकारों के अतिरिक्त इस युग के शतानंद, केशवार्क, कालिदास, महादेव, गंगाधर, भक्तिलाभ, हेमतिलक, लक्ष्मीदास, ज्ञानराज, अनन्तदैवज्ञ, दुर्लभराज, हरिभद्रसूरि, विष्णुदैवज्ञ, सूर्यदैवज्ञ, जगदेव, कृष्ण-दैवज्ञ, रघुनाथशर्मा, गोविन्ददैवज्ञ, विश्वनाथ, विट्ठलदीक्षित, शिवदैवज्ञ, समन्तभद्र, बलभद्रमिश्र और सोमदैवज्ञ का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपने मौलिक ग्रंथों और टीका-ग्रन्थों के द्वारा इस युग का मान बढ़ाया।

आधुनिक काल

भारतीय ज्योतिष की पूर्वागत प्रगति मध्ययुग में आकर अवरुद्ध हो गई थी। उसका कारण यवन-साम्राज्य की प्रतिकूल परिस्थितियाँ थीं, जिनके आघात और आक्रमणों से भारतीय ज्योतिषियों की सारी कामनाएँ एवं सारे उत्साह जाते रहे। यवन-संस्कृति के संपर्क से भारतीय ज्योतिष को पहिले-पहल तो अवश्य ही एक नई दिशा में बढ़ने का मौका मिला, जिसके फल-स्वरूप कि यवन-हिन्दू ज्योतिषियों ने मिलकर सर्वथा नवीन सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की; किन्तु यह स्थिति अल्पकालीन ही रही।

इधर पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में अवश्य ही भारतीय ज्योतिष में नई प्रणालियों का सूत्रपात हुआ; किन्तु उसकी जो पुरानी परंपरा थी वह आगे बढ़ने के बजाय प्रायः विलुप्त सी होती गई। इस बीच भारतीय ज्योतिष में अनुवादों के माध्यम से नई पद्धतियों की स्थापना हुई। यह अनुवाद अंग्रेजी से किया गया है। रेखागणित, बीजगणित और त्रिकोणज्यामिति विषयक आधुनिक ग्रंथों का मूल आधार अंग्रेजी ही है। ग्रह-मण्डलीय सम्बन्धी नये

शोधकार्य अंग्रेजी-ज्योतिष के ही माध्यम से हिन्दी में आए। पश्चात्य ज्योतिषियों के वैज्ञानिक विवेचनों के आधार पर भारतीय विद्वानों ने सौर-जगत् पर भी प्रकाश डाला।

आधुनिक युग, पाश्चात्य ज्योतिष के माध्यम से, भारतीय ज्योतिष के सिद्धांतों के वैज्ञानिक विवेचन का युग है, जिसे हम भारतीय ज्योतिष का नवीनीकरण युग कह सकते हैं। इस युग में एक ओर तो ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गईं, और दूसरी ओर पाश्चात्य विज्ञान के संपर्क से नये प्रयोग किये गये।

यद्यपि इस युग के कुछ ग्रन्थकारों का उल्लेख हम पीछे भी कर चुके हैं तथापि भारतीय ज्योतिष के आधुनिक युग का आरंभ हम ज्ञानराज से निर्धारित करते हैं। ज्ञानराज ऐसे विद्वत्कुल से प्रसूत हैं, जिनकी वंशपरम्परा आजतक पूर्ववत् बनी हुई है। इनके पिता का नाम नागनाथ और पूर्व पुरुष का नाम राम था। इनका मूल घराना देवगिरि (दौलताबाद) का था। स्व० श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने इनके वर्तमान वंशज श्री काशीनाथ शास्त्री से उनके कुल के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करके अपनी पुस्तक में उसका पूरा विवरण दिया है।[1] ज्ञानराज शक संवत् १४२५ में हुए।

इनकी प्रमुख रचना 'सिद्धान्तसुन्दर' है, जिस पर कि उनके पुत्र चिंतामणि ने एक टीका लिखी है। इनके नाम से जातक, साहित्य और संगीत विषयक एक-एक ग्रन्थ लिखे जाने का भी उल्लेख मिलता है।[2] श्री काशीनाथ शास्त्री भी न्याय-व्याकरण और ज्योतिष के बड़े भारी विद्वान् हैं।

ज्ञानराज के दो पुत्र थे। उनके प्रथम पुत्र चिन्तामणि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरे पुत्र का नाम सूर्य था। इनका स्थितिकाल शक संवत् पंद्रहवीं शताब्दी का मध्य है। इन्होंने भास्कराचार्य के बीजगणित पर भाष्य लिखा, जिसमें इन्होंने स्वयं को सूर्यदास और अपने भाष्य-ग्रन्थ को 'सूर्यप्रकाश' कहा है। इन्होंने 'लीलावती' पर 'गणितामृत-कूपिका' टीका १४६० शक० में लिखी, जब कि इनकी आयु लगभग ३०-३१ वर्ष की थी। इनके बनाये ग्रन्थ हैं : 'बीज-टीका', 'लीलावती-टीका', 'श्रीपतिपद्धतिगणित', 'बीजगणित', ताजिकग्रन्थ, काव्यद्वय और 'बोध-सुधाकर' (वेदांतग्रन्थ)। कोलब्रुक ने इनके तीन ग्रंथों का उल्लेख और किया है, जिनके नाम है : 'गणितमालती', 'सिद्धांतशिरोमणि' और 'सिद्धान्तसंहिता-सारसमुच्चय'।[3]

---

१. दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ३७०-३७२   २. वही, पृ० ३७४

३. मिसलेनियस एसिएज, सेकेण्ड एडीशन, वाल्यूम २, पृ० ४५१

श्रीकांत के पुत्र अनंत ने शक १४४७ में 'सुधारस' नामक एक पचांग-ग्रन्थ का निर्माण किया। पं० सुधाकर द्विवेदी ने इनको 'मुहूर्तमार्तण्ड' के रचनाकार नारायण का पिता बताया है; किन्तु श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने इसमें संदेह प्रकट किया है।[1] अनन्त के उक्त ग्रन्थ पर ढुंढिराज की 'सुधारसकरण-चषक[2]' टीका है। ढुण्ढिराज का नाम एक टीकाकार के अतिरिक्त अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखने में प्रसिद्ध है। उन्होंने 'जातकाभरण' 'ग्रहलाघवोदाहरण', 'ग्रहफलोपपत्ति', 'पंचांगफल' और 'कुण्डलकल्पलता' आदि ग्रन्थ लिखे। पूर्वोक्त विद्वान् ज्ञानराज इनके गुरु थे। इनका संभावित स्थिति-काल शक० १५०० से कुछ पूर्व, कदाचित् ज्ञानराज के पुत्र सूर्य के लगभग था।[3] ये देवगिरि (दौलताबाद) के निवासी थे।

'ताजिक नीलकंठी' के रचयिता नीलकंठ का समय १६वीं शताब्दी है। अपने इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने शक १५०९ (१५८७ ई०) में की थी। ये शाहंशाह अकबर के दरबारी थे। सुधाकर द्विवेदी के कथनानुसार मिथिला में प्रचलित 'जातकपद्धति' के लेखक भी नीलकंठ ही थे। इन्होंने शक १४८० में 'मध्यमग्रहसिद्धि' ग्रंथ का निर्माण किया।

अंनत (द्वितीय) पण्डित ने बोपदेव के पुत्र महादेव कृत 'कामधेनु' (शक १२७९) पर एक टीका लिखी। इस टीका का समय लगभग शक १४८० है। अनंत ने एक ग्रंथ और भी लिखा 'जातकपद्धति'। राम इनके पुत्र थे। राम दैवज्ञ ने अपनी 'मुहूर्तचिन्तामणि' में अपना वंशक्रम इस प्रकार दिया है।[4]

१. दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ३७६

२. आफ्रेक्ट : कैटेलोगस कैटेलोगरम तथा सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी का सूचीपत्र

३. डॉ० गोरखप्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० २११

४. दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ३७९

नीलकण्ठ और राम के ग्रंथों से प्रतीत होता है कि उनके पितामह चिंतामणि बड़े विद्वान् थे। राम दैवज्ञ ने १५२२ शक में 'मुहूर्तचिंतामणि' की रचना की, जिसकी प्रसिद्धि और लोकप्रियता आज भी बनी है। नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द ने 'मुहूर्तचिन्तामणि' पर शक १५२५ में 'पीयूषधारा' नामक एक सुन्दर टीका लिखी है। यह पण्डितवंश विदर्भ (बरार) का निवासी था। गोविंद के पुत्र माधव ने भी काशी में रहकर 'नीलकंठी' पर 'शिशुबोधिनी-समाविवेकविवृति' नामक टीका १५५५ शक[1] में लिखी। ये बादशाह जहाँगीर के कृपाभाजन थे। ये ज्योतिष, व्याकरण, काव्य, साहित्य आदि अनेक विषयों में निपुण थे। १४७१ शक में ये पैदा हुए।

'सुबोधमंजरी' नामक एक करणग्रन्थ के रचयिता रघुनाथ शक १४८४ में हुए। इसी नाम के एक दूसरे विद्वान् का स्थितिकाल शक १४८७ है, जिन्होंने 'मणिप्रदीप' नामक करणग्रन्थ लिखा। इसके पिता का नाम सोमभट्ट था। लगभग १४२० शक में कृपाराम ने दो-तीन टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वास्तु-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ लिखा। दिनकर द्वारा शक १५०० के आसपास रचित 'खेटकासिद्धि' और 'चन्द्रार्की' नामक दो ग्रन्थों का पता दीक्षित जी ने लगाया है।[1] 'मुहूर्तमार्तण्ड' के रचयिता नारायण के पुत्र गंगाधर ने शक १५०८ में 'ग्रहलाघव' की 'मनोरमा' नामक टीका लिखी है। इनका वंशक्रम है : अनंत-कृष्ण-हरि-अनंत-नारायण-गंगाधर। रामभट्ट ने शक १५१२ में 'रामविनोद' नामक करणग्रन्थ की रचना, अकबर के प्रधान महाराज रामदास के आज्ञानुसार की। डॉ० भांडारकर की रिपोर्ट में इसका निर्माणकाल अशुद्ध दिया है।[2] श्रीनाथ पंडित ने १५१२ शक में 'ग्रहचिन्तामणि' नामक करणग्रन्थ लिखा।[3]

विदर्भ के गोलग्राम निवासी विष्णु पंडित ने 'सौरपक्षीय' ग्रन्थ १५३० शक में लिखा, जिस पर इनके भाई विश्वनाथ ने टीका लिखी। विष्णु पण्डित प्रसिद्ध विद्वद्वंश के थे। 'सिद्धांततत्त्वविवेक' के रचियता कमलाकर भी इसी वंश में हुए। उन्होंने अपना वंशवृत्तांत इस प्रकार दिया है :[4]

---

१. ग्रंथों के लिए देखिए : डेक्कन कालेज लाइब्रेरी का संग्रह, ग्रन्थ-संख्या ३०३ (१८८२-८३ ई०)

२. भांडारकर खोज रिपोर्ट, सन् १८८३-८४, पृ० ८४

३. डेक्कन कालेज लाइब्रेरी का संग्रह, ग्रंथ-सं० ३०५ (१८८२-८३ ई०)

४. सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित सिद्धान्ततत्त्वविवेक, पृ० ४०७, वाराणसी
   दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ३८५
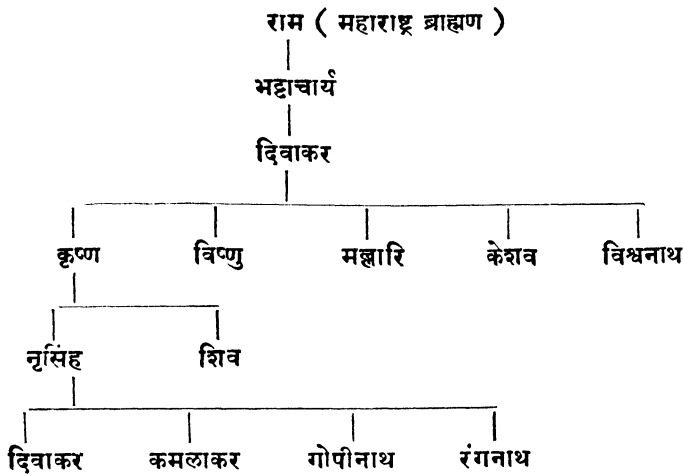
विष्णु के छोटे भाई मल्लारि ने 'ग्रहलाघव' पर एक सुन्दर टीका लिखी है। इन्हीं के अनुज विश्वनाथ विख्यात टीकाकार हुए। इनकी लिखी हुई 'ताजिक नीलकंठी' पर 'समातंत्र प्रसादिका' (१५५१ शक) बड़ी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'सूर्यसिद्धान्त' पर 'गहनार्थप्रकाशिका', 'सिद्धान्तशिरोमणि-टीका', 'करणकुतूहल-टीका', 'मकरंद-टीका', 'ग्रहलाघव-टीका', 'पातसारणी-टीका', 'अनंतसुधारस-टीका', 'रामविनोदकरण-टीका', 'सौरपक्षीय टीका', 'केशवी-जातक-पद्धति-टीका', आदि ग्रंथ लिखे। आफ्रेक्ट की सूची में इनके नाम से कुछ टीका-ग्रन्थों का उल्लेख है। वे हैं : 'सोमसिद्धान्त-टीका', 'तिथिचिंतामणि-टीका', 'चन्द्रमानतंत्र-टीका', 'बृहज्जातक-टीका', 'श्रीपतिपद्धति-टीका', 'वशिष्ठ-संहिता-टीका' और 'बृहत्संहिता-टीका'। ये सभी ग्रंथ इन्होंने काशी में लिखे। ज्योतिष के इतिहास में इन्हें भट्टोत्पल जैसे प्रख्यात टीकाकार का समकक्षी विद्वान् माना जाता है।

कृष्ण के ज्येष्ठ पुत्र नृसिंह ने 'सूर्यसिद्धान्त' पर (१५३३ शक में 'सौर-भाष्य' नामक टीका और 'सिद्धान्तशिरोमणि' पर 'वासना-वार्तिक' नामक टीका १५४३ शक में लिखी। इनका जन्म १५०८ शक में हुआ। ये अच्छे मीमांसक भी थे। इनके छोटे भाई शिव ने 'अनंतसुधारस' नामक एक टीका लिखी। एक मुहूर्तग्रंथ 'मुहूर्तचूडामणि' की भी इन्होंने रचना की। 'जन्मचिंतामणि' के रचयिता राम दैवज्ञ के पुत्र शिव से ये भिन्न थे।

नृसिंह के प्रथम पुत्र दिवाकर का जन्मकाल शक १५२८ है। १९ वर्ष की

अवस्था में इन्होंने 'जातकमार्गपद्म' (पद्मजातक) नामक ग्रंथ बनाया। इन्होंने 'केशवीजातकपद्धति' पर 'प्रौढमनोरमा' टीका (१५४८ शक में) और 'मकरंदसारिणी' पर 'मकरंदविवरण' (१५४९ शक) लिखा। कमलाकर इनके छोटे भाई थे। ये ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् हुए। इनका जन्म शक १५३० (१६०८ ई०) हुआ। 'सिद्धांततत्त्वविवेक' इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। 'सिद्धांत-सार्वभौम' के रचयिता मुनीश्वर से इनका बड़ा विरोध रहा। ये दोनों समकालीन थे। मुनीश्वर की 'भंगी' का कमलाकर के कनिष्ठ बंधु रंगनाथ ने 'भंगी-विभंगी' नाम से खंडन किया और मुनीश्वर ने उसका प्रति-खंडन किया।[1] 'सिद्धान्ततत्त्वविवेक' पर पं० गंगाधर मिश्र की टीका है।

विदर्भ के दधिग्राम में एक दूसरा विख्यात, विद्वद्वंश हुआ, जिसका हवाला दीक्षित जी ने इस प्रकार दिया है :[2]
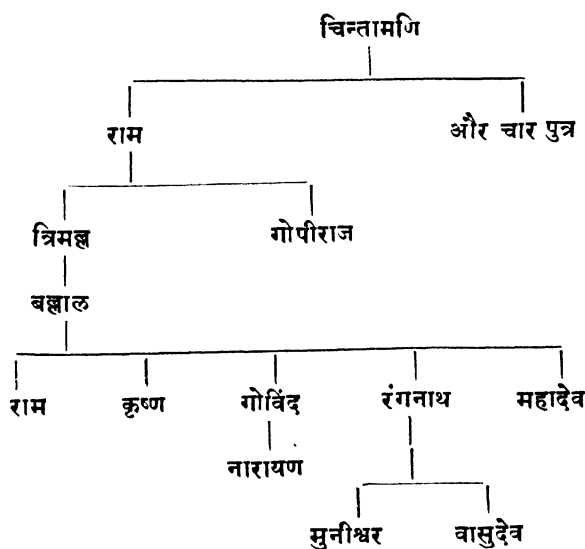
कृष्ण और मुनीश्वर ने लिखा है कि चिन्तामणि के पुत्र राम को इतना अच्छा भविष्य-ज्ञान था कि विदर्भ देश के तत्सामयिक राजा उनके आज्ञानुसार चलते थे। इनका समय लगभग शक १४४० था। बल्लाल काशी चले आये थे। और उसके बाद उनके वंशज यहीं रहे। रंगनाथ ने 'सूर्य-सिद्धान्त' की टीका में लिखा है कि बल्लाल के ज्येष्ठ पुत्र राम ने 'अनंतसुधारस' की

१. गणकतरंगिणी, पृ० ९२   १. दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ३८९

उपपत्ति लिखी। राम का स्थितिकाल शक १५५७ था। बल्लाल के दूसरे पुत्र कृष्ण इस वंश के सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त विद्वान् हुए। इन्होंने भास्कराचार्य के 'बीजगणित' पर 'बीजनवांकुर' नाम्नी टीका लिखी। इनके टीकाग्रन्थ का समय लगभग शक १५००-१५३० है। सुधाकर द्विवेदी ने इनके 'छादकनिर्णय' नामक ग्रंथ को प्रकाशित किया है।

गोविन्द के पुत्र नारायण ने 'केशवी-जातक-पद्धति' की टीका लिखी। इन्हीं के वंशज रंगनाथ ने 'सूर्यसिद्धांत' पर 'गूढार्थप्रकाशिका' टीका लिखी। इनके पुत्र मुनीश्वर के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं: 'लीलावतीविवृति', 'सिद्धान्तशिरोमणि-मरीचि' और 'सिद्धान्तसार्वभौम'। इनका दूसरा नाम विश्वरूप भी था। इनका जन्मकाल शक १५२५ था। ये शाहजहाँ के आश्रित थे।

कुरुक्षेत्र के निकट के निवासी नित्यानंद पण्डित ने विक्रमी सम्बत् १६९६ (१६३९ ई०) 'सर्वसिद्धांतराज' नामक ग्रंथ की रचना की। तदनंतर शक १५७५ में महादेव के पुत्र कृष्ण ने 'करणकौस्तुभ' लिखा। शक १५८० में काश्मीरवासी शंकर के पुत्र रत्नकण्ठ ने 'पंचांगकौस्तुभ' की रचना की। 'वार्षिकतन्त्र' नामक एक ज्योतिष ग्रंथ को दीक्षित जी ने शोलापुर से प्राप्त किया था। वह विद्वगण की कृति है। इस ग्रंथ की रचना शक १६०० से पहिले की है। इसी प्रकार जटाधर ने शक १६२६ में 'फत्तेहप्रकाश' और एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण दादाभट्ट ने १६४१ शक में 'सूर्यसिद्धांत-किरणावली' लिखी। दादाभट्ट के पुत्र नारायण हुए। उन्होंने 'होरासारसुधानिधि', 'नरजातकव्याख्या', 'गणकप्रिया', 'स्वरसागर' और 'ताजकसुधानिधि' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इनका रचनाकाल शक १६६० था।

जे० बर्जेस के मतानुसार यूरोपियन लोगों को हिन्दू ज्योतिष का ज्ञान स्याम से उपलब्ध एक ज्योतिष ग्रंथ के द्वारा हुआ। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध के जो हवाले दिए गए हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आधार 'सूर्यसिद्धान्त' अथवा आर्यभट का अनुपलब्ध करणग्रन्थ था। इसी प्रसंग में बर्जेस साहब ने भारतीय ज्योतिष-विषयक कुछ नये ग्रन्थों की सूचनाएँ दी हैं। उनमें डल्लुमुडयन (११६५ शक०) कृत करणग्रन्थ, वररुचि (१४१२ शक०) कृत 'वाक्यकरण', अज्ञातनामा लेखकों के (१४१२ शक) 'पंचांगशिरोमणि', 'ग्रहतरंगिणी' (१६१८ शक), 'सिद्धांतमंजरी' (१६१९ शक), मल्लिकार्जुन (११०० शक) कृत करणग्रंथ, वालादित्य कल्लू (१३७८ शक) का करणग्रंथ, अज्ञात लेखकों के 'ब्रह्मसिद्धांत', 'विष्णुसिद्धान्त'; केशव

(१५०० ई०) कृत 'सिद्धांतलघुखमाणिक', राघव (१६१३ शक) कृत 'सूर्य-सिद्धांतरहस्य', शत्रुजित राजा के ज्योतिषी मथुरानाथ (१५३१ शक) कृत 'सूर्यसिद्धांतमंजरी' और किसी अज्ञात लेखक की 'ग्रहमंजरी' आदि के नाम दिये गए हैं।[1]

भारतीय ज्योतिष के वैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ

भारतीय ज्योतिष के क्षेत्र में महाराज सवाई जयसिंह का नाम आदर के साथ स्मरण किया जाता है। जयसिंह का जन्म १६८६ ई० में हुआ और १६९९ ई० के लगभग तेरह वर्ष ही वे गद्दी पर बैठे। उनके प्रोत्साहन से भारतीय ज्योतिष में अन्वेषण की नवीन दिशाएँ प्रकाश में आईं। उन्होंने भारतीय ज्योतिष और तद्विषयक विदेशी ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन किया। उन्होंने अनेक भाषाओं और अनेक देशों के ज्योतिर्विदों से नई सारणियों का निर्माण करवाया। 'जिज मुहम्मदशाही' नामक सारणी जयसिंह के आदेशानुसार ही निर्मित हुई थी। इसकी एक अपूर्ण प्रति जयपुर में, एक संपूर्ण फारसी अनुवाद ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में सुरक्षित है। इसकी मूल रचना अरबी में हुई थी। इसका रचनाकाल ११४१ हिजरी (शक १६५०) है। दूसरा संस्कृत ग्रंथ 'सिद्धान्तसम्राट्' भी इन्होंने १६५३ शक (१७३१ ई०) में पंडितराज जगन्नाथ से लिखवाया। कोल्हापुर के राजज्योतिषियों की अपूर्ण पोथी से प्रतिलिपि की गई एक प्रति को श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने आनंदाश्रम, पूना में देखा था।[2]

जयसिंह के वंश को और उनके ज्योतिषप्रेम को अमर बनाए रखने वाली उनकी वेधशालाएँ हैं। ये वेधशालाएँ उन्होंने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी और मथुरा में निर्मित करवाई थीं। वेध पर जयसिंह ने एक छोटा-सा ग्रंथ भी लिखा था। 'सिद्धान्तसम्राट्' के कुछ अंशों का निर्माण उसने स्वयं भी किया, जो कि सावजूसयूस कृत यूनानी (ग्रीक) भाषा के ग्रंथ पर आधारित था। उसका एक अरबी संस्करण भी निकला।

शक १६८८ में शंकर ने 'वैष्णवकरण[3]', शक १६९६ (१७७४ ई०) में

---

१. जे० बर्जेस : नोट्स आन दि हिन्दू आष्ट्रोनोमी, १८९३

२. आनंदाश्रम, पूना का ग्रन्थ-संग्रह, ग्रंथांक ३६९३

३. गणकतरंगिणी, पृ० ११०-११

मणिराम ने 'ग्रहगणितचिंतामणि', नारायण के पुत्र भुला ने १७०३ शक में 'ब्रह्मसिद्धान्तसार', काशी के प्रसिद्ध व्यक्ति राजा शिवप्रसाद के पितामह दालचंद के आश्रय में रहकर मथुरानाथ ने शक १७०४ में 'यंत्रराजघटना'[1] और यूरोपियन ग्रंथों के अध्ययन पर आधारित 'ज्योतिषसिद्धांतसार' की रचना की थी। सतारा के चिंतामणि दीक्षित ने 'सूर्यसिद्धान्त' की सारिणी एवं १७१३ शक में 'गोलानन्द' की रचना की। दक्षिण खानदेशवासी राघव पंडित ने शकाब्द १७४० के आस-पास 'खेटकृति', 'पंचांगार्क' (सटीक) और 'पद्धति-चन्द्रिका' नामक तीन ग्रन्थ लिखे। इनका उपनाम खांडेकर था। महादेव के पुत्र शिव ने शकाब्द १७३७ में 'तिथिपारिजात', पूना निवासी अनन्त के पुत्र दिनकर ने 'ग्रहविज्ञानसारिणी', 'मासप्रवेशसारिणी', 'लग्नसारणी', 'क्रांतिसारणी, 'चन्द्रोदयांकजाल', 'दृक्कर्मसारणी', 'ग्रहणांकजाल', 'पातसारणीटीका' और 'यंत्र-चिंतामणि-टीका' आदि अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। ये उत्तम कोटि के गणितज्ञ थे।

सदाशिव के पुत्र यज्ञेश्वर अथवा बाबा जोशी रोडे महाराष्ट्रीय थे। इतिहास-कारों ने इनके पांडित्य की बड़ी प्रशंसा की है। इन्होंने १७६४ शक में 'यंत्र-राजवासना-टीका', 'गोलानंद-अनुक्रमणिका', 'मणिकांति-टीका' आदि ग्रंथ लिखे। अहमद नगर जिले के मूल निवासी नृसिंह अथवा बापूदेव शास्त्री का जन्म १७४३ शक में हुआ। ये काशी में चले आए थे। भारतीय और यूरोपीय ज्योतिष के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ग्रंथ लिखने वाले विद्वानों में इनका प्रमुख स्थान है। इन्होंने अध्यापन भी किया। ये सी० आई० ई० तथा महामहोपाध्याय की पदवियों से संमानित हुए। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में इन्होंने ज्योतिष-ग्रंथ लिखे। इनके प्रकाशित संस्कृत ग्रंथों के नाम हैं : 'रेखागणित' (प्रथमाध्याय), 'त्रिकोणमिति', 'सायनवाद', 'प्राचीन ज्योतिषा-चार्याशवर्णन', 'अष्टादशविचित्रप्रश्नसंग्रह', 'तत्त्वविवेकपरीक्षा', 'मानमंदिरस्थ यंत्रवर्णन' और 'अंकगणित'। इनके अतिरिक्त कुछ ग्रंथ अप्रकाशित भी हैं। इनके हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थों के नाम हैं : 'अंकगणित', 'बीजगणित', 'फलितविचार' और 'सायनवादानुवाद'। 'सिद्धांतशिरोमणि' के गोलाध्याय का अंग्रेजी अनुवाद इन्होंने विल्किसन साहब के सहयोग से किया। 'सूर्यसिद्धांत' का भी इन्होंने अंग्रेजी अनुवाद किया। ये दोनों ग्रन्थ १८६१-६२ ई० में प्रकाशित हुए। 'लीलावती' का भी इन्होंने १८०५ शक में एक संस्करण प्रकाशित किया। ये पंचागकर्ता भी थे। १८१२ शक में इनका देहांत हुआ।

---

१. वही, पृ० ११४-१६

मैथिल ब्राह्मण नीलाम्बर शर्मा का जन्म १७४५ शक (१८२३ ई०) में हुआ। इन्होंने यूरोपीय पद्धति पर 'गोलप्रकाश' को संस्कृत में लिखा, जिसको पं० बापूदेव शास्त्री ने प्रकाशित किया। महाराष्ट्र के ख्यातिप्राप्त विद्वान् विनायक (उपनाम केरो लक्ष्मण छत्रे) का जन्म शकाब्द १७४६ (१८२४ ई०) में हुआ। कई स्कूल-कालेजों में ये गणित के अध्यापक रहे। १८७७ ई० में इन्हें आंग्ल सरकार ने रायबहादुर की उच्च पदवी से सम्मानित किया। इन्होंने फ्रांसीसी और अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर मराठी में 'ग्रहसाधनकोष्ठक' ग्रंथ की रचना की, जो १८६० ई० में प्रकाशित हुआ। इन्होंने 'तिथिचिन्तामणि' की भी रचना की। ६० वर्ष की अवस्था में ये परलोक सिधारे। एक दूसरे महाराष्ट्र ब्राह्मण विसाजी रघुनाथ लेले का जन्म १८२७ ई० (१७४९ शक) में हुआ। ये सुंदर लिपिकार भी थे। इन्होंने स्फुट लेख लिखकर ज्योतिष पर और विशेषतः पंचांग विषय पर नया प्रकाश डाला। ६९ वर्ष की अवस्था में इनका स्वर्गवास हुआ।[1] इसी प्रकार तामिलवासी आचार्य चिंतामणि रघुनाथ का जन्म १७५० शक (१८२८ ई०) में हुआ। मद्रास की वेधशाला में ये कई वर्ष तक कार्य करते रहे। इन्होंने तामिल भाषा में 'ज्योतिषचिंतामणि' नामक ग्रंथ की रचना की। कृष्ण शास्त्री गोडबोल का जन्म शकाब्द १७५३ (१८३१ ई०) में बम्बई प्रांत में हुआ। कुछ वर्षों अध्यापन कार्य के अतिरिक्त बम्बई की वेधशाला में भी वे रहे। शकाब्द १७७८ में इन्होंने वामनशास्त्री जोशी गर्दे के सहयोग से 'ग्रहलाघव' का मराठी भाषान्तर किया जो विश्वनाथ की टीका का अनुवाद है। मराठी में इन्होंने 'ग्रहलाघव' की उपपत्ति भी लिखी है। एक छोटा-सा ज्योतिषशास्त्र-विषयक इतिहास भी इन्होंने लिखा। इनका देहावसान १८८६ ई० में हुआ।

चन्द्रशेखरसिंह सामन्त का जन्म शकाब्द १७५७ (१८३५ ई०) में खण्डपारा गाँव (कटक) के एक राजवंश में हुआ। बाल्यकाल से ही इनमें ज्योतिष के प्रति गहरी रुचि थी। ये बड़े अध्ययनशील भी थे। इन्होंने अपने स्वतन्त्र अध्ययन के आधार पर 'सिद्धांतदर्पण' नामक एक पुस्तक की रचना की थी। उड़ीसा में इनके बनाये हुए पंचांगों का बड़ा प्रचार रहा। इनके उक्त ग्रन्थ को अंग्रेजी भूमिका सहित श्री योगेशचन्द्र राय ने १८२१ ई० में प्रकाशित किया।

---

१. इनकी जीवनी के लिए देखिए : बालबोध (मासिक पत्रिका) अक्टूबर, १८८८ ई०

भारतीय ज्योतिष के इतिहास में विशेषतया मराठी साहित्य के इतिहास में और समग्र भारतीय इतिहास में आधुनिक युग के जिन थोड़े-से महापुरुषों का नाम लिया जाता है उनमें श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित का नाम उल्लेखनीय है। दीक्षित जी का जन्म शकाब्द १७७५ (१८५३ ई०) महाराष्ट्र स्थित रत्नागिरी के मुरुट गाँव में हुआ। उनकी शिक्षा यद्यपि बहुत कम हुई थी; किन्तु अपने अध्ययनशील स्वभाव के कारण उन्होंने अथाह ज्ञान संचित कर लिया था। मराठी में उन्होंने 'बुद्धिवर्द्धिनी', 'सृष्टिचमत्कार', 'ज्योतिर्विलास', 'धर्ममीमांसा' और डब्ल्यू० एम० सिवेल के सहयोग से 'इंडियन कैलेंडर' नामक ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा। किन्तु उनके पांडित्य को प्रकाशित करने और उनकी कीर्ति को अमर बनाये रखने वाला उनका ग्रन्थ है 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र च्या त्रोटक इतिहास'। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने १८८७ ई० में की थी। इस मराठी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद श्री शिवनाथ झारखंडी ने किया है। उत्तर प्रदेश सरकार ने इसको प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य के संवर्द्धन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[1] यह उल्लेखनीय है कि इधर कुछ वर्षों के भीतर उत्तर प्रदेश सरकार ने हिन्दी में अपूर्व ग्रन्थों को प्रकाशित किया है।

'भारतीय ज्योतिष' जैसे बृहद् ग्रन्थ को लिखकर दीक्षित जी ने भावी पीढियों को अन्वेषण-अनुसंधान की नई दिशाओं में अग्रसर होने का मार्ग प्रदर्शित किया है। भारतीय ज्योतिष और भारतीय इतिहास के गंभीर अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है।

महाराष्ट्रीय विद्वान् वेंकटेश बापूजी केतकर का जन्म १८५४ ई० (१७७५ शक) में हुआ। इन्होंने 'ज्योतिर्गणित' नामक संस्कृत ग्रंथ शकाब्द १८१२ के लगभग लिखा। इनके दूसरे ग्रन्थों के नाम हैं : 'केतकी ग्रहगणित', 'वैजयन्ती', 'केतकी परिशिष्ट', 'सौरार्यब्रह्मपक्षीय तिथिगणितम्', 'केतकीवासना-भाष्यम्', 'शास्त्रशुद्धपंचांगअयनांशनिर्णय', 'भूमंडलीय सूर्यग्रहगणित' और मराठी में 'नक्षत्र विज्ञान', 'ग्रहगणितम्', 'गोलद्वय प्रश्न', तथा 'भूमंडलीय गणित'।

भारतीय साहित्य और भारतीय जन-मन पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ने वाले महापुरुषों में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का नाम अमर

---

१. भारतीय ज्योतिष; अनुवादक श्री शिवनाथ झारखंडी, प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, मूल्य आठ रुपया, पृ० ७१५, उत्तम कागज एवं छपाई, १९५७

है। वे देशनायक और साहित्यस्रष्टा दोनों थे। उनका जन्म शकाब्द १७७८ (१८५६ ई०) में हुआ। भारत में ही नहीं, विदेशों में भी आज उनके व्यक्तित्व की ख्याति बनी हुई है। वे वेद, वेदांग, दर्शन, ज्योतिष, इतिहास और संस्कृति के गंभीर विद्वान् थे। विख्यात अंग्रेजी पत्र 'केशरी' और 'मराठा' का उन्होंने वर्षों संपादन किया। उनके लिखे हुए तीन ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध हैं। वे ग्रन्थ हैं 'ओरायन', 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' और 'गीता-रहस्य'। 'ओरायन' उनका ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ है। लोकमान्य १९२१ ई० में परलोकवासी हुए।

विनायक पांडुरंग खानापुरकर का जन्म महाराष्ट्र में शकाब्द १७८० में हुआ। इनके बनाये ग्रन्थों में 'वैनायकीय द्वादशाध्यायी', 'कुण्डसार', 'अर्धकाण्ड' और 'सिद्धांतसार' का नाम उल्लेखनीय है। मराठी में इन्होंने लिखे : 'भास्करीय लीलावती', 'बीजगणित' और 'गोलाध्याय'।

इनके बाद म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी का नाम आता है। द्विवेदी जी का जन्म शकाब्द १७८२ (१८६० ई०) में काशी के निकट खजुरी ग्राम में हुआ। द्विवेदी जी की गणना दीक्षित जी और लोकमान्य की कोटि में की जाती है। द्विवेदी जी उन विद्वानों में से एक थे, जिन्होंने विज्ञान की आधुनिक शाखा-प्रशाखाओं का गंभीर विश्लेषण करके भारतीय ज्योतिष के साथ उनका तारतम्य स्थापित किया। भारतीय ज्योतिष की वैज्ञानिक विधियों को प्रकाश में लाने और उनके अध्ययन की नई परिपाटियाँ भी उन्होंने सुझाई। उन्होंने ज्योतिष पर मौलिक, भाष्य, टीकाएँ और इतिहास आदि अनेक विषयों के लगभग २०-२२ ग्रन्थ लिखे।[1]

भारतीय ज्योतिष के आधुनिक विद्वानों में श्री एल० डी० स्वामी कन्नू पिल्लई, श्री छोटेलाल, श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, श्री दीनानाथ शास्त्री चुटैल, श्री गोविन्द सदाशिव आप्टे का उल्लेख और उनके ग्रन्थों की समीक्षा डॉ० गोरखप्रसाद ने अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास'[2] में की है। डॉ० गोरखप्रसाद स्वयमेव भारतीय ज्योतिष के प्रकांड विद्वान् और अनेक ग्रन्थों के लेखक हैं। उनके उक्त इतिहास ग्रन्थ में, पूर्ववर्ती ग्रन्थों की

---

१. दीक्षित : भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० ४२०-४२१; डॉ० गोरख प्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० २४४-२४६

२. भारतीय ज्योतिष का इतिहास, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, मूल्य चार रुपया, १९५६

अपेक्षा, बहुत कुछ मौलिक एवं शोधपूर्ण सामग्री दी गई है। हिन्दी में इस प्रकार के ग्रंथों का भरपूर स्वागत होना चाहिए।

भारतीय ज्योतिष का, पाश्चात्य विज्ञान की चरमोन्नत पद्धतियों को दृष्टि में रखकर, आधुनिकतम अध्ययन प्रस्तुत करने वाले भारतीय विद्वानोंमें डॉ० मेघनाथ साहा, डॉ० विभूतिभूषण दत्त, प्रो० एस० चन्द्रशेखर, डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद, डॉ० हरिकेशवसेन, डॉ० रामसिंह कुशवाहा, श्री निर्मलचन्द्र लाहिरी, डॉ० दफ्तरी और डॉ० अवधेशनारायण सिंह का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार भारतीय ज्योतिष की परंपरा वैदिक युग से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप में बनी हुई है। आज भी भारत के सभी अंचलों में बड़े-बड़े पंडित-परिवार वर्तमान हैं, जहाँ कि नित्य ही ज्योतिष का अध्ययन-अध्यापन और उसकी नई पद्धतियों पर विचार किया जा रहा है। उन सभी विद्वानों का उल्लेख यहाँ नहीं हो सका है; किन्तु उनके एकांत अध्यवसाय और उनकी मौन सेवा से हमारे साहित्य का जो उपकार हो रहा है, उसका मूल्य किसी भी प्रकार कम नहीं है।

भारतीय ज्योतिष का प्रचार प्रसार

अरब में

भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता और संसार के विभिन्न देशों में उसके महान् सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार के संबंध में अनेक विद्वानों के उदाहरण आज भी हमारे सामने विद्यमान हैं। अलबेरूनी का दसवीं शताब्दी में, 'सिंहहिंद' नाम से किया गया अनुवाद-ग्रन्थ इस बात का प्रबल प्रमाण है कि अरबवासियों ने भारतीयों से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त किया था।[1] इतना ही नहीं, बल्कि खलीफा हारूं रशीद और अलमामू आदि ने भारतीय ज्योतिर्विदों को सादर आमन्त्रित कर भारतीय ज्योतिष के प्रमुख उपादानों का अरबी भाषा में अनुवाद करवाया।[2] अरब में आर्यभट्ट के सिद्धांतों का एक महत्त्वपूर्ण अनूदित संग्रह 'अर्जबहु' नाम से प्रचलित था।[3] अलबेरूनी ने भी अपने उक्त ग्रन्थ में लिखा है कि आर्यभट्ट का एक अरबी-रूपांतर 'अर्जबहु' से प्रकाश में

---

१. डब्ल्यू० हण्टर : इण्डियन गजेटियर इण्डिया, पृ० २१८

२. मिल : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द २, पृ० १०७

३. वेबर : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० २५५

आ चुका था, बाद में जिसका नाम बिगड़ कर 'आज्जभर' हो गया। उसका इस प्रसंग में यह भी कहना है कि 'सिंदहिंद' नाम की अरबी पुस्तक को लोग 'सिद्धांत' कहते थे।[1]

कोलब्रुक साहब का यह कथन है कि "भारतीय ज्योतिष में यवनाचार्य और रोमक सिद्धांत का उल्लेख होने के कारण यदि कोई कल्पना करे कि भारतीयों ने ग्रीक लोगों से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त कर अपने मूल अपूर्ण ज्ञान को बढ़ाया, तो मेरे विचार की दिशा के यह विरुद्ध नहीं है"।[2] अथवा उसका यह मंतव्य कि हिन्दुओं में प्रचलित क्रांतिवृत्त की द्वादश-विभाग वाली पद्धति को अरबों ने कुछ हेर-फेर करके ग्रहण किया; तथा यह विभाग-पद्धति हिन्दुओं को ग्रीक-पद्धति के अनुसार सूझी; या कि हिन्दुओं के नक्षत्र-विभाग, उनकी गोलयंत्र की सूझ-बूझ और उनकी द्रेष्काण-पद्धति आदि का मूल आधार अरबीय ज्योतिष रहा है; इस प्रकार की उसकी सभी आधाररहित संभावनाएँ अब सर्वथा असत्य साबित हो चुकी है। इस पर भी कोलब्रुक की साहित्य-सेवाएँ और उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति को भुलाया नहीं जा सकता है।[3]

कोलब्रुक के मंतव्य से सर्वथा विपरीत रोम के प्रो० सी० ए० नलिनो का कथन है कि ७७१ ई० में भारत से जो विद्वन्मंडली बागदाद गई थी, उन्हीं में से एक विद्वान् ने ब्रह्मगुप्त के 'स्फुट-सिद्धांत' (६२८ ई०) का सर्वप्रथम वहाँ के लोगों से परिचय कराया, जिसके आधार पर बाद में इब्राहीम इब्न हबीब-अल-फजारी और याकूल इब्न तारीक ने मुसलमानी

---

१. अल्बेरूनी का जन्म ९७३ ई० में हुआ था। वह महमूद गजनवी के साथ भारत आया और १०१७ ई० से १०३१ ई० तक लगभग १५ वर्ष भारत में रहा। उसने भारतीय जन-जीवन और भारत की सर्वोच्च भाषा संस्कृत का मौलिक अध्ययन कर अरबी भाषा में एक सुन्दर पुस्तक लिखी। उस पुस्तक का अंग्रेजी रूपान्तर बर्लिन के प्रोफेसर एडवर्ड सी० साची ने किया और उसका एक हिन्दी अनुवाद इण्डियन प्रेस, प्रयाग से भी प्रकाशित हुआ

२. कोलब्रुक : मिसलेनियस एशिएज, वाल्यूम २, पृ० ३२३–३४४ (१८७२)

३. हेनरी टामस कोलब्रुक का जन्म १७६५ ई० में हुआ। १७८२ ई० में उसने भारत में पदार्पण किया, और १८०१ ई० में वह कलकत्ते में जज नियुक्त हुआ। उसने संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों का उद्धार करने के लिये बड़े यत्न से कार्य किया। इन पोथियों के क्रय करने में उसने एक लाख रुपये व्यय किये। यद्यपि ये पोथियाँ अधिकांश रूप में आज ब्रिटेन के संग्रहालयों एवं पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं, तथापि उसका यह कार्य उसके जीवन का सर्वोच्च कार्य था

चांद्र-वर्ष के अनुसार सारणियाँ तैयार कीं। कदाचित् इसी समय ब्रह्मगुप्तकृत 'खण्डखाद्यक' (६६५ ई०) का 'अलअर्कन्द' नाम से अरबी में अनुवाद हुआ। लगभग ११ वीं शती के अन्त तक अरबवासी भारतीय ज्योतिष से पूर्णतया प्रभावित हो चुके थे। इन अरबीय ज्योतिषियों में हबश, अननैरीजा, इब्न अस्संभ, मुहम्मद इब्न इसहाक अस सरहसी, अबुलबफा, अलवेरूनी और अलहजीनी का नाम उद्धृत किया जा सकता है। निष्कर्ष यह कि भारतीय ज्योतिषियों ने ही सर्वप्रथम वैज्ञानिक रीति से अंकों का निर्माण किया और उसके बाद अरबीय ज्योतिषियों ने ऋण रूप में उसको अपनाया।[1]

यूरोप और अमेरिका में

भारतीय अंकगणित और बीजगणित, दोनों अरब के माध्यम से यूरोप भर में प्रचारित हुए। अंग्रेजी में जो दशगुणोत्तर अंकक्रम-पद्धति है, उसकी उत्पत्ति भारतीय ज्योतिष से हुई। एक भारतीय राजदूत के द्वारा ७७३ ई० में कुछ ख-गोल-विषयक सारिणियों के साथ यह भारतीय अंकक्रम अरब में गया और ९ वीं शती के आरम्भ में अबुजफर मुहम्मद अल् खारिज्मी द्वारा वह सम्पूर्ण अरब में फैला। यूरोप में यह अंकक्रम लगभग १२ वीं शती में अरब से ही लिया गया।[2]

इसके अतिरिक्त अलबेरूनी का कथन है कि जिन-जिन जातियों से उसका संपर्क रहा है, उन-उन जातियों के संख्यासूचक अंकों का अध्ययन करने के बाद उसने अपनी अकाट्य धारणा प्रकट की कि संसार की कोई भी जाति प्राचीन समय में हजार से अधिक संख्या नहीं जानती थी; यहाँ तक कि अरबवासी भी सहस्राधिक संख्या से परिचित नहीं थे। लेकिन हजार से भी कहीं अधिक क्रम-संख्या बतानेवाले अंक केवल भारतीय ज्योतिष में ही थे। इस विषय में हिन्दू सब जातियों के अग्रणी थे।[3]

अंकगणित की बात तो यह हुई। बीजगणित का प्रथम आविष्कार भी भारत में ही हुआ और उसी भांति अरब के माध्यम से संपूर्ण यूरोप के देशों में उसका प्रवेश हुआ। अरब में इस प्रचार-कार्य के प्रमुख नेता पूसा और

---

१. प्रो० सी० ए० नलिनो : एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, अध्याय, १२, पृ० ९५; जी० आर० के : हिन्दू एस्ट्रॉनोमी, पृ० ४९ का फुटनोट; डॉ० गोरखप्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० २५६-२५७

२. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, जिल्द १७, पृ० ६२६

३. अलबेरूनी : इण्डिया, जिल्द १, पृ० १७४-१७७

याकूब नामक विद्वान् थे।[1] बीजगणित, ज्यामिति और ख-गोल संबंधी पहिले प्रयोग के कर्त्ता भी भारतीय ज्योतिषी थे।[2] भारतीय ज्योतिषियों का ग्रहमंडल सम्बन्धी ज्ञान बहुत ही प्रौढ़ और प्राचीन था। वे स्थितिशास्त्र (Statics) और गतिशास्त्र (Dynamics) संबंधी सिद्धान्तों से भी सुपरिचित थे।[3]

ईसा की लगभग १७वीं शती के अन्त में यूरोप और अमेरिका में भारतीय ज्योतिष के प्रति उत्सुकता बढ़ी। इस क्षेत्र में लाप्लास वेली, प्लेफेयर, डीलाम्बर, सर विलियम जौंस, जान बेंटली आदि विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है। फ्रांसीसी विद्वान् जियोबनी डोमिनिको कैसीनो ने ला० लूबियर द्वारा असम से ले जाये गए कुछ ज्योतिष-सम्बन्धी नियमों का १६९१ ई० में प्रकाशन हुआ, जिसके कुछ दिन बाद ही टी० एस० बेयर ने 'हिस्टोरिया रेग्नी ग्रीकोरम बैक्ट्रीयानी' नामक पुस्तक के परिशिष्ट में भारतीय ज्योतिष की चर्चा की। १७६९ ई० ली वेंटिल पांडीचेरी आया और १७७२ ई० में उसने 'त्रिवेलोर' सारणी और हिन्दू ज्योतिष पर एक खोजपूर्ण लेख लिखा, जिसका सुप्रभाव यह हुआ कि नेशनल एसेंबली के सभापति एवं पेरिश के प्रथम मेयर सिलवेन बेली ने १७८७ ई० में भारतीय ज्योतिष पर 'ट्रेड डी ला एस्ट्रानोमी इंडियन एट ओरिएंटल' नामक पांडित्यपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक ने लाप्लास और प्लेफेयर को बहुत प्रभावित किया, जिसके कारण प्लेफेयर को १७९२ ई० में एशियाटिक सोसाइटी के एक व्याख्यान में यह कहने को मजबूर होना पड़ा कि हिन्दू गणित का वैज्ञानिक अध्ययन होना आवश्यक है।

इसी बीच १७८९ ई० में एस० डेविस ने 'सूर्यसिद्धान्त' का विश्लेषण कर अपना अभिमत प्रकाशित किया कि उक्त ग्रंथ में रविमार्ग की परम क्रांति २४ अंश है, जिसका अवलोकन २०५० ई० पूर्व किया गया होगा। सर विलियम जोंस ने इस बात का समर्थन किया और बल देकर कहा कि भारतीय नक्षत्र-चक्र न तो अरब की देन है और न यूनान की ही।

अठारहवीं शती के अन्त में बेंटली, कोलब्रुक, डीलांबर आदि में सूर्य-सिद्धान्त के निर्माण के सम्बन्ध में बड़ा वाद-विवाद हुआ। भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता के सम्बन्ध में विद्वानों का यह वाद-विवाद लगभग १८२५ ई० तक बना रहा। इस बीच सर डब्ल्यू० बार्कर, प्लेफेयर और हण्टर

---

१. विनयकुमार सरकार : हिन्दू एचीवमेंट्स इन एक्जैक्ट साइंसेज, पृ० १२-१९
२. मोनियर विलियम्स : इंडियन विज्डम, पृ० १८५
३. विनयकुमार सरकार की उक्त पुस्तक, पृ० २०-२७

आदि ने काशी और उज्जैन की वेधशालाओं पर नये ढङ्ग का प्रकाश डाला।

भारतीय ज्योतिष का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में वेबर (१८६०), व्हिटनी (१८५८) और थीबो (१८७७) का नाम उल्लेखनीय है। वेबर ने 'वेदांग ज्योतिष', व्हिटनी ने 'सूर्य-सिद्धांत' और थीबो ने 'पंच-सिद्धांतिका' पर अच्छा प्रकाश डाला।

किन्तु व्हिटनी साहब ने इस प्रसंग में कुछ पक्षपातपूर्ण बातें भी कहीं। उन्होंने अपने अनुमानों से यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि ईसवी सन् के आरंभ में रोम के व्यापार के बंदर अलेक्जेंड्रिया से हिन्दुस्तान के पश्चिम किनारे का व्यापार चलता था। इस व्यापार के कारण ज्योतिषशास्त्र हिन्दुस्तान में आया और उज्जयिनी उसका केंद्र बना। उनका यह भी कथन था कि टालमी और हिपार्कस की ज्या की कल्पना से ही हिन्दुओं को ज्यार्धों की कल्पना सूझी। व्हिटनी साहब की इन आधाररहित कल्पनाओं का खंडन शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने इतिहास ग्रन्थ में विस्तार से किया है। दीक्षित जी ने अपने ग्रन्थ में थीबो के मत की भी विस्तार से समीक्षा की है।

दीक्षित जी से पूर्व व्हिटनी के अनुमानों का खंडन बर्जेस साहब कर चुके थे। उनका कथन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है : "व्हिटनी ने अपनी टिप्पणियों में जो मत दिए हैं उनसे मेरे मत भिन्न हैं। इसलिए संक्षेप में मैं अपना मत देता हूँ। व्हिटनी का कहना है कि हिन्दुओं ने अपने ज्योतिष गणित और जातक मूलरूप में ग्रीकों से लिए और उनका कुछ अंश अबेरियन, खाल्डियन एवं चीनियों से लिया। मेरी समझ में वह हिन्दुओं के साथ न्याय नहीं कर रहा है और यह उचित मात्रा से अधिक ग्रीक लोगों को मान दे रहा है। यह सच है कि ग्रीक लोगों ने इस शास्त्र में आगे जाकर बहुत कुछ सुधार किए थे, तथापि इसके मूल तत्त्व और उसमें के बहुत से सुधार हिन्दुओं के थे, और उन्ही से ग्रीकों ने यह शास्त्र लिया, यह बात मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।"[1]

---

१. रेवरेंड जे० बर्जेस ने सन् १८६० ई० में 'सूर्य-सिद्धान्त' का पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी के जरनल में प्रकाशित किया था, जिसमें भारतीय ज्योतिष के पक्ष-विपक्ष में कहने वाले विद्वानों के मतों का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया गया और दिखाया गया कि भारतीय ज्योतिष का महत्त्व क्या है। इस सुन्दर अनुवाद का दूसरा संस्करण कलकत्ता विश्वविद्यालय के फणीन्द्रलाल गंगोली द्वारा सम्पादित होकर प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त की भूमिका सहित कलकत्ता वि० वि० द्वारा सन् १९३५ में पुनः मुद्रित हुआ

ज्योतिषशास्त्र

भारतीय ज्योतिष पर एक पांडित्यपूर्ण ग्रंथ, दो भागों में, डब्ल्यू ब्रेनैंड ने सन् १८९६ ई० में लिखा,[1] जिसमें उन्होंने हिन्दू ज्योतिष का यूनान, मिस्र, चीन और अरब के ज्योतिष के साथ तुलनात्मक विवेचन किया और उसके समर्थ निष्कर्षों के आधार पर जोर देकर कहा कि यूरोप वालों ने हिन्दुओं को उनके साहित्य और गणित-संबंधी विज्ञान के लिए उतना भी श्रेय नहीं दिया, जितने के वे वास्तविक अधिकारी हैं। एक ग्रंथ जी० आर० के महोदय ने 'हिन्दू ऐस्टॉनोमी' के नाम से लिखा। उसमें उन्होंने भारतीय ज्योतिष के संबंध में कुछ विवादपूर्ण बातें लिखीं है, जिनका समुचित उत्तर नलिनविहारी मित्र, डॉ० विभूतिभूषणदत्त और प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त प्रभृति विद्वान् दे चुके हैं।

शब्दांकों का प्रयोग : भारतीय ज्योतिष की मौलिक देन

भारत में शब्दांकों के प्रयोग का प्रचलन वैदिक युग में ही वर्तमान था। ऋग्वेद[2] में वर्ष का 'द्वादश' और अथर्ववेद[3] में सात वस्तुओं के समूह के अर्थ में 'सप्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। वेदों के बाद ब्राह्मण-ग्रंथों में बहुलता से शब्दांकों का प्रयोग हुआ है।[4] इसी भाँति कल्पसूत्रों में भी हमें इस प्रकार की पद्धति का पर्याप्त प्रचलन दिखाई देता है।[5] लगभग २०० ई० पूर्व में वर्तमान आचार्य पिंगल ने शून्य के लिए एक सांकेतिक चिह्न का प्रयोग किया है।[6] इन विवरणों का सूक्ष्म विवेचन करने के पश्चात् इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत में शब्दांक-पद्धति का प्रचलन २०० ई० पूर्व से ३०० ई० के भीतर पूर्णतया हो चुका था।[7]

शब्दांकों का आधुनिक ढंग से प्रयोग 'अग्निपुराण' में प्रचुरता से मिलता है।[8] भट्टोत्पल ने 'बृहत्संहिता-विवृति' में शब्दांकों द्वारा एक बृहत् संख्या

---

१. लंदन से १८९६ में प्रकाशित

२. ऋग्वेद संहिता ७।१०३।१ ३. अथर्ववेद संहिता १।१।१

४. शतपथ १३।३।२।१; तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।११।१

५. कात्यायन श्रौतसूत्र-वेबर का संस्करण, पृ० १०१५; लाट्यायन श्रौतसूत्र ९।४।३१

६. डॉ० विभूतिभूषण दत्त तथा डॉ० अवधेशनारायण सिंह : हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास, अनु० डॉ० कृपाशंकर शुक्ल, पृ० ७०, १९५६

७. पिंगल : छंदःसूत्र ९।२९; ८।३०; ८।३१; १८।४०

८. अग्निपुराण, अध्याय १२२-२३; १३१, १४०, १४१, ३२८-३३५ (कलकत्ता १९१४ वि०)

को सूचित किया है।[1] शब्दांकों के प्रयोग की यह पद्धति भारतीय ज्योतिष में इतनी अपनाये जाने लगी कि प्राचीन और नवीन सभी युगों के ग्रन्थों में उसका भरपूर प्रभाव लक्षित होता है। ऐसे ज्योतिष-ग्रंथों में 'पंचसिद्धांतिका'[2] 'महाभास्करीय' एवं 'लघुभास्करीय'[3], 'ब्रह्मस्फुटसिद्धांत'[4], 'त्रिशतिका'[5] और 'गणितसारसंग्रह'[6] ग्रंथों के विवरण अवलोकनीय हैं।

सातवीं शताब्दी में लिखे हुए कंबोडिया से प्राप्त संस्कृत के दो अभिलेखों में भी शब्दांकों का प्रयोग हुआ है।[7] इसी प्रकार एक तीसरा, आठवीं शताब्दी का लिखा हुआ, अभिलेख जावा से मिला है।[8] भारत में उपलब्ध तीन अभिलेखों में भी इस प्रकार के शब्दांकों का प्रयोग हुआ है। पहिला अभिलेख ८१३ ई०[9] दूसरा ८४२ ई०[10] और तीसरा ९४३ ई०[11] का है। दशवीं शताब्दी और उसके बाद के अभिलेखों में भी इस प्रकार के प्रयोग बहुलता से मिलते हैं।

अक्षरसंकेतों का प्रयोग

अंकों की संख्या को सूचित करने के लिए शब्द-संकेतों के अतिरिक्त अक्षर-संकेतों या वर्ण-संकेतों का भी प्रचलन भारतीय ज्योतिष में सर्वत्र मिलता है। शब्द-संकेतों की पद्धति कुछ जटिल, विस्तृत और दुःसाध्य होने के कारण ही संभवतः अक्षर-संकेतों का प्रयोग हुआ। अङ्क-संख्या के सूचनार्थ, शब्दों की जगह, वर्णों को उपयोग में लाने की यह संक्षिप्त पद्धति अधिक वैज्ञानिक लगती है।

---

१. बृहत्संहिता—सुधाकर द्विवेदी का संस्करण, पृ० १६३
२. पञ्चसिद्धान्तिका १।८; ८, १
३. महाभास्करीय ७; लघुभास्करीय १, १०
४. ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त १।५१–५५
५. त्रिशतिका, सूत्र ६ उदा० ६
६. गणितसारसंग्रह २।७।९
७. आर० सी० मजूमदार : एंश्येंट इण्डियन कालोनीज इन दि फार ईस्ट, चम्पा, जिल्द १, पुरालेख नं० ३२, ३९, ४०, ४१, ४३, ४४
८. इंडियन ऐंटिक्वेरी, ११, पृ० ४८
९. वही, २१, पृ० ११; बाम्बे गजेटियर १,२, ३९९ नोट ७; बूलर पृ० ८६, नोट ४
१०. दि धौलपुर इंस्क्रिप्शन, जिल्द ४०, पृ० ४२
११. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, ७, पृ० १८

इस पद्धति का प्रवर्तक कौन था, या इसके आविर्भाव का ठीक समय क्या था, इसका इतिहास नहीं मिलता है। व्याकरण के प्राणभूत आचार्य पाणिनि (५०० ई० पूर्व) ने कुछ स्वर-वर्णों का संख्या के अर्थ में प्रयोग किया है। पाणिनि के एक सूत्र पर कात्यायन (४०० ई० पूर्व) के कथन को मान्यता देते हुए भाष्यकार पतंजलि (२०० ई० पूर्व) का कहना है कि पाणिनि ने कहीं-कहीं स्वरों के अङ्क-सूचक चिह्नों का प्रयोग किया है।[1] किन्तु विद्वानों के अनुसार पाँचवीं शताब्दी से पूर्व में इस पद्धति का विशेष प्रचलन नहीं था। पाँचवीं शताब्दी में ही इस पद्धति पर विभिन्न शैलियाँ रची गईं, जो विद्वानों तक ही सीमित रहीं और जिन पर यूनानी तथा अरबी पद्धतियों का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं था।[2]

---

१. पतंजलि : महाभाष्य, १।३।११

२. हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास, १, पृ० ५८-५९ तथा फुटनोट १

आयुर्वेदशास्त्र

आयुर्वेद : उद्भव और उद्देश्य

आयुर्वेद के महान् ज्ञान का इतिहास बहुत लम्बा है। देवलोक और मनुष्यलोक, दोनों में उसके प्रभाव, उपयोगिता और महत्त्व को एक जैसे पूजाभाव से स्वीकार किया गया है। आयुर्वेदशास्त्र के पहिले उपदेष्टा सृष्टिकर्ता ब्रह्मा हुए। बहुत समय तक यह उपयोगी ज्ञान देवलोक तक ही सीमित रहा। बाद में इन्द्रादि देवों से उपकारी ऋषियों ने इस विद्या की दीक्षा प्राप्त कर उसे मर्त्यलोक में फैलाया। इस विद्या को मर्त्यलोक में लाने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई इस सम्बन्ध में एक रोचक कथा है।

'चरकसंहिता' में लिखा है कि धर्मार्थकाममोक्ष आदि की सिद्धि में, शरीर-शक्तियों के दुर्बल हो जाने के कारण, जब बाधा उत्पन्न हुई तो परम ज्ञानी दयालु ऋषि-मंडली इस बाधा को दूर करने के लिए पवित्र धाम हिमालय पर एकत्र हुई। उन्होंने ध्यान एवं चिन्तन द्वारा जाना कि परम आयुर्वेदज्ञ देवराज इन्द्र ही मर्त्यलोक के इस रोगशमन का सर्वांगपूर्ण उपाय बता सकते हैं। हिमालय पर एकत्र इन कल्याणकामी ऋषियों की संख्या ५२ थी।[1]

तदर्थ ऋषि-मंडली ने इन्द्र की ओर प्रस्थान किया। इन्द्र के पास पहिले कौन जाय, यह स्थिति सामने आई। इस समस्या को दूर किया परमर्षि भरद्वाज ने। बात यह थी कि भरद्वाज के पिता बृहस्पति देवों के गुरु थे। वैसे भी भरद्वाज की इन्द्र से अच्छी मैत्री थी। भरद्वाज इन्द्र के पास गया और सहज ही में इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर उस त्रिस्कंधात्मक ज्ञान को मर्त्यलोक के लिए लाया।

---

१. चरकसंहिता, सूत्रस्थान १।११-१४

किन्तु आयुर्वेद का यह महाज्ञान कुछ इतना जटिल सिद्ध हुआ कि मर्त्य-लोकवासियों की मेधाशक्ति उसको ग्रहण न कर सकी। फलतः ब्रह्मा ने ऋषियों के आग्रह पर युग के क्रम से, मनुष्य की बुद्धि एवं आयु के ह्रास को दृष्टि में रखकर, उस लक्षश्लोकात्मक आयुर्वेद आगम को आठ अंगों में विभाजित किया।[1] इन आठ अंगों (तंत्रों) का नाम हुआ : शल्य, शालाक्य, काय-चिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायन और वाजीकरण। आयुर्वेद के ग्रंथों में ये नाम कुछ हेर-फेर एवं परिवर्तन से लिखे मिलते हैं।[2]

कालान्तर में आयु और बुद्धि की यह स्थिति भी बदल गई। अतः तब आवश्यकता इस बात की हुई कि अष्टांगविभागात्मक उस आयुर्वेद आगम को अधिक संक्षिप्त एवं व्याख्यात्मक होना चाहिए, यतः वह बुद्धिगम्य हो सके। यह कार्य ऋषिजनों ने किया।

वाग्भट ने लिखा है कि युगक्रम के अनुपात से बुद्धिविवेक को दृष्टि में रखकर बाद में इंद्र से भरद्वाज, धन्वंतरि आदि ने जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह अष्टांगपूर्ण होता हुआ भी किसी एक अंग पर अधिक केंद्रित था। उदाहरण के लिए धन्वंतरि ने भिषक्क्रिया पर अधिक बल दिया, तो पुनर्वसु ने काय-चिकित्सा पर और कश्यप ने केवल कौमारभृत्य पर।

भरद्वाज द्वारा लाये हुए उस अष्टांगविभाजित ज्ञान के एक शल्यचिकित्सा विषयक अंग को धन्वंतरि ने सीखा और तदनु उसका उपदेश दिया। काय-चिकित्सा के ज्ञान का प्रथम विचारक आत्रेय पुनर्वसु हुआ। ये दोनों शीर्षस्थ विद्वान् एक ही महाज्ञानी भरद्वाज के शिष्य थे। यदि आयुर्वेदशास्त्र से धन्वंतरि और पुनर्वसु की प्रतिभा को अलग किया जाय तो आज की वैज्ञानिक पद्धतियों के समक्ष सारा भारतीय आयुर्वेद बहुत ही पिछड़ा प्रतीत होगा। इस दृष्टि से इन दोनों सहाध्यायी विद्वानों का आयुर्वेद के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। भिषग्विद्या के क्षेत्र में पुनर्वसु आत्रेय को संसार के सर्वोच्च वैज्ञानिकों की कोटि में गिना जाता है।

पुराणग्रंथों में तो धन्वंतरि को ही आदि आयुर्वेद-आगम को आठ अंगों में विभक्त करने वाला बताया गया है। उनमें लिखा है कि प्रथम द्वापर के अंत में काशिराज शौनहोत्र के यहाँ धन्वंतरि जन्मा। उसने भरद्वाज से आयुर्वेद का

---

१. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान १।६
२. चरकसंहिता, सूत्रस्थान ३०।२८; सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान १।७; काश्यप-संहिता, पृ० ४२

और विशेषतया भिषक्क्रिया का ज्ञान प्राप्त कर पुनः उसको आठ अंगों मे अलग किया और तदनु उसे अपने सुयोग्य शिष्यों को समझाया।[1]

लोकप्रियता : प्रभाव : प्राचीनता

एक जीवनोपयोगी शास्त्र होने के नाते आयुर्वेद ने यथेष्ट लोकप्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने अपना स्वतंत्र सर्वांगीण विकास किया, और दूसरे शास्त्रों का प्रपूरक होने के कारण बड़ी मान्यता प्राप्त की। स्मृतियों और पुराणों की विधियों में शरीरशास्त्र की पर्याप्त चर्चाएँ मिलती हैं। सांख्य एवं योग प्रभृति दर्शन के संप्रदायों से आयुर्वेद-विषय का बौद्धिक पक्ष प्रभावित है। इसी प्रकार वेदांत दर्शन ने उसको अध्यात्म बल दिया।

एक जीवनोपयोगी विषय के रूप में आयुर्वेद अति प्राचीन काल से ही संमान पाता रहा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के क्रमशः चार उपवेद कहे गए हैं : आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और अर्थवेद (अर्थशास्त्र)। पारलौकिक जीवन की सर्वार्थ सिद्धि तो वेदों मे और ऐहिक जीवन की पूर्णता के समग्र साधन उपवेदों में वर्णित है।

आयुर्वेद में यद्यपि शरीरविज्ञान की विधियाँ बताई गई हैं, तथापि उसकी आयु सहस्रों वर्ष प्राचीन है। ऋग्वेद में आयुर्वेद के जन्मदाता दिवोदास, भरद्वाज और अश्विनीकुमार आदि आचार्यों एवं परमर्षियों का उल्लेख मिलता है।[2] 'काश्यपसंहिता' में आयुर्वेद का उद्भव 'अथर्व-उपनिषद्' के रूप में कहा गया है।[3] अथर्वाण मंत्रों के संबंध में कुछ विद्वानों का कहना है कि उनमें प्राचीन वैद्यकशास्त्र की विधियाँ वर्णित हैं। उनमें राक्षसों को रोग उत्पन्न करनेवाला और मंत्रों द्वारा रोग-निवृत्ति के तरीके भी बताये गए हैं।[4] इसी प्रकार 'महाभारत' और बौद्धों के 'विनयपिटक' में शल्यविद्या-विशारद अनेक वैद्यों का उल्लेख हुआ है।[5]

सर प्रफुल्लचंद्र दे महोदय ने आयुर्वेद के इतिहास का काल-विभाजन करते हुए कुछ नई मान्यताएँ रखी हैं, जिनका निष्कर्ष यह है कि वैदिक युग की

---

१. हरिवंश १।२९।२२, २६, २७; ब्रह्माण्डपुराण ३।६७।२०, २३, २४; वायुपुराण अ० ९२।१८, २१, २२

२. ऋग्वेद, १।१२।१६ ३. काश्यपसंहिता, पृ० ४१

४. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटि, नवम्बर, १९५१, पृ० २७६

५. ऐंश्येंट सर्जिकल इस्ट्रुमेंट्स, जिल्द १

हिन्दू चिकित्सा-पद्धति में अनेक न्यूनताएँ थीं। चरक से पूर्व चिकित्सा-पद्धति का प्रायः सर्वथा अभाव था। उसका सारा क्रम अनाधारित और उसमें आयुर्वेद की वैज्ञानिक परिभाषाएँ न थीं।[१]

दे महोदय का यह अभिमत पाश्चात्य विद्वानों और विशेषतः मैक्समूलर की स्थापनाओं पर आधारित है। इस संबंध में अब नई गवेषणाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं और इन नई गवेषणाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि आयुर्वेद शास्त्र की परंपरा की पूर्ण प्रतिष्ठा ब्रह्मा ने की थी; और यद्यपि उसमें आयु-बुद्धि तथा युग के ह्रास-क्रम से कुछ परिवर्तन होते गए, तथापि उसमें शिथिलता, अक्रम, न्यूनता, और व्यतिक्रम किसी भी युग में न हुआ। उसकी वैज्ञानिक विधियाँ आदि से लेकर अंत तक बनी रहीं।[२]

आयुर्वेद के उपयोगी ज्ञान से संस्कृत के सभी प्रमुख ग्रंथकारों की कृतियाँ प्रभावित हैं। इस विषय पर एक पुस्तक श्री अत्रिदेव विद्यालंकार ने लिखी है, जिसका नाम है: 'संस्कृत-साहित्य में आयुर्वेद'।[3] पाणिनि, भास, अश्वघोष, कालिदास, विष्णुशर्मा, हाल, भारवि, शूद्रक, विशाखदत्त, दण्डी, बाणभट्ट, भवभूति, माघ, त्रिविक्रम भट्ट, श्रीहर्ष और पंडितराज जगन्नाथ के ग्रंथों में आयुर्वेदविषयक जितनी चर्चाएँ हैं उनका निर्देश उक्त पुस्तक में किया गया है। इस पुस्तक में यह भी बताया गया है कि संस्कृत के ग्रंथकारों ने अपनी कृतियों में किन-किन वनस्पतियों का उल्लेख किया है, अथ च आयुर्वेद के ग्रंथों में काव्योत्कर्ष-विषयक गुण और कवित्व को प्रभावित करने वाली सामग्री किस सुन्दरता से सजाई गई है।

इन सभी विवरणों को देखकर आयुर्वेदशास्त्र के स्वतंत्र अस्तित्व का विकास और उसके अतिशय प्रभाव का पता सहज ही में लग जाता है। प्रायः सभी युगों में सभी श्रेणी के ग्रन्थकारों में उसकी कितनी लोकप्रियता रही है, इसका परिचय भी हमें उक्त विवरणों से भली भाँति विदित हो जाती है।

---

१. दि हिस्ट्री ऑफ हिन्दूकैमिस्ट्री, भाग १, भूमिका, पृ० ११

२. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का इतिहास, पृ० ३१, द्वितीय संस्करण; भारतवर्ष का बृहद् इतिहास पृ० ७२–७६; मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० १०; कविराज : आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० १९४–१९५

३. संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद, भारतीय ज्ञानमंडल, वाराणसी, १९५६ ई०

इन्द्र : भास्कर और उनकी शिष्य परंपरा

इन्द्र, बहुश्रुत विद्वान् और ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनकी बहुश्रुत विद्वत्ता और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ऋग्वेद[1] तथा 'शतपथ ब्राह्मण'[2] जैसे प्राचीनतम ग्रंथों में विस्तार से चर्चाएँ लिखी हुई मिलती हैं। इंद्र के कई शिष्य हुए, जिनमें भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि प्रमुख हैं। इन सभी महर्षियों ने दूसरी विद्याओं के साथ-साथ इंद्र से आयुर्वेद का भी अध्ययन किया।[3]

आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रंथ 'चरकसंहिता' से विदित होता है कि इन्द्र ने अपने भ्रातृपुत्र अश्विद्वय से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था।[4] इस बात को इंद्र ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि आत्मीयों तथा प्रजाजनों के उपकारार्थ अश्वियों ने आयुर्वेद का ज्ञान उन्हें दिया।[5] इसी बात का समर्थन 'सुश्रुत संहिता' में भी है।[6] कविराज जी का कथन है कि आयुर्वेद का प्रदाता इंद्र अति प्राचीन काल में हुआ। उस समय, अर्थात् आज से लगभग १२००० वर्ष पूर्व, आयुर्वेद का पुनीत ज्ञान संसार में विद्यमान था।[7]

वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' की टीका में उत्पलभट्ट ने शाकुनशास्त्र पर पुरातन आचार्य ऋषिपुत्र का एक वचन उद्धृत किया है। उसके अन्त में लिखा है : 'इत्याह भगवान् इंद्रः' भगवान् इन्द्र ने यह कहा। इससे विदित होता है कि शाकुनशास्त्र पर इन्द्र ने एक ग्रन्थ लिखा था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है।

नंदि, भगवान् का प्रिय शिष्य था। वह भी बहुश्रुत था। उसके सम्बन्ध में लिखा है कि उसने 'नाभियंत्र' नामक एक ग्रंथ लिखा था।[9]

भृगु प्रथम प्रजापति थे।[10] भारतीय इतिहास में २१ प्रजापति हुए हैं। भृगु, ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। 'शतपथ ब्राह्मण' की एक कथा में वरुण को भृगु प्रजापति का पुत्र बताया गया है।[11] महर्षि भृगु की दो पत्नियाँ थीं :

---

१. ऋग्वेद १०।४८।५०
२. शतपथ ब्राह्मण ९।५।२।१
३. कविराज सूरमचंद्र : आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० ४०–४२
४. चरकसंहिता, सूत्र० १।५
५. वही १।४।११
६. सुश्रुतसंहिता १।२०
७. कविराज : आयुर्वेद का इति०, १ पृ० ४५
८. बृहत्संहिता–टीका ८५।१५
९. रसरत्नसमुच्चय, पूर्वखंड ९।२६ (नाभियंत्रमिदं प्रोक्तं नंदिना सर्ववेदिना)
१०. वायुपुराण ६५।७३
११. शतपथ ब्राह्मण ११।६।१।१

एक हिरण्यकशिपु की कन्या दिव्या और दूसरी पुलोम की पुत्री पौलोमी। परशुराम, वाल्मीकि, बृहज्जीवक, शौनक आदि, इसी कुल में पैदा हुए थे।[1]

महर्षि भृगु ने एक आयुर्वेद-संहिता की रचना की थी। 'अष्टांगहृदय' की हेमाद्रिकृत टीका में भृगु द्वारा उपदिष्ट रसायन का उल्लेख है।[2] भृगु को चिकित्साशास्त्रज्ञ होने का विवरण वाग्भट-सुत तीसट ने 'चिकित्साकलिका' में दिया है और वहाँ उसने हारीत, भृगु और चरक प्रभृति पुरातन आचार्यों के मतानुसार अपने सिद्धांतों की पुष्टि की है।[3] भृगु के नाम से जुड़ी हुई 'भृगुसंहिता' किस भृगु की है, कहा नहीं जा सकता है।

कविराज सूरमचन्द्र जी ने भृगु, अंगिरा और मरीचि आदि आठ महर्षियों के सम्बन्ध में कही गई कल्पित धारणा[4] का खंडन कर यह बताया है कि प्रजापति अंगिरा, ब्रह्मा का मानसपुत्र एवं देव-ब्राह्मण था, जिसका वंश-वृत्त इस प्रकार है[5]:
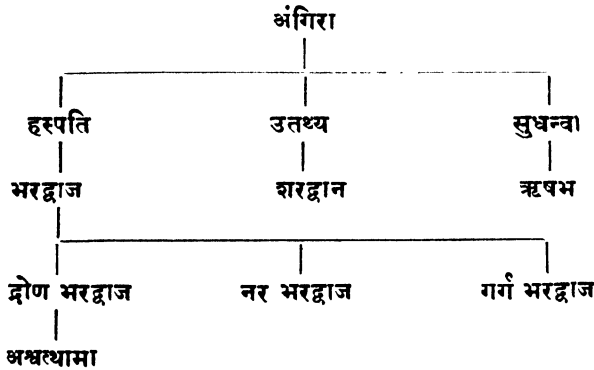
महर्षि अत्रि, ब्रह्मा के मानसपुत्र थे। सप्तर्षियों में उनकी गणना है। कविराज जी ने अत्रिवंश का वृत्त इस प्रकार दिया है[6]: अत्रि-प्रजापति-चंद्र-(सोमा)-बुध-पुरूरवा-ऐल। अत्रि का ऋग्वेद से विशेष सम्बन्ध था। ऋग्वेद के पाँचवें मंडल के द्रष्टा भी यही थे। इन्हें ऋषियों का होता कहा गया है।[7]

---

१. पं० भगवद्दत्त : भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृ० २३७; कविराज : आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० ५४, ५६

२. अष्टांगहृदय-टीका, चिकि० ३।१६७, १६८

३. चिकित्साकलिका, श्लोक २

४. ए० आई० एच० टी०, पृ० १८५

५. आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० ६०

६. वही, पृ० ६१

७. शतपथ ब्राह्मण ४।३।४।२१

अत्रि दीर्घायु थे। उनका पहिला आश्रम हिमालय पर था।[1] वे 'रामायण' के समय तक जीवित रहे। चित्रकूट में भी उनका एक आश्रम था। उनके नाम से एक ३२०० श्लोकात्मक 'आत्रेयसंहिता' का उल्लेख मिलता है।[2]

प्रजापति वसिष्ठ भी ब्रह्मा के मानसपुत्रों और सप्तर्षियों में से एक थे। उत्तरकाल में ये मैत्रावरुणि वसिष्ठ के नाम से विख्यात हुए। इनके पुत्र का नाम शक्ति और पौत्र का नाम पराशर था। रघुकुल के पुरोहित भी यही वसिष्ठ थे। इनकी पत्नी का नाम अरुंधती था। बाद में वसिष्ठ एक उपाधि का सूचक हो गया। इन्होंने भी इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन कर आयुर्वेद पर एक संहिताग्रंथ का निर्माण किया था।

ब्रह्मा के मानसपुत्रों में मरीचि भी एक थे। मरीचि के मानसपुत्र कश्यप हुए।[3] आयुर्वेद की 'काश्यसंहिता' में कश्यप को मारीच प्रजापति[4] और 'महाभारत' में मारीच कश्यप का एक नाम अरिष्टनेमि भी दिया हुआ है।[5] शौनक का भी यही कहना है कि प्रजापति ब्रह्मा का पुत्र मरीचि और उसका पुत्र मारीच कश्यप हुआ।[6] कश्यप बहुशास्त्रविद् था। वह एक दीर्घजीवी ऋषि भी प्रतीत होता है।[7]

'रामायण' के एक प्रसंग से प्रतीत होता है कि महर्षि अगस्त्य का एक छोटा भाई था, जिसका आश्रम दक्षिण में कहीं पर था।[8] 'बृहद्देवता' के कुछ उल्लेखों से मालूम होता है कि अगस्त्य तथा वशिष्ठ मैत्रावरुणि सहोदर थे। अगस्त्य की पत्नी का नाम लोपामुद्रा था। 'बृहद्देवता' से यह भी विदित होता है कि अगस्त्य की बहिन का नाम अदिति था।[9] अगस्त्य दीर्घायु, अथच मृत्युंजय थे।[10] उनकी पत्नी भी उन्हीं की भांति दीर्घायु थी।[11] अगस्त्य का आश्रम दक्षिण में था।[12] अगस्त्य ने आयुर्वेद का ज्ञान इन्द्र और भास्कर से प्राप्त किया था।[13] 'महाभारत' के आदिपर्व में द्रोणाचार्य के

---

१. मत्स्यपुराण ११८।६१-७६

२. बड़ौदा लाइब्रेरी के हस्तलेखों का सूचीपत्र, पृ० १२९२ सं० २९

३. महाभारत, शांति० २००।१८

४. काश्यपसंहिता, पृ० ६२, १४८

५. महाभारत, शांति० २०।१८

६. बृहद्देवता ५।१४३

७. मत्स्यपुराण । १४५।९२।९४

८. बृहद्देवता ५।१४८-१५०

९. बृहद्देवता २।८२

१०. रामायण, दाक्षिणात्य पाठ ११।८२

११. हरिवंश १।३२, ३४

१२. रामायण १।८३; सुबंधु : वासवदत्ता पृ० २०

१३. तलवकार उपनिषद् ब्राह्मण ४।९।१; ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मखंड, अध्याय १६

बचनों से ज्ञात होता है कि अगस्त्य के शिष्य अग्निवेश हुए और अग्निवेश से द्रोणाचार्य ने धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।[1]

'ब्रह्मवैवर्त' से पता चलता है कि भास्कर के शिष्यों ने आयुर्वेद पर पृथक्-पृथक् संहिताओं का निर्माण किया था।[2] अगस्त्य के ग्रंथ का नाम 'द्वैधनिर्णयतंत्र' था, जो उपलब्ध नहीं है। 'चरकसंहिता' के टीकाकार चक्रपाणि ने अगस्त्य का एक श्लोक भी उद्धृत किया है।[3]

आयुर्वेद के प्रथम प्रवर्तक महर्षियों में वामदेव का नाम उल्लेखनीय है। 'मत्स्यपुराण' से ज्ञात होता है कि वामदेव ने तप के प्रभाव से ऋषि पद प्राप्त किया था।[4] वे अंगिरा के कुल से संबद्ध थे। 'रामायण' में लिखा है कि ऋषिश्रेष्ठ, वेद-वेदांग-पारंगत वशिष्ठ तथा वामदेव, दशरथ के मंत्री एवं ऋत्विक् थे।[5] 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में वामदेव की वंश-परंपरा : अंगिरा-रहूगण-गोतम-वामदेव-बृहदुक्थ, इस प्रकार से उल्लिखित है। वामदेव ने भी एक 'आयुर्वेद-संहिता' का निर्माण किया था, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है।[6]

इसी परंपरा में असित भी हुए। पुराण-ग्रंथों में असित की वंशावली व्यवस्थित ढंग से लिखी हुई मिलती है। 'वायुपुराण' में लिखा है कि कश्यप ऋषि ने वंशकामना के लिये तप करके वत्सर निध्रुव तथा रैभ्य नामक दो पुत्र उत्पन्न किए।[7] उनके ये दोनों पुत्र ब्रह्मवादी थे। असित की पत्नी का नाम एकपर्णी था, जो कि बड़ी ही साध्वी और दृढव्रता थी। हिमालय ने असित को परम योगी और बड़ा बुद्धिमान जानकर एकपर्णी को उन्हें दे दिया था। उससे ब्रह्मनिष्ठ देवल का जन्म हुआ।[8]

कुछ पुराण-ग्रन्थों में देवल के पिता का नाम प्रत्यूष लिखा मिलता है,[9] जिससे यह ज्ञात होता है कि असित काश्यप का एक नाम प्रत्यूष भी था; किन्तु 'वायुपुराण' में प्रत्यूष की गणना आठ वसुओं में होने के कारण[10]

---

१. महाभारत, आदि०, कुंभकोण संस्करण १५२।१०

२. ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म०, अध्याय १६

३. चरकसंहिता-टीका, सूत्रस्थान १।६२

४. मत्स्यपुराण १४५।९३, १०४, १०५ ५. रामायण ७।१

६. आयुर्वेद का इतिहास, पृ० ५९-७९ ७. वायुपुराण ७०।२३-२५

८. वही, ७२।१७

९. विष्णुपुराण १।१५।११७; विष्णुधर्मोत्तर, प्रथमखंड, ११९।१७; महाभारत, आदि० ६७।२५

१०. वायुपुराण ६६।२०

उसको कश्यप ऋषि से भिन्न मानना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस दूसरे असित के पुत्र का नाम भी देवल ही था। असित देवल का उल्लेख 'तांडय ब्राह्मण' में भी मिलता है।[1]

अतएव असित देवल और असित कश्यप, दोनों का एक नाम यद्यपि प्रत्यूप भी था ; किन्तु थे दोनों अलग-अलग ही।

गौतम ऋषि को आयुर्वेद के पुरातन निर्माताओं के रूप में स्मरण किया गया है। 'चरकसंहिता' के एक विवरण से प्रतीत होता है कि एक बार जब आयुर्वेदज्ञ मुनियों में आयुर्वेद-सम्बन्धी कुछ मतैक्य न हो सका तो वे निर्णय के लिए आत्रेय के पास गए। इन मुनियों में गौतम भी एक थे।[2] 'अष्टांगहृदय' में गौतम के ज्वरविषयक मत को उद्धृत किया गया है।[3] इसी प्रकार 'माधवनिदान' के प्रसिद्ध व्याख्याकार विजयरक्षित ने 'यदाह गौतमः' कहकर गौतम के मत को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है।[4] गौतम न्याय, धर्मशास्त्र और व्याकरण का भी प्रकांड विद्वान् था।

'ब्रह्मपुराण' के उल्लेखानुसार माता सुरभि और पिता प्रजापति कश्यप से जिन एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई थी, शिव उनमें अत्यन्त तेजस्वी एवं बड़ा मेधावी निकला, जिस कारण कि उसको पार्वती ने बरा। वह दीर्घजीवी था। भगवान् शिव की सर्वज्ञता का वर्णन 'महाभारत' में मिलता है। उसमें लिखा है कि शिव सांख्ययोग के प्रवर्तक, गीत-वादित्र के तत्त्वज्ञ, उच्चकोटि के शिल्पी और अनेक शिल्पों के प्रवर्तक थे।[5] 'महाभारत' के एक प्रसंग में यह भी कहा गया है कि रुद्र (शिव), विष्णु, इंद्र, बृहस्पति, शुक्र तथा परम धर्मज्ञ स्वायंभुव मनु 'वेद-पारंगत' थे।[6] चारों वेदों को संक्षिप्त करने वाले वेद-वादों में निपुण ही वेद-पारंगत कहे जाते थे। शिव वैसे ही थे।

शिव-प्रोक्त आयुर्वेद-ग्रन्थों में : 'आयुर्ग्रन्थ', 'आयुर्वेद', 'वैद्यराजतंत्र', 'शैव-सिद्धांत', 'रुद्रयामलतंत्र', 'पारदकल्प', 'धातुकल्प', 'हरितालकल्प', 'धातुक्रिया', 'कैलाशकारक' और 'रसार्णवतंत्र' आदि का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है।[7]

भास्कर के पिता का नाम कश्यप और माता का नाम अदिति था। भास्कर का अपर नाम विवस्वान् भी था। अश्विद्वय इन्हीं के पुत्र थे, जिससे

---

१. ताण्डय ब्राह्मण ११।१९
२. चरकसंहिता, सिद्धिस्थान, अध्याय ११
३. अष्टांगहृदय, निदानस्थान, अध्याय २
४, माधवनिदान, श्लोक ३३, ३४
५. महाभारत, शान्ति० अध्याय २९०।११४, १४२, १४३
६. वही, १२२।४४, ४५
७. कविराज : आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० ८६-८८

इनकी अति प्राचीनता सिद्ध होती है।[1] प्रजापति ब्रह्मा, भास्कर के आयुर्वेद गुरु थे। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में लिखा है कि प्रजापति ब्रह्मा ने चारो वेदों का दोहन कर पंचम वेद के रूप में आयुर्वेद को जन्म दिया था। उसमें उन्होंने भास्कर को दीक्षित किया और भास्कर ने उसके आधार पर एक संहिता का निर्माण किया।[2]

वरुण का पुत्र भृगु और भृगु का पुत्र उशना हुआ। उशना कवि के बारे में व्यापकता से उल्लेख हुआ है।[3] इनके अनेक नाम थे : उशना कवि, काव्य, शुक्र और भार्गव। भृगुपुत्र होने से उन्हें भार्गव, मंत्रद्रष्टा होने से कवि और क्योंकि उसका पिता भृगु स्वयं कवि था, इसलिए उसका तीसरा नाम काव्य (कविपुत्र) भी कहा गया। 'जैमिनीय ब्राह्मण' में कहा गया है कि भार्गव उशना कवि थे।[4] 'ब्रह्माण्ड पुराण' में कहा गया है कि शुक्र का ही एक नाम उशना तथा काव्य है।[5] 'तैत्तिरीय संहिता' से ज्ञात होता है कि वह उशना असुरों का पुरोहित था।[6] वह गान्धर्वदेश का राजा भी था।[7] उशना को ब्रह्मवादी ब्राह्मण और राजशास्त्र का प्रणेता कहा गया हैं।[8] उशना कवि भी आयुर्वेदशास्त्र के प्रवर्तकों में से थे।

बृहस्पति, अंगिरा का पुत्र था। इसलिए उसे आंगिरस भी कहा गया है। प्रजापति की कन्या उषा उनकी पत्नी थी। 'जैमिनीय ब्राह्मण'[9] और 'ताण्ड्य ब्राह्मण'[10] के अनुसार बृहस्पति देवों के पुरोहित ठहरते हैं। वह वेद-वेदांगवित् भी था। [11]'महाभारत' में लिखा है कि महाकल्प के व्यतीत होने पर आंगिरस, देवपुरोहित, महागुणी विद्वान् बृहस्पति पैदा हुआ। उसका शिष्य राजा उपरिचर वसु था। उस राजा ने बृहस्पति से चित्रशिखण्डिशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था।[12] बृहस्पति भी आयुर्वेद का कर्ता था :[13]

सनत्कुमार आयुर्वेद का अद्वितीय आचार्य था। 'महाभारत', 'हरिवंश' तथा 'वायुपुराण' में सनत्कुमार को ब्रह्मा का मानसपुत्र कहा गया है।[14] 'हरिवंशपुराण' के

---

१. गिरीन्द्रलाल मुखोपाध्याय : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन, भाग १, पृ० ८३
२. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड, अध्याय १६   ३. आयुर्वेद का इतिहास पृ० ५५,
४. जैमिनीय ब्राह्मण १।१६६   ५. ब्रह्माण्ड पुराण ३।१।७६
६. तैत्तिरीय संहिता, २।५।८   ७. जैमिनीय ब्राह्मण १।१२७
८. महाभारत, शांति ५८।२   ९. जैमिनीय ब्राह्मण १।१२५; १।२१३
१०. ताण्ड्य ब्राह्मण १९।१७।८   ११. महाभारत, शांति० २१२।३२
१२. वही, ३४४।१।३   १३. आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० १०३-१०४
१४. महाभारत, शांति० ३४९।७०, ७१; हरिवंश १।१७।१२; वायुपुराण ११।१०६

एक प्रसंग में सनत्कुमार के मुख से कहलाया गया है "जैसा उत्पन्न हुआ, वैसा ही हूं मैं। मुझे कुमार जानो। इसी कारण मेरा सनत् = सदा कुमार, इति सनत्कुमार नाम रखा गया"।[१] हेमचंद्र के 'अभिधानचिंतामणि' में उसके पर्यायवाची नाम हैं: स्कंद, स्वामी, महासेन, सेनानी, षाण्मातुर, कार्तिकेय, कुमार, गुह और विशाख।[२] अनेक ग्रंथों में उसको इन औपाधिक एवं उपनामों से स्मरण किया गया है।[३]

सनत्कुमार बड़ा दीर्घजीवी था। मुखोपाध्याय जी ने भ्रमवश कार्तिकेय और सनत्कुमार को दो व्यक्ति समझ लिया था।[४] सनत्कुमार के आयुर्वेद-विषयक तीन हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं 'सनत्कुमार-संहिता'[५], 'वाहटग्रन्थ'[६] और 'अनुभोगकल्प'।[७]

ब्रह्मा के मानस पुत्रों में अन्यतम एवं अतिदीर्घजीवी नारद का भी उल्लेख है।[८] 'अभिधानचिंतामणि' में नारद के तीन नाम हैं: देवब्रह्मा, पिशुन और कलिकारक।[९] 'रामायण' में उन्हें त्रिलोकज्ञ कहा गया है।[१०] नारद ने सनत्कुमार से अध्यात्मज्ञान, शिव से अर्शोहरयोग (आयुर्वेद), वशिष्ठ से आत्मज्ञान और ब्रह्मा से ज्योतिर्विद्या सीखी।

हेमाद्रि विरचित 'लक्षणप्रकाश' में उद्धृत शालिहोत्र ऋषि के वचनों से विदित होता है कि नारद सर्वलोक-चिकित्सक तथा आयुर्वेद के कर्ता थे।[११] इण्डिया आफिस के सूचीपत्र में नारद का आयुर्वेदविषयक 'धातुलक्षण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है।[१२] इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

धन्वंतरि प्रथम का बहुमुखी व्यक्तित्व एवं उसकी असामान्य प्रतिभा का परिचय 'रामायण', 'महाभारत' और 'वायुपुराण' आदि ग्रन्थों में एक जैसी

---

१. हरिवंश १।१७।१७ २. अभिधान चिन्तामणि २।१२२,१२३

३. देखिये: छांदोग्य उपनिषद् ७।२६; हरिवंश १।३।४३; महाभारत, शां० ३४९।७०

४. हिस्ट्री ऑफ इंडियन मेडिसिन, भाग १, पृ० १११ तथा वही, भाग २, पृ० २९१

५. राजकीय पुस्तकालय, मद्रास का सूचीपत्र, भाग २३, ग्रंथांक १३००२ में 'पंचरात्रोपनिषद्' पर उल्लिखित

६. वही सूचीपत्र, ग्रन्थांक १३१७६-७

७. तंजोर पुस्तकालय का सूचीपत्र, पृ० ३७०, ग्रन्थांक ११००५

८. मत्स्यपुराण ३।६८ ९. अभिधान चिन्तामणि ३।५१३

१०. रामायण १।६ ११. लक्षणप्रकाश १।१५९

१२. इंडिया आफिस का सूचीपत्र ग्रन्थसंख्या २७१५ (आयुर्वेद)

ऊँचाई तथा एक जैसे आदर के साथ लिखा गया है।[1] 'सुश्रुत' के टीकाकार डल्हण की व्युत्पत्ति है कि शल्यशास्त्र-पारंगत व्यक्ति धन्वंतरि कहा जाता है।[2] धन्वंतरि : आदिदेव, अमरवर, अमृतयोनि और अब्ज आदि अनेक नामों से विश्रुत है। चिकित्साज्ञान धन्वंतरि ने भास्कर से[3] और आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान इन्द्र से[4] प्राप्त किया था।

धन्वंतरि प्रथम ने अपने गुरु भास्कर की 'आयुर्वेद-संहिता' के आधार पर 'चिकित्सारसायनतंत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[5]

चंद्रवंश का मूल प्रवर्तक महाराज सोम, अत्रि ऋषि का पुत्र था। सोम का पुत्र बुध हुआ। बुध की माता का नाम तारा था। प्रसिद्ध चंद्रवंशी सम्राट् एवं मंत्रद्रष्टा विद्वान् पुरूरवा, बुध का पुत्र था।[6] 'मत्स्यपुराण' में लिखा है कि बुध का अपर नाम राजपुत्र था। इसी प्रसंग में उसको हस्तिशास्त्र का प्रवर्तक कहा गया है।[7] बुध ने चिकित्सा पर कोई ग्रन्थ लिखा था। उसका भी गुरु भास्कर ही था।

चंद्रवंश के चक्रवर्ती राजा भरत का पुत्र महाराज भुमन्यु और उसका पुत्र गर्ग हुआ। गर्ग का वंशवृक्ष इस प्रकार है[8] :
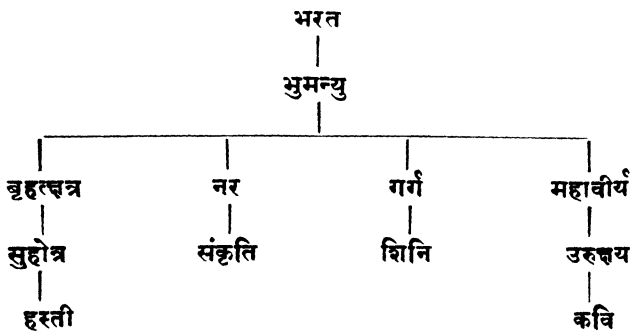
१. रामायण, बाल० ४।१८-२०; वही ४१।१८, १९, २९; महाभारत, आदि० १८।३८, ३९, ५३; वायुपुराण ९.२।९ २. सुश्रुतसंहिता-टीका, सूत्र० १।३

३. मत्स्यपुराण २५१।४ ४. भावप्रकाश १।७२

५. इस सम्बन्ध में देखिये : डॉ० कृष्णास्वामी अय्यंगर : कॉमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० २८४ पर डॉ० गंगानाथ झा का 'सम रेयर वर्क्स आन वैद्यक' शीर्षक लेख; कविराज सूरमचन्द्र : आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० ११५-११९

६. वही, पृ० ११९ ७. मत्स्यपुराण २४।३

८ भगवद्दत्त का 'अश्वशास्त्र' शीर्षक लेख, वेदवाणी (मासिक) वर्ष ४, अंक ४, पृ० ७

गर्ग, पाणिनि से पहिले हुआ, 'अष्टाध्यायी' का एक सूत्र इसका प्रणाम है।[1] इस दृष्टि से श्री तारापद भट्टाचार्य का यह मंतव्य कि गर्ग का समय २०० ई० पूर्व से प्रथम शती के बीच था,[2] असत्य जान पड़ता है। गर्ग ने आचार्य शालिहोत्र से अश्ववैद्यक का ज्ञान प्राप्त किया था[3] और गर्ग से अत्रि ऋषि ने वास्तुशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था।[4] गर्ग वास्तुविद्या का भी प्रकांड विद्वान् था। अष्टादश वास्तुशास्त्रोपदेशकों में गर्ग का नाम मिलता है।[5] ऋषि गर्ग ने अश्व-आयुर्वेद पर कोई ग्रंथ अवश्य लिखा था। इस संबंध में विद्वानों ने अनेक सूत्र खोज निकाले हैं।[6]

च्यवन ऋषि, भृगु महर्षि का पुत्र था। रसायन के सेवन से वह दीर्घकाल तक जीवित रहा।[7] लगभग द्वापर युग तक वह वर्तमान था।[8] च्यवन आयुर्वेद का प्रकांड विद्वान् था। उसने 'जीवदान' नाम चिकित्साग्रंथ की रचना की थी। अक्षिरोगचिकित्सा पर भी उसने कोई ग्रंथ लिखा था।

कुशिक का पुत्र गाधि और उसका पुत्र विश्वामित्र हुआ।[9] किन्तु 'रामायण' में : कुशिक-कुशनाभ-गाधि और विश्वामित्र, इस प्रकार की वंशपरंपरा मिलती है।[10] भारतीय इतिहास की प्रसिद्ध चरित्र-नायिका कण्व ऋषि की पोषिता कन्या इन्हीं विश्वामित्र की पुत्री थी। अश्विरसायन का उपदेश विश्वामित्र ने अश्विद्वय से प्राप्त किया था।[11] विश्वामित्र के आयुर्वेद-ग्रन्थ के अनेक वचन आज भी उद्धरणों के रूप में विभिन्न ग्रन्थों में बिखरे हुए मिलते हैं।[12]

जमदग्नि भृगुवंशीय था। च्यवन का प्रपौत्र ऋचीक इनका पिता और गाधि की कन्या सत्यवती इनकी माता थी। भारत के पश्चिम भाग में नर्मदा नदी के

---

१. अष्टाध्यायी, गर्गादिभ्यो यण्-४।३   ३. ए स्टडि आन वास्तुविद्या, पृ० १०२

२. राजगुरु हेमराज : काश्यपसंहिता का उपोद्घात, पृ० ६९

४. बृहत्संहिता, अध्याय ४६; मत्स्यपुराण, अध्याय २२९

५. वही, अध्याय २५३: अग्निपुराण ६५।७

६. काश्यपसंहिता उपोद्घात, पृ० ७०; जी० ओ० एम० एल० २३, १३३१९, पृ० ८९७२; आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० १२२-१२३

७. चरकसंहिता, चि० स्थान १।२।२०   ८. वही, सूत्रस्थान १।१।१०

९. महाभारत आदि० १९१।३,४   १०. रामायण, बाल० ५१।१८, १९

११. हारीतसंहिता ३।२९

१२. अष्टांगहृदय, पृ० ६४ (हेमाद्रि की टीका) सुश्रुतसंहिता, निदान० ५।१६ (डल्हण की टीका)

समीप जमदग्नि ने बहुत समय बिताया।[1] मही और नर्मदा नदी के बीच में स्थित माहेय देश के राजाओं के ये पुरोहित थे। 'चरकसंहिता' में लिखा है कि रसायन का सेवन कर जमदग्नि दीर्घकाल तक जीवित रहा।[2] वह आयुर्वेद का कर्ता और सर्वलोक-चिकित्सक था।

वरुण कश्यपवंशीय था। इन्द्र, विष्णु आदि प्रमुख बारह देवों में से वरुण भी एक है। शालिहोत्र के वचनानुसार वह भी आयुर्वेद का कर्ता था। इसी कश्यपवंश में ऋषि काश्यप हुआ। वह भी आयुर्वेद का प्रवर्तक था। 'निबन्ध-संग्रह' में उसके तंत्र-ग्रन्थों का हवाला मिलता है।[3] काश्यप के वचन अनेक आयुर्वेदग्रंथों में उद्धृत हैं।[4] काश्यप ने आयुर्वेद पर तीन ग्रंथ लिखे थे, जिनके नाम हैं: 'स्त्रीचिकित्सासूत्र'[5], 'काश्यपसंहिता'[6] और 'रोगनिदान'।[7] काश्यप की 'आयुर्वेदसंहिता' १९९५ वि० में प्रकाशित हुई है। उसके उद्धार का श्रेय वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजि तथा नेपाल के राजगुरु पं० हेमराज शर्मा को है। उन्होंने बड़े श्रम से ताड़पत्र की एक खंडित पोथी के आधार पर इस ग्रन्थ का संपादन किया है।

'चरक' में लिखा है कि इन्द्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद पढ़ाया था और तदनु भरद्वाज ने एक 'अगदतंत्र' की रचना की थी[8]। इंद्र ने भरद्वाज को श्रोणतंत्र पढ़ाया था या केवल कायतंत्र ही, यह अज्ञात है। 'वायुपुराण' में लिखा है कि भरद्वाज ने एक 'आयुर्वेदसंहिता' की रचना की थी और तदनंतर उसके आठ विभाग कर उसे अपने शिष्यों को पढ़ाया था।[9] इससे यह विदित होता है कि संभवतः इंद्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद के आठों तंत्रों में दीक्षित किया था। भरद्वाज के आयुर्वेदज्ञ होने के प्रबल प्रमाण 'चरक' में देखने को

---

१. जैमिनीय ब्राह्मण १।१५२ २. चरकसंहिता, चि० १।४

३. निबन्धसंग्रह ६।२७

४. निबन्धसंग्रह १२।४; ५७।११; सुश्रुतसंहिता, शा० २।२९; अष्टांगसंग्रह, उ० स्थान, अध्याय ३६, पृ० २७० (इंदु टीका)

५. इंडियन कल्चर, भाग ९, पृ० ५३-६४

६. वृद्धजीवकीयतन्त्र, उपोद्घात, पृ० ३७ तथा तंजोर पुस्तकालय का ग्रन्थसंग्रह सं० ११०४५ (अपूर्ण प्रति)

७. राजकीय पुस्तकालय का सूचीपत्र, भाग २३, सं० १३११२

८. चरक, अष्टांगहृदय, पृ० १८ (निर्णय सागर प्रेस, षष्ठावृत्ति, वाग्भटविमर्श)

९. वायुपुराण १९।३२

मिलते हैं। उसमें लिखा है कि भरद्वाज ने आत्रेय पुनर्वसु आदि शिष्यों को कायचिकित्सा का ज्ञान दिया था।[1]

देवयोनि प्रथम धन्वंतरि ने ही उसी नाम से मर्त्यलोक में पुनर्जन्म लिया, ऐसा विश्वास किया जाता है। इस धन्वंतरि द्वितीय की पुराणों में सुरक्षित वंशावलि के अनुसार पता चलता है कि उसका जन्म किसी चंद्रवंशीय राजकुल में हुआ था। 'हरिवंश', 'ब्रह्माण्ड' और 'वायु' आदि पुराणों में उल्लिखित धन्वंतरि द्वितीय की वंशावलि से यही विदित होता है कि उसके पूर्व पुरुष का नाम सुहोत्र और अंतिम पुरुष का नाम प्रतर्दन था।[2]

धन्वंतरि द्वितीय मर्त्यलोक में आयुर्वेद के प्रथम प्रवर्तकों में से हुआ। उसने बार्हस्पत्य भारद्वाज से भिषक्क्रिया सहित आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था और उसके बाद उस आयुर्वेदविद्या को आठ अंगों में विभाजित कर उसने अपने शिष्यों को दिया। विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत का गुरु भी धन्वतंरि ही था; किन्तु उसका मूलनाम दिवोदास था, जो धन्वंतरि द्वितीय की तीसरी पीढ़ी में हुआ और इसलिए जिसको धन्वंतरि तृतीय के नाम से याद किया जाता है। दिवोदास उसका औपचारिक नाम था।[3] उसके पांडित्य और उसकी प्रतिभा का यशोगान अनेक ग्रन्थों में विस्तार से देखने को मिलता है।[4]

धन्वंतरि द्वितीय के आयुर्वेदविषयक ग्रन्थ का नाम है : 'धातुकल्प'[5]। इसके अतिरिक्त श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने धन्वंतरि के पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है[6] 'अजीर्णामृतमंजरी', 'रोगनिदान', 'वैद्यचिन्तामणि', 'विद्याप्रकाश-चिकित्सा' और 'धन्वंतरीय निघण्टु'। धन्वंतरि के नाम से 'वैद्यक स्वरोदय'

---

१. चरक, सूत्रस्थान १।२६-२८

२. हरिवंश १।३२।१८, २२, २८; १।२९।५-१०; ब्रह्माण्ड ३।६६।३; वायु९२।१८

३. सुश्रुतसंहिता, सूत्र० १।३; भावप्रकाश १।७८

४. हरिवंश १।९; सुश्रुतसंहिता, नि० १।३, चि० १।३, व० ४।३, उ० ६६।३; उसके सम्बन्ध में विस्तार के लिये देखिए—भगवद्दत्त : भारतवर्ष का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ४८; काश्यपसंहिता का उपोद्घात, पृ० ५८; मुखोपाध्याय : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन, भाग २, पृ० ३१२; हार्नली : दि प्रेजेंट वर्क प्रोफेसर्स टु बि बाई सुश्रुत (बावर मैन्युस्क्रिप्ट्स, पार्ट १, पृ० २; कविराज : आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० १६०

५. बड़ौदा लाइब्रेरी का सूचीपत्र, भाग २, प्रवेश सं० १५७६ (ए)

६. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन, भाग २, पृ० ३२८   ९.

और 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक दो ग्रंथ और उपलब्ध हैं। इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि ये सभी ग्रंथ एक ही धन्वंतरि के हैं या अनेक व्यक्तियों के। उसके 'निघंटु' ग्रंथ के हस्तलेख बीकानेर, इंडिया आफिस, आक्सफोर्ड, मद्रास और बड़ौदा आदि के ग्रन्थ-संग्रहों में सुरक्षित हैं।

भिषग्विद्या का प्रवर्तन

आत्रेय पुनर्वसु और धन्वंतरि दोनों सहाध्यायी थे। परमर्षि भरद्वाज दोनों के शिष्य थे। भिषग्विद्या की दिशा में इन दोनों आचार्यों को संसार के सर्वोच्च कहे जाने वाले वैज्ञानिकों की श्रेणी में रखा गया है। ब्रह्मा के मानस-पुत्र अत्रि का उल्लेख पहिले हो चुका है। आत्रेय पुनर्वसु उन्हीं के पुत्र थे।[1] अत्रि और आत्रेय के संबंध में बौद्ध महाकवि एवं परम दार्शनिक अश्वघोष का कथन है कि जो चिकित्साशास्त्र अत्रि न लिख सके थे उसका अत्रिपुत्र ऋषि आत्रेय ने उपदेश किया।[2]

उनकी माता का नाम चन्द्रभागा था[3] इसीलिए उनका एक नाम चान्द्रभागि भी लिखा मिलता है।[4] कृष्ण आत्रेय भी उनका अपर नाम था।[5] आत्रेय के इन अपर नामों के संबंध में विद्वानों का बड़ा विवाद रहा है।[6] आत्रेय के छह शिष्य थे: अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि[7]। इन सभी ने अलग-अलग तंत्रों की रचना की।

आत्रेय पुनर्वसु आयुर्वेदशास्त्र के एक असामान्य आचार्य हुए हैं। आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थों में उनके पांडित्य और उनके कृतित्व का यश सर्वत्र देखने को मिलता है।

'अष्टांगसंग्रह' में लिखा है कि पुनर्वसु आदि ने देवराज इंद्र से अष्टांग-

---

१. चरकसंहिता, सू० ३।२९; ३०।५०

२. अश्वघोष : बुद्धचरित १।४३

३. काश्यपसंहिता, उपोद्घात, पृ० ७७   ४. चरकसंहिता, सू० १३।१००

५. चरकसंहिता, सू० ११।६५; चि० २८।१५७; चि० २८।१६४; चि० १५।१३२; व्याख्याकुसुमावलि, पृ० ८४ (द्वितीय सं०)

६. गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन भाग २; योगेन्द्रनाथ सेन : चरकोपस्कार (चरक की व्याख्या) भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १९८, १९९; कविराज : आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० १७६-७८

७. चरकसंहिता १।३०, ३७

आम्नाय का ज्ञान प्राप्त कर लोकप्रिय तंत्र-ग्रन्थों की रचना की थी।[1] 'काश्यप संहिता' से भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि पुनर्वसु आत्रेय ने अपने पिता अत्रि से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी।[2] आत्रेयकृत 'आयुर्वेदसंहिता' के संबंध में विद्वानों ने विस्तार से सूचनाएँ दी हैं।[3] 'आत्रेय संहिता' के अनेक हस्तलेख, विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों में आज भी सुरक्षित हैं।[4]

इसके अतिरिक्त कविराज महोदय ने 'चरकसंहिता' में से आत्रेय के नाम के दो नये योग खोज निकाले हैं, जिनमें प्रथम बल तैल का उल्लेख 'चरक' चि० २८।१४८–१५६ और दूसरा अमृताद्य तैल 'चरक' चि० २८।१५७–१६४ में उल्लिखित है।[5] अब तक आत्रेय के लगभग तीस योगों का पता लगा है।

कायचिकित्सा का विकास

कायचिकित्सा के आचार्यों की परम्परा में अग्निवेश का नाम बड़े महत्त्व का है। 'भागवत' में अग्निवेश को देवदत्त का पुत्र तथा अग्नि का अवतार कहा गया है।[6] 'मत्स्यपुराण' में अंगिरा गोत्र के अंतर्गत अग्निवेश्य नाम आया है।[7] 'चरकसंहिता' में इनका एक जगह तो वह्निवेश[8] और दूसरी जगह हुताशवेश[9] दो पर्यायवाची नाम दिए गए हैं। इतिहासकारों ने इन्हें अग्नि का पुत्र माना है। पुनर्वसु आत्रेय से इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। 'महाभारत' में लिखा है कि अग्निवेश ने ऋषि भरद्वाज से आग्नेयास्त्र प्राप्त किया था।[10] धनुर्वेदाचार्य द्रोण इन्हीं का शिष्य था।[11] 'अग्निवेशतंत्र' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'नाडीपरीक्षा' नामक ग्रंथ भी इनके नाम से पाया जाता है।[12]

भेल, अग्निवेश का ही समकालीन था। आयुर्वेद की दो बृहत् परिषदों में इनके सम्मिलित होने का उल्लेख मिलता है। एक बार तो वह गार्ग्य,

---

१. अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान, अध्याय १ २. काश्यप संहिता पृ० ६२

३. मैनिंग : ऐंश्येंट ऐंड मेडिविअल इंडिया, भाग १, पृ० ३४०–३४२; मुखोपाध्याय : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन, भाग २, पृ० ४३१–४३३

४. बड़ौदा पुस्तकालय का सूचीपत्र, संख्या ११४, प्रवेशसंख्या ५८२६; भंडारकर सेकेंड रिपोर्ट फार दि सर्च आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, पृ० ४६

५. आयुर्वेद का इतिहास, पृ० १९१

६. भागवत ९।२।२१–२२ ७. मत्स्यपुराण १६९।१२

८. चरकसंहिता सूत्र० १३।३ ९. वही, सू० १७।५

१०. महाभारत १४०।४१ ११. वही, १४१।४१

१२. बड़ौदा का सूचीपत्र, वैद्यक प्रकरण, सं० १२४; प्रवेश सं० १५७९

माठर, आत्रेय पुनर्वसु, पाराशर्य तथा कश्यप आदि विद्वानों की परिषद् में सम्मिलित हुआ था[1] और दूसरी बार उसका नाम बडिश, शौनक, खण्डकाप्य, पराशर, भरद्वाज एवं कश्यप के साथ मिलता है।[2] पुनर्वसु या कृष्ण आत्रेय उसका गुरु था। कायचिकित्सा पर इन्होंने एक तंत्रग्रन्थ की रचना की थी। 'भेलसंहिता' इनका प्रमुख ग्रन्थ है, जिसके अनेक हस्तलेख उपलब्ध हैं। इसकी तेलगु लिपि में १६५० ई० की लिखी हुई एक प्रति राजकीय पुस्तकालय तंजौर में है।[3] इस संबंध में अब अधिक सामग्री उपलब्ध है, जिसके आधार पर इस संहिता-ग्रन्थ का संस्कार होकर अधिक प्रामाणिक संस्करण निकाला जा सकता है।

पराशर का संकेत भेल के प्रसंग में ऊपर किया जा चुका है। पराशर के सम्बन्ध में इतिहासकार बहुत समय तक बड़ी द्विविधा में रहे। श्री प्रफुल्लचंद्र दे[4], डॉ० हार्नलि[5], श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय[6] आदि विद्वानों को यह भ्रांति हुई कि सुश्रुत तथा वृद्धसुश्रुत, वाग्भट तथा वृद्ध वाग्भट और पराशर तथा वृद्धपराशर दो-दो व्यक्ति थे। मुखोपाध्याय जी ने दो पराशर लिखे हैं: एक कृष्ण द्वैपायन का पिता और दूसरा पुनर्वसु का शिष्य। किन्तु सारे भारतीय वाङ्मय में केवल एक ही पराशर हुआ: पुनर्वसु का शिष्य, कृष्ण द्वैपायन का पिता और शक्ति का पुत्र। उसका वंशक्रम इस प्रकार है[7]:
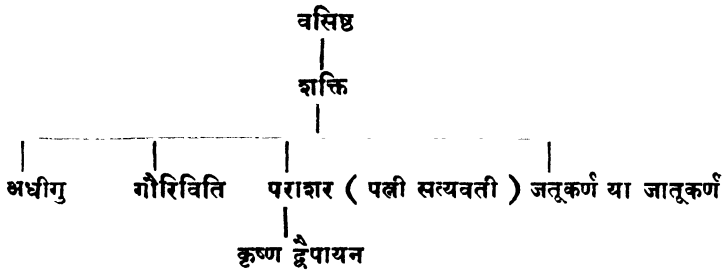
१. काश्यपसंहिता, पृ० ११०   २. भेलसंहिता, पृ० ८४

३ तंजोर की प्रति के आधार पर श्री आशुतोष मुखर्जी के संपादकत्व में कलकत्ता विश्वविद्यालय से १९२१ वि० में प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ पर मुखर्जी महोदय की भूमिका द्रष्टव्य है

४. दे : हि० हि० कै० भाग १, भूमिका पृ० २६, कलकत्ता १९०४ ई०

५. हार्नली : एस० एम० ए० आई० भाग १, पृ० १०–१४, आक्सफोर्ड १९०७

६. मुखोपाध्याय : हि० इं० मे०, भाग ३, पृ ५६६–५६८

७. कविराज : आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० २०७

पराशर के बृहत्पाठ को ही 'वृद्धपराशर' कहते हैं। इसी प्रकार एक 'वृद्ध अमरकोश' भी था।[1] आयुर्वेदीय 'पराशरतंत्र' और 'भेलतंत्र' एक ही समय की रचनाएँ हैं, जिसमें 'पराशरतंत्र' श्रेष्ठ था। 'हस्ति आयुर्वेद', 'गोलक्षण' और 'वृक्षायुर्वेद' नामक पराशर के आयुर्वेदविषयक तीन ग्रंथों का और उल्लेख हुआ है।

जतूकर्ण इसी परंपरा के आचार्य हुए। 'वायुपुराण' के (११।०) एक उल्लेख के आधार पर श्री रामचन्द्र दीक्षित ने जतूकर्ण को वशिष्ठ का पौत्र माना है।[2] इस दृष्टि से वह शक्ति का पुत्र एवं पराशर का अनुज ठहरता है। वह अग्निवेश, भेल और शालिहोत्र का समकालीन था। पुनर्वसु आत्रेय, पराशर और वाष्कल उसके गुरु थे। जतूकर्ण की 'आयुर्वेदीय संहिता' काय-चिकित्सा पर थी, जो उपलब्ध नहीं है। उसके उद्धरण ही विद्वानों को मिले हैं।[3]

हारीत ऋषि, चक्रवर्ती सम्राट् मांधाता की चौथी पीढ़ी में हुआ।[4] आत्रेय पुनर्वसु और भिक्षु पंचशिख उसके गुरु थे। शालिहोत्र के वचनानुसार हारीत सर्वलोक-चिकित्सक था। उसकी 'आयुर्वेदीय संहिता' भी कायचिकित्सा पर थी। उसके कुछ उद्धरण ही आज मिलते हैं।[5] कलकत्ता से मुद्रित 'हारीत-संहिता' इनकी नहीं है। श्री गिरीन्द्रनाथ जी ने 'हारीतसंहिता' के पाँच हस्तलेखों का हवाला दिया है।[6]

क्षारपाणि, आत्रेय पुनर्वसु का छठा शिष्य था। उसने कायचिकित्सा पर 'क्षारपाणितंत्र' की रचना की थी। उसके अनेक उद्धृत अंशों का पता लगा है।[7]

मर्त्यलोक को शालाक्यतंत्र का प्रथम ज्ञान निमि ने दिया, यतः उसे आद्यभिषक् कहा गया।[8] निमि का वंश अनेक ग्रन्थों में लिखा मिलता है।[9] तदनुसार निमि का पुत्र मिथि और मिथि का पुत्र जनक हुआ। जनक के

---

१. अमरकोश–टीका–सर्वस्व, १।१।२७
२. दीक्षितः पुराण इण्डेक्स, भाग १, पृ० ४४६
३. आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० २१८; दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य : 'न्यू लाइट आन वैद्यक लिटरेचर' (इंडियन हिस्टारिकल कार्टरली, भाग २३, पृ० १२३, जून १९४७)
४. भगवद्दत्तः भारतवर्ष का इतिहास, पृ० ७५
५. हि० इं० मे०, भाग ३, पृ० ५५१   ६. वही, पृ० ८२०
७. वही, पृ० ५६१; आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० २२४
८. सुश्रुतसंहिता, उ० २०।१३
९. रामायण, बाल० ६७।३; वायुपुराण ८९।३; ब्रह्माण्डपुराण ३।६४

बाद इस वंश में 'जनक' की उपाधि वाले अनेक राजा हुए।[1] निमि ने एक तंत्रग्रन्थ की रचना की थी।[2] वह शालाक्यतंत्र पर था।[3]

कराल, विदेहों का वंशज था। भ्रमवश मुखोपाध्याय जी ने कराल के लिए कराल भट्ट कहा है,[4] जो वस्तुतः भद्रशौनक होना चाहिए था। भद्रशौनक का परिचय आगे दिया जायगा। निमि, कराल का गुरु था। उसने भी एक शालाक्तंत्र की रचना की थी।[5] इसी प्रकार भद्रशौनक ने भी एक तंत्रग्रंथ लिखा था। इसके अतिरिक्त उसने लगभग छह ग्रन्थ और लिखे।[6]

आचार्य कांकायन बाह्लीक देश का था, जिसकी गणना वहाँ के तत्सामयिक उच्चकोटि के भिषकों में की जाती थी।[7] अपने समय का वह बड़ा प्रभावशाली विद्वान् था। उसके अनेक शिष्य थे। शालाक्य विषय पर लिखे उसके तन्त्र-ग्रन्थ के तीन वचन श्री गिरीन्द्रनाथ जी ने उद्धृत किए हैं;[8] और उनके अतिरिक्त चौथा वचन श्री कविराज जी ने।[9] वह मंत्रद्रष्टा एवं सूत्रकार भी था। उसकी गणना प्रमुख शालाक्यतंत्रकारों में की गई है।[10]

गार्ग्य भी शालाक्यतंत्रकार था। गार्ग्य नाम से अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है: दृप्त बालाकि गार्ग्य,[11] सौशिरायण गार्ग्य,[12] सौर्यमणि गार्ग्य[13] और ऊर्ध्ववेणीकृत गार्ग्य।[14] एक गार्ग्य 'चरक' के सूत्रस्थान में भी स्मृत है।[15] 'सुश्रुत' के प्रामाणिक टीकाकार डल्हण के मतानुसार गार्ग्य, धन्वंतरि का शिष्य था।[16] वह अंगिरा और कांकायन का समकालीन था। यदि वैद्य, वैयाकरण और निरुक्तकार गार्ग्य एक ही था तो उसको पाणिनि,

---

१. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १९०; आयु० इति० १, पृ० २३०
२. अष्टांगहृदय, उ०, पृ० १०९
३. वही, सू० १।४
४. हि० इं० मे०, भाग ३, पृ० ७७१
५. सुश्रुतसहिता, उ० १४-७; चरकसंहिता, चि० २६।१३०, १३१
६. आयुर्वेद का इतिहास, पृ० २४२
७. चरकसंहिता, सू० २६।५
८. हि० इं० मे०, भाग २, पृ० ४३३
९. आयु० का इति० १, पृ० २४३
१०. हरिशास्त्री : अष्टांगहृदय की भूमिका, पृ० १७
११. शतपथ १४।१।१
१२. हरिवंश, पृ० ५७
१३. प्रश्नोपनिषद् ४।१
१४. वायुपुराण ३४।६३
१५. चरक, सूत्रस्थान १।१०
१६. सुश्रुतसहिता-टीका, सू० ११३

बल्कि यास्क से भी पहिले का होना चाहिए।[1] गार्ग्य के शालाक्यतंत्र के कुछ उद्धरण मिलते हैं,[2] जिनसे उसके ग्रन्थ की सत्यता का पता लगता है।

व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता, बाभ्रव्यगोत्रीय एवं पांचालदेशीय गालव 'सुश्रुत' के टीकाकार डल्हण के मतानुसार धन्वंतरि का शिष्य था।[3] हिमालय के निकट आयोजित ऋषि-सम्मेलन में गालव भी उपस्थित था। उसको सर्वलोकचिकित्सक के रूप में भी स्मरण किया गया है। वह अनेक ग्रंथों का रचयिता था। डल्हण ने उक्त प्रसंग में बताया है कि गालव बाभ्रव्य ने एक 'शालाक्यतंत्र' की रचना की थी। आधुनिक विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं।[4]

सात्यकि वृष्णिवंशीय एवं श्रीकृष्ण का भाई था। उसको कवि, सेनापति और आयुर्वेदज्ञ बताया गया है। वह धनुर्विद्या में भी निपुण था। अर्जुन से उसे धनुर्विद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ था। 'चरकसंहिता-व्याख्या'[5] और 'सुश्रुत-संहिता-व्याख्या'[6] में सात्यकि के शालाक्यतंत्रविषयक वचनों का उल्लेख हुआ है। इनके ११ वचन गिरीन्द्रनाथ जी ने भी एकत्र किए हैं।[7]

शल्यचिकित्सा

शल्यचिकित्सा का पहिला उपदेशक दिवोदास धन्वंतरि हुआ। उसने अपने सात सुयोग्य शिष्यों को इस उपयोगी ज्ञान में दीक्षित किया और उन शिष्यों द्वारा, आयुर्वेद की शल्यचिकित्सा-पद्धति लोक में विश्रुत हुई। धन्वंतरि के उन लोकहितकारी सात शिष्यों में सुश्रुत ही एक ऐसा है, जिसका तंत्र आज उपलब्ध है।

आचार्य सुश्रुत, महर्षि विश्वामित्र का पुत्र था।[8] महाराज गाधि उसके पितामह थे। सुश्रुत ऋषिस्थानीय माना गया है। राजगुरु हेमराज और

---

१. विस्तार के लिये देखिये—भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, खंड २ पृ० १६८; मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० १०५

२. काश्यपसंहिता, पृ० १०९

३. सुश्रुतसंहिता–टीका १।३

४. हरिशास्त्री : अष्टांगहृदय की भूमिका, पृ० १७

५. चरकसंहिता-व्याख्या २६।१२९–१३१

६. सुश्रुतसंहिता-व्याख्या, उ० ७।२५

७. हि० इं० मे०, भाग ३, पृ० ७७७

८. सुश्रुतसंहिता, चि० २।३; वही, उ० ६६।४; महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ४

श्री प्रफुल्लचन्द्र रे को इसमें संदेह था कि विश्वामित्र, सुश्रुत का पिता था;[1] बल्कि राजगुरु का तो यहाँ तक कहना है कि सुश्रुत, ऋषि शालिहोत्र का पुत्र था।[2] ऋषि सुश्रुत एवं उनकी संतति का उल्लेख वाग्भट,[3] कात्यायन,[4] और पाणिनि[5] आदि ने किया है। अतः वह इनसे पहिले हुआ। कविराज दिवोदास धन्वंतरि, सुश्रुत का गुरु था। धन्वंतरि से प्राप्त शल्यमूलक आयुर्वेद-ज्ञान को सुश्रुत ने तंत्ररूप में उपनिबद्ध किया। वह तंत्र, 'सुश्रुतसंहिता' के नाम से संप्रति उपलब्ध है।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि 'सुश्रुतसंहिता' के उत्तरतंत्र का रचयिता कोई दूसरा ही व्यक्ति था।[6] किन्तु यह धारणा असत्य है। हाँ, यह बात सत्य है कि 'सुश्रुतसंहिता' का प्रतिसंस्कार हुआ था। 'सुश्रुतसंहिता' के प्रारंभ में डल्हण का कथन है कि नागार्जुन ने उसका प्रतिसंस्कार किया। यही बात 'सुश्रुतसंहिता'[7] और उसकी गणदास-विरचित 'न्यायचंद्रिका-व्याख्या'[8] में भी लिखी हुई मिलती है।

हार्नलि[9] तथा गिरीन्द्रनाथ जी[10] ने सुश्रुत और वृद्धसुश्रुत नाम से दो व्यक्तियों की होने की संभावना की है और वृद्धसुश्रुत को 'संहिता' के उत्तरतंत्र का रचयिता ठहराया है; किन्तु वृद्धसुश्रुत व्यक्ति का नाम न होकर 'संहिता' का ही नाम था।[11]

सुश्रुत के ही समकालीन औपधेनव नामक एक आचार्य और हुए हैं। वे धन्वंतरि क शिष्य और सुश्रुत के सहाध्यायी थे। शल्यचिकित्सा पर उन्होंने 'औपधेनव' नामक एक तन्त्र-ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका उल्लेख 'सुश्रुतसंहिता' में मिलता है।[12] सुश्रुत और औपधेनव के सहतीर्थ, एवं धन्वंतरि के शिष्यों में उरभ्र पौष्कलावत, करवीर्य, वैतरण आदि ने भी शल्यचिकित्सा

---

१. हेमराज : काश्यपसंहिता का उपोद्घात, पृ० ६३; रे : हिस्ट्री ऑफ हिन्दू कैमिस्ट्री, भाग १, भूमिका, पृ० २६

२. उपोद्घात, पृ० ६९

३. अष्टांगसंग्रहसूत्र, पृ० १५२

४. अष्टाध्यायी, वार्तिक २।१।१७०

५. अष्टाध्यायी ६।२।३६

६. रुडल्फ हार्नलि : आस्टिओलाजि, भूमिका, पृ० ५ तथा राजगुरु : काश्यपसंहिता का उपोद्घात, पृ० ११२

७. सुश्रुतसंहिता, नि० ३।१३

८. न्यायचंद्रिका-व्याख्या, नि० ३।१२

९. आस्टिओलोजी, भूमिका, पृ० ५

१०. हि० इं० मे०, भाग ३, पृ० ५७२

११. कविराज : आयुर्वेद का इतिहास, पृ० २५५

१२. सुश्रुतसंहिता, सू० ४।९

पर तंत्र-ग्रंथों की रचना कीथी। औरभ्र और पौष्कलावत को प्रसिद्ध तंत्रकारों के रूप में 'सुश्रुतसंहिता' के उक्त प्रसंग में स्मरण किया गया है। 'अष्टांग-संग्रह' की 'इंदुटीका' में आचार्य उरभ्र के नाम से १० श्लोक उद्धृत किए गए हैं।[1] पुष्कलावत का एक वचन 'अष्टांगसंग्रह' में[2] और पाँच वचन श्री गिरीन्द्रनाथ जी की पुस्तक में उद्धृत हैं।[3] इसी प्रकार करवीर्य के सम्बन्ध में भी टीकाकार डल्हण ने एक शल्यतंत्र का उल्लेख किया है।[4] गिरीन्द्रनाथ जी की पुस्तक में भी उसके तंत्रग्रंथ का एक वचन उद्धृत है।[5] वैतरणतंत्र के तीन वचन भी गिरीन्द्रनाथ जी की पुस्तक में संकलित हैं।[6] उसके कुछ वचनों को कविराज जी ने भी उद्धृत किया है।[7]

शल्यचिकित्सा के प्राचीन आचार्यों में भोज का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका यह वास्तविक नाम न होकर जातीय नाम है, क्योंकि यादवों की ही एक जाति का नाम भोज था। भोज और उनके शल्यतंत्र का इतिहास बतानेवाले पहिले विद्वान् कविराज हैं।[8] भोज का ही समकालीन भालुकि था। उसके तंत्रग्रंथ के वचन अनेक ग्रंथों में उद्धृत एवं संकलित हैं।[9]

श्रीकृष्ण का परममित्र तथा सात्यकि का सहयोगी महाभारतकालीन आचार्य दारुक ने शल्यचिकित्सा पर 'आयुर्वेदावतार' ग्रंथ लिखा।[10] 'चरकसंहिता' के अन्तिमांशों का संस्कर्ता दृढबल था। उसके पिता कपिबल ने भी इस विषय पर कोई ग्रन्थ लिखा था।[11] हार्नलि साहब ने इनका समय सातवीं-नौवीं शती के बीच रखा था;[12] किन्तु भगवद्दत्त जी ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि कपिबल 'चरकसंहिता' के प्रसिद्ध टीकाकार भट्टारक हरिश्चंद्र के पूर्ववर्ती थे।[13]

---

१. अष्टांगसंग्रह–टीका, उत्तरस्थान, पृ० २६९ २. अष्टांगसंग्रह, उ०, पृ० २१८
३. हि० इं० मे, भाग ३, पृ० ६०४ ४. सुश्रुतसंहिता–टीका, सू० ४।९
५. हि० इं० मे०, भाग ३, पृ० ६०६ ६. वही, पृ० ६०७
७. आयुर्वेद का इतिहास, पृ० २५९, २६० ८. आयुर्वेद का इतिहास, पृ० २६०
९. सुश्रुतसंहिता, उ० ३९।६६; चरकसंहिता, टीका; हि० इं० मे०, भाग ३, पृ० ५२९–५३३
१०. देखिए–अष्टांगहृदय-व्याख्या (सर्वांगसुन्दरा) सू० ५५–५६; अष्टांगहृदय, शा० ३।८१
११. आयुर्वेद-दीपिका, सू० ७।४६–५०; अष्टांगहृदय भूमिका, पृ० १६
१२. आस्टिओलोजी, भूमिका, पृ० १६
१३. भारतवर्ष का इतिहास, पृ० १५७

कौमारभृत्यचिकित्सा

आयुर्वेद के इस अंग के सम्बन्ध में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध की पुरातन सूचना इतनी भर मिलती है कि आचार्य जीवक ने प्रजापति कश्यप से इस तंत्र का ज्ञान प्राप्त कर उसका विकास किया।

च्यवन, वाल्मीकि च्यवन के वंशज ऋचीक ऋषि का पुत्र था।[1] इस सम्बन्ध में इतना और जान लेना चाहिए कि भार्गव जीवक, महाराज बिम्बिसार का पुत्र प्रसिद्ध बौद्ध वैद्य जीवक से भिन्न था।[2] जीवक के सम्बन्ध में 'काश्यपसंहिता' एक मनोरंजक विवरण प्रस्तुत करती है। उसमें लिखा है कि 'महर्षि कश्यप ने पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से ज्ञानचक्षु द्वारा देख कर, तपोबल से अपने 'कुमारतंत्र' की रचना की; उसी ने इसका संक्षेप भी किया। परन्तु बालक द्वारा उपदिष्ट समझ कर, मुनियों ने इस तंत्र का स्वागत नहीं किया। पाँच वर्ष के जीवक को ऋषियों की यह प्रवृत्ति समझ में आई। उसने सब ऋषियों के सामने कनखल (हरिद्वार के निकट) के गंगाह्रद में अपने को निमग्न कर दिया। क्षण भर में ही वह दाढ़ी-मोछ एवं फूले हुए बालों को धारण कर प्रकट हुआ। यह देख ऋषिमंडली विस्मित हुई। तभी से उसका नाम वृद्धजीवक पड़ा'।[3]

संप्रति उपलब्ध 'काश्यपसंहिता' अथवा 'वृद्धजीवकतंत्र' प्रजापति काश्यप के उपदेशस्वरूप जीवक को प्राप्त हुआ था। वात्स्य ने उसका प्रतिसंस्कार किया।

कौमारभृत्यचिकित्सा पर तंत्रग्रन्थकारों की परम्परा में जीवक के बाद पार्वतक, बंधक और रावण का नाम उल्लेखनीय है। पार्वतक और बंधक का कोई इतिहास विदित नहीं है। 'कुमारतंत्र' के कर्ता रावण को गिरीन्द्रनाथ जी ने प्रसिद्ध लंकेश्वर माना है।[4] वैदिक ग्रंथों पर लिखा 'रावण-भाष्य' संप्रति उपलब्ध है। यह भाष्यकार लंकेश्वर रावण ही वैद्य रावण था, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कविराज जी ने वैद्य रावण को लंकेश्वर रावण से अर्वाचीन बताया है।[5] रावण के नाम से 'बाल-

१. काश्यपसंहिता, पृ० १४८, १७७, १९१, २०६, २४९, ३०१
२. कविराज : आयुर्वेद का इतिहास, १, पृ० २९५
३. काश्यपसंहिता, पृ० १९१
४. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन, भाग २, पृ० ४२५
५. आयुर्वेद का इतिहास, १, पृ० २६७

तंत्र', 'बालचिकित्सा', 'नाडीपरीक्षा', 'अर्कप्रकाश' और 'उड्डीशतंत्र' आदि वैद्यक ग्रंथ उपलब्ध हैं।

अगदतंत्र

विविध विषों के शांति का उपाय बताने वाला तंत्र अगदतंत्र कहलाता है। अगदतंत्र के पहिले आचार्य काश्यप, उशना और बृहस्पति हुए हैं, जिनके जीवन एवं कृतित्व पर पहिले प्रकाश डाला जा चुका है।

आलम्बायन इस परंपरा के चौथे आचार्य हुए। यजुर्वेद के चरक-चरण का शाखाकार आलम्बि का पुत्र ही आलम्बायन था। 'महाभारत' में भी इसका नाम आया है।[1] अतएव वह भारत-युद्ध से पहिले, अथ च, महाभारतकालीन व्यक्ति था।

डल्हण के 'निबन्धसंग्रह' में 'आलंबायनतंत्र' के कई वचन उद्धृत हैं। आलम्बायन के चार वचनों का उद्धरण गिरीन्द्रनाथ जी ने भी दिया है।[2] अगदतंत्र के आचार्य दारुवाह का जन्म गांधार के राजवंश में हुआ।[3] उसका दूसरा नाम नाग्नजित् भी था। वह निमि का समकालीन था और आत्रेय पुनर्वसु और प्रजापति कश्यप से उसने इस विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। उसके तंत्र-ग्रन्थ के उद्धरण कई ग्रन्थों में मिलते हैं।

'महाभारत' के आदिपर्व में वर्णित जरत्कारु एवं मनसा देवी का पुत्र आस्तीक नागवंशीय था। उसने भी अगदविद्या पर एक तंत्रग्रंथ का निर्माण किया था, जिसके आज उद्धरण ही मिलते हैं। इस परंपरा में अज्ञात नाम लेखकों की कृतियों में 'तार्क्ष्यतंत्र', 'विषतंत्र', 'अगदराजतंत्र' आदि के नाम मिलते हैं।[4]

रसायनतंत्र

दीर्घायु जीवन की विधियाँ बताने वाला आयुर्वेद का एक अंग रसायन तंत्र के नाम से कहा जाता है। भारतीय इतिहास में योगबल या रसायन-विद्या से लम्बी आयु बिताने वाले ऋषि-मुनियों का उल्लेख प्रचुरता से मिलता

---

१. महाभारत, अनुशा० अध्याय ४९ २. हि० इं० मे०, भाग ३, पृ० ७६०
३. भेलसंहिता, पृ० ३० ४. देखिए : आयुर्वेद का इतिहास, पृ० २७३

है। रसतंत्र के कर्ता शिव, भृगु, अगस्त्य और वशिष्ठ आदि पुरातन आचार्यों का परिचय पहिले दिया जा चुका है। उनके अनन्तर इस परंपरा में आचार्य माण्डव्य का नाम उल्लेखनीय है। माण्डव्य के व्यक्तित्व का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलता है।[1] कहा नहीं जा सकता है कि यह उल्लेख एक ही माण्डव्य का है अथवा उस नाम के दूसरे व्यक्तियों का। किन्तु इतना निश्चित है कि वह दीर्घायु था। वसिष्ठ उसका गुरु था। नागार्जुन के 'रस-रत्नाकर' में माण्डव्य को रसतंत्रकार कहा गया है। उसका कोई भी तंत्र-विषयक ग्रन्थ अथवा वचन नहीं मिलता है।

आचार्य व्याडि भी रसतंत्रकार थे। संग्रहकार के रूप में व्याडि का व्यक्तित्व व्याकरण के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। वह पाणिनि का मामा था। वाग्भट के 'रसरत्नसमुच्चय' के आदि में जिन शीर्षस्थ २७ रसाचार्यों का उल्लेख किया गया है उनमें व्याडि भी एक है। रसाचार्य के रूप में इसके अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं विदित होता है।

वैयाकरण पतंजलि का पूरा परिचय व्याकरणशास्त्र के प्रकरण में दिया जा चुका है। चक्रपाणि तथा भोजदेव के उल्लेखों का जिक्र करते हुए हम यह बता चुके हैं कि पतंजलि का एक नाम चरक भी था। उसी ने 'चरकसंहिता' का प्रतिसंस्कार किया। वाग्भट के 'रसरत्नसमुच्चय' नामक जिस ग्रन्थ की चर्चा हमने ऊपर व्याडि के प्रसंग में की है, उसमें गिनाए गए रसाचार्यों में पतंजलि भी एक है। महाभाष्यकार, योगसूत्रकार और चरक का संस्कर्ता एक ही व्यक्ति था।[2]

सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागार्जुन रसायनतंत्र की निर्मातृ आचार्य-परंपरा में प्रमुख हैं। उसकी जीवनी और कृतित्व के संबंध में कविराज जी ने, दूसरे विद्वानों की भूलों का संस्कार करते हुए, विस्तार से प्रकाश डाला है।[3] नागार्जुन के आयुर्वेदसंबंधी ग्रन्थों के नाम हैं: 'लौहशास्त्र', 'रसरत्नाकर', 'कक्षपुट', 'आरोग्यमंजरी', 'योगसार', 'रसेंद्रमंगल', 'रतिशास्त्र', 'रसकच्छपुट' और 'सिद्धनागार्जुन'। इनमें अधिकांश ग्रन्थ हस्तलेखों के रूप में हैं।

---

१. हस्त्यायुर्वेद १।१।२७; कौषीतकी गृह्य० २।५; महाभारत, आदि०, अध्याय १०७; अर्थशास्त्र ४।८

२. वाक्यपदीय टीका, कांड १, पृ० २८४ (काशी संस्करण); योगसूत्रवृत्ति का प्रारंभ; मैक्समूलर: ASL, पृ० २३९; मीमांसक: संस्कृत व्या० इतिहास पृ० २५३–२५४

३. कविराज: आयुर्वेद का इतिहास १, पृ० २७९–२८५

आयुर्वेदशास्त्र के विकास की रूपरेखा

आत्रेय पुनर्वसु आयुर्वेदशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य थे, जो कि वैद्यकशास्त्र के दूसरे आचार्यों : कृष्णात्रेय तथा भिक्षु आत्रेय के समकालीन तक्षशिला विद्यापीठ के गौरवशाली युग में हुए, और बौद्ध आलेखों के अनुसार जो तथागत के पूर्ववर्ती सम्भवतया ६०० ई० पूर्व से भी पहिले हुए।[1] आयुर्वेद-शास्त्र के प्राचीन एवं संमान्य आचार्य अग्निवेश इन्हीं के शिष्य थे। आचार्य आत्रेय ने अपने शिष्य आचार्य अग्निवेश को आयुर्वेद का ज्ञान प्रदान किया; और अग्निवेश से चरक ने आयुर्वेद की ज्ञान-विरासत को प्राप्त कर उसको ग्रन्थ रूप में निबद्ध किया, जिसका नाम कि 'चरकसंहिता' है। आचार्य चरक का यह ग्रन्थ आचार्य अग्निवेश के वैद्यक ग्रन्थ का ही प्रतिसंस्करण था।[2] आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थों में 'चरकसंहिता' ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। 'चरकसंहिता' का एक अनुवाद अरबी में ८०० ई० के लगभग हुआ था और इससे भी पूर्व उसका एक अनुवाद फारसी में हो चुका था। आचार्य चरक गांधारवासी (पश्चिमी सीमाप्रांत के) थे और उनका समय प्रथम शताब्दी ईसवी के आस-पास था।[3] वैदिक युग में भी एक संप्रदाय 'चरक' के नाम से विख्यात था। वैद्य चरक सम्भवतः उसी सम्प्रदाय-परम्परा में से एक थे। वे सम्राट् कनिष्क के समय में हुए।[4]

एक प्राचीन आचार्य दृढबल नाम के हुए, जिनका पूरा नाम दृढबल वाग्भट था। इन्होंने चरक के उक्त ग्रंथ में आचार्य सुश्रुत के वैद्यक ग्रंथ का कुछ हिस्सा मिलाकर उसका पुनः संस्करण किया। दृढबल आचार्य का समय पाँचवीं-छठी शताब्दी था। आयुर्वेद का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सुश्रुतसंहिता' है, जिसका ठीक समय निश्चित नहीं है; किन्तु आठवीं-नवीं शताब्दी तक जिसकी ख्याति विदेशों तक पहुँच चुकी थी। सुश्रुत, आचार्य धन्वन्तरि के शिष्य और आचार्य चरक के परवर्ती थे। 'सुश्रुतसंहिता' का पहिला संस्करण नागार्जुन (शून्यवादी नागार्जुन से भिन्न) ने और दूसरा वाग्भट ने किया। संप्रति जो 'चरकसंहिता' हमें उपलब्ध है, वह वाग्भट कृत पुनः संस्करण ही है। दृढबल वाग्भट का एक नाम दृढबल पांचनद भी था।[5] इस 'पांचनद'

---

१. जयचन्द्र विद्यालङ्कार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृ० ९२४

२. वही, पृ० ९२४ ३. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३०५

४. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २ पृ० ९२४

५. चरकसंहिता ३०, २७५

शब्द के आधार पर श्री विद्यालंकार जी ने वाग्भट को पंजाब की नदियों के अंतिम संगम पर स्थित एक बस्ती का रहने वाला बताया है।[1] इसी प्रकार के प्राचीन ग्रन्थों में 'काश्यपसंहिता', 'नावनीतक' और वृद्धजीवक का 'वृद्धजीवकीय' उल्लेखनीय हैं।

सिंहगुप्त के पुत्र आचार्य वाग्भट (६ ठी शता०) ने 'अष्टांगहृदय' एवं 'अष्टांगसंग्रह' दो ग्रन्थ लिखे।[2] 'योगसार' और 'योगशास्त्र' दोनों ग्रंथों का लेखक रासायनिक नागार्जुन माना जाता है। कुछ विद्वान् बौद्ध नैयायिक नागार्जुन, रासायनिक नागार्जुन को एक ही व्यक्ति मानते हैं; किन्तु अब इस बात के यथेष्ट प्रमाण मिल चुके हैं कि दोनों व्यक्ति अलग-अलग थे। इसी परंपरा में इन्दुकर के पुत्र आचार्य माधवकर (८वीं श०) ने 'रुग्विनिश्चय' (माधवनिदान), एक अज्ञातकालीन लेखक वृन्द ने 'वृन्दमाधव', वंगदेशीय विद्वान् चक्रपाणिदत्त (११वीं श०) ने तथा वंगसेन (११वीं श०) दोनों ने एक ही नाम के दो 'चिकित्सासार' ग्रंथ लिखे। चक्रपाणिदत्त ने 'सुश्रुत' और 'चरक' पर टीकाएँ भी लिखीं। एक आयुर्वेद ग्रन्थ 'शार्ङ्गधरसंहिता' भी है, जिसका लेखक ग्रंथ के ही नाम से शार्ङ्गधर स्पष्ट है और जिसका स्थितिकाल १२वीं शताब्दी था। मिल्हण (१३वीं श०) ने 'चिकित्सामृत'; वैयाकरण बोपदेव (१३वीं श०) ने 'शार्ङ्गधरसंहिता-टीका' एवं 'शतश्लोकी', तिसट (१४वीं श०) ने 'चिकित्साकलिका', भावमिश्र (१६वीं श०) ने 'भावप्रकाश' और लोलम्बराज (१७वीं श०) ने 'वैद्यजीवन' लिखकर आयुर्वेदशास्त्र की परम्परा को प्रशस्त किया।

आयुर्वेद में रासायनिक विषय पर लिखे गए ग्रन्थों का अपना अलग स्थान है। इस विषय पर पहिला ग्रंथ नागार्जुन का 'रसरत्नाकर' और उसके बाद के ग्रन्थों में वाग्भट का 'रसरत्नसमुच्चय' और नित्यनाथकृत 'रसरत्नाकर' आदि का नाम उल्लेखनीय है।

इसी प्रकार अश्व-चिकित्सा पर गण[3] के 'अश्वलक्षण', 'हयलीलावती', 'अश्वायुर्वेद' (सिद्धयोगसंग्रह), जयदत्त एवं दीपंकर का संयुक्त ग्रंथ 'अश्ववैद्यक',

---

१. विद्यालंकार जी का उक्त ग्रन्थ, पृ० ९२४ का फुटनोट १

२. म० म० स्वर्गीय ओझा जी ने 'अष्टांगसंग्रह' के रचयिता वृद्ध वाग्भट को ७ वीं शताब्दी का और 'अष्टांगहृदय' का रचयिता वाग्भट को वृद्ध वाग्भट से भिन्न ८ वीं शताब्दी का व्यक्ति माना है—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ११९

३. वही, पृ० १२२

वर्धमानकृत 'योगमंजरी', नकुलकृत अश्वचिकित्सा पर 'शालिहोत्र', धारानरेश भोज का 'शालिहोत्र' और सुखानन्द या चित्सुखाचार्य का 'अश्वशास्त्र' प्रमुख है। पालकाप्यकृत 'गजचिकित्सा', 'गजायुर्वेद', 'गजदर्पण', 'गजपरीक्षा' और बृहस्पति कृत 'गजलक्षण' तथा 'गो-वैद्यशास्त्र' भी इसी परम्परा के ग्रन्थ हैं।

वैद्यकशास्त्र के कोश-ग्रंथों की भी समृद्ध परम्परा रही है। इस कोटि के कोशग्रन्थों में 'धन्वन्तरीय निघण्टु' (अज्ञातकालीन), सुरेश्वर (११वीं श०) कृत 'शब्दप्रदीप', नरहरि (१३वीं श०) का 'राजनिघण्टु', मदनपाल (१४वीं श०) का 'मदनविनोद-निघण्टु' और एक अज्ञात लेखक का 'पथ्यापथ्यनिघण्टु' का नाम उल्लेखनीय है।

इसी परम्परा में लिखा हुआ पण्डित हंसदेव का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'मृगपक्षिशास्त्र' है। इस विलक्षण ग्रन्थ में शेरों के विभिन्न भेदों का बड़ी बारीकी से वर्णन किया गया है और साथ ही व्याघ्र, भालू, हाथी आदि वन्य प्राणियों तथा गरुड़, हंस, बाज आदि नभचारी पक्षियों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक की प्राप्ति का श्रेय तिरुपतिवास्तव्य (मद्रास) पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् पण्डित बी० विजयराघवाचार्य को है।[1]

१. ओझा : मध्यकालीन भा० सं०, पृ० १२२-२३ तथा फुटनोट
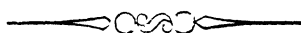
धर्मशास्त्र

स्मृतियों का निर्माण

स्मृतियों का निर्माण हिन्दू-धर्म की चरमोन्नति का सूचक है। 'श्रुति' और 'स्मृति' ये दोनों शब्द व्यापक अर्थ के पर्यायवाची शब्द हैं। श्रुति से जिस प्रकार वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रन्थों का बोध होता है, जिनका वर्णन हम विस्तार से वैदिक साहित्य के प्रसंग में कर आए हैं, ठीक उसी भाँति, स्मृति शब्द के अन्तर्गत षड्वेदांग, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र, इतने सभी विषयों का अन्तर्भाव हो जाता है। श्रुति और स्मृति का यही व्यापक अर्थबोध है। विशिष्ट रूप से स्मृति शब्द को, बाद के ग्रंथकारों ने धर्मशास्त्र का पर्यायवाची मान लिया; किन्तु 'श्रुति' के साथ जहाँ भी 'स्मृति' शब्द को संयुक्त करके कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ धर्मशास्त्र तक ही सीमित न रह कर वह व्यापक अर्थ का बोध कराता है। धर्मशास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं; जिसमें राजा-प्रजा के अधिकार, कर्तव्य, सामाजिक आचार-विचार, व्यवस्था, वर्णाश्रमधर्म, नीति, सदाचार और शासन-संबंधी नियमों की व्यवस्था का वर्णन होता है।

पुराणों और उपपुराणों की संख्या की भांति स्मृतियाँ भी अनेक थीं; किन्तु अष्टादश महापुराणों की तरह प्रमुख स्मृतियों की संख्या अठारह मानी जाती है। इन अठारह स्मृतियों के निर्माता हुए : १. मनु, २. याज्ञवल्क्य, ३. अत्रि, ४. विष्णु, ५. हारीत, ६. उशनस् , ७. अंगिरा, ८. यम, ९. कात्यायन, १०. बृहस्पति, ११. पराशर, १२. व्यास, १३. दक्ष, १४. गौतम, १५. वशिष्ठ, १६. नारद, १७. भृगु और १८. अंगिरा।

इन स्मृतिकारों के स्मृतिग्रंथ आज अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं हैं। मानव 'धर्मशास्त्र' इस विषय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ था। मनु को मानव-जाति के आदि पुरुष के रूप में संहिता और ब्राह्मण आदि ग्रंथों में स्मरण किया जाता है। इस दृष्टि से मनु के व्यक्तित्व की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। 'मानव धर्मशास्त्र' के कुछ अंश प्राचीनतम ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। संप्रति 'मनु-स्मृति' के नाम से जो स्मृति-ग्रंथ उपलब्ध है, उससे 'मानव-धर्मशास्त्र' के प्राप्तांश बिल्कुल भी मेल नहीं खाते हैं। इस दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि बहुत संभव है कि वर्तमान 'मनुस्मृति' की रचना 'मानव-धर्मशास्त्र' के सूत्रों के आधार पर की गई हो।

'मनुस्मृति' अपने मूलरूप में 'मानव-धर्मशास्त्र' की प्रामाणिकता को बताने में भले ही असमर्थ हो; किन्तु आज जितने भी स्मृति-ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें उसको अन्तिम प्रमाण माना गया है। बहुत-सी स्मृतियाँ केवल उसी के निर्देशों को हेर-फेर कर लिखी गई मानी जाती हैं।

स्मृतियों की प्राचीनतम परम्परा

'मनुस्मृति' में जिन सामाजिक विषयों की व्याख्या वर्णित है, उन्हीं से मिलते-जुलते कुछ विषयों पर 'महाभारत' भी प्रकाश डालता है। 'महाभारत' के शांतिपर्व में देवश्रेष्ठ ब्रह्मा द्वारा एक ऐसे 'नीतिशास्त्र' की रचना का उल्लेख है, जिसमें एक लाख अध्याय थे। ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त इस 'नीतिशास्त्र' में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों की विस्तृत व्याख्या वर्णित थी। महा-भारतकार का कथन है कि युग-परिवर्तन एवं आयुःक्षय के हिसाब से भगवान् शंकर ने उक्त 'नीतिशास्त्र' को दस हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया और महाव्रती इन्द्र ने उस दस हजार अध्यायों वाले 'वैशालाक्ष' नीतिशास्त्र को पुनः पाँच हजार अध्यायों में संक्षिप्त कर उसका नाम 'बाहुदन्तकशास्त्र' रखा। यही शास्त्र आगे चलकर 'बार्हस्पत्यशास्त्र' के नाम से अभिहित हुआ। उसी को अद्भुत प्रतिभाशाली विद्वत्श्रेष्ठ शुक्राचार्य ने एक हजार अध्यायों में नियमित किया और तदनंतर विभिन्न ऋषि-मुनियों ने मनुष्यों की अल्पायु के अनुसार शुक्राचार्य के शास्त्र को युग के हिसाब से और भी संक्षिप्त किया।[1]

'महाभारत' के इस विवरण से विदित होता है कि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा द्वारा विहित एक लाख अध्यायों वाला 'दण्डनीति' ग्रंथ माहेश्वर को ही विदित रहा

१. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ५९

होगा। शंकर ने जिस दस हजार वाले 'वैशालाक्ष' ग्रंथ की रचना की उसकी जानकारी देव-गण को रही होगी। देवश्रेष्ठ इन्द्र द्वारा विहित 'बाहुदन्तक' ग्रंथ ही भीष्मपितामह के युग में 'बार्हस्पत्यशास्त्र' से प्रसिद्ध हुआ। इसी के आधार पर शुक्र ने एक हजार अध्यायों वाले 'औशनसी-नीति' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया, संभवतः 'शुक्रनीति' ही जिसका संस्करण रहा हो।

इधर मनु, वशिष्ठ और विष्णु प्रभृति ऋषिप्रवरों के सूत्र-ग्रंथ पितामह ब्रह्मा की 'दण्डनीति' पर आधारित रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं है। 'महाभारत' में जो सूची दी गई है, वह इतनी सर्वव्यापी है कि उसमें धर्मशास्त्र के अन्तर्गत अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, शिल्पशास्त्र और रसायनशास्त्र आदि विषयों तक का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

स्मृतियों के संबंध में अलबेरूनी का कथन है कि वे वेदों से उद्भूत हैं। उनको ब्रह्मा के बीस पुत्रों ने रचा, जिनके नाम हैं : १. आपस्तंब, २. पराशर, ३. शतपथ (शातातप ?), ४. सामवर्त, ५. दक्ष, ६. वसिष्ठ, ७. अंगिरस्, ८. यम, ९. विष्णु, १०. मनु, ११. याज्ञवल्क्य, १२. अत्रि, १३. हारीत, १४. लिखित, १५. शंख, १६. गौतम, १७. बृहस्पति, १८. कात्यायन, १९. व्यास और २०. उशनस्।[1] देवल, शुक्र, भार्गव, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य, और मनु इनको अलबेरूनी ने व्यास के छह स्मृतिकार शिष्य कहा है।[2]

अलबेरूनी का यह गणनाक्रम भले ही इतिहास-संमत न हो; किन्तु इतना निश्चित है कि स्मृतियों की मूल बातों पर पुरातन ऋषि-संप्रदायों में ही विचार-विमर्श होने लग गया था। ये विचार धर्मसूत्रों के रूप में प्रकट हुए और इन्हीं धर्मसूत्रों के आधार पर स्मृतियों की रचना हुई।

वसिष्ठकृत जो 'धर्मसूत्र' संप्रति उपलब्ध है, उसकी रचना 'महाभारत' युग में हुई। इस दृष्टि से कहा नहीं जा सकता है कि यह किस वसिष्ठ की रचना है।[3] प्रजापति कश्यप ने भी संभवतः धर्मशास्त्र पर एक सूत्रग्रंथ लिखा था। इन सूत्रों के कुछ अंश विश्वरूप आदि की प्राचीन टीकाओं में उद्धृत हुए मिलते हैं। 'बौधायन धर्मसूत्र' में भी काश्यपीय धर्मसूत्रों के वचन उद्धृत हैं।[4] आचार्य हेमाद्रि कृत 'दानखंड' (पृ० २६१) में अगस्त्य के

---

१. अलबेरूनी का भारत, पृ० ३५-३६ २. वही. पृ० ३७

३. कविराज : आयुर्वेद का इतिहास, पृ० ६४

४. बौधायन धर्मसूत्र १।२१।४

दानविषयक श्लोक उद्धृत हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि उन्होंने धर्मशास्त्र पर भी एक ग्रंथ लिखा था।

देवगुरु बृहस्पति ने धर्मशास्त्र पर एक बृहद् ग्रंथ की रचना की थी। धर्मशास्त्र-विषयक ग्रंथों में बिखरे हुए बार्हस्पत्य धर्मशास्त्र के २३०० लगभग श्लोकों का एक संग्रह बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। इसका संपादन एवं संकलन श्री रंगास्वामी ने किया है। इस संबंध में उनका कहना है कि 'बृहस्पति स्मृति' के अधिकांश उपलब्ध वचन ईसापूर्व दूसरी शती के हैं।[1] काणे महोदय ने धर्मशास्त्रकार बृहस्पति और अर्थशास्त्रकार बृहस्पति दो को भिन्न माना है[2] और साथ ही स्मृतिकार बृहस्पति का समय २००–४०० ई० के बीच माना है;[3] किन्तु इस संबंध में काणे जी ने जो प्रमाण दिए हैं, उनसे दूसरे विद्वान् असहमत हैं। कविराज जी का कथन है कि "ये दोनों लेखक भारतीय इतिहास के यथार्थ ज्ञान से शून्य हैं। बृहस्पति का धर्मशास्त्र विक्रम के ३००० वर्ष से पूर्व का है। विक्रम से १८०० वर्ष पूर्व का विद्वान् मुनि कात्यायन 'बृहस्पतिस्मृति' से परिचित था"।[4] किन्तु कविराज जी की स्थापना भी अतिरंजित है। इसी प्रसंग में कविराज जी का यह भी कथन है कि श्री रंगास्वामी द्वारा संकलित संग्रह में बृहस्पति का एक वचन मल्लिनाथकृत 'रघुवंश' की टीका ११।२१ का नहीं दिया गया है।

'महाभारत' के शांतिपर्व से प्रतीत होता है कि मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ, इन चित्रशिखंडी सात ऋषीश्वरों ने एक 'चित्रशिखंडिशास्त्र' की रचना की थी। यह शास्त्र उन्होंने एक लाख श्लोकों में रचा था, जिसमें संपूर्ण लोकतंत्र को धर्म में प्रवृत्त करने का उपदेश था।[5] यह शास्त्र एक प्रकार से धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ था।

'नारदस्मृति' आज दो भिन्न पाठों में उपलब्ध है। उस पर लिखा हुआ असहाय, अपरनाम विष्णुगुप्त चाणक्य के भाष्य का कुछ भाग अब भी उपलब्ध है। अतः मूल ग्रंथ निश्चित ही प्राचीन होना चाहिए।[6] 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का पुरातन टीकाकार विश्वरूप वृद्ध याज्ञवल्क्य के नाम से विश्वमित्र को उद्धृत

---

१. बृहस्पतिस्मृति की भूमिका (अंग्रेजी) पृ० १८५
२. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० १२५ ३. वही, पृ० २१०
४. कविराज सूरमचन्द्र : आयुर्वेद का इतिहास, पृ० १०६
५. महाभारत, शां० ३४३।२८–३०, ४०
६. आयुर्वेद का इतिहास, पृ० ११३

करता है। अनेक हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रहों में उनके धर्मशास्त्र-विषयक ग्रंथों के हस्तलेख देखने को मिलते हैं।[१]

सांख्यदर्शनकार कपिल के अतिरिक्त एक कपिल और हुआ, जो 'कपिलस्मृति' का रचयिता था। कहा जाता है कि उसने दस अध्यायों में यह स्मृतिग्रंथ लिखा था, जिसके प्रत्येक अध्याय में एक-एक सौ श्लोक थे। इस ग्रंथ में श्राद्ध, विवाह, प्रायश्चित्त और दत्तकपुत्र आदि विषयों का प्रतिपादन था।[२] 'संस्कारमयूख' में एक 'कपिलसंहिता' का भी उल्लेख मिलता है। यह संहिताकार कपिल और स्मृतिकार कपिल, दोनों एक ही था, इस सम्बन्ध में निश्चय नहीं है।[३]

'पराशरस्मृति' सम्प्रति उपलब्ध है, यद्यपि उसमें पर्याप्त हेर-फेर है। 'महाभारत' में जनक-पराशर के संवाद से और वृद्ध भीम को पराशर के धर्मकथन-प्रसङ्ग से पराशर के स्मृतिमर्मज्ञ होने का प्रबल प्रमाण है।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृति की रचना पराशर ने अपने अन्तिम दिनों में की थी।

अपरार्ककृत टीका में जातूकर्ण्य का एक श्लोक (पृ० ४२३ पर) उद्धृत है। उसमें कन्याराशि का उल्लेख है। जातूकर्ण्य के धर्मशास्त्र-विषयक वचन प्राचीन टीका-ग्रंथों में भी उद्धृत हैं। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि श्लोकात्मिका स्मृतियाँ ईसा की तीसरी-चौथी शती में रची जाने लगी थीं।[५]

हारीत का एक पूर्णांग कल्पसूत्र था। उसके श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों के वचन अनेक ग्रंथों में बिखरे हुए मिलते हैं।[६] उसके धर्मसूत्र के दो हस्तलेख भी उपलब्ध हो चुके हैं।[७] प्राचीन स्मृतियों की परम्परा में 'कात्यायनस्मृति' का भी स्थान है। षड्गुरुशिष्य ने 'कात्यायनस्मृति' और भ्राजसंज्ञक श्लोकों का

---

१. वही, पृ० १२८ २. उदयवीर शास्त्री : सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ३९

३. काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम १, पृ० ५२४

४. महाभारत, शां०, अध्याय १९६; अनुशा० १४६।३

५. काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० १२०

६. महाभारत, शां०, अ० २९४; कृत्यकल्पतरु, मोक्षकांड, पृ० ५३, गृहस्थकांड, पृ० ३८३; पातंजल योगसूत्र २।३० (व्यासभाष्य)

७. एक हस्तलेख को पं० वामनशास्त्री ने नासिक से प्राप्त किया था, जिसका हवाला जर्मन विद्वान जॉलि के 'रेखट उण्ट सिट्टे' नामक ग्रन्थ के पृ० ८-९ पर है और दूसरा हस्तलेख श्री राम अनन्त शास्त्री ने प्राप्त किया था, जो त्रिवेन्द्रम् के पुस्तकालय में बताया जाता है

रचयिता वार्तिककार वररुचि कात्यायन को माना है।[1] जो 'कात्यायन-स्मृति' आज उपलब्ध है, वह संभवतः पीछे की रचना है।

स्मृतियों का विषय

भारतीय जनजीवन में आचार-विचार-सम्बन्धी संस्कारों की परम्परा बहुत प्राचीन है। वैदिक संहिताओं का एक बहुत बड़ा भाग इन्हीं धर्म-कर्म और आचार-विचार-विषयक बातों का ही प्रतिपादन करता है। सारा वैदिक युग धर्मप्रधान एवं आचारप्रधान रहा है। वैदिक संहिताओं के बाद ब्राह्मण-ग्रंथों के निर्माण का प्रायः समग्र युग इन्हीं धर्म-कर्म-सम्बन्धी बारीकियों के अनुशीलन-परिशीलन करते हुए बीता है। आगे चलकर कल्पसूत्रों ने भी अपने प्रामाणिक तर्कों और परिशुद्ध विधानों द्वारा उक्त ब्राह्मण-युगीन मान्यताओं का ही समर्थन कर उन्हीं पर जोर दिया है।

हिन्दू-समाज की रचना जिस प्रकार आर्य और आर्येतर अनेक जातियों के समन्वय से पूरी हुई, उसी प्रकार उसका धर्म और उसकी संस्कृति के उद्गम स्थल भी अनेक रहे हैं। हिन्दू-धर्म अनेक धर्मों के तत्त्वों का निचोड़ है। हिन्दू-धर्म की इस समन्वयप्रधान प्रवृत्ति के कारण ही उसका निर्माण हम न तो एक ही व्यक्ति द्वारा बता सकते और न ही उसकी व्याख्या करनेवाले हम किसी एक ग्रंथ को ही उद्धृत कर सकते हैं।

असल में हजरत ईसा ने जैसे ईसाइयत का और हजरत मुहम्मद ने जैसे इस्लाम को जन्म दिया, हिन्दू-धर्म ठीक उसी प्रकार, किसी एक पुरुष की रचना नहीं है। यही कारण है कि अगर आप किसी हिन्दू से यह पूछें कि तुम्हारा धर्म-ग्रन्थ कौन-सा है, तो वह सहसा कोई एक नाम नहीं बता सकेगा। इसी प्रकार यदि आप उससे यह प्रश्न करें कि तुम्हारा अवतार, मुख्य धार्मिक नेता, नबी या पैगम्बर कौन है; तब भी किसी एक अवतार या महात्मा का नाम उससे लेते नहीं बनेगा। और यही ठीक भी है। क्योंकि हमारा धर्म न तो किसी एक महात्मा से आया और न किसी एक संप्रदाय से।[2]

हमारी पवित्र स्मृतियाँ इसी लंबी परम्परा का जीवन्त रूप हैं। भारतीय जीवन के सुदीर्घकालीन नियमों को क्रमबद्ध रूप में संकलन करने का कार्य

---

१. निदानसूत्र की भूमिका, पृ० २७

२. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ७३

स्मृतियों ने किया। सैकड़ों वर्षों के कठिन अन्वेषणों के परिणामस्वरूप समाज की सुव्यवस्था के लिए जो नियम निर्वाहित होते हुए चले आ रहे थे, उनपर स्मृतियों ने अपनी मुहर लगाकर अन्तिम रूप से प्रमाणित कर दिया। भारत के धार्मिक इतिहास में सामाजिक एकता के लिए भारतीय स्मृतियों ने जिन महान् आचार-प्रणालियों और उच्च नियमों की रूपरेखा तैयार की, दुनियाँ के इतिहास में इतने प्राचीन काल में ऐसे नियम नहीं बने।

स्मृतियों की रचना सूत्रग्रंथों के बाद हुई। धर्मसूत्र, सूत्रशैली में लिखे गए और 'विष्णुस्मृति' को छोड़ कर शेष स्मृतियों की रचना श्लोकों में हुई है। इन स्मृतियों में तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों पर समर्थ प्रकाश डाला गया है। बृहद् भारत की शासन-व्यवस्था के संबंध में इन स्मृतियों में बहुत बारीकी से विचार किया गया है। स्मृतियों के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन भारत का संविधान बड़े अध्यवसाय और परीक्षण के बाद तैयार किया गया था। तत्कालीन ब्राह्मण-संस्कृति की व्यापकता के परिचायक इन स्मृति-ग्रंथों में मनुष्यमात्र के हितों की रक्षा, उसके कल्याण की योजना और उसके आत्माभ्युदय की स्वतंत्रता का विधान सर्वत्र वर्णित है। स्मृतियों में 'मनुस्मृति', 'विष्णुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति' और 'नारदस्मृति' प्रमुख हैं।

यद्यपि आचार-विचार, कर्म-अनुष्ठान आदि की प्रवर्तन-परंपरा ब्राह्मण-ग्रंथों, सूत्रग्रंथों और उसके बाद स्मृतिग्रंथों तक में आई; किन्तु ब्राह्मणग्रंथों और सूत्रग्रंथों की अपेक्षा स्मृतिग्रंथों की विधानशैली सर्वथा अलग है। ब्राह्मणग्रन्थ वैदिक संप्रदाय तक ही सीमित हैं। सूत्रकारों ने वर्णाश्रम-धर्म के कर्तव्याकर्तव्य का प्रतिपादन भर करके अपने विधानों की इति कर दी; उधर स्मृतियों ने वर्णाश्रम-धर्म की कर्तव्याकर्तव्य-पद्धतियों पर अपनी विस्तृत राय तो दी ही, साथ ही ब्राह्मणग्रन्थ और सूत्रग्रन्थ जिस राजधर्म की विस्तृत मीमांसा, उसकी व्यवस्था के सम्बन्ध में जो मौन साधे आ रहे थे, स्मृतिग्रन्थों ने उस पर भी भरपूर प्रकाश डाला। संक्षेप में मानव धर्मशास्त्र से पूर्व धर्मऔर अर्थ को जो विभिन्नता से देखने की परंपरा बनी हुई थी, 'मनुस्मृति' में पहले-पहल हम देखते हैं कि जो राजधर्म एवं व्यवहार अर्थशास्त्र के जिम्मे होता हुआ चला आ रहा था, उसको धर्म की सीमाओं में कस कर धर्मशास्त्र का उपजीवी बना दिया। मनुस्मृतिकार का यह सर्वथा नया कार्य था।

'मनुस्मृति' की यह धर्म और अर्थ को एक दृष्टि से देखने की समन्वित

भावना का निर्वाह आगे चलकर 'वशिष्ठधर्मसूत्र' (संस्कृत रूप), 'विष्णुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में होता गया। सातवाहन युग के बाद गुप्तकाल में विरचित 'बृहस्पतिस्मृति' और 'कात्यायनस्मृति' में हम राजधर्म (अर्थशास्त्र) की न्यूनता और धर्म की अधिकता पाते हैं, यद्यपि जायसवाल जी के मतानुसार ये उत्तरवर्ती स्मृतिग्रन्थ भी 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के प्रभाव से अपने को सर्वथा मुक्त न कर सके थे।

स्मृतिग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित विधानों के संबंध में विद्वान् इतिहासकारों ने जिज्ञासायें की हैं कि स्मृतिग्रन्थों के जो विधान, या कानून हैं क्या वे आज के विधिग्रन्थों की भांति उस समय राजकीय कानून के रूप में व्यवहृत होते रहे अथवा ग्रन्थकारों की तत्सामयिक विधानों के अनुसार यह अपनी संमतियाँ मात्र थीं। कुछ विद्वानों ने स्मृतिग्रंथों को तत्कालीन विधान के आलोचना-ग्रन्थ माना है, विधि-ग्रंथ नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों की राय है कि वे स्मृतिग्रन्थ अपने युग के विधि-ग्रन्थ थे और उन पर राजकीय स्वीकृति की मुहर थी।

स्मृतियों का रचनाकाल

व्यापक हिन्दू-धर्म के प्रतिपादक धर्मशास्त्र के ग्रन्थ लगभग ६०० ई० पू० से लेकर १८ वीं शताब्दी तक निरन्तर निर्मित होते गए। इतिहासकारों ने स्मृति-ग्रन्थों के निर्माण की इन सुदीर्घ चौबीस शताब्दियों को तीन विभिन्न युगों में विभक्त किया है :[1]

पहिला युग : ६००–१०० ई० पू० तक
दूसरा युग : १००–८०० ई० तक
तीसरा युग : ९००–१८०० ई० तक

पहिला युग धर्मसूत्रों के निर्माण का युग है। धर्मसूत्र स्मृतियों के मूल उद्गम हैं। दूसरा युग धर्मसूत्रों की व्याख्या का युग है। इस युग में धर्मसूत्रों की दुर्गम एवं संकेतमयी रचनाशैली को बोधगम्य बनाने के लिए उनके व्याख्या रूप स्मृतियों की रचना हुई। ये स्मृतियाँ श्लोकों में निर्मित हैं। वस्तुतः स्मृतियों की रचना इस दूसरे युग से भी पूर्व की है। लगभग शुंग-युग को निश्चित रूप से हम स्मृतियों के निर्माण का युग और प्रथम शताब्दी ईसवी से उनके विकास का युग मान सकते हैं।

---

१. उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, २, पृ० १३१

धर्मशास्त्र

धर्म-ग्रन्थों के निर्माण का तीसरा युग बड़े महत्त्व एवं विशेष ख्याति का युग रहा है। इस युग का समारंभ भी लगभग गुप्त-युग से निर्धारित किया जा सकता है और उसके विकास की सीमा अठारहवीं शताब्दी तक पहुँचती है। इस युग में दो महत्त्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में हुए। पहिला कार्य तो मध्यकाल में रचे गए स्मृतिग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्यों और अनेक टीकाओं के निर्माण का है और दूसरा कार्य यह हुआ कि एक नई विवेचनात्मक तर्क शैली का आश्रय लेकर विद्वानों ने अपनी-अपनी सैद्धांतिक स्थापनाओं के लिए अनेक नई स्मृतियों का निर्माणकर इस परंपरा को परिपुष्ट किया। धर्मशास्त्र के संवर्धन और विकास के लिए इस तीसरे युग का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है।

'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' दो ऐसी महान् कृतियाँ हैं, जिनमें धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की सारी पूर्व-परंपरा समन्वित है, और संभवतः जिनके निर्माण का श्रेय सातवाहन युग को दिया जा सकता है। इन दो ग्रन्थों की प्रामाणिकता और उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ दिन पूर्व बड़ा विवाद रहा है। विदेशी विद्वानों में डॉ० जॉलि पहिले विद्वान् थे, जिन्होंने १८८३ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की व्याख्यानमाला में यह प्रकट किया था कि 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का रचनाकाल ईसवी सन् की पहिली शताब्दी से पूर्व का कदाचित् नहीं है। डॉ० बूलर ने भी 'मनुस्मृति' का रचनाकाल २०० ई० पूर्व से १०० ई० के बीच निर्धारित किया।[1] 'मनुस्मृति' और 'महाभारत' के कुछ एक-समान श्लोकों की एक फेहरिस्त भी उन्होंने अपने अंग्रेजी अनुवाद के साथ जोड़ी है।[2] डॉ० जायसवाल ने भी 'मनुस्मृति' का रचनाकाल १५०–१२० ई० पूर्व के बीच रखा है[3] और डॉ० जॉलि प्रभृति विद्वानों द्वारा प्रचारित कुछ बातों का युक्तिपूर्वक उत्तर भी दिया है।

कुछ विद्वान् 'मनुस्मृति' की रचना के लिए बहुत ही पुरानी परिस्थितियों को प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए श्री युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है कि प्रक्षिप्तांशों को छोड़कर वर्तमान 'मनुस्मृति' निश्चय ही महाभारत-युद्ध-काल के बहुत पहिले की है। जो लोग इसे विक्रम की द्वितीय शताब्दी की

---

१. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरिज, भूमिका, पृ० ९७–९८
२. वही, वाल्यूम २५, पृ० ५३३
३. हिन्दू राजतंत्र, १, पृ० ३२ 'मनु और याज्ञवल्क्य'

रचना मानते हैं, उन्हों ने इस पर सर्वांग रूप से विचार नहीं किया है।[1]

'मनुस्मृति' की रचना की उत्तर सीमा के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि उसकी रचना खिष्टीय संवत् के पूर्व हो चुकी थी।[2] दूसरे विद्वानों के मतानुसार 'मनुस्मृति' का संभावित रचनाकाल शुंगकाल अर्थात् लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व है।[3] 'विष्णुस्मृति' का आधार 'मनुस्मृति' ही है। इसलिए निश्चित रूप से उसका रचना-काल 'मनुस्मृति' के बाद का है। 'विष्णुस्मृति' की लेखन-शैली सूत्र-ग्रन्थों की प्रणाली पर होने के कारण कुछ विद्वान् उसको धर्मसूत्रों का समकालीन सिद्ध करते हैं; किन्तु यह भ्रम है।

'याज्ञवल्क्यस्मृति' के रचनाकाल के संबंध में कुछ विद्वानों का अभिमत है कि उसकी रचना लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी के बीच में हुई और उसका रचना-स्थान मिथिला बताया।[4] 'नारदस्मृति' भी लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसवी में रची गई। बाद में भी कुछ स्मृतिग्रन्थ रचे गए; किन्तु उनकी इतनी ख्याति नहीं हुई। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर लिखी गई 'मिताक्षरा' टीका बहुत ही पांडित्यपूर्ण और उत्तम शैली की है। उसका अस्तित्व स्वतंत्र ग्रंथ जितना है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर मित्र मिश्र की एक अप्रकाशित टीका का और वाराणसी के स्व० श्री गोविन्ददास के यहाँ से दूसरी अप्रकाशित टीका 'वीरमित्रोदय' का उल्लेख श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने किया है।[5]

दूसरे विषयों की भांति धर्मशास्त्र-विषयक ग्रन्थों के निर्माण में गुप्त-युग के ग्रन्थकारों का प्रमुख योग रहा है। धर्मसूत्रों को बोधगम्य बनाने के लिए जो अनेक श्लोकबद्ध स्मृतियाँ रची गईं उन पर महत्त्वपूर्ण भाष्य और प्रामाणिक टीकायें गुप्तकाल में ही लिखी गईं। ब्राह्मणधर्म के अनेक ग्रंथों का संवर्धन संशोधन और पुनरुद्धार भी इसी युग में हुआ। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का निर्माण कतिपय विद्वान् इसी युग में बताते हैं; किन्तु उसकी रचना इससे पूर्व संभवतः ईसवी की प्रथम शताब्दी से भी पूर्व हो चुकी थी। जर्मन विद्वान् डॉ० जॉली के मतानुसार उसका निर्माण ४०० ई० में और काणे महोदय के मतानुसार १००–३०० ई० के बीच हुआ।

---

१. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० २, फुटनोट १
२. कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खंड १, पृ० २७९
३. उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ६४
४. त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ५८
५. जायसवाल : हिन्दू राजतन्त्र २, पृ० १२५ का फुटनोट

आज 'मनुस्मृति' का जो स्वरूप विद्यमान है, उसको गुप्तकाल में ही संबद्ध किया गया। इसी युग में 'पराशरस्मृति', 'नारदस्मृति', 'कात्यायन-स्मृति' आदि ग्रंथों में पर्याप्त संशोधन हुआ। 'बृहस्पतिस्मृति' का रचनाकाल काणे महोदय के मतानुसार २००–४०० ई० के बीच है।[१]

स्मृति-ग्रन्थों के संबंध में आधुनिकतम स्थापनाएँ स्व० डॉ० काशीप्रसाद जी जायसवाल की हैं। उन्होंने इस संबंध में जो मान्यताएँ स्थापित की थीं, वही संप्रति प्रामाणिक मानी जाती हैं। जायसवाल जी ने अपने पूर्ववर्ती विदेशी विद्वानों द्वारा स्मृतियों के संबंध में फैलाए गए भ्रमों का भी साथ-साथ निराकरण किया है।

स्व० जायसवाल जी के प्रमाणों का निष्कर्ष इस प्रकार है[२]:

१. प्रायः सुनिर्णीत है कि अश्वघोष, कनिष्क का समकालीन था। उसने 'वज्रच्छेदिका' में अपने पक्ष के समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है अतएव 'मानवधर्मशास्त्र' की रचना प्रथम शताब्दी ई० से पूर्व की है।

२. पुष्यमित्र के समकालीन पतंजलि कृत 'महाभाष्य', 'मानवधर्मशास्त्र' की पूर्वसीमा है।

३. 'मनुस्मृति' के प्रत्येक अध्याय के अंत में उसके कर्ता या प्रवक्ता का नाम भृगु लिखा हुआ है, जो कि भार्गव या भृगुवंशीय ब्राह्मण से अभिप्रेत है। 'नारदस्मृति' (४०० ई०) में स्पष्टरूप से 'मनुस्मृति' को इस दृष्टि से भार्गव की कृति से उल्लेख किया है।

४. मैक्समूलर, बूलर और जॉली की ये स्थापनायें पंडित-समाज में बहुत दिनों तक मान्य समझी गईं कि 'मानवधर्मशास्त्र' वैदिक संप्रदाय के किसी 'धर्मसूत्र' पर आधारित है; किन्तु बाद में इन विद्वानों की समझ में यह बात स्पष्ट रूप से समा गई कि धर्मसूत्रों से 'मानवधर्मशास्त्र' का कोई संबंध नहीं है। साथ ही बूलर और जॉली बाद में यह भी समझ गए कि 'विष्णुस्मृति' और 'मनुस्मृति' एक समय की रचना न होकर 'विष्णुस्मृति', 'मनुस्मृति' के बाद में रची गई।

५. 'महाभारत', कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' और कामंदक के 'नीतिसार' में जिस मानव-संप्रदाय या मनु के नाम से 'मनुस्मृति' का उल्लेख है, वह एक

---

१. काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० २१०
२. टैगोर : लेक्चर्स ऑफ मनु ऐण्ड याज्ञवल्क्य

दूसरा ही संप्रदाय था और वे हमारे अभिप्रेत मनु न होकर राजशास्त्र (अर्थशास्त्र) के रचयिता प्राचेतस मनु थे।

६. 'मनुस्मृति' के निर्माता मनु और 'राजशास्त्र' के निर्माता प्राचेतस मनु की पृथकता भास के 'प्रतिमा नाटक' से भी स्पष्ट हो जाती है, जिसमें 'श्राद्धकल्प' नामक एक वैदिक कृति को मनु के नाम से बताया गया है, जो कि मनुस्मृतिकार की नहीं है।

७. बूलर ने दूसरी शताब्दी ई० के आरंभ में संपन्न 'मनुस्मृति' के जिस वर्तमान स्वरूप की बात कही है, उससे यह संभव हो सकता है कि १००–१५० ई० के बीच उसका संस्करण हुआ हो; किन्तु वह उसका रचनाकाल कदापि नहीं है।

स्मृतियों के निर्माण का क्रमबद्ध इतिहास

धर्मशास्त्र-विषयक स्मृतिग्रन्थों के निर्माण का आधार कल्पसूत्र हैं। कल्पसूत्रों के अतिरिक्त स्मृतियों का निर्माण करते समय हमारे स्मृतिकारों ने जिन दूसरे ग्रन्थों से दाय ग्रहण किया, उनमें 'रामायण', 'महाभारत', पुराण, लोकाचार और नीतिविषयक ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। स्मृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट-सी हो जाती है कि उनकी कुछ बातें प्रत्यक्षदृष्ट, अनुभूत एवं कुछ-कुछ बातें अदृष्ट एवं अनुमानगम्य और कुछ पूर्ववर्ती ग्रन्थों में परम्परा से चली आतीं तथा लोकमत से प्रमाणित होतीं, सभी का समावेश है।

स्मृतिग्रन्थों के प्रमुख चार अंग या विषय हैं। उनमें एक अंग आचार-विषयक है; दूसरा व्यवहारसंबंधी, तीसरा प्रायश्चित्तीय और चौथा कर्मफल से सम्बन्धित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारो वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चार आश्रमों के समुचित निर्वाह की विधियों का विशद विश्लेषण करना भी स्मृतियों का ही विषय है।

धर्मशास्त्रविषयक प्राचीनतम ग्रंथ धर्मसूत्र हैं। इन धर्मसूत्रों का निर्माण एक समय में न होकर विभिन्न समयों में हुआ। लगभग सातवीं या छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व या प्रथम शताब्दी ईस्वी के बीच समय-समय पर धर्मसूत्रों का निर्माण हुआ।[1] प्राचीनतम धर्मसूत्र-ग्रन्थों में गौतम (६००–४०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', आपस्तम्ब

१. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३००

(६००–३०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', बौधायन (५००–२०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', वसिष्ठ (३००–१०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र' विष्णु (३००–१०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', हारीत (३००–१०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र', शंख (३००–१०० ई० पू०) का 'धर्मसूत्र' और वैखानस 'धर्मसूत्र', पैठीनसी 'धर्मसूत्र', उशनस् 'धर्मसूत्र', काश्यप 'धर्मसूत्र' और बृहस्पति 'धर्मसूत्र' का नाम उल्लेखनीय है। ये धर्मसूत्र संप्रति अधिकांशतया अनुपलब्ध हैं।

इसी कोटि का एक प्राचीन सूत्रग्रंथ 'मानवधर्मसूत्र' था। यह ग्रंथ संप्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु वर्मा, स्याम, जावा प्रभृति द्वीपों की वैधानिक व्यवस्था का निर्माण करने में इस सूत्रग्रंथ का बड़ा भाग रहा है।

भृगु महर्षि ने मानव धर्मशास्त्र का संहिता रूप में संक्षेप किया था। भृगु के सम्बन्ध में 'जैमिनीय ब्राह्मण' में लिखा है कि वे ऋषि और अनूचान थे।[1] कोशकार अमरसिंह ने अपने 'नामलिंगानुशासन' में उसको अनूचान संज्ञा दी है, जिसने विधिपूर्वक वेदों का सांगोपांग अध्ययन गुरु के पास बैठकर किया हो।[2]

भृगु महर्षि द्वारा संहिता रूप में संबद्ध 'मानवधर्मशास्त्र' का पुनः संस्करण भार्गव प्रमति ने किया था। आजकल की 'मनुस्मृति' में यद्यपि अनेक प्रक्षेप हैं तथापि वह भार्गव प्रमति का ही संस्करण है। सुदा पैजवन आदि उत्तरकालीन राजाओं से सम्बद्ध प्रसङ्ग ही 'मनुस्मृति' के प्रक्षेपों के उदाहरण हैं।

भृगु प्रोक्त संहिता आज मूल रूप में उपलब्ध नहीं होती है; किन्तु विश्वरूप प्रभृति प्राचीन टीकाकारों के ग्रंथों में उदाहरण रूप में उसके कुछ अंश मिलते हैं। इन उदाहरणों का मिलान वर्तमान 'मनुस्मृति' के श्लोकों से न होने का कारण भी यही है कि भृगु प्रोक्त संस्करण संप्रति सर्वथा विनष्ट हो चुका है।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री पाण्डुरंग वामन काणे ने अपने अंग्रेजी इतिहास-ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' में 'महाभारत' तथा 'नारदस्मृति' में उल्लिखित मूल 'मानवधर्मशास्त्र' के संक्षिप्त वृत्त को अप्रमाणिक मानकर वर्तमान 'मनुस्मृति' का रचनाकाल ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी

---

१. जैमिनीय ब्राह्मण १।४२

२. अनूचानः प्रवचने सांगेऽधीती गुरोस्तु यः

ईसवी के बीच निर्धारित किया है, और उसको भृगु महर्षि की सम्भावित रचना बताया है।[१]

काणे साहब की उक्त स्थापना की आलोचना करते हुए कविराज सूरमचंद्र ने अपने इतिहास-ग्रंथ में लिखा है कि काणे साहब को भृगु का समय निश्चित करने में भ्रम हुआ है। कविराज, भृगु का उक्त समय नहीं मानते हैं। भृगु का समय उन्होंने ईसा से सत्रह-सौ वर्ष पहिले स्थिर किया है। उन्होंने यह भी अभिमत प्रकट किया है कि ब्राह्मण-ग्रंथों में जिस भृगु का उल्लेख मिलता है, वह निश्चित ही ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना से पहिले हुआ। "-'मनुस्मृति' के टीकाकार भागुरि, भर्तृयज्ञ, देवस्वामी और असहाय ईसा पूर्व २०० से सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुके थे। काणे जी को इन विवरणकारों के काल का यथार्थ ज्ञान नहीं था।"[२]

धर्मशास्त्र की एकमात्र प्रतिनिधि कृति 'मनुस्मृति' आज जिस रूप में हमें उपलब्ध होती है, उसका संपूर्ण कलेवर 'मानवधर्मसूत्र' के ध्वंसावशेषों पर ही निर्मित हुआ है। कहा जाता है कि भृगु मुनि ने मनु के सूत्ररूप में प्रोक्त वक्तव्यों को श्लोकरूप में निबद्ध कर 'मनुस्मृति' के रूप में प्रकाशित किया। वैधानिक व्यवस्थाओं के अद्भुत ज्ञानी के रूप में मनु के व्यक्तित्व की ख्याति ब्राह्मण-ग्रंथों से लेकर 'निरुक्त', 'महाभारत' और पुराण-ग्रंथों में सर्वत्र विकीर्णित है। फिर भी निश्चित रूप से उनके समय का निर्धारण नहीं किया जा सकता है।

'मनुस्मृति' के विषय-विवेचन में वैदिक पद्धति और दार्शनिक विचार-धाराओं का समावेश है। इसलिए वह एक प्रौढ़ पांडित्य का परिचायक ग्रंथ है। उस पर दो प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक टीकाएँ हैं। पहिली टीका मेधातिथि (८२५–९०० ई०) की और दूसरी कुल्लूक भट्ट (१२ वीं शताब्दी ई०) की है।

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में 'मनुस्मृति' के बाद 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का स्थान आता है, जिसकी निर्माण-अवधि १०० ई० पूर्व से ३०० ई० तक के बीच विद्वानों द्वारा निर्धारित हुई है। इस पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें तीन टीकाएँ प्रमुख हैं। पहिली टीका विश्वरूप (८००-८२५ ई०) की 'बालक्रीडा', दूसरी कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ के निरीक्षण

---

१. काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० १३८, १४९, १५६

२. आयुर्वेद का इतिहास, १, पृ० ५८ तथा उसके आगे

११२० ई० में विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा' और तीसरी अपरार्क की (१२ वीं श० ई०) 'अपरार्क याज्ञवल्कीय धर्मशास्त्र निबन्ध' है ।[1]

इन तीनों टीकाओं में 'मिताक्षरा' प्रमुख एवं प्रचलित है । वह एक मौलिक ग्रन्थ जैसा महत्त्व रखती है । इस पर नागेशभट्ट के शिष्य वैयाकरण वैद्यनाथ पायगुण्डे (१८ वीं० श०) के पुत्र बालभट्ट या बालकृष्ण भट्ट ने 'लक्ष्मी-व्याख्यान' या 'बालभट्टी' नाम से एक उपटीका लिखी ।

इनके अतिरिक्त मूल स्मृतियों के रूप में 'नारदस्मृति' (१००-३०० ई०) लघु और बृहद्, दो संस्करणों में उपलब्ध होती है ।[2] 'पराशरस्मृति' का भी एक लघु संस्करण उपलब्ध है, जिस पर विजयनगर के माधवाचार्य (१२६७-१३८६ ई०) ने टीका लिखी । 'पराशरस्मृति' के मूल ग्रंथ का निर्माणकाल १००-५०० ई० के बीच था ।[3] 'बृहस्पतिस्मृति' (२००-४०० ई०) संप्रति अपूर्ण रूप में उपलब्ध है । इसका आधार 'मनुस्मृति' है । स्मृतियों की संख्या लगभग १५२ मानी जाती है ।[4]

स्मृति-ग्रन्थों के निर्माण की परम्परा या उन पर लिखी गई टीकाओं का समय लगभग १७वीं शताब्दी तक है । इस प्रकार का एक 'धर्मरत्न' नामक ग्रंथ जीमूतवाहन ने १२वीं शताब्दी में लिखा । इसी शताब्दी में लक्ष्मीधर ने 'स्मृतिकल्पतरु' और हलायुध ने बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के लिए 'ब्राह्मणसर्वस्व' लिखा ।

तेरहवीं शताब्दी में रेवण्णभट्ट ने 'स्मृतिचन्द्रिका', वरदराज ने 'स्मृति-संग्रह' और हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा । चौदहवीं शताब्दी में विश्वेश्वर ने 'मदनपारिजात', चण्डेश्वर ने 'स्मृतिरत्नाकर' और माधव ने 'कालमाधवीय', लिखा । इसी प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी में वाचस्पति ने 'चिन्तामणि', सोलहवीं शताब्दी में प्रताप रुद्रदेव ने 'सरस्वतीविलास', रघुनन्दन ने 'अग्निपरीक्षा', वैद्यनाथ दीक्षित ने 'स्मृतिमुक्ताफल', और सत्रहवीं शताब्दी में भट्टोजि दीक्षित ने 'तिथि-निर्णय', कमलाकर भट्ट ने 'निर्णयसिन्धु', नीलकण्ठ ने 'भागवन्तभास्कर' और मित्र मिश्र ने 'वीरमित्रोदय'

---

१. पी० वी० काणे : ए हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम १, पृ० २६३

२. वही, इन्ट्रोडक्शन, पृ० २९ ३. वही, पृ० ३०

४. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३०२

प्रभृति स्मृति-ग्रंथों को लिखकर धर्मशास्त्र के सर्वांगीण निर्माण को पूरा किया।

धर्मशास्त्र-विषयक ग्रंथों के निर्माण की यह परम्परा आगे की दो-एक शताब्दियों तक और बनी रही; किन्तु उसको पिष्टपेषण मात्र ही कहा जा सकता है। 'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' हमारे समक्ष दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनकी मान्यता भारत के कोने-कोने में एक समान बनी हुई है। सामाजिक व्यवस्था, राजधर्म और शासन-सम्बन्धी नियमों पर जिस बारीकी से जितने प्राचीन समय में, इन दो ग्रन्थों में विचार किया गया है, वह अद्‌भुत है। संसार के संविधानों की तुलना में भारतीय संविधान के इतने बृहद् रूप के निर्माण का आधार यही स्मृतियाँ रही हैं।

भारतीय संगीत का विकास

वैदिकयुगीन संगीत

वैदिक युग में संगीत की सारी थाती पुरोहितों के हाथ में रही। उन्हीं के द्वारा संगीतविद्या का प्रचार-प्रसार भी हुआ। उस युग में गायक, वादक और नर्तक, तीन प्रकार के कलाकार थे। ये तीनों ही उन्नति पर थे। वीणा, इस युग का प्रमुख वाद्य रहा। इस युग में संगीत के बड़े-बड़े आयोजन भी हुआ करते थे, जिसमें नर्तकियाँ खुलकर भाग लेती थीं। तत्कालीन समाज में गायकों, वादकों और नर्तकों को संमान की दृष्टि से देखा जाता था।

ऋग्वेदकालीन 'समन' नामक उत्सव अपना ऐतिहासिक महत्व रखता था। यह रात्रिकालीन उत्सव था। इसमें कुमारियाँ इच्छानुसार अपने वर का चुनाव करती थीं। इसमें युवक भी उत्साह से भाग लेते थे। इस प्रकार के उत्सवों में घुड़दौड़ और यज्ञ-यागादि भी हुआ करते थे। इस उत्सव में कुमारियों की संगीत-विषयक परीक्षा भी होती थी। यही 'समन' आगे चलकर 'समज्जा' के नाम से प्रयुक्त हुआ।

वैदिक काल में गायन-वादन के साथ-साथ नृत्यकला का भी प्रचलन था। नर्तकियाँ पैरों में घुंघुरू बाँधकर अपना नृत्य-प्रदर्शन किया करती थीं। उस समय नृत्यों के प्रदर्शन के लिये छोटे-छोटे रंगमंचों की भी व्यवस्था थी। नर और नारियाँ सोमरस का पान कर सामूहिक रूप से नृत्य में भाग लिया करते थे। उस युग के नृत्यों में रज्जुनृत्य, सलिलनृत्य, अरुणनृत्य, प्रकृतिनृत्य, पुष्पनृत्य और वसंतनृत्य प्रमुख थे। उस युग में गायक, वादक और नर्तक तीनों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। कला की साधना और कला का संवर्धन ही तत्कालीन कलाकारों का प्रमुख उद्देश्य था। तत्कालीन कलाकारों के उच्चचारित्र्य का एक कारण यह भी था कि उस समय कला का पोषण धर्म की कोख में हो रहा था। वैदिक युग का संगीत अधिकांशतया यज्ञों का अंगभूत रूप में बना रहा।

वैदिकयुगीन स्वरविधान

वेद और वैदिक साहित्य में स्वर-विधानसंबंधी पुष्कल सामग्री सुरक्षित है। पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, ग्रामगेयगान, आरण्यगेयगान, स्तोव, स्तोम आदि पारिभाषिक शब्दावली से तत्कालीन संगीत की समृद्धि का पता लगता है। सामवेद में जो गेय छंद हैं, उनको विशेष स्वर-विधान के साथ गाने के नियम भी उसमें दिए गए हैं। सामवेद की इन ऋचाओं को सछन्द और सस्वर गाया जाता था। उस समय स्वर के तीन प्रकार थे: उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। शिक्षा, प्रातिशाख्य और स्वर-वैदिकी आदि वैदिक छंदों से संबद्ध ग्रन्थों में इन तीन स्वर-संस्थानों की विस्तार से विधियाँ प्रतिपादित हैं। इन्हीं तीन स्वर-संस्थानों से ही बाद में षड्ज आदि सप्त स्वरों की सृष्टि हुई। उदात्त से निषाद और गांधार, अनुदात्त से ऋषभ और धैवत एवं स्वरित से षड्ज, मध्यम तथा पंचम का जन्म हुआ। उदात्त का एक नाम तार भी है; इसी प्रकार अनुदात्त को उच्च, मन्द अथवा खाद भी कहते हैं और स्वरित को मध्य, समतारक्षक स्वर। तार, मन्द और मध्य, इन तीन मूलस्वरों से षड्ज आदि सात स्वरों का विकास किस प्रकार हुआ, इसका विवरण, 'ऋक्प्रातिशाख्य' में भी दिया गया है।

सामवेद की ऋचाएँ पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक, इन दो भागों में विभक्त है। उत्तरार्चिक ऋचाएँ भी ऊह और उह्य, इन दो श्रेणियों में हैं। ऊह और उह्य वह रहस्यमय ज्ञान है, जिसको सब नहीं गा सकते हैं। वह साधकों के अधिकारक्षेत्र की वस्तु थी। ग्रामगेय, ग्रामप्रांतरों में वास करने वाले साधारण समाज के लिए थे, और इसी प्रकार आरण्यगेय निर्जन वन-प्रदेशों में वास करने वाले वानप्रस्थी समाज के लिए थे। वैदिक सामगान में प्रयुक्त सात स्वरों के नाम हैं: क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद और गति-स्वार्य। वैदिक साहित्य में यह नामावली, अभिनिहित, प्राश्लिष्ट, जात्य, क्षेत्र, पादवृत्त, तेरवंजन और तेरविराम के रूप में पाई जाती है।

वैदिक संगीत प्रस्त्वा, हुंकार, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधान और प्रणाव इन सात भागों में विभक्त है। उस युग के वाद्यों में वीणा, वेणु, दुन्दुभि का नाम प्रमुख है।

पुराणों का संगीतसंबंधी मंतव्य

वैदिक युग की अपेक्षा पौराणिक युग में संगीतसंबंधी विधानों, उनकी

पद्धतियों, नीति-नियमों और प्रकारों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। पुराण-ग्रन्थों में वर्णित संगीत-संबंधी दृष्टिकोण अधिक प्रगतिशील जान पड़ता है। 'हरिवंशपुराण' से गांधार राग की प्राचीनता का पता चलता है। उसमें सप्त स्वरों के लीलायित होने, विभिन्न रागनियों, मंद, मध्यम, तार, इन तीन स्थानों और मूर्च्छना, नृत्य, नाट्य, वाद्य आदि का भी विस्तार से परिचय मिलता है, 'हरिवंशपुराण' में उर्वशी, हेमा, रम्भा, मेनका, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा आदि तत्कालीन नर्तकियों, उनके विभिन्न वाद्ययंत्रों और उनकी नृत्य-संबंधी रीतियों का उल्लेख मिलता है। 'मार्कण्डेय पुराण' में षड्जादि सात स्वरों, पंचविध ग्रामरागों, पंचविध गीतों, मूर्च्छनाओं के इक्यावन प्रकार की तानों, तीन ग्रामों और चार पदों का परिचय मिलता है। 'वायुपुराण' में भी सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाओं और चार तालों का उल्लेख है। वैदिक युग के वाद्यों की अपेक्षा पुराणयुग के वाद्यों में कुछ परिवर्त्तन दिखाई देता है। पुराण युग में वीणा, दुर्दुर, पर्णव, पुष्कर, मृदंग और देवदुन्दुभि आदि वाद्यों को उपयोग में लाया जाता था।

रामायण और महाभारत के युग का संगीत

'रामायण' और 'महाभारत' के समय में हमें एक विशेष बात यह जानने को मिलती है कि, पूर्वापेक्षया, अब संगीत एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित न होकर संपूर्ण लोकरुचि का विषय बन चुका था। तत्कालीन समाज में सर्वत्र संगीत की लोकप्रियता व्याप्त हो गई थी। इन दोनों ग्रन्थों के प्रसंग में हमने बताया है कि राम-रावण तथा कौरव-पांडवों की पुरातन कथा को मौखिक रूप में सुरक्षित रखने और उसको समाज में प्रचलित करने का कार्य तत्कालीन कुशीलवों (नट, नर्तक, गायकों) ने किया था।

उसी युग का प्रचंड ज्ञानी और महापंडित रावण स्वयमेव संगीत का भी पारंगत विद्वान् था। उसके संबंध में कहा जाता है कि सस्वर वेदपाठ की प्रणाली का प्रचलन सर्वप्रथम रावण ने ही किया था। नर्मदा के तट पर भगवान् शंकर की स्तुति में गाये हुए उसके सामवेदमंत्र, उसकी संगीत-पटुता के परिचायक हैं। रावण का स्वरज्ञान अद्भुत था। रावण की पत्नी मंदोदरी संगीत की बड़ी विदुषी थी। रावण की राजसभा में अनेक गायनाचार्य एवं प्रवीण नर्तकियाँ थीं। रावण के संगीतकक्ष में भेरी, मृदंग, शंख, मुरज (पखावज) तथा पर्णव आदि अनेक वाद्य थे। रावण के नाम से जो 'रावणी-

यम्' नाम संगीत-विषयक ग्रन्थ उपलब्ध है, वह काफी बाद की रचना है। संभवतः यह ग्रंथ रावण द्वारा रचित किसी संगीत-शास्त्रसंबंधी ग्रंथ के अंश का संस्करण हो।

रामायणी कथा की रचना किए जाने के बाद महामुनि वाल्मीकि ने उसको, लव-कुश द्वारा स्वरबद्ध रूप में गवाया था। महामुनि स्वयं भी संगीत के पारंगत विद्वान् थे। 'रामायण' के अनेक स्थलों पर हमें महामुनि की संगीतप्रियता का पता चलता है। प्राचीन ललितकलाओं की दृष्टि से 'रामायण' एक उपयोगी ग्रंथ है।

इसी प्रकार 'महाभारत' के युग में संगीत का पर्याप्त प्रचार-प्रसार दिखाई देता है। 'महाभारत' के पात्र श्रीकृष्ण तो संगीत के अपूर्व पंडित थे। श्रीकृष्ण का वेणु-वादन और व्रजभूमि में रची गई गोपबालाओं के साथ उनकी रासलीलाएँ प्रसिद्ध हैं। नृत्य और गीत, दोनों कलाओं में गोपियाँ पूर्ण निपुण थीं।

यह युग भक्तिप्रधान युग था। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं की पूजा-अर्चना के अवसर पर नृत्य, गायन और वादन का प्रचलन सामान्य सामाज में भी प्रचलित था। अर्जुन के संबंध में प्रसिद्ध है कि एक वर्ष के अज्ञात वास के समय विराट् राजा के दरबार में रहकर छद्म नाम से उसने विराट् राजा की पुत्री उत्तरा को संगीत की शिक्षा दी थी। वह वीणा-वादन में सिद्धहस्त था। कहा जाता है कि जिस प्रकार वेणु-वादन में श्रीकृष्ण अद्वितीय थे, उसी प्रकार वीणा-वादन में अर्जुन अनन्य थे।

वैदिक काल में हमने जिस 'समन' उत्सव का उल्लेख किया है, महाभारत काल में उसकी परिचिति 'समज्जा' नाम से विश्रुत थी। यह उत्सव अनुरूप वर-वधू के चुनाव उद्देश्य से आयोजित होता था, वरन् नवयुवक-युवतियों के दल घूम-घूम कर देश में संगीत का प्रचार भी करते थे।

साहित्य में संगीत का योग

प्राचीन भारत के कुरु, पांचाल, चेदि, योधेय, मद्र, शिवि, कौशल, वत्स, मगध और अवंती आदि जनपदों के आश्रय में संगीत और संगीतकारों का बड़ा संमान रहा है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी', कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और भास के नाटकों से हमें तत्कालीन संगीत की लोकप्रियता का आभास मिलता है। पुष्पावचय, उद्यानक्रीडा और जलक्रीडा आदि तत्कालीन उत्सवों द्वारा

भी ललितकलाओं के प्रचार-प्रोत्साहन की अनेक बातों का पता लगता है। जनमेजय का प्रपौत्र वत्सराज उदयन और उज्जैन के राजा चंडमहासेन की रूपवती पुत्री वासवदत्ता की प्रणयकथा को भास ने 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक में निबद्ध किया है। उदयन और वासवदत्ता की सारी प्रणयलीला संगीत पर ही आधारित थी।

मौर्य चंद्रगुप्त का समय शास्त्रीय संगीत की उन्नति का एकमात्र युग रहा है। कौटिल्य उसी का महामंत्री एवं संमान्य विद्वान् था। मेगस्थनीज भी उसी समय भारत आया था। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' और मेगस्थनीज की अनुपलब्ध कृति 'इंडिका' के कुछ उद्धरणों से तत्कालीन नाट्यशालाओं और संगीत-गृहों के अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है।

कनिष्क का युग भारतीय संगीत का प्रगतिशील युग (The dawn of Indian Music) कहा जाता है। इस युग में भारतीय संगीत की नवीन विधियाँ प्रकाश में आईं और उनका प्रचार विदेशों तक में हुआ। उस युग के बौद्ध महाकवि एवं प्रचण्ड दार्शनिक अश्वघोष के महाकाव्य 'बुद्धचरित' में संगीत के संबंध में अनेक बातों का पता चलता है। बौद्ध नैयायिक नागार्जुन ने 'शून्य' के प्रतिपादन और वैद्य चरक ने चिकित्सा के लिए संगीत के माध्यम से नये परीक्षण किए।

ईसवी पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी में मथुरा, मालव और राजस्थान में नागों की विलुप्त वंश-परंपरा पुनः प्रकाश में आ चुकी थी। भारतीय संगीत को व्याप्ति और विकास देने में नागजाति का प्रमुख हाथ रहा है। संगीत नागजाति का प्राण था। नाग कन्याओं की संगीतप्रियता इतिहासप्रसिद्ध है। वे अनुपम सुंदरियाँ और निष्णात नर्तकियाँ हुआ करती थीं। संगीत और नृत्य उनकी जन्मसिद्ध थाती थी।

महामुनि भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना का भी यही युग था। भरत का यह ग्रंथ यद्यपि शताब्दियों के संशोधन, परिवर्धन का फल है; फिर भी नाट्य और संगीत पर अधिकारपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने वाला वह पहिला ग्रंथ है।

गुप्त-युग शास्त्रीय संगीत का उन्नतिशील युग रहा है। समुद्रगुप्त की संगीतप्रियता इतिहासप्रसिद्ध है। उसके स्वर्णिम सिक्कों पर उत्कीर्णित वीणाकृति से उसके अतिशय संगीत-प्रेम का परिचय मिलता है। उसकी प्रयाग-प्रशस्ति में उसको तुम्बुरु और नारद जैसे उच्चकोटि के संगीताचार्यों

से भी बढ़कर बताया गया है। इस युग की संगीत-उन्नति का चित्रण महाकवि कालिदास के नाटकों में सुरक्षित है। कालिदास का 'मेघदूत' गीतिकाव्य का उत्कष्ट ग्रंथ है। भारतीय संगीत और नृत्य की चरमोन्नति के दर्शन संस्कृत के नाटकों में होता है। भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति और हर्ष के नाटकों में तथा बाणभट्ट, माघ और जयदेव के काव्यों में उसी परंपरा का प्रशस्त रूप देखने को मिलता है। संस्कृत के संदेशकाव्य और स्तोत्र-ग्रन्थ गीतिकाव्यों के उच्च आदर्श हैं।

हिन्दू युग में संगीत की अवस्था

राजपूतों के यहाँ संगीत की अपेक्षा चित्रकला को अधिक प्रोत्साहन मिला। यह समय हिन्दू चित्रकला के उत्कर्ष का युग रहा है। भक्तिप्रधान युग होने के नाते इस समय संगीत का अस्तित्व बना रहा। सौराष्ट्र के सोमनाथ मन्दिर में चौलादेवी नर्तकी उस समय की प्रसिद्ध वीणावादिका थी। पृथ्वीराज चौहान स्वयं वीणा बजाने में सिद्धहस्त था।

हिन्दूकालीन संगीत का इतिहास हमें उस समय की कलाकृतियों में देखने को मिलता है। शिल्प और स्थापत्य की अपेक्षा चित्रकला में हमें संगीत का तत्कालीन रूप दिखाई देता है। अजंता, एलिफेंटा, एलोरा, आदि के भित्तिचित्रों में इस प्रकार की वेषभूषा और कलात्मक मुद्राएँ हमें यह बताती हैं कि उस समय भी संगीत के प्रति कलाकारों और जन सामान्य का अनुराग कम नहीं हुआ था।

इसके विपरीत शिल्प और स्थापत्य में संगीत की सर्वथा उपेक्षा की गई। बल्कि यों कहा जाय कि शिल्प और स्थापत्य ने संगीत कला को पराभूत कर दिया था, तो अनुचित न होगा। पाटलिपुत्र, तक्षशिला के भग्नावशेषों से प्राप्त सामग्री में, कोशाम्बी की खुदाई से प्राप्त सामग्री में और अनेक मन्दिरों की उपलब्ध मूर्तियों में संगीत की अपेक्षा शिल्प और स्थापत्य की प्रचुरता है।

मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने पर भारतीय संगीत के विधि-विधानों में कुछ परिवर्तन होना आरंभ हुआ; किन्तु अकबर जैसे समन्वयवादी विचारधारा के शाहंशाह के समय में भारतीय संगीत को ईरानी संगीत जितना स्थान प्राप्त रहा। अबुल फजल की 'आइ-ने-अकबरी' में अनेक भारतीय वाद्यों पर विस्तार से चर्चाएँ की गई हैं। इसराज, सारंगी, मयूरी वीणा और दिलरुबा का इस समय अधिक प्रचार रहा।

आँग्ल शासन की प्रतिष्ठा हो जाने पर भारतीय संगीत की पद्धतियाँ पश्चिमीय प्रभावों से अभिभूत दिखाई देती हैं; किन्तु इस समय भी भारतीय संगीत की पुरातन प्रणाली पूर्ववत् बनी रही। इधर भारत सरकार की ओर से संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हो जाने और कलाकारों को पुरस्कृत एवं संमानित करने के कारण भारतीय संगीत तथा भारतीय नाट्य की दिशा में विकास हो रहा है।

भारतीय संगीत में वीणा के अस्तित्व का विवेचन

भारतीय संगीतशास्त्र में वीणा की बड़ी उपयोगिता बताई गई है। यही कारण है कि वीणा के अस्तित्व का गुणगान साहित्य में सर्वत्र पाया जाता है। वीणा, वेदकालीन वाद्य है। सभी तन्तुवाद्यों की अधिष्ठात्री भी वही है। जैसे वस्तु के अभाव में विषय बोधगम्य नहीं हो पाता उसी प्रकार वीणा के बिना नाद का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय साहित्य में वीणा के स्वरूप की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई मिलती है।

सामवेद, भारतीय संगीत का उत्स है। यज्ञ के अवसर पर अध्वर्यु सामगान वीणा के साथ करते थे। इसलिए अध्वर्यु को 'वीणावद' और 'वीणागायिन्' भी कहा गया है। वैदिक युग में चार प्रकार के वाद्य थे। उस समय 'काण्डवीणा' बजाई जाती थी, जिसका उल्लेख 'ऋग्वेद' और 'काठक संहिता' में मिलता है।[1] पहले वीणा को बाण कहा जाता था।[2] भाष्यकार सायण ने अपनी व्याख्या में 'वाण' को 'मरुद्वीणा' कहा है।[3] 'वाजसनेय संहिता' में (३०।१९।२०) नरमेध यज्ञ के अवसर पर वीणासहगान का उल्लेख है। इस प्रसंग में दूसरे वाद्यों का भी वर्णन यहाँ मिलता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वीणा के संबंध में विस्तार एवं बारीकी से सूचनाएँ लिखी मिलती हैं। उत्तर वैदिक युग में संगीत अधिक उन्नतावस्था को पहुँच चुका था। इस युग में वीणा का प्रयोग गायन और नृत्य के साथ किया जाने लगा था। 'शतपथ ब्राह्मण' में लिखा है कि उस समय वीणा के तंतु उत्तर-मंद्रा में मिलाये जाते थे। उत्तरमंद्रा, षड्ज ग्राम की प्रथम मूर्छना का नाम है।[4] 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में वीणा को नृत्य के साथ बजाये जाने का उल्लेख

---

१. ऋग्वेद २।४३।३; काठक संहिता ३४।५
२. ऋग्वेद ९।९।७८; १०।३२।४
३. ऋग्वेद-भाष्य ८।२०।८
४. शतपथ ब्राह्मण १३।४।२।८

है ।[1] वीणा का एक नाम वहाँ 'वाण' भी दिया गया था, जो शततंतुयुक्त होती थी ।[2] वेद में 'वाण' सात धातुओं से निर्मित बताया गया है और ब्राह्मण ग्रन्थों में उसको शततंतुयुक्त कहा गया है ।

'ऐतरेय आरण्यक' में दैवी वीणा का उल्लेख है । उसकी बनावट का भी स्वतन्त्र ढंग वर्णित है ।[3] जिसे आज हम 'मिजराव' कहते हैं, 'ऐतरेय आरण्यक' में उसे 'नखी' कहा गया है;[4] अर्थात् जिसको नाखून में धारण किया जाता है । आरण्यक ग्रन्थों की ही भाँति उपनिषदों में भी वीणा के संबंध में चर्चाएँ मिलती हैं । 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में वीणा, वीणावादन और वीणावादक के संबंध में विस्तार से वर्णन देखने को मिलता है ।[5] 'छांदोग्य उपनिषद्' के आठवें खंड में वीणा के नये रूपों की जानकारी दी गई है ।

सूत्रग्रन्थों में वीणा के संबंध में विस्तार से सूचनाएँ देखने को मिलती है । 'शांखायन श्रौतसूत्र' में 'शततंत्री' वीणा का उल्लेख है ।[6] संभवतः ब्राह्मण-ग्रंथों में जिसको शततंतुयुक्त 'वाण' नामक वीणा कहा गया है, सूत्रग्रन्थों में उसीको 'शततंत्री' कहा गया । 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' में 'अलाबु वीणा' और 'शीलवीणा' का उल्लेख तथा उनके द्वारा सामगान की विधियों को बताया गया है ।[7] आजकल जिसे हम 'हार्प' या स्वर-मण्डल भी कहते हैं, 'कात्यायन श्रौतसूत्र' में उसीको कात्यायन वीणा या शततन्त्री वीणा कहा गया है ।

'रामायण' में लव तथा कुश को वीणा के साथ गायन करते दर्शाया गया है;[8] किन्तु उस प्रसंग में किसी वीणा का नाम नहीं दिया गया है । संभवतः वहाँ 'तन्त्री' को ही वीणा कहा गया है । सुंदरकांड में विपंची वीणा और किष्किन्धा कांड में किन्नरी वीणा का नाम मिलता है ।[9]

महाभारत काल में संगीत का प्रचार अधिक दिखाई देता है । 'महाभारत' में शंखों के अनेक प्रकार हैं, जो कि वादन के ही माध्यम माने जाते थे । 'हरिवंश' में महामुनि नारद की वीणा का नाम 'वल्लकी' दिया हुआ है । उसमें यह भी लिखा है कि 'वल्लकी' वीणा में से सात स्वर मूर्छना से निकलते

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१।१५
२. वही ७।५।९।२
३. ऐतरेय आरण्यक ३।२।५
४. वही ३।२।५
५. बृहदारण्यकोनिषद् २।४।७-९
६. शांखायन श्रौतसूत्र १७।१।३
७. लाट्यायन श्रौतसूत्र ४।२।१-१०
८. रामायण, बाल० ४।८
९. वही, सुंद० १०।४१

थे।[1] 'ब्रह्मपुराण' में दक्ष ने महादेव की स्तुति में 'तुंबिवीणा' का उपयोग किया था।[2] 'मार्कण्डेय पुराण' में लिखा है कि कंवल और अश्वतर, दोनों नागपुत्रों ने वीणा-वादन से शंकर भगवान् की आराधना की थी। यहाँ वीणा का नाम वीणा ही दिया गया है।[3] 'भागवत' के एक प्रसंग में कहा गया है कि महामुनि नारद, स्वर-वर्ण से अलंकृत वीणा बजाकर हरिगान किया करते थे।[4] इसी प्रकार 'देवीपुराण' के ४५वें अध्याय में वीणा-वादन द्वारा नीलकंठ की स्तुति का वर्णन है। 'बृहद्धर्म पुराण' मे लिखा है कि नारद मुनि अंगुलियों से वीणा के तार छेड़कर गान किया करते थे।[5] इसी प्रसंग में राग-रागिनियों के परिवार का भी वर्णन है। 'नारद पंचरात्र' में नारद को वीणा की मधुर ध्वनि द्वारा श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए दर्शाया गया है।[6]

आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र संगीत, नृत्य और काव्यशास्त्र का ऐसा पहिला ग्रन्थ है, जिसमें इन विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है। काव्यशास्त्र और संगीत की अपेक्षा नाट्य के विधि-विधानों पर ही उसमें विशेपरूप से कहा गया है; किन्तु नृत्य, क्योंकि संगीत का ही एक अंग है, इसलिए प्रासंगिक रूप से संगीत पर भी उसमें काफी सामग्री देखने को मिलती है। 'नाट्यशास्त्र' में चर्मवाद्यों के नाम अधिकता से मिलते हैं। वीणाओं में 'चित्रा' और 'विपंची' का नाम दिया गया है और चित्रा वीणा सात तारोंयुक्त बताई गई है।[7]

'नारदशिक्षा' इस विषय का ऐसा पहिला ग्रन्थ है, जिसमें सामगान की विधियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। नारद के नाम से संगीत-विषयक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैसे 'नारदशिक्षा', 'चत्वारिंशद्राग-निरूपण' और 'संगीत-मकरंद'। इन संगीत ग्रन्थों का निर्माता ऋषि स्थानीय नारद से भिन्न है। अथवा ऐसा हो सकता है कि नारदमुनि ने पुरातन काल में संगीत पर जो ग्रन्थ लिखे थे, ये ग्रन्थ उन्हीं के संस्करण हों। इन ग्रन्थों की रचना १०वीं ११वीं शताब्दी के बाद में हुई है। 'नारदशिक्षा' में 'दारवी' और 'गात्रवीणा' का वर्णन मिलता है। 'गात्रवीणा' के सम्बन्ध में

---

१. हरिवंश १।४८।३५
२. ब्रह्मपुराण, पृ० ३४१
३. मार्कण्डेयपुराण; पृ० १०३
४. भागवत माहात्म्य ६।३३
५. बृहद्धर्म पुराण, अ० २४, पृ० ३०९
६. नारद पञ्चरात्र १।६६, पृ० ७२
७. नाट्यशास्त्र २९।१२४

विस्तार से प्रकाश डाला गया है।[1] 'पाणिनीय शिक्षा' में[2] भी 'अलाबु' वीणा का उल्लेख मिलता है। 'संगीत-मकरंद' में संगीत की विधियों का बारीकी से विश्लेषण किया गया है। उसमें इन १९ वीणाओं के नाम दिए हैं: १ कच्छपी, २ कुब्जिका, ३ चित्रा, ४ वहन्ती, ५ परिवादिनी, ६ जया, ७ घोषवत्ती, ८ ज्येष्ठा, ९ नकुली, १० महती, ११ वैष्णवी, १२ ब्राह्मी, १३ रौद्री, १४ कूर्मी, १५ रावणी, १६ सरस्वती, १७ किन्नरी, १८ सैरंध्री और १९ घोषका।

'संगीत-मकरन्द' के बाद इस सम्बन्ध में बहुत-सी नई बातें संगीत के सम्बन्ध में जानने को मिलती है। पार्श्वदेव (११वीं १२वीं) के 'संगीत समयसार' में वीणा के चार सर्वथा नये नाम दिए गए हैं: अलावणी, किन्नरी, लघुकिन्नरी और बृहत्किन्नरी। उनमें किन्नरी वीणा के भी तीन उपभेद गिनाए गए हैं। साथ ही यह भी लिखा हुआ है कि बृहत्किन्नरी में तीन तुम्बाओं और लघुकिन्नरी में दो तुम्बाओं का उपयोग होता था।[3] इस ग्रन्थ में सबसे महत्त्व की बात यह दी गई है कि वीणाएँ कैसे बनाई जाती हैं।[4]

'संगीतरत्नाकर' इस विषय का बड़ा ही सर्वांगीण ग्रन्थ उपलब्ध है। उसकी रचना पं० शार्ङ्गदेव ने १३वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में की थी। उस पर दो टीकाएँ भी लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ के तीसरे प्रकरण में कुपित विन्यास के वर्णन प्रसंग में अठारह वीणाओं के नाम गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं: १. घोषवती, २. चित्रा, ३. विपंची, ४. परिवादिनी, ५. वल्लकी, ६. कुब्जिका, ७. जेष्ठा, ८. नकुली, ९. किन्नरी, १०. जया, ११. कूर्मी, १२. पिनाकी, १३. हस्तिका, १४. शततंत्री, १५. औदुम्बरी, १६. रावणहस्तका, १७. शार्ङ्गी और १८. आलापिनी। इनके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ के वाद्याध्याय में १. एकतन्त्री, २. नकुली, २. त्रितन्त्री, २. चित्रा, ३. विपंची, ४. मत्तकोकिला, ५. दिनी, ६. किन्नरी, ७. पिनाकी, ८. लघुकिन्नरी, ९. बृहत्किन्नरी नाम से ९ वीणाओं की नामावली और दी गई है।[5] दोनों अध्यायों में उद्धृत कुछ वीणाओं की पुनरावृत्ति को हटाकर देखा जाय तो 'संगीतरत्नाकर' में कुल २३ वीणाओं की नामावली दी गई है। 'संगीतमकरंद' और 'संगीतसमयसार' में निर्दिष्ट कुछ वीणाओं को शार्ङ्गदेव ने भी गिनाया है। उन वीणाओं के

---

१. नारदीय शिक्षा, श्लोक १८–१९ २. पाणिनीय शिक्षा श्लोक २३

३. संगीतसमयसार, अध्याय ५, पृ० ४१ (त्रिवेन्द्रम संस्करण)

४. वही, अध्याय ५, श्लोक १३–६३

५. संगीतरत्नाकर, अध्याय ६, ९, १० (आनन्दाश्रम संस्करण)

अतिरिक्त पिनाकी, औदुम्बरी, एकतंत्री, त्रितंत्री और मत्तकोकिला, ये पाँच वीणाएँ शार्ङ्गदेव द्वारा नई निर्दिष्ट हैं।

'संगीतरत्नाकर' से प्रभावित 'वीणाप्रपाठक' नामक एक संगीतविषयक ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति बड़ौदा के ग्रन्थ-संग्रह में है। इस ग्रन्थ में शार्ङ्गधर द्वारा निर्दिष्ट वीणाओं की नामावली इस प्रकार है : १. एकतन्त्री, २. नकुली, ३. त्रितन्त्री, ४. चित्रा, ५. विपंची, ६. मत्तकोकिला, ७. आलापिनी, ८. किन्नरी, ९. पिनाकी, १०. परिवादिनी, १२. श्रुतिवीणा, १२. स्वरवीणा, १३. महावीणा, १४. काण्डवीणा और १५. अलाबुवीणा आदि।

१७ वीं शताब्दी ई० के आरम्भ में राजा रामजस के लिए रामामात्य ने 'स्वरमेल-कलानिधि' नामक ग्रन्थ लिखा। उसमें एक वीणा-प्रकरण है, जिसमें वीणा की वंदना करने के उपरांत १. शुद्धमेलवीणा, २. मध्यमेलवीणा और ३. अच्युतराजेन्द्रमेलवीणा, नामक तीन वीणाओं के संबंध में चर्चा की है गई है।

मुगल सम्राट् कलाप्रेमी थे। यह कलाप्रेम उन्हें वंश-परंपरा से मिला था। ललितकलाओं के लिए उनके हृदय में अतिशय अनुराग था। इस दृष्टि से संगीत की भी इस युग में अच्छी उन्नति हुई। इस दृष्टि से अकबर का नाम विशेष महत्त्व का है। मुगल युग में बहुप्रचारित 'बीन' ही 'वीणा' का रूप था।

पं० सोमनाथ के 'रागविबोध' में रुद्रवीणा, शुद्धमेलवीणा और मध्यमेल-वीणा के संबंध में संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पं० सोमनाथ १६२५ ई० में हुए। दामोदर पंडित (१६२५ ई०) के 'संगीतदर्पण' में केवल रागों की चर्चा है। अहोबल पंडित १७ वीं श० के 'संगीत-पारिजात' में वीणा पर स्वर-साधना के तरीके बड़े अच्छे ढंग से वर्णित हैं।

मेवाड़ के महाराणा कुंभा (१८ वीं श०) के 'वाद्यरत्नकोश' में १. एकतंत्री, २. नकुली, ३. त्रितंत्रिका, ४. विपंचो ५. आलापिनी, ६. मत्तकोकिला, ७. पिनाकी, ८. किन्नरी, ९. निःशंका, १०. शततंत्री, ११. औदुम्बरी, १२. कूर्मी, १३. घोष-वती, १४. शार्ङ्गी, १५. वल्कली, १६. रावणहस्ता, १७. श्रुतिवीणा, १८. पद्म-वीणा, १९. स्वरमंडल और वंशवीणा का उल्लेख मिलता है। शार्ङ्गदेव के मत के विरुद्ध कुंभनदेव ने एक बात यह कही है कि मत्तकोकिला वीणा पर इक्कीस तार न होकर सौ तार होते थे।

श्रीकंठ पंडित की 'रसकौमुदी' के दूसरे अध्याय में घोषवती, नकुली, चित्रा, त्रिपंची, मत्तकोकिला, शुद्धमेलवीणा और मध्यमेलवीणा का उल्लेख है। इसी प्रकार राजा राधाकांतदेव के 'शब्दकल्पद्रुम' ग्रंथ में ३० वीणाओं

के नाम इस प्रकार हैं : १. अलावणी, २. ब्रह्मवीणा, ३. किन्नरी, ४. लघुकिन्नरी, ५. विपंची, ६. वल्लकी, ७. ज्येष्ठा, ८. नकुली, ९. चित्रा, १०. घोषवती, ११. जया, १२. हस्तिका, १३. कुब्जिका, १४. कूर्मी, १५. शार्ङ्गी, १६. पारिवादिनी, १७. त्रिशती, १८. शततंत्री, १९. ढंसवी, २०. औदुम्बरी, २१. पिनाकी, २२. निवेद्य, २३. शुष्कल, २४. रावणहस्त, २५. रुद्र, २६. स्वरमंडल २७. कपिलासी, २८. मधुस्पंदी, २९. कच्छपी और ३०. महती।[1]

राधाकांतदेव के ही समकालीन पं० श्रीकृष्णानंद व्यास (१९ वीं श०) के 'रागकल्पद्रुम' के वाद्य-विभाग में वीणाओं की नामावली इस प्रकार है : १. अलावणी, २. ब्रह्मवीणा, ३. किन्नरी, ४. विपंची, ५. वल्लकी, ६. ज्येष्ठा, ७. चित्रा, ८. घोषवती, ९. जया, १०. हस्तिका, ११. कुब्जिका, १२. कूर्मी, १३. सारंगी, १४. परिवादिनी, १५. त्रिशती, १६. शततंत्री, १७. नकुली, १८. बंसरी, १९. औदुम्बरी, २०. पिनाकी, २१. निवेद्य और २२. पुण्डल।[2]

१९ वीं शताब्दी के बाद भी संस्कृत में कुछ संगीतविषयक ग्रन्थ रचे गए। उनमें वीणाविषयक नवीन सूचनाओं का अभाव सा है। इस प्रकार के ग्रन्थ अनेक हस्तलिखित पोथी-संग्रहों में देखने को मिल सकते हैं।

मार्गी और देशी संगीत

आरंभ में संगीत को ईश्वर की आराधना का माध्यम माना जाता था। भगवद्भक्ति का वह एक प्रमुख साधन था। इसी अर्थ भारतीय संगीत में 'नादब्रह्म' की महिमा वर्णित है। 'संगीत-रत्नाकर' के प्रथम अध्याय में उसके व्याख्याकार मल्लिनाथ ने नादब्रह्म की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है :

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानंदमद्वितीयमुपास्महे॥

प्रत्युत उसका उद्देश्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की उपलब्धि भी है :

तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम्॥

---

१. शब्दकल्पद्रुम, भाग १ पृ० ३३२

२. रागकल्पद्रुम, भाग १, पृ० ३७ (वीणा के संबंध में यह खोजपूर्ण सामग्री 'संगीत' पत्रिका (अप्रैल, १९५५, पृ० १६-२१) में लिखित श्री रसिकलाल माणिकलाल पण्ड्या, संगीतविशारद के लेख 'भारतीय वीणा' पर आधारित है)

'वाक्यपदीय' में भी ठीक यही बात लिखी है :

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।

दामोदर पण्डित ने अपने 'संगीतदर्पण' में मार्गी संगीत का जनक ब्रह्मा जी को बताया है। भरत मुनि उसकी परम्परा के प्रवर्तक थे। उक्त ग्रन्थ में कहा गया है कि ब्रह्मा जी ने जिस संगीत को जन्म दिया था, वह संगीत मुक्ति को देनेवाला था। वही मार्गी संगीत कहलाया। भरत मुनि से किन्नर, अप्सर और गंधर्वों ने इसका विकास किया। गंधर्वों ने मार्गी संगीत में इतनी पटुता प्राप्त कर ली थी कि बाद में मार्गी संगीत गांधर्व संगीत के नाम से कहा जाने लगा। ब्रह्मा द्वारा मार्गित (दर्शित) होने के कारण उसका नाम मार्गी हुआ।

इसी हेतु मार्गी संगीत की परिभाषा यों दी गई है :

अनादिः संप्रदायो यद् गंधर्वैः संप्रयुज्यते ।
नियतश्रेयसो हेतुस्तद् गांधर्वं जगुर्बुधाः ॥

अर्थात् जो अनादि सम्प्रदाय है, गंधर्वों द्वारा ही जिसका प्रयोग होता है, जो नियत श्रेयस् का हेतु है, उसे ही गांधर्व गान अथवा मार्गी संगीत कहा गया है।

मार्गी संगीत के सर्वथा विरुद्ध देशी संगीत का जन्म हुआ। उसमें जनरुचि थी ; देश-देश के लोगों की जो हृदय-रञ्जनकारी रुचि थी, वह वादन, गायन और नृत्य युग 'देशी' संगीत के नाम से कही गई :

देशे-देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम् ।
गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ॥

मार्गी संगीत में जहाँ स्मृतियों का पूर्वाग्रह है, देशी संगीत में वहाँ विकास के वैज्ञानिक ढंग हैं। उसी के द्वारा ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, ठप्पा, भजन और गीत आदि का जन्म हुआ। मार्गी संगीत अपौरुषेय ; किन्तु देशी संगीत पौरुषेय है। मार्गी संगीत में केवल देवाराधन की रुचि का सन्निवेश है ; उसकी अपेक्षा देशी संगीत में देवाराधन और जनाराधन, दोनों की भावनाओं का समावेश है। यही कारण है मार्गी संगीत जड़ बनकर एक ही स्थान पर जम गया और देशी संगीत निरन्तर अपना विकास करता हुआ युग के अनुसार ढलता गया।

रागों का वर्गीकरण

भारतीय संगीत के पहिले आचार्य भरत हुए। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में जातियों का जो विवरण दिया गया है, प्रकारांतर से वह राग-रागिनियों का सूचक है। फिर भी हम देखते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' में राग-रागिनियों के वर्गीकरण पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। राग-रागिनियों की चर्चा हम सर्व प्रथम नारदकृत 'संगीत-मकरन्द' में देखते हैं। यह ग्रंथ नारद के किसी संगीतविषयक ग्रन्थ का संस्करण है। इस ग्रन्थ में पुरुष-रागों और स्त्री-रागों का अलग-अलग विभाग किया गया है। इसी समय शिवमत, कृष्णमत, भरतमत और हनुमन्मत का आविर्भाव हुआ, रागों के वर्गीकरण के लिए जिनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आंजनेयमत या हनुमन्मत के होने से, प्राचीन मूर्छना प्रणाली का ह्रास और देशी संगीत का विकास हुआ।

हनुमन्मत, भरतमत और रत्नाकर के बाद शार्ङ्गदेव का 'संगीत-रत्नाकर' इस दिशा का उल्लेखनीय ग्रंथ है। उसकी रचना तक मूर्छनाओं के प्रपंच का लगभग अन्त हो चुका था। शार्ङ्गदेव ने देशी रागों के जो लक्षण प्राचीन मूर्छना प्रणाली पर दिए हैं, वह केवल परम्परा के निर्वाह की दृष्टि से। तदनंतर दामोदर और अहोवल पण्डित ने रागों का अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया।

राग : रस : रागस्वरूप

भरतनाट्य के अभिमत को स्वीकार करते हुए शार्ङ्गदेव ने राग, रस और रागस्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया है :

राग	रस	रागस्वरूप
षड्ज	वीर	गौर
ऋषभ	रौद्र, अद्भुत	लाल, पीला
गांधार	करुण	स्लेटी
मध्यम	हास्य	श्वेत
पंचम	शृंगार	श्यामल
धैवत	बीभत्स, भयानक	नीला, काला
निषाद	करुण	स्लेटी

शार्ङ्गदेव की रागपद्धति

आचार्य शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर', संगीत के लंबे इतिहास में अपना

प्रमुख स्थान रखता है। पुरातन संगीत को शास्त्र की भूमिका प्रदान करने का श्रेय शार्ङ्गदेव को ही है। 'लक्ष्य' तथा 'लक्षण' के भेद को मिटाकर उन्होंने मार्गी और देशी संगीत में सामंजस्य की स्थिति पैदा की। उनके समय तक जितने भी राग प्रकाश में आ चुके थे, उन सबों को वैज्ञानिक विधि तथा व्यवस्थित ढंग से बाँधने का कार्य भी शार्ङ्गदेव ने ही किया। उन्होंने पुरातन 'राग-रागिनी' वर्गीकरण-सिद्धान्त को भी अमान्य कहा। भरत के पश्चात् मार्गी संगीत का प्रायः लोप हो चुका था। उसकी अनेक जातियाँ अवश्य ही प्रकाश में आ चुकी थीं। देशी संगीत के उदय के साथ ही रागों की संख्या अनगिनत हो गई थी। इन सभी रागप्रकारों का वर्गीकरण 'संगीतरत्नाकर' में देखने को मिलता है। प्रचलित रागों को शार्ङ्गदेव ने दस भागों में विभाजित किया, जिसके नाम हैं: १. ग्रामराग, २. उपराग, ३. राग, ४. भाषा, ५. विभाषा, ६. अन्तर भाषा, ७. रागांग, ८. भाषांग, ९. क्रियांग और १०. उपांग।

इनमें से प्रथम तीन रागों का संबंध प्राचीन राग-लक्षणों से है। षड्ज, मध्यम और ग्राम, जो ग्रन्थकार के समय में प्रचलित थे, विभिन्न गतियों से ही इन रागों का जन्म हुआ। ये तीनों राग मार्गी संगीत की विलुप्त परंपरा के स्मारक हैं। उनके बाद के तीन राग भाषा, विभाषा और अन्तर भाषा, देशी संगीत की स्थानीय शैलियों के रूप हैं। इनके द्वारा ही मार्गी और देशी संगीत के बीच सेतु का कार्य होता है। जातियों से उद्भूत होने पर भी उनमें देशी संगीत जैसा उन्मुक्त प्रवाह है। अन्तिम चार राग देशी संगीत की प्रादेशिक शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनमें ग्रामरागों तथा भाषाओं के अङ्ग रूपों का ध्वनन होता है।

श्रुति स्वरविभाजन की दृष्टि से भारतीय संगीत के तीन युग

श्रुति स्वर-विभाजन की दृष्टि से भारतीय संगीत के सारे इतिहास को तीन विभिन्न युगों में वर्गीकृत किया जा सकता है: पुरातन, मध्ययुगीन और आधुनिक। पुरातन युग की काल-सीमा अनादि युग से तेरहवीं शताब्दी ई० तक, मध्ययुग की सीमा चौदहवीं से अठारहवीं श० तक और आधुनिक काल की अवधि उन्नीसवीं शताब्दी से अब तक रखी जा सकती है।

पुरातन युग

इस युग में अनेकों ग्रन्थ रचे गए; किन्तु श्रुतिस्वर की दृष्टि से भरत का

'नाट्यशास्त्र' और शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' ही विवेच्य ग्रंथ हैं। भरत और शार्ङ्गदेव, दोनों ने ही एक स्थान (सप्तम) के अन्तर्गत बाईस श्रुतियाँ मानी हैं। उन दोनों की स्वर-विभाजन-प्रणाली भी एक जैसी है। भरत ने सात-सात तारों की और शार्ङ्गधर ने बाईस-बाईस तारों की दो-दो वीणायें लेकर सप्तस्वरों की स्थापना की है।

मध्य युग

इस युग में श्रुति की दृष्टि से लिखी गई पहिली पुस्तक लोचन कविकृत 'रागतरंगिणी' है, जिसकी रचना १५वीं श० के आरम्भ में की गई। इस पुस्तक में जयदेव और विद्यापति का भी उल्लेख मिलता है। यह पुस्तक बड़े महत्त्व की है। यही प्रथम पुस्तक दिखाई देती है, जिसमें राग-रागिनी या मूर्छनाओं के वर्गीकरण के स्थान पर मेल या थाट की दृष्टि से वर्गीकरण किया गया है। इस युग की दूसरी पुस्तक अहोबल पण्डित की 'संगीत-पारिजात' है। इस ग्रन्थ में उन्होंने १९ स्वरों का नाम दिया है, जब कि केवल १२ स्वरों का ही प्रयोग किया है। श्रुतियों के आधार पर उन्होंने पाँच विकृति और सात शुद्ध स्वरों की स्थापना की; किन्तु उनकी यह स्थापना अधिक वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती है। इसी समय के लगभग हृदय-नारायण देव ने दो पुस्तकों की रचना की, जिनके नाम है, 'हृदयकौतुक' और 'हृदयप्रकाश'। इन पुस्तकों में भी अहोबल की स्थापना की पुनरावृत्ति दिखाई देती है।

१८ वीं शताब्दी में रचित श्रीनिवासकृत 'राग-तत्त्व-विबोध' में भी अहोबल के मतानुसार वीणा के तार पर बारह स्वरों की स्थापना की गई है; किन्तु श्रीनिवास ने उसका विवेचन विस्तार से किया है। उसकी दृष्टियाँ पूर्वापेक्षया अधिक वैज्ञानिक दिखाई देती हैं।

आधुनिक युग

आधुनिक युग में अतिस्वर पर प्रथम प्रकाश डालने वाली कृति पं० विष्णु नारायण भारतखंड की 'अभिनवमंजरी' है। उनका 'लक्ष्यसंगीत' भी इसी कोटि का ग्रंथ है। इन ग्रंथो में एक नई बात यह दिखाई देती है कि उनमें काफी थाट के स्थान पर बिलावल थाट को शुद्ध थाट माना गया है। इसका कारण बिलावल थाट की प्रसिद्धि है, जिसका कारण लोकगीत थे।

भातखंडे जी ने प्रत्येक स्वर को, श्रीनिवास के मत के विपरीत, प्रथम श्रुति पर रखा। उन्होंने तीन और चार श्रुतियों के अन्तर वाले स्वरों को शुद्ध स्वर माना और दो श्रुतियों के अन्तर वाले स्वर को कोमल।

भारतीय संगीत में श्रुति-स्वर-विभाजन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ यही रही हैं। इन्हीं के अनुकरण या आधार पर गौणतया दूसरे संगीतकारों ने भी अपना श्रुतिस्वर-दृष्टिकोण स्थिर किया।

संगीतविषयक ग्रंथों के निर्माण की परम्परा

भारतीय साहित्य में संगीतशास्त्र का भी अपना स्थान है। वैदिक युग से लेकर आज तक भारत के जनमन को प्रभावित करने में संगीतशास्त्र का सतत योग रहा है। काव्य, महाकाव्य, नाटक, काव्यशास्त्र, पुराण आदि जितने भी विषय हैं, उन सभी में संगीत की चर्चाएँ बिखरी हुई हैं। इसलिए लोकप्रियता तथा साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से संगीत का स्थान बहुत ऊँचा रहा है।

साहित्य और समाज में संगीत का सम्मान तो होता ही गया, वरन्, साहित्य के एक स्वतन्त्र अंग के रूप में भी संगीत ने अपना स्थान बनाया। चार उपवेदों में गन्धर्व वेद का भी एक नाम है। 'महाभारत' (शां० २१२।३३) में कहा गया है कि महामुनि नारद गंधर्वविद्या के प्रथम पारंगत विद्वान् हुए, जिनको इस उपयोगी विद्या का ज्ञान ब्रह्मा से मिला था। नारद के नाम से संगीतविषयक अनेक ग्रंथ आज उपलब्ध हैं; जैसे 'नारदीय शिक्षा', 'चत्वारिंशद् रागनिरूपण' और 'संगीतमकरंद'; किन्तु इन ग्रन्थों के वास्तविक रचयिता महर्षि नारद ही थे, इस सम्बन्ध में सन्देह है। विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि ये ग्रन्थ, पुरातनकाल में नारदमुनि द्वारा संगीत पर लिखित ग्रन्थों के संस्करण मात्र हैं और इनकी रचना १०वीं ११वीं शताब्दी से पहिले की कथमपि नहीं हो सकती है।

इसलिए इस दिशा का पहिला ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। इस ग्रन्थ के नाम से जैसा प्रकट है कि वह नाट्यशास्त्र पर लिखा गया है; किन्तु उसके २८, २९ और ३० वें अध्यायों में संगीत-सम्बन्धी बातों पर भी विचार किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' के इन प्रसंगों से विदित होता है कि तब तक ३ ग्रामों, २१ मूर्छनाओं, ७ स्वरों और २२ श्रुतियों का निर्माण हो

चुका था। नाट्यशास्त्रकार ने लगभग २३ श्लोकों में स्वर के वादी, संवादी अनुवादी और विवादी प्रभृति अनेक स्थानों की विवेचना की है। 'नाट्यशास्त्र' की रचना ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुई थी।

विष्णुशर्मा का जो 'पंचतंत्र' संप्रति उपलब्ध है वह पाँचवीं शताब्दी की रचना है। उसकी एक कथा में संगीतविषयक एक महत्त्वपूर्ण श्लोक दिया गया है, जिसमें सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छना, उंचास तान, तीन मात्रा, तीन स्थान, नौ रस, छत्तीस राग और चालीस भाषाओं का उल्लेख मिलता है। संगीत के विकास की दृष्टि से 'पंचतंत्र' का यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस प्रसंग में आचार्य मातंगकृत 'बृहद्देशीय' नामक एक संगीत-ग्रन्थ की चर्चा विचारणीय है। इस ग्रन्थ को छठी शताब्दी में रचा गया मानते हैं। बहुत संभव है यह ग्रन्थ इतना प्राचीन न हो; किन्तु उसमें जो संगीत-विषयक विवरण दिए गए हैं, वे निश्चित ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ में ग्राम और मूर्छना पर विस्तार से विचार किया गया है। मातंग ने सात मुख्य राग गिनाये हैं और उनकी उत्पत्ति जातियों से बताई है। उन सात रागों के नाम हैं: टकी, सावीरा, मालव पंचम, पंडव, वट्टराग, हिंदोलक, और टक्क कौशिका।

पार्श्वदेव के 'संगीतसमयसार' में भोजराज और सोमेश्वर का उल्लेख है। भोजराज का समय १०५३ ई० और सोमेश्वर का समय ११८३ ई० है। इसी समय ११वीं, १२वीं शताब्दी के आसपास पार्श्वदेव हुए, क्योंकि सोमनाथ के 'रागविबोध' में 'संगीतसमयसार' का उल्लेख मिलता है। 'रागविबोध' की रचना शार्ङ्गदेव (१२१० ई०) से पहिले हो चुकी थी। इन दोनों ग्रन्थों में राग-रागिनियों और स्वरसम्बन्धी बातों की विस्तार से चर्चा की गई है।

नान्यदेव का 'सरस्वतीहृदयालंकार' १०९६-११३७ ई० के बीच लिखा गया। इस ग्रंथ में दाक्षिणात्य, सौराष्ट्री, गुर्जरी, बंगाली और सैंधवी आदि अनेक देशी रागों का उल्लेख मिलता है। आचार्य शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' इस दिशा का प्रामाणिक एवं प्रौढ ग्रन्थ है, जिसकी रचना १२१०-१२४७ ई० के बीच हुई। उस पर पं० मल्लिनाथ ने १४५६-१४७७ ई० के बीच,

विजयनगर के राजा प्रतापदेव की इच्छा से एक विशद टीका लिखी थी। मल्लिनाथ के पिता का नाम लक्ष्मीधर था। गुजरात के नांदोद सिंहभूपाल नामक एक दूसरे विद्वान् ने भी 'संगीतरत्नाकर' पर एक टिप्पणी लिखी। 'संगीतरत्नाकर' के अतिरिक्त शार्ङ्गदेव ने 'संगीतसमरसार' नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था। वे देवगिरि (दौलताबाद) के यादववंशीय राजा, संभवतः सिंघन के दरबारी थे।

संगीत-विषयक एक ग्रन्थ 'वीणाप्रपाठक' की हस्तलिखित प्रति बड़ौदा के प्राच्यविद्या मन्दिर में सुरक्षित है। उसको देखकर श्री रसिक लाल माणिक लाल पांड्या का कथन है (देखिए—संगीत, मासिक, अप्रैल, १९५५, पृ० १९) कि उसमें न तो ग्रन्थकर्त्ता का नाम है और न उसका लिपिकाल-रचनाकाल ही दिया गया है, किन्तु ग्रन्थ का एक-तिहाई भाग 'संगीतरत्नाकर' के 'वाद्याध्याय' से प्रभावित है। उसका उल्था मात्र कर दिया गया है। अतः इस ग्रन्थ का समय 'संगीतरत्नाकर' के बाद होना चाहिए; किन्तु उसके बाद वह कब रचा गया, इस संबंध में ठीक तरह से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

तदनन्तर संगीत पर अच्छे ग्रन्थ लिखे गए। दक्षिण में श्रीरङ्ग के राजा रामराज की आज्ञा से टोडरमल तिम्मामात्य के पुत्र रामामात्य ने 'स्वर-कलानिधि' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसका समय, शक सं० १५३१ (१६१० ई०) आश्विन सुदी तृतीया, उसकी पुष्पिका से निर्णीत है।

अकबर का समकालीन एक कर्नाटकी पण्डित पुंडरीक विट्ठल हुआ, जिसका समय १५९९ ई० है। पुंडरीक विट्ठल फारुकी-वंशीय अहमद खाँ के पौत्र, ताज खाँ के लड़के बुरहाम खाँ के यहाँ रहा करते थे। पुंडरीक एक महान् संगीतज्ञ होने के साथ-साथ महान् कवि भी था। पुंडरीक ने लोक प्रसिद्ध और परम्परागत पद्धति के अनुसार भारतीय रागों का, राग, रागिनी और पुत्र रागों में वर्गीकरण किया है। उनका वर्गीकरण अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण एवं वैज्ञानिक है। पुंडरीक का उत्तर भारत के संगीत पर पूर्ण अधिकार था, और उसने उत्तरीय संगीत को, परिष्कार एवं व्यवस्था की दृष्टि से, बड़ा योग दिया। उसने संगीत पर चार ग्रन्थ लिखे, जिनके नाम हैं: 'सद्रागचंद्रोदय', 'रागमाला', 'रागमंजरी' और 'नर्तननिर्णय'। इन ग्रन्थों में वाद्य, राग और नृत्य, संगीत की इन तीन धाराओं पर नवीन पद्धति के अनुसार विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

मुगलकाल के संगीतज्ञ ग्रन्थकारों में पण्डित सोमनाथ का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'रागविबोध' नामक ग्रन्थ की रचना १५३१ ई० (१६१० शक, आश्विन तृतीया) में की। इस ग्रंथ में उन्होंने रागों की विभिन्न रीति-विधियों की विवेचना प्रस्तुत की और वीणाओं पर भी अच्छा प्रकाश डाला। सोमनाथ यद्यपि दाक्षिणात्य थे; किन्तु उत्तर भारत के संगीत से वे प्रभावित रहे। उन्होंने उत्तर और दक्षिण की दोनों पद्धतियों को अपनाया। अपने ग्रन्थ में उन्होंने हनुमान, मातङ्ग, निःशङ्क और मल्लिनाथ प्रभृति पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का भी उल्लेख किया है।

भारतीय संगीत के क्षेत्र में प्रकांड विद्वान् दामोदर पण्डित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका समय १६२५ ई० है। उनका 'संगीतदर्पण' ग्रन्थ भारतीय संगीत के सर्वोच्च ग्रंथों में गिना जाता है। इस ग्रंथ का १८वीं शताब्दी में एक फारसी अनुवाद हो चुका था। हिन्दी, गुजराती और बँगला में भी उसके अनुवाद हो चुके हैं। इसी से ग्रंथ की लोकप्रियता को आँका जा सकता है। इसका 'रागाध्याय' प्रकरण, शार्ङ्गदेव के ग्रंथ की नकल है।

औरंगजेब के शासनकाल में अहोबल नामक पण्डित ने १७५०-१७५७ ई० के बीच 'संगीतपारिजात' नामक एक सुंदर ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का एक फारसी अनुवाद श्री दीनानाथ ने १७७४ ई० में किया। सोमनाथ की भांति इन्होंने भी उत्तर और दक्षिण की स्वर-विधियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन दोनों ग्रंथकारों ने उस समय दक्षिण और उत्तर की पद्धतियों में सांगीतिक सम्पर्कों की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

'संगीतपारिजात' के पश्चात् पण्डित हृदयनारायणदेव ने 'हृदयकौतुक' और 'रागतरंगिणी' नामक दो ग्रंथ लिखे, जिनकी हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय मे सुरक्षित हैं। संगीत की दिशा में पण्डित भावभट्ट का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने १६७४-१७०९ ई० के बीच संगीत पर तीन ग्रन्थ लिखे: 'अनूपविलास', 'अनूपांकुश' और 'अनूपसंगीतरत्नाकर'। उनके इस अन्तिम ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम जनार्दन भट्ट था, जिन्होंने शाहंशाह शाहजहाँ के दरबार में रहकर नाम कमाया। भावभट्ट, कर्णसिंह के पुत्र बीकानेर के राजा अनूपसिंह के दरबारी थे। उनका मूल परिवार दक्षिण से सम्बद्ध था और बाद में वे उत्तर भारत में आकर बस गये थे।

उनके 'अनूपसंगीतरत्नाकर' में 'संगीतरत्नाकर', 'संगीतदर्पण', 'स्वरमेलकलानिधि', 'रागविबोध', 'संगीतकल्पवृक्ष', 'रागतत्त्वविबोध', 'रागकौतुक', 'संगीतोपनिषद्', 'नृत्यनिर्णय','सद्रागचन्द्रोदय', 'रागमंजरी', 'संगीतपारिजात', 'हृदयप्रकाश' और 'रागमाला' आदि अनेक ग्रन्थों की नामावली दी गई है। ये सभी ग्रन्थ अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में सुरक्षित हैं।

इसी समय व्यंकटमुखी नामक एक दाक्षिणात्य विद्वान् ने 'चतुर्दण्डप्रकाशिका' की रचना की, जिसमें ७२ थाट तथा ५५ रागों की चर्चा की गई है।

तदनन्तर मेवाड़ के महाराणा कुंभनदेव ने १७४८ ई० में 'वाद्यरत्नकोश' नाम का एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें विभिन्न वाद्यों के सम्बन्ध में अच्छा परिचय दिया गया है। नावानगर (सौराष्ट्र) के महाराजा जाम साहब के आश्रित विद्वान् श्रीकण्ठ पंडित ने १८वीं श० में 'रसकौमुदी' नाम से संगीत पर एक अच्छा ग्रन्थ लिखा।

भारतीय संगीत के उन्नयन एवं उत्थान में दाक्षिणात्य विद्वानों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। मधुरवाणी नाम्नी एक दाक्षिणात्य संगीतज्ञा का रचा हुआ एक ग्रंथ बंगलोर में उपलब्ध हुआ है। यह ग्रंथ ताड़पत्र पर एवं तैलंग लिपि में है। यह विदुषी तंजोर के रघुनाथ नामक राजा के दरबार में रहा करती थी। इसका शासनकाल १६२४–१६३२ ई० था। वह स्वयमेव कलाकार, विद्वान् और कलाकारों एवं विद्वानों का आश्रयदाता था। यह ग्रन्थ रामायणी कथा पर है, जिसमें १४ सर्ग और १५०० श्लोक हैं।

ग्रंथ की पुष्पिका में अपना परिचय देते हुए मधुरवाणी ने लिखा है कि वह वीणा बजाने में अत्यंत प्रवीण थी। संस्कृत और तैलंग भाषा की कविता करने में भी वह पटु थी। वह आशुकवयित्री भी थी, जो कि आधी घड़ी में १०० श्लोकों की रचना कर लेती थी।

राजा राधाकांतदेव का 'शब्दकल्पद्रुम' भी अच्छा ग्रंथ है। राधाकांतदेव का जन्म मौद्गल्य गोत्र में गोपीदेव के परिवार में हुआ। वह कृष्णानंद व्यास का समकालीन था। मेवाड़ के महाराणा द्वारा प्रदत्त 'रागसागर' की उपाधिवाले पं० कृष्णानंद व्यास ने 'रागकल्पद्रुम' ग्रन्थ १८४३ ई० में लिखा। यह ग्रंथ कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। नकल होते हुए भी यह ग्रंथ

रागों पर अच्छा विवेचन प्रस्तुत करता है। इसी कोटि का दूसरा ग्रंथ 'गीतसूत्रसार' कृष्ण बनर्जी ने १८५० ई० में लिखा।

इनके अतिरिक्त दक्षिण भारत के संगीतज्ञ विद्वानों में महात्मा त्यागराज, शामशास्त्री और सुब्बाराव दीक्षित का नाम उल्लेखनीय है।

भारतीय संगीत की सुदीर्घ परंपरा में अंतिम नाम श्री विष्णुनारायण भातखंडे का है, जिन्होंने संगीत विषय पर संस्कृत भाषा के ग्रन्थ-निर्माण की परंपरा को अमर बनाये रखा। उनका जन्म बम्बई के बालकेश्वर नामक स्थान में एक उच्च ब्राह्मण परिवार में १० अगस्त, १८६० ई० को हुआ। १९ वीं शती के भारतीय संगीतज्ञों में भातखंडे जी का सर्वोच्च स्थान है। भारतीय संगीत के इतिहास में उन्हें अपने विषय का एकमेव विद्वान् माना जाता है। भारतीय संगीताकाश का यह प्रकाशमान नक्षत्र यद्यपि १९ अगस्त १९३६ ई० को सर्वदा के लिए अस्त हो गया; किन्तु अपने ग्रन्थों के रूप में जिस ज्ञानालोक को वह छोड़ गया वह अमर है।

अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी और संस्कृत, इतनी भाषाओं पर भातखंडे जी का पूर्ण अधिकार था। उनके ग्रंथ हैं: 'स्वरमालिका' (गुजराती), 'गीतकालिका' (पत्रिका), 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' ४ भाग, 'अभिनव-रागमंजरी' (संस्कृत) और 'लक्ष्यसंगीत' (संस्कृत)।

शब्दकोश

शब्दकोश

विलुप्तप्राय प्राचीन कोश

कोशग्रंथों की लेखन-परम्परा बहुत प्राचीन है। लगभग वैदिक युग में ही कोश विषय पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। वेदमन्त्रों के द्रष्टा ऋषि-महर्षि ही कोशकार भी थे। इन कोश-ग्रन्थों के जो उद्धरण आज देखने को मिलते हैं, उनसे विदित होता है कि वे परवर्ती कोशों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न थे। प्राचीन समय में व्याकरण और कोश का विषय लगभग एक ही श्रेणी में गिना जाता था। यही कारण था कि जिन पुरातन आचार्यों ने व्याकरण की रचना की, वही प्रायः कोशकार भी थे। व्याकरण और कोश, दोनों एक ही शब्दशास्त्र के अंग थे।

ये प्राचीन कोश प्रायः सभी विलुप्त हैं। उनमें से कुछ के नाम तथा उद्धरण मिलते हैं; किन्तु उनके अतिरिक्त भी बहुत से ग्रन्थ सर्वथा अज्ञात हैं, जिनके सम्बन्ध में कुछ भी जानने को नहीं मिलता है।

इस प्रकार के विलुप्त कोश-ग्रंथों में भागुरिकृत कोश का नाम पहिले आता है। 'अमरकोश' की टीकाओं में भागुरिकृत एक प्राचीन कोश के उद्धरण लिखे मिलते हैं।[1] हैम 'अभिधानचिंतामणि' की स्वोपज्ञ टीका में भी भागुरि के कोशग्रंथ के उद्धरण देखने को मिलते हैं। सायणाचार्य की 'धातुवृत्ति' में भागुरि के कोश का एक पूरा श्लोक उद्धृत है।[2] यही श्लोक 'अमरटीका-

---

१. अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृ० १११, १२५, १९३ इत्यादि; अमरक्षीरटीका पृ० ५, ९, १२ इत्यादि

२. धातुवृत्ति, भू-धातु, पृ० ३०

सर्वस्व' में भी दिया गया है।[१] पुरुषोत्तमदेव की 'भाषावृत्ति'[२], सृष्टिधर की 'भाषावृत्तिटीका'[३], तथा 'प्रभावृत्ति'[४], से विदित होता है कि भागुरि के उस कोशग्रंथ का नाम 'त्रिकाण्ड' था। इन प्रमाणों के अतिरिक्त 'अमरकोश' की सर्वानन्दविरचित 'टीकासर्वस्व' में भी भागुरिकृत 'त्रिकाण्ड' के अनेक वचन उद्धृत हैं। व्याकरणशास्त्र के प्रकरण में पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों की परम्परा में भागुरि का परिचय दिया गया है।

गृहपति शौनक ने 'बृहद्देवता' में आचार्य भागुरि का मत अनेक प्रसंगों में उद्धृत किया है, जिससे विदित होता है उन्होंने 'त्रिकाण्ड' के अतिरिक्त कोई अनुक्रमणिकाविषयक दैवत-ग्रंथ भी लिखा था।[५]

भानुजी दीक्षित ने अपनी 'अमरकोशटीका' में आचार्य आपिशलि का एक वचन उद्धृत किया है[६], जिसको देखने से यह विश्वास होता है कि उन्होंने भी कोई कोशग्रंथ अवश्य लिखा था। 'उणादिसूत्र' के वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त द्वारा उद्धृत[७] एक वचन से आपिशलि द्वारा विरचित कोशग्रन्थ-विषयक संभावना की पुष्टि होती है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में उद्धृत वैयाकरणों में आपिशलि भी एक थे।

केशव ने अपने 'नानार्थार्णवसंक्षेप' में शाकटायन के कोशविषयक अनेक वचन उद्धृत किए हैं[८], जिनको देखकर शाकटायन द्वारा विरचित किसी प्रौढ़ कोशग्रन्थ के वर्तमान होने की संभावना होती है। यह शाकटायन भी प्रकांड शब्दशास्त्रज्ञ था।

इसी प्रकार व्याडिकृत किसी विलुप्त कोश के अनेक उद्धरण कोशग्रन्थों की विभिन्न टीकाओं में देखने को मिलते हैं। हेमचन्द्र के निर्देशानुसार व्याडि के कोश में २४ बौद्ध जातकों के नाम उल्लिखित थे।[९] इस दृष्टि से कोशकार व्याडि बुद्ध के उत्तरवर्ती अथवा उनके समसामयिक प्रतीत होते हैं। इसलिए निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है कि सुप्रसिद्ध वैयाकरण, अथ च संग्रह-

---

१. अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृ० १९३ २. भाषावृत्ति ४।४।१४३

३. भाषावृत्तिटीका ४।४।१४३

४. प्रभावृत्ति में उद्धृत श्लोक के लिये देखिए—गुरुपद हालदार : व्याकरण दर्शनेर इतिहास (बंगला), पृ० ४९९

५. बृहद्देवता ३।१०; ५।४०; ६।९६, १०७

६. अमरटीका : १।१।६६, पृ० २८ ७. उणादिसूत्रवृत्ति, पृ० १९१

८. नानार्थार्णवसंक्षेप, भाग १, पृ० १९

९. अभिधानचिन्तामणि, देवकाण्ड, श्लोक १४७ की टीका, पृ० १००, १०१

कार व्याडि और कोशकार व्याडि एक ही थे या दो व्यक्ति हुए। मीमांसक जी ने कोशकार व्याडि को विक्रम का समकालीन माना है।[1]

महाभाष्यकार पतञ्जलि के शेष, वासुकि, भोगींद्र, फणिपति, अहिपति, और नागनाथ आदि अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं।[2] पतञ्जलि के इन नामों को एक कोशकार के रूप में भी उद्धृत किया गया है; वैसे तो पतञ्जलि के व्यक्तित्व की ख्याति एक वैयाकरण के रूप में विश्रुत है।

वैदिक शब्दकोश

निघंटु और निरुक्त, प्राचीन वैदिक शब्दकोशों के सम्बन्ध में यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है। निघंटु और निरुक्त का एक संस्करण डॉ० लक्ष्मण स्वरूप ने लाहौर से प्रकाशित कराया था। 'वेदार्थशब्दकोश' नाम से भी चमूपति ने एक सुन्दर शब्दकोश तीन भागों में लाहौर से प्रकाशित करवाया था।[3] श्री विश्वबंधु शास्त्री ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। उन्होंने 'वैदिकशब्दार्थपारिजात' (प्रथमखण्ड[4]) 'ए कम्पलीट एटीमोलॉजिकल डिक्शनरी आफ दि वैदिक लैंग्वेज'[5] और सात भागों में 'वैदिक पदानुक्रम कोश'[6] आदि महत्त्वपूर्ण कोशग्रन्थों का निर्माण कर वेदार्थ ज्ञान के अभीप्सु अनुसंधायकों के लिए सुगम रास्ता तैयार कर दिया। इसी प्रकार श्री मधुसूदन शर्मा का 'वैदिककोश', श्री हंसराज का 'वैदिककोश', श्री केवलानन्द सरस्वती का 'ऐतरेय-ब्राह्मण-आरण्यक कोश', श्री गयानन्द शंभू साधले का 'उपनिषद् वाक्य महाकोश', श्री लक्ष्मणशास्त्री के 'धर्मकोश' के व्यवहार काण्ड, ३ भाग तथा उपनिषद् काण्ड ४ भाग, श्री भीमाचार्य झलकीकर का 'न्यायकोश'[7] इस क्षेत्र के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

आधुनिक ढंग पर लिखे गए रॉथ, बोटलिंग, स्मिथ, मोनियर विलियम्स, विल्सन, बेनफे, मैक्डानल, पिशल, गेलनर, हिलेब्रॉंत, ग्रासमन, फोर्शगन

---

१. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० २०८

२. विश्वप्रकाशकोश का आरम्भ १।१६, १९; राघवकृत नानार्थमंजरी का आरम्भ; कैयट : महाभाष्यप्रदीप ४।२।९२; चक्रदत्त की चरकटीका का आरम्भ; हेमचंद्र : अभिधानचिन्तामणि, पृ० १०१

३. आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब से क्रमश, १९९१, १९९७ और १९९६ में प्रकाशित

४. बम्बई १९२९ ई०

५. लाहौर १९२९ ई०

६. लाहौर तथा होशियारपुर से

७. भंडारकर ओरि० रि० इं०, पूना, १८५०

और नीसेर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के वैदिक शब्दकोशों का हवाला वैदिक प्रकरण में दिया जा चुका है।

लौकिक संस्कृत के शब्दकोश

लौकिक संस्कृत में कोशग्रन्थों के निर्माण का आरम्भ, वैदिक शब्दकोश निघंटु के ही आधार पर एवं उसी की शैली के अनुसार हुआ। लौकिक संस्कृत के शब्दकोश एक ही प्रकार के नहीं हैं। कुछ कोशों में तो संज्ञाशब्दों एवं धातुशब्दों का ही संग्रह है और कुछ शब्दकोश संज्ञाशब्दों तथा अव्ययों को ही लेकर रचे गए। ऐसे शब्दकोशों का क्रम अकारादि वर्णों से न होकर पद्यबद्ध रूप में हुआ है। इन कोशों में समानार्थक और नानार्थक, दो प्रकार के शब्दों पर विचार किया गया है।

लौकिक संस्कृत के कुछ शब्दकोश आज नहीं मिलते हैं। ऐसे शब्दकोशों में कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दकोश', विक्रमादित्य का 'शब्दकोश' तथा 'संसारावर्त' और व्याडिकृत 'उत्पलिनी' आदि का नाम उल्लेखनीय है, जिनका निर्देश पहिले भी किया जा चुका है।

संप्रति उपलब्ध होनेवाला सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त कोश अमरसिंह का 'अमरकोश' है। अमरसिंह बौद्ध था और उसकी गणना विक्रमादित्य के नवरत्नों में होने के कारण उसका संभावित समय चौथी से छठी शताब्दी के बीच बैठता है। 'अमरकोश' का निर्माण मैक्समूलर साहब के मतानुसार ईसा की छठी शताब्दी से पहिले ही हो चुका था, क्योंकि छठी शताब्दी में उसका एक अनुवाद चीनी भाषा में हो चुका था।[1] डॉ० होरनेल उसका रचनाकाल ६२५-९४० ई० के बीच और ओक ४०० ई० में मानते हैं।[2] होरनेल महोदय का अभिमत ठीक नहीं है। ओक साहब और मैक्समूलर का मन्तव्य युक्तिसंगत है।

'अमरकोश' का दूसरा नाम 'नामलिंगानुशासन' भी है। यह कोश बड़ी ही वैज्ञानिक विधि से तैयार किया गया है। इसकी उपयोगिता का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि इस पर लगभग पचास टीकाएँ लिखी गईं। इसकी प्रामाणिक एवं प्रचलित टीकाओं में प्रभा, माहेश्वरी, सुधा, रामाश्रमी और नामचन्द्रिका का नाम उल्लेखनीय है। इनमें भी क्षीरस्वामी भट्ट की

१. इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस, पृ० २३२

२. जरनल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ० ९४० (१९०६ ई०)

१०५० ई० में लिखी गई टीका सर्वाधिक लोकप्रिय है। अमरसिंह के ही समय के आसपास शाश्वत नामक एक विद्वान् ने 'अनेकार्थसमुच्चय' की रचना की।

पुरुषोत्तमदेव (७वीं शती ई०) ने 'त्रिकाण्डकोश' (विश्वकोश) के नाम से 'अमरकोश' का एक परिशिष्ट लिखा, जिसमें पालि और प्राकृत के शब्दों का भी समावेश है। इन्होंने ही 'हारावली' नामक एक स्वतन्त्र कोशग्रन्थ भी लिखा, जिसमें ऐसे नवीन शब्दों पर भी प्रकाश डाला गया, जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं हुआ था। वररुचि (७वीं शती) कृत कोश का एक सटीक हस्तलेख राजकीय पुस्तकालय मद्रास में सुरक्षित है।[1] १०वीं शताब्दी में हलायुध ने 'अभिधानरत्नमाला' नाम से एक कोश लिखा, जिसमें ९०० श्लोक हैं। ११वीं शती में विशिष्टाद्वैतवादी दाक्षिणात्य आचार्य यादवप्रकाश ने एक वैज्ञानिक ढंग का कोश 'वैजयन्ती' नाम से लिखा। उसमें शब्दों और वर्णों का क्रम अकारादि से दिया गया है।

कोशग्रन्थों के निर्माण में जैन आचार्यों का प्रमुख भाग रहा है। महाकवि धनंजय (८वीं ९वीं श०) का 'धनंजयनिघण्टु' या 'नाममाला' एक छोटा सा, दो सौ पद्यों का बड़ा सुन्दर कोश है। इसके साथ ४६ श्लोकों की एक 'अनेकार्थनाममाला' भी संलग्न है, जो भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से, अमरकीर्ति के भाष्यसहित प्रकाशित है।[2] उपलब्ध जैन कथाकोशों में हरिषेण का बृहत् कथाकोश सबसे प्राचीन है। इसका रचनाकाल ८५३ श० (सं० ९८९ वि०) है और इसकी श्लोक-संख्या साढ़े बारह हजार है।[3] दिगम्बर सम्प्रदाय में 'आराधना-कथाकोश' के नाम से दो संस्कृत ग्रन्थ हैं: एक प्रभाचन्द्र का गद्यबद्ध और दूसरा मल्लभूषण के शिष्य नेमिदत्त का पद्यबद्ध। ११वीं शताब्दी का लिखा हुआ प्रभाचन्द्र का गद्यबद्ध 'आराधना-कथाकोश'[4] और 'तिलकमंजरी' के रचयिता धनपाल का 'पाइअलच्छी नाममाला'[5] नामक प्राकृत कोश, उल्लेखनीय हैं।

१२वीं शताब्दी में केशवस्वामी ने 'नानार्थार्णवसंक्षेप' एवं 'शब्दकल्पद्रुम', महेश्वर ने 'विश्वप्रकाश', अभयपाल ने 'नानार्थरत्नमाला', हेमचन्द्र ने एक

---

१. राजकीय पुस्तकालय, मद्रास का सूचीपत्र, भाग २७, खण्ड १, ग्रंथांक १५६७२
२. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १०९
३. वही, पृ० २२०   ४. वही, पृ० २९०   ५. वही, पृ० ३१७

बड़े पैमाने का 'अभिधानचिन्तामणि कोश' तथा 'अनेकार्थसंग्रह', 'देशी नाम-माला', मंख कवि ने 'अनेकार्थकोश' और इसी शताब्दी के अन्त में मल्ल भट्ट ने 'आख्यातचन्द्रिका' नामक कोश लिखा।

सम्पूर्ण १३वीं शती का लिखा हुआ कोई कोशग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। १४वीं शताब्दी के अन्त में हरिहर द्वितीय के मन्त्री इरुगपद दण्डधिनाथ ने 'नानार्थरत्नमाला' नामक एक कोश लिखा। १५वीं शताब्दी के आदि में वामन भट्ट वाण ने 'शब्दचन्द्रिका' एवं 'शब्दरत्नाकर' और मेंदनीकर ने 'अनेकार्थ-शब्दकोश' लिखा। १६वीं शताब्दी में श्रुतसागर का 'व्रतकथाकोश'[1] और पद्म सुन्दर का 'सुन्दरप्रकाश शब्दार्णव' उल्लेखनीय है। यह दूसरा कोश नाहटा जी के संग्रह में है।[2] १७वीं शताब्दी में केशव दैवज्ञ ने 'कल्पद्रुम' और अप्पय दीक्षित ने 'नामसंग्रहमाला' नामक दो कोश लिखे। ज्योतिष फलित तथा गणित दोनों विषयों के शब्दों को लेकर वेदांग राघव (१७वीं श०) ने 'पारसी-प्रकाश' कोश लिखा।

इनके अतिरिक्त महिप का 'अनेकार्थतिलक', श्रीमल्ल भट्ट का 'आख्यात-चिन्तामणि नाम क्रियाकोश', महादेव वेदांतिन् का 'अनादिकोश', सौरभी की 'एकार्थनाममाला-द्वयक्षरनाममाला', राघव कवि का 'कोशावतंस' भोज की 'नाममाला', त्र्यंबक मिश्र का 'विशेषामृत', सहाजी का 'शब्दरत्नसमुच्चय', कर्णपूर का 'संस्कृत-पारसीक प्रकाश', हर्षकीर्ति की 'शारदीयाख्या नाममाला', जिसको कि श्री पाटंकर ने सम्पादित किया है और शिवदत्त का 'विश्वकोश' जिसको कि श्रीहर्ष ने सम्पदित किया है, लौकिक संस्कृत के कोशग्रंथों की उज्ज्वल परम्परा के परिचायक ग्रन्थ हैं।

इनके अतिरिक्त भी एकाक्षर-द्विरूपाख्य कोश, गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष और वैद्यक आदि विषयों पर भी स्वतन्त्र कोश लिखे गए। कुछ प्राकृत भाषा के कोश-ग्रन्थों का उल्लेख मध्ययुगीन प्राकृत-साहित्य के अन्तर्गत किया जा चुका है। इसी प्रकार पालि के कोशग्रन्थों की सूचना पालि-साहित्य के प्रसङ्ग में दे दी गई है।

आधुनिक कोश

कोशग्रंथों का निर्माण कार्य आज भी उत्कर्ष पर है। आधुनिक कोशग्रन्थों

---

१. वही, पृ० ३७४

२. अनेकांत, वर्ष ४, अङ्क ८

में तारानाथ तर्कवाचस्पति का 'वाचस्पत्य'[1], राधाकांतदेव का 'शब्दकल्पद्रुम'[2], विजयराजेन्द्रसूरि का 'अभिधान-राजेन्द्रकोश'[3] (सात भागों में), सुखानंद नाथ का 'शब्दार्थचिन्तामणि'[4] (चार भागों में) आदि विश्वकोश के स्तर के बृहद् ग्रन्थ हैं ।

हरगोविन्ददास का 'पाइअ-सद्द-महण्णव'[5] (चार भागों में), प्राकृत-हिन्दीकोश, और ज्ञानचन्द्र स्वामी की 'अभिधानप्रदीपिका'[6] भी विशेष महत्व के कोश हैं । आधुनिक कोशग्रंथों की परम्परा में ग्रेव्ज हागृन की 'डिक्शरी ऑफ बंगाली ऍंड संस्कृत'[7], बेनफे की 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी'[8], रामजसन की 'संस्कृत ऐण्ड इंग्लिश डिक्शनरी'[9], आनन्दोराम बरुआ की 'प्रेक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी'[10], मोनियर विलियम्स की 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी'[11], जीवराम उपाध्याय का 'सरस्वतीकोश'[12], द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी का 'संस्कृत-हिन्दी कोश'[13], रत्नचन्द्र जैनमुनि द्वारा ए० सी० वुल्नर की डिक्शनरी का अनुवाद 'सचित्र अर्धमागधी कोश'[14] (५ भागों में), वामन शिवराम आप्टे की 'प्रेक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी'[15] तथा 'स्टुडेन्ट्स इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी'[16], विश्वम्भरनाथ शर्मा का 'संस्कृत-हिन्दी कोश'[17], मेक्डानल की 'प्रेक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी'[18], गणेशदत्त शास्त्री का 'पद्मचन्द्रकोश'[19], कैप्पेलर की 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी'[20], गिरिजाशङ्कर मायाशङ्कर मेहता का 'संस्कृत-गुजराती शब्दादर्श'[21], विद्याधर वामन भिडे की 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी'[22], रूपलाल वैश्य का 'रूपनिघण्टु'[23], पी० वी० पाठक का 'अर्धमागधी-इंग्लिश, इंग्लिश-अर्धमागधी कोश'[24], टी० डब्ल्यू० रेज डेविट तथा विलियम स्टीड की 'पालि-इंग्लिश डिक्शनरी'[25] (आठ भागों में), फ्रेंकलिन एगर्टन की 'बुद्धिस्ट हैब्रिड संस्कृत ग्रामर ऐण्ड

---

१. कलकत्ता १८७३ २. कलकत्ता १९२१ ३. बम्बई ११९१ वि०
४. आगरा १९२१ ई० ५. कलकत्ता १९२८ ६. कलकत्ता १९४४
७. लंदन १८३३ ८. लंदन १८६६ ९. लंदन १८७०
१०. कलकत्ता १८७७ ११. आक्सफोर्ड १८९९ १२. मुरादाबाद १९८० वि०
१३. लखनऊ १९१७ १४. इन्दौर १९२३ १५. बंबई, १९२४
१६. बंबई १८९३ वि० १७. मुरादाबाद १९२४ १८. लंदन १९२४
१९. लाहौर १९२५ २०. ट्रांसवर्ग १८९१ २१. अहमदाबाद १९९६ वि०
२२. पूना १९२६ २३. नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, १९३४ ई०
२४. कलकत्ता १९५१ २५. लंदन १९५२

डिक्शनरी'[1], ऋषीश्वर भट्ट का 'आधुनिक संस्कृत-हिन्दी कोश'[2], द्वारिका प्रसाद शर्मा तथा तारिणीश झा का 'संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ'[3], सिद्धसरहपाद के 'दोहाकोश' का राहुल जी द्वारा हिन्दी रूपान्तर[4], रामस्वरूप शास्त्री का 'आदर्श हिन्दी-संस्कृत कोश'[5], जीवानन्द विद्यासागर का 'शब्दसागर', दत्ते कर्वे का 'शास्त्रीय परिभाषाकोश', शतीशचन्द्र विद्याभूषण का 'अमरकोश' का संस्कृत-तिब्बती संस्करण और मोनियर विलियम्स की उक्त डिक्शनरी[6] के दिल्ली तथा लखनऊ से प्रकाशित दो हिन्दी संस्करण उल्लेखनीय कार्य हैं।

शब्दकोशों का निर्माणकार्य आज बड़ी उन्नति पर है। सरकार का शिक्षा-विभाग अलग-अलग विषयों पर हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली प्रस्तुत करा रहा है, और फलस्वरूप इस विषय के छोटे-छोटे कई कोश प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कोशग्रंथों के निर्माण का कार्य सरकार ने तत्सम्बन्धी कई संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों को सौंपा है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निरीक्षण में हिन्दी विश्वकोश की योजना इस दिशा की, एवं सरकार के कोशनिर्माण कार्य की सर्वोत्तम योजना है। राज्य सरकारें भी स्वतन्त्र रूप से कोशों का निर्माण करवा रही हैं।

१. आक्सफोर्ड १९५३ — २. आगरा ११५५
३. प्रयाग १९५७ — ४. पटना १९५७
५. चौखम्बा सीरीज, वाराणसी २०१४ वि०
६. दिल्ली से १९५६ में और संस्कृत परिषद्, लखनऊ से १९५७ में

नाटक

उद्भव : अभ्युत्थान : विकास

नाट्यकला की प्राचीनता

उद्भव

संस्कृत-साहित्य में नाटकों की अपनी एक विशिष्ट परम्परा रही है। भारतीय साहित्य की विभिन्न विचार-वीथियों में लोकप्रियता की दृष्टि से नाटकों का पहिला स्थान है। वैदिक युग में नाट्यकला के अस्तित्व के सम्बन्ध में हमें पर्याप्त सामग्री बिखरी हुई मिलती है। ऋग्वेद के निर्माण तक, जो कि वैदिक साहित्य का प्राचीनतम भाग और विश्व-साहित्य के क्षेत्र में पहिला ज्ञान-संग्रह है, नृत्यकला पर्याप्त प्रकाश में आ चुकी प्रतीत होती है। उषा के वर्णन-प्रसङ्ग में उसकी उपमा एक नर्तकी से दी गई है। पुरूरवा-उर्वशी[1], यम-यमी[2], इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि[3], सरमा-पाणिस[4] आदि ऋग्वेदोक्त संवाद-प्रसंगों में नाट्यकला के बीज यथेष्ट रूप में बिखरे हुए मिलते हैं। 'कात्यायन श्रौतसूत्र' में तो सोमपान के अवसर पर एक लघु अभिनय का भी प्रसंग आता है।[5] सोमयाग नामक यज्ञक्रिया की योजना सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी किया करते थे। सोमविक्रेता वनवासियों के यजमान और अध्वर्यु के संवाद भी नाट्यकला की प्राचीनता का द्योतन करते हैं।

मैक्समूलर[6], लेवी[7] और ओल्डेनबर्ग[8] प्रभृति विद्वानों ने वेदों में प्रयुक्त इस प्रकार के संवादात्मक सूक्तों को आधार मान कर भारतीय नाट्यकला की उत्पत्ति वैदिक युग में सिद्ध की है। इन विद्वानों के अनुसन्धानों का परीक्षण कर और वेदमन्त्रों में बिखरे हुए तत्संबंधी सूक्तों का बारीकी से अध्ययन कर

---

१. ऋग्वेद १०।९५ २. वही, १०।१०

३. वही, १०।८६ ४. वही, १०।१०८

५. कात्यायन श्रौतसूत्र ७।८।२५

६. मैक्समूलर : वर्जन ऑफ दि ऋग्वेद, वाल्यूम १, पृ० १७३

७. 'Le Theater Indian' Bibliothique de I' Ecole des-Haits Etudes Fascicule 83, पृ० ३०७-३०८ (१८९०)

८. एच० ओल्डेनबर्ग : जेड डी एम जी, ३२, पृ० ५४; एफ ३९, पृ० ५२

डॉ० दासगुप्ता भी इस अभिमत से सहमत हैं कि वेदमन्त्रों में नाटकीय तत्त्व प्रचुर रूप में विद्यमान हैं, और तत्कालीन जन-जीवन के धार्मिक अवसरों, संगीत-समारोहों तथा नृत्योत्सवों से नाटक का घनिष्ठ संबंध था।[1]

संस्कृत के नाटकों की अति प्राचीनता के संबंध में ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद में भी कुछ विस्तार से चर्चा की गयी है। यजुर्वेद की 'वाजसनेयसंहिता' के एक प्रसंग से अवगत होता है कि वैदिक युग में एक शैलूष नामक जाति के लोग व्यावसायिक रूप से नाटकों का आयोजन कर जीविकोपार्जन किया करते थे। इस प्रसंग में बताया गया है कि यज्ञ के अवसरों पर नृत्य-गीतादि के लिए सूत और शैलूष लोगों की नियुक्ति की जाती थी, जो कि नृत्य एवं संगीत द्वारा नाट्याभिनय करते थे।[2] इन प्रसंगों के संबंध में डॉ० दासगुप्ता का कथन है कि *यद्यपि वैदिक युग में नाटकीय तत्त्व प्रचुर रूप में प्रचलित थे,* तथापि इनका अनुशीलन कर यह नहीं कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज के या उक्त प्रसंगों में उद्धृत सूत और शैलूष लोग नाटक-नियमों से पूर्णतया अभिज्ञ थे। हमें वेदमन्त्रों के किसी भी प्रसंग में पात्रों का वर्णन और नाटक-संबंधी पारिभाषिक शब्दावली के कहीं भी दर्शन नहीं होते हैं। फिर भी कदाचित् यह संभव है कि तत्कालीन धार्मिक अवसरों से नाट्यकला का गर्भस्थ शिशु की भांति संबंध रहा हो, जिसका कि पूर्ण विकास नहीं हो सका था।[3]

उत्तरवर्ती सहित्य में हमें नाटकों एवं नाट्यकला की शिल्पविधियों का पूरा इतिहास दिखाई देता है। 'अष्टाध्यायी', 'रामायण', 'अर्थशास्त्र', 'बौद्धजातक' और महाकाव्यों आदि में हमें नाट्यकला के विभिन्न अंगों, उसके पात्रों और साथ ही पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। रामायण-काल की अयोध्या नगरी में नाटक-मण्डलियाँ प्रभूत ख्याति अर्जित कर चुकी थीं।

---

१. डॉ० एस० एन० दासगुप्ता ऐंड एस० के० डे: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वाल्यूम १, पृ० ४४, १९४७

२. प्रसंग इस प्रकार है: नृत्त (ताल-लयबद्ध नर्तन) के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष (नट) को, धर्मव्यवस्था के लिए सभाचतुर को, मनोरंजन के लिए विनोद-शीलों को, शृङ्गार-रचना (सज्जा) के लिए कलाकारों (निर्देशकों) को, समय बिताने के लिए राजकुमारों को, चातुर्य-प्रदर्शन के लिए रथकारों को और धैर्ययुक्त कार्यों के लिए बढ़ई को नियुक्त किया जाता था।

—यजुर्वेद-संहिता, अध्याय ३०, मन्त्र ६

३. डॉ० एस० एन० दासगुप्ता: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, भाग १, पृ० ४६-४७

कुशीलव (नट-नर्तक) लोगों का उस समय काफी प्रचार हो चुका था। 'रामायण' के एक प्रसंग में कहा गया है कि नटों, नर्तकों और गायकों की मण्डलियों की कर्ण-सुखद वाणियों को जनता पूरी तन्मयता से सुनती थी।[1] महामुनि वाल्मीकि का कथन है कि शासकहीन जनपद में 'नट' और 'नर्तक' प्रसन्न नहीं दिखाई देते।[2]

महावैयाकरण पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में हमें भिक्षुसूत्रों और नटसूत्रों के प्रणेता पाराशर्य शिलालि तथा कृशाश्व नामक दो प्राचीन आचार्यों का केवल नाम ही देखने को मिलता है।[3] इनके नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की उपलब्धि संभव हुई होती तो नाट्यकलासंबंधी बहुत सी बातों की सूचनाएँ विदित हो गई होतीं।

'रामायण' और 'अष्टाध्यायी' के उपरांत 'महाभारत' में नाटकों के शिल्प-संबंधी विधानों का अधिक स्पष्टीकरण मिलता है। 'हरिवंश' के, जो 'महाभारत' का ही एक अंश है, प्रद्युम्न-विवाह के प्रसंग में निर्देश किया गया है कि वसुदेव जी के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर भद्र नामक एक नट ने अपने आकर्षक नाट्य-प्रदर्शन से उपस्थित ऋषि-महर्षियों को प्रसन्न किया था, जिसके फलस्वरूप कि उसने आकाश में विचरण करने तथा स्वेच्छया रूप-धारण करने का वरदान प्राप्त किया था।[4] 'महाभारत' में 'रामायण नाटक' और 'कौबेर-रंभाभिसार' नामक दो नाटकों का भी नाम मिलता है।[5] 'महाभारत' में नट, नर्तक, गायक, सूत्रधार आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[6]

'मौर्य-साम्राज्य की कीर्तिकथा को धरती भर में फैला देने वाले अद्भुत विद्वान् कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अध्ययन से पता चलता है कि अन्य कलाओं के अतिरिक्त जितनी भी ललित कलाएँ थीं, उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए उस

---

१. नटनर्तकसघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥

२. नीराजने जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः—रामायण २।६७।१५

३. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४४।१।११०); कर्मन्दकृशाश्वादीनि (४। ३।१११) अष्टाध्यायी

४. महाभारत, हरिवंशपर्व ९१-९७ अध्याय

५ महाभारत, वनपर्व, १५।१३

६. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २६, राजपाल ऐण्ड संस, दिल्ली (द्वितीय संस्करण)

समय राज्य की ओर से पूरा प्रबंध था। अर्थशास्त्रकार ने एक सुगठित राज्य-व्यवस्था के लिए विधान दिया है कि उसमें गणिका, दासी, अभिनेत्री, गायिका आदि के लिए चित्रकारी, वीणावादन, वेणुवादन, मृदंगवादन, गंध-निर्माण और शरीर-शृङ्गारादि की जितनी भी चौसठ प्रकार की कलाएँ हैं, उनके शिक्षण के लिए राज्य की ओर से सुयोग्य आचार्यों का प्रबंध होना चाहिए।[1] 'अर्थशास्त्र' से ही हमें यह भी जानने को मिलता है कि उस समय नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), सौमित्र (ऐंद्रजालिक) और चारण आदि की विभिन्न मंडलियाँ गा, बजा और नाटक करके जीविकोपार्जन किया करती थीं। इन मंडलियों को राज्य में प्रविष्ट होने से पूर्व निर्धारित राजकर (Entertanment) भी अदा करना पड़ता था, जो कि प्रत्येक खेल के लिए पाँच पण नियुक्त था।[2]

ईसवी पूर्व की शताब्दियों में रचे गए आरंभिक बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि उस समय नाट्यकला का भारतव्यापी प्रचार हो चुका था। 'विनयपिटक' के 'चुल्लवग्ग' की एक कथा में बताया गया है कि अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु एक बार जब कीटागिरी की रङ्गशाला में अभिनय देखने के बाद एक नर्तकी के साथ प्रेमालाप करते हुए पकड़े गए तो विहार के महास्थविर ने उन्हें तत्काल विहार से निष्कासित कर दिया था।[3]

इसी प्रकार वैयाकरण पतंजलि के 'महाभाष्य' में हमें दो नाटक कृतियों का निर्देश मिलता है, जिनके नाम हैं 'कंसवध' और 'बालिवध'। डॉ० कीथ का कथन है कि पतंजलि के समय तक नट केवल नर्तक भर ही नहीं रह गए थे, वरन्, वे संगीतज्ञ भी थे और संगीत तथा अभिनय द्वारा नाटकों का सफल प्रदर्शन भी करने लग गए थे। कीथ के मतानुसार संस्कृत के नाटकों की प्राचीनता ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी के लगभग बैठती है।[4]

कामशास्त्र के विख्यात आचार्य वात्स्यायन का कथन है कि तत्कालीन कलापूर्ण सरस्वती-भवनों में पक्ष या मास के प्रसिद्ध पर्वों पर राजा की ओर से नियुक्त नटों द्वारा अभिनय होता था। इस उत्सव को तब 'समाज' कहा जाता था।[5] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अभिमत है कि धार्मिक उत्सवों

---

१. कौटिल्य : अर्थशास्त्र अध्यक्षप्रचार, अध्याय ४१ २. वही, अध्यक्षप्रचार, अध्याय २७
३. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ९१ (तृतीय संस्करण)
४. डॉ० कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० ४५ ५. वात्स्यायन : कामसूत्र, नागरकवृत्त प्रकरण, १५

के अवसर पर देवालयों में और पुत्रजन्मोत्सव या विवाहोत्सव पर घरों में प्राचीनकाल में ही रंगशालाओं का निर्माण हो चुका था और नाट्यकला का खूब प्रचार हो चुका था।[1]

इसलिए यह निर्विवाद सत्य है कि संस्कृत-साहित्य में नाटकों के निर्माण की परंपरा बहुत पुरानी है और आदिकाल से ही भारतीय जन-जीवन के मनोरंजन के लिए इन नाटकों को श्रेष्ठ माध्यम के रूप में अपनाया जाता रहा है। साहित्य विद्या के विभिन्न अङ्गों में आचार्य वामन ने नाटक को पहिला स्थान दिया है; क्योंकि कथा, आख्यायिका, महाकाव्य, काव्य आदि के पठन-पाठन से वास्तविक आनंद की अनुभूति तभी संभव है, जब उसमें नाटकत्व का भी समावेश हो; जब पाठक के समक्ष कथा, आख्यायिका आदि के पात्र नाटक के सजीव पात्रों की भाँति अभिनय करते हुए दृष्टिगत होते हैं, तभी काव्यरस की वास्तविक उपलब्धि संभव है।[2] आचार्य अभिनव गुप्त का भी कथन है कि अभिनेय काव्य (नाटक) ही एक ऐसा काव्यांग है, जिससे रङ्गमञ्च के वातावरण, पात्रों के आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय एवं क्रिया-व्यापार के द्वारा हृदयहीन सामाजिक भी सहृदय सामाजिक की भांति अलौकिक आनन्द का रस प्राप्त कर लेता है।[3] समग्र काव्य-साहित्य में नाटक की उपयोगिता का यही रहस्य है।

संस्कृत के नाटकों की उपयोगिता का एक कारण यह भी है कि उनमें जनभावना की प्रधानता है। अधिक से अधिक ख्याति अर्जित करने के लिए संस्कृत-नाटकों में इस जनरुचि को स्थान दिया गया। संस्कृत के नाटककारों ने अपने नाटकों की कथावस्तु धर्मग्रन्थों, पुराणों या काव्यों से उधार लेकर उसको जनता की रुचि में ढालकर देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार जन-रंजन की दृष्टि से ऐसे नाटकों की योजना की, जो विद्वत्समाज तथा जन-सामान्य के लिए एक जैसी उपयोगिता अर्जित कर सकते थे। इस दृष्टि से एक काव्यकार की अपेक्षा एक नाटककार अधिक दायित्व अनुभव करता है। काव्यकार और नाटककार दोनों कवि हैं; किन्तु जहाँ कवि की वर्तमान समाज के प्रति उतनी निष्ठा नहीं रहती, जितनी भविष्य के प्रति,

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : प्राचीन भारत का कला विलास, पृ० ७५ ७७, ८७
२. वामन : काव्यालंकारसूत्र १।३।३०-३२
३. अभिनव गुप्त : अभिनव भारती, पृ० २८२-२८३, २८८, गायकवाड़ का प्रथम संस्करण

वहाँ नाटककार के समक्ष भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का तकाजा अधिक बलवान् होता है। कवि और नाटककार में यही मौलिक अंतर है।[1]

भारतीय नाटकों के जन्मदाता रास और स्वांग तत्कालीन जनरुचि के अधिक अनुकूल थे। उनमें गद्यात्मक संवादों की अपेक्षा संगीतात्मकता अधिक थी।[2] भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं के इतिहास में इन रास और स्वांग को लोकनाट्य का प्रभावोत्पादक माध्यम माना गया है। इस प्रकार के नाटक 'ड्रामेटिक पोएट्री' (नाट्यकाव्य) के नाम से कहे गए; जिनकी रचना कवितात्मक थी, पात्रों के प्रवेश एवं प्रस्थान का, अंक-विभाजन दृश्य-परिवर्तन आदि का कोई विचार नहीं था; और जिनमें गति-निर्देश के लिए छन्दों का सहारा लिया गया था, तथा लेखक अपने स्थलों पर स्वयं ही पात्र बनकर कथानक के प्रवाह को आगे बढ़ाता था।[3] इस प्रकार के नाटक प्राचीनता और उपयोगिता, दोनों दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

आचार्य भरत का मत

आचार्य भरत भारतीय नाट्यशास्त्र के आदि निर्माता हैं, जिनके सम्बन्ध में काव्यशास्त्र की आलोचना करते हुए यथास्थान पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। भरत के मतानुसार नाट्य नामक पंचम वेद तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है।[4] इसी प्रसङ्ग की व्याख्या में उन्होंने बताया है कि नाट्यवेद के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम, शान्ति, युद्ध, क्रीडा, हास्य आदि सभी बातों का समावेश रहता है। निष्कर्ष यह है कि नाट्यवेद में न केवल धर्मात्मा या ज्ञानियों की ही चर्चा रहती है, या उसका निर्माण न केवल किसी विशिष्ट वर्ग के लिए किया गया है, वरन्, कामुकों के लिए कामसेवन, दुर्विनीतों के लिए निग्रह की सामग्री, क्लीबों के क्लीबत्व तथा शूर-वीरों के उत्साह की भी उसमें व्यवस्था रहती है; उसमें मूर्खों की मूर्खता, विद्वानों की विद्वत्ता, धनिकों के विलास, दुःखार्तों के लिये आश्वासन, अर्थलिप्सुओं को अर्थोपलब्धि के उपाय, आर्तजनों के लिये त्राण आदि ऐसे विभिन्न विषयों का समावेश एक साथ रहता है, जिसमें असमान प्रकृति के लोग अपने-अपने

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु ड्रामेटिक थ्योरी, पृ० २०

२. डॉ० दासगुप्ता : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, भाग १, पृ० ४४५

३. डॉ० सोमनाथ गुप्त : हिन्दी नाटक साहित्य, पृ० ७

४. भरत : त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्—नाट्यशास्त्र १।१०७

भावों तथा अपनी-अपनी रुचियों, समस्याओं एवं अवस्थाओं का पूरा चित्र अपनी आँखों से देख सकें ।[1]

आचार्य भरत के मतानुसार सभी प्रकार के मनुष्यों का अनुकरण होने के कारण नाटक में सभी प्रकार का ज्ञान, शिल्प, विद्याएँ, कलाएँ और शास्त्र समन्वित रहते हैं। वह वेदविद्या है, इतिहास है और उसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा सब को विनोद प्रदान करने के साधन भी विद्यमान रहते हैं ।[2]

'नाट्यशास्त्र' के अध्ययन से विदित होता है कि आत्रेय आदि विभिन्न तपःपूत मनस्वियों एवं मुनियों द्वारा, महामुनि भरत से यह पूछे जाने पर कि उन्होंने नाटक का निर्माण क्यों किया और उसमें क्या-क्या नवीनताएँ भरपूर हैं, महामुनि ने कहा : 'स्वायंभुव मनु के सत्ययुग के बीत जाने पर वैवश्वत मनु के त्रेतायुग में जब समस्त जन-समाज काम-क्रोधादि दुर्व्यसनों से लिप्त हो रहा था, तब समग्र देवगण ने पितामह ब्रह्मा के पास जाकर इस दुरवस्था का हाल कह सुनाया और उनसे आग्रह किया कि जम्बूद्वीप के समस्त प्रजाजनों का दुःखमय एवं दुर्व्यसनपूर्ण जीवन जिस युक्ति से सुखमय तथा सदाचरणशील बन सके एवं जिससे सभी वर्णाश्रमों के लोग समानरूप से एक स्थान पर बैठ आनंद प्राप्त कर सकें, हे प्रभो, वैसा उपाय निकालिए ।

'देवताओं की अभीष्टपूर्ति का संकल्प कर पितामह ने उन्हें वापिस किया। तदनंतर उन्होंने चारों वेदों का स्मरण किया और तब उन्हें एक ऐसे 'वेद' की रचना करने की प्रेरणा सूझी, जिससे देवगण एवं मनुष्यगण सभी को धर्म, अर्थ और यश की उपलब्धि हो सके; ऐसी उपलब्धि कि जिसमें उपदेश भरे हों, जिसमें साथ-साथ इतिहास भी हो। ऐसा सर्वांगीण शास्त्र नाट्यवेद होगा; जिसकी रचना सभी शास्त्रों के तत्त्वों को मिलाकर की जायगी; उसी से सुगमतापूर्वक सभी शिल्प प्रदर्शित किए जा सकेंगे—यह जानकर प्रजापति मन-ही-मन आनंद-विभोर हो उठे' ।[3]

सर्वशक्तिमान् जगत्पिता ब्रह्मा ने इस प्रकार की चिंतना कर नाटक नामक पंचमवेद की रचना की और उसके अभिनय का पूरा भार महामुनि भरत को

---

१. भरत : नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक १०८–११३

२. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ —नाट्यशास्त्र, १।१०९

३. वही, अध्याय १, श्लोक ८–१८

सौंप दिया। स्त्री-पात्रों के लिए अनिंद्य सुंदरी अप्सराओं की रचना की गई; रंगशाला की साज-सज्जा का सारा दायित्व कलागुरु विश्वकर्मा ने स्वीकार किया। उसमें सर्वप्रथम 'असुरपराजय' फिर क्रमशः 'अमृतमंथन' और 'त्रिपुरदाह' आदि नाटक अभिनीत हुए।

'नाट्यशास्त्र' के इन उल्लेखों से पता चलता है कि भरत मुनि के समय में ही (१) नट, (२) नटी, (३) नृत्य, (४) वाद्य, (५) संगीत, (६) संवाद, (७) कथावस्तु और (८) रंगमंच आदि का भी निर्माण हो चुका था।[1]

नाटक की उत्पत्ति के संबंध में पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों की एक जैसी धारणाएँ, एक जैसे अनुसंधान हैं। भरत मुनि ने नाटक का प्रयोजन जिन दुःखार्त, श्रमार्त एवं शोकार्त जनों की संतुष्टि के लिए बताया है, उसी बात को यूनान के युगद्रष्टा विद्वान् अरस्तू ने भी कहा है।[2]

अनुकृति, नाटक की प्रेरणा का प्रधान उद्देश्य है। विद्वानों का अभिमत है कि जिस दिन किसी बालक ने खेल-ही-खेल में अपने किसी बड़े व्यक्ति के अनुकरण की कल्पना की, उसी दिन नाटक का जन्म हुआ और तब से यह उत्तम कला निरंतर विकास को प्राप्त होती गई।[3]

कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अभिमत

डॉ० रिजवे नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण वीरपूजा को मानते हैं। उनका कहना है कि दिवंगत वीर पुरुषों की स्मृति में समय-समय पर जो सामूहिक संमान प्रदर्शित किया जाता था उसी से नाटक का जन्म हुआ। ग्रीक और भारत में लगभग मृतवीरों के प्रति पूजाभाव प्रदर्शित करने के तरीके एक जैसे थे। भारत में रामलीला और कृष्णलीला इस प्रवृत्ति के परिचायक है।[4]

डॉ० रिजवे के विपरीत डॉ० कीथ का अभिमत है कि प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के समक्ष मूर्तरूप में प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति ने ही नाटकों को जन्म दिया। 'महाभारत' में निर्दिष्ट 'कंसवध' नाटक के संबंध में डॉ०

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १८

२. अरिस्टॉटिल (अरस्तू) ऑन दि आर्ट ऑफ दि पोएट्री, पृ० ३५, क्लेरेण्डन प्रेस, आक्सफोर्ड, १९४७

३. दि डेवलपमेंट ऑफ ड्रामैटिक आर्ट, पृ० १, १९२८

४. डॉ० रिजवे : ड्रामा ऐंड ड्रामैटिक डांसेज़ ऑफ नान-यूरोपियन रेसेज

कीथ का कहना है कि इस नाटक का मुख्य उद्देश्य वसंत ऋतु पर हेमन्त ऋतु की विजय दिखाना था, और कृष्ण का विजय-प्रसंग उद्भिज् जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक मात्र था।[1]

तीसरे जर्मन विद्वान् डॉ० पिलेश पुत्तलिका-नृत्य से नाटक की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं। डॉ० पिशेल के मतानुसार इस नृत्य का जन्मदाता भारत था और वहीं से विश्व भर में इसका प्रचार-प्रसार हुआ।[2]

डॉ कोनो छाया नाटकों से नाटकों का आरंभ मानते हैं।[3] किन्तु संपूर्ण संस्कृत-साहित्य के सुभट कवि का एकमात्र छाया नाटक 'दूतांगद' ही उपलब्ध होता है। अतः भारत के संबंध में यह मत अप्रासंगिक प्रतीत होता है।

'मे-पोल' नृत्यों के आधार पर भी कुछ विद्वान् नाटकों का उदय मानते हैं।[4] यह नृत्य पश्चिमी देशों में मई मास में बड़ी धूम-धाम से संपन्न होता है। भारत में इन्द्रध्वजोत्सव से जिसकी बहुत समानता बैठती है।

अभ्युत्थान

संस्कृत-साहित्य में नाटकों की सजीव एवं मूर्त परंपरा का अनुवर्तन भास से होता है। आधुनिक विद्वानों को भास का परिचय यद्यपि हाल ही में प्राप्त हुआ है; किन्तु उसके व्यक्तित्व की महिमा बाण (सातवीं शता०), दण्डी (सातवीं श०), भामह (सातवीं श०), वाक्पतिराज (आठवीं श०), वामन (आठवीं श०), राजशेखर (नवम श०) और अभिनवगुप्त (दसवीं श०) प्रभृति काव्यकारों, कथाकारों एवं काव्यशास्त्रियों की रचनाओं में सर्वत्र बिखरी हुई थी।[5]

भास के नाटकों को प्राप्त कर उन्हें प्रकाश में लाने का श्रेय स्व० श्री टी० गणपति शास्त्री को है। उन्होंने १९०९ ई० में भास के १३ नाटकों को खोज कर उन्हें 'त्रयोदश त्रिवेंद्रम् नाटकानि' नाम से प्रकाशित किया था।[6] स्व० शास्त्री जी ने यह सिद्ध किया कि उक्त सभी नाटक भासकृत हैं और भास का स्थितिकाल कालिदास के पहिले है।

---

१. डॉ० कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० ४१-४८ तथा 'थ्योरी ऑफ वेजिटेशन स्पिरिट'

२. डॉ० पिशेल : थ्योरी ऑफ पपेट शो

३. डॉ० स्टेन कोनो : दास इण्डिस्के ड्रामा, पृ० ४५-४६ ४. मे-पोल-थ्योरी

५ पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ८९-९१; काले: स्वप्नवासवदत्तम् की भूमिका

६. त्रिवेन्द्रम् से १९१२-१९१३ में प्रकाशित

किन्तु उक्त नाटकों के प्रकाश में आते ही पहिले-पहल कुछ विद्वानों ने तो स्पष्ट अस्वीकार कर दिया कि वे भासकृत हैं ही नहीं।[1] प्रो० सिलवां लेवी, प्रो० विंटरनित्स और प्रो० सी० आर० देवधर पहिले विद्वान् हैं, जिन्होंने इन नाटकों को 'मत्तविलास प्रहसन' के रचयिता युवराज महेंद्र अथवा 'आश्चर्य चूडामणि' नाटक के कर्त्ता शीलभद्र के नाम मढ़ कर उनकी रचना सातवीं-आठवीं शताब्दी में निर्धारित की।[2] वर्नेट साहब ने इन नाटकों का कर्त्ता, पांड्य राजा जयसिंह प्रथम की राज्यावधि (६७५ ई०) में, किसी दाक्षिणात्य नाटककार को माना है।[3] विद्वानों के एक संप्रदाय ने इन नाटकों को केरल के कवियों द्वारा संशोधित बताया।[4]

किन्तु आधुनिक खोजों के अनुसार पूर्णरूप से यह सिद्ध हो गया है कि उक्त तेरह नाटकों का कर्त्ता भास था और वे किसी प्रकार के कटे-छंटे, संशोधित, संक्षिप्तीकरण आदि के रूप में न होकर अपने मूलरूप में हमारे सम्मुख हैं।[5]

भास के स्थितिकाल की सीमा को कुछ विद्वानों ने ईसा की तीसरी शताब्दी में रखा; किन्तु आधुनिक खोजों से यह विदित हो गया है कि भास, नाट्यशास्त्रकार भरत तथा कामसूत्रकार वात्स्यायन का भी पूर्ववर्ती था। तीसरी शताब्दी में उसका स्थितिकाल कदापि नहीं हो सकता है।[6] लोकमान्य तिलक के मतानुसार भास, कालिदास का पूर्ववर्ती था और उसका स्थितिकाल दूसरे या तीसरे शतक के बाद का कदापि नहीं है।[7] 'भगवद्गीता' के आदि में 'गीता-ध्यान' नाम से नौ श्लोकों की चर्चा करते हुए लोकमान्य का यह भी कथन है कि इन नौ श्लोकों में जो 'भीष्मद्रोणतटाजयद्रथ जला' श्लोक उद्धृत है, वह भास कवि के 'उरुभंग' का आदि श्लोक है।[8] कुछ विद्वानों ने भास को नारायण काण्व का समकालीन सिद्ध किया है।[9] नारायण काण्व का समय ५३–४१ ई० पूर्व था।[10]

---

१. ए० डी० पुसलकर : भास, ए स्टडी, पृ० २३–६०

२. दास गुप्ता : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वा० १, पृ० १०७–१०८

३. वर्नेट : बुलेटिन ऑव स्कूल ऑव् ओरिएण्टल स्टडीज ३, पृ० ३५, ५२०–५२१

४. थोम्स : जनरल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, पृ० ८७६ (१९२८)

५. डॉ० व्यास : संस्कृत कविदर्शन, पृ० २२८–२३०

६. अनंत प्रसाद बनर्जी : जनरल ऑफ दि बिहार ऐन्ड ओड़ीसा रिचर्स सो० ९, पृ० ७७

७. लोकमान्य तिलक : गीता रहस्य, पृ० ५६०   ८. वही, पृ० ५६१

९. जायसवाल : जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, पृ० २५९ (१९१३)

१०. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा २, पृ० १६७–१६८

स्व० गणपति शास्त्री द्वारा भास के नाटकों का प्रकाश में आने से पूर्व इतिहासकार जब भास के नाम से अपरिचित थे, तब शूद्रक का 'मृच्छकटिक' संस्कृत का पहिला नाटक माना जाता था और शूद्रक का स्थितिकाल २२०–१९७ ई० पू० निर्धारित किया गया था। किन्तु भास की उपलब्ध नाटक-कृतियों के तुलनात्मक विश्लेषण पर अब सर्वथा प्रमाणित हो चुका है कि शूद्रक का 'मृच्छकटिक' भास के 'चारुदत्त' से बहुत प्रभावित है।[१] इस दृष्टि से भास का समय तीसरी शताब्दी ई० पूर्व से पहिले होना चाहिए।

भास की कृतियों का, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बृहस्पति और कौटिल्य के साथ वैज्ञानिक परीक्षण करने के बाद इतिहासकारों ने यहाँ तक सिद्ध किया है कि भास का स्थितिकाल पाँचवीं-चौथी शताब्दी ई० पूर्व था।[२]

भास कृत इन १३ नाटक कृतियों का रचना-क्रम विद्वानों ने इस प्रकार रखा है : 'दूतवाक्य', 'कर्णभार', 'दूतघटोत्कच', 'ऊरुभंग[३]', 'मध्यम व्यायोग', 'पंचरात्र', 'अभिषेक', 'बालचरित', 'अविमारक', 'प्रतिमा', 'प्रतिज्ञायौगंधरायण', 'स्वप्नवासवदत्त' और 'चारुदत्त'।[४]

भास के नाम से दूसरी कृतियों का उल्लेख

परंपरागत अनुश्रुतियों के अनुसार भास को ३० से अधिक कृतियों का कर्ता बताया गया है।[५] 'वीणावासवदत्ता' नामक एक चार अंकों की अपूर्ण उपलब्ध नाटक कृति से भास के नाटकों का मिलान करने पर डॉ० कुन्हन राजा ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि वह भी भासकृत है[६]; किन्तु दूसरे अनेक विद्वान् इसको भासकृत नहीं मानते हैं। एक दूसरी नाटक कृति 'यज्ञफलम्' को श्री कालिदास शास्त्री ने १९१४ ई० में खोजकर प्रकाशित

---

१. एस० के० बेलवलकर : दि रिलेशनशिप ऑफ शूद्रकाज मृच्छकटिक टु दि चारुदत्त ऑफ भास—प्रोसी० ऑफ फर्स्ट ओरियन्टल कान०, १९१९, वा० २, पृ० १८९–२०४

२. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ९९–१०५ (तृतीय संस्करण)

३. संस्कृत के नाटकों में एकमेव दुःखान्त एकांकी

४. ए० डी० पुसलकर : भास, ए स्टडी, पृ० ११९

५. ए० डी० पुसलकर : द सेवेनटीन्थ सेंचुरी वर्क्स ऑफ भास, पूना ओरियण्टलिस्ट वा० ८

६. डॉ० कुन्हन राजा : ए न्यू ड्रामा ऑफ भास, प्रोसीडिंग्स ऑफ सिक्स्थ ओरियण्टल कान०, पृ० ५९३, १९३०

किया और उसे भासकृत बताया; किन्तु दूसरे विद्वानों ने उसको ११वीं १२वीं शताब्दी की रचना बताया है।[1] इन रचनाओं के अतिरिक्त सुभाषित ग्रन्थों में भी भासकृत अनेक स्फुट रचनाएँ मिलती हैं; जिनका संबंध एवं जिनकी समानता भास के किसी भी उपलब्ध नाटकों के अंशों से नहीं है। अतः इन स्फुट रचनाओं के संबंध में पर्याप्त अनुशीलन की आवश्यकता है।

कालिदास : नाटकों के अभ्युत्थान का क्रम : ११वीं शताब्दी तक

नाटकों की निर्माण-परम्परा में भास के बाद महाकवि कालिदास का क्रम आता है। कुछ विद्वानों ने कालिदास से भी पहिले 'मृच्छकटिक' के कर्ता शूद्रक का उल्लेख किया है; किन्तु हम कालिदास को शूद्रक का पूर्वभावी मानते हैं। इसका विश्लेषण हम शूद्रक के प्रसंग में चलकर करेंगे।

महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में यथेष्ट विचार आगे महाकाव्यों के प्रसंग में किया गया है। संस्कृत-साहित्य के उपवन में कालिदास का समागम एक वसंतदूत के रूप में माना गया है, जिसके कारण उस उपवन का कोना-कोना पुष्पित हो उठा। उसने संस्कृत भाषा को वाणी दी; नई साज-सज्जाएँ, नये भाव, नई दिशाएँ, नये विचार और नई-नई पद्धतियाँ दीं। वह संस्कृत का सबसे बड़ा कवि और सबसे बड़ा नाटककार हुआ। कालिदास के सम्बन्ध में महाकवि गेटे के भावों को विश्वकवि के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है "स्वर्ग और मर्त्य का जो यह मिलन है, उसे कालिदास ने सहज ही संपादित कर लिया है। उन्होंने फूल को इस सहज भाव से फल में परिणत कर लिया है, मर्त्य की सीमा को उन्होंने इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच का व्यवहार किसी के दृष्टिगोचर नहीं होता है।[2]"

नाटकों के क्षेत्र में महाकवि ने 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल', इन तीन कृतियों का प्रणयन किया। 'मालविकाग्निमित्र' महाकवि की आरम्भिक रचना होने पर भी, नाटकीय नियमों की दृष्टि से उसके कथा-निर्वाह, घटना क्रम, पात्र-योजना आदि सभी में नाटककार के असाधारण कौशल की छाप है।[3] 'शाकुन्तल' उनकी अन्तिम कृति है; किन्तु उसकी गणना आज विश्वसाहित्य की पहली कृतियों में की जाती है। प्रेम

---

१. ए० एस० पी० अय्यर : भास, पृ० ८
२. रवीन्द्र बाबू : प्राचीन साहित्य, पृ० ४२ (१९३३ बंबई)
३. जी० सी० झाला : कालिदास, ए स्टडी, पृ० १०४

और सौन्दर्य का ऐसा सरस, हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी चित्रण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। उसमें ओज के साथ मनोज्ञता और लघुत्व के साथ ही भाव-प्रांजलता का अद्भुत समन्वय विद्यमान है।[१]

महाकवि के काव्यकौशल की सूक्ष्मताएँ, उनकी कला का दूरदर्शी दृष्टिकोण और शेक्सपीयर जैसे महान् नाटककार के साथ उनके व्यक्तित्व का तुलनात्मक परीक्षण आदि के सम्बन्ध में रवीन्द्र बाबू ने इतना अच्छा कहा है कि विस्तार-भय के बावजूद भी जिसको पाठकों तक पहुँचाना आवश्यक समझा जा रहा है। विश्वकवि का कहना है कि : "कालिदास ने भी अपने नाटकों में दुरंत प्रवृत्ति के दावानल को अनुतप्त-हृदय के अश्रुवर्षण से शांत किया है; किन्तु उन्होंने प्रवृत्ति की व्याधि को लेकर वर्णन का बाजार गर्म नहीं किया, केवल उसका आभास मात्र दे दिया है और उस पर एक परदा डाल दिया है।[२]

"जहाँ प्रवृत्तियों की प्रबलता का प्रकाशावसर मिला है, वहाँ यूरोपियन कवि अपनी सीमा से बाहर हो जाते हैं।···शकुन्तला के समान ऐसा प्रशांत, गंभीर और ऐसा संयत-संपूर्ण नाटक शेक्सपीयर की नाटकावली में एक भी नहीं दीख पड़ता।···जहाँ अन्य कवि अपनी लेखनी को सरपट दौड़ाने का अवसर ढूंढा करते हैं, वहाँ कालिदास ने अपनी लेखनी को रोक लिया है।[3]

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस समय दुष्यन्त को धीवर के द्वारा अँगूठी मिली थी और वे अपना भ्रम समझकर पश्चात्ताप के गहरे गर्त में गिरे हुए थे, उसी समय यूरोप के कवि शकुन्तला नाटक का अंतिम पटाक्षेप कर देते।[४]

"टेंपेस्ट में भी शक्ति है और शकुन्तला में भी। 'टेंपेस्ट' में बल के द्वारा विजय है और 'शाकुन्तल' में मंगल द्वारा सिद्धि। 'टेंपेस्ट' की समाप्ति अपूर्णता में है और 'शकुन्तला' की समाप्ति संपूर्णता में। 'टेंपेस्ट' में मिरांडा सरलता और मधुरता की मूर्ति है; पर उस सरलता की प्रतिष्ठा अज्ञता और अनभिज्ञता के ऊपर है। शकुन्तला की सरलता अपराध में, दुःख में, अज्ञानता में, धैर्य में और क्षमा में परिपक्व है; गंभीर है, और स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुकरण करके फिर भी हम कहते हैं कि शकुन्तला के आरम्भिक तरुण-सौंदर्य ने मंगलमय परम परिणति में सफलता-लाभ करके मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित कर दिया है"।[५]

---

१. सी० ई० एम० जोड : दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन, पृ० ८७
२. रवीन्द्र बाबू : प्राचीन साहित्य, पृ० ५४
३. वही, पृ० ६१ ४. वही, पृ० २५ ५. वही, पृ० ६४

अश्वघोष

कालिदास के बाद अश्वघोष का नाम उल्लेखनीय है। डॉ० लूडर्स (Luders) ने मध्यएशिया के तूरफान नामक स्थान से अश्वघोष के नाटक 'शारिपुत्रप्रकरण' की जिस हस्तलिखित प्रति को १९१० ई० में खोज निकाला था, उससे जुड़े 'प्रबोध चन्द्रोदय' के समान और 'मृच्छकटिक' की शैली पर लिखा गया दूसरा मगधवती नामक वेश्या के जीवन से संबन्धित दो नाटक और उपलब्ध हुए थे, जिनमें न तो नाटक का नाम निर्देश था और न ही ग्रंथकार का। 'शारिपुत्रप्रकरण' या 'शरद्वतीपुत्रप्रकरण' में नाटकीय नियमों का पूर्णतया पालन किया गया है।

शूद्रक

किन्तु संस्कृत-नाटकों की समृद्ध परंपरा के क्रम में शाकुन्तल के बाद 'मृच्छकटिक' का नाम आता है, जिसका लेखक एक शूद्रक नामक राजा या कवि था। कुछ दिन पूर्व कतिपय समालोचकों ने कालिदास, अश्वघोष के विवाद की भाँति शूद्रक की कालस्थिति कालिदास से पहिले सिद्ध की और कालिदास पर शूद्रक का प्रभाव बताया; किन्तु दोनों नाटककारों की कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद और इधर भास की कृतियों का प्रकाश में आजाने के कारण अब यह मान लिया गया है कि शूद्रक, कालिदास के बाद हुए।

'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में शूद्रक को एक राजा के रूप में स्मरण किया गया और कहा गया है कि अपने बाद उसने अपने पुत्र को राज्याभिषिक्त किया, तथा स्वयं सौ वर्ष, आठ दिन की आयु बिताकर अग्नि में प्रविष्ट हुआ।[1] इस उल्लेख के आधार पर कुछ विद्वानों ने 'मृच्छकटिक' का निर्माता शूद्रक को बताने में आपत्ति की; किन्तु हमे यह प्रतीत होता है कि यह प्रस्तावना अंश प्रक्षिप्त है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने संबंध में इतनी दूर की अदृश्य बात नहीं कह सकता है।

'मृच्छकटिक' शूद्रक की कृति होने का प्रमाण उसके अन्तःसाक्ष्य है। इस नाटक में दाक्षिणात्यों, कर्णाटों, द्राविड़ों और चोलों का तथा उनके पारस्परिक युद्धों का वर्णन है। इससे स्पष्ट होता है कि नाटककार दाक्षिणात्य था या

---

१. मृच्छकटिक की प्रस्तावना

दक्षिण प्रदेश का भली भाँति ज्ञाता था[1]। उसकी भाषा की सरलता, प्राकृत प्रयोगों की विभिन्नता से यह प्रतीत होता है कि वह हर्ष एवं भवभूति से पहिले हुआ। वह बहुभाषाविज्ञ था। उसे प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत, शौरसेना, मागधी, चांडाली, शकारी आदि भाषाओं तथा प्रादेशिक बोलियों का पूरा ज्ञान था।

सुप्रसिद्ध भारतीय ज्योतिर्विद् वराहमिहिर (पाँचवीं शताब्दी) ने बृहस्पति और मंगल को मित्रग्रह माना है।[2] आज भी ज्योतिषियों को यही मान्य है। किन्तु 'मृच्छकटिक' में उक्त दोनों ग्रहों का अभिन्न रूप से उल्लेख हुआ है[3]। वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कुछ ज्योतिर्विदों को यह मान्य भी था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक पाँचवीं शताब्दी से भी पहिले हुआ।

शूद्रक एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। उसने आंध्रभृत्य सातवाहन राजा स्वाति को मारा था।[4] नाटक के अध्ययन से विदित होता है कि उसमें वर्णित बौद्धों की स्वतंत्रता, राजनीतिक कुचक्र, वेश्या को विवाहित पत्नी के रूप में करार देना, आदि बातें नाटक की प्राचीनता की द्योतक हैं।

अधिकांश विद्वान् अब 'मृच्छकटिक' को शूद्रक की कृति मानने लग गए हैं और कुछ के मत में उसका स्थितिकाल, नाटक में वर्णित राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की अपरिपक्वावस्था का अनुमान कर, ईसवी सन् के प्रारंभ में बैठता है[5]; किन्तु अधिकांश विद्वान् शूद्रक के स्थितिकाल की सीमा तीसरी शताब्दी के बाद एवं छठी शताब्दी के पूर्व[6]; अथवा गुप्तयुग के बाद एवं हर्षवर्धन से पूर्व[7] पाँचवीं शताब्दी के आसपास ठहराते हैं।[8]

'मृच्छकटिक' के अतिरिक्त शूद्रक ने एक 'पद्मप्राभृतक' भाण भी लिखा।

---

१. 'मृच्छकटिक' में हाथी को 'खुण्डमोडक' और पैसे के लिए 'नाणक' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो कि दाक्षिणात्य नाम है

२. वराहमिहिर : बृहज्जातक २।१६ ३. मृच्छकटिक ९।३३

४. अवन्तिसुंदरीकथा एवं अवन्तिसुंदरीकथासार, भूमिका, पृ० ७-८

५. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१६

६. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, २, पृ० १०७

७. डॉ० व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० २८०-२८४

८. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ११४ (तृतीय संस्करण); उपाध्याय: संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०९

हर्षवर्धन

शूद्रक के बाद हर्षवर्धन का क्रम आता है। सम्राट् हर्षवर्धन के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के बारे में विद्वान्, एकमत होने पर भी उनके नाम से संबद्ध नाटकों का रचयिता उन्हें न मानकर उनके नाम पर लिखे हुए, उनके किसी आश्रित कवि को मानते हैं; किन्तु इस कारण की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

हर्षवर्धन का शासनकाल ६०६–६४८ ई० था। 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानंद', ये तीन कृतियाँ हर्ष के नाम से प्रचलित हैं। 'रत्नावली' इनमें सर्वोत्कृष्ट कृति है। इस नाटक कृति के निर्माण में सबसे बड़ी विशेषता यह है, जहाँ उसका वस्तुसंविधान नाट्यशास्त्रोपयोगी शैली में संवर्तित है, वहाँ वह अभिनयोपयोगी भी है।

ईसा की सातवीं शताब्दी में 'भागवत' में वर्णित रासक्रीडा[1] के आधार पर एक नई नाटकशैली का उल्लेख चीनीयात्री ईत्सिंग ने किया है, जिसके अनुसार प्रतीत होता है महाराज हर्ष (शीलादित्य) ने बोधिसत्व जीमूतवाहन के आत्मबलिदान की कथा को संगीतबद्ध करके नृत्य-संगीतकलाविद् अभिनेताओं के द्वारा अभिनय कराया था।[2] महाराज हर्ष ने जीमूतवाहन के आत्मबलिदान की कथा के आधार पर 'नागानंद' नाटक की रचना की, जिससे कि जनसाधारण के जीमूतवाहन की कथा के प्रचार के साथ-साथ नाटक भी लोकविश्रुति प्राप्त कर सके।[3]

हर्ष ने नाटक के क्षेत्र में एक सर्वथा नये प्रयोग की सृष्टि की नाटिका-लेखन की। उसकी उत्तरवर्ती नाटिकाओं में वस्तुविन्यास, कलासंवर्धन और रसपरिपाक की दृष्टि से हर्ष की कृतियाँ बेजोड़ हैं। हर्ष ने नाटिका-लेखन की जिस नई परंपरा का प्रवर्तन किया, उसको राजशेखर, बिल्हण तथा मथुरादास आदि ने आगे चलकर अनुवर्तित किया।

भवभूति

संस्कृत-साहित्य में कालिदास की ही भाँति भवभूति भी बहुत लोकप्रिय

---

१. भागवत १९ से २३ अध्याय

२. ए रिकार्ड ऑफ बुद्धिस्ट रिलिजन इन इण्डिया

३. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, पृ० ७७–७८, राजपाल ऐन्ड संस, दिल्ली (द्वितीय संस्करण)

नाटककार हुए हैं। उनके व्यक्तित्व की व्याप्ति मम्मट (११०० ई०), धनंजय (१००० ई०), सोमदेव (१००० ई०), राजशेखर (९०० ई०) और वामन (८०० ई०) प्रभृति काव्यशास्त्रियों, कथाकारों एवं काव्यकारों की कृतियों में सर्वत्र विद्यमान है।[1]

कल्हण की 'राजतरंगिणी' से अवगत होता है कि वाक्पतिराज और भवभूति, दोनों कन्नौज के राजा यशोवर्मा के सभा-पंडित थे।[2] 'राजतरंगिणी' के ही अनुसार कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने इन्हीं यशोवर्मा को पराजित किया था।[3] डॉ० स्टीन के मतानुसार यह घटना ७३६ ई० से पहिले की नहीं है।[4] भवभूति के सहयोगी विद्वान् वाक्पतिराज ने यशोवर्मा के वैभवकाल में एक 'गौडवहो' नामक काव्य-ग्रन्थ लिखा, संभवतः यशोवर्मा का ललितादित्य द्वारा पराभूत हो जाने के कारण जिसको वे पूरा न कर सके थे। इस ग्रन्थ में वाक्पतिराज ने भवभूति की प्रशंसा की है।[5] इसलिए निश्चित ही भवभूति का स्थितिकाल सातवीं शताब्दी था।

भवभूति के नाटकों की प्रस्तावना से विदित है कि वे पद्मपुर के रहने वाले उदुम्बरीय ब्राह्मण थे। भवभूति का यह वंश यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा-वलम्बी, प्रख्यात वेद-वेदांगविद् और सोमयज्ञ का करनेवाला था।[6] उनके पितामह गोपालभट्ट स्वयं एक सिद्धहस्त कवि थे। इनके पिता का नाम नीलकंठ भट्ट और माता का नाम जतुकर्णी था। भवभूति का उपनाम श्रीकंठ भी था।[7]

'मालवीमाधव' की एक हस्तलिखित पोथी की पुष्पिका में उसके कर्त्ता का नाम भवभूति या श्रीकंठ न होकर उम्बेकाचार्य उल्लिखित है। उम्बेकाचार्य की प्रसिद्धि एक प्रकांड मीमांसक के रूप में है। वे कुमारिल के शिष्य थे। जिन्होने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर टीका लिखी थी; 'षड्दर्शनसमुच्चय' के टीकाकार गुणरत्न (१४०९ ई०) ने उम्बेक को जिस कारिका का ज्ञाता

---

१. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० १५३-१५४

२. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादि सेवितः।
जितौ ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥ राजतरंगिणी ४।१४४ ३. वही, ४।३४

४. डॉ० स्टीन : ट्रान्सलेशन ऑफ राजतरंगिणी, पृ० ८९ और उनके नोट्स ४, १३४ पर

५. भवभूतिजलनिधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥ —गौडवहो ७९९

६. कीथ : भवभूति ऐंड दि वेद, जे० आर० ए० एस०, जुलाई १९१४

७. उत्तररामचरित की प्रस्तावना

बताया है वह उम्बेक विरचित 'श्लोकवार्तिक-टीका' ही है।[1] इससे भवभूति का एक नाम उम्बेक भी प्रतीत होता है।

नाटककार के रूप में भवभूति के व्यक्तित्व का परिचय 'महावीरचरित', 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित', इन तीन कृतियों के द्वारा मिलता है। ये तीनों नाटक उज्जैन के कालप्रियनाथ के महोत्सव पर अभिनीत हुए थे। इनमें 'उत्तररामचरित' उनकी सर्वोत्कृष्ट एवं संस्कृत के शीर्षस्थानीय नाटकों की कोटि में गिनी जाने वाली रचना है। रामकथा के जिस नाजुक पक्ष को लेकर भवभूति ने अपनी इस कृति को सफलतापूर्वक संपादित किया है, वैसा इस परम्परा में लिखे गए दूसरे ग्रन्थों में आज तक नहीं मिलता है। दूसरे रामकथा-विषयक भारतीय नाटककारों की अपेक्षा भवभूति ने अपने इस नाटक में राम और सीता के पवित्र एवं कोमल प्रेम का अधिक वास्तविकता से चित्रण किया है।[2]

भवभूति का आश्रयदाता राजा यशोवर्मा स्वयं एक कविप्रेमी और और काव्यकार था। उसने रामायण की कथा के आधार पर 'रामाभ्युदय' नामक नाटक लिखा, जिसका उल्लेख दूसरे ग्रन्थों में पाया जाता है।[3]

विशाखदत्त

भवभूति के बाद विशाखदत्त का क्रम आता है। उनके नाटक की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि विशाखदत्त या विशाखदेव, सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र थे। उनके नाटक को पढ़कर पूर्णतया यह निश्चय हो जाता है कि विशाखदत्त में वे सभी गुण विद्यमान थे, जो एक राजनीतिनिष्णात एवं निपुण आमात्य में होने चाहिएँ। विशाखदत्त के पूर्वजों के 'सामन्त' और 'महाराज' विशेषण इस तथ्य से खाली नहीं है कि विशाखदत्त किसी ऐसे वंश से संबद्ध थे, जो एक लम्बी अवधि तक राज-काज से सक्रिय रूप में सुपरिचित था; किन्तु उनके वंश की इन राजकीय उपाधियों का ऐतिहासिक परिचय अभी तक नहीं लग सका है।[4]

विशाखदत्त के स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं है। उसका

१. उम्बेकः कारिका वेत्ति तत्र वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः॥

२. ए० ए० मेक्डोनेल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३६५

३. फादर कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १९६

४. कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० २०४

कारण 'मुद्राराक्षस' की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिका में उद्धृत 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः', 'पार्थिवो दन्तिवर्मा' या 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' आदि विभिन्न पाठ हैं।

कुछ विद्वानों ने 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' पाठ को प्रामाणिक मानकर विशाखदत्त का सम्बन्ध गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) से स्थापित किया है।[1] इसी आधार पर कुछ विद्वान् उन्हें कालिदास का समकालीन सिद्ध करते हैं।[2]

'पार्थिवो दन्तिवर्मा' पाठ के आधार पर कुछ विद्वानों ने 'मुद्राराक्षस' की रचना पल्लव नरेश दन्तिवर्मा (७७९-८३० ई०) के शासनकाल में बताई है।[3] तीसरे 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' पाठ को प्रमाणिक मानने वाले विद्वानों का कथन है कि राजा हर्ष (६०६-६४८ ई०) के बहनोई ग्रहवर्मा के पिता मौखरि नरेश अवन्तिवर्मा के समय में 'मुद्राराक्षस' की रचना हुई।[4] प्रो० ध्रुव के मतानुसार ५८२ ई० के लगभग स्थाणेश्वर के महाराज प्रभाकरवर्धन ने जिस राजा की सहायता से हूणों को परास्त किया था, वह कन्नौज के मौखरि वंश का नरेश अवन्तिवर्मा ही था[5], जिसके बल-विक्रम का उल्लेख 'मुद्राराक्षस' में भी हुआ है।[6]

विशाखदत्त की हाल ही में उपलब्ध दूसरी नाटककृति 'देवीचन्द्रगुप्त' से भी यही विदित होता है कि उनका स्थितिकाल कन्नौज के मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के समय छठी शताब्दी में था।[7]

'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्त' के अतिरिक्त विशाखदत्त ने एक तीसरी नाटक कृति 'राघवानन्द' का भी निर्माण किया, जो सम्प्रति उपलब्ध

---

१. एस० राय : इंट्रोडक्शन टु हिज़ एडीशन ऑफ मुद्राराक्षस, पृ० ९-१४
२. उपाध्याय : गुप्तसाम्राज्य का इतिहास, २, पृ० १०७, १०९
३. एम० कृष्णमाचार्य : हिस्ट्री ऑफ क्ला० संस्कृत लिटरेचर, पृ० ६०५, फुटनोट ३
४. तैलंग : इंट्रोडक्शन टु हिज़ एडीशन ऑफ मुद्राराक्षस; मैकडोनल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३६५; जे० आर० ए० एस०, पृ० ५३५, १९००
५. के० एच० ध्रुव : इंट्रोडक्शन टु हिज़ एडीशन ऑफ मुद्राराक्षस, पृ० ८-१०
६. मुद्राराक्षस ७।१८
७. विंटरनित्स : हिस्टोरिकल ड्रामाज इन संस्कृत लिटरेचर; कृष्णस्वामी आयंगर : काम० वा०, पृ० ३६०

नहीं है; किन्तु जिसके उद्धरण सुभाषित ग्रन्थों में बिखरे हुए, विद्वानों ने पता लगाए।[1]

'मुद्राराक्षस' विशाखदत्त का एक सर्वथा नई शैली का नाटक है, सारे संस्कृत-साहित्य में अपने ढङ्ग का जो 'मृच्छकटिक' की भांति अकेला है। भारतेन्दु बाबू ने इसका एक हिन्दी रूपान्तर १९३५ वि० में किया था, जो कि बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ।

नारायण भट्ट

नारायण भट्ट के 'वेणीसंहार' का स्थान भवभूति एवं विशाखदत्त के नाटकों के बाद आता है। नारायण भट्ट के सम्बन्ध में उसके इस नाटक की प्रस्तावना से हमें इतना भर विदित होता है कि उनका नाम भट्टनारायण था और 'मृगराज' उनकी ख्यात थी। अनुश्रुति है कि प्रौढावस्था में वे अपनी जन्मभूमि कन्नौज को छोड़कर बङ्गाल में जा बसे थे।[2] ऐसा भी कहा जाता है कि वे सुप्रसिद्ध टैगोर वंश के पूर्व पुरुष थे, तथा बंग-नरेश आदिसूर ने दूसरे विद्वानों सहित नारायण भट्ट को भी कान्यकुब्ज से आमन्त्रित किया था। यह आदिसूर, माधवगुप्त का पुत्र था, जिसने कि कान्यकुब्जेश्वर हर्ष की आधीनता से मुक्त होकर मगध में अपने राज्य की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा की थी। इसका पूरा नाम आदिसूर आदित्यसेन था और उसकी जीवन की अन्तिम सीमा ६७१ तक पहुँचती है।[3]

नारायण भट्ट की नाटककृति को काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में बड़े सम्मान से उद्धृत किया है, जिनमें मम्मट (११०० ई०), धनंजय (१००० ई०), आनन्दवर्धन (९०० ई०) और वामन (८०० ई०) का नाम उल्लेखनीय है।[4]

इस दृष्टि से और आदिसूर की समय-सीमा को साथ लेकर नारायण भट्ट का स्थितिकाल सातवीं शताब्दी के अन्त में रखा जा सकता है।

---

१. के० एच० ध्रुव : पूना ओरियन्टलिस्ट, अक्तूबर १९३६, पृ० ४२
२. एम० कृष्णमाचार्य : हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ६१२
३. डॉ० व्यास : संस्कृत कविदर्शन, पृ० ३३१
४. It may therefore be referred that Bhatta Narein lived in the first half of the 71th century A. D., पृ० ६१२, एम० कृष्णमाचार्य : हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, १९३७

नाटक

आचार्य दण्डी ने नारायण भट्ट के नाम से तीन कृतियों का उल्लेख किया है,[1] जिनमें से केवल 'वेणीसंहार' नाटक उपलब्ध है।

'वेणीसंहार' शास्त्रीय-परंपरा का नाटक है, जिस पर हर्ष की 'रत्नावली' की छाप है। इस नाटक में जहाँ एक ओर नाटकीय नियमों का पूर्ण निर्वाह हुआ है, वहाँ दूसरी ओर, उसके वस्तुसंविधान में दूसरा प्रबल दोष यह आ गया कि स्वाभविक ढंग से उसकी कथा का विकास न हो सका; फिर भी, परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इस नाटक को अपनी कृतियों में उद्धृत कर जो संमान दिया है, कुल मिलाकर उससे यह विदित होता है कि संस्कृत के नाटकों में उसका अपना निजी व्यक्तित्व है।

मुरारि

संस्कृत के नाटकों की परंपरा को नारायण भट्ट के बाद मुरारि ने आगे बढ़ाया। ये मौद्गल्यगोत्रीय थे। इनकी माता का नाम तंतुमती या तनुमती देवी और पिता का नाम श्रीवर्धमानक था। उनके नाटक का विश्लेषण करने पर इतिहासज्ञों ने उनका संभावित जन्मस्थान माहिष्मती (नर्मदा नदी के निकटस्थ आधुनिक मांधाता नगरी) माना है।[2]

मुरारि के स्थितिकाल की पूर्वसीमा भवभूति के बाद की है, क्योंकि उन्होंने 'उत्तररामचरित' के दो श्लोक अपने नाटक में उद्धृत किए हैं।[3] सूक्ति ग्रन्थों में भी मुरारि को भवभूति के बाद रखा गया है।[4] मुरारि के स्थिति-काल की उत्तर सीमा रत्नाकर से पहिले है, क्योंकि रत्नाकर ने मुरारि का उल्लेख किया है।[5] अतः मुरारि का स्थितिकाल, भवभूति एवं रत्नाकर के बीच आठवीं शताब्दी ठहरता है।

उन्होंने 'अनर्घराघव' की रचना की।

---

१. व्याप्तुं प दत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रय व्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम्॥ —दशरूपक

२. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० २२०

३. मिलाइए : उत्तर रामचरित ६।३०, ३१ और अनर्घराघव १।६, ७

४. मुरारि-पदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररी कुरु॥

५. रत्नाकर : हरविजय ३८।६८

अनंगहर्ष

अनंगहर्ष 'मातृराज' ने 'तापसवत्सराज' नाटक लिखा, जिसका समय अविदित है, किन्तु जिसका उल्लेख आनंदवर्धन (९०० ई०) और राजशेखर (१००० ई०) ने किया है। इनके नाटक पर भवभूति की शैली का प्रभाव है। अतः इनका स्थितिकाल भवभूति और आनन्दवर्धन के बीच आठवीं शताब्दी है। बर्लिन लाइब्रेरी में सुरक्षित 'तापसवत्सराज' की हस्तलिखित प्रति के आधार पर मैसूर से उसका मुद्रण हो चुका है।

मायुराज

इसी प्रकार एक अज्ञातकालीन लेखक मायुराज ने रामायण की कथा के आधार पर 'उदात्तराघव' नाटक की रचना की, जो मूलरूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु जिसके उद्धरणों का पता विद्वानों ने दूसरे ग्रन्थों से लगाया है।[1] राजशेखर (१००० ई०) ने इसका उल्लेख किया है।

इन दोनों के संबंध में यह विदित होता है कि अनंगहर्ष मातृराज और मायुराज दोनों संभवतः एक ही व्यक्ति था। अतः 'उदात्तराघव' की रचना भी आठवीं शताब्दी में बैठती है। आठवीं शताब्दी में ही केरल के राजा कुलशेखर वर्मन् ने 'सुभद्राधनंजय' और 'तपती संवरण' नामक दो नाटक लिखे।

शक्तिभद्र

आठवीं शताब्दी में वर्तमान शक्तिभद्र नामक एक नाटककार का पता मद्रास से प्रकाशित उनके 'आश्चर्यचूडामणि' नाटक से अवगत हुआ।[2] कीथ ने इसका नाम 'आश्चर्यमंजरी' लिखा था।[3] नाटक के मंगल-श्लोक के आधार पर इन्हें दाक्षिणात्य माना गया है। मालाबार की श्रुति-परंपरा शक्तिभद्र को आचार्य शंकर का (७८८-८२० ई०) का शिष्य मानती आई है। इस दृष्टि से इनका समय नवम शताब्दी के आरंभ में रखा जा सकता है। म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने रामकथा पर लिखे गए नाटकों में 'उत्तररामचरित' के बाद 'आश्चर्यचूडामणि' को ही दूसरा स्थान दिया है।[4]

---

१. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १९५ २. मद्रास संस्कृत सीरीज से सं० १९ में प्रकाशित
३. कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० ३७, फुटनोट २
४. एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री : इन्ट्रोडक्शन टु हिज एडीशन ऑफ आश्चर्यचूड़ामणि

हनुमन्नाटक का रचयिता

आठवीं शताब्दी के बाद दक्षिण में एक 'हनुमन्नाटक' या 'महानाटक' लिखा गया।[1] 'महानाटक' की मूल रचना को विद्वानों ने दशवीं शताब्दी में बताया है; किन्तु आनन्दवर्धन (९०० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में उसके उद्धरण लिखे होने के कारण उसकी मूल रचना नवम शताब्दी में हो चुकी थी।[2] बाद में लगभग १४वीं शताब्दी तक उसमें प्रक्षिप्तांश जुड़ते गए, जिनके फलस्वरूप उसके आज दो बहुत भिन्न पाठ उपलब्ध होते हैं: पहिला दामोदर मिश्र कृत और दूसरा मधुसूदन कृत। इन दोनों में दामोदर मिश्र की रचना मूल ग्रन्थ के अधिक निकट है।[3]

राजशेखर

संस्कृत-साहित्य की नाटक-परम्परा में विशाखदत्त के बाद जो ह्रास की स्थिति आ गई थी, उसको राजशेखर ने दूर किया। राजशेखर यायावर जाति के महाराष्ट्रीय क्षत्रिय थे। ये महाराष्ट्र-चूडामणि कविवर अकालजलद के पौत्र और दुर्दुक तथा शीलवती के पुत्र थे। अवन्तिसुंदरी नामक एक चौहान जाति की विदुषी महिला के साथ उनका विवाह हुआ। राजशेखर ने एक जगह 'पाक' पर उनका मत दिया है।[4] राजशेखर सुप्रसिद्ध विद्वद्वंश का था। अकालजलद, सुरानंद, तरल, कविराज आदि उस वंश के विद्वान् थे।[5] वे स्वयमेव 'बालकवि' और 'कविराज' की ख्याति से प्रसिद्ध थे।[6]

कान्यकुब्जेश्वर महेंद्रपाल या निर्भयराज के ये सभापंडित और गुरु थे।[6] ये प्रतिहारवंशीय नरेश थे। सियदोनी (Siyadoni) के एक उपलब्ध शिलालेख में महेंद्रपाल का समय ९०३-९०८ है।[7]

---

१. सुशील कुमार डे : प्रॉब्लम्स ऑफ दि महानाटक—इन्डयन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग ७, पृ० ५३७ आदि तथा उन्हीं का हिस्ट्री ऑफ काव्य लिटरेचर, पृ० ३०२

२. ध्वन्यालोक

३. ए० एस्टलेर : दि एलटेस्ट वार्सियोन डस महानाटक—जर्नल ऑफ दि ओरियण्टल सोसाइटी, १९३६

४. आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायः तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं 'पाकः' इति वामनीयाः। इयमशक्तिर्न पुनः पाक इत्यवन्तिसुंदरी—काव्यमीमांसा, पृ० २०१

५. बालरामायण १।१६ ६. वही, १।१८

६. कीलहार्न : एपिग्राफिया इंडिका १, पृ० १७१; एस० एन० दासगुप्ता : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४५५, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, १९४७

'यशस्तिलकचम्पू' (दशवीं श०), 'तिलकमंजरी' (दशवीं श०) और 'व्यक्तिविवेक' (बारहवीं श०) आदि ग्रन्थों में राजशेखर का नाम-निर्देश होने, और उद्भट (आठवीं श०) तथा आनन्दवर्धन (नवम श०) आदि आचार्यों का राजशेखर के ग्रन्थों में निर्देश होने के कारण उनका समय दशवीं शताब्दी का आरंभ बैठता है।

'बालरामायण' से विदित होता है कि राजशेखर ने छह: प्रबंधों (ग्रन्थों) की रचना की थी[1], जिनमें पाँच ही उपलब्ध हैं। उनके नाम हैं : 'कर्पूरमंजरी[2]', 'विद्धशालभञ्जिका', 'बालरामायण' और 'बालभारत'; ये उनकी चार नाटक कृतियां और 'काव्यमीमांसा' अलंकार ग्रन्थ है। उनके छठे महाकाव्य 'हरविलास' का उल्लेख हेमचन्द्र ने किया है।[3] अपने अलंकार-ग्रन्थ में उन्होंने स्वरचित एक भूगोलविषयक ग्रन्थ 'भुवनकोश' का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त सुभाषित ग्रन्थों में उनके नाम से प्रचुर स्फुट कविताएँ उपलब्ध होती हैं।

राजशेखर के समालोचकों का अभिमत है कि भाषा, भाव, रचनाविधान और शब्दसौंदर्य के अतिरिक्त राजशेखर के नाटकों में मनोरंजन, लोकोक्तियों और तत्कालीन सामाजिक जीवन की कतिपय विशेषताओं का अविकल रूप देखने को मिलता है।[4]

राजशेखर ने भीमट कृत पांच नाटकों का उल्लेख किया है, जिससे नाटककार का समय राजशेखर से पहिले होना चाहिए। वे सभी नाटक संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। उनमें तीन का नाम था 'स्वप्नदशानन', 'प्रतिज्ञा-चाणक्य' और 'मनोरमावत्सलराज'।

क्षेमीश्वर आदि

राजशेखर के समकालीन नाटककार क्षेमीश्वर ने 'चण्डकौशिक' और 'नैषधानन्द' नामक दो नाटक लिखे। धनिक (११वीं श०) ने अपने 'दशरूपावलोक' में चार नाटकों का उल्लेख किया है, जिनके लेखक अज्ञात हैं; किन्तु जिनकी रचना दशवीं शताब्दी में हो चुकी थी। उनके नाम थे :

१. विद्धि नः षट्प्रबन्धान्—बालरामायण १।१२
२. भारतेन्दु बाबू द्वारा हिन्दी में अनुवादित तथा बाँकीपुर से प्रकाशित
३. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन
४. दशरथ शर्मा : जर्नल ऑफ इण्डियन हि०, वा० ९, पृ० २

'तरङ्गदत्त', 'पुष्पदूषितक', 'पाण्डवानन्द', और 'चलितराम'। ये नाटक सम्प्रति अप्राप्य हैं।

अप्राप्य रामकथा विषयक नाटक

अन्य ग्रन्थों में उद्धृत कुछ अप्राप्य राम-कथा-विषयक नाटकों का पता फादर कामिल बुल्के ने लगाया है, जिनकी रचना उन्होंने १०वीं शताब्दी से पहिले बताई है। ऐसे नाटकों में 'छलितरामायण', 'कृत्यारामायण', 'मायापुष्पक', 'स्वप्नदशानन', (उक्त) और क्षीरस्वामी कृत 'अभिनवराघव' उल्लेखनीय है।[१]

दिङ्नाग

राजशेखर के अनन्तर दिङ्नाग की 'कुन्दमाला' में संस्कृत-नाटकों की परम्परा पुनरुज्जीवित हुई। सन् १९२३ ई० में 'कुन्दमाला' का प्रकाशन हो चुकने के बाद दिङ्नाग के सम्बन्ध में उनके आलोचकों ने कुछ भ्रमपूर्ण बातें कहीं।[२]

किन्तु अब सर्वथा निराकृत हो चुका है कि न तो 'कुन्दमाला' का रचयिता दिङ्नाग, भवभूति का पूर्ववर्ती था, और न ही कालिदास के 'मेघदूत' में उद्धृत[३] दिङ्नाग, नाटककार दिङ्नाग था। साथ ही यह भी निश्चित हो चुका है कि बौद्ध दिङ्नाग, नाटककार दिङ्नाग से भिन्न एवं पूर्ववर्ती था।[४]

'कुन्दमाला' का उल्लेख रामचन्द्र गुणभद्र (११०० ई०) कृत 'नाट्य-दर्पण' में हुआ है।[५] इस दृष्टि से विद्वानों का अभिमत है कि दिङ्नाग (धीरनाग, वीरनाग) ने निश्चित ही 'कुन्दमाला' की रचना भवभूति के बाद और भोजदेव कृत 'श्रृंगारप्रकाश' (११०० ई०) से पूर्व, संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी के आदि में की थी।[६]

११वीं शताब्दी के अन्य नाटक

ग्यारहवीं शताब्दी में एक काव्यशास्त्री क्षेमेन्द्र हुए। उनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों 'कविकंठाभरण' एवं 'औचित्यविचारचर्चा' से प्रतीत होता है कि उन्होंने

---

१. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १९६

२. इन्ट्रोडक्शन ऑफ़ कुन्दमाला, लाहौर १९३१ ३. मेघदूत, श्लोक १४

४. के० ए० सुब्रह्मण्य : कुन्दमाला ऐंड उत्तररामचरित-प्रोसीडिंग्स ऑफ़ ओरियन्टल कान्फ़रेंस, पृ० ९१-०७ (१९३३) ५. नाट्यदर्पण पृ० ४८

६. सुशील कुमार डे : एनल्स भण्डारकर ओ० रि० इं०, भाग १६, पृ० १५८ तथा ए० सी० बुलनर : वही, भाग १५, पृ० २३६

'चित्रभारत' और 'कनकजानकी' नामक दो नाटक लिखे थे। इसी शताब्दी में बिल्हण ने एक नाटिका 'कर्णसुंदरी' नाम से लिखी। चन्देल राजा कीर्तिवर्मा (११०७ ई०) के आश्रित कवि कृष्णमिश्र ने एक रूपान्तक शैली का सुंदर नाटक 'प्रबोधचंद्रोदय' की रचना इसी समय की।

१२वीं शताब्दी के नाटक

१२वीं शताब्दी में पद्मचंद के पुत्र यशश्चंद्र ने 'मुदितकुमुदचंद्र' लिखा। इसी शताब्दी में कनकाचार्य ने 'धनंजयविजय' नाम से एक व्यायोग रचना लिखी। जैन आचार्य हेमचंद्र (१२वीं श०) का एक प्रभावशाली शिष्य रामचंद्र हुआ। उसने लगभग सौ ग्रंथ लिखे थे। उसके प्रसिद्ध नाटकों में 'नल-विलास', 'निर्भयभीम', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'कौमुदीमित्रानन्द' और 'यादवाभ्युदय' का नाम उल्लेखनीय है। रामकथा पर लिखे हुए इनके दो नाटकों 'रघुविलास' और 'राघवाभ्युदय' का उल्लेख कामिल बुल्के ने किया है।[1] इसी शताब्दी में चहवानवंशीय राजा विग्रहराजदेव विशालदेव ने भारवि के 'किरातार्जुनीय' की कथा के आधार पर 'हरकेलिनाटक' लिखा, जो कि अजमेर में एक शिलाखंड पर अधूरी दशा में उपलब्ध हुआ है। इन्हीं विग्रहराज के आश्रित कवि सोमदेव ने 'विग्रहराज' नाटक लिखा। वह भी अजमेर में शिलाओं पर उत्कीर्णित पूर्णरूप से उपलब्ध हुआ है। इसी शताब्दी में सुभट कवि ने नई शैली में एक 'दूतांगद' नामक छाया नाटक की रचना की। यह नाटिका ११४२ ई० में अनहिलवाड के राजा त्रिभुवनपालदेव के दरबार में अभिनीत हुई थी।

१३वीं शताब्दी के नाटक

१३वीं शताब्दी में जयदेव हुए, जिनकी प्रसिद्धि नैयायिक, काव्यशास्त्री और नाटककार के रूप में विश्रुत है। अद्भुत नैयायिक होने के संमान में उनको 'पक्षधरमिश्र' और अद्वितीय गीतिकार होने के उपलक्ष्य में 'पीयूषवर्ष' भी कहा गया। उन्होंने 'प्रसन्नराघव' नाटक की रचना की, जो कि सुन्दर गेयात्मक श्लोकों में है और जिसके मूल में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री जयशंकर 'प्रसाद' के 'स्कंदगुप्त' की गेयात्मक पद्धति दृष्टिगोचर होती है। इसी समय परमारवंशीय राजा अर्जुन वर्मा के आश्रित मदन कवि ने 'पारिजातमंजरी'

१. कामिल बुल्के : रामकथा, उद्भव और विकास, पृ० १९६

नाटिका लिखी, जिसके दो अंक, धार (मध्य प्रदेश) में वर्तमान भोजशाला के शिलाखण्डों पर उत्कीर्णित प्राप्त हुए हैं। ये दोनों शिलाएँ मैंने देखी हैं, जो आज भी भोजशाला में सुरक्षित हैं। श्वेताम्बर जैन विद्वान् जयसिंह सूरि ने 'हम्मीरमदमर्दन' भी इसी शताब्दी में लिखा। परमारवंशीय धारा धवल के भाई प्रह्लाद ने 'परार्थक्रम' व्यायोग और जैन विद्वान् यशपाल ने एक रूपात्मक शैली का 'मोहपराजय' नामक नाटक लिखा। तेरहवीं शताब्दी के नाटकों में मोक्षादित्य ने 'भीमविक्रम', जैनमुनि विजयसूरि के शिष्य एवं दार्शनिक विद्वान् रामभद्र मुनि ने 'प्रबुद्ध रौहिणेय' प्रकरण, केरल के राजकुमार रविवर्मा ने 'प्रद्युम्नाभ्युदय' और बालकवि ने 'रन्तुकेतूदय' तथा 'रविवर्मा-विलास' लिखे। इस शताब्दी का सर्वाधिक प्रतिभाशाली नाटककार हस्तिमल्ल हुआ। वह गोविन्द भट्ट का पुत्र एवं कर्नाटक प्रदेश के शासक पांड्यराज (१२९० ई०) का आश्रित कवि था। उसके चार नाटक उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं : 'विक्रांतकौरव', 'मैथिली कल्याण', 'अंजनापवनंजय' और 'सुभद्रा'। ये सभी 'माणिक्यचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' से प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त 'उदयनराज', 'भरतराज', 'अर्जुनराज' और 'मेघेश्वर' आदि चार नाटकों का रचयिता भी हस्तिमल्ल को ही बताया गया है।[1] ये बड़े प्रतिभावान् और अनेक ग्रंथों के रचयिता थे।[2] इसी समय वारंगल के साहित्यप्रेमी राजा रुद्रदेव (१२६८–१३१९ ई०) ने 'उषर्गोदय' नाटिका और 'ययाति-चरित' नाटक लिखा।

१४वीं शताब्दी के नाटक

१४वीं शताब्दी में एक नाटककार विद्यानाथ हुए। उन्होंने 'प्रतापरुद्रीय कल्याण' नाटक लिखा। इन्हीं के भतीजे नरसिंह ने 'कादम्बरी-कथा का रूपांतर' और नरसिंह के भाई तथा राजा प्रताप सहदेव के आश्रित कवि विश्वनाथ ने 'सौगंधिकाहरण' आदि नाटकों की रचना कर अपने विद्वद्वंश का परिचय दिया। इस शताब्दी में लिखे गए नाटकों में विजयनगर के हरिहर द्वितीय के पुत्र विरूपाक्ष कृत 'नारायण-विलास', नरेश्वर के शिष्य एवं राजवर्धन के पुत्र नेपाल के कवि मणिक कृत 'भरतानन्द', उदण्ड कवि कृत

---

१. आफेक्ट : कैटेलोगस कैटेलोगरम (१८९१, लिपजिक)
२. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६९–३७०

'मल्लिकामारुत' और वेदान्तदेशिक की एक रूपात्मक कृति 'संकल्पसूर्योदय' का नाम उल्लेखनीय है।

१५वीं शताब्दी के नाटक

१५वीं शताब्दी की नाटक-परंपरा का उदय दक्षिण के प्रसिद्ध विद्वान् वामन भट्ट बाण के 'पार्वतीपरिणय', 'कनकलेखाकल्याण' और 'श्रृंगार भूषण' से आरम्भ होती है। इनमें अंतिम भाण रचना है। नाट्याचार्य हस्तिमल्ल के वंशज ब्रह्मसूरि ने 'ज्योतिप्रभाकल्याण' की रचना भी इसी शताब्दी में की थी।[1] इसी शताब्दी में गंगाधर ने 'गंगादासप्रतापविलास', हरिहर ने 'भर्तृहरि-निर्वेद', श्रीकृष्ण चैतन्य के शिष्य रूप गोस्वामी ने 'दानकेलि कौमुदी' भाण के अतिरिक्त 'विदग्धमाधव' और 'ललितमाधव' दो उच्चकोटि के नाटकों को जन्म दिया। इस शताब्दी के व्यास श्रीरामदेव कृत 'सुभद्रा-परिणय', 'रामाभ्युदय' और 'पाण्डवाभ्युदय' नामक तीन छायात्मक शैली के नाटकों का विशिष्ट स्थान है। 'सुभद्रापरिणय' सुभट के 'दूतांगद' की शैली का सुन्दर छाया नाटक है। जीवराम याज्ञिक का 'मुरारिविजय' भी इसी शताब्दी का है।

१६वीं शताब्दी के नाटक

१६वीं शताब्दी में लिखा गया शेषकृष्ण का 'कंसवध' पहला नाटक है। इस शताब्दी में विरचित अन्य नाटकों में रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित का 'भैमीपरिणय', गोविन्द दीक्षित के पुत्र यज्ञनारायण दीक्षित का 'रघुनाथ विलास', सम्राट् अकबर के समकालीन लक्ष्मण माणिक्यदेव के 'कुवलयाश्वचरित' तथा 'विख्यातविजय', तंजौर के विलिनाथ का 'मदनमंजरी महोत्सव' उल्लेखनीय हैं। विलिनाथ का नाटक राजा अच्युत के दरबार में अभिनीत हुआ था। इस शताब्दी का प्रभावशाली नाटककार गोकुलनाथ हुआ। वह गढ़वाल के राजा फतेहशाह का राजकवि था। इससे पूर्व वह मिथिला के शासक महाराज रघुवंशसिंह के यहाँ भी रह चुका था। उसने 'मुदितमदालसा' के अतिरिक्त दार्शनिक ढंग का एक पाँच अङ्कों का रूपात्मक नाटक 'अमृतोदय' लिखा। इसी कोटि का एक रूपात्मक नाटक 'भावना पुरुषोत्तम' उक्त रत्नखेट श्रीनिवास ने भी लिखा। सठकोप (तिरुमल) का

१. वही, पृ० ४१३

'वसन्तिकापरिणय', कुमार ताताचार्य का 'पारिजातनाटक' और रामानुज का 'वसुलक्ष्मी कल्याण' भी इसी समय की रचनायें हैं।

१७वीं शताब्दी के नाटक

१७वीं शताब्दी में लिखे हुए नाटकों में नेपाल के राजा जगज्योतिर्मल्ल का संगीत-प्रधान नाटक 'हरगौरीविवाह', गुरुराम के 'सुभद्राधनंजय' तथा 'रत्नेश्वरप्रसादन', राजचूडामणि दीक्षित के 'आनन्दराघव' तथा 'कमलिनी-कलहंस', नीलकंठ दीक्षित का 'नलचरित', जो कि अधूरा ही उपलब्ध है, वेंकटाध्वरि का 'प्रद्युम्नानंद', रुद्रदास का 'चन्द्रलेखा' सट्टक, महादेव का 'अद्भुत दर्पण', रामभद्र दीक्षित का 'जानकी-परिणय', नल्लाकवि (भूमिनाथ) का 'सुभद्रापरिणय', सामराज दीक्षित का रूपात्मक नाटक 'श्रीदामचरित', 'चित्तवृत्तिकल्याण', 'जीवनमुक्तिकल्याण' तथा 'शृंगारसर्वस्व' भाण, प्रमुख हैं। इस शती में जैन विद्वानों ने भी अच्छे नाटक लिखे। भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य वादिचन्द्र कृत कृष्णमिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' के विरोध में 'ज्ञानसूर्योदय' (१६४८ वि० में रचित), पद्मसुंदर का अपूर्ण नाटक 'भविष्यदत्तचरित', 'रायमल्लाभ्युदय', 'पार्श्वनाथचरित', अकबरशाही का 'शृङ्गारदर्पण' और 'जम्बूचरित' इसी श्रेणी के नाटक हैं। १५वीं से १७वीं शताब्दी के बीच लिखे गए अनेक अप्रकाशित नाटकों का पता लगा है।[1]

१८वीं शताब्दी के नाटक

१८वीं शताब्दी में विश्वेश्वर कवि ने तीन नाटक लिखे, 'रुक्मिणीपरिणय' नाटक, 'नवनाटिका' नाटिका और 'शृङ्गारमंजरी' सट्टक। इसी समय देवराज ने 'बालमार्तण्डविजय' की रचना की। इसी शताब्दी में वर्तमान तंजोर के राजा तुकोजी के मन्त्री घनश्याम की दो विदुषी पत्नियों ने राजशेखर कृत 'विद्धशालभंजिका' की टीका लिखी। घनश्याम स्वयमेव बड़ा विद्वान् था। उसको लगभग एक-सौ ग्रंथों का निर्माता बताया जाता है। उसने भाण, सट्टक, प्रहसन आदि पर कई नाटक लिखे। ट्रावणकोर के युवराज राजवर्मन् (१७५७–१७८९) ने 'रुक्मिणीपरिणय', 'शृङ्गारसुधाकर' दो नाटक, और विश्वनाथ ने 'मृगांकलेखन' नाटिका लिखी। इसी शताब्दी में देवकवि ने 'विद्यापरिणय', 'जीवानन्दनम्', दो नाटक और भूदेवशुक्ल ने 'धर्मविजय'

१. विस्तार के लिए : मद्रास, तंजोर, जम्मू आदि के ग्रन्थ-संग्रहों के सूचीपत्र अवलोकनीय हैं

नाटक लिखा। अंत के ये तीनों नाटक रूपात्मक शैली के हैं। इस शताब्दी के अन्य नाटकों एवं नाटककारों में काठियावाड़ के जगन्नाथ का 'सौभाग्य-महोदय', शैवमतानुयायी मलारी आराध्य का 'शिवलिंगसूर्योदय', शंकर दीक्षित (व्यासजीवन) का 'प्रद्युम्नविजय', तंजौर के जगन्नाथ के 'रतिमन्मथ' तथा 'वसुमतीपरिणय', मिथिलावासी कृष्णदत्त का 'कुवलयाश्वीय', ट्रावनकोर के वेंकट सुब्रह्मण्य का 'वसुलक्ष्मीकल्याण', पेरुसूरि का 'वसुमंगल', रामदेव का रूपात्मक 'विद्यामोदतरंगिणी' और विट्ठल का आदिलशाही वंश पर आधृत छाया नाटक का नाम उल्लेख्य है।

कुछ अज्ञातकालीन नाटकों में मथुरादास कृत 'वृषभानुजा', नाटिका, नीलकंठ का 'कल्याण सौगन्धिक' नरसिंह कृत 'शिवनारायणभंज' नाटक, लोकनाथ भट्ट का 'वीरविजय', शंकर का 'शारदातिलक', रामकृष्ण गोपाल का 'केलिक्रीडा' और माधव का 'सुभद्राहरण' उल्लेखनीय है।

१९वीं शताब्दी के नाटक

१९वीं शताब्दी के नाटकों में दक्षिणनिवासी भारद्वाजगोत्रीय पद्मनाभ का 'त्रिपुरविजय' व्यायोग, बल्लिशाय कवि का 'ययातितरुणनन्दन', तंजौर के निवासी एवं राजा शिवेन्द्र के राजकवि के 'रामराज्याभिषेक' तथा 'वालिपरिणय', कुण्डिनगोत्रीय रामचन्द्र का 'शृङ्गारसुधार्णव', नदिया के राजा ईश्वरसेन के राजकवि वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य का 'चैत्रयज्ञ', बङ्गाल के प्रसिद्ध विद्वान् पंचानन का 'अमरमङ्गल', नाटक उल्लेखनीय है। इस शताब्दी के अन्तिम नाटककार एवं संस्कृत-साहित्य के सुपरिचित विद्वान् श्री अम्बिकादत्त व्यास (१८५८–१९०० ई०) का नाम उल्लेखनीय है। वे वाराणसी में रहते थे। उन्होंने अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त 'सामवतम्' नाटक भी लिखा था, जो कि प्रकाशित है। व्यास जी का यह नाटक वर्तमान शताब्दी के श्रेष्ठ नाटकों में गिना जाता है।

२०वीं शताब्दी के नाटक

१९वीं तथा २०वीं शताब्दी के नाटककारों के यथोचित वर्गीकरण में कुछ कठिनाई है; यथा, उनका जन्म तो हुआ १९वीं शताब्दी में किन्तु उनका निधन हुआ २०वीं शताब्दी में। इस दृष्टि से ऐसे विद्वानों को १९वीं शताब्दी के ही अन्तर्गत आना चाहिए; किन्तु जिन विद्वानों का स्थितिकाल २०वीं

शताब्दी तक रहा, हमने उनको २०वीं शताब्दी ही के अन्तर्गत माना है। इनके अतिरिक्त जो विद्वान् २०वीं शताब्दी में पैदा हुए, उनका नामानुक्रम, उनकी प्रकाशित कृतियों के आधार पर दिया गया है। इस स्तम्भ के अधिकांश नाटककारों का उल्लेख डॉ० वी० राघवन् के 'आज का भारतीय साहित्य'[1] में प्रकाशित 'संस्कृत' लेख के आधार पर किया जा रहा है।

आज के संस्कृत नाटकों का परिचय प्राप्त करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि ये नाटक अनेक प्रकार से लिखे गये और प्रायः उन सभी की प्राचीन शैली एवं विषय को आधुनिक विधानों एवं विचारों में ढालने का प्रशंसनीय नवीनीकरण किया गया है। उनमें से कुछ नाटक तो ऐसे हैं, जिनका विषय तो पौराणिक है; किन्तु जिनको नाट्यात्मक दृष्टि से पूरी सफलता के साथ आधुनिक रंगमंच के उपयुक्त रूप दिया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ नाटक भारत के प्रमुख व्यक्तियों के जीवनवृत्त पर लिखे गये हैं। कुछ नाटक ऐसे हैं, जो शेक्सपीयर या अन्य विदेशी नाटकारों की कृतियों के अनुवाद के रूप में हैं। कुछ नाटक ऐसे हैं, जिनमें समकालीन सामाजिक समस्याओं को उठाया गया है। इस प्रकार के नाटक प्रायः एकांकी ढंग के हैं और बड़े ही सफल, श्रेष्ठ तथा प्रभावकारी सिद्ध हुये हैं। संस्कृत के बृहद् ग्रन्थों के संक्षिप्त रूपान्तर भी इस शताब्दी में लिखे गये। इस प्रकार के नाटकों का निर्माण आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित होने के उद्देश्य से हुआ।

पौराणिक आख्यानों को नये प्रतिमानों में रूपान्तरित करनेवाले विद्वानों में महामहोपाध्याय शंकरलाल का नाम उल्लेखनीय है। उनका स्थितिकाल १८४४–१९१६ ई० है। वे काठियावाड़ के निवासी थे। उन्होंने नाटक के अतिरिक्त कथा और काव्य पर भी ग्रन्थ लिखे। उनके नाटकों में 'सावित्री-चरित', 'ध्रुवाभ्युदय', 'भद्रयुवराज', 'वामनविजय' और 'पार्वतीपरिणय' का नाम लिया जा सकता है। इसी प्रकार दक्षिण के अर्काट जिला के निवासी श्रीनिवासाचारी, ईचम्बदी (१८४८–१९१४ ई०) कृत 'शृङ्गारतरंगिणी' तथा 'उषापरिणय', गोदावरी जिला के निवासी रामशास्त्री (१८५६–१९१५ ई०) का 'मुक्तावल', विजयनगरम् के महाराज आनन्द गणपति के राजकवि काशीनाथ शास्त्री (१८५७–१९१८ ई०) के 'पांचालिकारक्षणम्' तथा 'यामिनीपूर्णतिलक' और तंजौर के तिरुवदी नामक स्थान के निवासी

---

१. साहित्य अकादेमी, राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली, मार्च १९५८ ई०

श्रीनिवासाचारी (१८६३-१९३२ ई०) के 'ध्रुवचरित' तथा 'क्षीराब्धिशयनम्' आदि नाटकों का प्रमुख स्थान है। इसी परम्परा में मैसूर के जग्गू वेंकटाचार्य ने दो-तीन अंकों के नाटकों में 'प्रसन्नकाश्यप' (मैसूर १९५१ ई०), सी० वेंकटरमणय्या का रूपकप्रधान नाटक 'जीवसञ्जीवनी' (बंगलोर १९४९ ई०) नाटक लिखे। मद्रास संस्कृत अकादेमी द्वारा आयोजित अखिलभारतीय नाटक-प्रतियोगिता के फलस्वरूप अच्छे नाटक प्रकाश में आये। इस श्रेणी के नाटकों में वाई० महालिंग शास्त्री (जन्म १८९७ ई०) के 'प्रतिराजसूय', 'उद्गात्रदशानन', 'कलिप्रादुर्भाव' (तिरुवेलंगाडु १९५६ ई०) तथा 'उभयरूपक' का नाम आता है। 'उभयरूपक' सामाजिक नाटक है। इसी प्रकार, विल्हण की कहानी को लेकर, तंजोर के सुन्दरेश शर्मा का 'प्रेमविजय' (कुंभकोणम् १९४३ ई०) नाटक बड़ा सुन्दर है।

आधुनिक तथा मध्यकालीन भारतीय महापुरुषों की जीवनी को लेकर चरित-विषयक यथार्थ नाटकों के निर्माण में मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक का नाम प्रमुख है। उनका जन्म नडियाद नगर में ३१ जनवरी १८८६ ई० को हुआ। अपने 'छत्रपति-साम्राज्य' नामक दस अंकों के नाटक में उन्होंने महाराष्ट्रकेशरी शिवाजी का बहुत ही सुंदर वर्णन किया है। राजस्थान के प्रतापी पुरुष महाराणा प्रताप पर उन्होंने नौ अंकों का 'प्रताप-विजय' (बड़ौदा १९२९ ई०) नाटक और वीरपुङ्गव पृथ्वीराज चौहान पर 'संयोगिता-स्वयंवर' नामक तीन नाटक लिखे। इस श्रेणी के नाटककारों में महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाद दीक्षित (जन्म १८७८ ई०) का नाम प्रमुख है। वे हरदोई के भगवन्तनगर नामक ग्राम के निवासी हैं। उन्होंने काव्य, कोश, व्याकरण और आयुर्वेद आदि ग्रंथों के अतिरिक्त 'वीरप्रताप' (लाहौर १९३७ ई०)'शंकरविजय', 'पृथ्वीराज', 'भक्तसुदर्शन', 'गांधीविजय', और 'भारतविजय' आदि छह नाटकों की रचना की। दीक्षित जी के ये नाटक वर्तमान शताब्दी के प्रतिनिधि नाटक हैं और उनके द्वारा नाटक-रचना के क्षेत्र में सर्वथा नई शैली और नये परिप्रेक्ष्य का निर्माण हुआ है। उनके ये नाटक ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक प्रतिमानों का यथार्थ रूप प्रस्तुत करते हैं। उनका 'भारतविजय' नाटक बड़ी ही सुंदर कृति है। इसी प्रकार महामहोपाध्याय हरिदास सिद्धान्तवागीश (जन्म १८७६ ई०) कृत 'मेवाड़प्रताप', 'वंगीयप्रताप', 'विराजसरोजिनी', 'कंसवध', 'जानकीविक्रम' और 'शिवाजीचरित' का उल्लेख्य स्थान है। इसी परम्परा में सुदर्शनपति का

'सिंहलविजय' (बहरामपुर १९५१ ई०), पंचाननतर्क भट्टाचार्य का 'अमर-मंगल' (वाराणसी १९३९ ई०) नाटक लिखे गये।

पश्चिम के प्रसिद्ध नाटककारों की कृतियों से प्रभावित होकर संस्कृत में भी उनके आधार पर छायानाटक लिखे गये या उनके रूपान्तर हुए। इस परम्परा में १८७७ ई० में मद्रास के श्री शैल दीक्षितार ने 'भ्रान्तिविलास' नाम से 'कॉमडी ऑफ एरर्स' का अनुवाद किया। त्रिवांकुर के राजराजवर्मा ने भी शेक्सपीयर के 'आथेल्लो' का अनुवाद किया। आर० कृष्णमाचार्य का 'वासन्तिक स्वप्न' (कुंभकोणम् १८९२ ई०), 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का अनुवाद है। विजयनगरम् के एम० वेंकटरमणाचार्य ने लैब कृत 'टेल्स ऑफ शेक्सपीयर' का अनुवाद किया है (मद्रास १९३३)। गोइट के 'फाउस्ट' का संस्कृतानुवाद पूना के एस० एन० के० ताड़पत्रीकर (मृत्यु १९५४ ई०) ने 'विश्वमोहन' (पूना १९५१ ई०) नाम से किया है। इसी प्रकार डॉ० शाम शास्त्री ने लेसिंग के 'एमेलिया गैलेट्टी' का अनुवाद किया। इसी प्रकार सी० वेंकटरमय्या ने टेनीसन की शोकान्तिका 'दि कप' को 'कमलाविजय' (मैसूर १९३८ ई०) के नाम से प्रकाशित किया।

समकालीन सामाजिक महत्त्व के अनेक विषयों पर नाटक और विशेषतः एकांकी लिखे गये। क्षमाराव का 'बाल-विधवा', श्रीमती क्षमाराव का 'कटुविपाक', आर्यसमाजी विद्वान् महाव्रत का 'प्रकृतिसौन्दर्य', पुन्नसेरि नीलकंठ शर्मा का 'गैर्वाणविजय', दिल्ली के प्रभुदत्त शास्त्री का 'संस्कृत-वाग्-विजय' (दिल्ली १९४२ ई०) आदि नाटकों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। आधुनिक शैली के एकांकीकारों में साहित्यशिरोमणि नीपजि भीमभट्ट का नाम उल्लेख्य है। वे दाक्षिणात्य हैं और उनका जन्म १० अप्रेल १९०३ ई० को हुआ। उनका 'काश्मीरसन्धानसमुद्यम' एकांकी पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुका है। इसी प्रकार राजपूत-मुस्लिम युग की ऐतिहासिक रोमांटिक विषयों पर आधारित बी० के० थम्पी कृत 'प्रतिक्रिया', 'वनज्योत्स्ना' एवं 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः', सी० वरदराज शर्मा का 'कस्याहम्', ए० आर० हेबरे का 'मनोहरम् दिनम्', सीता देवी का 'अरण्यरोदन', के० तिरुवेंकटाचार्य की 'अमर्षमहिमा', सुरेन्द्रमोहन पंचतीर्थ की 'वणिक्सुता', हैदराबाद से प्रकाशित 'कौमुदी' पत्रिका में दुःखान्तिका नाटिका 'महाश्मशान' आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत में इस प्रकार के लघु नाटकों का निर्माण पश्चिमी नाटकों के प्रभाव से हुआ। विशेषतः एकांकी नाटकों की दिशा में पश्चिम की एकांकी

शैली ने बड़ी प्रेरणा प्रदान की। संस्कृत में प्रहसन लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन है; किन्तु संस्कृत के नाटकों की यह दिशा प्रायः बहुत ही धुँधली रहती आई है। इधर पश्चिम के प्रभाव से जो छोटे नाटकं संस्कृत में लिखे गये उनमें प्रहसनों का निर्माण सन्तोषजनक कहा जा सकता है। इस प्रकार का प्रहसन, सामाजिक दृष्टि से लिखे गये नाटकों में भी मिलता है; फिर भी स्वतंत्र रूप से, वर्तमान शताब्दी में जो प्रहसन लिखे गये उनमें एस० के० रामनाथ शास्त्री के 'दोलापंचीलक' तथा 'मणिमंजूषा', मद्रास के एल० वी० शास्त्री के 'लीलाविलास' (पालघाट १९३५), 'चामुण्डा' (मद्रास) एवं 'निपुणिका', वाई महालिंग शास्त्री का 'कौंडिन्य प्रहसन' (मद्रास १९३० ई०) तथा 'शृङ्गारनारदीय' (१९५६), सुरेन्द्रमोहन का 'कांचनमाला', जीवन्यायतीर्थ का 'पुरुषरमणीय' तथा 'क्षुतक्षेम', और एस० एस० खोत का 'मालभविष्यम्' प्रमुख हैं।

प्रहसनों के अतिरिक्त व्यंग्य नाटिकाएँ भी लिखी गईं। यद्यपि इस प्रकार का व्यंग्य हमें सामाजिक, पौराणिक और चरित-विषयक नाटकों में भी देखने को मिलता है; किन्तु जो नाटक स्वतंत्र रूप से इस विषय को लेकर रचे गये उनमें आलवाये के० के० आर० नायर का 'आलस्यकर्मीयम्' (बेकारी; त्रिवेंद्रम् १९४२–४३), बटुकनाथ शर्मा का 'पांडित्यताण्डव', मधुसूदन काव्यतीर्थ कृत 'पांडितचरित प्रहसन', 'प्रतापरुद्रीय विडम्बना' (अप्रकाशित) तथा 'विमुक्ति' (अप्रकाशित), वाई० महालिंग शास्त्री का 'मर्कटमर्दलिका भाण' (१९५१), और सुदर्शन शर्मा का 'शृङ्गारशेखर भाण' (कुंभकोणम् १९३८ ई०), इनका नाम उल्लेखनीय है।

संस्कृत के बृहद् ग्रन्थों के रूपान्तरों एवं कथानकों के आधार पर रेडियो-रूपक लिखने का प्रचलन भी इधर बढ़ रहा है। कुछ विद्वानों ने इस दिशा में स्वतंत्र रूप से रेडियो-रूपकों का निर्माण किया है। डॉ० वी० राघवन् कृत 'भागवत' के आधार पर निर्मित संगीतनाटिका 'रासलीला' और कालिदास के 'कुमारसंभव' पर आधारित 'कामशुद्धि' नाटिका उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के छोटे एकांकियों में, जिन्हें रेडियो के उद्देश्य से लिखा गया है, विज्जिका, विकटनितम्बा और अवन्तिसुन्दरी आदि चरित्रनायकों पर लिखे गये रूपकों का भी नाम लिया जाना चाहिए। रेडियो के लिए एकांकियों के लिखने की यह परम्परा उत्तरोत्तर अधिक विकसित हो रही है। उसका एक प्रधान कारण यह भी है कि आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों के लिए प्रतिमास या

प्रति दो मास में इस प्रकार के रूपकों का प्रसारण अनिवार्य कर दिया गया है।

इस प्रकार संस्कृत में नाटक-रचना की इस स्थिति को देखकर निश्चित ही यह विश्वास होता है कि, पूर्ण सन्तोषजनक न सही, इस दिशा में कुछ कार्य अवश्य हो रहा है। संस्कृत-साहित्य की अन्य विचार-वीथियों की तरह यह दिशा नितान्त सूनी नहीं है। फिर भी संस्कृत के समर्थक एवं उन्नायक विद्वानों के लिए यह आवश्यक है कि वे द्रुत गति से संस्कृत की परम्परा को आधुनिक प्रतिमानों में ढाल कर उसे समसामयिक रूप देने तथा उसकी अवरुद्ध समृद्धि को आगे बढ़ाने के लिए अपनी मौलिक कृतियों को लेकर इस क्षेत्र में अवतरित हों।

रूपक के भेद

भाण

प्राचीनता की दृष्टि से भाण रचनाएँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। कविराज विश्वनाथ के मतानुसार धूर्तों, विटों के चरित्रों से युक्त अनेक अवस्थाओं को लिए हुए, निपुण विट, जो स्वानुभूत या परानुभूत बातों को रंगभूमि पर प्रकाशित करता है, संबोधन, उक्ति-प्रत्युक्ति एवं आकाशभाषित द्वारा विज्ञप्ति, जिसमें वीर तथा शृंगार रस की प्रधानता हो, मुख्य कथा कल्पित, वृत्ति भारती या कौशिकी, जिसमें मुख तथा निर्वहण संधियाँ होती हों, वह भाण रचना कहलाती है।[1] भाण रचना एकांकी होती है। उसमें भाव, भाषा और सरणि की श्रेष्ठता रहती है। हाल ही में कुछ भाण-रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, मद्रास से जिनका प्रकाशन चतुर्भाणी नाम से हुआ है। उनके रचयिता हैं वररुचि, ईश्वरदत्त, श्यामलिक और शूद्रक। इनके संबंध में किसी कवि का कथन है कि कालिदास की रचनाएँ भी उनके आगे मात खा जाती हैं।[2]

वररुचि (३०० ई० पू० के लगभग) ने 'उभयाभिसारिका', शूद्रक (५०० ई०) ने 'पद्मप्राभृतक', श्यामलिक (८०० ई०) ने 'पादताड़ित' और ईश्वरदत्त (११०० ई०) ने 'धूर्त-विट-संवाद' भाण लिखे। १२वीं शताब्दी में वत्सराज ने कर्पूर जुआरी को नाटक बनाकर 'कर्पूरचरित' भाण

---

१. कविराज विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, परि० ६, श्लोक २२७-२३०

२. वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामलिकः शूद्रकश्च चत्वारः।
एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य ॥

(Monologue) लिखा।[1] इनके अतिरिक्त १२वीं शताब्दी के आसपास काशीपति कविराज ने 'मुकुन्दानंद'; १६वीं श० में मामनभट्ट वाण ने 'श्रृंगारभूषण', श्रीकृष्ण चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी ने 'दानकेलिकौमुदी'; १७वीं शताब्दी में गुरुराम ने 'मदनगोपाल-विलास', राजचूड़ामणि दीक्षित ने 'श्रृंगारतिलक', रामभद्र दीक्षित ने भी 'श्रृंगारतिलक' (अय्या भाण), नल्ल कवि ने 'श्रृंगार-सर्वस्व', वरदाचार्य ने 'वसंततिलक भाण' (अम्मा भाण); इसी शताब्दी में वर्तमान् तंजोर के राजा तुकोजी के मंत्री घनश्याम ने विभिन्न विषयों पर लगभग एक सौ ग्रंथ लिखे। उन्होंने 'मदनसंजीवन' (भाण) और 'नवग्रह-चरित' (सट्टक) भी लिखे। १९वीं शताब्दी में कोटिलिंगपुर के राजकुमार ने 'रससदन' लिखकर इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

प्रहसन

संस्कृत के प्रहसनों में एक मार्मिक व्यंग्य होने की वजह से उनकी बड़ी ख्याति और लोकप्रियता भी रही है। उनमें यद्यपि अश्लीलता भी कहीं-कहीं दिखाई देती है; किन्तु चार्वाक, जैन, बौद्ध, कापालिक आदि वेदविरोधी धर्मानुयायियों के प्रति उनमें जो आक्षेप किए गए हैं, वे बड़े ही मार्मिक हैं।

भाण के समान संधि, संध्यंग, लास्यांग, और अंकों के द्वारा संपादित निंदनीय पुरुषों का कवि-कल्पित वृत्तांत प्रहसन कहलाता है। प्रहसन के भी कई भेद हैं। जहाँ तपस्वी, संन्यासी, ब्राह्मण आदि में से कोई धृष्ट नायक हो वह शुद्ध प्रहसन; वेश्या, चेट, नपुंसक आदि का जहाँ आश्रय हो, वह संकीर्ण प्रहसन और कंचुकी, तापस, कामुक, बंदी आदि का जहाँ अनुकरण हो वह विकृत प्रहसन कहलाता है।[2] भाण और प्रहसन दोनों के आधुनिक नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त न होने पर भी शिल्प और सज्जा की दृष्टि से उनका अपना महत्त्व है।[3]

बोधायन-कृत 'भगवदज्जुक' ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के आसपास लिखा गया सबसे प्राचीन प्रहसन है। पल्लवनरेश महेंद्र विक्रमन् के एक शिलालेख में 'मत्त-विलास प्रहसन' के साथ उक्त प्रहसन का उल्लेख होने के

---

१. डॉ० ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ४५१

२. विश्वनाथ कविराज : साहित्यदर्पण, परि० ६, श्लोक २६४

३. डॉ० कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० २६४

कारण कुछ लोग उसे महेंद्र विक्रमन् (७०० ई०) की कृति मानते हैं। इसी समय के एक अज्ञातनामा लेखक का प्रहसन 'दामक' है, जिसमें भास के नाटकों जैसी विशेषताएँ विद्यमान हैं।

पल्लवराज सिंहविष्णु के पुत्र महेंद्र विक्रमन् प्रथम ने एक प्रहसन 'मत्त-विलास' लिखा, जिसका समय सातवीं शताब्दी ईसवी का पूर्वार्द्ध था। १२वीं शताब्दी ई० के आरंभ में शंखधर कविराज ने एक सुन्दर प्रहसन 'लटकमेलकम्' (धूर्त-सम्मेलन) लिखा। इसी प्रकार ज्योतिरीश्वर कवि ने १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'धूर्तसमागम', कवितार्किक ने १७वीं श० में 'कौतुकरत्नाकर', सामराज दीक्षित ने 'धूर्तनर्तक'; १८वीं शताब्दी में तंजोर के राजा तुकोजी के मंत्री घनश्याम ने 'डमरुक' और दूसरे अज्ञातकालीन लेखकों में जगदीश ने 'हास्यार्णव' तथा गोपीनाथ चक्रवर्ती ने 'कौतुकसर्वस्व' लिखे।[1]

एकांकी

संस्कृत-साहित्य में नाटकों के वर्गीकरण का आधार एकांगिता या अनेकांगिता पर निर्भर न होकर रूपक और उपरूपकों के भेदोपभेदों के रूप में वर्तमान है। एक अंक में समाप्त होने वाले नाटक रूपक और उपरूपक दोनों श्रेणियों में मिलते हैं। रूपकों में व्यायोग, उत्सृष्टांक, भाण, वीथी और प्रहसन पूर्णरूपेण और उपरूपकों में नाट्यरासक, रासक, गोष्ठी, उल्लाप्य, काव्य श्रीगदित, विलासिका तथा प्रेंखण आदि कुछ हेर-फेर से एकांकी ही हैं। एक अंक में समाप्त होने वाले इन रूपक-उपरूपकों को संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने अनेक श्रेणियों में विभाजित किया है।[2] डॉ० कीथ ने एक अंक में परि-समाप्य इन नाटकों को एकांकी (One-act-play) कहा है।[3]

भास्कर कवि ने एक नाटक 'उन्मत्तराघव' लिखा। भास्कर का अपर नाम जैसा कि नाटक में भी लिखा हुआ है, विजयनगर का सुप्रसिद्ध विद्वान् विद्यारण्य ही था। अतः इस नाटक का समय १४वीं शताब्दी के मध्य में होना चाहिए। यह 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक के आधार पर विरचित है।

---

१. देखिए : डॉ० ओझा की पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४५०-४५१

२. विश्वनाथ कविराज : साहित्यदर्पण, परि० ६, श्लोक १२-१५

३. 'The Anka or 'One-act-play' is represented by very few specimens.'—डॉ० कीथ : दि संस्कृत ड्रामा, पृ० २६७, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२४

१४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विजयनगर के हरिहर द्वितीय के पुत्र विरूपाक्ष ने भी एक एकांकी इसी नाम से 'उन्मत्तराघव' लिखा। इस पर भी 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक का प्रभाव है।

व्यायोग

व्यायोग-रचनाओं में भास-कृत 'मध्यमव्यायोग', 'दूतवाक्य', 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार' और 'ऊरुभंग' प्रमुख हैं। तदनंतर कनकाचार्य (१२०० ई०) का 'धनंजयविजय', रामचंद्र कवि (१३०० वि०) का 'निर्भयभीम', प्रह्लाददेव (१२२० वि०) का 'परार्थपराक्रम', वत्सराज (१२६० वि०) का 'किरातार्जुनीय', विश्वनाथ (१३७३ वि०) का 'सौगंधिका-हरण', कंचन पंडित का 'धनंजयविजय',[1] मोक्षादित्य (१३८५ वि०) का 'भीम-विक्रम' आदि उल्लेखनीय हैं।

रूपक के कुछ अप्रचलित भेद

रूपक के इन भेदों में नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन और व्यायोग पर पर्याप्त कृतियाँ रची गईं और वे लोकप्रिय भी सिद्ध हुईं। इनके अतिरिक्त डिम, समवकार, वीथी, अंक, और ईहामृग, इन पाँच भेदों का प्रचलन प्रायः बहुत ही कम रहा। रूपक के प्रायः इन सभी अप्रचलित भेदों पर वत्सराज ने एक-एक कृति का निर्माण कर अपने पांडित्य का परिचय दिया और संस्कृत-साहित्य की एक अपूरणीय क्षति को भी पूरा किया। वत्सराज कालिंजर के राजा परिमर्दिदेव (११६३-१२०३ ई०) तथा उनके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव (१३वीं श० के मध्य तक) के अमात्य और संमानित विद्वान् थे।

उनकी कृतियाँ हैं: 'कर्पूरचरित' (भाण), 'हास्यचूडामणि' (प्रहसन), 'त्रिपुरदाह' (डिम), 'किरातार्जुनीय' (व्यायोग), 'समुद्रमंथन' (समवकार), 'माधवी' (वीथी), 'शर्मिष्ठाययाति' (अंक) और 'रुक्मिणीपरिणय' (ईहामृग)।

१८वीं शताब्दी में घनश्याम नामक विद्वान् भी चतुरस्र प्रतिभा का व्यक्ति हुआ। वह तंजौर के राजा तुकोजी का मंत्री था। उसने लगभग सौ ग्रंथों का निर्माण किया। नाटकों के क्षेत्र में उसने भाण, सट्टक, प्रहसन आदि पर अनेक कृतियाँ लिखीं। उसकी दोनों पत्नियाँ भी बड़ी विदुषी थीं।

---

१. इस नाटक का कथानक 'महाभारत' से उद्धृत है, जिसका हिन्दी अनुवाद भारतेन्दु बाबू ने १९३० में किया

प्रतीकात्मक शैली के नाटक

संस्कृत में प्रतीकात्मक शैली के कुछ नाटकों को एक अलग ही श्रेणी में रखा जा सकता है। इन प्रतीकात्मक शैली के नाटकों की आधारभूमि कालिदासोत्तर कवियों की रचनाओं में मिलती है; विशेषतया अश्वघोष-कृत 'शारिपुत्र प्रकरण' में; फिर भी उसका पूर्ण वय हमें कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' में दिखाई देता है। इस शैली के नाटकों में प्रवाह की कमी और अभिनय की भी शिथिलता दिखाई देती है। श्रद्धेय डॉ० ओझा का मंतव्य है कि "इस शैली की प्रथम विशेषता मानव-मन के सूक्ष्म तत्त्वों को पात्रों के रूप में प्रदर्शित करके अध्यात्म के दुर्ज्ञेय रहस्यों को बोधगम्य बनाने के प्रयास में झलकती है।"[१] अमूर्त पदार्थों को मूर्त रूप में प्रकट करना इस शैली के नाटकों की विशेषता है।[२]

प्रतीकात्मक (Allegorical play) या भावात्मक नाटकों की अनेक श्रेणियों में तीन श्रेणियाँ प्रमुख हैं : पहिली श्रेणी के नाटक वे हैं, जिनके कथानक में रसात्मकता के साथ-साथ आदि से अंत तक चमत्कृति प्रदर्शित होती है; दूसरी श्रेणी के नाटक वे हैं, जिनमें प्रस्तुत अर्थ की अपेक्षा अप्रस्तुत अर्थ में चमत्कृति होती है; और तीसरी श्रेणी के नाटक वे हैं, जिनमें कुछ पात्र तो मानवी होते हैं और कुछ मानवीकरण के रूप में प्रतीत होते हैं।[3]

'प्रबोधचंद्रोदय' प्रतीकात्मक शैली के नाटकों में पहिला उपलब्ध नाटक है। यह नाटक चंदेलवंशीय महाराज कीर्तिवर्मा (११०७ वि०) के दरबार में अभिनीत हुआ था। जनश्रुति ऐसी है कि चेदिराज कर्ण पर विजय प्राप्त करते समय युद्धभूमि के रक्तपात को देखकर चंदेलनरेश के हृदय में जो विपन्नता एवं उदासीनता उत्पन्न हो गई थी, उन्हीं अनूठे क्षणों को उनके राजकवि एवं गुरुवर कृष्ण मिश्र ने बड़ी पटुता से सँजोकर इस नाटक की रचना की थी।[४] संभवतया नाटक-रचना के इस पुनीत उद्देश्य को लेकर वह इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि हिन्दी में उसके कई गद्य-पद्यात्मक अनुवाद देखने को मिलते हैं।[५]

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १५२

२. उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २४७ (द्वितीय संस्करण)

३. वही, पृ० २२२–२२३ ४. वही, पृ० १४५

५. प्रबोधचन्द्रोदय के हिन्दी अनुवाद :

(अ) महाराज यशवंतसिंह : रचना १७०० वि०

संस्कृत में इन प्रतीकात्मक शैली के नाटकों की छिट-पुट परंपरा लगभग १८वीं शताब्दी तक बनी रही। इस शैली के नाटकों में चालुक्यराज कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल (१२२९-१२३२ ई०) के मंत्री यशपाल कवि के 'मोहराज-पराजय' की गणना आती है। इस नाटक में कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी समावेश है। आचार्य हेमचंद्र के प्रभाव से राजा कुमारपाल का जैन धर्म में दीक्षित होना इस नाटक की प्रमुख घटना है। कला एवं शिल्प की दृष्टि से 'प्रबोधचंद्रोदय' की अपेक्षा यह न्यून है।[1] यह नाटक सर्वप्रथम कुमारबिहार में महावीर स्वामी के उत्सव के समय अभिनीत हुआ था।[2] १४वीं शताब्दी में रचित वेदान्तदेशिक का 'संकल्पसूर्योदय' भी प्रतीकात्मक शैली का नाटक है।

प्रतीकात्मक शैली पर एक नाटक उड़ीसा के महाराज गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७९ ई० में कवि कर्णपूर ने 'चैतन्यचंद्रोदय' के नाम से लिखा। इस नाटक में प्रतीकात्मकता के साथ-साथ पौराणिकपन और चारित्रिक प्रधानता भी विद्यमान है। महाप्रभु चैतन्य के दार्शनिक दृष्टिकोणों के सहित उनकी लीलाओं का भी इस नाटक में सुष्ठु समावेश है।[3] १६वीं शताब्दी के प्रतीकात्मक नाटकों में गोकुलनाथ का 'अमृतोदय' और रत्नखेट श्रीनिवास का 'भावनापुरुषोत्तम' उल्लेखनीय हैं।

तदनंतर इस शैली का अनुवर्त्तन भूदेव शुक्ल ने १६२५ वि० के आसपास 'धर्मविजय' नाटक लिखकर किया।[4] 'धर्मविजय' के बाद तंजोर के राजा शाहीराय शरभाजी के अमात्य आनंदराय (कवि देव) ने १८वीं शताब्दी में दो नाटक : 'विद्या-परिणयन' और 'जीवानंदन' लिखे, जिनमें नाटकीयता की दृष्टि से पहिली कृति श्रेष्ठ है। पाँच अंकों की एक प्रतीकात्मक नाटक कृति श्रीनगर के राजकवि (सम्भवतः १६७२ वि०)

(आ) अनाथदास	:	रचना १७२६ वि०
(इ) जन अनन्य	:	×
(ई) सुरति मिश्र	:	रचना १८०० वि०
(उ) ब्रजवासीदास	:	रचना १८१६ वि०
(ऊ) आनन्द	:	रचना १८४० वि०

१. विस्तार के लिये वही, पृ० १४०-१४९.

२. उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २४९   ३. वही, पृ० १४९-१५०

४. नारायन खिस्ते द्वारा संपादित : सरस्वती भवन पुस्तकमाला, १९३० ई०

मैथिल गोकुलनाथ 'अमृतोदय' नाम से लिख चुके थे। कवि सामराज दीक्षित ने भी १७३८ वि० में कर्णपूर के 'चैतन्यचंद्रोदय' की कथात्मकता के आधार पर 'श्रीदामाचरित' की रचना की।[1]

इन नाटकों के अतिरिक्त प्रतीकात्मक शैली में लिखे गए कुछ दाक्षिणात्य नाटककारों में वेंकटनाथ वेदांतदेशिक (१३वीं श०) का 'संकल्पसूर्योदय' और वरदाचार्य का 'यतिराजविजय' उल्लेखनीय हैं।

प्रतीकात्मक शैली की इस नई निर्माण-परंपरा ने नाटकों के क्षेत्र में एक नई दिशा का संकेत तो अवश्य किया; किन्तु उसको पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। बाबू द्विजेन्द्रलाल राय इस प्रतीकात्मक शैली को नाटक-परंपरा का एक अच्छा आधार स्वीकार नहीं करते और इसीलिए उन्होंने रवींद्र बाबू के प्रतीकात्मक नाटकों की कड़ी आलोचना की है।[2]

छाया नाटक

छाया नाटक का उल्लेख संस्कृत के किसी भी नाट्यग्रन्थ में नहीं मिलता है; किन्तु संस्कृत में इस प्रकार के नाटक लिखे गये। जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, ऐसे नाटकों में पात्र सशरीर न होकर छायारूप में रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल ने नाटकों की उत्पत्ति इसी आधार पर कठपुतलियों के नृत्य से मानी है। प्रो० लूडर्स का कथन है कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति में छाया द्वारा खेल दिखाने की प्रथा का प्रमुख भाग रहा है। नाटकों का 'रूपक' नामकरण भी छाया नाटकों के वर्तमान होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। डॉ० कीथ छाया नाटकों का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं; किन्तु उनका कथन है कि नाटक का उद्‌भव इससे भी पहले हो चुका था और इस मत का प्रचलन 'ऋग्भाष्य' के एक स्थल का अशुद्ध अर्थ ग्रहण करने के कारण हुआ।

इस परम्परा के नाटकों में सुभट कवि (१२वीं श०) का 'दूतांगद' प्रतिनिधि रचना है। तदनन्तर १५वीं शताब्दी में व्यास श्री रामदेव ने 'सुभद्रापरिणय', 'रामाभ्युदय' और 'पाण्डवाभ्युदय' नाटक लिखे, जिनमें 'सुभद्रापरिणय' सुभट की शैली पर लिखा गया छायानाटक है।

---

१. डॉ० ओझा का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १५१

२. प्रवासी : ऐक्सप्रेशनिज़म इन लिटरेचर, कार्तिक, १३१२ बी० एस०; बंगदर्शन : दि ऍन्जॉयमेन्ट ऑफ लिटरेचर, माघ, १३१३ बी० एस०; साहित्य-ज्योति : एथिक्स इन लिटरेचर, १२२६ बी० एस०

किन्तु इस शैली के छायानाटकों का संस्कृत में अधिक प्रचलन नहीं दिखाई देता। संस्कृत में छायानाटकों की अपेक्षा प्रतीक-नाटकों की ओर लेखकों का अधिक आकर्षण रहा है और इसलिए छाया की अपेक्षा प्रतीक भावना को अधिक अपनाया गया।

महाकाव्य

उद्भव : अभ्युत्थान : परिणति

महाकाव्य

उद्भव

हमारा अभीष्ट यद्यपि संस्कृत के महाकाव्यों की जानकारी करने तक ही सीमित है, तथापि आनुषंगिक रूप में हमें संस्कृत भाषा की आदि परिस्थितियों, यहाँ तक कि, दुनिया के महाकाव्यों की मूल प्रवृत्तियों का अध्ययन भी अपनी इस अभीष्ट-पूर्ति के लिए करना होगा। संस्कृत के महाकाव्यों और दुनिया के इतिहास में, महाकाव्यों की पहिली श्रेणी हमें मोटे-मोटे ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध न होकर, मनुष्य की मौखिक भावनाओं के रूप में, जिनकी परम्परा कि सहस्रों वर्ष से अलिखित ही समाज में बनी रही, मिलती है। मनुष्य के संस्कृत विचार ही, उसकी विकासशील काव्य-प्रतिभा के पहिले लक्ष्यबिंदु हैं।

'रामायण', 'महाभारत', 'इलियड' और 'ओडसी' आदि ग्रंथ, यद्यपि आज प्रथम महाकाव्य कहे जाते हैं; किन्तु महाकाव्य का जो स्वरूप आज है, उसके मापदण्ड के अनुसार क्या इनको महाकाव्य कहा जा सकता है? बल्कि उक्त ग्रन्थों के रचनाकारों का कदापि भी यह उद्देश्य नहीं था कि भविष्य में उनकी इन कृतियों को महाकाव्य कहा जायगा; जैसा कि आज भी उनको केवल महाकाव्य कहकर उन पर अन्याय नहीं किया जा सकता है।

इसलिए निष्कर्ष यह है कि महाकाव्यों की रचना या उनका स्वरूप, युग के हिसाब से एक जैसा नहीं रहा है और इसीलिए अंतिम रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आज महाकाव्य या साहित्य के दूसरे काव्य-नाटक आदि अंगों के लिए जो परिभाषाएँ एवं जो मान्यताएँ स्थिर की गई हैं, भविष्य में भी उनको ही स्वीकार किया जायगा।

'रामायण' और 'महाभारत' भी इसीलिए प्रथम महाकाव्य नहीं हैं। उन्हें हम एक युगविशेष के प्रतिनिधि महाकाव्य अवश्य कह सकते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में हम दूसरी अनेक बातों के साथ-साथ अद्भुत वीर-भावना का वर्णन

विशेष रूप से पाते हैं। इसलिए यदि हम यह कहें कि ये दोनों ग्रन्थ भारत के बृहद् इतिहास के प्राचीनतम किसी वीर-युग के प्रतिनिधि महाकाव्य हैं, तो उनकी वास्तविकताओं को समझने में आसानी रहेगी।

वाल्मीकि, व्यास, होमर, और वर्जिल ने अपने इन ग्रन्थों के लिए प्राचीन-काल से मौखिकरूप में चले आते अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का दाय समेटकर उसको समृद्ध एवं सिलसिलेवार संबद्ध किया। इन ग्रन्थों की प्रायः समग्र सामग्री और विशेष रूप से उनकी प्रधान विषयवस्तु, उनके निर्माण से पहिले की है। वे पूर्वागत कथाएँ 'रामायण' आदि ग्रंथों में अपनी सिद्धावस्था को प्राप्त हो गई हैं।[1]

बहुत पुराने समय में सामूहिक नृत्य-गीतों द्वारा मनुष्य अपने जिन धार्मिक उत्सवों का आयोजन करता था। अपनी सुदीर्घ परंपरा में वे गीत-नृत्य एक आख्यान के रूप में स्मरण किए जाने लगे। ये आख्यान-गीत ही ऋग्वेद के संवाद सूक्त हैं। ऐसे संवाद सूक्त ऋग्वेद में अनेक हैं, जैसे : यम-यमी (१०।११), पुरूरवा-उर्वशी (१०।१५), अगस्त्य-लोपामुद्रा (१।१७९), इन्द्र-अदिति (४।१८), इन्द्र-इन्द्राणी (१०।८६), सरमा-पणीस (१०।५१।३) और इन्द्र-मरुत् (१।१६५।१७०) आदि। वेद-भाष्यकार यास्क ने इन संवाद-सूक्तों को आख्यान संज्ञा दी है।[2]

इन संवादात्मक आख्यानों को ही पहिले गाथा नाराशंसी भी कहा जाता था; किन्तु अपनी ख्याति के कारण थोड़े ही समय बाद उन्हीं को इतिहास और पुराण भी कहा जाने लगा।[3] ये सारी मान्यताएँ वैदिक युग की हैं।

क्योंकि ये संवाद-सूक्त गद्य-पद्यात्मक थे; इसलिए ओल्डेनबर्ग साहब ने उनके आधार पर यह अनुमान लगाया कि भारतीय महाकाव्यों का प्राचीनतम स्वरूप गद्य-पद्यात्मक था।[4] मैक्समूलर, लेवी और हर्टेल आदि ने उक्त संवाद-सूक्तों को नाटक कहा है।[5] विंटरनित्स ने इनको प्राचीनतम गाथाएँ कहा है, उनके कथनानुसार जिनका दाय ग्रहण कर बाद में काव्य, महाकाव्य और नाटकों का विकास हुआ।[6]

---

१. डब्ल्यू० एम० डिक्शन : इंग्लिश एपिक पोएट्री ऐंड हिरोइक पोएट्री, पृ० २७

२. यास्क : निरुक्त ११।२५ ३. अथर्ववेद–१५–६–१०, ११, १२

४. ओल्डेनबर्ग : जेड० डी० एम० जी०, वाल्यूम ३७ (१८८३) पृ० ५४ एफ एफ० वाल्यूम ३९ (१८८५) पृ० ५२ एफ एफ०

५. विण्टरनित्स : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम १, पृ० १०२

६. वही, पृ० १०२–१०३

महाभारतकार ने आख्यान, उपाख्यान, कथा, आख्यायिका, पुराण और इतिहास, इन सभी शब्दों को प्रायः समान अर्थ में ही प्राचीन कहानी के रूप में प्रयुक्त किया है।[1]

'रामायण' और 'महाभारत' में जिन विभिन्न आख्यानों-उपाख्यानों का वर्णन हम पाते हैं वे ही संस्कृत के महाकाव्यों के उद्भवरूप हैं और उन्हीं का संकलन, संशोधन और परिवर्द्धन करके 'रामायग' तथा 'महाभारत' का कलेवर निर्मित होकर उनसे महाकाव्यों की एक प्रौढ़-परम्परा का अनुवर्तन हुआ है।

'रामायण' और 'महाभारत' की शैलियों और उनके द्वारा अनुप्राणित काव्य-परम्परा को देखते हुए सहज ही कहा जा सकता है कि 'महाभारत' की अपेक्षा 'रामायण' में काव्योत्कर्षकारक गुण तथा अन्विति अधिक है।[2] इसलिए महाभारत प्रधानतया इतिहास और गौणतया महाकाव्य है; किन्तु इसके विपरीत 'रामायण' प्रधानतया महाकाव्य और गौणतया इतिहास है। अपनी इसी प्रधान भावना के कारण 'महाभारत' ने पुराण शैली को जन्म दिया और स्वयं भी पुराणों की श्रेणी में चला गया; किन्तु 'रामायण' का विकाश अलंकृत शैली के काव्यों के रूप में हुआ। इसलिए 'महाभारत' को हम संस्कृत के काव्यों, महाकाव्यों और दूसरे विषयों के ग्रन्थों का पिता तो मान सकते हैं; किन्तु उसको काव्यों या महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं रख सकते; किन्तु 'रामायण' को हम निश्चित रूप से महाकाव्यों की श्रेणी में भी रख सकते हैं और उसको अलंकृत शैली के उत्तरवर्ती काव्यों का जनक भी कह सकते हैं।

रामायण और महाभारत का दाय

'रामायण' और 'महाभारत' का स्वतन्त्र अस्तित्व और उनकी पारस्परिक स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाने के बाद संस्कृत-साहित्य की सर्वांगीण समृद्धि के लिए उनके द्वारा कितना हित हुआ, इस बात को जान लेने के बाद उनकी सार्वभौम सत्ता का सहज में ही पता लग जाता है। संस्कृत के उत्तरवर्ती काव्य-साहित्य का लगभग अधिकांश भाग इन्हीं दो ग्रन्थों के दाय को लेकर पूरा किया गया। यदि इन दो ग्रन्थराटों से प्रभावित कृतियों को छाँटकर अलग कर दिया जाय तो संस्कृत-साहित्य के काव्य-क्षेत्र में नाममात्र की सुन्दर कृतियाँ बची रह सकेंगी। हमें यह कहते हुए संकोच

---

१. हॉपकिन्स : दि ग्रेट एपिक ऑफ इंडिया, पृ० ५०

२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा' : आलोचना (त्रैमासिक) अक्टूबर, १९५१

नहीं होता कि संस्कृत के प्रायः समग्र लक्षणग्रन्थ इन्हीं दो महान् कृतियों की सीमा-रेखाओं का विश्लेषण करने पर ही रचे गये हैं। संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित नियमों के भीतर आने में जो अधिकांश दूसरी कृतियाँ पूर्णतः नहीं उतर पाती हैं, उसका एकमात्र कारण यही है कि उस समय ये दोनों ग्रंथ काव्यशास्त्रियों को अत्यधिक प्रभावित किये हुए थे।

संस्कृत के काव्यकारों ने 'महाभारत' से तो अपनी कृतियों के लिए कथावस्तु चुनी और उसको 'रामायण' की शैली में बाँधकर दोनों ग्रन्थों की स्थिति को स्पष्ट कर दिया। 'रामायण' से रूप-शिल्प और 'महाभारत' से विषयवस्तु को लेकर महाकाव्यों की परंपरा आगे बढ़ी। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों में शिल्प-संबंधी तत्त्व, अलंकार-योजना, रूपकों, उपमाओं का आधिक्य और प्रकृति-चित्रण सभी का आधार 'रामायण' ही है।[1]

'महाभारत' के पुराणों के अधिक निकट होने के कारण संस्कृत के काव्यकारों ने कुछ कथानक दूसरे पुराणों से भी लिया; किन्तु उस कथानक को काव्यरूप में सुसज्जित करने के लिए 'रामायण' की शैली का ही आश्रय लिया। कुछ ग्रन्थकारों ने 'महाभारत' की शैली पर काव्य लिखने की चेष्टा की भी; किन्तु वे विशुद्ध महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं आ सके। ऐसे काव्यों में 'राजतरंगिणी' और 'कथासरित्सागर' को रखा जा सकता है, जिन्होंने स्वयं को एक प्रबन्ध के रूप में विख्यात करना भी चाहा; किन्तु, जिनकी स्थिति आज दूसरे ही रूप में विश्रुत है।[2]

महाकाव्यों का वर्गीकरण

संस्कृत-साहित्य में श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' तक, अर्थात् बारहवीं शताब्दी तक कितनी ही महाकाव्य कृतियों का निर्माण हुआ। ये सभी महाकाव्य कृतियाँ एक जैसी शैली और एक जैसे ढंग की नहीं हैं। मेक्डोनेल साहब ने 'महाभारत' को तो लोक महाकाव्य (पापुलर एपिक), रामायण को अनुकृत

---

१. डॉ० शंभूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १३९

२. इन दोनों महाकाव्यों की प्रेरणा से संस्कृत में जितनी कृतियों का निर्माण हुआ उनकी सूचियों के लिए देखिए—वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३८३–३८४, अनुवादक डॉ० कपिलदेव द्विवेदी (१९५६) तथा फादर कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १७९–२०८ (१९५०)

महाकाव्य (आर्टिफिशल एपिक) और बाद के महाकाव्यों को अलंकृत महाकाव्य कहा है ।[1]

डॉ० दासगुप्ता ने पाश्चात्य विद्वानों की इस धारणा को कि–'रामायण', 'महाभारत' तो 'एपिक' और बाद के महाकाव्य 'कोर्ट एपिक', तथा इस धारणा को कि संस्कृत काव्य-साहित्य प्रारम्भ से ही आडम्बरपूर्ण और रूप-शिल्प से रहित था, खंडित करके यह स्पष्ट किया है कि बाद के महाकाव्यों में यह बात ठीक-ठीक नहीं उतरती है। पाश्चात्यों ने आर्नेट (अनुकृत) कहकर जिन महाकाव्यों को कलात्मक भी कहा है, वे वास्तविक रूप से 'एपिक ऑफ आर्ट' या 'आर्टिफिशल' (अलंकृत) महाकाव्य हैं ।[2]

डॉ० शंभूनाथ सिंह का एक थीसिस-ग्रन्थ हाल ही में प्रकाशित हुआ है[3], जिसका नाम है 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास'। इस ग्रंथ के प्रथम तीन अध्यायों में बड़ी खोजपूर्ण सामग्री के आधार पर संस्कृत के महाकाव्यों का सप्रमाण श्रेणी-विभाजन किया गया है। उसमें एक चार्ट इस प्रकार दिया गया है[4] :
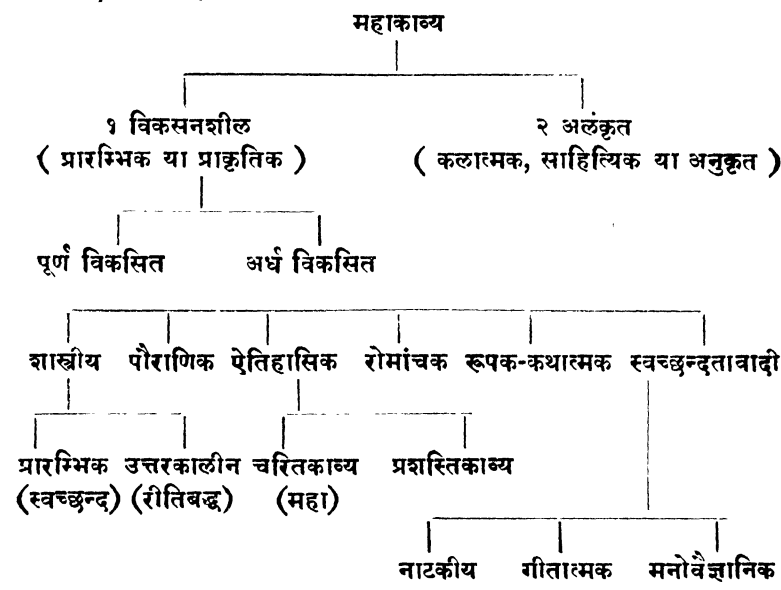
१. मैक्डोनेल : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३२६

२. डॉ० एम० एन० दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वाल्यूम १, इण्ट्रोडक्शन, पृ० १४–१५

३. हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी (१९५६)   ४. वही, पृ० ९३

विकसनशील महाकाव्यों में यद्यपि 'महाभारत' और 'रामायण' दोनों की गणना की जा सकती है ; किन्तु प्रधानतया 'महाभारत' को विकसनशील महाकाव्य और 'रामायण' को अलंकृत महाकाव्य कहा जा सकता है । अलंकृत शैली के शास्त्रीय महाकाव्यों में पहिली श्रेणी में अश्वघोष और कालिदास के सभी महाकाव्य तथा कुमारदास का 'जानकीहरण' रखे जा सकते हैं । दूसरी श्रेणी के शास्त्रीय काव्य रीतिबद्ध महाकाव्य हैं ; जिनमें भारवि का 'किराता-र्जुनीय', वाक्पतिराज का 'गउडवहो', रत्नाकर का 'हरविजय', शिवस्वामी का 'कप्फिणाभ्युदय', मंखक का 'श्रीकंठचरित' आदि की गणना की जा सकती है । तीसरी अलंकृत शैली के वे महाकाव्य हैं जिन्हें शब्द-चमत्कारप्रधान संज्ञा दी जा सकती है । इनमें भट्टि का 'भट्टिकाव्य', हेमचन्द्र का 'कुमारपालचरित', धनंजय का 'द्विसंधान', संध्याकरनंदी का 'रामचरित', विद्यामाधव का 'पार्वती-रुक्मिणीय' और हरिदत्त सूरि का 'राघवनैषधीय' आदि प्रमुख हैं ।

अलंकृत शैली के पौराणिक महाकाव्यों में पहिली गणना 'महाभारत' की भी की जा सकती है । इसी शैली में जिनसेन का 'आदिपुराण', गुणभद्र का 'उत्तरपुराण', जटासिंहनंदि का 'वरांगचरित', क्षेमेन्द्र की 'रामायणमंजरी', 'भारतमंजरी' और 'दशावतारचरित', हेमचन्द्र का 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित', अमरचंद सूरि का 'बालभारत', वेंकटनाथ का 'यादवाभ्युदय', जयद्रथ का 'हरचरितचिंतामणि', कृष्णदास कविराज का 'गोविन्दलीलामृत', नीलकंठ दीक्षित का 'शिवलीलार्णव', यशोधर का 'यशोधरचरित', अमरचंद का 'पणानंद', हरिश्चंद्र का 'धर्मशर्माभ्युदय', अभयदेव सूरि का 'जयन्तविजय' और वाग्भट्ट का 'नेमिनिर्वाण' आदि महाकाव्यों की गणना की जा सकती है ।

अलंकृत शैली के ऐतिहासिक महाकाव्यों में अश्वघोष का 'बुद्धचरित', बाण का 'हर्षचरित', पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित', बिल्हण का 'विक्रमांगदेवचरित', कल्हण की 'राजतरंगिणी', हेमचंद्र का 'कुमारपालचरित', अमरसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन', बालचंद्र सूरि का 'वसन्तविलास' और जयचन्द्र सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य' उल्लेखनीय हैं ।

अलंकृत शैली के रोमांचक महाकाव्यों में सोमदेव का 'कथासरित्सागर', पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित', वाग्भट्ट का 'नेमिनिर्वाणकाव्य', वीरनंदि का 'चंद्रप्रभचरित', सोमेश्वर का 'सुरथोत्सव', भवदेव सूरि का 'पार्श्वनाथचरित' और मुनिभद्र सूरि का 'शांतिनाथचरित' प्रमुख हैं ।

महाकाव्यों का यह श्रेणी-विभाजन पूर्णतया और अंशतया दोनों प्रकार से

है, क्योंकि एक ही महाकाव्य ग्रंथ में प्रधानतया एक शैली और अंशतया अनेक श्रेणियाँ मिली-जुली हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे ग्रंथ एवं कालिदास, अश्वघोष, भारवि तथा माघ जैसे कवियों की रचनाएँ ऐतिहासिक, पौराणिक, अलंकृत, शास्त्रीय, रीतिबद्ध और रोमांचक आदि अनेक दृष्टियों का एक साथ परिचय देती हैं। इसलिए प्रधानतया उनकी एक श्रेणी होने पर भी गौणतया उनको दूसरी श्रेणियों में भी परिगणित किया गया है।

संस्कृत की सुदीर्घ परंपरा की भूमिका का और उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों का समीक्षण करने के बाद महाकवि कालिदास से उसका अभ्युत्थान युग आरम्भ होता है। इस अभ्युत्थान युग की सीमा लगभग १२वीं शताब्दी तक जाती है। इस बीच भी यद्यपि कुछ ऐसी कृतियों का निर्माण हुआ, जिनको इस अभ्युत्थान युग की प्रतिनिधि कृतियाँ नहीं कहा जा सकता है; फिर भी जिन बहुत उच्चकोटि की कृतियों का निर्माण इस युग में या इन शताब्दियों में हुआ, उनकी तुलना में फिर दूसरी कृतियाँ नहीं रची गईं।

महाकाव्य : पाश्चात्य दृष्टिकोण[1]

अंग्रेजी में 'एपिक' शब्द संज्ञा और विशेषण दोनों है, जिसका अर्थ है : वह कविता, जिसमें एक या एक से अधिक वीरों की वीरता का वर्णन हो, और जो मुखाग्र सुनाई जा सके। यह शब्द ग्रीक भाषा के 'इपीकस' (Epikos) से बना है। 'इपॉस' (Epos) शब्द भी ग्रीक भाषा का है, जिसका अर्थ वहाँ 'गीत' लिया गया है। अंग्रेजी भाषा में इसका प्रयोग उसी रूप में १८३५ ई० से हुआ, जिसके अनुसार 'एपिक' वह कविता है, जो अलिखित हो। संप्रति 'एपिक पोइट्री' को महाकाव्य के अर्थ में लिया जाता है आंग्ल विद्वानों के मतानुसार महाकाव्य का पहिला गुण वर्णनात्मक है : जिसका आकार बड़ा हो, जिसमें सुंदर विचार सुंदरता से वर्णित हों और साथ ही जिसका विषय भी महत्त्वपूर्ण हो।

पश्चिम में कविता का अभ्युदय भजन और जातीय कहानी-किस्सों से हुआ। वर्णनात्मक कविता का उदय पहले ग्रीस में हुआ; ऐसी वर्णनात्मक कविताएँ पश्चिम में तब लिखी गईं जब होमर और हेसियड का लोग नाम

१. डिक्शन : इंग्लिश एपिक पोएट्री ऐंड हिरोइक पोएट्री तथा सरस्वती (भाग ३७, खंड १, १९३६) में प्रकाशित कुँवर राजेन्द्र सिंह का लेख : महाकाव्य (पृ० ३१०-३१५) पर आधारित।

ही सुन पाये थे। इस प्रकार की कविता का आरम्भ लिपि के अभ्युदय से भी पहिले हो चुका था, जब कि वह गा-गा कर सुनाई जाती थी। इसको गानेवाले पेशेवर लोग थे और उन्हीं की परंपरा से ऐसी कविता दूसरी पीढ़ियों तक पहुँची। इस प्रकार की कविता का संप्रति कोई भी चिह्न शेष नहीं है।

ग्रीस के पहिले महाकाव्य 'इलियड' और 'ओडसी' हैं, जिनके रचयिता का नाम होमर था। होमर के जन्मकाल या उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में ठीक-ठीक पता नहीं चलता है। होमर के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि आज भले ही उनके नाम से या उनके जन्मस्थान के नाम से कितने ही शहर अपने को सौभाग्यशाली समझ रहे हों; किन्तु यह निश्चित था कि किसी भी दूसरे प्रभावशाली कवि को इतनी कठिनाइयों में जीवनयापन नहीं करना पड़ा। हिरोडोटस (५०० ई० पूर्व) के कथनानुसार होमर का समय उससे चार-सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ९०० ई० पूर्व बैठता है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि होमर का महाकाव्य अकेले उसके हाथ की रचना नहीं है, क्योंकि एक तो तब तक लेखनकला का इतना विकास नहीं हो पाया था और दूसरे बड़े आकार की रचना बिना लिखे कैसे रची जा सकती थी। होमर के दोनों महाकाव्यों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि उनकी भाषा-शैली एक युग की नहीं है।

इन दोनों महाकाव्यों का प्रभाव पश्चिमीय देशों की उत्तरवर्ती काव्य-प्रवृत्तियों पर अवश्य पड़ा। रोम वाले उनका अनुकरण लगभग १७०—२३९ ई० तक करते रहे। १५० वर्ष पश्चात् वर्जिल की लिखी हुई वह कविता इस प्रसंग में उद्धरणीय है, जिसको अपने मृत्युकाल पर उसने जला देने के लिये कहा था; किन्तु जो बादशाह अगस्टन के आग्रह पर सुरक्षित रह गई थी।

पश्चिमी विद्वानों ने प्राच्य साहित्य के तीन महाकाव्य माने हैं : 'रामायण', 'महाभारत' और 'शाहनामा'।

आरिस्टाटिल के मतानुसार महाकाव्य का आकार इतना होना चाहिये जो एक दिन में पढ़ा जा सके; जब कि एक दूसरे विद्वान् का कथन है कि महाकाव्य में केवल एक ही वर्ष की घटनाएँ होनी चाहिएँ।

पाश्चात्यों के मतानुसार पहले गीतकाव्य और उसके बाद महाकाव्य रचे गए। उनके कथनानुसार गीतों में बिखरे हुए अनेक व्यक्तियों के

अनेक भावों को एक अच्छे कवि ने अपनी काव्यमयी भाषा में बाँध कर उन्हीं गीतों को काव्य का रूप दे दिया। किन्तु भारत के सम्बन्ध में यह मंतव्य ठीक नहीं उतरता है।

प्रो० डिक्सन के अनुसार राष्ट्रीय कविता ही सच्चा महाकाव्य सिद्ध होती है। प्रो० डिक्सन की पुस्तक में एक परिच्छेद 'अकृत्रिम महाकाव्य' पर है। ब्योउल्फ ने प्राचीनकाल में अंग्रेजी साहित्य का एक हजार वर्षों का इतिहास लिखा था। वह भी महाकाव्यों की कोटि में रखा गया। आख्यायिकाएँ भी उन्होंने महाकाव्य में परिगणित कीं।

यद्यपि ग्रीस देश में होमर से पूर्व भी कवि हुए, जिन्होंने सर्वप्रथम भाषा का स्वर-संक्रमण किया और महाकाव्य के ढंग की षट्पदी आकार में कविताएँ लिखीं और जिनका दाय समेट कर होमर ने अपने महाकाव्यों की रचना की। पश्चिम की दृष्टि से यह बात सही साबित हो; किन्तु पूरब में, विशेषतः भारत में, महाकाव्यों का उदय कुछ दूसरे ही ढंग से हुआ।

पाश्चात्य महाकाव्यों का श्रेणी-विभाजन

संसार के महाकाव्यों की आधार-भित्ति यद्यपि एक जैसे प्रतिमानों पर आधारित नहीं है; फिर भी मोटे रूप से उनकी तुलना करने पर हमें बहुत-से ऐसे तथ्य उनमें देखने को मिलते हैं, जिनसे हमें विश्वास होता है कि उनके भीतर से एक जैसी चिंताधारा और एक जैसी प्रेरणा के भाव बोल रहे हैं।

पाश्चात्य दृष्टिकोण से महाकाव्य (एपिक) के प्रधान दो भेद हैं: विकसित महाकाव्य (एपिक ऑफ ग्रोथ) और अलंकृत महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट)। विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक हाथों से संशोधित, संपादित, परिवर्द्धित एवं संस्कृत होता हुआ अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है। उसका आधार प्राचीन गाथाएँ होती हैं। अलंकृत महाकाव्य वह है, जिसमें एक ही व्यक्ति का काव्य-कौशल दर्शित है। इसमें भी प्रथम श्रेणी के काव्य जैसी समग्रताएँ विद्यमान रहती हैं; किन्तु उसकी अपेक्षा इसमें एक ही हाथ का कौशल रहता है। पहिली श्रेणी के विकसित महाकाव्यों में ग्रीक के महाकवि होमर का 'इलियड' तथा 'ओडसी', अथच संस्कृत का 'महाभारत'; और दूसरी श्रेणी के अलंकृत महाकाव्यों में लेटिन भाषा के कवि वर्जिल का 'इनीड' और संस्कृत भाषा की कृति 'रामायण' को उद्धृत किया जा सकता है।

कालिदास के पूर्ववर्ती विलुप्त महाकाव्य

संस्कृत में महाकाव्यों की परंपरा की उपलब्धि यद्यपि कालिदास के ग्रंथों से उद्धृत की जाती है; किन्तु कालिदास से भी बहुत पहिले इस विषय पर अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके थे। स्फुट कविताओं तथा स्फुट काव्यों का अस्तित्व तो और भी पहले का है। काव्यों और महाकाव्यों के पुरातन अस्तित्व को प्रकट करने वाली ये कृतियाँ यद्यपि आज जीवित नहीं हैं; किन्तु उनके अस्तित्व को बताने वाले प्रबल साक्ष्य आज भी विभिन्न ग्रंथों में देखने को मिलते हैं।

'महाभारत' के शांतिपर्व में गार्ग्य को 'देवर्षिचरित' का कर्ता बताया गया है।[1] यदि यह कथन सही हो तो चरितविषयक ऐतिहासिक काव्यग्रंथों का निर्माण बहुत प्राचीन समय में ही होने लग गया था। यह गार्ग्य, वैयाकरण, निरुक्तकार या आयुर्वेदज्ञ गार्ग्य ही था कि उनसे भिन्न ही हुआ, इस संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है; किन्तु इतना निश्चित है कि वह 'महाभारत' से पहिले हुआ।[2]

संस्कृत के विद्यार्थी के लिए वैयाकरण पाणिनि का परिचय कोई नया नहीं है। किन्तु एक अद्वितीय वैयाकरण के अतिरिक्त वह सिद्धहस्त काव्यकार भी था, इस बात को कम लोग जानते हैं, अथवा जानकर भी ध्यान में नहीं लेते हैं। उसने एक 'जांबवतीविजय' नामक महाकाव्य की रचना की थी, जिसमें १८ सर्ग थे। विभिन्न विषयों के प्राचीन-नवीन लगभग ३३ ग्रंथों में पाणिनि के इस महाकाव्य ग्रंथ के संबंध में सूचनाएँ लिखी मिलती हैं।[3]

व्याडि, पाणिनि का ही समकालीन था। संग्रहकार के रूप में उसकी प्रसिद्धि है। उसने 'बालचरित' नामक एक महाकाव्य का निर्माण किया था। उसके संबंध में महाराज समुद्रगुप्त का कथन है कि 'व्याडि रसतंत्र का आचार्य, महाकवि, शब्दब्रह्मैकवाद का प्रवर्तक, पाणिनि-सूत्रों का व्याख्याता और मीमांसकों में अग्रणी था। उसने 'बालचरित' लिखकर 'भारत' और

---

१. महाभारत, शांति० २१०।२१

२. भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, खंड ३, पृ० १६८

३. चंद्रधर शर्मा गुलेरी का लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, खंड १; कृष्णमाचार्य : हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८५; सीताराम जयराम जोशी तथा विश्वनाथ शास्त्री की संयुक्त पुस्तक : संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ९७; युधिष्ठिर मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, खंड १, पृ० १६१-१६५

व्यास को जीत लिया। महाकाव्य के क्षेत्र में व्याडि का ग्रंथ प्रदीपभूत था।'[1] समुद्रगुप्त के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि व्याडि ने 'महाभारत' से भी बड़ा महाकाव्य लिखा था। व्याडि के काव्यकार होने की पुष्टि 'अमरकोष' की एक अज्ञातनामा टीकाकार की टीका से होती है। उसमें लिखा है कि 'भट्टिकाव्य' के १२वें सर्ग के सदृश व्याडि के काव्य में भी 'भाषा-समावेश' नामक एक भाग या अध्याय था।'[2] शब्दशास्त्रविद् व्याडि के महाकाव्य में इस प्रकार का अध्याय होना उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

महाराज समुद्रगुप्त के 'कृष्णचरित' में वार्तिककार वररुचि कात्यायन को 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य का रचयिता बताया गया है। उसकी प्रशंसा में कहा गया है कि ऐसे सुन्दर काव्य को लिखकर कात्यायन ने स्वर्ग को पृथिवी पर उतार दिया। अपने रुचिर कवित्व कर्म के कारण पृथिवी भर में उसका कवित्व यश फैला।[3] दूसरे श्लोक में कहा गया है कि दाक्षीपुत्र वार्तिककार कात्यायन केवल व्याकरण की रचना कर ही विरमित नहीं हो गया था; बल्कि उस कवि-कर्म-दक्ष ने एक काव्यकृति का भी निर्माण किया था।[4]

वररुचिकृत काव्य की पुष्टि 'महाभाष्य' में उद्धृत श्लोकों से भी होती है।[5] 'शार्ङ्गधरपद्धति', 'सदुक्तिकर्णामृत' और 'सुभाषितमुक्तावलि' आदि ग्रंथों में उद्धृत श्लोकों में वररुचि के कविकर्म के प्रमाण सुरक्षित हैं।

'महाभाष्य' में 'भ्राज'संज्ञक श्लोकों का उल्लेख मिलता है।[6] कैयट[7], हरदत्त[8] और नागेशभट्ट[9] के मतानुसार ये 'भ्राज'संज्ञक श्लोक वार्तिककार कात्यायन की रचनाएँ ठहरते हैं। ये श्लोक संप्रति विलुप्त हो गए हैं। इन श्लोकों में से एक श्लोक महाभाष्य के प्रथमाह्निक में उद्धृत हुआ मिलता है।

---

१. कृष्णचरित, श्लोक १६, १७

२. अमरकोश-टीका, राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय, मद्रास में सुरक्षित प्रति; देखिए-ओरिएण्टल जरनल, मद्रास, पृ० ३५३, १९३२

३. यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥ —कृष्णचरित

४. न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
काव्योऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥—कृष्णचरित

५. महाभाष्य ४।३।१०१

६. महाभाष्य १।१।१

७. महाभाष्यप्रदीप (नवाह्निक), पृ० ३४, निर्णयसागर का संस्करण

८. पदमंजरी, भाग १, पृ० १०

९. महाभाष्यप्रदीपोद्योत (नवाह्निक), पृ० ३३, निर्णयसागर का संस्करण

'महाभाष्य' में तित्तिरि प्रोक्त श्लोकों का भी उल्लेख मिलता है।[1] यह तित्तिरि, वैशम्पायन का जेठा भाई एवं उसी का शिष्य था। उसका दूसरा नाम चरक भी था। इसी चरक द्वारा प्रोक्त 'चारकश्लोकों' का निर्देश 'काशिकावृत्ति'[2] और अभिनव शाकटायन कृत 'चिन्तामणिवृत्ति'[3] में भी मिलता है।[4]

इसी प्रकार सायण ने भी माधवीया 'धातुवृत्ति' में उख प्रोक्त 'औखीय' स्फुट श्लोकों का उल्लेख किया है।[5] तित्तिरि या चरक तथा उख प्राचीन व्यक्ति मालूम होते हैं, क्योंकि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में भी उनका नामोल्लेख हुआ है।[6]

महाभाष्यकार के रूप में पतंजलि के असामान्य व्यक्तित्व का परिचय मिलता है; किन्तु उसने भी एक महाकाव्य की रचना की थी, यह बात कम प्रचलित है। महाराज समुद्रगुप्त के 'कृष्णचरित' की प्रस्तावना में तीन श्लोक इस आशय के उद्धृत हैं, जिनसे पता चलता है कि 'महाभाष्य' के रचयिता पतंजलि ने चरक में धर्मानुकूल कुछ योग सम्मिलित किए; योग की विभूतियों का निदर्शक, योगव्याख्यानभूत 'महानंद' नामक महाकाव्य की रचना की। सम्भवतः यह महाकाव्य मगधसम्राट् महानन्द से सम्बद्ध रहा होगा।

इसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों से विलुप्त महाकाव्यों, काव्यग्रन्थों या स्फुट कविताओं के संबंध की अनेक सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। औखीय या तैत्तिरीय श्लोक, बहुत सम्भव है, काव्यविषयक न रहे हों; किन्तु जिस रूप में उनके संबंध की सूचनाएँ दी गई हैं उनसे तो यही विदित होता है कि उनमें कविबुद्धि एवं काव्यत्व के गुण भरपूर थे।

प्रशस्तियों की काव्य-प्रवृत्तियाँ

संस्कृत-साहित्य की प्राचीनतम काव्य-प्रवृत्तियों के जीवित प्रमाण आज हमें प्रस्तर-पुस्तिकाओं पर उत्कीर्ण हुए मिलते हैं। उनमें रुद्रदामन् का

१. महाभाष्य ४।२।६५ २. काशिकावृत्ति ४।३।१०७

३. चिन्तामणिवृत्ति ३।१।१७१

४. भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १७५

५. माधवीया धातुवृत्ति, पृ० ५२, काशीसंस्करण

६. अष्टाध्यायी ४।३।१०२; ४।३।१०७

गिरनार-शिलालेख (१५० ई०), तथा इसी समय का पुलुमावि का नासिक-शिलालेख प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति (३४५ ई०), वीरसेन का उदयगिरि-गुफा का अभिलेख (४७० ई०), वत्सभट्टि की मंदसौर-प्रशस्ति (४३७ ई०), रविशांति का हरहा-अभिलेख (५५५ ई०) और वासुल की मंदसौर-प्रशस्ति (छठी शताब्दी) आदि ऐसे ही प्रमाण हैं, जिनमें संस्कृत की पूर्वागत काव्य-परंपरा के सूत्र ग्रथित हैं।

संस्कृत के इन अज्ञातनामा या अपरिचित काव्यकारों के संबंध में कुछ छिट-पुट प्रकाश आर्केलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एपिग्राफिया इंडिका, इण्डियन इंस्क्रिप्शन्स, गुप्ता इंस्क्रिप्शन्स, विभिन्न प्रदेशों के गजेटियर, अथवा एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, बिहार, बंबई, उड़ीसा आदि के जनरल्स या प्रोसीडिंग्स में पड़ चुका है; किन्तु उन पर भी विस्तार से खोज करने की आवश्यकता अभी पूर्ववत् बनी हुई है।

सन् १९०३ ई० में स्व० बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने 'प्राचीन लेख-मणिमाला'[1] के नाम से विभिन्न दानपत्रों, अंतर्लेखों, शिलाखंडों, प्राचीन हस्त-लिखित पोथियों, कई इतिहास-ग्रंथों और विशेषतया डॉ० कीलहार्न के एक विद्वत्तापूर्ण लेख के आधार पर अपनी इस पुस्तक का निर्माण किया था। इस पुस्तक में ७१६ लेखों का संग्रह है। इस पुस्तक को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संस्कृत के कितने ही निर्माताओं का नाम तक आज हमें विदित नहीं है।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अनुसार संपूर्ण काव्य-साहित्य दो भागों में विभक्त हैं: दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य के अन्तर्गत नाटक एवं रूपकों की गणना आती है और श्रव्य काव्य के अन्तर्गत गद्य, पद्य तथा चंपू की। पद्य-काव्य पुनः महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तककाव्य, तीन भेदों में विभाजित है, और गद्यकाव्य कथा, आख्यायिका आदि में; चंपूकाव्य का कोई भेद नहीं है। वह गद्य-पद्य-मिश्रित होता है।

महाकाव्यों की परम्परा का विकास

संस्कृत के महाकाव्यों को हम तीन मोटी श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। पहिली श्रेणी के अन्तर्गत वे महाकाव्य रखे जा सकते हैं, जो कि विशुद्ध

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९०३

संस्कृत में लिखे गए, जैसे कि कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदि के ; दूसरी श्रेणी में पालि तथा प्राकृत भाषा के महाकाव्य आते हैं और तीसरी श्रेणी के महाकाव्य अपभ्रंश में हैं, जिनसे हिन्दी साहित्य में काव्य-परम्परा का प्रवर्तन हुआ ।

ऐतिहासिक दृष्टि से महाकाव्यों की लंबी परंपरा को हमने तीन विभिन्न युगों में विभाजित किया है। पहिला उद्भवयुग कालिदास से पहिले, दूसरा अभ्युत्थान-युग कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक और तीसरा ह्रास-युग तेरहवीं शती से अन्त तक। अन्तिम दो परिशिष्ट इन्हीं तीन युगों में समा जाते हैं ; किन्तु उनको अलग से इसलिए लिख दिया है कि विषय की दृष्टि से एक प्रकार की सामग्री एक साथ एक स्थान पर, सिलसिलेवार पढ़ी जा सके ।

महाकाव्यों के पहिले अभ्युदय-युग के संबंध में प्रकाश डाला जा चुका था। दूसरे अभ्युत्थान युग से पहिले इस सामग्री को जोड़ने की आवश्यकता इसलिए हुई कि महाकवि कालिदास से पहिले की परिस्थितियों को पूरी तरह जान लेने के बाद ही हम महाकाव्यों के उत्कर्ष की परम्परा में प्रवेश करें ।

अभ्युत्थान : महाकवि कालिदास

महाकवि कालिदास से संस्कृत के काव्य-साहित्य का अभ्युदय और साथ ही उसकी समृद्धिशाली परंपरा का आरंभ होता है, कालिदास सर्वथा असामान्य प्रतिभा को लेकर जन्मे थे। उनके इस असामान्य व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र उनकी कृतियों में समाहित है। उनकी उज्ज्वल कीर्ति आज देश-काल की परिधियों को तोड़कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्त्व को प्राप्त कर रही है। वे आज विश्वकवि के उच्चासन पर सुशोभित हैं ।

महाकवि के यशस्वी जीवन और उनकी भारती का गुणगान करने में जितनी उत्सुकता भारतीय विद्वानों को हो रही है, उससे किसी भी अंश में विदेशी विद्वान् पीछे नहीं रहे हैं। उनको कुछ ने बंगाली, कुछ ने काश्मीरी और कुछ ने मालव सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक विभिन्न तिथियों में उनकी काल-सीमाओं को रखा गया है ।

डॉ० हार्नली और डॉ० फर्गुसन प्रभृति कुछ विद्वान् कालिदास को, नरपति यशोवर्धन् का राजकवि सिद्ध कर, छठी शताब्दी में रखते हैं और यशोवर्धन् को हूण-विजेता के नाते 'विक्रमादित्य' विरुदधारी कहते हैं; किन्तु यह मत अब ग्राह्य नहीं है।

शक-विजेता 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण करने वाला एवं मालव-संवत् को विक्रमसंवत् में परिवर्तित करने वाला सम्राट् चंद्रगुप्त (३७५–४१३ ई०) को कालिदास का आश्रदाता सिद्ध करने वाले विद्वानों में डॉ० स्मिथ, मेक्डानल, कीथ, भांडारकर आदि प्रमुख हैं। इनसे भी पहले वैदिक धर्म और संस्कृत के पुनरुद्धारक गुप्तयुग में कालिदास के स्थितिकाल को रखने के संबंध में मैक्समूलर विस्तार से चर्चा कर चुके थे।

कुछ विद्वानों का कथन है कि रघु के दिग्विजयावसर पर जिन देशों एवं स्थानों का वर्णन कालिदास ने अपने 'रघुवंश' में किया है ठीक उन्हीं देशों को समुद्रगुप्त ने भी विजय किया। समुद्रगुप्त का दिग्विजय-विस्तार रघु के दिग्विजय-विस्तार का अविकल रूप है। कालिदास के महाकाव्य में स्पष्टतया गुप्त-साम्राज्य के 'स्वर्णयुग' का आँखोंदेखा हाल है।[1]

कालिदास को प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में मानने वाले विद्वानों की संख्या भी कम नहीं है।[2] कालिदास को कुछ विद्वानों ने, 'विक्रमादित्य' का संबंध चन्द्रगुप्त द्वितीय (समुद्रगुप्त) से जोड़कर बौद्ध महाकवि अश्वघोष के बाद रखा है;[3] किन्तु कालिदास की कृतियों के अन्तःसाक्ष्य का विश्लेषण करने पर यह सिद्ध होता है कि वे विक्रमीय संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य के समकालीन एवं अश्वघोष से पहिले ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में हुए।[4]

उक्त दोनों पक्षों के विद्वानों की युक्तियों का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन करके हमारी राय में इस दूसरे अभिमत के विद्वानों ने कालिदास को ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में रखने के लिए जो तर्क और प्रमाण दिए हैं वे अधिक विश्वसनीय हैं।

महाकवि कालिदास के जन्म एवं जीवनी के संबंध में जिस प्रकार मतभेद

---

१. उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, २, पृ० १००

२. बी० सी० झाला : कालिदास : ए स्टडी; के० एम० सम्भवकेकर : दि डेट ऑफ कालिदास—कालिदासग्रन्थावली

३. डॉ० भोलाशंकर व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० ७७

४. बी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ९४–९६

रहा है, उनकी कृतियों के सम्बन्ध में भी कुछ कम विवाद नहीं है। कुछ दिन पूर्व कालिदास-नामधारी दूसरे व्यक्तियों की कृतियों को महाकवि के नाम, और यहाँ तक कि महाकवि की मूल कृतियों को दूसरों के नाम जोड़ देने के सम्बन्ध में काफी लम्बा विवाद रहा है। इधर विद्वानों की गवेषणाओं ने यह सिद्ध कर लिया है कि 'नलोदय', 'राक्षसकाव्य', 'शृंगारतिलक' प्रभृति काव्य-कृतियों, 'श्रुतबोध' नामक छन्दविषयक ग्रंथ, 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ज्योतिषग्रन्थ और 'सेतुबंध' नामक प्राकृत महाकाव्यकृति आदि के रचयिता महाकवि कालिदास न होकर दूसरे ही कालिदास-नामधारी व्यक्ति थे।[1]

इसी प्रकार कुछ लोगों के कथनानुसार 'ऋतुसंहार' और 'मालविकाग्निमित्र' इन दो प्रन्थों पर मल्लिनाथ की टीका न होने के कारण वे कालिदासकृत नहीं हैं; किन्तु आधुनिक खोजों के आधार पर कालिदास की कृतियों की नामावली और उनका क्रम इस प्रकार है : 'ऋतुसंहार', 'कुमारसंभव', (आदि भाग) 'मालविकाग्निमित्र','कुमारसंभव' (अंतिम भाग), 'विक्रमोर्वशीय', 'मेघदूत', 'रघुवंश' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल'।[2]

महाकवि कालिदास की काव्यकला के सम्बन्ध में मेक्डोनेल साहब का कथन है कि 'उसके भाव-सामंजस्य में कहीं भी विरोधी भावनाएँ न आ पाईं। उसके प्रत्येक आवेग में कोमलता है। उसके प्रेम का आवेश कभी भी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता। वह प्रेमी को सदा ही संयत, ईर्ष्यारहित एवं घृणावियुक्त रूप में चित्रित करता है। कालिदास की कविता में भारतीय प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप समाविष्ट है। उसके काव्य में ऐसा सामंजस्य है, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।'[3]

महाकवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण और उनकी प्रतिभा से निःसृत अमृत-कणों का पान करना आदि बातें ऐसी हैं, जिनको न तो इतिहास से मापा जा सकता है और न ही उनके सम्बन्ध में अविश्वास की धारणा प्रकट की जा सकती है। महाकवि का यही काव्य-कौशल उनके व्यक्तित्व का वास्तविक परिचायक है, जिसकी जितनी ही प्रशंसा की जाय, यथेष्ट नहीं है। उसी को हम विश्वकवि के शब्दों में यों कह सकते हैं :

---

१. रामनाथ अय्यर : जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, पृ० २६३ (१९५१)

२. आर० डी० कर्मकर : दि क्रोनोलाजिकल आर्डर ऑफ कालिदासाज़ वर्क्स, प्रोसीडिंग्स ऑफ सेकेंड ओरिएण्टल कानफ्रेन्स, पृ० २३८

३. ए० ए० मैक्डोनेल : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३५३

"भारतीय शास्त्रों में नर-नारियों का संयत-संबंध कठिन अनुशासन के रूप में आदिष्ट है और वही कालिदास के काव्यों में सौंदर्य के सामानों से सुसंगठित हुआ है, यह सौन्दर्य श्री, ह्री और कल्याण से उद्भाषित है; गंभीरता की ओर से नितान्त एकाकी और व्याप्ति की ओर से विश्व का आश्रयस्थल है। वह त्याग से परिपूर्ण, दुःख से चरितार्थ और धर्म से ध्रुव निश्चित है।[1]"

महाकवि कालिदास के अनंतर महाकाव्यों की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले बौद्ध महाकवि अश्वघोष का नाम आता है। कालिदास और अश्वघोष के सम्बन्ध में विद्वानों का यह विवाद बहुत समय से चला आ रहा है कि दोनों में कौन पहिले था। इस विवाद का अभी तक सुनिश्चित हल नहीं निकला है। यहाँ अश्वघोष को कालिदास के बाद रखने में हम किसी संप्रदायविशेष का अनुगमन नहीं कर रहे हैं। हमारे सामने इन दो महाकवियों के सम्बन्ध में जो सामग्री विद्यमान है उसी के आधार पर हम ऐसा कर रहे हैं।

महाकाव्यों का उत्कर्ष : १२वीं शताब्दी तक

अश्वघोष

क्षेमेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने कालिदास और अश्वघोषविषयक विवाद में बड़ी सूक्ष्मता से, दोनों महाकवियों के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात्, अश्वघोष को कालिदास का परवर्ती सिद्ध किया है[2], तथापि दूसरे विद्वान् अश्वघोष को ही प्रथम महाकवि सिद्ध करते हैं।[3]

अश्वघोष अयोध्या के निवासी थे और उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था।[4] संभवतः ये ब्राह्मण से बौद्ध हुए, क्योंकि इनकी कृतियों में वैदिक धर्म, ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म की अनेक सामंजस्यपूर्ण बातों का पता चलता है। अश्वघोष बौद्ध थे और बौद्ध धर्म एवं बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा की बेजोड़ छाप है; किन्तु उनके व्यक्तित्व का वास्तविक

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : प्राचीन साहित्य, पृ० ३९ : अनुवादक : रामदहिन मिश्र, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बंबई, १९३३

२. चट्टोपाध्याय : डेट ऑफ कालिदास, पृ० ८२-१०६ (१९२६)

३. डॉ० भोलाशंकर व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० ५९ (२०१२ वि०)

४. आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्वादिनः कृतिरियम्—सौन्दरनंद की पुष्पिका

मूल्यांकन उनकी काव्यकृतियों में सुरक्षित है। वे दार्शनिक, संगीतज्ञ और इससे बढ़कर कवि थे।

अश्वघोष कनिष्क (७८ ई०) के समकालीन और बौद्धन्याय के शून्यवादी संप्रदाय के पिता आचार्य नागार्जुन से पहिले, प्रथम शताब्दी ईसवी में हुए।[1] चीनी एवं तिब्बतीय परंपराओं के अनुसार इन्हें कनिष्क का सभा-पंडित, गुरु एवं आत्मीय माना गया है। सम्राट् कनिष्क द्वारा आयोजित चौथी बौद्ध संगीति (१०० ई०)[2] के ये आचार्य थे। इस संगीति का वर्णन इनके काव्य में बड़े अच्छे ढंग से किया गया है।[3]

अश्वघोष की जिन कृतियों के संबंध में सभी विद्वान् एकमत हैं उनके नाम हैं : 'बुद्धचरित', 'सौंदरनंद' और 'शारिपुत्र प्रकरण'। इनमें आदि की दोनों कृतियाँ महाकाव्य हैं। 'बुद्धचरित' के तिब्बतीय अनुवाद के आधार पर अनुवादित डा० जॉन्सटन के अनुवाद में इसका पूरा विश्लेषण है।[4] तीसरी नाटक कृति है, जिसको एच० लूडर्स ने मध्य एशिया से प्राप्त किया।[5]

इन तीनों कृतियों में कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं, जिनको अश्वघोषकृत कहने में विद्वानों का मतभेद रहा है; किन्तु तिब्बतीय तथा चीनी परंपरा में जो अश्वघोष से नाम एकप्राण होकर जुड़ी हुई हैं। इन कृतियों के नाम हैं : 'सूत्रालंकार', 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह', 'वज्रसूचिकोपनिषद्', और 'गण्डी-स्तोत्रगाथा'। ये चारों कृतियाँ हस्तलेखों के रूप में आज भी चीन-तिब्बत में सुरक्षित हैं, जिनको पहिले-पहिल सप्तम शताब्दी के चीनी पर्यटक इत्सिंग ने प्रचारित किया था।

'सूत्रालंकार' का चीनी अनुवाद भिक्षु कुमारजीव ने ४०५ ई० में किया।[6] इधर मध्य एशिया में इस ग्रंथ की जो दूसरी अनूदित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनके आधार पर एच० लूडर्स ने 'सूत्रालंकार' को आचार्य कुमारलात की कृति ठहराया है।

छठी शताब्दी में वर्तमान सुप्रसिद्ध अनुवादक भारतीय बौद्ध भिक्षु परमार्थ द्वारा अनूदित बौद्धदर्शन-विषयक 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह' की एक प्रति

---

१. डॉ० चाउ सिआँग कुआँग : चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० १००

२. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, दिसम्बर, १९५६ ३. बुद्धचरित, अध्याय २८

४. बिब्लोथिका इंडिका, पृ० १२६, १९३९

५. आजकल : बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, पृ० १५९

६. डॉ० चाउ सिआँग कुआँग : चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० १०२

चीनी भाषा में उपलब्ध है।[1] इसके दो अंग्रेजी अनुवाद ती० सुजुकी और रिचर्ड्स ने किए हैं। इस अनुवादकद्वय ने उक्त कृति को अश्वघोषकृत सिद्ध किया है, और इसके आधार पर यह भी सिद्ध किया है कि महायान संप्रदाय की माध्यमिक शाखा के पहिले शून्यवादी आचार्य अश्वघोष थे। विंटरनित्स और तकाकुस इसको किसी दूसरे ही विद्वान् की कृति बताते हैं; किंतु डॉ० चाउ की आधुनिकतम गवेषणा के अनुसार 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' का रचयिता अश्वघोष ही था, जिस पर कि ७१२ ई० के चीनी भिक्षु फा-त्सॉग ने 'ता- शाँग-चि-हिन-लन-शु' नामक टीका लिखी, जो कि मूलग्रंथ से अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई।[2]

'वज्रसूची' नामक तीसरे ग्रंथ का चीनी अनुवाद दशवीं शताब्दी के लगभग हुआ। इस संबंध में चीनी परंपरा में दो विश्वास प्रचलित हैं; कोई इसे अश्वघोष की कृति मानते हैं और कोई धर्मकीर्ति की। इस ग्रंथ को वेबर साहब ने उपलब्ध करके १८६० ई० में जर्मन से प्रकाशित किया था। इस व्याख्यान-ग्रंथ का लेखक लोकमान्य ने अश्वघोष को ही बताया है।[3]

'गण्डीस्तोत्रगाथा' एक गीतिकाव्य है। इसमें स्रग्धरा छंद में लिखी हुई २९ गाथाएँ हैं। ई० एच० जोह्नस्टन ने इसके अश्वघोषकृत होने में संदेह प्रकट किया है; किन्तु विंटरनित्स का कथन है कि रूप और विषय की दृष्टि से यह सुंदर रचना अश्वघोष के अनुरूप है।[4]

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त, हमने अश्वघोष की जिस 'शारिपुत्र प्रकरण' नाटक कृति का उल्लेख किया है, उसको एच० लूडर्स ने मध्य एशिया के तुर्फान नामक स्थान से प्राप्त किया था। यह प्रकरण-रचना उन्हें ताड़पत्रों पर लिखी हुई मिली। इसी ताड़पत्र की पोथी में 'प्रबोधचंद्रोदय' और 'अन्या-पदेशी' दो खंडित नाटक कृतियाँ भी संलग्न थीं। इनको कुछ विद्वानों ने अश्वघोष कृत ही साबित किया है। कीथ ने इनको 'हेटेरा ड्रामा' (गणिका रूपक) कहा है।[5] इन दोनों कृतियों के अश्वघोषकृत होने में संदेह है।

अश्वघोष की प्रतिभा के परिचायक उनके दो महाकाव्य 'बुद्धचरित' और 'सौंदरनंद' के संबंध में यद्यपि म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने 'सौंदरनंद' की

---

१. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १७५ २. डॉ० चाउ का उक्त ग्रन्थ, पृ० ९९
३. लो० तिलक : गीतारहस्य, पृ० ५६१
४. विन्टरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० २६६
५. डॉ० कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० ८८ (१९५४)

रचना पहिले बताई है; किन्तु कुछ विद्वानों ने उनके भीतरी साक्ष्यों का अनुशीलन करने पर यही सिद्ध किया कि 'बुद्धचरित' की रचना पहिले हुई,[1] और यही मत संप्रति मान्य है।

डॉ० चाउ का कथन है कि "बौद्ध महाकवि अश्वघोष के महाकाव्य का नाम 'बुद्धचरित-काव्य-सूत्र' है। धर्मरत्न-प्रणीत उसके चीनी अनुवाद ने चीनी बौद्धधर्म को ही नहीं, चीनी साहित्य को भी विशद रूप से प्रभावित किया है।[2]

संस्कृत की काव्य-परंपरा में कालिदास और अश्वघोष की कृतियाँ अपना-अपना विशिष्ट महत्व रखती हैं। संस्कृत-साहित्य की महाकाव्य-परंपरा के अध्येता के लिए अश्वघोष का महत्व केवल इसीलिए नहीं है कि वे कवि थे, वरन् इसलिए भी है कि कालिदास की कवित्व-प्रतिभा के अध्ययन के लिए अश्वघोष का वही महत्व है, जो शेक्सपियर की नाट्य-प्रतिभा के अध्ययन के लिए मार्लो की नाटक कृतियों का।[3]

बुद्धघोष

महाकवि अश्वघोष के बाद महाकाव्यों की परंपरा कुछ शताब्दियों तक विच्छिन्न रही। बौद्धाचार्य बुद्धघोष ने एक दस सर्गों की काव्यकृति 'पद्य-चूड़ामणि' नाम से लिखी। पालि लेखकों और बौद्ध धर्म के व्याख्याकारों में नागसेन, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल का उल्लेखनीय स्थान रहा है। बुद्धघोष का बौद्धधर्मविषयक ग्रंथों में पहिला ग्रंथ 'विसुद्धिमग्ग' है जिसको उन्होंने सिंहल में लिखा था। 'महावंश' और अट्ठकथाएँ भी उनके नाम से प्रचलित हैं।[4]

ये ब्राह्मण से बौद्ध हुए। इनके उक्त काव्यविषयक ग्रंथ पर कालिदास और अश्वघोष की कृतियों का प्रभाव है। बौद्धग्रन्थों के विवरणानुसार ये ३८७ ई० में त्रिपिटकों के पालि अनुवाद को लाने के लिए लंका भेजे गए थे। उन्होंने कई बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कीं; कुछ का अनुवाद किया और कुछ पर

---

१. डॉ० कीथ : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २२
२. डॉ० चाउ : चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० ३ भूमिका
३. डॉ० भोलाशंकर व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० ७०
४. आजकल : बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, पृ० १५६

टीकाएँ लिखीं। उनके एक ग्रन्थ का ४८८ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था। इस दृष्टि से उनका स्थितिकाल ४०० ई० बैठता है।[1]

भीम या भीमक

बुद्धघोष के बाद महाकवि भीम या भीमक ने २७ सर्गों की एक कृति 'रावणार्जुनीय' या 'अर्जुनरावणीय' लिखी, जिसका प्रभाव आगे चलकर भट्टि के 'रावणवध' और हलायुध के 'कविरहस्य' पर पड़ा। इस ग्रन्थ के अस्तित्व का हवाला 'काशिकावृत्ति' (६०० ई०) में उद्धृत है, जिससे प्रतीत होता है कि भीमक का स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी के आस-पास था।[2]

भर्तृमेंठ

एक महाकाव्य कृति का रचयिता भर्तृमेंठ हुआ। उसने 'हयग्रीववध' लिखा जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। सूक्ति-संग्रहों एवं सुभाषित-ग्रन्थों में उसके श्लोक बिखरे हुए मिलते हैं। राजशेखर का कथन है कि पुराकाल में उत्पन्न वाल्मीकि कवि ही अवांतर जन्म में भर्तृमेंठ, भर्तृमेंठ से भवभूति और भवभूति से राजशेखर नाम से हुए।[3] कल्हण ने लिखा है कि मेंठ नामक एक महाकवि स्वनिर्मित एक महाकाव्य कृति 'हयग्रीववध' को तत्कालीन राजा मातृगुप्त के संमुख पढ़ने की अभिलाषा से काश्मीर आया था। भर्तृमेंठ ने अपनी कृति को अन्त तक पढ़ कर सुना दिया; किन्तु राजा से इसके संबंध में महाकवि ने जब एक भी शब्द नहीं सुना तो उसे राजा की गुणग्राहिता, काव्यरसिकता पर अविश्वास हुआ और निरुत्साहित होकर महाकवि जब अपनी पुस्तक को वेष्टन में समेटने लगा तो राजा ने 'टपकता हुआ काव्यामृत पृथ्वी पर न गिरने पावे', ऐसा सोचकर उस पुस्तक के नीचे स्वर्णपात्र रख दिया। राजा द्वारा किए गए इस सम्मान से सन्तुष्ट होकर महाकवि को अपनी रचना के उपलक्ष्य में उपलब्ध बहुमूल्य पारितोषिक व्यर्थ सा लगने लगा।[4]

भर्तृमेंठ का वास्तविक नाम अविदित है। 'मेंठ' शब्द महावत का पर्यायवाची है। सुभाषित-ग्रन्थों में 'हस्तिपक' नाम से जो रचनाएँ मिलती हैं, उन्हें भी भर्तृमेंठ की ही कहा जाता है। धनपाल ने इनको 'मेंठराज'

---

१. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १०४-१०५

२. वही, पृ० १०५ ३. राजशेखर : बालरामायण

४. राजतरंगिणी ३।२६०-२६२

कहकर स्मरण किया है, इसलिए कि उनकी कविता में हाथियों के प्रति विशेष प्रेम का परिचय मिलता है।[1] मातृगुप्त और भर्तृमेंठ का सम्बन्ध बहुत समय तक बना रहा। मातृगुप्त स्वयं कविता करते और भर्तृमेंठ से कविताएँ सुनते थे। भर्तृमेंठ की ही भाँति मातृगुप्त के कवियश को सुरक्षित रखने वाला उनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध न होकर उद्धरण रूप में ही स्फुट कविताएँ विभिन्न संग्रहों एवं सूक्तिग्रन्थों में मिलती हैं। ऐसी भी एक काश्मीरी श्रुति-परंपरा है कि मातृगुप्त ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर एक पांडित्यपूर्ण टीका लिखी थी। नाट्यशास्त्रविषयक उनके रचे हुए कुछ उपलब्ध श्लोकों को देखकर सहज ही उनके उर्वर मस्तिष्क का परिचय मिल सकता है।

मातृगुप्त

काश्मीर के राजा हिरण्य की निःसंतान मृत्यु हो जाने कारण चक्रवर्ती विक्रमादित्य हर्ष ने अपने गुणग्राही, ईमानदार और सेवापरायण राजकवि मातृगुप्त को हिरण्य राजा के उत्तराधिकार की राजगद्दी पर अधिष्ठित किया था।[2] विक्रमादित्य हर्ष और मातृगुप्त के सम्बन्धों की चर्चाएँ 'राजतरंगिणी' में विस्तार से वर्णित हैं।[3] मातृगुप्त ने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काश्मीर पर राज्य किया था। यही समय भर्तृमेंठ का भी है और 'शकारि' विक्रमादित्य का इतिहास-सम्मत स्थितिकाल भी यही है। राजतरंगिणीकार का कथन है कि अपने कृपालु स्वामी विक्रमादित्य का देहान्त सुनकर मातृगुप्त ने भी राज्य त्यागकर वैराग्य ले लिया था।[4] इनकी प्रशंसा में लिखा हुआ है कि "परस्पर यथोचित स्वाभिमान रखने वाले तथा उदारहृदय विक्रमादित्य, मातृगुप्त और प्रवरसेन, इन तीनों राजाओं की कथा त्रिपथगा गंगा के समान परम पवित्र है।[5]

डॉ० भाऊदाजी जैसे विद्वानों ने यहाँ तक सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि कालिदास और मातृगुप्त अभिन्न थे; किन्तु इन असंगतियों को आधुनिक शोधों ने सर्वथा असत्य साबित कर दिया है।[6]

---

१. सदुक्तिकर्णामृत
२. कल्हण : राजतरंगिणी ३।१६६; ३।१८९; ३।२३७
३. वही, ३।१२५, १२८, १२९, १३०, १३१
४. वही, ३।२९०
५. वही, ३।३२३
६. इन दोनों व्यक्तियों के संबंध में विस्तार के लिए देखिए 'मातृगुप्त और भर्तृमेंठ' शीर्षक लेख, साप्ताहिक भारत, ७ जुलाई, १९५७

भारवि

संस्कृत की इस विकसित महाकाव्य-परंपरा का सफल प्रतिनिधित्व हमें कालिदास और अश्वघोष के बाद भारवि की कृति में मिलता है। चालुक्य-वंशीय राजा पुलकेशी के ऐहोल में उपलब्ध एक शिलालेख में भारवि का नाम लिखा हुआ मिलता है।[1] इस शिलालेख का समय ६३४ ई० है। 'अवंतिसुंदरीकथा' में निर्दिष्ट तथ्यों और इसके प्रमाणों का विश्लेषण करने पर विद्वानों ने पता लगाया है कि भारवि पुलकेशी द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन् (६१५ ई०) के सभापंडित एवं त्रावणकोर के निवासी थे।[2] अतः उनका स्थितिकाल छठी शताब्दी के उत्तरार्ध या सातवीं शताब्दी के आरंभ में बैठता है।

भारवि की कवित्वकीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखनेवाला उनका एकमात्र ग्रंथ 'किरातार्जुनीय' है, जिसकी गणना संस्कृत की बृहत्त्रयी (किरात, माघ, नैषध) में की गई है। कालिदास के परवर्ती प्रमुख महाकाव्यों के सम्बन्ध में, जिनका आरंभ 'किरातार्जुनीय' से होता है, विद्वानों का कथन है कि कालिदास की कला में भावपक्ष तथा कलापक्ष का जो समन्वय पाया जाता है, पश्चाद्भावी महाकाव्यों में उसका स्थान केवल कलापक्ष ने ले लिया और इसलिए उनमें महाकाव्यत्व नाममात्र के लिए रह गया है।[3]

फिर भी भारवि का यह महाकाव्य अपना अलग स्थान रखता है। इस महाग्रंथ में काव्यशास्त्रोक्त नियमों का पूर्णतया निर्वाह हुआ है। व्याकरण-नियमों के साथ-साथ काव्यनियमों का ऐसा सुंदर निर्वाह कम काव्यों में दिखाई देता है। कालिदास और अश्वघोष की अपेक्षा भारवि का व्यक्तित्व-दर्शन सर्वथा स्वतन्त्र प्रतीत होता है। इसका बड़ा भारी कारण यह है कि भारवि ने वीर रस का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण और अलंकृत काव्यशैली का सफल वर्णन किया है। 'अर्थ-गौरव' भारवि की सबसे बड़ी विशेषता है।

भट्टि

महाकाव्यों के क्षेत्र में भारवि के बाद भट्टि का क्रम आता है। महाकवि

---

१. येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां कविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥ —ऐहोल शिलालेख

२. एन० सी० चटर्जी : होम ऑफ भारवि, प्रोसीडिंग्स ऑफ ओरिएण्टल कानफ्रेन्स १९४४; डॉ० व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० ११९

३. डॉ० व्यास : संस्कृत कवि दर्शन, पृ० ११७

भट्टि ने अपने महाकाव्य 'भट्टिकाव्य' या 'रावणवध' की रचना सौराष्ट्र की वैभवशाली नगरी वलभी के नरेश श्रीधरसेन के राज्यकाल में की थी। अपने महाकाव्य ग्रन्थ की पुष्पिका में उन्होंने अपने आश्रयदाता श्रीधरसेन को बड़ा प्रजावत्सल और उन्हीं के आश्रय में अपने काव्यग्रन्थ की रचना का उल्लेख किया है।[1]

उपलब्ध शिलालेखों में श्रीधरसेन के नाम से वलभी में चार राजाओं का होना पाया जाता है, जिनमें एक शिलालेख ३२६ वि० का लिखा हुआ मिलता है।[2] इससे अवगत होता है कि वलभी-राज्यकाल का आरम्भ इसी समय हुआ। द्वितीय श्रीधरसेन के नाम से उपलब्ध एक शिलालेख में भट्टि नामक किसी विद्वान् को भूमिदान करने का वर्णन है। निश्चय ही यही श्रीधरसेन भट्टि के आश्रयदाता एवं प्रशंसक थे, जिनका समय कि छठी शताब्दी का उत्तरार्ध या सातवीं शताब्दी का आरंभ था, और जिसको कि भट्टिकवि का स्थितिकाल भी माना जाना चाहिए।[3]

कुछ समय पूर्व मंदसौर-प्रशस्ति के रचयिता वत्सभट्टि से भट्टिकवि का संबंध जोड़ कर उसको गुप्तकालीन सिद्ध किया गया था एवं 'भर्तृ' से 'भट्टि' प्राकृत रूप की कल्पना कर भर्तृहरि और भट्टिकवि को अभिन्न बताया गया था; किन्तु इन भ्रमपूर्ण धारणाओं का अब सर्वथा निराकरण हो चुका है।[4] डॉ० हल्ट्स (Hultzsch) ने इन भ्रांतियों का भरपूर विरोध किया है।[5] कुछ इतिहासकारों का अभिमत है कि भट्टि कवि वलभीनरेश श्रीधरसेन द्वितीय के राजकुमारों के गुरु थे और इन्हीं राजपुत्रों की शिक्षा के लिए भट्टि कवि ने काव्यमयी भाषा में अपने इस व्याकरणपरक महाकाव्य की रचना की थी।[6]

अपने इस विलक्षण ग्रन्थ की विशेषताओं के बारे में महाकवि ने स्वयं कहा है कि 'मेरा यह प्रबन्ध वैयाकरण के लिए तो दीपक के समान है; किन्तु दूसरों के लिए अन्धे के हाथ के आरसी जैसा है।'[7] इसका कारण

---

१. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितपो यतः प्रजानाम्॥—रावणवध २२।३५

२. दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ भण्डारकर, वाल्यूम ३, पृ० २२८

३. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० १०६ (१९३८)

४. कीथ : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १७५–१७७ तथा जे-आर-ए-एस पृ० ३९५–३९७ (१९०४); पृ० ४३५ (१८०९)

५. एपिग्राफिया इण्डिका, पृ० १२ ६. डॉ० व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० १४२

७. दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद्व्याकरणादृते॥

यह है कि काव्य-रसिकों की अपेक्षा व्याकरणप्रेमियों के लिए 'भट्टिकाव्य' की उपयोगिता अधिक है। यदि कहा जाय कि काव्य की सुकोमल प्रकृति को व्याकरण के निर्मम हाथों से इस काव्य में ऐसा मसल दिया गया है कि वह महाकाव्य की जगह व्याकरण-ग्रन्थ ही बन गया, तो अनुचित न होगा।

महाकवि कालिदास से लेकर भट्टि तक की काव्य-परम्परा की विशेषताओं एवं विभिन्नताओं का विश्लेषण करते हुए डॉ० व्यास ने लिखा है कि भारवि में कालिदासोत्तर काव्य की पांडित्य-प्रदर्शन-प्रवृत्ति और कलात्मक सौष्ठव का एक पक्ष दिखाई देता है, भट्टि में दूसरा। भारवि मूलतः कवि हैं, जो अपनी कविता को पण्डितों की अभिरुचि के अनुरूप सजाकर लाते हैं; भट्टि मूलतः वैयाकरण तथा अलंकारशास्त्री हैं, जो व्याकरण और अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों को व्युत्पित्सु सुकुमारमति राजकुमारों तथा भावी काव्य-मार्ग के पथिकों के लिए काव्य के बहाने निबद्ध करते हैं। भारवि तथा भट्टि के काव्यों का लक्ष्य भिन्न-भिन्न है। इनके लक्ष्य में ठीक वही भेद है, जो कालिदास तथा अश्वघोष में। कालिदास रसवादी कवि हैं, तो भारवि कलावादी कवि; अश्वघोष दार्शनिक उपदेशवादी कवि हैं, तो भट्टि व्याकरणशास्त्रोपदेशी कवि।[1]

कुमारदास

कुमारदास, भट्टि के अनुवर्ती महाकवि हैं। उनके स्थितिकाल का अबतक प्रामाणिक निराकरण न हो सकने के कारण उन्हें महाकवि माघ के आस-पास रखा जा सकता है। सिंहल की अनुश्रुति के अनुसार सिंहल में नौ वर्षों (५१७–५२६ ई०) तक राज्य करने के उपरान्त राजा मौग्गलान कुमारदास ने कालिदास की चिता पर आत्मघात किया। किंवदंती यह भी है कि कुमारदास के निमंत्रण पर कालिदास सिंहल गए थे। किन्तु इन अनुश्रुतियों का ऐतिहासिक मूल्यांकन अभी विवादास्पद है। इनका संभावित स्थितिकाल सातवीं-आठवीं शताब्दी माना जा सकता है। इन्होंने २५ सर्गों की 'जानकी-हरण' नामक महाकाव्य कृति की रचना की थी, जिसके अब १५ सर्ग ही उपलब्ध हैं। इस काव्य में राम-कथा का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण है।

कुमारदास के संबंध में राजशेखर (नवम शताब्दी) की एक श्लेषोक्ति है कि 'रघुवंश' की विद्यमानता में 'जानकीहरण' करने की कुशलता या तो रावण में ही थी, या कुमारदास में ही देखी गई।[2]

---

१. डॉ० व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० १४०

२. जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ॥

माघ

कुमारदास के अनन्तर महाकाव्यों की परम्परा को समृद्धिशाली रूप देने वालों में महाकवि माघ का नाम आता है।

माघ के सम्बन्ध में उनके महाकाव्य से हमें इतना ही विदित होता है कि उनके पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय था। उनके पितामह सुप्रभदेव, वर्मलात नामक किसी राजा के मंत्री थे[1]; संभवतः वह वलभीनरेश था। ये जाति के श्रीमाली ब्राह्मण थे।

'भोजप्रबंध' एवं 'प्रबंधचिन्तामणि' आदि ग्रन्थों में माघ को जो धारा-नरेश भोज का परममित्र तथा राजकवि बताया गया है, वह उक्त ग्रन्थों की अप्रामाणिकता के कारण विश्वसनीय नहीं है। माघ की पूर्वसीमा का हवाला 'शिशुपाल' का एक श्लोक देता है, जिसमें श्लेषोक्ति द्वारा राजनीति की तुलना शब्दविद्या (व्याकरण) से की गई है।[2] माघ-काव्य के टीकाकार मल्लिनाथ और वल्लभदेव ने उक्त श्लोक से यह आशय निकाला है कि उसका संकेत 'काशिकावृत्ति' एवं 'न्यास' नामक व्याकरणग्रन्थों की ओर है। 'काशिकावृत्ति' की रचना वामन एवं जयादित्य ने ६५० ई० में की। इस दृष्टि से माघ की समयस्थिति इसके बाद होनी चाहिए। दूसरे 'न्यास' नामक व्याकरणग्रन्थ को कुछ विद्वानों ने जिनेन्द्रबुद्धि-विरचित 'काशिकावृत्ति-न्यास' से माना है, जिसकी रचना सातवीं शताब्दी में हुई।[3] किन्तु जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास नामक टीका से भी पूर्व एक न्यासग्रंथ का उल्लेख बाण ने किया है।[4] काणे महोदय भी इसी न्यासग्रंथ को माघ द्वारा निर्दिष्ट मानते हैं और माघ को जिनेंद्रबुद्धि का पूर्ववर्ती मानते हैं।[5]

माघ का स्थितिकाल आठवीं शताब्दी से पहिले का है। इस सम्बन्ध में पहिला प्रमाण तो राष्ट्रकूटों के राजा नृप तुंग (८१४ ई०) द्वारा विरचित कन्नड़ी भाषा के ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में है।[6] सोमदेव

---

१. सर्वाधिकारी सुकृताधिकार...कविवंशवर्णन १

२. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबंधना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ २।११२

३. इण्डियन एन्टीक्वेरी १९१२, पृ० २३५; जे-बी-बी आर-ए-एस, वाल्यूम १३, पृ० १८

४. कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि—हर्षचरित

५. काणे: हिस्ट्री ऑफ अलंकार लिटरेचर, पृ० ३६

६. पाण्डेय: संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

के 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९) में माघ का नाम उल्लिखित है ।[1] इसी भाँति 'ध्वन्यालोक' (८५०) में भी 'शिशुपालवध' के दो श्लोक उद्धृत हैं । इसके अतिरिक्त माघ के पिता सुप्रभदेव के आश्रयदाता राजा श्रीवर्मल का एक ६२५ ई० का शिलालेख उपलब्ध हुआ है । श्रीवर्मल और वर्मलात एक ही थे ।[2]

इन सभी प्रमाणों से विदित है कि महाकवि माघ का स्थितिकाल ६५०–७०० ई० के बीच था ।[3] वे भट्टि कवि के लगभग ५० वर्ष बाद ६७५ ई० में हुए ।[4]

महाकवि माघ की कवित्व-कीर्ति का अमर स्मारक उनका 'शिशुपालवध' या 'माघकाव्य' है । माघ शब्दार्थवादी कवि थे ।[5] उनकी इस महाकाव्यकृति के अध्ययन से पूर्णतया विदित होता है कि माघ व्याकरण, राजनीति, सांख्य, योग, बौद्धन्याय, वेद, पुराण, अलंकारशास्त्र, कामशास्त्र और संगीत आदि अनेक विषयों में पारंगत थे ।[6]

माघ के कवित्व में कालिदास के भाव, भारवि का अर्थगौरव, दण्डी की कला और भट्टि की व्याकरणपरक पांडित्यशैली, सभी का एक साथ सामंजस्य है; वैसे इनमें से किसी भी एक पक्ष का पूर्ण निर्वाह माघ ने नहीं किया है । तुलनात्मक दृष्टि से, एक पग आगे बढ़कर श्रीहर्ष को भी साथ ले लिया जाय तो कहा जायगा कि कालिदास के बाद काव्य के क्षेत्र में जिन सुंदर एवं सजीव भावों का समावेश माघ की कविता में है, वह भारवि, भट्टि, श्रीहर्ष और दण्डी के काव्यों में उतनी सजगता से दर्शित नहीं हुआ है ।[7]

रत्नाकर

महाकाव्यों की उन्नत प्रणयन-परम्परा में महाकवि माघ के बाद रत्नाकर का स्थान आता है ; किन्तु रत्नाकर की कविख्याति पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा

---

१. ध्वन्यालोक ३।५३; ५।२६ २. वी० वरदाचार्य : संस्कृत सा० इति०, पृ० १०८

३. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

४. डॉ० व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० १६३

५. शिशुपालवध २।८६ ६. डॉ० व्यास संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० १७५

७. अधिशासी अधिकारी, नगरपालिका श्रीमाल (भीनमाल) की ओर से प्रकाशित एवं प्रचारित १७ अप्रैल १९५८ के ११७ । म्प । ५८ संख्यक एक परिपत्र से ज्ञात हुआ है कि वहाँ की सरकार महाकवि माघ के सम्बन्ध में एक प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित करना चाहती है । यदि यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका तो संस्कृत-साहित्य की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध होगा

कुछ धुँधली प्रतीत होती है। रत्नाकर काश्मीरी थे। उनके पिता का नाम अमृतभानु था। रत्नाकर काश्मीरदेशीय 'बालबृहस्पति' का विरुद धारण करने वाले नरपति चिप्पट जयापीड (७७९–८१३) के सभापंडित थे। काश्मीर के विद्याप्रेमी एवं विद्वत्सेवी राजाओं में जयापीड का स्मरणीय स्थान है। 'राजतरंगिणी' में लिखा हुआ है कि जिस प्रकार गुप्त हुई वितस्ता नदी को महर्षि कश्यप ने फिर से काश्मीर में प्रकट किया था, उसी प्रकार संपूर्ण विद्याओं के उद्‌भवस्थल उस काश्मीर देश में विलुप्तप्राय विद्याओं को जयापीड राजा ने पुनरुज्जीवित किया था।[1] उसकी स्तुतिसम्बन्धी एक श्लेषोक्ति में कहा गया है कि अत्यंत कृतार्थ तथा सद्‌गुणों को बढ़ानेवाले श्री जयापीड महाराज एवं कृत्य-प्रत्ययों का विधान करनेवाले तथा गुण-वृद्धि के विधायक महामुनि पाणिनि में कौन-सा अंन्तर है ?[2]

रत्नाकर ने विपुल ज्ञान तथा गुणग्राही आश्रयदाता के साथ-साथ दीर्घ आयु भी प्राप्त की थी। उसकी कवित्वकीर्ति का प्रकाश महाराजा अवंतिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के समय में हुआ; जिसकी सूचना इतिहासकार कल्हण देता है।[3] अपने महाकाव्य का प्रणयन इन्होंने अवंतिवर्मा के ही समय में किया।[4] इनके महाकाव्य का नाम 'हरविजय' है। इसमें ५० सर्ग एवं ४,३२० के लगभग श्लोक हैं। संस्कृत के महाकाव्यों में सर्वाधिक बृहत्काय होने से इस महाग्रन्थ का अपना विशिष्ट स्थान है। महाकवि माघ के व्यक्तित्व को रत्नाकर की यह कृति एक परोक्ष चुनौती थी। बृहत्काय की दृष्टि से ही नहीं, विषय, शैली और भावाभिव्यंजन की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अद्भुत विशेषताएँ समेटे हुए है। इसमें शैवदर्शन, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, इतिहास, पुराण, नाट्य, संगीत, अलंकारशास्त्र और चित्रकाव्य प्रभृति अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है।[5] अपने इस प्रबन्ध ग्रन्थ के सम्बन्ध में महाकवि का यह कहना कि 'वह महाकवियों का प्रणम्य, बालकवि का

---

१. कल्हण : राजतरंगिणी ४।८६

२. नितांतं कृतकृत्यस्य गुणवृद्धिविधायिनः।
श्रीजयापीडदेवस्य पाणिनेश्च किमन्तरम् ? —राजतरंगिणी–४।६३५

३. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानंदवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवंतिवर्मणः॥ —राजतरंगिणी ५।३९

४. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ११

५. सी० श्रीवर्ममूर्ति : आर्ट टिट-बिट्स फ्राम रत्नाकर्स 'हरविजय', कृष्णस्वामी आयंगर का० वाल्यूम, पृ० ४२५–४३५

निर्देशक और कवि को महाकवि की श्रेणी में पहुँचा देनेवाला महाग्रन्थ है'[1] कदाचित् उसकी अहम्मन्यता का विज्ञापन न होकर ग्रन्थ की वास्तविकता का परिचय देना है।

शिवस्वामी

काश्मीर के ही दूसरे महाकवि शिवस्वामी ने 'कप्फिणाभ्युदय' नामक महाकाव्य का निर्माण किया। इनके पिता का नाम भट्टार्कस्वामी था। ये शैवमतावलम्बी थे। 'राजतरंगिणी' के पूर्वोक्त निर्देश के अनुसार शिवस्वामी, रत्नाकर के ही आस-पास और काश्मीरनरेश अवंतिवर्मा के राज्याश्रित महाकवि सिद्ध होते हैं।[2] अतः इनका स्थितिकाल नवम शताब्दी का आरंभ है। इनके महाकाव्य का कथानक बौद्धों के अवदानों एवं उसका कथा-शिल्प भारवि, माघ की काव्यशैली से प्रभावित है।[3]

अभिनंद

इसी समय काश्मीर में एक तीसरे महाकवि अभिनंद हुए जिनकी काव्य-प्रतिभा बिखरे हुए उद्धरणों के रूप में आज जीवित है। काश्मीर के शतानंद के पुत्र अभिनंद ने ३६ सर्गों में एक 'रामचरित' महाकाव्य लिखा था, जिसका उल्लेख भोज (१००० ई०) और महिमभट्ट (११०० ई०) ने किया है। इस दृष्टि से अभिनंद का स्थितिकाल नवम शताब्दी निर्धारित किया जाना चाहिए।[4]

शंकुक

इसी युग में काश्मीर में एक शंकुक नामक महाकवि भी हुए। महाकवि शंकुक मम्मट और उत्पलक (९०० ई०) दोनों भाइयों का समकालीन विद्वान् था। इन दोनों भाइयों के महायुद्ध के वर्णन में 'विद्वन्मानससिंधु'

---

१. महाकवेः प्रतिज्ञां शृणुत कृत-प्रणयो मम प्रबंधे।
अपि शिशुरकविः कविः प्रभावात् भवति कविश्च महाकविः क्रमेण॥—हरविजय

२. कल्हण : राजतरंगिणी ५।३९

३. पंजाब विश्वविद्यालय सीरीज सं० २६, १९३७ में लाहौर से प्रकाशित

४. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १११

ख्यात से विभूषित महाकवि शंकुक ने 'भुवनाभ्युदय' महाकाव्य की रचना की थी।[1]

क्षेमेंद्र

महाकाव्यों के क्षेत्र में काश्मीरदेशीय कवि और काव्यशास्त्री क्षेमेंद्र के 'दशावतारचरित' का उल्लेखनीय स्थान है। क्षेमेंद्र ने स्वयं को 'व्यासदास' लिखा है।[2] इसके कारण कदाचित् दो हैं: प्रथम तो यह कि इन्होंने महामति भगवान् व्यास की भाँति अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और दूसरे यह कि इनकी कृतियों की खास विशेषता रही है कि उनमें नीति एवं शिक्षा-परक लोकव्यवहारोपयोगी विचारों की प्रधानता ही सर्वत्र अवलोकित है।

काश्मीर के तत्कालीन ख्यातिप्राप्त काव्यशास्त्री विद्वान् अभिनवगुप्त, क्षेमेंद्र के गुरु थे।[3] काश्मीर के राजद्वय अनंत (१०२८–१०६३ ई०) तथा कलश (०१६३–१०८९ ई०) के राज्यकाल में क्षेमेंद्र वर्तमान थे। अतः इनका स्थितिकाल ११वीं शताब्दी है।

मंखक

क्षेमेंद्र के ही समकालीन एवं एकदेशीय महाकवि मंखक हुए। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री रुय्यक इनके गुरु और ये दोनों गुरु-शिष्य काश्मीर के राजा जयसिंह (११२९–११५० ई०) के सभापंडित थे। इनके महाकाव्य का नाम 'श्रीकंठचरित' है। इस काव्यग्रन्थ के वर्णन बड़े सजीव एवं रोचक हैं। इसके सुन्दर पद-विन्यास और भावों की कोमलता देखते ही बनती है।

हरिचंद

मंखक के बाद महाकाव्यों के क्षेत्र में महाकवि हरिश्चंद्र का नाम उल्लेखनीय है। संस्कृत-साहित्य में हरिश्चंद्र नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। एक हरिश्चंद्र का उल्लेख बाण के 'हर्षचरित' में हुआ है[4]; किन्तु ये काव्यकार न होकर गद्यकार थे। एक हरिश्चंद्र ने 'जीवनंधरचंपू' की रचना नवम शताब्दी में

---

१. कल्हण : राजतरंगिणी ४।७०५ २. दशावतारचरित १०।४१

३. क्षेमेन्द्र : बृहत्कथामंजरी १९।३७

४. बाण : पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥—हर्षचरित

की थी। एक तीसरे हरिश्चंद्र 'चरकसंहिता' नामक आयुर्वेद ग्रन्थ के टीकाकार या संस्कर्ता हुए, जो कि साहसांक नामक राजा के प्रधान वैद्य के रूप में विख्यात थे। 'कर्पूरमंजरी' में भी एक हरिश्चंद्र का नाम आता है।[1] एक हरिश्चंद्र वे हुए, जिनका उल्लेख वाक्पतिराज (८०० ई०) ने भास, कालिदास और सुबंधु की कोटि में किया है।[2] कुछ विद्वान् प्रयाग की अशोक-प्रशस्ति के लेखक हरिषेण से हरिश्चंद्र की एकता स्थापित करते हैं।[3] इन सभी हरिश्चंद्र नामधारी व्यक्तियों का हमारे अभिप्रेत जैन महाकवि हरिश्चंद्र से कोई समानता अथवा एकता का सम्बन्ध नहीं है।

जैन महाकवि हरिश्चंद्र के सम्बन्ध में इतना तो निश्चित-सा है कि ये नोमकवंशीय कायस्थ जाति के थे और इनके पिता का नाम आर्द्रदेव एवं माता का नाम रथ्यादेवी था।[4] इन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य लिखा, जिसका जैन-साहित्य में वही आदर है, जो संस्कृत में 'माघकाव्य' और 'नैषधकाव्य' का है।[5] जैन-साहित्य के प्रकांड विद्वान् श्री नाथूराम प्रेमी का कथन है कि 'धर्मशर्माभ्युदय' के कर्त्ता का नाम हरिश्चंद्र न होकर हरिचंद था। वे कायस्थ-कुलोत्पन्न थे। एवं उनके पिता आर्द्रदेव संभवतः राज्य-कर्मचारी थे।[6]

इनके इस महाकाव्य की एक हस्तलिखित प्रति १२८७ वि० की लिखी हुई है। वाग्भट कृत 'नेमिनिर्वाण' काव्य पर इसकी स्पष्ट छाप है।[7] इस दृष्टि से इतिहासकारों ने इनका स्थितिकाल ११वीं शताब्दी निर्धारित किया है।[8]

हेमचन्द्र

१२वीं शताब्दी में रचित कुछ कम प्रसिद्ध महाकाव्यों में हेमचन्द्र,

---

१. क्षेमेन्द्र : कर्पूरमंजरी—विदूषक :—उज्जुअं एव्व ता किं ण भणइ, अम्हाणं चेडिआ हरिअंद णंदिअंद कोट्टिसहालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकइ त्ति। (प्रथम जवनिका)

२. वाक्पतिराज : गौडवहो—भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।
सोबंधवे अ वंधम्मि हरियंदे अ आणंदो॥

३. इण्डियन कल्चर, वाल्यूम ८, पृ० २०८

४. उपाध्याय : संस्कृत सा० इ०, पृ० १४८

५. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५६६ (द्वितीय संस्करण १९५६)

६. वही, क्रमशः

७. जैनहितैषी (पत्रिका), भाग १५, अंक ३-४

८. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२९ (१९५६) तथा म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २, पृ० ३२९

माधवभट्ट, चण्डकवि और बिल्वमंगल आदि के ग्रन्थों की प्रासंगिक चर्चा उल्लेखनीय है। हेमचन्द्र (१०८८–११७२ ई०) अनहिलनाद (गुजरात) के राजा जयसिंह और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के आश्रित कवि थे। उसने 'द्वयाश्रयकाव्य'[1] और 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नामक दो महाकाव्यों की रचना की।[2]

चालुक्यनरेश सिद्धराज जयसिंह (१०९२–११४३ ई०) की आज्ञा पर हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्धहेम' का निर्माण किया था। डॉ० जैकोबी और डॉ० बूलर ने इनकी जीवनी लिखी है[3], जिससे विदित होता है कि हेमचन्द्र का जन्म धुंधक (अहमदाबाद) में १०८८ ई० में हुआ था। इनका जन्म नाम चाँगदेव था। जब ये १०९८ ई० में जैनसाधु हुए तब इनका नाम सोमदेव रखा गया और उसके बाद वि० ११६६ (११११ ई०) में इनका हेमचन्द्र नामकरण हुआ। ये वज्रशाखानुयायी देवचन्द्र के शिष्य थे। इनके 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' से प्रकट होता है कि ये चालुक्य कुमारपाल राजा के बड़े श्रद्धालु थे।[4] इस राजा का राज्यकाल ११९९–१२३० वि० (११४२–११७३ ई०) था।[5] इसी के समय हेमचन्द्र का स्वर्गवास हुआ।[6]

जैन आचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' एक विशालकाय ग्रन्थ है। उसका कथाशिल्प 'महाभारत' की तरह है। उसमें काव्यात्मकता भी अधिक है। हेमचन्द्र ने उसको महाकाव्य कहा है। उसकी संवादशैली, उसके लोकतत्त्वों और उसकी अवांतर कथाओं का समावेश उसको पौराणिक शैली के महाकाव्यों की कोटि में ले जाता है। याकोबी साहब ने भी उसको रामायण-महाभारत की शैली में रचे गये एक जैन महाकाव्य के रूप में स्वीकार किया है।[7]

---

१. संस्कृत सीरीज बंबई से सं० ६०, ६९, ७६ में प्रकाशित
२. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ११४–११५
३. ऍन्साइक्लोपीडिया ऑफ रीलीजन एथिक्स, जिल्द ६, पृ० ५९१
४. काव्यानुशासन (निर्णयसागर प्रेस का संस्करण) की भूमिका, पृ० २-३
५. वही, पृ० ३, ५
६. कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० १५७ (१९३८)
७. डॉ० जेकोबी : स्थविरावलीचरित, इन्ट्रोडक्शन, पृ० २४ (दूसरा संस्करण)

माधव भट्ट

कविराज माधवभट्ट अवंतपुरी के कदंब राजा कामदेव (११८२-११९७ ई०) के सभा-पंडित थे। 'कविराज' इनकी राजसभा से उपलब्ध संमान-सूचक ख्यात थी। इन्होंने 'रामायण' और 'महाभारत' के कथानक के आधार पर एक १३ सर्गों का महाकाव्य 'राघवपाण्डवीय' लिखा, जिसकी परंपरा में आगे हरिदत्त सूरि कृत 'राघवनैषधीय', चिदंबर कृत 'राघव-पाण्डवीययादवीय', विद्यामाधव कृत 'पार्वती-रुक्मिणीय' और वेंकटाध्वरि कृत 'यादवराघवीय' आदि अनेक ग्रंथों का निर्माण हुआ।[1] 'पारिजातहरण' नामक एक दूसरे महाकाव्य का निर्णायक भी माधवभट्ट को बताया गया है।[2]

चण्ड कवि : बिल्वमंगल

१२वीं शताब्दी में ही चण्ड कवि ने 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य लिखा, जो कि केवल आठ सर्गों में ही अपूर्ण उपलब्ध होता है।[3] जोनराज ने इस ग्रंथ पर टीका लिखी है। १२वीं शताब्दी में वर्तमान मालाबार-वास्तव्य श्रीकृष्ण लीलांशुक या बिल्वमंगल नामक कवि ने दर्शन, व्याकरण, काव्य, काव्यशास्त्र आदि विषयों पर श्रेष्ठतम कृतियों का निर्माण किया। इन्होंने १२ सर्गों की एक महाकाव्य कृति 'गोविन्दाभिनिवेश' या 'श्रीचिह्न-काव्य' की भी रचना की थी।[4]

वाग्भट

१२वीं शताब्दी में ही जैनकवि वाग्भट ने 'नेमिनिर्माण' महाकाव्य लिखा। वाग्भट नामक चार ग्रन्थकारों का उल्लेख श्रद्धेय श्री नाथूराम जी प्रेमी ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में किया है।[5] ये चार वाग्भट हैं क्रमशः 'अष्टांगहृदय' का कर्त्ता, 'नेमिनिर्वाण' का कर्त्ता, 'वाग्भटालंकार' का कर्त्ता और 'काव्यानुशासन' का कर्त्ता। जैन कवियों के प्रसंग में इन चारों का उल्लेख किया जा चुका है।

---

१. चन्द्रशेखर पांडेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ११४-११५
२. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ११५
३. म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा अजमेर से प्रकाशित
४. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ११३
५. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२९ (१९५६)

'नेमिनिर्वाण' महाकाव्य के १५ सर्गों में जैन तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ का चरित वर्णित है। इस ग्रंथ की कुछ हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिका से विदित होता है कि उसके कर्ता वाग्भट प्राग्वाट या परिवाटवंशीय छाहयु (या बाहड़) के पुत्र थे और अहिच्छत्रपुर में पैदा हुए थे।[१] यह अहिच्छत्रपुर वर्तमान नागौद का ही पुराना नाम था।[२] 'वाग्भटालंकार' में 'नेमिनिर्वाण' के कई उद्धरण हैं। 'वाग्भटालंकार' की रचना ११७९ वि० में हो चुकी थी। इसलिए 'नेमिनिर्वाण' के रचयिता वाग्भट का समय इससे पूर्व होना चाहिए। कुछ इतिहासकारों ने इन्हें हेमचन्द्र का समकालीन माधुर्य एवं प्रसादगुणोपेत कविता का रचयिता बताया है।[3] किन्तु निश्चित रूप से इनकी पूर्वावधि निर्धारित करने के लिए कोई पुष्ट प्रमाण हमारे पास नहीं है। इस महाकाव्य पर भट्टारक ज्ञानभूषण की एक 'पंजिका' टीका भी उपलब्ध है।

श्रीर्षह

१२वीं शताब्दी में लिखे गए महाकाव्यों की परंपरा का अवसान श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' में जाकर होता है। इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अंत में उसके रचयिता ने आत्मपरिचय-सम्बन्धी जो विवरण दिया है, उससे विदित होता है कि श्री हर्ष के पिता का नाम श्रीहीर और माता का नाम मामल्लदेवी था।[४] इनके काव्य से यह भी विदित होता है कि ये कान्यकुब्जेश्वर के सभा-पंडित और अतिशय संमान के पात्र थे, क्योंकि महाराज कान्यकुब्जेश्वर प्रतिदिन इन्हें अपने हाथ से आसन और पान के दो बीड़े दिया करते थे।[५]

श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र और जयचन्द्र, दोनों के संमानित राजकवि रहे हैं। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि इन्हें प्रतिदिन जो

---

१. जैन हितैषी, भाग ११, अंक ७-८ तथा भाग १५, अंक ३-४

२. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २, पृ० ३२९

३. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १४६

४. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतं।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥—नैषधचरित, प्रतिसंगति

५. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्॥—नैषधचरित २२।१५३

संमान दिया जाता था उसके पात्र विजयचन्द्र थे[1]; किन्तु जयचन्द्र के सा
इनका घनिष्ठ एवं चिरंतन साथ होने के कारण इस संमान का सम्बन्ध
विजयचन्द्र से न होकर जयचन्द्र के साथ ठीक बैठता है।[2] ये कान्यकुब्जेश्व
जयचन्द्र वही इतिहासप्रसिद्ध जयचन्द्र थे, जिनकी पुत्री संयोगिता क
अपहरण वीरवर पृथ्वीराज ने किया था और जिसकी यशस्वी कथा के परि
चायक 'पृथ्वीराजविजय' ग्रंथ का उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं
जयचन्द्र का स्थितिकाल (११५६–११९३ ई०) ही श्रीहर्ष का स्थितिकाल है।

ऐसी अनुश्रुति है कि अपने पिता के विजेता 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के
रचयिता सुप्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य को श्रीहर्ष ने शास्त्रार्थ में पराजित
कर पिता के अपमान का बदला लिया था। इनके महाकाव्य में इस
विषय का संकेत मिलता है।[3] ऐसी भी एक अनुश्रुति है कि अलंकारशास्त्री
मम्मट इनके मामा थे।

श्रीहर्ष के महाकाव्य का नाम 'नैषधचरित' है। इस महाकाव्य के
अध्ययन से विदित होता है कि विभिन्न विषयों पर श्रीहर्ष ने आठ ग्रंथ
और लिखे, जिनके नाम हैं : 'स्थैर्यविचारप्रकरण'[4], 'विजयप्रशस्ति'[5], 'खंडन
खंडखाद्य'[6], 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति'[7], 'अर्णववर्णन'[8], 'छिन्दप्रशस्ति'[9], 'शिवभक्ति
सिद्धि'[10] और 'नवसाहसांकचरित-चम्पू'[11]।

'नैषधचरित' श्रीहर्ष के उत्कृष्ट काव्य-कौशल का ज्वलंत प्रमाण है।
माघ के बाद रचे गए ग्रन्थों की दो श्रेणियाँ हैं : चित्रकाव्यों की प्रथम श्रेणी
और चरितकाव्यों की द्वितीय श्रेणी। चित्रकाव्यों की प्रथम श्रेणी में 'नलोदय',
'युधिष्ठिरविजय', 'राघवपाण्डवीय' और 'राघवयादवीय' प्रमुख हैं; इसी प्रकार
चरितकाव्यों की द्वितीय श्रेणी में वाक्पतिराज का 'गउडवहो', मंखक का
'श्रीकंठचरित', बिल्हण का 'विक्रमांगदेवचरित' और पद्मगुप्त का 'नवसाहसांक-
चरित' उल्लेखनीय हैं। महाकवि श्रीहर्ष का 'नैषधचरित' द्वितीय श्रेणी के
चरितकाव्यों में शीर्षस्थानीय ग्रन्थ है।

शृंगार की विभिन्न दशाओं के चित्रण में श्रीहर्ष की कवित्व-प्रतिभा

१. डॉ० व्यास : संस्कृत कवि-दर्शन २. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा
३. श्रीहर्ष : नैषधचरित १४।८८, ८९, ९० ४. वही ४
५. वही ५।१३८ ६. वही ६।११३ ७. वही ७।११०
८. वही ९।१६० ९. वही १७।२२२ १०. वही १८।१५४
११. वही २२।१५१

चरमसीमा को स्पर्श करती है। उनके काव्ययश का अवलोकन कुछ संकुचित दृष्टि के आलोचकों से न हो सका। इसी प्रकार उनकी उत्कट श्रृंगार-भावना को लक्ष्य करके कुछ विद्वानों ने उसमें अश्लीलता का दोषारोपण किया।[1] किन्तु उनके काव्य को पढ़कर उन पर लगाई गई ये आपत्तियाँ निरर्थक लगाई गई प्रतीत होती हैं।

श्रीहर्ष की पद-रचना, भाव-विन्यास, कल्पना-चातुर्य और प्रकृति-पर्यवेक्षण आदि सभी विषयों में एक मौलिक सूझ-बूझ दिखाई देती है। प्रणय पक्ष का ऐसा समर्थ, संयत और हृदयग्राही चित्रण थोड़े ही महाकाव्यकार कर सकने में सफलता प्राप्त कर सके हैं। इस महाकाव्य को, उसकी अनेक विशेषताओं के कारण, 'बृहत्त्रयी' में रखा गया है। 'बृहत्त्रयी' में रखा गया पहिला ग्रन्थ भारवि का 'किरातार्जुनीय', दूसरा माघ का 'शिशुपालवध' और तीसरा श्रीहर्ष का 'नैषधचरित' है।

ह्रास की स्थितियाँ

संस्कृत-साहित्य की सुदीर्घ महाकाव्य-परंपरा को शैली, स्वरूप और समय की दृष्टि से हम प्रधान तीन युगों में विभाजित कर सकते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों का पहिला उद्भव-युग कालिदास के आगमन से पहिले ही पूरा हो जाता है, जिसकी दिशाओं और संभावनाओं की पूर्णाहुति 'रामायण' तथा 'महाभारत' में पर्यवसित है। महाकवि कालिदास के उदय के साथ-साथ संस्कृत महाकाव्यों का दूसरा अभ्युत्थान युग आरम्भ होता है, जिसकी सीमा श्रीहर्ष तक पहुँचती है। श्रीहर्ष से पूर्व और कालिदास के बाद के ये द्वादश शतक समग्र संस्कृत-साहित्य की अभूतपूर्व एवं आशातीत उन्नति के परिचायक शतक हैं।

महाकाव्यों के निर्माण की दृष्टि से इन द्वादश शतकों के बीच यद्यपि ऐसी कृतियाँ भी रची गईं, जिनका मूल्य-महत्त्व बहुत ही न्यून है; किन्तु उन बहुसंख्यक उच्चतम कृतियों की गणना के बीच इन अहेतुक कृतियों की छोटाइयाँ सर्वथा छिप जाती हैं। इस दृष्टि से यह युग अच्छी कृतियों के ही निर्माण का युग माना जाता है।

संस्कृत के इतिहासकार विद्वानों एवं अध्येताओं ने इस युग का 'मध्यकाल' के नाम से विशेष गुण-गान किया है। संस्कृत-साहित्य को इस

---

१. कीथ : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १४० तथा दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३०

सुंदर युग की देन का श्रेय कदाचित् तत्कालीन भारत की राज-काज-व्यवस्था को दिया जा सकता है। विशेषतया कुषाणयुग और गुप्तयुग के विवेकशील विद्याप्रेमी राजाओं की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से इस बीच, संस्कृत का इतना समृद्ध वाङ्मय निर्मित होकर हमें उपलब्ध हुआ है। साहित्य के अतिरिक्त कला-कौशल, संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार और धर्म-कर्म के क्षेत्र में भी भारत का यह समय बहुत उन्नत रहा है।

महाकाव्यों के क्षेत्र में श्रीहर्ष के बाद उतने ऊँचे दृष्टिकोण नहीं दिखाई देते हैं, या बहुत ही कम मात्रा में दिखाई देते हैं, जितने कि हम इससे पूर्व देख चुके हैं। संस्कृत के महाकाव्यकारों में जो स्फूर्ति, आत्मप्रेरणा, अतुल उत्साह और गति-गवेषणा की, तीव्रता श्रीहर्ष के समय तक बनी रही, आगे वह क्रमशः क्षीण होती गई। उसके बाद भी महाकाव्यों का एक बहुत बड़े पैमाने पर निर्माण होता रहा; किन्तु उनमें उतनी सर्वांगीणता एवं उतना स्वाभाविक प्रवाह न आ सका। महाकाव्यों की इस परम्परा की पर्यवसिति सत्रहवीं शताब्दी में जाकर होती है।

महाकाव्यों की इस परम्परा का विकास लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक बना रहा। उसके बाद भी दक्षिण, उत्तर और पश्चिम (काश्मीर) में कुछ विद्वानों का ध्यान इस दिशा में रहा अवश्य, और आज भी जो सर्वथा विलुप्त नहीं हो पाया है; किन्तु १३वीं शताब्दी के बाद इस क्षेत्र में जो भारी गतिरोध और अवनति का सिलसिला आना शुरू हुआ, वह दूर होने की बजाय बढ़ता ही गया।

तेरहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक के महाकाव्य-निर्माण का अध्ययन करते हुए हम देखेंगे कि उसको बनाये रखने का अधिकांश श्रेय दक्षिण के राजपरिवारों और काश्मीर के पण्डितों को है। इस बीच रची गई ये कृतियाँ बहुत सारी तो हस्तलिखित पोथियों के रूप में विभिन्न ग्रन्थागारों में सुरक्षित हैं, जिनके सर्वांगीण अध्ययन की न तो सुविधा है और न ही उतने साधन उपलब्ध हैं। कुछ कृतियाँ केवल नाममात्र को ही सूचीग्रन्थों में दिखाई देती हैं, और जो थोड़ी-सी प्रकाशित भी हो चुकी हैं, उनका प्रचार-प्रसार सभी लोगों तक नहीं है। इसलिए बहुत सम्भव है कि, देखी न जाने के कारण, इस बीच की कुछ कृतियाँ भ्रांति-जनक हों; फिर भी उनके सम्बन्ध में इतिहासकार विद्वानों ने जो सूचनाएँ संकलित की हैं, अपनी बुद्धि से पूरा परीक्षण करने पर मैं उनका सिलसिला इस प्रकार बाँध कर क्रमशः यहाँ दे रहा हूँ।

१३वीं शताब्दी के महाकाव्य

पुरी के कृष्णानन्द ने १५ सर्गों में 'सहृदयानन्द', काश्मीरदेशीय कवि जयरथ ने ३२ प्रकाशों (सर्गों) में 'हरचरितचिन्तामणि', जैनकवि अभयदेव ने १९सर्गों में 'जयन्तविजय', अमरसिंह ने ११ सर्गों में 'सुकृतसंकीर्तन' (१२२२ ई०) की रचना कर १३वीं शताब्दी में महाकाव्यों की परम्परा का प्रवर्तन किया। अमरसिंह, राजा वीरधवल (१२२० ई०) के मन्त्री वस्तुपाल का आश्रित कवि था। मन्त्री वस्तुपाल बड़े ही विद्वत्प्रेमी व्यक्ति थे। उन्हीं के दूसरे प्रशंसक कवि श्री बालचन्द्र सूरि ने १४ सर्गों का 'वसन्तविलास' (१२४० ई०) महाकाव्य लिखा। राजा वीरधवल के आश्रित कविद्वय में सोमेश्वर ने तो १५ सर्गों में 'सुरथोत्सव' और अमरचन्द्र (अमरसिंह) ने ४४ सर्गों में 'बालभारत' नामक दो महाकाव्यों की रचना की।

इसी बीच चन्द्रप्रभ सूरि ने १८ सर्गों में 'पाण्डवचरित' (१२५० ई०), वीरनन्दि ने १८ सर्गों में 'चन्द्रप्रभचरित', सर्वानन्द ने ७ सर्गों में 'जादूगरचरित' आदि महाकाव्य लिखे। इस अन्तिम महाकाव्य में १२५६ ई० के दुर्भिक्ष में गुजरातवासी जगद् नामक जैनमुनि द्वारा की गई अकाल-पीड़ितों की सहायता का विस्तार से वर्णन है।

१४वीं शताब्दी के महाकाव्य

चौहानवंशीय राजा हम्मीर की प्रशंसा में नयनचन्द्र (१३१० ई०) ने १७ सर्गों में 'हम्मीरमहाकाव्य', मालाबार निवासी वासुदेव कवि ने लगभग २१ काव्य लिखे, जिनमें 'युधिष्ठिरविजय' और 'नलोदय' प्रसिद्ध हैं। वारंगल के राजा प्रतापरुद्रदेव (१२९४–१३३५ ई०) के आश्रित कवि अगस्त्य ने लगभग ७४ काव्यकृतियों का निर्माण किया था, जिनमें से आज कुछ ही उपलब्ध हैं। इनका रचा हुआ २० सर्गों का 'बालभारत' नामक महाकाव्य अधिक प्रसिद्ध है। दाक्षिणात्य कवि वेंकटनाथ वेदांतदेशिक (१२९८–१३६९ ई०) ने संस्कृत और तामिल भाषा में विभिन्न विषयों पर लगभग १२० ग्रन्थ लिखे थे। वह रांची का निवासी था। रांची उन दिनों विद्वज्जनों की प्रसिद्ध नगरी मानी जाती थी। वेंकटनाथ ने २४ सर्गों का 'यादवाभ्युदय' महाकाव्य लिखा, जिस पर अप्पय दीक्षित (१६०० ई०) ने बाद में एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी।

विजयनगर के बुक्क प्रथम (१३४३–१३७९ ई०) के द्वितीय पुत्र कम्पन

की विदुषी पत्नी गंगादेवी कृत एक अपूर्ण महाकाव्य 'मथुराविजय' या 'वीरकंपरायचरित' उपलब्ध है। गंगादेवी का समय १३८० ई० था। इसी प्रकार साकल्यमल्ल या मल्लाचार्य ने भी १४वीं श० में रामकाव्य की परम्परा में 'उदारराघव' नामक एक १८ सर्गों की महाकाव्य लिखा, जिसके कि सम्प्रति नौ ही सर्ग उपलब्ध हैं। इसका कथानक 'रामायण' से उद्धृत है।[1]

१५वीं शताब्दी के महाकाव्य[1]

वत्सगोत्री कोमटि यज्वन् का पुत्र विद्यारण्य का शिष्य और अन्दकी के राजा पेद्दकोमटि वेमभूपाल (१४०३-१४२० ई०) के आश्रित कवि वामनभट्ट वाण ने ३० सर्गों में 'रघुनाथचरित' और ८ सर्गों का 'नलाभ्युदय', दो महाकाव्य लिखे। ये वामनभट्ट वाण, गद्यकार वाणभट्ट से सर्वथा पृथक् व्यक्ति हुए, कुछ इतिहासकारों की भ्रांतियों से जिनको अभिन्न रूप में पहिचाना गया था।

सुप्रसिद्ध काश्मीरी विद्वान् कल्हण की 'राजतरंगिणी' की परम्परा में जोनराज (१४५० ई०) और जोनराज के शिष्य श्रीवर ने 'जैनराजतरंगिणी', तथा प्राज्यभट्ट ने 'राजाबलिपताका' आदि ग्रन्थों को लिखकर इतिहासपरक महाकाव्यों की निर्माण-दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

विजयनगर के राजाओं का आश्रित कवि राजनाथ द्वितीय 'डिंडिम कवि सार्वभौम' की उपाधि से अपने समय का स्वनामधन्य विद्वान् था। विजयनगर के राजाओं का वीर सेनापति साल्व नरसिंह का यह कवि परम मित्र था। इस सेनापति की प्रशंसा में राजनाथ ने १४३० ई० के लगभग १३ सर्गों की एक महाकाव्य कृति 'सालवाभ्युदय' के नाम से लिख कर अपने मैत्रीभाव एवं गुणग्राहकता का परिचय दिया।

१६वीं शताब्दी के महाकाव्य

विजयनगर के कवि राजनाथ द्वितीय के पौत्र राजनाथ तृतीय ने १५४० ई० के लगभग २० सर्गों में 'अच्युतरायाभ्युदय' नामक अपना महाकाव्य विजयनगर के कृष्णदेव के भाई राजा अच्युतराय (१५३०-१५४२ ई०) की प्रशंसा में लिखा। मालावार के निवासी उत्प्रेक्षावल्लभ ने भी ३९ पद्धति (अध्याय) का एक अपूर्ण 'भिक्षाटनकाव्य' नामक महाकाव्य लिखा। इसका संभावित स्थितिकाल सोलहवीं श० है। इसी समय मयूरगिरि

१. फादर कामिल बुल्के : रामकथा : उद्भव और विकास, पृ० १८५ (१९५०)

के राजा नारायण शाह के आश्रित रुद्र कवि ने १५९६ ई० में २० सर्गों का एक 'राष्ट्रौढवंश' नामक बृहत् महाकाव्य लिखा। महाकवि चन्द्रशेखर कृत २० सर्गों का महाकाव्य 'सुर्जनचरित', डॉ० चन्द्रधर शर्मा के संपादकत्व में प्रकाशित (१९५२ ई०) हो चुका है। यह महाकाव्य बूंदीनरेश राव सुर्जन पर आधारित है। चन्द्रशेखर उन्हीं के सभा-पण्डित थे।

१७वीं शताब्दी के महाकाव्य

१७वीं शताब्दी संस्कृत के महाकाव्य-निर्माण की अन्तिम शताब्दी है। इस शताब्दी में पूर्वापेक्षया अधिक कृतियाँ लिखी गई हैं। तंजोर-नरेश अच्युत (१५७७–१६४०ई०) के उत्तराधिकारी राजा रघुनाथ के प्रधान मन्त्री गोविन्द दीक्षित के पुत्र यज्ञनारायण दीक्षित ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में १६ सर्गों में 'रघुनाथभूपविजय' महाकाव्य लिखा, जिसका दूसरा नाम 'साहित्यरत्नाकर' भी है। रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित का पुत्र राजचूड़ामणि दीक्षित तंजोर के राजा रघुनाथ का आश्रित कवि था। उसने विभिन्न विषयों पर अनेक अच्छे ग्रन्थ लिखे, जिनमें १० सर्गों की कृति 'रुक्मिणी-कल्याण' अधिक प्रसिद्ध है। इन्हीं राजा रघुनाथ की विदुषी पत्नी रामभद्रांबा रानी ने अपने पति के पराक्रमों पर १२ सर्गों की एक कृति 'रघुनाथाभ्युदय' नाम से लिखी। इन राजा रघुनाथ को भी उच्चकोटि का कवि बताया जाता है। तंजोर का यह राजा बड़ा ही विद्वत्सेवी एवं विद्याप्रेमी राजा प्रतीत होता है। उसकी राजसभा में एक आशु कवयित्री मधुरवाणी भी रहा करती थी।

मधुरवाणी नामक एक दाक्षिणात्य कवयित्री एवं संगीतज्ञा के महाकाव्य-ग्रन्थ का पता हाल ही में लगा है। यह ग्रन्थ तैलंग भाषा में तालपत्रों पर लिखा हुआ बंगलोर में मिला है। ग्रन्थ का नाम है 'रामायण'। इसमें १४ सर्ग और १५०० श्लोक हैं।

ग्रन्थ की पुष्पिका से पता चलता है कि मधुरवाणी तंजोर के रघुनाथ नायक (१६१४–१६६२ ई०) के दरबार में रहती थी। उसीकी प्रेरणा से यह महाकाव्य लिखा गया। मधुरवाणी वीणा बजाने में अत्यन्त प्रवीण थी। संस्कृत और तैलंग भाषा में कविता करने की उसमें अद्भुत प्रतिभा विद्यमान थी। वह आशु-कवयित्री भी थी। वह आधी घड़ी में १०० श्लोक अर्थात् एक मिनट में आठ श्लोकों से अधिक रच लेती थी;।

'रामायण' का संस्कृतानुवाद करने के अतिरिक्त उसने 'कुमारसंभव' और 'नैषधचरित' का भी छायानुवाद किया था और चंपूविषयक एक गीति-ग्रंथ भी लिखा था। इन सभी विवरणों से विदित होता है कि मधुरवाणी १७वीं श० की विख्यात संगीतज्ञा एवं महाकवयित्री हुई।[1]

अप्पय दीक्षित का पौत्र नीलकंठ दीक्षित, मदुरा के राजा तिरुमल नायक का प्रधान सचिव, १६१३ ई० में पैदा हुआ था। वह गोविंद दीक्षित के पुत्र वेंकटेश्वर मखिन् का शिष्य था और उसने विभिन्न विषयों पर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण किया था। उसने २२ सर्गों का एक महाकाव्य 'शिवलीलावर्णन' भी लिखा। एक जैन दार्शनिक कवि मेघविजयगणि ने १६७१ ई० के लगभग ९ सर्गों का 'सप्तसंधान' महाकाव्य लिखा। इस विभिन्न विषयों के पांडित्यपूर्ण ग्रंथ में एक साथ प्रत्येक श्लोक के सात-सात अर्थ निकलते हैं, जो कि जैनों के तीर्थंकर महात्माओं : वृषभनाथ, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर स्वामी और कृष्ण तथा, बलदेव के जीवन-चरित्रों पर समान रूप से घटित होते हैं। इस काव्य की प्रेरणा धनंजय, कविराज आदि के द्विसंधान-पद्धति के काव्यों से उपलब्ध है। इन्हीं मुनीश्वर ने जैनदर्शन पर भी अच्छे ग्रंथ लिखे हैं। एक दूसरे जैन विद्वान् देवविमल-गणि ने १७ सर्गों में 'हीरसौभाग्य' नामक महाकाव्य १७०० ई० में लिखा था। शाहंशाह अकबर ने इन्हें 'जगद्गुरु' की उपाधि से संमानित किया था।

चक्र कवि ने १७वीं शताब्दी में वाल्मीकीय 'रामायण' के दाय पर एक ८ सर्गों की 'जानकीपरिणय' रचना लिखी।[2] इसी प्रकार अद्वैत नामक कविकृत १६०८ ई० की एक 'रामलिंगामृत' हस्तलिखित महाकाव्य कृति[3] और मोहन स्वामी कृत १७५० ई० की एक 'रामचरित' नामक हस्तलिखित महाकाव्य कृति का भी पता लगता है।[4]

इस प्रकार, वेदमंत्रों की कवित्व-भावना से लेकर 'रामायण' और 'महा-भारत' जैसे उपजीव्य ग्रंथ और उसके बाद महाकवि कालिदास का अभ्युत्थान युग; महाकाव्यों को परिणति की अंतिम परिस्थितियाँ, इन सब का अध्ययन कर, संस्कृत के महाकाव्यों की इतनी विस्तृत परंपरा का परिचय समाप्त

१. उमेश जोशी : भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० ३२८-३३०, मानसरोवर प्रकाशन महल, फीरोजाबाद १९५७

२. त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज में प्रकाशित

३. इंडिया आफिस कैटलाग, ग्रं० सं० ३९२० (लंदन) ४. वही, ग्रं० सं० ३९१७

होता है। इसके बाद आगे के दो परिशिष्टों में इस विषय की कुछ नवीन सूचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

परिशिष्ट १

ऐतिहासिक महाकाव्य

संस्कृत के महाकाव्यों की जिस परिणति-पर्यवसिति को सत्रहवीं शताब्दी तक हम पहिले दिखा चुके हैं, ऐतिहासिक महाकाव्यों की भी अंतिम सीमा वही है; किन्तु इतिहास-निर्माण की दृष्टि से और असाधारण दिलचस्प विषय होने के अभिप्राय से यहाँ हम उनके सम्बन्ध में, स्वतंत्र रूप से थोड़ा विचार करने की आवश्यकता समझ रहे हैं।

संस्कृत-साहित्य में जो भी ऐतिहासिक घटनाओं से संबद्ध ग्रंथ देखने को मिलते हैं, उन सब में पहिली बात तो यह दिखाई देती है कि उनमें ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा भाषा-सौष्ठव एवं वर्ण-वैचित्र्य को प्रमुखता दी गई है, जब कि होना इसके विपरीत चाहिए था। इन इतिहासप्रधान ग्रंथों को लिखने वाले अधिकांश ग्रंथकार राज्याश्रित थे, और उन सभी में कवित्व-भावना तथा अपने आश्रयदाता राजाओं को संतुष्ट करने की धारणा थी। जो बातें कि आश्रयदाता राजाओं को अरुचिक प्रतीत होती थीं, वे सत्य होने पर भी काट दी जाती थीं।

फिर भी, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में इतिहास-विषय की महत्ता को प्राचीनकाल से ही स्वीकार किया जाने लगा था। यास्क (७०० ई० पूर्व०) के 'निरुक्त' में ऋचाओं के स्पष्टीकरण के लिए ब्राह्मणग्रंथों तथा प्राचीन अनार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' कहकर उल्लेख किया गया है। 'निरुक्त' से यह भी विदित होता है कि वेदार्थ के निरूपण करनेवाले प्राचीनतम वेदव्याख्याकारों में एक संप्रदाय इतिहासकारों का भी था, जिसको कि 'इति ऐतिहासिकाः' कहकर बार-बार स्मरण किया गया है। 'निरुक्त' में भी पुराण और इतिहास को वेदों के समकक्ष माना गया है।[1]

देवर्षि नारद जब सनत्कुमार के पास ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गए तो सनत्कुमार के पूछे जाने पर नारद ने अपनी अधीत विद्याओं में इतिहास-पुराण को पंचम वेद के रूप बताया है।[2] इतिहास की आवश्यकता

१. यास्क : निरुक्त ४।६ २. छांदोग्य उपनिषद् ७।१

और उसके सर्वतोभावी प्रभाव का उल्लेख करते हुए आचार्य कौटिल्य (४०० ई० पू०) ने कहा कि अथर्ववेद और इतिहास |दोनों वेद हैं। इतिहास के अंतर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र, सभी का समावेश हो जाता है।[1] आचार्य कौटिल्य के इस मन्तव्य से पुराण-व्यतिरिक्त इतिहास के स्वतंत्र अस्तित्व का भी पता चलता है।

संस्कृत-साहित्य में इतिहास-विषयक सामग्री प्रायः चार रूपों में उपलब्ध होती है। कुछ ग्रन्थकारों ने अपने पूर्ववर्ती ऐतिहासिक ग्रन्थों का उल्लेख किया है; किन्तु जो ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। दूसरी प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री हमें दानपत्रों, अन्तर्लेखों, प्रशस्तियों आदि में मिलती है। तीसरी प्रकार की सामग्री 'रामायण', 'महाभारत' एवं पुराण आदि महाग्रंथों में उपलब्ध होती है; और चौथी प्रकार की यथेष्ट सामग्री काव्यपरक इतिहास-ग्रन्थों में संकलित है। यहाँ हम केवल काव्यपरक इतिहास ग्रन्थों की ही चर्चा करेंगे।

ऐतिहासिक महाकाव्यों में पहिला नाम पालि के वंशग्रन्थों का आता है, जिनका पूरा हवाला आगे दिया गया है। पालि-साहित्य में वंशग्रन्थ की वही स्थिति है, संस्कृत-साहित्य में जो स्थिति अष्टादश महापुराणों तथा 'महाभारत' एवं 'राजतरंगिणी' आदि पौराणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों की है; बल्कि संस्कृत के इन पुराण-इतिहास की कोटि में परिगणित होने वाले विपुल काव्यग्रन्थों की अपेक्षा पालि के वंशग्रन्थों में जो सामग्री संगृहीत है, उसमें अधिक संगति, अधिक स्पष्टीकरण और अधिक सत्यता दिखाई देती है। ये वंशग्रन्थ संख्या में बारह हैं; किन्तु उनमें 'दीपवंश', 'महावंश', 'शासनवंश' और 'ग्रन्थवंश' सर्वोत्कृष्ट इतिहास हैं।

'दीपवंश' लंकाद्वीप की प्राचीन शासन-परम्परा को बताने वाला एकमात्र पहिला ग्रंथ है, वरन्, पालि-साहित्य और बौद्धधर्म की विकास-परम्परा का क्रमबद्ध इतिवृत्त जानने के लिए उसकी उपयोगिता स्वतःसिद्ध है। विद्वानों का मत है कि 'दीपवंश' में काव्यत्व गुण उतने नहीं हैं, जितना कि इतिहास

१. अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः।......पश्चिमं (अहर्भागं) इतिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः। —अर्थशास्त्र २।४

की दृष्टि से उसका महत्त्व है।[1] 'महावंश', 'दीपवंश' के ही दाय को लेकर रचा गया; किन्तु उसमें अपेक्षया काव्यत्व गुण अधिक हैं। उसको एक विशुद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य और परवर्ती काव्य-महाकाव्यों का जनक भी कहा जा सकता है। 'शासनवंश' में बुद्ध-परिनिर्वाण से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के बौद्धधर्म के विकास की क्रमबद्ध स्थितियों का इतिहास वर्णित है। इसी प्रकार 'ग्रन्थवंश' पालि-साहित्य के इतिहासकार एवं पालि-साहित्य के अध्येता के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।[2]

वाणभट्ट (७वीं श०) का 'हर्षचरित' इस विषय का उद्धरणीय ग्रन्थ है, जिसमें एक ओर तो वाण और हर्ष की जीवन-घटनाएँ और दूसरी ओर तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों, रीति-रिवाजों और राज-काज-सम्बन्धी व्यवस्थाओं का ऐतिहासिक ढङ्ग से चित्रण किया गया है। आठवीं श० में लिखा गया कनकसेन वादिराज का 'यशोधरचरित' ऐतिहासिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से अच्छा ग्रन्थ है।

सिन्धुराज के ज्येष्ठ भ्राता राजा मुंज (९७०) तथा राजा भोज (१००५–१०५४ ई०) के आश्रित कवि पद्मगुप्त या परिमल ने १८ सर्गों का महाकाव्य भोज की प्रशंसा में 'नवसाहसांकचरित' लिखा। ये कालिदास के प्रशंसक एवं उसकी शैली के अनुकर्ता होने के कारण 'परिमलकालिदास' के नाम से भी प्रख्यात हैं।[3] 'नवसाहसांकचरित' में काव्यशास्त्र के नियमों के साथ-साथ ऐतिहासिक विवरणों को प्रस्तुत करने का ढङ्ग बड़ा अच्छा और साथ ही सच्चाइयों के अधिक समीप है। इसी कोटि का १८ सर्गों में दूसरा महाकाव्य ज्येष्ठकलश के पुत्र विल्हण ने १०८५ ई० में 'विक्रमांगदेवचरित' नाम से लिखा। १०५० ई० में अध्ययन के बाद उसने अपनी जन्मभूमि काश्मीर छोड़ दी थी, और १०७० ई० के लगभग वह अनहिलनाद के चालुक्यराजा त्रैलोक्यमल का दरबारी पण्डित रहा। वहाँ से कुछ समय बाद वह कल्याण के विक्रमादित्य चतुर्थ का आश्रित हुआ। इन्हीं के चरित पर इस महाकाव्य का निर्माण हुआ है।[4] इस महाकाव्य में यद्यपि अनेक अनैतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं का भी समावेश है; फिर भी उसकी मुख्य घटनाएँ और उसके

---

१. मैक्समूलर : सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द १० (१) पृ० १५ (भूमिका); रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २७४; डॉ० गायगर : महावंश, पृ० १२-२०
२. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५७६–५८१
३. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ११२ ४. वही, पृ० ११२–१३

मुख्य चरित विशुद्ध ऐतिहासिक हैं :[1] इसी परम्परा में राजपुरी के राजा सोमपाल की प्रशंसा में लिखित काश्मीर के कवि जल्हण (१२वीं श०) के 'सोमपालविजय' का भी उल्लेखनीय स्थान है ।

ऐतिहासिक महाकाव्यों के क्षेत्र में लिखी हुई सर्वाधिक प्रौढ कृति कल्हण की 'राजतरंगिणी' है । अपनी इस महानतम कृति का निर्माण, कल्हण ने अपने पूर्ववर्ती ११ इतिहास-ग्रन्थों के परिशीलन के फलस्वरूप की थी । काश्मीर के राजा जयसिंह (११२७–११४९ ई०) के राज्यकाल में 'राजतरङ्गिणी' का निर्माण हुआ । 'राजतरंगिणी' विशुद्ध महाकाव्य है, अथवा जैसा कि उसके सम्बन्ध में सुना जाता है, कि वह विशुद्ध इतिहास-ग्रंथ है, इस सम्बन्ध में विद्वानों की अलग-अलग धारणाएँ हैं । 'राजतरङ्गिणी' यद्यपि प्रधानतया एक इतिहास है, तथापि उसकी काव्यात्मकता के लिए लेखक का इतना प्रयास है कि उसको, इस दृष्टि से, इतिहास की अपेक्षा महाकाव्य ही कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा ।[2]

कल्हण ने अपने इस नये ढङ्ग के महाग्रन्थ में अपने पूर्ववर्ती कुछ ऐसे इतिहासकारों तथा इतिहास-ग्रन्थों का भी हवाला दिया है, जो सम्प्रति वर्तमान नहीं हैं । उसका कहना है कि 'सुव्रत नामक एक कवि हुए, जिन्होंने अति विस्तृत इतिहास-ग्रन्थों का संक्षेप किया था । सुव्रत कवि प्रचुर पांडित्य वाले थे । उन्होंने यथार्थ वृत्त लिखे ; किन्तु उनकी पांडित्यपूर्ण और शुष्क वाणी का प्रभाव पाठकों पर न पड़ा । इसलिए उनकी कृतियाँ विलुप्त हो गईं ।[3]' आगे उन्होंने लिखा है कि 'कविवर क्षेमेंद्र ने सुव्रत कवि के बाद एक इतिहास-ग्रंथ लिखा, जिसका नाम था 'नृपावली' । यह ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से उत्तम रचना थी ; किन्तु ग्रन्थकर्ता की असावधानी के कारण उसका कोई भी अंश निर्दोष न बच सका ।'[4] इसी प्रसङ्ग में वह कुछ और भी इतिहासकारों एवं कवियों का परिचय देते हुए कहता है कि 'महाव्रती, अर्थात् पाशुपतव्रत-दीक्षायुक्त हेलाराज नामक ब्राह्मण कवि ने १२ हजार श्लोकों के 'पार्थिवावली' नामक ग्रन्थ की रचना की थी । उसी के आधार पर पद्ममिहिर कवि ने अपने ग्रन्थ में अशोक के पूर्वज लव आदि आठ राजाओं का उल्लेख किया था । इसी प्रकार छविल्लाकर नामक महाकवि ने अपने ग्रन्थ में उन

१. डॉ० बूलर : विक्रमांगदेवचरितम् , इंट्रोडक्शन, पृ० ३

२. एस० एन० दासगुप्ता और दे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वाल्यूम १, पृ० ३५९

३. कल्हण : राजतरंगिणी १।११, १२ ४. वही १।१३

५२ नरेशों में से अशोक से लेकर अभिमन्यु पर्यन्त पाँच राजाओं का उल्लेख किया'।[1]

महाकवि कल्हण के ये आँखों देखे वर्णन पूर्णतया सत्य हैं, और इस दृष्टि से यह मानने में तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं रह जाती है कि संस्कृत-साहित्य में इतिहास विषय पर ग्रंथ-निर्माण की परम्परा का अभाव था।

परिशिष्ट २

पालि

ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों पहिले भारतीय विचारों, संस्कारों, रीति-रिवाजों और मान-मर्यादाओं के क्षेत्र में एक जो महान् परिवर्तन का समय उपस्थित हुआ था, और जिसकी स्थिति भारत में ईसवी पश्चात् कई शताब्दियों तक बनी रही, उसी का सर्वांगीण इतिहास पालि वाङ्मय में सुरक्षित है। वास्तविकता तो यह है कि ई० पू० ५०० से लेकर ईसा के ५०० वर्ष तक की एक सहस्राब्दि में भारत की जो कुछ भी ज्ञान-संपदा है, उसकी प्रायः सारी-की-सारी विरासत पालि-साहित्य में सुरक्षित है।

आज जिस पालि भाषा के नाम से हम एक बृहद्-वाङ्मय का अर्थबोध करते हैं, १४वीं शताब्दि यावत् रचे गए किसी भी ग्रन्थ में उसको इतने व्यापक अर्थ का या इतनी व्यापक अर्थ वाली भाषा का पर्यायवाची नहीं माना गया है। एक सिंहली-परंपरा के अनुसार, जिसे आज हम 'पालि' कहते हैं, वह बुद्ध-युगीन भारत में बोली जाने वाली मगध की भाषा मागधी थी, जिसमें त्रिपिटक संकलित हैं। मध्य मण्डल में बोली जाने वाली जिस सभ्य भाषा 'मागधी' में भगवान् तथागत ने अपने अमृतोपम उपदेश दिये थे, जिसके रूप हमें अशोक की धर्म-लिपियों में भी देखने को मिलते हैं, उसी का विकसित रूप पालि है।

बौद्ध-साहित्य एवं पालि भाषा के पारंगत विद्वान् श्री भरतसिंह उपाध्याय ने विभिन्न विद्वानों के मतों एवं मान्यताओं का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि सिंहली परंपरा के अनुसार मगध की राजभाषा मागधी का ही

१. वही १।१६-२०

नाम पालि है, और इस दृष्टि से, 'पालि' का भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होना त्रिपिटक के संकलन (४०० ई० पूर्व०) काल से ही सिद्ध होता है।[1]

पालि भाषा का विकास प्राकृत बोलियों के रूप में हुआ। इन प्राकृत बोलियों की प्रमुख शाखाएँ हैं : मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची, और महाराष्ट्री। यद्यपि इन प्राकृत बोलियों का अस्तित्व पहिले से ही था; किन्तु उसका जो साहित्यिक विकास हुआ, उसकी सीमा पहिली शताब्दी ईसवी से पाँचवी-छठी शताब्दी ई० के बीच की है।

पालि-साहित्य के क्षेत्र में काव्यों-महाकाव्यों की उन्नत निर्माण-परंपरा का प्रायः अभाव ही समझना चाहिए। मानव-जीवन की व्यापक एवं गहन अनुभूतियों का पहिला दर्शन हमें त्रिपिटिकों में होता है। भगवान् के बुद्धत्व प्राप्त करने से लेकर परिनिर्वाण तक के बीच उन्होंने जो कुछ भी कहा, उसी का संग्रह-संकलन त्रिपिटिकों में है। त्रिपिटक : अर्थात् तीन पिटारियाँ; जिनका नाम है : 'सुत्तपिटक', 'विनयपिटक' और 'अभिधम्मपिटक'। इन त्रिपिटकों में संगृहीत भगवान् तथागत के ऊँचे विचारों में यद्यपि काव्य-विषय की सर्वांगीणताएँ समाविष्ट हैं; फिर भी संस्कृत में हम काव्यों का जिस दृष्टि से विश्लेषण एवं विवेचन पाते हैं, उस दृष्टि से त्रिपिटकों को हम काव्य न कह कर काव्यों के उपजीव्य, पालि-काव्यों के जन्मदाता कह सकते हैं; और लगभग, संस्कृत की काव्य-परंपरा को बढ़ाने एवं समृद्ध करने में जो कार्य 'महाभारत' ने किया है, त्रिपिटकों को भी उसी कोटि में रखा जा सकता है। 'रामायण' और 'महाभारत' की भाँति त्रिपिटकों के सुन्दर कथा-शिल्प एवं सूत्रात्मक विचारों को लेकर काव्यत्व की परिधियों में बाँध देने का यह कार्य दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक प्रचुरतया लंका में और गौणतया बरमा में होता रहा।[2]

विषय की दृष्टि से पालि में दो प्रकार के काव्यों का निर्माण हुआ : वर्णनात्मक और आख्यानात्मक। पहिली श्रेणी के काव्यों में कस्सप (काश्यप) का 'अनागतवंश'[3] (प्राग्बुद्धघोष),[4] भिक्षु कल्याणप्रिय कृत 'तेलकटाहगाथा'[5]

---

१. भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ९–२८, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००८ वि०

२. उपाध्याय : वही, पृ० ५८३

३. मिनएफ द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी लन्दन से प्रकाशित (१८८६)

४. रायस डेविड्स : विसुद्धिमग्ग, पृ० ७६१–७६४

५. ई० आर० गुणरत्न द्वारा संपादित एवं पालि टैक्स्ट सो० से प्रकाशित १८८४

(संभवतः ३०० ई० पू०), बुद्धरक्खि (बुद्धरक्षित) कृत 'जिनालंकार'[1] (१२ वीं श०), मेयंकर कृत 'जिनचरित',[2] स्थविर बुद्धप्रिय कृत 'पञ्जमधु'[3] (१३ वीं श०), सिंहली भिक्षु ब्रह्मचारी सोमपिय (सोमप्रिय) का 'सद्धम्मोपायन'[4] (१२ वीं, १३ वीं श०), अज्ञातकालीन एवं अज्ञातनामा लेखक का 'पंचपत्तिदीपन'[5] और बरमी भिक्षु मेघंकर कृत 'लोकप्पदीपसार' या 'लोकदीपसार', आदि का नाम उल्लेखनीय है।

और दूसरी श्रेणी के आख्यान काव्यों में :

प्रथम संस्कर्ता स्थविर रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) तथा द्वितीय संस्कर्ता वेदेह थेर (वैदेह स्थविर) कृत 'रसवाहिनी'[6] (१३वीं-१४वीं श०), बरमी भिक्षु शीलवंशकृत 'बुद्धालंकार'[7] (१५ वीं श०), बरमा में संकलित 'सहस्सवत्थुप्पकरण'[8] और बरमी राजा वोदोप या बुद्धप्रिय (१८ वीं श०) के आग्रह से लिखा गया गद्यग्रंथ 'राजाधिराजविलासिनी'[9] का नाम उल्लेखनीय है।

वंशग्रन्थ

श्री भरतसिंह उपाध्याय ने पालि-साहित्य के २५०० वर्षों के इतिहास को दो मोटे भागों में विभाजित किया है : १. पालि या पिटक-साहित्य और २. अनुपालि या अनुपिटक-साहित्य। उन्होंने पहले भाग की सीमा बुद्ध-निर्वाण-काल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व तक और दूसरे भाग की रचना प्रथम श० ई० पूर्व से आज तक मानी है।[10] वंशग्रन्थों की गणना अनुपिटक-साहित्य के अन्तर्गत है। पालि वंशग्रन्थों के निर्माण की परंपरा

१. जेम्स ग्रे द्वारा सपादित रोमन संस्करण लन्दन से प्रकाशित १८९४; गैले का सिंहली संस्करण १९०० में प्रकाशित

२. डब्ल्यू० एच० डी० राउज द्वारा संपादित एवं पालि टैक्स्ट सो० से प्रकाशित १९०४; चार्ल्स डुरोइसिल का संस्करण रंगून से प्रकाशित १९०६

३. गुणरत्न द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ पालि टै० सो० से १८८७ में तथा देवमित्र द्वारा संपादित कोलम्बो से १८८७ में प्रकाशित

४. ई० मौरिस द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ पालि टै० सो० से प्रकाशित

५. लियोन फियर द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ पालि टै० सो० से प्रकाशित १८८४

६. दो सिंहली संस्करण : कोलम्बो से १९०१ और १९१७ में प्रकाशित

७. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृ० ४३

८. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृ० १२८

९. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६००

१०. वही, पृ० ९१

का प्रवर्तन लगभग चौथी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध से प्रारम्भ होकर बीसवीं शताब्दी ई० तक पहुँचती है। ये वंशग्रन्थ पालि-साहित्य के ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। प्रमुख वंशग्रन्थों के नाम हैं : 'दीपवंश'[1] (३५२–४५२ ई० के बीच), 'महावंश'[2] (५००–६०० ई०), 'बुद्धघोसुप्पत्ति'[3] (१४वीं० श०), 'सद्धर्मसंग्रह'[4] (१४ वीं श०) 'महाबोधिवंश'[5] (११ वीं श०), 'थूपवंश'[6] (१३ वीं श०), 'अत्तनगलुविहारवंश'[7] (१३ वीं श०), 'दाठवंश'[8] (१३ वीं श०) 'छकेसधातुवंश'[9] (१९ वीं श०), 'सासनवंश'[10] (१९ वीं श०) और 'गन्वंश'[11] ग्रन्थवंश (१९ वीं श०)।

संस्कृत-महाकाव्यों की अपेक्षा पालि और प्राकृत के महाकाव्यों एवं काव्यों की परम्परा कुछ दूसरे ही ढङ्ग से आरम्भ हुई। जैन-बौद्धों के कथा-काव्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। बल्कि कथाकाव्यों के सर्वांगीण निर्माण के लिए पालि और प्राकृत का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए। 'थेरीगाथाएँ' और 'अट्ठकथाएँ' इसका उदाहरण हैं। पालि भाषा की इन 'अट्ठकथाओं' के आधार पर ही उक्त वंशग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन वंशग्रन्थों को विंटरनित्स ने ऐतिहासिक महाकाव्यों की श्रेणी में रखा है।[12]

---

१. ओल्डेनबर्ग द्वारा सपादित एवं पालि टै० सो० लन्दन से प्रकाशित १८७९
२. डॉ० गायगर द्वारा संपादित एवं पालि टै० सो० द्वारा प्रकाशित १९०८ तथा भदंत आनन्द कौसल्यायन द्वारा संपादित एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित १९४२
३. जेम्स ग्रे द्वारा संपादित एवं लन्दन से प्रकाशित १८९१
४. सदानंद द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ पा० टै० सो० से प्रकाशित १८९०
५. रोमन संस्करण : एस० ए० स्ट्रांग द्वारा संपादित एवं पा० टै० सो० से प्रकाशित १८९१ तथा सिंहली संस्करण : भिक्षु उपतिस्स द्वारा संपादित एवं कोलम्बो से प्रकाशित १८९१
६. डॉ० विमलाचरण लाहा द्वारा संपादित एवं पा० टै० सो० से प्रकाशित १९३५; सिंहली संस्करण : कोलम्बो से प्रकाशित १८९६
७. डॉ० गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० ४४
८. डॉ० रायस डेविड्स द्वारा संपादित एवं पा० टै० सो० से प्रकाशित १८८४; डॉ० विमलाचरण लाहा द्वारा संपादित, अनूदित एवं पंजाब संस्कृत सीरीज से प्रकाशित १९२५
९. मिनिएफ द्वारा संपादित एवं जर्नल ऑफ पा० टै० सो० से प्रकाशित १८८५
१०. मेबिल बोड द्वारा संपादित एवं पा० टै० सो० से प्रकाशित १८९७
११. मिनएफ द्वारा संपादित एवं ज० पा० टै० सो० से प्रकाशित १८८६
१२. विण्टरनिट्ज : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम २, पृ० २०८

प्राकृत : अपभ्रंश

पहिले दिखाया जा चुका है कि पालि भाषा का विकास प्राकृत बोलियों के रूप में हुआ। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषायुग को इतिहासकारों ने ५०० ई० पूर्व से १००० ई० पर्यन्त रखा है।[1] मध्ययुग में बोली जाने वाली जन-भाषाओं के भी तीन रूप थे :

१ पालि और अशोक की धर्मलिपियों का रूप : ५००–१०० ई० पूर्व
२ प्राकृत बोलियों का रूप : १००–५०० ई० तक
३ अपभ्रंश बोलियों का रूप : ५००–१००० ई० तक

अशोक के समय में जन-सामान्य की बोली के तीन रूप थे : पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। पूर्वी बोली से मागधी तथा अर्धमागधी, पश्चिमी बोली से शौरसेनी और पश्चिमोत्तरी बोली से पैशाची, महाराष्ट्री आदि प्राकृतों का विकास हुआ। साहित्य-निर्माण की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत का अपना प्रमुख स्थान है, प्राकृत के वैयाकरणों ने जिसको अधिक महत्त्व दिया है। भरत-मुनि के समय (२००–१०० ई० पूर्व) तक सात प्राकृतों का अस्तित्व प्रकाश में आ चुका था, जिनके नाम हैं : मागधी, आवंती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीक और दाक्षिणात्य। मागधी, अर्धमागधी शौरसेनी और पैशाची ही पालि के अधिक निकट हैं।[2]

प्राकृत भाषा में लिखे हुए दो प्रकार के महाकाव्य हमें देखने को मिलते हैं। पहिले तो जैनकाव्य और दूसरे जैनेतर काव्य। पालि भाषा के महाकाव्य, जिस प्रकार कथा-शैली से प्रभावित है, उसी प्रकार जैनों के महाकाव्य पुराण-शैली से प्रभावित हैं। किन्तु जैनेतर प्राकृत के महाकाव्य विशुद्ध शास्त्रीय शैली में लिखे गए। डॉ० शंभूनाथसिंह ने प्राकृत भाषा के काव्यों को तीन श्रेणियों में रखा है : पौराणिक, रोमांचक और शास्त्रीय।[3]

पौराणिक शैली के प्राकृत महाकाव्यों में शिवाचार्य की 'आराधना' का प्रमुख स्थान है। शिवाचार्य पायनीय सम्प्रदाय के विद्वान् थे। कदंब, राष्ट्रकूट और दूसरे राजवंशों ने इस धर्मसंघ के साधुओं को पर्याप्त दानादि देकर

---

१. उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ११-१२
२. वही, पृ० ३२–७० (पालि के साथ इन प्राकृत बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन)
३. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १६४

सम्मानित किया।[1] शिवाचार्य का यह ग्रंथ शौरसेनी प्राकृत में है और उसमें २१७० गाथाएँ उल्लिखित हैं। शिवाचार्य के इस गाथा-ग्रन्थ पर छठी शताब्दी ईसवी से लेकर १९वीं शताब्दी ई० तक संस्कृत और प्राकृत में कई टीकाएँ लिखी गईं।

दूसरा प्रमुख ग्रन्थ विमलसूरि का 'पउमचरिय'[2] है। इस ग्रन्थ की रचना विमलसूरि ने महावीर के निर्वाण सं० ५३० (६० वि०) में की थी। विमलसूरि द्वारा अपने ग्रंथ का यह रचनाकाल दिए जाने के बावजूद भी कुछ दिन पूर्व डॉ० हर्मन जैकोबी ने उसकी रचना चौथी श० ई० में ही स्वीकार की[3] और इसी प्रकार डॉ० कीथ[4] तथा डॉ० बुलनर[5] ने भी उसको तीसरी या चौथी श० का ग्रन्थ बताया; किन्तु दूसरे पाश्चात्य विद्वान् डॉ० विंटरनित्स, डॉ० लायमन और आधुनिक भारतीय विद्वान् श्री नाथूराम प्रेमी आदि उसको वीरनिर्वाण ५३० की ही रचना मानते हैं।[6]

इनके अतिरिक्त जैन-ग्रन्थागारों में हस्तलिखित पोथियों के रूप में सुरक्षित, इस श्रेणी के कुछ अप्रकाशित प्राकृत महाकाव्यों का उल्लेख डॉ० सिंह ने किया है। उनके नाम हैं: गुणपाल का 'जम्बूचरित', लक्ष्मणदेव का 'णेमिणाहचरिय', सोमप्रभ का 'सुमतिनाथचरित', देवचन्द्रसूरि का 'शांतनाथचरियम्', शीलाचार्य का 'महापुरिषचरिय', महेश्वरसूरि की 'पञ्चमीकहा', वर्धमानाचार्य का 'आदिनाथचरिय' और देवप्रभसूरि का 'पार्श्वनाथचरियम्' ये महाकाव्य आठवीं शताब्दी के बाद रचे गए बताये गए हैं।[7] गुणभद्र सूरि का 'महावीरचरियं' भी (११३९) पौराणिक शैली का महाकाव्य है।

रोमांचक शैली के प्राकृत महाकाव्यों में पादलिप्त की 'तरगवई', कौतूहल की 'लीलावती' तथा 'महासुन्दरी', भवदेवसूरि का 'पार्श्वनाथचरित', हरिश्चन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय', वाग्भट्ट का 'नेमिनिर्वाण', पादलिप्त की 'विलासवईकहा', उद्योतन की 'कुवलयमाला', हरिभद्र की 'समराइच्च', धनेश्वर का 'सुरसुंदरीचरिय', वर्धमान का 'मनोरमाचरिय', महेंद्रसूरि की 'नर्मदासुन्दरी कथा',

---

१. प्राचीन लेखमाला, भाग १, पृ० ३८-७२; जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ७४
२. जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित
३. एँन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, भाग ७, पृ० ४३७ तथा माडर्न रिव्यू, दिसं० १९५४
४. डॉ० कीथ: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर ५. डॉ० बुलनर: इंस्ट्रोडक्शन टु प्राकृत
६. नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ९१
७. डॉ० शंभूनाथ सिंह: हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १६५

गुणसमृद्धिमहत्तरा का 'अंजणा-सुंदरी-चरिय', किसी अज्ञातनामा कवि का 'कालकाचार्य-कथानक', धनेश्वर सूरि का 'सुरसुन्दरी-चरिय', सुमति गणि का 'जिणदत्ताख्यान', महेश्वरसूरि की 'पंचमीकहा' और वर्धमान का 'मनोरमा-चरित' उल्लेखनीय हैं।[१]

ऐतिहासिक शैली के प्रशस्तिकाव्यों या चरितकाव्यों के निर्माण में भी जैन ग्रन्थकारों का बड़ा उत्साह रहा है। इस श्रेणी के ग्रन्थों में रविषेण का 'पद्मचरित',[२] धनंजय का 'द्विसंधान'[३] (राघवपांडवीय), जटासिंहनंदि का 'वीरांगचरित', जिनसेन का 'हरिवंश',[४] हरिषेण का 'कथाकोश', जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' और 'आदिपुराण', देवसेन का 'सुलोचनाचरित'[५], स्वयंभु और उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभु की संयुक्त कृतियाँ 'पउमचरिउ'[६], 'रिट्ठणेमिचरिउ', 'पंचमिचरिउ' का उल्लेखनीय स्थान है।[७] ये दोनों पिता-पुत्र अपभ्रंश भाषा के पहिले महाकाव्यकार थे। इसके अतिरिक्त पुष्पदंत कृत 'णायकुमारचरिउ' तथा 'जसहरचरिउ', पद्मनंदि कृत 'जंबुदीवपण्णत्ति' और वादिराज, मल्लिषेण, शुभंकर, वादिचंद्र, श्रीभूषण एवं पद्मसुन्दर की कृतियाँ प्राकृत-अपभ्रंश के क्षेत्र में अव-लोकनीय हैं।

इन ऐतिहासिक शैली के चरितकाव्यों या प्रशस्तिकाव्यों के संबंध में दास-गुप्त और डे का कथन है कि इन ग्रंथकारों की दृष्टि परिपक्व ऐतिहासिक घटनाओं के चित्रण में समर्थ न होने के कारण और साथ ही अतिशयोक्ति-पूर्ण काल्पनिक घटनाओं तथा वंश-परंपराओं का चित्रण करने के हेतु ऐसे ग्रन्थ न तो उत्कृष्ट काव्य ही बन सके और न उत्कृष्ट इतिहास ही।[८]

प्राकृत भाषा के शास्त्रीय महाकाव्यों में प्रवरसेन का 'सेतुबंध' या 'रावणवहो', वाक्पतिराज का 'गउडवहो' प्रमुखता से उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः छठी-आठवीं श० में लिखे गए। प्रवरसेन, बाण का पूर्ववर्ती था[९] और दण्डी ने भी उसके ग्रंथ को 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्' कहकर सम्मानित

---

१. वही, पृ० १६८-१६९ २. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ८७
३. वही, पृ० १११-११२ ४. वही, पृ० ११४
५. अनेकांत (पत्रिका) वर्ष ७, अंक ११-१२
६. प्रो० मधुसूदन मोदी : भारतीय विद्या, अंक २-३
७. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १९९
८. डॉ० दासगुप्ता तथा डे० : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, वाल्यूम १, पृ० १४६
९. बाण : हर्षचरित, भूमिका, श्लोक १४

किया है।[1] कल्हण ने उसके सम्बन्ध में लिखा है कि 'परस्पर यथोचित स्वाभिमान रखने वाले तथा उदारहृदय विक्रमादित्य, मातृगुप्त और प्रवरसेन इन तीनों राजाओं की कथा त्रिपथगा गंगा के समान परम पावन है।'[2] इससे प्रतीत होता है कि प्रवरसेन काश्मीर का राजा था।

कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा (८ वीं श०) के आश्रित महाकवि वाक्पतिराज ने अपना उक्त प्राकृत महाकाव्य अपने आश्रयदाता के युद्ध-वर्णन पर लिखा है, जिनमें १२०८ गाथाएँ हैं।

× × × ×

इस प्रकार ऐतिहासिक महाकाव्यों और पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश के महाकाव्यों को साथ मिलाकर संस्कृत के महाकाव्यों का सर्वांगीण अध्ययन पूरा होता है।

संस्कृत-साहित्य का ऐतिहासिक विषय अत्यन्त ही विवाद और अनेक-मुखी सिद्धान्तों का विषय रहा है। संस्कृत के ग्रन्थों और ग्रंथकारों की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में आज भी विद्वानों में एकमत नहीं है। बहुत-सारी सामग्री मनगढ़ंत और अज्ञानतावश इतिहास-ग्रंथों में ऐसी भी देखने को मिलती है, जिसके वास्तविक मानमूल्य कुछ और ही थे। कदाचित् इतना स्पष्ट कर देना कोई अत्युक्ति एवं अनुचित न होगा कि अपेक्षया सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य से, संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में कुछ कहना अत्यन्त ही कठिन बात है। फिर उसके इतने घोर अतीत को सही रूप में खोज निकालना और भी असंभव है; यह असमर्थता उस दशा में और भी गंभीर हो जाती है, जब कि अभीष्ट विषय पर किसी भी प्रकार की प्रामाणिक सामग्री-सूचनाएँ सुरक्षित नहीं मिलती हैं।

---

१. दण्डी : अवन्तिसुन्दरी कथा, भूमिका, श्लोक १३

२. कल्हण : राजतरङ्गिणी ३।३२३

काव्य साहित्य की समृद्धि

काव्य साहित्य

संस्कृत का सम्पूर्ण काव्य-साहित्य, विषय और रचनाशैली के विकास की दृष्टि से तीन श्रेणियों या तीन युगों में अलग किया जा सकता है। पहिली श्रेणी के काव्य 'रामायण' और 'महाभारत' हैं। ये वैदिक और लौकिक संधिकाल के काव्य हैं। दूसरे युग का प्रतिनिधित्व अकेले महाकवि कालिदास की कृतियाँ करती हैं; और तीसरी श्रेणी में कालिदास के बाद की कृतियों को रखा जा सकता है। वाल्मीकि और कालिदास के बीच में भी अनेक कृतियाँ रची गई होंगी; किन्तु वे आज लुप्तप्राय हैं।

'रामायण' एक आदर्श श्रेणी का ग्रंथ है। उसमें धर्म, कर्म, समाज, संस्कृति, आर्ष और अनार्ष सभी विषयों का एक साथ समावेश है। इसी प्रकार 'महाभारत' भी भारतीय ज्ञान-विरासत का एक विश्वकोश है। वह प्रधानतया पौराणिक श्रेणी का ग्रन्थ है। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थराटों में बहुत-सी मौलिक भिन्नताएँ भी हैं; किन्तु परवर्ती काव्य-साहित्य के निर्माताओं ने जिस रूप में उनको अपनाया या उनसे दाय ग्रहण किया है, उस दृष्टि से दोनों ग्रंथों का एक जैसा मूल्य एवं एक जैसी श्रेणी है।

महाकवि कालिदास की रचनायें अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं; इसलिए भी कि परवर्ती काव्यकार प्रयत्न करने पर भी कालिदास के ग्रन्थों की पद्धति को पूर्णतया, उस निपुणता से न अपना सके। कालिदास की साहित्यिक योग्यता एवं श्रेष्ठता, भावों के व्यक्तीकरण में है। कालिदास का भाव-विधान बहुत ही चुस्त, संयत, मौलिक, समाकर्षक और स्थानोचित है। उन्होंने रचना-विधान पर उतना बल नहीं दिया।

किन्तु कालिदास के बाद के काव्यकारों में आत्माभिव्यंजन तथा रचना-शिल्प की बलवत्ता प्रतीत होती है। इस श्रेणी के आरंभिक कवियों की कृतियों में भाव एवं भाषा का एक जैसा समावेश है। काव्य में कलापक्ष की भूमिका का निर्माण यद्यपि कालिदास भी कर चुके थे। किन्तु इन बाद

के कवियों ने रचनात्मक शक्ति और आलंकारिक सौन्दर्य का समावेश जिस एकरूपता से अपने ग्रन्थों में किया है, वैसा कालिदास ने नहीं। इस श्रेणी के कुछ काव्यकारों ने तो काव्य के कलापक्ष को इतना महत्त्व दिया कि वे भावपक्ष को निगल ही गए।

भावपक्ष की जगह कलापक्ष की प्रधानता का कारण 'कामसूत्र' और काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का प्रभाव था। संस्कृत की कविता में अंधाधुंध पूर्वानुकरण और चमत्कृति की अधिकता का कारण भी यही रहा है। इस कोटि के काव्य-ग्रंथों में भाव-विन्यास की जगह भावुकता की प्रधानता, स्वाभाविक प्रवाह के स्थान पर कल्पना की उड़ान और अनुभूति के स्थान पर पांडित्य-प्रदर्शन की भावना की अधिकता है। कुछ महाकाव्यों में काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा निर्धारित नियमों को इस प्रकार ठूँसा गया कि उसकी रही-सही विशेषता भी जाती रही।[१]

द्विसंधान काव्यों की पद्धति ने कवियों को इतना प्रभावित किया कि अपने पांडित्य-प्रदर्शन के लिए वे एक श्लोक के सात-सात अर्थ करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि कवित्व-साधना की जगह बौद्धिक प्रदर्शन होने लगा और विचारों तथा भावों के चित्रण की दिशा में सर्वथा उपेक्षा की जाने लगी।[२]

फिर भी एक लंबी अवधि तक संस्कृत के ग्रंथकारों ने काव्य के अंग-उपांगों पर भरपूर कृतियाँ हमें दी हैं। काव्य का विषय बहुत व्यापक है। संस्कृत-साहित्य का लगभग अर्धांश एक ही काव्य-विषय के भीतर समा जाता है। खंडकाव्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य (संदेशकाव्य, स्तोत्रकाव्य) चम्पूकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, कथाकाव्य, सुभाषितकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य और नाटक आदि अनेक विषयों का एक ही काव्य-विषय के भीतर समावेश हो जाता है। इन सभी विषयों की अलग-अलग समीक्षा करने पर हमें विदित होता है कि रचना-विधान और शैली-सौन्दर्य की दृष्टि से उनमें असमानताएँ हैं। उन सब की अपनी स्वतंत्र दिशाएँ हैं, और उन सभी दिशाओं को पूर्णतया प्रकाशित करने में संस्कृत के ग्रंथकारों ने सर्वत्र ही

---

१. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १२४
२. ए० बी० कीथ : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १२७

अपने प्रौढ पांडित्य को दर्शाया है। नाटक और महाकाव्यों के प्रपूरक अंग होने पर भी उनको स्वतंत्र प्रकरणों में रखा गया है। उसका कारण, काव्य के अन्य अंगों की अपेक्षा उनके रचना-विधान का वैशिष्ट्य और उनका व्यापक प्रभाव है।

जिनकी कीर्तिकथा प्रस्तरखंडों पर उत्कीर्णित है

हरिषेण

संस्कृत-साहित्य के कुछ सिद्धहस्त कवियों की उज्ज्वल कथा पाषाण-खंडों पर उत्कीर्णित प्रशस्तियों एवं अन्तर्लेखों के रूप में जीवित है। ऐसे काव्यकारों में हरिषेण का नाम पहिले आता है। हरिषेण की जीवन-संबंधी जानकारी और उनकी असामान्य प्रतिभा का परिचय उनके द्वारा लिखी गई प्रयाग-प्रशस्ति पर उत्कीर्णित है। समुद्रगुप्त (चौथी शताब्दी) के आश्रित कवि हरिषेण ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में एक लेख ३४५ ई० में लिखा था, जो कि प्रयाग के अशोक-स्तंभ पर आज भी उत्कीर्णित है।[1]

इस प्रशस्ति को पढ़कर जहाँ एक ओर दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त के असाधारण व्यक्तित्व, उसके ऊर्जस्वी गुण-कर्म और उसके दूरदर्शी ज्ञान का पता चलता है; जहाँ एक ओर प्रशस्तिकार हरिषेण के प्रखर-पांडित्य एवं अद्भुत कवि-कर्म का परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी ओर उसके द्वारा संस्कृत की भव्य काव्य-परंपरा के दूरभूत इतिहास का भी पता चलता है। इसलिए इस प्रशस्ति का एक ओर तो साहित्यिक महत्त्व है और दूसरी ओर उसके द्वारा इतिहास की धुँधली दिशा भी प्रकाशित हो उठती है।

इस प्रस्तर-खंड या इन उत्कीर्णित अक्षरों में ही गुप्तकाल के इस प्रतिभाशाली प्रथम कवि की यत्किंचित् जीवनी भी सुरक्षित है। प्रशस्ति की पुष्पिका से विदित होता है कि हरिषेण के पिता ध्रुवभूति तत्कालीन गुप्तनरेश का महादंडनायक, खाद्यतपाकिक वंशोद्भव, विद्वत्सभा का अग्रणी विद्वान् और एक उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ एवं निपुण व्यवस्थापक था। हरिषेण भी अपने पिता की भाँति पहिले तो समुद्रगुप्त की राजसभा का शीर्षस्थ विद्वान् तथा साथ ही सांधिविग्रहिक (परराष्ट्रसचिव) और बाद

---

१. ए० ए० मेक्डोनेल : हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३१८

में कुमारादित्य (कलक्टर) से बढ़कर महादंडनायक के उच्च पद पर अधिष्ठित हुआ ।[1]

प्रयाग-प्रशस्ति हरिषेण की काव्य-प्रतिभा का उज्ज्वल उदाहरण है ।[2] प्रशस्ति का आरंभ स्रग्धरा छंद से होता है और दूसरे अनेक छंदों के अतिरिक्त उसका बड़ा हिस्सा गद्यात्मक है । उसका पद्यात्मक विधान महाकवि कालिदास की प्रतिभा को स्पर्श करता है और गद्यात्मक भाग अमरकीर्ति बाण की भारती का अनुगमन करता है ।

वीरसेन

गुप्तकाल के दूसरे काव्यकार वीरसेन हुए । ये कौशिकगोत्रीय थे और पाटलिपुत्र के निवासी थे । व्याकरण, न्याय, राजनीति और काव्य में इनका समान अधिकार था । इनका कुलनाम शाव था ।[3]

सम्राट् विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) की विद्वत्सभा के ये शृंगार थे और राजनीति के अद्भुत पण्डित होने के कारण राजकार्यों के संचालक तथा दिग्विजय के अवसर पर अपने आश्रयदाता के अंतरंग मित्र की भाँति संमानित थे । एक दिग्विजय-यात्रा में वह मालवा गया था और अपनी इस स्मृति को अमर बनाने के लिए उसने भगवान् शंकर की भक्ति में उदयगिरि की गुफा का निर्माण कराया था ।[4] सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उज्ज्वल गाथा से संबंधित उदयगिरि-गुफा में उत्कीर्णित अभिलेख संभवतः वीरसेन द्वारा ही विरचित था ।[5] इन्होंने स्वयं को कुलक्रमागत सचिव लिखा है और चंद्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१४ ई०) के सांधिविग्रहिक जैसे उच्चपद पर आसीन होने का उल्लेख किया है ।[6]

वत्सभट्टि

हरिषेण की भाँति वत्सभट्टि की कीर्तिकथा भी प्रस्तर-खंडों पर सुरक्षित रहकर हम तक पहुँची है । वत्सभट्टि की कवि-प्रतिभा की अमर यादगार

---

१. प्रयाग-प्रशस्ति २. गुप्ता इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ६

३. कौत्सशाव इति ख्यातः वीरसेनकुलाख्यया ।
शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः ॥

४. कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह समागतः ।
भक्त्या भगवतः शंभोः गुहामेतामकारयत् ॥

५. गुप्ता इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ३५ ६. अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसंधिविग्रहः

मन्दसौर-प्रशस्ति है, जो कि कुमारगुप्त के राज्यकाल (पाँचवीं शताब्दी) में मालव संवत् ५२९ में उत्कीर्णित हुई थी।

इस प्रशस्ति में मन्दसौर के रेशम-बुनकरों द्वारा मालव सं० ४९३ (४३७ ई०) में एक सूर्य-मन्दिर के निर्माण का हवाला दिया गया है, जिसका पुनरुद्धार मा० सं० ५२९ (४७३ ई०) में हुआ था। इस प्रशस्ति का वसंत और वर्षावर्णन बड़ा ही काव्यमय और आकर्षक है।

मंदसौरप्रशस्ति ४४ श्लोकों में है। आरंभ के श्लोकों में भगवान् भास्कर की स्तुति, तदनंतर दशपुर (मंदसौर) का हृदयग्राही वर्णन और बाद में वहाँ के तत्कालीन नरपति बंधुवर्मा (पाँचवीं शताब्दी) की प्रशस्ति वर्णित है।[1] काव्यशास्त्र की दृष्टि से कविता उच्चकोटि की ठहरती है। महाकवि कालिदास की भाषा और उनके भावों की प्रतिच्छाया प्रशस्ति पर स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

रविशांति

हरिषेण और वत्सभट्टि की भाँति रविशांति के काव्य-जीवन का इतिहास भी पाषाण-खंड पर उत्कीर्णित है। हरहा के अभिलेख से इनके जीवन-परिचय के संबंध में विदित होता है कि इनके पिता का नाम कुमारशांति और इनकी जन्मभूमि गर्गराटक थी। मौखरीनरेश ईशानवर्मा (छठी शताब्दी) के ये सभा-पंडित थे।[2] हरहा-लेख का रचनाकाल मालव संवत् ६११ (५५५ ई०) है। इसमें मौखरी-राजवंश का सुंदर काव्यमय और ऐतिहासिक वर्णन उल्लिखित है।

वासुल

वासुल पाँचवें कवि हैं, जिनका व्यक्तित्व मंदसौर-प्रशस्ति में अभिलिखित है। यह प्रशस्ति मालवनरेश यशोधर्मन् के यश-कथन में है। इनके पिता का नाम कक्क था। ये यशोधर्मन् की राजसभा के संमानित विद्वान् एवं उसके विश्वासपात्र थे। इनकी वर्णनशैली बड़ी रोचक और भाव बड़े कोमल हैं। इनका समय छठी शताब्दी का अन्तिम भाग है। इस प्रशस्ति को गोविन्द नामक किसी कारीगर ने उत्कीर्ण किया था।[3]

---

१. गुप्ता इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ८१

२. कुमारशान्तेः पुत्रेण गर्गराटकवासिना।
नृपानुरागात्पूर्वोऽयमकारि रविशांतिना॥ —हरहालेख, श्लोक २३

३. गुप्ता इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० १४६

काश्मीर के कुछ काव्यप्रेमी नरेश और राजकवि

श्री और सरस्वती का एक साथ उपभोग करने वाले गुप्तयुगीन कवि मातृगुप्त की यद्यपि संप्रति कोई कृति उपलब्ध नहीं है, तथापि उनके कवियश को प्रकट करने वाली उनकी स्फुट कविताएँ विभिन्न सुभाषितग्रंथों एवं सूक्ति-संग्रहों में बिखरी हुई मिलती हैं। ऐसी भी श्रुतिपरंपरा है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र पर एक पांडित्यपूर्ण टीका लिखी थी। इस विषय पर रचे गये उनके स्फुट श्लोकों को देखकर सहज ही उनकी उर्वर कविबुद्धि का परिचय मिल जाता है।

काश्मीर के नरपति पद पर प्रतिष्ठित होकर उन्होंने अपने श्रीयश और ज्ञानयश को समान रूप से फैलाया। उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य के अतिशय अनुराग के कारण मातृगुप्त को काश्मीर के निःसंतान राजा हिरण्य की गद्दी का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। महाकवि भर्तृमेंठ इन्हीं के परम मित्र एवं राजकवि थे। 'राजतरंगिणी' में विक्रमादित्य, मातृगुप्त और भर्तृमेंठ के संबंध में रोचक चर्चायें हैं।[1]

काश्मीर की पंडित-परंपरा और वहाँ के राजाओं की विद्वत्प्रेम-सम्बन्धी चर्चाएँ संस्कृत-साहित्य के ओर-छोर तक सर्वत्र बिखरी हुई हैं। 'हरविजय' महाकाव्य के रचयिता रत्नाकर महाकवि के आश्रयदाता चिप्पट जयापीड (७७९–८१३ ई०) एक ऐसे ही नरेश हुए, जिनके विद्या-व्यसन ने संस्कृत को अनेक कविरत्न प्रदान किए। कदाचित् जयापीड के व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त किए बिना संस्कृत का काव्य-वैभव अधूरा ही रह जाता है।

'राजतरंगिणी' में लिखा हुआ है कि जिस प्रकार गुप्त हुई वितस्ता नदी को कश्यप महर्षि ने फिर से काश्मीर में प्रकट किया था, उसी प्रकार संपूर्ण विद्याओं के उद्भवस्थान उस काश्मीर देश में विलुप्तप्राय विद्याओं को जयापीड ने पुनरुज्जीवित किया।[2] उसने अपने आश्रितों को शिक्षित करने के लिए बड़े-बड़े विद्वानों को नियुक्त किया। अपने देश में उच्छिन्न हुए व्याकरण महाभाष्य के पुनः प्रचार के लिए देश-देशान्तरों से प्रौढ़ वैयाकरणों को बुलाकर व्याकरणमहाभाष्य की ओर लोगों की प्रवृत्ति को जागृत किया। उसने क्षीरस्वामी नामक महावैयाकरण को अपने यहाँ आमंत्रित किया और स्वयं भी

१. राजतरंगिणी ३।१२५, १२८, १२९, १३०, १३१, १६०, १६६, १८९ आदि
२. वही ४।४८६

उसके निकट रहकर 'महाभाष्य' का विधिपूर्वक अध्ययन किया तथा राजसभा में उत्तमोत्तम विद्वानों का संग्रह कर उसे अत्यंन्त भव्य बना दिया। सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री 'काव्यालंकारसूत्र' के प्रणेता वामन उसके मंत्री थे।[1]

जयापीड बड़ा विद्वत्प्रिय था। राज-पदवी की अपेक्षा उसे पंडित-पद अधिक प्रिय था। उसने देश भर के सभी उच्चकोटि के विद्वानों को अपने यहाँ बुला लिया, जिससे अन्य राजधानियों में विद्वानों का दुर्भिक्ष हो गया था। उसके प्रधानमंत्री शुक्रदंत के यहाँ अन्नसत्र का अधिकारी थक्किय नामक महापण्डित था। राजा के यहाँ प्रतिदिन एक लाख दीनार पारिश्रमिक पाने वाला 'काव्यालंकारसारसंग्रह' का प्रणेता उद्भट भट्ट नामक महापंडित सभापति के पद को अलंकृत करता था।[2] उसके यहाँ 'कुट्टिनीमत' नामक कामशास्त्रीय ग्रंथ का निर्माता दामोदरगुप्त, शुक्राचार्य के समान प्रधान मंत्री का कार्य करता था।[3] इसी प्रकार मनोरथ, शंखदत्त, चरक और संधिमान नामक अनेक कवि उसके आश्रित थे।[4]

उसके संबंध में कहा गया है कि 'अत्यन्त कृतार्थ तथा सद्गुणों को बढ़ाने वाले श्री जयापीड़ महाराज एवं कृत्य प्रत्ययों का विधान करने वाले तथा गुण-वृद्धि के विधायक महामुनि पाणिनि में कौन सा अंतर है'?[5]

काश्मीर के राजा अवंतिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के आश्रित विद्वान् आनंदवर्धन का परिचय यथास्थान दिया जा चुका है। आनंदवर्धन अद्भुत काव्यशास्त्री होने के अतिरिक्त उच्चकोटि के कवि भी थे। उन्होंने 'अर्जुनचरित', 'विषमवाणलीला' और 'देवीशतक' नामक तीन काव्य भी लिखे।[6] फिर भी वे एक कवि की अपेक्षा एक काव्यशास्त्री के रूप में ही विश्रुत हैं।

स्फुट काव्यों की परंपरा

संस्कृत में स्फुट काव्यों या खंडकाव्यों के प्रणयन की परंपरा लगभग ७वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी अथवा उसके बाद तक बनी रही। इसी बीच की रची हुई अनेक कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं और जिनका

१. वही ४।४८७-८९   २. वही ४।४९५
३. वही ४।४९६   ४. वही ४।४९१-४९७
५. नितान्तं कृतकृत्यस्य गुणवृद्धिविधायिनः।
श्रीजयापीडदेवस्य पाणिनेश्च किमंतरम्॥ —राजतरंगिणी ४।६३५
६. उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३२३ (१९४५)

उल्लेख विभिन्न इतिहास-ग्रन्थों या हस्तलिखित पोथियों की खोज-रिपोर्टों में हुआ है उनके संबंध में भी प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। बहुत सारी कृतियाँ महाकाव्यों की जगह काव्य कहकर लिखी गई हैं और इसी प्रकार कुछ खंडकाव्य कृतियाँ महाकाव्य जानकर लिखी गई हैं।

बौद्ध मातृचेट (१०० ई०) का 'महाराज कनिष्क लेख' इस परंपरा का प्रथम काव्य है। ये कनिष्क के समकालीन थे और बौद्धधर्म के सुधारों पर विचार करने के लिए कनिष्क ने उन्हें अपने यहाँ आमंत्रित किया था। संभवतः यह उस समय की बात है, जब कनिष्क ने काश्मीर में बौद्ध-संगीति का आयोजन किया था। वृद्ध होने के कारण मातृचेट, कनिष्क के दरबार में न जा सके; किन्तु उन्होंने तथागत के सुधारवादी एवं नैतिक जीवन से संबन्धित आदर्शों को पत्रात्मक ढंग से पद्यमयी भाषा में लिखकर कनिष्क को भेज दिया था। यही ८५ पद्य 'महाराज कनिष्क (या कनिक) लेख'[१] के रूप में तिब्बती संग्रहालय में आज सुरक्षित हैं। इन्होंने 'चतुःशतक'[२] और 'अध्यर्धशतक'[3] नामक दो स्तुतिकाव्यों की भी रचना की थी। ये दोनों काव्य भी तिब्बती में उपलब्ध हैं।

मातृचेट के बाद बौद्ध आर्यसूर (४०० ई०) कृत 'परिमिता समास'[४] छः सर्गों तथा ३६४ श्लोकों का एक सुंदर काव्य तिब्बती से संस्कृत में प्रकाशित हो चुका है। अपनी 'जातकमाला' को ही उन्होंने काव्यात्मक ढंग में प्रस्तुत किया है। आर्यसूर, अश्वघोष के अनुयायी बौद्ध दार्शनिकों में से थे। कहा जाता है कि आर्यसूर ने कर्मफल के ऊपर एक सूत्रग्रंथ लिखा था, जिसका ४३४ ई० में चीनी अनुवाद हो चुका था। संभव है 'परिमिता समास' के रचयिता और कर्मफल पर सूत्रग्रन्थ के रचयिता एक ही व्यक्ति थे।

इस प्रकार के स्फुटकाव्यों की परंपरा में चक्र कवि ने ७वीं शताब्दी में आठ सर्गों की 'जानकीपरिणय' नामक एक काव्यकृति लिखी। यह कवि मदुरा के तिरुमल नायक के आश्रित था। जैन महाकवि धनंजय (७वीं श०) का 'विषापहारस्तोत्र' ३९ इन्द्रवज्रा वृत्तों का एक लघुकाव्य है, जिस पर अनेक

---

१. डॉ० एफ० टामस द्वारा अँगरेजी में अनूदित, इण्डियन एंटीक्वेरी, भाग ३२, पृ० ३४५

२. इंडियन एंटीक्वेरी, भाग ३४, पृ० १४५

३. बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च पत्रिका, भाग २३, खंड ४ (१९३७)

४. एन्नाली लेटरेनेन्सी पत्रिका की १०वीं जिल्द में रोम से १९५० में प्रकाशित

टीकाएँ लिखी गई।[1] उनके द्विसंधानात्मक (द्विरर्थक) महाकाव्य 'राघवपांडवीय' की परंपरा में, जिसका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है, कविराज (१२०० ई०), रामचंद्र (१५४२ ई०), चिदम्बर (१६०० ई०), वेंकटाध्वरी (१६५० ई०), मेघविजयगणि (१६७० ई०), हरिदत्त सूरि (१७०० ई०) प्रभृति कवियों ने स्फुट काव्यों की रचना की। पंचस्तूपान्वय के प्रसिद्ध आचार्य जिनसेन (७०० श० सं०) का 'पार्श्वाभ्युदय' ३३४ मंदाक्रान्ता वृत्तों में लिखा हुआ सुंदर खंडकाव्य है।[2] जिनसेन के शिष्य गुणभद्र का 'आत्मानुशासन' २७२ पद्यों का ग्रंथ है, जो भर्तृहरि की रचनाशैली में है।[3]

इसी प्रकार नैयायिक जयंत (९००) के पुत्र अभिनंद ने वाणभट्ट की 'कादम्बरी' की संक्षिप्तकथा-स्वरूप 'कादम्बरी-कथासार' नामक ८ सर्गों का एक काव्य लिखा।[4] नीतिवर्मा कृत एक काव्यकृति 'कीचकवध' का उल्लेख भोज (१००० ई०) ने किया है, जिससे उसका स्थितिकाल नवम शताब्दी या उससे कुछ पूर्व ही सिद्ध होता है।[5] जैनकवि सोमेश्वर (९०० ई०) का 'नीति-वाक्यामृत' भी इसी श्रेणी का ग्रंथ है।[6]

ब्राचट अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत (१०वीं श०) ने दो खंडकाव्य लिखे 'णायकुमारचरिउ' (नागकुमारचरित) और 'जसहरचरिउ' (यशोधर-चरित')।[7] मालव के परमारवंशीय राजा वाक्पतिराज का संमानित सभा-पंडित अमितगति (१०वीं श०) का पूर्वाख्यान ढंग का ग्रंथ 'धर्मपरीक्षा' किसी अनुपलब्ध प्राकृत ग्रंथ पर आधारित है। उनका 'पंचसंग्रह' भी काव्यश्रेणी का ग्रंथ है। अमितगति ने १२० पद्यों की 'सामयिक पद्य' और ३२ पद्यों की 'भावनाद्वात्रिंशिका' नामक दो कृतियाँ और लिखीं।

वादिराजसूरि (१०वीं शताब्दी) का चार सर्गों का खंडकाव्य 'यशोधर-चरित' और २५ पद्यों का स्तोत्रग्रंथ 'एकीभावस्तोत्र' सरस काव्य हैं।[8] राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण तृतीय (९४०-९५६ ई०) के समकालीन हलायुध ने 'कविरहस्य' नामक एक काव्य लिखा था।[9] जैन कवि मल्लिषेण (११वीं श०) का पंचसर्गात्मक 'नागकुमार काव्य' भी एक खंडकाव्य है, जो बड़ा ही सरल और हृदयग्राही है।[10] वादीभसिंह (११वीं श०) कृत दो

---

१. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ११०   २. वही, पृ० १३४
३. वही, पृ० १३६   ४. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ११२
५. वही, पृ० ११०   ६. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १७८
७. वही, पृ० २३७   ८. वी० वरदाचार्य का इतिहास, पृ० १११
९. वही, पृ० १११   १०. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३१५

ग्रंथ 'गद्यचिंतामणि' और 'क्षत्रचूडामणि' काव्य श्रेणी के ग्रंथ हैं। पहिला बाण की 'कादम्बरी' एवं धनपाल की 'तिलकमंजरी' से प्रभावित गद्यमय और दूसरा 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' की कथाओं से अनुप्राणित पद्यमय है। पहिला प्रौढ़ों के लिए और दूसरा बालोपयोगी है।[1]

इसी प्रकार १३वीं शताब्दी में आशाधर का 'भरतेश्वराभ्युदय काव्य' (सटीक) और 'राजमती-विप्रलंभ' (अप्राप्य) का उल्लेख आता है।[2] विक्रम (१४वीं श०) का 'नेमिचरित' यद्यपि कालिदास के 'मेघदूत' के चरण को लेकर आरंभ किया गया है, तथापि वह दूतकाव्य न होकर चरित-काव्य ही है।[3] इसी परंपरा को १४वीं श० में विजयनगर के राजा हरिहर के आश्रित कवि लोलंबराज ने ५ सर्गों के एक 'हरि-विलास' नामक काव्य को लिखकर आगे बढ़ाया।[4]

१५वीं श० में मालावार के एक सुकुमार नामक कवि ने ४ सर्गों की काव्यकृति 'कृष्णविलास' लिखी। इस कवि की गणना मालावार के तत्कालीन शीर्षस्थ कवियों में की जाती है।[5] चिदम्बरम् के एक अज्ञातनामा कवि ने १६वीं शताब्दी के लगभग त्रिसंधान-पद्धति पर एक 'राघवपांडवयादवीय' काव्य लिखा। इस काव्य के तीन अर्थ राम, पांडव और कृष्ण के जीवन-चरितों पर समानरूप से एक साथ लागू होते हैं।[6] १६वीं शताब्दी के ही लगभग सूर्यदेव ने ३६ छंदों में 'रामकृष्ण' नामक एक विलोम काव्य की रचना की।[7] वेंकटाध्वरी के अतिरिक्त एक अज्ञातनामा लेखक का ३०० छंदों का विलोम काव्य 'यादवराघवीय' भी हस्तलेख के रूप में मिलता है[8] और एक दूसरे अज्ञातनामा लेखक की ६४ छंदों की विलोम काव्य-कृति 'राघवयादवीय' का भी उल्लेख मिलता है।[9]

लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचंद्र भट्ट ने १५४२ ई० में द्विसंधान-पद्धति पर एक 'रसिक-रंजन' काव्य लिखा।[10] कांची-निवासी एक महान् दार्शनिक

---

१. वही, पृ० ३२० २. वही, पृ० ३४६ ३. वही, पृ० ३५९
४. वी० वरदाचार्य का उक्त इतिहास, पृ० ११९
५. वही, पृ० १२० ६. वही, पृ० १२१
७. फादर कामिल बुल्के : रामकथा : उद्भव और विकास, पृ० १९९ (१९५०)
८. मद्रास गवर्नमेंट लाइब्रेरी का कैटलॉग, ग्रन्थसंख्या डी० ११८९१
९. लंदन इण्डिया आफिस लाइब्रेरी का कैटलॉग, ग्रन्थसंख्या ७१३३
१०. वी० वरदाचार्य का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १२०

एवं कवि वेंकटाध्वरी, रामानुज संप्रदाय का अनुयायी विद्वान् १६५० ई० के लगभग हुआ। उसने 'यादवराघवीय' नामक एक ३० श्लोकों का द्विसंधान-काव्य लिखा और स्वयं ही उस पर टीका भी की।[1] जैनाचार्य श्रुतसागर की अधूरी उपलब्ध कृति 'यशस्तिलकचंद्रिका' और 'श्रीपालचरित' तथा 'यशोधरचरित' भी १६वीं शताब्दी में लिखे गए खंडकाव्य हैं।[2] इसी समय आचार्य शुभचंद्र ने 'चंद्रप्रभचरित', 'पद्मनाभचरित', 'जीवनधरचरित', 'चंदना-कथा' और 'नंदीश्वरकथा' आदि काव्य लिखे।[3]

१७वीं शताब्दी में रामभद्र कवि ने सुप्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि के जीवन पर 'पतंजलिचरित' काव्य लिखा। वह तंजोर के राजा शाहजी (१६८४–१७११ ई०) का आश्रित कवि था। १७वीं शताब्दी में अप्पय दीक्षित के अनुज अच्चा दीक्षित के पौत्र और नारायण दीक्षित के पुत्र श्रीकंठ दीक्षित मदुरा के तिरुमल नायक का प्रधान सचिव था।[4] उसने कई अच्छे ग्रंथ लिखे, जिनमें ८ सर्गों का उसका 'गंगावतरण' काव्य बड़ा ही सुंदर काव्य है। वह पंडितराज जगन्नाथ का कटु आलोचक था।[5] भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य वादिराज कृत 'श्रीपाल-आख्यान', 'सुलोचनाचरित' और 'यशोधर-चरित' भी इसी श्रेणी के काव्य हैं।[6]

१८वीं शताब्दी में द्विसंधान-पद्धति पर हरिदत्त सूरि ने 'राघवनैषधीय' नामक एक २ सर्गों का काव्य लिखा।[7] रामकाव्य के संबंध में दो चित्रकाव्यों कृष्णमोहन कृत 'रामलीलामृत'[8] और किसी दाक्षिणात्य विद्वान् वेंकटेश कृत 'चित्रबंधरामायण'[9] का भी हस्तलेखों के रूप में उल्लेख मिलता है। पहिले काव्य में १२० छंद और दूसरे में ६२० छंद हैं। इसी प्रकार रामकाव्य-विषयक कुछ स्फुट काव्यों में कविराज विश्वनाथ का 'राघवविलास', सोमेश्वर का 'रामशतक', मुद्गल भट्ट का 'रामार्याशतक' और कृष्णेन्द्र कवि का 'आर्यारामायण' का भी फादर कामिल बुल्के ने उल्लेख किया है।[10]

---

१. वही, पृ० १२२ २. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३७४
३. वही, पृ० ३८४ ४. वही, पृ० १२३ ५. वही, पृ० १२२
६. वही, पृ० ३८७–३८८
७. वही, पृ० १२३
८. हरप्रसाद शास्त्री : संस्कृत कैटलॉग, भाग, १ ग्रन्थ-संख्या ३१७
९. तंजोर लाइब्रेरी का कैटलॉग, ग्रन्थ सं० ३ ७७२
१०. फादर कामिल बुल्के : रामकथा : उद्भव और विकास, पृ० २०१ (१९५०)

'प्राणप्रिय काव्य' के रचयिता जैनाचार्य रत्नसिंह का समय अविदित है। इस काव्यकृति का हिन्दी अनुवाद श्री प्रेमीजी ने किया है।[5] काव्य बड़ा ही सरस है।

संस्कृत में स्फुट काव्यों के निर्माण का अंत नहीं है। आज भी बहुत बड़े पैमाने पर इस प्रकार के उत्कृष्ट काव्य लिखने की परिपाटी है। इस प्रकार की अनेक कृतियाँ, जिनके समय और जिनके कर्ता का कोई पता नहीं चलता है, विभिन्न हस्तलेख-संग्रहों में सुरक्षित हैं। संस्कृत की जो इनी-गिनी पत्रिकाएँ आज प्रकाशित होती हैं, उनमें धारावाहिक रूप से आज के स्फुट काव्यों और उच्चकोटि की स्फुट कविताओं का दर्शन प्रायः होता ही रहता है।

गीतकाव्य

गीत या गीति का अर्थ सामान्यतया गाना समझ लिया जाता है, जिसमें साज-शृङ्गार, गायन-वादन की प्रधानता हो; किन्तु यहाँ गीत या गीति का अर्थ हृदय की रागात्मक भावना को छंदबद्ध रूप में प्रकट करना अभिप्रेत है। गीतकाव्य में रागात्मकता या ध्वन्यात्मकता का होना 'धूम में अग्नि' की भाँति अनिवार्य है। गीतकाव्य (Lyric Poetry) में गेयात्मकता तो होनी ही चाहिए; किन्तु ऐसी पद्य रचना जो कवि की आत्मानुभूति पर आधारित हो, अगेय होने पर भी गीतकाव्य के भीतर समा जाती है; और इसके विपरीत आत्मानुभूतिशून्य, बाह्याभिव्यंजन मात्र रचना भी गीतकाव्य के भीतर आ जाने से रह जाती है। इसी कारण हिन्दी की प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ कवयित्री श्री महादेवी जी ने भी 'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके' अपनी इस परिभाषा में संगीतात्मकता को गौण और ध्वन्यात्मकता को प्रमुख स्थान दिया है। इस परिभाषा से संगीत और गीत या गीति का मौलिक अंतर भी स्पष्ट हो जाता है।

डॉ० ओझा ने गीतकाव्य की परिभाषा को चौकोर सीमा-रेखाओं में इस प्रकार फिट किया है: (१) जिस छंदबद्ध रचना में भावातिरेक की धारा इस रूप में प्रवाहित हो कि उसमें स्वर-लहरियाँ स्वभावतः तरंगायित हों; (२) जिसमें कवि या पात्र की रागात्मकता उसके व्यक्तित्व के साथ मिलकर

---

५. जैन हितैषी, भाग ६, अङ्क १-२

आत्म-निवेदन के रूप में प्रकट हो; (३) जिसका आयतन इतना ही बड़ा हो कि जिसमें कवि की रागात्मकता का प्रवाह शिथिल न पड़ने पावे; और (४) जिसमें घटना-वर्णन को गौण, किन्तु भावना को उच्चतम आसन प्राप्त हो; जिस काव्य में एक लय या एक ही भाव के साथ-साथ एक ही निवेदन, एक ही रस एवं एक ही परिपाटी हो, वह गीत-काव्य है।[1]

गीतकाव्य की भावना की उद्भूति

गीत-काव्यों के प्रणयन में संस्कृति के कवियों में विशेष उत्सुकता दिखाई देती है। इस प्रकार की स्फुट संदेश-रचनाओं का अनुवर्तन लगभग वैदिक-युग में ही हो चुका था; और उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद में सरमा नामक एक कुत्ते को पाणियों के निकट संदेशवाहक रूप में भेजने का प्रसंग यहाँ स्मरण किए जाने योग्य है। 'रामायण', 'महाभारत' और उनके परवर्ती काव्यों में भी इस प्रकार के स्फुट प्रसंग प्रचुर रूप में मिलते हैं। कदाचित् महामुनि वाल्मीकि के शोकोद्गारों में भी यह भावना या अनुभूति गोपित रूप में विद्यमान दिखाई देती है। पति-वियुक्ता प्रवासिनी सीता के प्रति प्रेषित राम का संदेशवाहक हनुमान, दुर्योधन के प्रति धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा प्रेषित श्रीकृष्ण और सुंदरी दमयंती के निकट राजा नल द्वारा प्रेषित संदेशवाहक हंस इसी परम्परा के अन्तर्गत गिने जाने वाले पूर्व प्रसंग हैं।[2] इस दिशा में 'भागवत' का वेणुगीत विशेष रूप से उद्धरणीय है, जिसकी रस-विभोर कर देने वाली सुंदर भावना की छाप संस्कृत के गीतग्रंथों पर स्पष्टतया अंकित है।

गीतकाव्य के भेद

संस्कृत के ये गीत-काव्य कई प्रकार से लिखे गए। इनको प्रमुख दो भागों में अलग किया जा सकता है: (१) स्तोत्रकाव्य या भक्तिकाव्य और (२) शृंगारकाव्य या संदेश-काव्य। स्तोत्र-काव्य या भक्ति-काव्य वे हैं, जिनमें आध्यात्मिक भावना में अभिभूत होकर भक्तजन के एकांतिक हृदयोद्गार अथाह वेग से प्रवाहित होते हैं। इसके अतिरिक्त जिन गीत-काव्यों में शृङ्गार की भावना का प्राधान्य है उन्हें संदेश-काव्यों के अंतर्गत रखा गया है। आत्म-

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ३८१-३८२, राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण

२. ब्रजभारती, मथुरा, ज्येष्ठ २०१४ वि०, वर्ष १५, अङ्क १

निवेदन की तीव्रानुभूति श्रृङ्गार-काव्यों की विशिष्टता है। संस्कृत में ये श्रृङ्गार-काव्य कई प्रकार से लिखे गए, जिनमें दूतपद्धति के काव्य प्रमुख हैं। इन दूतकाव्यों में प्रेमी अथवा प्रेमिका का किसी दूत के माध्यम से अपने वियुक्त प्रणयी के प्रति प्रणय-संदेश निवेदित होता है।

संदेशकाव्य

संदेश-काव्य या दूत-काव्यों की परंपरा में 'मेघदूत' और 'घटकर्पर-काव्य' पहिली कृतियाँ हैं। इन दोनों के रचयिता क्रमशः महाकवि कालिदास और घटकर्पर कवि हुए। इन दोनों काव्यों में किसकी रचना पहिले हुई, इस सम्बन्ध में एक निश्चित मत अभी तक तय नहीं हो पाया है। धन्वंतरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वैतालभट्ट, घटकर्पर और कालिदास, इन सबको विक्रमादित्य की विद्वत्सभा का भूषण माना गया है।[१] इस नामावली में घटकर्पर को पहिले और कालिदास को बाद में रखा गया है; किन्तु यह पूर्वापर का सम्बन्ध उनकी स्थिति पर कोई भी विश्वसनीय प्रकाश नहीं डालता है।[२] छंद-रचना की दृष्टि से ही कदाचित् यह पूर्वापर का क्रम रखा गया हो; और इसके अतिरिक्त कथंचित् इसमें भी संदेह है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' की उक्त बात ही सर्वथा कल्पित हो। फिर भी इन दोनों काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन से इतना निश्चित हो जाता है कि 'मेघदूत' की भावानुभूति एवं उसके बाह्य शिल्प पर 'रामायण' का और 'घटकर्पर-काव्य' पर 'महाभारत' का प्रभाव है।[3]

'घटकर्पर-काव्य'[४] के अन्तिम श्लोक में कवि ने प्रतिज्ञा की है कि जो भी कवि इससे उत्तम काव्य की रचना कर देगा, उसके लिए वह घड़े के कर्पर (टुकड़े) पर पानी भर कर ला देगा। उसकी इसी प्रतिज्ञा पर काव्य का ऐसा नामकरण हुआ और सम्भवतया इस नामकरण पर ही उसके निर्माता की भी 'घटकर्पर' नाम से प्रसिद्धि हुई। उसका वास्तविक नाम क्या था, इस सम्बन्ध में कुछ भी विदित नहीं है। काव्यशास्त्र के

१. ज्योतिर्विदाभरण

२. डॉ० यतीन्द्र विमल चौधरी : हिस्ट्री ऑफ दूतकाव्य ऑफ बंगाल, पृ० ९, १९५३ ई०

३. वही, पृ० ११

४. डॉ० जे० बी० चौधरी : प्राच्यवाणी मन्दिर, संस्कृत दूतकाव्य ग्रन्थमाला, पृ० १-६०, १९५३ ई०

प्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त (१०वीं श०) ने इस ग्रन्थ पर एक टीका लिखी है और उसमें प्रकट किया है कि प्रस्तुत रचना कालिदास की है।[1] किन्तु यह बात अब पूरी तरह निर्णीत हो चुकी है कि 'घटकर्पर' कालिदास की रचना नहीं है।

लोकप्रियता और प्रसिद्धि की दृष्टि से महाकवि का 'मेघदूत' बड़े महत्त्व का है। इसी लोकप्रियता के कारण उस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, जर्मन, तिब्बती और चीनी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी महाकवि की इस कृति का अनुवाद ही नहीं हो चुका है, वरन् उन भाषाओं में उसके कई संस्करण भी निकल चुके हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जाना यथेष्ट है कि दुनिया की विभिन्न भाषाओं में अनूदित कृतियों की दृष्टि से 'बाइबिल' और 'पंचतंत्र' के बाद 'मेघदूत' का ही स्थान है।

'मेघदूत' का प्राचीनतम अनुवाद १३वीं शताब्दी में तिब्बती भाषा में किया गया था, जिसकी एक प्रति तंजोर के ग्रंथसंग्रह में सुरक्षित है। इसी अनुवाद के आधार पर १९०६ ई० में एक जर्मन विद्वान् डॉ० बेख (Beckh) ने 'मेघदूत' का एक अनुवाद जर्मन भाषा में किया। 'मेघदूत' का सिंहली अनुवाद भी प्राचीन है, जिसको एक लंकावासी टी० वी० पानवोटे नामक विद्वान् ने १८८३ ई० में प्रकाशित किया था।[2]

'मेघदूत' के प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक अनुवादों में मैक्समूलर का जर्मन अनुवाद प्रमुख है, जिसको उन्होंने १८४७ ई० में लिखा था। महाशय मोनफ्रेच ने तो यहाँ तक कह दिया कि यूरोप में ही क्या, विश्व भर के साहित्य में ऐसी कृति खोजने पर भी दूसरी नहीं मिलेगी। महाशय एच०-एच० विल्सन ने १८१३ ई० में 'मेघदूत' का अंग्रेजी अनुवाद कर यूरोप के साहित्यकारों को भारतीयों के ऊँचे मस्तिष्क की एवं इस महानतम कृति के संबंध की अपूर्व सूचना दी। १८४१ और १८४७ ई० में 'मेघदूत' के दो लैटिन अनुवाद क्रमशः महाशय बोन और महाशय ग्रिल्ड मीस्टर ने किए। इसी प्रकार अमरीकी विद्वान् आर्थर राइडर ने भी 'मेघदूत' का एक अविकल

---

१. के० सी० पांडेय : अभिनवगुप्त—ए हिस्टोरिकल ऐण्ड फिलॉसफीकल स्टडी, पृ० ६५

२. बलदेव उपाध्याय : 'मेघदूत : प्रसार तथा प्रभाव' शीर्षक लेख, जनभारती, वर्ष ४, अङ्क २, कलकत्ता २०१३

अनुवाद किया। इस छोटी सी कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि महाकवि कालिदास की भारती को अमर यश और व्यापक ख्याति प्रदान करने के लिए इस एक ही कृति में पूरी क्षमता है।[1]

घटकर्पर और कालिदास की इन दोनों कृतियों का परवर्ती काव्य-साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। कृष्णमाचार्य का 'मेघसंदेशविमर्श', कृष्णमूर्ति का 'यशोल्लास', रामशास्त्री का 'मेघप्रतिसन्देश', रामचन्द्र का 'घनवृत्तम्' और मैथिल कवि महामहोपाध्याय परमेश्वर झा का 'यक्षसमागम' इस प्रभाव के परिचायक काव्य हैं।

सन्देशकाव्यों की प्रणयन-परम्परा में जैन कवियों का बड़ा योग एवं उत्साह रहा है। जैनकवि जिनसेन (८१४ ई०) ने जैन तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के जीवनचरित पर चार सर्गों में एक 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य लिखा। उसके ३६४ पद्यों में कालिदास के 'मेघदूत' के लगभग १२० श्लोक सम्मिलित हैं। इसी प्रकार एक दूसरे विक्रम (१५वीं श०) कवि ने भी स्वामी नेमिनाथ के जीवन पर 'नेमिदूत' काव्य लिखा।[2] उसमें भी 'मेघदूत' के १२५ श्लोक उद्धृत हैं। मध्यकालीन जैन कवियों में बृहत्तापगच्छीय चरित्र-सुन्दरगणि (१४८४) द्वारा लिखित धार्मिक एवं नैतिक विषयों से सम्बद्ध 'शीलदूत'[3] और किसी अज्ञातनामा कवि की 'चेतोदूत' इस परम्परा में उद्धरणीय ग्रंथ हैं। खतरगच्छीय कवि विमलकीर्ति (१७वीं श०) का 'चन्द्रदूत' भी अच्छा काव्य है।[4] एक विज्ञप्ति के रूप में उपाध्याय मेघविजय का 'मेघदूत-समस्या' (१७२७ वि० में रचित) कुछ कम महत्त्व का काव्य है।

सन्देशकाव्यों की प्रौढ परम्परा

इस प्रकार के सन्देशकाव्यों की प्रौढ परम्परा का आरम्भ १२वीं शताब्दी से हुआ। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन[5] (१२वीं शताब्दी) के सभापण्डित

१. साप्ताहिक संगम : 'कालिदास का मेघदूत' इलाहाबाद, २६ अगस्त, १९५१

२. गुणविजय की संस्कृत टीका तथा हिन्दी पद्यानुवाद के साथ कोटा (राजस्थान) से २००५ वि० में प्रकाशित

३. अगरचन्द नाहटा : नेमिदूत की प्रस्तावना, पृ० ६२१-६२३

४. ब्रजभारती, मथुरा, ज्येष्ठ २०१४ वि०, वर्ष १५, अङ्क १ (यशोविजय ग्रन्थमाला में प्रकाशित)

५. जे० ए० एस० बी०, न्यू सीरीज, वाल्यूम ५, पृ० ४७३ तथा जे० ए० एस० बी०, पार्ट १, पृ० २, १८१६

एवं सुप्रसिद्ध कवि जयदेव का सहकारी विद्वान् धोयी का 'पवनदूत'[1] इस शताब्दी का पहिला एवं प्रभावशाली सन्देशकाव्य है। १३वीं शताब्दी में ही अवधूतराम योगी ने भी १३८ श्लोकात्मक काव्य 'सिद्धदूत' लिखा। इसी शताब्दी में अब्दुल रहमान नामक एक मुसलमान कवि ने अपभ्रंश भाषा में 'सन्देशरासक' नामक सुंदर दूतकाव्य लिखा।[2] १५वीं शताब्दी में कवि विष्णुदास ने 'मनोदूत' लिखा।[3] इसी नाम से एक ग्रन्थ रामशर्मा ने भी लिखा है, जो अभी तक अप्रकाशित ही है; किन्तु हस्तलिखित प्रति के रूप में उपलब्ध है।[4] माधव कवींद्र भट्टाचार्य ने भी लगभग १६वीं शताब्दी में 'उद्धवदूत' लिखा।[5] गौडीय सम्प्रदाय के विद्वान् रूप गोस्वामी (१७वीं श०) ने 'उद्धवसन्देश'[6] काव्य लिखा। इसी नाम के एक दूसरे विद्वान् चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूप गोस्वामी ने 'हंसदूत'[7] लिखकर इस परम्परा को चमकाया।

१७वीं शताब्दी में श्री रुद्रन्याय वाचस्पति ने 'पिकदूत'[8] लिखा। भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य वादिराज (१७वीं श०) ने भी 'पवनदूत' नामक एक गीतकाव्य लिखा।[9] बंगदेशीय राजा रघुनाथराय (१६३७-१३५० शक) की आज्ञा से श्रीकृष्ण सार्वभौम ने 'पादांकदूत' लिखा, जिसका रचनाकाल १६३७ शक है। इसी परम्परा का व्यापक विस्तार आगे लम्बोदर

---

१. संस्कृत साहित्य परिषद्, संस्कृत ग्रन्थमाला, वाल्यूम १३, कलकत्ता १९२६
२. बलदेव उपाध्याय : 'मेघदूत : प्रसार तथा प्रभाव' जनभारती, वर्ष ४, अङ्क २, २०१३
३. इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन, एगलिंग का कैटलॉग, वाल्यूम ७, पृ० १४७०; संस्कृत साहित्य परिषद् की ग्रन्थमाला संख्या २१ में प्रकाशित, कलकत्ता १९३७
४. बंग साहित्य परिषद कलकत्ता के ग्रन्थसंग्रह, हस्तलेख-संख्या १२८२ तथा प्राच्यवाणी मन्दिर, कलकत्ता के ग्रन्थसंग्रह, ग्रन्थ सं० ११ में सुरक्षित; विस्तार के लिए देखिए : बंगीय दूतकाव्य का इतिहास, पृ० १३
५. जीवानंद विद्यासागर : काव्यसंग्रह, पृ० ४४१-५०७, कलकत्ता १८८८ (तीसरा संस्करण) तथा डॉ० जॉन हेबर्लिन : काव्यसंग्रह, पृ० ३७४-४००, कलकत्ता १८४७
६. इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, कैटलॉग, वाल्यूम २, पार्ट १, सेक्शन ३, पृ० २२१८
७. जीवानन्द विद्यासागर : काव्यसंग्रह, वाल्यूम ३, पृ० ४४१-५९७, (तीसरा संस्करण कलकत्ता १८८८); तथा बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर, द्वारा प्रकाशित
८. प्राच्यवाणी मन्दिर, प्राच्यवाणी जर्नल, जिल्द २, कलकत्ता १९४५
९. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३८७ (द्वितीय संस्करण)

वैद्य ने 'गोपीदूत'[1], त्रिलोचन ने 'तुलसीदूत'[2] (१७३० ई० में रचित), वैद्यनाथ द्विज ने एक दूसरा 'तुलसीदूत'[3], हरिदास ने 'कोकिलदूत'[4] (१७१७ शक में रचित), सिद्धनाथ विद्यावागीश ने १७वीं शताब्दी के लगभग 'पवनदूत', इसी शताब्दी में कृष्णनाथ न्यायपंचानन ने 'वातदूत', एक आधुनिक कवि भोलानाथ ने 'पांथदूत',[5] रामदयाल तर्करत्न ने 'अनिलदूत',[6] अम्बिकाचरण देवशर्मा ने 'पिकदूत',[7] गोपालशिरोमणि ने एक प्रहसन-रचना 'काकदूत'[8] (१८११ शक में रचित), गोपेन्द्रनाथ गोस्वामी ने १७वीं शताब्दी के लगभग 'पादपदूत', १९वीं शताब्दी के अन्त में त्रैलोक्यमोहन ने 'मेघदूत'[9], कालीप्रसाद ने 'भक्तिदूत',[10] रामगोपाल ने 'काकदूत'[11] (१७१८ शक में रचित), महामहोपाध्याय अजितनाथ न्यायरत्न ने बंग संवत् १३२६ में 'बकदूत'[12] और रघुनाथदास ने १७वीं श० के आस-पास 'हंसदूत'[13] आदि संदेशकाव्यों को रचकर किया।

दूतकाव्यों के उक्त रचयिताओं में से अधिकांश विद्वान् बंगाल में हुए, और उनके सम्बन्ध की जानकारी प्रायः बँगला-साहित्य तथा बंगाली इतिहासकारों एवं बंगाली विद्वानों द्वारा ही संस्कृत-जगत् को विदित हुई। बंगीय दूतकाव्यों पर एक सुन्दर पुस्तक डॉ० यतींद्रविमल ने संस्कृत में लिखी है।[14] इस पुस्तक में उन्होंने लगभग पच्चीस दूतकाव्यों का विस्तार से उल्लेख किया है।

---

१. जीवानन्द विद्यासागर : काव्यसंग्रह, जिल्द ३, पृ० ५०७-५३०, कलकत्ता १८८८

२. वही, सं० १३७ ३. वही, सं० २७

४. कालिदाससेन की टीका सहित बंग सं० १३११ में प्रकाशित

५. डॉ० जे० बी० चौधरी : संस्कृत दूतकाव्य सीरीज, वाल्यूम ५, कलकत्ता, १९४९

६. प्राच्यवाणी मन्दिर संग्रह, संस्कृत दूतकाव्य, सं० १४२ (१) ७. वही

८. ब्रजमाधुरी, मथुरा ज्येष्ठ २०१४ वि०, वर्ष १५, अङ्क १

९. प्राच्यवाणी मन्दिर संग्रह, डॉ० के० एन० काटजू सीरीज, वाल्यूम २, कलकत्ता १९५०

१०. आर० एल० मिश्र : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, संस्कृत साहित्य ग्रंथागार, वाल्यूम ३, पृ० २७

११. हरप्रसाद शास्त्री : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, संस्कृत साहित्य ग्रंथागार वाल्यूम १, ग्रं० सं० ६७

१२. प्राच्यवाणी मन्दिर संग्रह, ग्रंथसंख्या १४३

१३. दिनेशचन्द्र सेन : बंग-साहित्य-परिचय, पृ० ८५०

१४. डॉ० यतीन्द्र विमल : बंगीय दूतकाव्येतिहास (संस्कृत) कलकत्ता १९५३

काव्य साहित्य की समृद्धि

रामकथाविषयक दूतकाव्य

'मेघदूत' की शैली पर लिखे गए रामकथाविषयक दूतकाव्यों में वेदांत-देशिक (वेंकट, देशिक, वेंकटनाथ, वेदान्ताचार्य) ने १३वीं शताब्दी में 'हंससंदेश' लिखा, जिसमें लंका में वियुक्ता सीता के प्रति हंस द्वारा भगवान राम का वियोग-संदेश प्रेषित है। नैयायिक रुद्र वाचस्पति (१७वीं श०) का 'भ्रमरदूत',[1] वासुदेव का 'भ्रमरसंदेश',[2] किसी अज्ञातनामा लेखक का 'कपिदूत',[3] वेंकटाचार्य (१७वीं श०) का 'कोकिलसंदेश'[4] और गोपीकांत भट्टाचार्य के पुत्र कृष्णचन्द्र तर्कालंकार (१८वीं श०) का 'चंद्रदूत'[5] इस रामकाव्य-परंपरा के उल्लेखनीय संदेशकाव्य हैं। जोधपुर के किसी आधुनिक कवि नित्यानंद शास्त्री द्वारा रचित 'हनुमतदूत' भी इसी परंपरा का काव्य है।[6]

कुछ अप्रसिद्ध संदेशकाव्य

इसी प्रकार तामिल के उदण्ड नामक एक कवि (१४वीं श०) ने मालावार के कालीकट स्थित जमोरिन के आश्रय में रहकर 'मेघदूत' की शैली का एक गीतिपरक प्रेमकाव्य 'कोकिलसंदेश' का निर्माण किया था। इसी प्रसंग में 'मेघदूत' के अक्षरशः अनुकरण पर लिखा हुआ वामनभट्ट बाण (१५वीं श०) का 'हंससंदेश'[7] भी उल्लेखनीय है। इसी श्रेणी के कुछ कम प्रभावोत्पादक संदेशकाव्यों में पूर्ण सरस्वती का 'हंससंदेश', विष्णुत्राता (१६वीं श०) का 'कोकसंदेश', वासुदेव कवि (१७वीं श०) का 'मृगसंदेश' और विनयप्रभ (१३वीं श०) का 'चन्द्रदूत' उल्लेखनीय है। विनयविजयगणि का 'इन्द्रदूत', तैलंग व्रजनाथ का 'मनोदूत', भगवद्दत्त का 'मनोदूत' और लक्ष्मीनारायण का 'रथांगदूत' भी इसी कोटि के हैं।[8]

संस्कृत में लिखे गए दूतकाव्यों की इस लम्बी परंपरा को देखकर सहज

---

१. डॉ० जे० बी० चौधरी : प्राच्यवाणी मन्दिर, संस्कृत दूतकाव्य संग्रह, वाल्यूम १
२. फादर कामिल बुल्के : रामकथा : उद्भव और विकास, पृ० २००, प्रयाग १९५३
३. ढाका युनिवर्सिटी मैन्युस्क्रिप्ट्स, सं० ९७५ सी०
४. तंजोर लाइब्रेरी, मद्रास, कैटलाग, ग्रं० सं० ७४६ पृ० ८६२
५. हरप्रसाद शास्त्री : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, वाल्यूम २, पृ० १५३
६. वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित
७. प्राच्यवाणी मन्दिर, संस्कृत दूतकाव्य संग्रह, वाल्यूम ४, कलकत्ता
८. अन्तिम चार काव्यों के संबन्ध में देखिए : कन्हैयालाल पोद्दार : 'कालिदास का काव्य-वैभव और मेघदूत' लेख, जनभारती, वर्ष ४, अङ्क २, २०१३ वि०

ही में उनकी लोकप्रियता का रहस्य प्रकट हो जाता है। विभिन्न संग्रहों की हस्तलिखित पोथियों में इस प्रकार के और भी काव्यग्रंथ उपलब्ध होने संभव हैं। इंडिया आफिस लंदन के सूचीपत्रों में संस्कृत और प्राकृत के अनेक अप्रकाशित दूतकाव्यों का उल्लेख देखने को मिलता है।[1] दूतकाव्यों की परंपरा पर अनेक विद्वानों द्वारा यद्यपि पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, और स्वतंत्र रूप से उन पर इतिहास की पुस्तकें भी लिखी जा चुकी हैं;[2] फिर भी उनका आमूल सर्वेक्षण होने की आवश्यकता आज भी बनी है।

शृङ्गारकाव्य

संदेश-काव्यों की इस सुदीर्घ परंपरा के अतिरिक्त गीति-काव्यों के क्षेत्र में दूसरी शृङ्गार शैली के काव्य भी बहुतायत से लिखे गए। महाकवि कालिदास का 'ऋतुसंहार' इस श्रेणी के काव्यों में पहिली कृति है। 'शृङ्गारतिलक', 'पुष्पवाणतिलक' और 'राक्षसकाव्य', इन तीन गीतिकाव्यों का प्रणेता महाकवि कालिदास से भिन्न कोई दूसरा ही कालिदास नामधारी कवि हुआ, जिसका स्थितिकाल अनिश्चित है; किन्तु जो निश्चयात्मक रूप से (१२वीं श०) के बाद हुआ।

अमरु या अमरुक (८वीं श० से पहिले) के 'अमरुकशतक' नामक गीति-ग्रन्थ का निर्माता कुछ विद्वान् शंकराचार्य को बताते हैं; किन्तु यह धारणा अब सर्वथा निराकृत हो चुकी है। वस्तुतः अमरु या अमरुक नामक राजा एक ऐतिहासिक व्यक्ति था जिसने अमरुक शतक की रचना की थी। इसके बाद भर्तृहरि (७वीं श०) ने 'शृङ्गारशतक', 'नीतिशतक' और 'वैराग्यशतक', इन तीन शृङ्गारपरक, नीतिपरक तथा ज्ञानपरक गीतिग्रन्थों का एक साथ निर्माण किया। तदनन्तर काश्मीर के महाकवि विल्हण (१०८० ई०) ने अपनी प्रणयकथा को 'चौरपंचाशिका' के रूप में प्रकट किया।

बंगाल के विद्वत्सेवी राजा लक्ष्मणसेन (१२वीं श०) के आश्रित एवं

---

१. डॉ० प्राणनाथ ऐंड डॉ० जे० बी० चौधरी : इंडिया आफिस लाइब्रेरी कैटलॉग वाल्यूम २, पार्ट १–३ (१९३८–१९५८ ई०)

२. विस्तार के लिए देखिए : एम० कृष्णमाचारी : हिस्ट्री ऑफ क्लेसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३६–३६८, पूना १९३७; डॉ० जे० बी० चौधरी: हिस्ट्री ऑफ दूत-काव्य ऑफ बङ्गाल, कलकत्ता १९५३; डॉ० यतीन्द्र विमल : बंगीय दूतकाव्येतिहास, कलकत्ता; १९५३

धोयी के सहवासी कवि जयदेव ने एक उत्तम काव्य 'गीतगोविन्द' की रचना कर अपनी भक्ति-भावना और प्रेम-भावना का एक जैसी मार्मिकता से सुन्दर निदर्शन किया। अपनी अनेक विशेषताओं एवं लोकप्रियता के कारण इस गीतिग्रन्थ पर कई टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। रुकेई नामक एक विद्वान् ने इसका जर्मन भाषा में अविकल अनुवाद किया। 'गीतगोविन्द' के अनुकरण पर लिखे गए काव्यों में हरिशंकर कृत तथा प्रभाकर कृत एक ही नाम की दो कृतियाँ 'गीताराघव',[1] श्रीहर्य्याचार्य कृत 'जानकीगीता', हरिनाथ कृत 'रामविलास', जो संभवतः 'जानकीगीता' से अभिन्न है,[2] प्रमुख हैं। १८वीं श० में विश्वनाथसिंह का 'संगीतरघुनन्दन' भी 'गीतगोविन्द' के अनुकरण पर लिखा गया काव्य है।[3]

स्तोत्रकाव्य या भक्तिकाव्य

दूसरे प्रकार के गीति-काव्यों में स्तोत्र-काव्यों की गणना की जाती है। ये स्तोत्र-काव्य धर्मपरक होने से समाज में, विशेषतया भक्तिभावना-प्रधान समाज में, अतिप्रिय सिद्ध हुए। ये अनुराग और विराग दोनों प्रकार की भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। इसलिए आध्यात्मिक उन्नति के उद्देश्य से समाज ने इनको बहुत पसन्द किया।

इन गीतिकाव्यों का प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि जैन और बौद्ध धर्मानुयायी विद्वानों ने भी इस प्रकार के काव्यों की रचना की। ये धार्मिक एवं दार्शनिक, दोनों प्रकार की भावनाओं से युक्त हैं। इन स्तोत्र-काव्यों की गीति-रचना बहुत ही आकर्षक है। ये कुछ तो पद्यात्मक, कुछ दण्डक और कुछ पद्यात्मक हैं। यह गद्यात्मक गीति कविताओं की परम्परा वैदिककाल, रामायणकाल और महाभारतकाल से अनुवर्तित है।

इस श्रेणी के गीति-काव्यों में कालिदास कृत 'श्यामला-दण्डक' को प्राचीनतम कृति के रूप में उद्धृत किया जाता है; किन्तु यह अन्तिम रूप से सिद्ध हो चुका है कि महाकवि कालिदास की रचनाओं में इस गीति-काव्य की गणना नहीं है। सम्भवतः यह किसी दूसरे कालिदास की रचना हो सकती है। इसी प्रकार अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) के नाम पर एक 'गाण्डि-

१. म० म० हरप्रसाद शास्त्री : नोटिसेज ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, भाग २, पृ० ४३.
२. मोनियर विलियम्स : इंडियन विजडम, पृ० ३६८
३. म० म० हरप्रसाद शास्त्री : उक्त ग्रंथ, भाग ३, पृ० ३२४

स्तोत्रगाथा' नामक गीति-काव्य का उल्लेख किया गया है।[1] अश्वघोष के बाद बौद्ध मातृचेट (१०० ई०) ने 'चतुःशतक' और 'अध्यर्धशतक' नामक दो स्तुति-काव्य लिखे। ये दोनों काव्य तिब्बती अनुवादों में के रूप में उपलब्ध हैं।[2] तदनन्तर जैन कवि सिद्धसेन दिवाकर (५०० ई०) ने जैन-तीर्थंकरों की स्तुति में 'कल्याण-मन्दिर-स्तोत्र' लिखा। इसी प्रकार राजा हर्ष (७०० ई०) ने बौद्धधर्म से सम्बद्ध 'सुप्रभातस्तोत्र' और 'अष्टमहाश्रीचैत्यस्तोत्र' लिखे। इसी परम्परा में वाण (६०० ई०) ने शिवपत्नी भगवती चण्डी की स्तुति में 'चण्डीशतक', मानतुंग (७०० ई०) ने 'भक्तामरस्तोत्र', हर्ष के आश्रित कवि बाण के श्वशुर मयूर (७०० ई०) कवि ने 'सूर्यशतक' और अज्ञातकालीन बौद्ध विद्वान् सर्वज्ञमित्र ने 'स्रग्धरास्तोत्र' लिखा।

सुप्रसिद्ध अद्वैतवादी दार्शनिक शंकराचार्य के नाम से अनेक गीति-प्रधान कृतियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें 'अन्नपूर्णादशक', 'अन्नपूर्णाष्टक', 'कनकधारास्तव', 'दक्षिणामूर्ति-अष्टक', 'रामभुजंगस्तोत्र', 'लक्ष्मीनृसिंहस्तोत्र', 'विष्णुपादादिकेशान्तवर्णन', 'शिवभुजंगस्तोत्र', 'शिवानन्दलहरी' और 'सौन्दर्य-लहरी' प्रमुख हैं। शंकराचार्य के ही समकालीन दाक्षिणात्य मूककवि ने पाँच-सौ गेय पद्यों में 'मूकपंचशती' लिखी।

सातवीं शताब्दी में वर्तमान केरल के राजा कुलशेखर ने एक बहुत ही रुचिकर शैली में 'कुन्दमाला' गीतिकाव्य लिखा। नवम शताब्दी में कश्मीर के कवि पुष्पदन्त ने 'महिम्नस्तोत्र' लिखा, जिसका प्रचार कि आज तक समाज में सर्वाधिक रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार रत्नाकर (९वीं श०) ने 'वक्रोक्तिपंचाशिका', कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (नवम शताब्दी) के आश्रित कवि एवं सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री आनन्दवर्धन ने 'देवीशतक', अभिनव-गुप्त के गुरु उत्पलदेव (दशम शताब्दी) ने 'स्तोत्रावलि', रामानुज के गुरु यामुनाचार्य (दशम शताब्दी) ने 'चतुःश्लोकी' एवं 'स्तोत्ररत्न', रामानुजाचार्य (ग्यारहवीं शताब्दी) ने गद्यत्रय नाम से तीन गीति-काव्य 'शरणागतिगद्य', 'वैकुण्ठगद्य' एवं 'श्रीरंगगद्य' लिखे। इसी प्रकार रामानुज के प्रमुख शिष्य श्रीवत्सांक (ग्यारहवीं शताब्दी) ने पंचस्तव नाम से 'श्रीस्तव', 'अमितानुष-स्तव', 'वरदराजस्तव', 'सुंदरबाहुस्तव' और 'वैकुण्ठस्तव' स्तुतिग्रन्थों का निर्माण किया। श्रीवत्सांक के पुत्र पराशर भट्ट (ग्यारहवीं शताब्दी) के स्तुतिग्रन्थों में 'श्रीरङ्गराजस्तव' और 'श्रीगुणरत्नकोश' अधिक प्रसिद्ध हैं।

---

१. वी० वरदाचार्य : सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १३४

२. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २००-२०३ (१९५८)

जयदेव का उल्लेख 'गीतगोविन्द' के प्रसंग में पहिले किया जा चुका है। इन्होंने स्तुतिशैली में एक गीति-काव्य 'गङ्गास्तव' भी लिखा। संभवतः १२वीं शताब्दी में विद्यमान मालाबार-निवासी कवि बिल्वमंगल या कृष्णलीलाशुक ने एक प्रसिद्ध गीतिकाव्य 'कृष्णकर्णामृत' लिखा। द्वैतमतानुयायी आचार्य आनन्दतीर्थ या माधव (१२वीं शताब्दी) ने 'द्वादशस्तोत्र' लिखा।

वेदान्तदेशिक (१२६८–१३६९ ई०) ने लगभग २५ स्तोत्रपरक गीतिकाव्यों की रचना कर इस परम्परा को समृद्ध करने या आगे बढ़ाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनका सहस्रपद्यात्मक 'पादुकासहस्र', 'गरुडगण्डक', 'रघुवीरगद्य', प्राकृत भाषा का 'अच्युतशतक' आदि स्तुति-ग्रन्थ प्रमुख हैं। कांचीवासी अप्पयदीक्षित (१५५४ ई० जन्म) ने 'वरदराजस्तव', केरल के मेप्पथूर के रहने वाले सर्वतोमुखी प्रतिभा के कवि नारायण भट्ट ने 'नारायणीयम्' (१५८५ रचना), मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई०) ने 'आनन्दमन्दाकिनी' और कृष्णचैतन्य के शिष्य रूप-गोस्वामी ने 'गन्धर्वप्रार्थनाष्टक' एवं 'मुकुन्दमुक्तावली' आदि स्तुतिग्रन्थों को लिखकर गीतिकाव्यों की परम्परा को परिवर्द्धित किया।

गीतिकाव्यों की परम्परा में शाहंशाह शाहजहाँ के आश्रित कवि पंडित-राज जगन्नाथ का प्रमुख स्थान है। उनका समय १५९०–१६६५ ई० के बीच निर्धारित है और उन्होंने 'सुधालहरी', 'अमृतलहरी', 'लक्ष्मीलहरी', 'करुणालहरी' और 'गङ्गालहरी' (पीयूषलहरी) आदि उच्चकोटि की गीति कृतियों का निर्माण किया। तदनन्तर नीलकण्ठ दीक्षित (१७वीं शताब्दी) ने दो गीति-ग्रन्थों का प्रणयन किया : 'आनन्दसागरस्तव' और शिवोत्कर्षमञ्जरी।

इसी प्रकार वेंकटाध्वरी (१७वीं शताब्दी) ने 'लक्ष्मीसहस्र', रामभद्र दीक्षित (१७वीं शताब्दी) ने भगवान राम की स्तुति के दस गीतिकाव्य एक साथ लिखे, जिनमें 'रामस्तव' और 'अद्भुतसीतारामस्तव' प्रमुख हैं। संन्यासी नारायणतीर्थ (१७वीं शताब्दी) ने 'कृष्णलीलातरंगिणी' और १९वीं शताब्दी के कवियों में त्यागराज, श्यामशास्त्री तथा मुत्तुस्वामी दीक्षित ने गीति-काव्यों की इस परंपरा को अच्छी-अच्छी स्तोत्रकृतियों के निर्माण से अक्षुण्ण बनाए रखा।

जैन और बौद्ध विद्वानों की अधिकांश स्तोत्र-कृतियों का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। कुछ उच्चकोटि के जैन स्तोत्रों में वादिराज कृत 'एकीभाव-स्तोत्र', सोमप्रभ की 'सूक्तिमुक्तावली', जम्बू गुरु का 'जिनशतक', आचार्य हेमचंद्र

की 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिका' प्रमुख हैं। हेमचन्द्र के इस गीत-काव्य पर मल्लिषेणसूरि कृत पांडित्यपूर्ण 'स्याद्वादमंजरी' नामक टीका प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बौद्ध-स्तोत्रों की परंपरा में हाल ही में उपलब्ध शून्यवादी आचार्य नागार्जुन के 'चतुःस्तव', जिनका अनुवाद तिब्बतीय भाषा में उपलब्ध है, उल्लेखनीय हैं, संस्कृत में भी उनके दो स्तोत्र उपलब्ध हो चुके हैं, जिनका नाम है: निरौपम्यस्तव और अचिंत्यस्तव।

× × × ×

इस प्रकार संस्कृत के गीत-काव्यों की बृहत्परम्परा का सर्वेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग दो हजार वर्षों में इस विषय पर निरन्तर ग्रन्थरचना होती रही और यद्यपि वे सभी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं या उनके संबंध में आज भी अनुसंधान की आवश्यकता बनी हुई है; फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर पूरे संतोष के साथ कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यों का क्षेत्र अपने आप में भरापूरा है।

चम्पूकाव्य

संस्कृत-साहित्य में कुछ काव्य-कृतियाँ ऐसी हैं, जिनमें वर्ण्य विषय का प्रतिपादन गद्यमयी भाषा में और उसको अधिक प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक बनाने के लिए पद्यमयी भाषा का प्रयोग किया गया है; या गद्यरूप में वर्णित किसी बात को पद्यरूप में संक्षिप्त कर दिया गया है। ऐसे गद्य-पद्य-मिश्रित काव्यों को काव्यशास्त्रियों ने 'चम्पू' नाम से कहा है।[1] इन चम्पू-काव्यों में संस्कृत के ग्रंथकारों ने मौलिक एवं वाद्य-संगीत का समन्वय[2] और द्राक्षा एवं मधु का संमिश्रण बताया है।[3]

चम्पू-काव्यों की निर्माण-परंपरा का अनुवर्तन प्रथम शताब्दी ईसवी के पहिले ही हो चुका था। गद्य-पद्य-मयी भाषा के उदाहरण प्राचीनतम ग्रंथों में मिलते हैं। बौद्ध-जातकों में भी इस प्रकार की भाषा का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। 'जातकमाला' तथा हरिषेण की प्रशस्ति में गद्य-पद्य का संमिश्रण है। गुप्तकाल के शिलालेखों में चम्पू-काव्यों की रचना का उल्लेख लगभग

१. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते—काव्यादर्श १।३१

२. चम्पूरामायण, बालकाण्ड, ३ ३. विश्वगुणादर्श, ४

चतुर्थ शताब्दी से होना लिखा हुआ है। किन्तु काव्यशास्त्र में वर्णित चम्पू-काव्य के संपूर्ण लक्षणों से युक्त ग्रंथों का निर्माण लगभग दसवीं शताब्दी से उपलब्ध होता है।

सबसे पहिला चम्पू त्रिविक्रमभट्ट का 'नलचम्पू' है, जिसका दूसरा नाम 'नलदमयन्ती-कथा' भी है। राष्ट्रकूटवंशीय राजा इन्द्र तृतीय के ९१५ ई० के नौसारी वाले दानपत्र के लेखक यही त्रिविक्रम भट्ट थे। इन्होंने एक दूसरा 'मदालसाचम्पू' भी लिखा था। इनका समय दसवीं शताब्दी का आरम्भ है।

दसवीं शताब्दी के ही लगभग दो जैन-मुनियों, हरिश्चन्द्र और सोमदेव, ने क्रमशः 'जीवनधरचम्पू' तथा 'यशस्तिलकचंपू' लिखे। हरिश्चन्द्र का उक्त ग्रंथ नवम शताब्दी में लिखे गए गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' पर आधारित है। उस पर 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य का प्रभाव लक्षित होता है; किन्तु यह ग्रंथ हरिश्चन्द्र नामक किसी दूसरे ही कवि का है, जो महाकाव्यकार हरिचन्द से भिन्न था।[1] सोमदेव राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण तृतीय के आश्रित था। इनके अतिरिक्त भोजराज (१००५–१०५४ ई०) ने 'रामायण चम्पू', अभिनव कालिदास (११वीं शताब्दी) ने 'भागवतचम्पू', सोड्ढल (११वीं श०) ने 'उदयसुंदरीकथा', सोमेश्वरदेव ने 'कीर्तिकौमुदी', वासुदेवरथ (१५वीं श०) ने 'गंगावंशानुचरित', अनन्तभट्ट (१५वीं श०) ने 'भारतचम्पू', विजयनगर के राजा अच्युतराय (१६वीं श०) की विदुषी पत्नी तिरुमलाम्बा ने 'वरदराजाम्बिकापरिणयचम्पू', राजचूड़ामणि दीक्षित (१६वीं श०) ने 'भारतचम्पू', जीव गोस्वामी (१६वीं श०) ने 'गोपालचम्पू', मित्रमिश्र (१७वीं श०) ने 'आनन्दकंदचम्पू', चिदम्बर (१६वीं श०) ने भागवत कथा के आधार पर 'भागवतचम्पू' और शेषकृष्ण (१६वीं श०) ने 'पारिजातहरणचम्पू' लिखकर चम्पू-काव्यों की परम्परा को समृद्ध किया।

१७वीं शताब्दी में नीलकण्ठ दीक्षित ने एक भावपूर्ण चम्पू-काव्य 'नीलकंठविजयचम्पू' नाम से लिखा, जिसका रचनाकाल ४१३८ कलिवर्ष (१६३७ ई०) है। इसी परंपरा में चक्र कवि (१७वीं श०) ने 'द्रौपदीपरिणयचम्पू' लिखा। तदनन्तर वेंकटाध्वरी (१७वीं श०) ने चार चम्पू-काव्यों को लिख कर इस विषय में अपनी ख्याति को प्रकाशित किया। इनके चम्पू-काव्यों के नाम हैं: 'विश्वगुणादर्शचम्पू', 'वरदाभ्युदयचम्पू' (हस्तिगिरिचम्पू), 'उत्तरचम्पू' और 'श्रीनिवासचम्पू'। वाणेश्वर कवि (१८वीं श०) ने एक अर्ध-

---

१. नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३०३–१०८ (द्वितीय संस्करण)

ऐतिहासिक चम्पूग्रंथ 'चित्रचम्पू', एक अज्ञातकालीन कृष्ण कवि ने 'मन्दारमरन्दचम्पू' और अनन्त कवि ने 'चम्पूभारत' लिखकर चम्पू-काव्यों के क्षेत्र में उल्लेखनीय वृद्धि की।

ऐतिहासिक काव्य

संस्कृत-साहित्य में विशुद्ध इतिहास-ग्रन्थों का अभाव ही समझना चाहिए। कुछ ग्रंथों में जो इतिहाससंबंधी विवरण उपलब्ध होते भी हैं, उनका अस्तित्व वहाँ गौणतया है। इसका एक कारण तो संस्कृत के ग्रंथकारों की सीमित दृष्टि प्रतीत होती है। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन प्रभृति ऐतिहासिक व्यक्तियों का वर्णन तो उन्होंने किया है, किन्तु अपने इन तेजस्वी पात्रों का चित्रण करते समय तत्सामयिक दूसरे व्यक्तियों एवं घटनाओं की ओर से वे उदासीन रहे। ऐतिहासिक ग्रन्थों के अभाव का दूसरा कारण कवियों के आश्रय में रहने की परम्परा का होना था। ऐसे ग्रंथकारों ने जो कुछ भी लिखा, वह अपने आश्रयदाता की गुणवत्ता को ध्यान में रख कर लिखा; और इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी बातों में अतिरञ्जना एवं एकांगिता का बाहुल्य हो गया।

यहाँ तक कि 'राजतरङ्गिणी' जैसा ग्रंथ भी विशुद्ध इतिहास न होकर इतिहाससंबंधी यत्न ही कहा जायगा, क्योंकि पहिले तो उसके रचनाकार ने देखी हुई घटनाओं को ही विश्वसनीय समझा है और दूसरे उसका यह ग्रंथ अतिशयोक्तिप्रधान होने के कारण ऐतिहासिक तथ्यों को उतनी मजबूती से नहीं रख सका है, जितनी मजबूती से रखना चाहिए था।

संस्कृत में जो कुछ भी ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित ग्रन्थ मिलते हैं, उन सब में पहिली बात तो यह दिखाई देती है कि ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा भाषासौष्ठव एवं वर्ण-वैचित्र्य को उनमें प्रमुखता दी गई है, जब कि होना इसके विरुद्ध चाहिए था। इतिहासप्रधान ग्रंथों को लिखने वाले अधिकांश लोग राज्याश्रित थे, और उनमें कवित्व-भावना एवं आश्रयदाता को तुष्ट रखने की प्रवृत्ति थी। जो अंश कि आश्रयदाता राजाओं को अरुचिकर था, वह सत्य होने पर भी छोड़ दिया गया।

इन कुछ इतिहासप्रधान ग्रन्थों की घटनाओं को समझने में एक बहुत बड़ी असुविधा, भारत में प्रचलित अनेक संवतों के कारण हुई है। वंश-नाम

या ख्यात के आधार पर चलाये गए संवतों की तिथियों को खोज निकालने और उनको सही रूप से बैठाने में बड़ी कठिनाई होती है।

फिर भी इतना निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में इतिहास विषय की महत्ता को प्राचीनकाल से ही स्वीकार किया जाने लगा था। 'निरुक्त' में पुराण और इतिहास को वेदों के समकक्ष माना गया है।[१] यास्क के 'निरुक्त' में ऋचाओं के स्पष्टीकरण के लिए ब्राह्मणग्रन्थों तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' कह कर उल्लेख किया गया है।[२] 'निरुक्त' से ही विदित होता है कि वेदार्थ का निरूपण करने वाले प्राचीनतम व्याख्याकारों में एक संप्रदाय इतिहासकारों का भी था, जिसको कि 'इति ऐतिहासिकाः' कह कर बार-बार स्मरण किया गया है।[३]

देवर्षि नारद जब सनत्कुमार के पास ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने गए तो सनत्कुमार के पूछे जाने पर नारद ने अपनी अधीत विद्याओं में इतिहास-पुराण को पंचम वेद के रूप में बताया था।[४] महाभारतकार ने इतिहास-पुराण द्वारा वेद का उपबृंहण बताया है और कहा है कि इतिहास-पुराण के ज्ञान से शून्य लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है।[५] 'महाभारत' के इस विवरण से इतिहास की उपयोगिता पर भी प्रकाश पड़ता है।

इतिहास की आवश्यकता और उसके सर्वतोमुखी प्रभाव का उल्लेख करते हुए आचार्य कौटिल्य ने कहा है कि अथर्ववेद और इतिहास दोनों वेद हैं और इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी का समावेश हो जाता है।[६] आचार्य कौटिल्य के इस मन्तव्य से पुराण-व्यतिरिक्त इतिहास के स्वतन्त्र अस्तित्व का भी पता चलता है।

---

१. त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति—निरुक्त ४।६

२. तयोर्विभागस्तत्रेतिहासमाचक्षते। —निरुक्त २।११

३. निरुक्त २।१६; १२।२; १२।१०

४. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदाथर्वणं इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां च वेदम्। —छान्दोग्य ७।१

५. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥—महाभारत

६. अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः। ···पश्चिमं (अहर्भागं) इतिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः।—अर्थशास्त्र २।४

संस्कृत-साहित्य में इतिहासविषयक सामग्री प्रायः चार रूपों में उपलब्ध होती है। कुछ ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में अपने पूर्ववर्ती ऐतिहासिक ग्रंथों का उल्लेख किया है; किन्तु जो ग्रंथ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। दूसरे प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री हमें दानपत्रों, अन्तर्लेखों, प्रशस्तियों आदि में मिलती है। तीसरी प्रकार की सामग्री 'रामायण', 'महाभारत' एवं पुराण आदि ग्रंथों से उपलब्ध होती है; और चौथी प्रकार की यथेष्ट सामग्री काव्यपरक इतिहास-ग्रन्थों में समाविष्ट है। यहाँ हम काव्यपरक इतिहास-ग्रंथों की ही चर्चा करेंगे।

इस प्रकार का पहिला ग्रंथ 'कौमुदीमहोत्सव' (४०० ई०) है, जिसमें गुप्तकाल की ऐतिहासिक घटनाओं का अच्छा चित्रण मिलता है। कांची के महेंद्रविक्रमन् (६१० ई०) के 'मत्तविलास' प्रहसन से भी तत्कालीन धर्मानुयायियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अच्छा परिचय मिलता है।

बाणभट्ट (७वीं श०) का 'हर्षचरित' इस विषय का उद्धरणीय ग्रंथ है, जिसमें एक ओर तो बाण और हर्ष की जीवन-घटनाएँ और दूसरी ओर तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों, रीति-रिवाजों और राज-काज-संबंधी व्यवस्थाओं का ऐतिहासिक ढंग से चित्रण किया गया है।

सातवीं शताब्दी के लगभग वर्तमान प्रवरसेन ने एक प्राकृत महाकाव्य 'सेतुबन्ध' लिखा। कुछ लोग प्रवरसेन को कश्मीर का राजा बताते हैं। 'सेतुबन्ध' के दूसरे नाम 'रावणवध' या 'दशमुखवध' भी हैं। दण्डी ने इस ग्रन्थ को 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्' कहकर संमानित किया है। कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा (८वीं श०) के आश्रित कवि वाक्पतिराज ने भी एक प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' लिखा है। इसमें यशोवर्मन् की पराजय से सम्बन्धित १२०८ गाथाएँ हैं; किन्तु उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत कम है। इसी शताब्दी में वर्तमान कनकसेन वादिराज का 'यशोधरचरित' ऐतिहासिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से अच्छा ग्रन्थ है। कल्हण ने शंकुकरचित एक नवम शताब्दी में वर्तमान मम्म और उत्पल के युद्ध से संबंधित 'भुवनाभ्युदय' ग्रंथ का उल्लेख किया है, जो संप्रति अप्राप्य है।

सिन्धुराज के जेठे भाई राजा मुंज के सभाकवि पद्मगुप्त या परिमल (१०वीं श०) ने एक ऐतिहासिक महाकाव्य 'नवसाहसांकचरित' लिखा। इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के नियमों के साथ-साथ ऐतिहासिक विवरणों को प्रस्तुत करने का ढंग बड़ा अच्छा और साथ ही सचाई के बहुत समीप है।

इसी कोटि का दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य कश्मीर के कवि बिल्हण (११वीं श०) ने लिखा है, जिसका नाम है 'विक्रमांगदेवचरित'। इस ग्रंथ में भी काव्योपम कथा-शिल्प के साथ-साथ ऐतिहासिक वृत्तान्तों का तथ्यपूर्ण वर्णन है। बिल्हण ने एक 'कर्णसुन्दरी' नाटिका यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं लिखी; फिर भी उसमें अनहिलवाद (गुजरात) के राजा कर्णदेव त्रैलोक्य-मल्ल के संबंध में बहुत-से ऐतिहासिक वृत्तान्त जानने योग्य हैं। इसी परंपरा में हेमचन्द्र (१२वीं० श०) का 'द्व्याश्रयकाव्य', यशश्चन्द्र (१२वीं श०) का 'मुद्रितकुमुदचन्द्र', मंखक कृत 'श्रीकंठचरित' और जल्हण (१२वीं श०) कृत 'सोमपालविजय' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। यह सोमपाल राजपुरी का राजा था। जल्हण इसका दरबारी था।

ऐतिहासिक काव्यों की परंपरा में लिखा हुआ सर्वाधिक प्रौढ़ ग्रंथ कल्हण की 'राजतरंगिणी' है। कश्मीर के राजा जयसिंह (११२७–११४९ ई०) के राज्यकाल में कल्हण ने अपने इस ग्रंथ की रचना की थी। अपने इस ग्रंथ की रचना उसने अपने पूर्ववर्ती ११ ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन करके की।

कल्हण ने अपने पूर्ववर्ती कुछ इतिहासकारों और कवियों का बड़ा ही सुंदर परिचय दिया है। उसके इन वर्णनों से उसके पूर्व में विद्यमान कुछ महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थों के आस्तित्व का पता चलता है; और उसके इन विवरणों से यह भी ज्ञात होता है अपने इस विचित्र इतिहास-ग्रन्थ की रचना उसने उन्हीं ग्रन्थों की शैली एवं उन्हीं के स्वरूप पर की थी। अनेक पूर्ववर्ती इतिहासकारों के संबंध में कल्हण का कथन है कि महाव्रती अर्थात् पाशुपतव्रत की दीक्षा से युक्त हेलाराज नामक ब्राह्मण कवि ने १२ हजार श्लोकों के एक 'पार्थिवावलि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसी के आधार पर पद्ममिहिर कवि ने अपने ग्रन्थ में अशोक के पूर्वज लव आदि आठ राजाओं का उल्लेख किया था। इसी प्रकार छविल्लाकर नामक कवि ने भी अपने ग्रन्थ में उन ५२ नरेशों में से अशोक से लेकर अभिमन्यु पर्यंत केवल पाँच राजाओं का वर्णन किया था।[1]

कल्हण के कथनानुसार सुव्रत नामक एक कवि तथा इतिहासकार और हुए, जिन्होंने बृहत्तम प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों का संक्षेप किया था। सुव्रत कवि बड़ी प्रतिभा लेकर आये थे। उन्होंने यथार्थ वृत्त लिखे; किन्तु उनकी पाण्डित्यपूर्ण और शुष्क वाणी का प्रभाव पाठकों पर न पड़ा। इसलिए उनकी कृतियाँ विलुप्त हो गईं।[2]

---

१. राजतरंगिणी १।१९-२० २. वही १।११-१२

कल्हण आगे कहता है कि कविवर क्षेमेन्द्र ने, सुव्रत के बाद, एक इतिहास-ग्रन्थ लिखा था, जिसका नाम था 'नृपावली'। यह ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से उत्तम रचना कही जा सकती है; किन्तु ग्रन्थकर्ता की असावधानी के कारण उसका कोई भी अंश निर्दोष न बच सका।[1]

संध्याकरनन्दी ने अपने 'रामपालचरित', में बंगाल के राजा रामपाल (११०४-११३० ई०) का ऐतिहासिक वृत्त दिया है। इसी परम्परा के ग्रन्थों में 'पृथ्वीराजविजय', 'जयन्तविजय', 'शुकृतसंकीर्तन', 'हम्मीरमदमर्दन', 'वसन्त-विलास', 'सुरथोत्सव', 'कीर्तिकौमुदी', 'मोहपराजय', 'चंद्रप्रभाचरित', और 'जगदुचरित', प्रभृति ग्रन्थों में भी विपुल ऐतिहासिक सामग्री बिखरी हुई है। इन सभी ग्रंथों का पूर्ण परिचय यथास्थान दिया जा चुका है।

इसी भाँति गंगा देवी के 'मथुराविजय', राजनाथ द्वितीय के 'सालुवाभ्युदय', राजनाथ तृतीय के 'अच्युतरामाभ्युदय' में विजयनगर के राजवंश का अच्छा ऐतिहासिक परिचय मिलता है। वासुदेवरथ के 'गंगावंशानुचरित', गंगाधर के 'गंगादासप्रतापविलास', तिरुमलाम्बा के 'वरदाम्बिकापरिणयचम्पू' और वाभनभट्ट वाण के 'वेमभूपालचरित' में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री बिखरी है।

यज्ञनारायण ने 'साहित्यरत्नाकर' तथा 'रघुनाथविलास' और रामभद्राम्बा ने अपने 'रघुनाथाभ्युदय' में तंजोर के रघुनाथ नामक (१६१४–१६३२ ई०) राजा का अच्छा ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत किया है। इसी श्रेणी के ऐतिहासिक काव्यों में रुद्रकविकृत 'राष्ट्रौढवंश' महाकाव्य, देवविमलगणि का 'हीरसौभाग्य', देवराज का 'बालमार्तण्डविजय' और बाणेश्वर का 'चित्रचम्पू' उल्लेखनीय हैं।

जैन संतों, जैन कवियों और जैन धर्म के आश्रयदाताओं के जीवन एवं कथाओं से संबंधित एक ऐतिहासिक ग्रन्थ मेरुतुंग ने 'प्रबन्धचिंतामणि' (१३०६ में) नाम से लिखा, जिसकी शैली का राजशेखर ने 'प्रबन्धकोश' (१३४९ ई०) में अनुकरण किया है। जैनों के पुराणग्रन्थों और चरितकाव्यों में भी इतिहास की पुष्कल सामग्री बिखरी हुई है।

कथा-काव्य

संस्कृत के कथा-साहित्य का विकास वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि कई स्थितियों एवं युगों में से होकर गुजरता

---

१. वही १।१३

रहा है। इन सभी युगों में कथा-साहित्य का अपना एक ही जैसा दृष्टि-कोण या एक ही जैसा शिल्प-सौन्दर्य एवं मान्यताएँ नहीं रही हैं। वैदिक संहिताओं में कथाओं की जगह कथाओं के तत्त्व प्रचुर रूप में फैले हुए हैं। मन्त्र-संहिताओं के संवाद-सूक्तों में भारतीय साहित्य के विभिन्न पहलुओं को रूप-रंग और वाणी देने वाले संजीवन तत्त्व मिलते हैं। मन्त्र-संहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मणग्रंथों और आरण्यकों में कथा, आख्यान एवं आख्यायिकाओं का एक स्वस्थ दृष्टिकोण पनपता हुआ दिखाई देता है।

वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग उपनिषद्-ग्रन्थों में कथा-साहित्य की विपुल संपदा छिपी हुई प्रतीत होती है। फिर भी उपनिषदों के इस कथा-वतरण का मूल उद्देश्य साहित्य की अभिवृद्धि की दृष्टि से न होकर, उससे सर्वथा भिन्न अध्यात्म-चिंतन की दृष्टि से हुआ है। इन कथाओं में भारतीय कथा-साहित्य का संवर्धन करने योग्य विशेषताएँ भले ही विद्यमान न हों; किन्तु तत्कालीन जन-जीवन के मुख्य आधार ऋषि, महर्षि, मुनि, ब्रह्मचारी, पुरोहित और राजा आदि को पात्रों के रूप में देखकर उन कथाओं की पवित्रता पर बड़ी आस्था होने लगती है। परमात्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, ज्ञान, यज्ञ, मृत्यु आदि विषयों पर आधारित उपनिषद्-ग्रन्थों की ये कहानियाँ मनोरञ्जन की दृष्टि से भी कम उपयोगी नहीं हैं।

'रामायण' और 'महाभारत' की अवतारणा से ज्ञान के क्षेत्र में दो विभिन्न युगों का सूत्रपात हुआ : पौराणिक युग और महाकाव्यों का युग। 'रामायण' और 'महाभारत' भारतीय साहित्य के दो बृहद् विश्वकोश हैं। 'रामायण' की अपेक्षा 'महाभारत' में ऐसे तत्त्व प्रचुर रूप में विद्यमान हैं। वाल्मीकि और व्यास से भी बहुत पहिले राम-रावण और कौरव-पाण्डवों की कथाएँ बिखरी हुई थीं। ये कथाएँ तत्कालीन नट-नर्तक, सूत और कुशीलवों द्वारा सारे समाज में प्रचलित की जा चुकी थीं। विशालबुद्धि वाल्मीकि और व्यास ने समाज में प्रचलित उक्त कथाओं का संकलन-संशोधन करके रामकथा और पाण्डव-कथा का एक साहित्यिक भव्य रूप हमारे सामने उपस्थित किया। 'महाभारत' में सैकड़ों कथाएँ, आख्यायिकाएँ और आख्यान इस बात की पूरी पुष्टि करते हैं कि उस समय तक कथा-साहित्य का अपना एक विशिष्ट स्थान बन चुका था।

पौराणिक युग ने कथा-साहित्य को अधिक लोकव्यापी बनाया। पुराणों की कथाओं का अस्तित्व बहुत समय तक समाज में मौखिक रूप में बना

रहा और इसीलिए एक ओर तो उनमें अनेक प्रक्षेप जुड़े और दूसरी ओर उनके स्वत्व पर स्वतन्त्र दन्त-कथाओं का निर्माण हुआ। इन पौराणिक लोकप्रचलित दन्त-कथाओं का प्रभाव उस समय प्रकाश में आये बौद्ध-जातकों पर अतिशयता से पड़ा। भगवान् तथागत से सम्बद्ध लगभग पाँच-सौ कथाएँ इन जातकों में संकलित हैं। ये जातक-कथाएँ व्यापक और मानवीय समझ के बहुत समीप हैं। उनमें यथार्थ कल्पना और व्याख्या तत्त्व का एक साथ तादात्म्य होने के कारण कथा के क्षेत्र में इन जातक-कथाओं की पहिली कलात्मक देन कही गई है। इन कथाओं में समाज की विभिन्न श्रेणियों के लोग, मनुष्य और पशु-पक्षी, नदी, पर्वत, पेड़-पौधे आदि की कहानियाँ बड़ी ही रोचक हैं।

प्राचीन भारत में कथा-काव्यों का अतिशय प्रचार रहा है। भारतीय कथा-कृतियों का महत्त्व, उनकी जनप्रियता और उनकी ऐतिहासिक प्राचीनता की ख्याति यहाँ तक बढ़ी कि विश्व-साहित्य के लिए भारतीयों की यह देन आज सर्वोपरि गिनी जाने लगी है। संसार के सामने साहित्य के इस लोकप्रिय पक्ष को प्रकाश में लाने का पहिला श्रेय भारतीय कथाकारों को ही उपलब्ध है। दुनिया का प्रायः ऐसा देश कोई नहीं बचा जहाँ की भारत की ये कथा-कृतियाँ अनुवाद के रूप में न पहुँची हों और साथ ही जहाँ की जनता ने इन कथाओं को पढ़ कर भारतीय कथाकारों के प्रति अपने प्रशंसापूर्ण उद्गार प्रकट न किये हों।

इन कथाओं की ऐसी सर्वाभिभूत भावना का एक मात्र कारण उनके सुन्दर कथाशिल्प एवं उनको मनोवैज्ञानिक ढंग से सजाने की निपुणता में है। ये कथा-कहानियाँ कुछ तो तत्कालीन जीवन के पराक्रमों पर आधारित हैं, कुछ समुद्री यात्राओं से सम्बद्ध, कुछ आश्चर्यपूर्ण घटनाओं से युक्त, कुछ आकाशलोक एवं गन्धर्वलोक का चित्रण करने वाली, कुछ धर्म की प्रेरणा से पूरित, कुछ नीतिपरक और अधिकांश शिक्षात्मक तथा उपदेशात्मक हैं।

कथा-काव्यों में पहिला स्थान नीति-कथाओं का है। इन नीति-कथाओं में पशु-पक्षी, वृक्ष-वनचर आदि मनुष्येतर प्राणियों एवं स्थावर पदार्थों में मानवीय आहार-व्यवहारों का आरोप कर बड़े सुन्दर ढंग से कथाएँ कही गई हैं। इन कथाओं में एक के भीतर दूसरी कथा को गुंफित कर अंत में उसकी परिणति किसी उपदेश या शिक्षा में की गई है। एक शिक्षात्मक या उपदेशात्मक

श्लोक को शीर्षक बनाकर उसके स्पष्टीकरण के लिए गद्यभाग में कथा को आरंभ किया गया है, और कथा की समाप्ति पर उसका संबंध किसी दूसरी कथा से जोड़ कर, आगे की कथा का आरंभ किया गया है। कथाएँ बड़ी सुगम, सरल, और समाकर्षक शैली में कही गई हैं।

इस प्रकार की नीति-कथाओं के प्रतिनिधि-ग्रंथ 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' हैं। 'पञ्चतन्त्र' सम्प्रति अपने मूलरूप में विद्यमान नहीं है। इसलिए उसके मूल स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। सम्प्रति उपलब्ध उसके विभिन्न अनुवादों एवं उसकी प्राचीनतम हस्तलिपियों के आधार पर मूल 'पञ्चतन्त्र' की रचना तीसरी शताब्दी ई० के लगभग मानी गई है।

मूल 'पञ्चतन्त्र' की कथाएँ सम्प्रति चार विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध होती हैं। पहिला संस्करण अनुपलब्ध पहलवी अनुवाद के आधार पर सीरियन तथा अरबी अनुवादों में सुरक्षित है। दूसरा संस्करण गुणाढ्य की 'बृहत्कथामञ्जरी' तथा 'कथासरित्सागर' में मिलता है। तीसरा संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' एवं उससे संबद्ध जैन-कथाओं में सुरक्षित है; और चौथा संस्करण उत्तरी एवं दक्षिणी 'पञ्चतन्त्र' है, जिसका प्रतिनिधित्व नेपाली 'पञ्चतन्त्र' या 'हितोपदेश' है।

नीतिकथाओं का दूसरा संग्रह 'हितोपदेश' है, जो कि 'पंचतंत्र' का ही संस्करण है और जिसको बंगाल के राजा धवलचन्द्र के राजकवि नारायण पंडित ने १४वीं श० के आस-पास रचा।

तीसरी कथाकृति पैशाची प्राकृत में उल्लिखित गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' थी, जो कि पहली या दूसरी शताब्दी के लगभग लिखी गई; किन्तु जो संप्रति अपने मूलरूप में उपलब्ध न होकर तीन विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध होती है। इसका पहिला संस्करण आठवीं-नवीं शताब्दी में विरचित नेपाल के बुद्धस्वामी-कृत 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', दूसरा संस्करण काश्मीर के राजा अनन्त के राजकवि क्षेमेन्द्र द्वारा ग्यारहवीं शताब्दी में रचित 'बृहत्कथामञ्जरी' और तीसरा संस्करण काश्मीर के ही विद्वान् सोमदेव द्वारा ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित 'कथासरित्सागर' है। सोमदेव ने स्वयं लिखा है कि उनका यह ग्रन्थ 'बृहत्कथा' का संक्षेप मात्र है।[1]

---

१. कथासरित्सागर, १।१।१०

बौद्ध विचारों पर आधारित अज्ञातनामा संग्रहकार का एक कथा-संग्रह 'अवदानशतक' है, जिसका अनुवाद तीसरी शताब्दी में चीनी भाषा में हो चुका था। इस दृष्टि से ये कथाएँ लगभग ईसा की पहिली शताब्दी में रचित प्रतीत होती हैं। इसी संग्रह के आधार पर एक दूसरे संग्रह 'दिव्यावदान' की कथाओं का अनुवाद भी चीनी भाषा में २६५ ई० में हो चुका था। इसलिए इस संग्रह का समय भी लगभग पहिली शताब्दी ईस्वी में प्रतीत होता है।

एक संग्रह आर्यसूर ने 'जातकमाला'[1] नाम से किया है। ये जातककथाएँ बोधिसत्त्व के पूर्वजन्म से संबद्ध हैं। इस संग्रह का अनुवाद ४३४ ई० में चीनी भाषा में हो चुका था, जिससे उसका समय ४०० ई० से पहिले का प्रतीत होता है।

जातकों और अवदानों का एक गद्य-पद्यमय संग्रह 'सूत्रालंकार' या 'कल्पनामण्डितक' नाम से खंडित रूप में उपलब्ध है, जिसका लेखक कुमारलात (लगभग १५० ई०) था। 'दिव्यावदानशतक' के आधार पर क्षेमेन्द्र (११वीं ने एक संग्रह 'अवदानकल्पलता' या 'बोधिसत्त्वावदानकल्पलता' के नाम से लिखा।

सिद्धार्षि नामक एक जैन कथाकार (१०वीं श०) ने गद्यमयी 'उपमिति-भावप्रपञ्चकथा' लिखी और हेमचन्द्र (११वीं श०) ने जैन मुनियों की श०) आत्मकथाओं के रूप में अपने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के परिशिष्ट में 'परिशिष्टपर्व' लिखा।

एक प्राचीनतम संग्रह 'वैतालपंचविंशतिका' है, जिसका कि १२वीं श० में शिवदास ने अपने ढंग से गद्य-पद्य रूप में, और जंभलदत्त ने केवल गद्य रूप में संस्कार कर प्रचारित किया। इसी का एक संस्करण वल्लभदेव ने संक्षिप्त किया।

विक्रमादित्य से संबद्ध कथाओं का एक संग्रह 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' भी है, जिसके दूसरे नाम 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' या 'विक्रमार्कचरित' भी हैं। इसका लेखक अज्ञात है। १४वीं शताब्दी ईस्वी के एक जैन लेखक ने इसका एक

---

१. डॉ० केर्न द्वारा हर्वर्ड की प्राच्य ग्रन्थमाला में मूल संस्कृत संस्करण; डॉ० स्पेयर द्वारा आक्सफर्ड (१८९५) से अंग्रेजी अनुवाद; सूर्यनारायण चौधरी द्वारा पूर्णिया (१९५२) से हिन्दी अनुवाद

गद्य रूपान्तर किया। इसी का एक रूपान्तर वररुचि के नाम से बंगाल में प्रसिद्ध है।

'शुकसप्तति' के नाम से एक अज्ञातकालीन एवं अज्ञातनामा लेखक की कथा-कृति उपलब्ध है। इसका १४वीं शताब्दी में एक फारसी अनुवाद हो चुका था। हेमचन्द्र भी इस ग्रन्थ से परिचित था। अतः इसका रचनाकाल दसवीं शताब्दी से पहिले का प्रतीत होता है।

इसी प्रकार शिवदास (१२वीं श०) ने 'कथार्णव' एवं 'शालिवाहन-कथा'; जोनराज के शिष्य श्रीवीर कवि (१५वीं श०) ने 'कथाकौतुक'; वल्लालसेन (१६वीं श०) ने 'भोजप्रबन्ध', और आनन्द ने 'माधवानलकथा' तथा विद्यापति ने 'पुरुषपरीक्षा' आदि ग्रन्थों की रचना कर संस्कृत के कथा-काव्यों के क्षेत्र में अपरिमित वृद्धि की।

सुभाषित काव्य

सुभाषित काव्य संस्कृत-साहित्य के श्रृंगार हैं। संस्कृत के छोटे-बड़े, सभी तरह के ग्रन्थकारों ने सुभाषित-काव्यों की सूक्तियों को अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत कर, उनके प्रति अपना अनुराग प्रकट किया। इससे सहज में ही सुभाषित-काव्यों की लोकप्रियता का अनुमान होता है।

विभिन्न ग्रन्थों में विकीर्णित इन सुभाषित-ग्रंथों की सूक्तियों से एक बड़ा भारी लाभ संस्कृत के ग्रन्थकारों का इतिहास जानने में हुआ है। प्रायः बहुत-सारे ग्रन्थकारों ने इन सुभाषितों को उनके निर्माताओं के नाम-सहित अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। इससे एक तो सूक्तियों की प्रामाणिकता का पता लगता है और दूसरे सूक्तिकार का इतिहास जानने में सहायता होती है।

ये सूक्तियाँ हमें प्रायः तीन रूपों में मिलती हैं। कुछ सूक्तियाँ तो ऐसी हैं, जिनके जन्मकाल एवं जन्मदाता का कुछ पता नहीं; किन्तु बराबर ही जिनका उल्लेख दूसरे ग्रंथों में मिलता है; कुछ ऐसे संग्रहग्रंथ हैं, जिनमें विभिन्न कालों के विभिन्न कवियों द्वारा निर्मित सूक्तियों को किसी संग्रहकार ने मिला-जुला कर ग्रंथरूप में बाँध दिया है; और कुछ ऐसी भी हैं, जो हमें अन्य ग्रन्थों के रूप में प्रामाणिकता से संकलित हुई मिलती हैं।

ग्रन्थरूप में प्रामाणिकता से उपलब्ध होने वाला पहिला सुभाषित-काव्य 'गाथासप्तशती' है, जो कि महाराष्ट्री प्राकृत के सात-सौ श्लोकों में लिखित है। इसका संग्रहकार आंध्रभृत्य सातवाहन राजा हाल (७८ ई० पू०) था। संस्कृत में सर्वप्रथम सुभाषित-संग्रह 'कवींद्र-वचन-समुच्चय' है। इसकी १२वीं शताब्दी में उल्लिखित नेपाली भाषा की हस्तलिपि प्राप्त हुई है। इस संग्रह में जिन प्राचीन लेखकों की सूक्तियाँ संगृहीत हैं, उनमें अन्तिम राजशेखर (९०० ई०) है। इस दृष्टि से इस संग्रह का समय दशवीं शताब्दी के आस-पास मानना उचित प्रतीत होता है। इसका संग्रहकार अज्ञात है। मालव के परमारवंशीय राजा वाक्पतिराज मुंज (११वीं शती) का प्रभावशाली विद्वान् अमितगति हुआ। उसने सुभाषितविषयक एक ३२ प्रकरणों एवं ९२२ पद्यों का बृहद् ग्रन्थ 'सुभाषित-संदोह' के नाम से लिखा।

तदनन्तर चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र सोमेश्वर ने १३३१ ई० में 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' या 'नामोल्लास'; बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१२वीं श०) के आश्रित कवि गोवर्धन ने 'गाथासप्तशती' के अनुकरण पर 'आर्यासप्तशती'; बटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने 'सदुक्तिकर्णामृत' (रचना १२०५ ई०); यादव-वंशीय राजा कृष्ण (१२४७–१२६० ई०) के सचिव एवं राजकवि जल्हण ने 'सूक्तिमुक्तावली' (रचना १२५७ ई०); सुप्रसिद्ध वेद-भाष्यकार एवं विजयनगर के राजाओं के महामंत्री एवं राजविद्वान् सायणाचार्य (१४वीं श०) ने 'सुभाषित सुधानिधि'; दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधरपद्धति' (रचना १३६३ ई०); सकलकीर्ति (संभवतः १५वीं श०) ने 'सुभाषितावली' आदि कतिपय उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण कर सुभाषित-काव्य के क्षेत्र को अधिक व्यापक एवं समृद्ध बनाया।

इसी परम्परा को पोतयार्य ने 'प्रसङ्गरत्नावली' (रचना १४६६ ई०); जोनराज के शिष्य श्रीवर ने 'सुभाषितावली' (रचना १४८० ई०); वल्लभदेव (१५वीं श०) ने भी 'सुभाषितावली'; कृष्णचैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी (१५वीं श०) ने 'पद्यावली'; दक्षिणात्य विद्वान् पेड्डि भट्ट (१५वीं श०) ने 'सूक्तिवारिधि', हरि कवि (१७वीं श०) ने 'सुभाषितहारावली'; महाराष्ट्रीय वीरपुंगव छत्रपति शिवाजी के पुत्र शम्भुजी (१७वीं श०) ने 'बुधभूषण'; अज्ञातकालीन संग्रहकार हरिभास्कर ने 'पद्यामृततरंगिणी' और शिवदत्त ने 'सुभाषितसंग्रह' आदि ग्रंथों का निर्माण एवं संग्रह कर आगे बढ़ाया।

काव्य साहित्य की समृद्धि

१९वीं श० के उत्तरार्ध में डॉ० बॉटलिंग ने संस्कृत के संपूर्ण सुभाषित-ग्रंथों का अनुशीलन करके उनमें से ८०० उत्कृष्ट सूक्तियों को छाँटा और उनको पुस्तकाकार में संबद्ध कर प्रामाणिक भूमिका के साथ जर्मन भाषा के गद्य में अनूदित कर प्रकाशित किया, जिसका नाम उन्होंने रखा 'इण्डिशे स्प्रूखे' (भारतीय सूक्तियाँ)। इस सूक्तिग्रंथ का यूरोप में बड़ा आदर हुआ।

नीतिविषयक उपदेशात्मक काव्य

संस्कृत के काव्य-साहित्य की कुछ कृतियों में नीतिविषयक सूक्तियों की प्रधानता और उपदेशात्मक सूक्तियों का गौणत्व मिले-जुले रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें प्रधानतया उपदेशात्मक सूक्तियाँ और गौणतया नीतिविषयक सूक्तियाँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार की काव्य-कृतियाँ न तो विशुद्ध नीतिपरक हैं और न विशुद्ध उपदेशात्मक ही। इसलिए ऐसी कृतियों का वर्गीकरण हमने मिले-जुले रूप में नीतिविषयक उपदेशात्मक काव्य के अन्तर्गत किया है।

आचारप्रधान होने के कारण नीतिविषयक सूक्तियों पर धर्म और दर्शन दोनों का प्रभाव है। ये नीतिविषयक उपदेशात्मक काव्य संस्कृत में एक सर्वथा नवीन परम्परा और नई विचारपद्धति की व्याख्या उपस्थित करते हैं। सामाजिक सद्भाव, मैत्री भावना का निर्माण, धर्म, दर्शन, सदाचार और राजनीति जैसे गम्भीर विषयों का सरल काव्यमयी भाषा में प्रतिपादन करने में इस प्रकार के ग्रंथकारों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय को संस्कृत में उतारा है।

इन सूक्तिकारों ने सुख-दुःख का विवेचन कर जीवन के साथ उसके सम्बन्धों को बड़ी चुस्ती से घटित किया; जीवन की अभ्युन्नति को दृष्टि में रख कर सुमार्ग एवं कुमार्ग की भलाई-बुराई का परीक्षण किया; मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों को एक दायरे में खड़ा कर उनकी प्रेम-भावनाओं को परखा; मानव-जगत् तथा पशु-जगत् की सद्वृत्तियों का विश्लेषण कर मैत्री भाव की आस्था को बलवत्तर बनाया; सीधी चोट करने वाली व्यंग्यात्मक शैली में दैन्य, कार्पण्य, शोषण, असमानता आदि सामाजिक प्रवृत्तियों पर भी समर्थ प्रहार किया। इनमें भाग्य की अवश्यंभाविता के बावजूद भी पुरुषार्थ को सर्वोपरि स्थान दिया गया; और साहित्य जैसे श्रेष्ठतम कर्म में आत्मश्लाघा, पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा अनियमित ज्ञानार्जन को बुरा कहा गया है।

संस्कृत के इन नीतिविषयक उपदेशात्मक काव्यों के निर्माताओं के इस अद्भुत मनोविज्ञान को देखकर आश्चर्य होता है। दुनिया के साहित्य के साथ संस्कृत के इस काव्य-पक्ष की तुलना करने की योग्यता मेरी नहीं है ; किन्तु मैं यही कहूँगा कि जिस किसी भी साहित्य में, इतने प्राचीन काल में, इस प्रकार की कृतियों का निर्माण हुआ, वह साहित्य और वे साहित्यकार सचमुच ही प्रशंसा के पात्र हैं।

ये उपदेशकाव्य या नीतिकाव्य जिस प्रकार विषय की दृष्टि से विचित्र हैं, वैसे ही इनके अधिकांश निर्माताओं और इनके नाम-धाम, जन्म-स्थान आदि का इतिहास भी विचित्र है। कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं, जो मौखिक रूप में जीवित रहती हुई न जाने किस दूर अतीत से आज तक अपने अस्तित्व को बनाये हैं ; कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं, जो प्रसंगानुसार विभिन्न ग्रंथों में उद्धृत हुई मिलती हैं ; कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं, जिनको किसी दूसरे ही संग्रहकार ने समेट कर एक पुस्तक में संकलित कर दिया है; और कुछ सूक्तियाँ ऐसो हैं, जो अंग-भंग के रूप में भिन्न-भिन्न पाठभेदों में मिलती हैं। किन्तु सर्वथा ऐसा नहीं है कि ये नीतिकाव्य छितरी-बिखरी सूक्तियों के ही रूप में मिलते, या सर्वथा ही उनके निर्माताओं का इतिहास विलुप्त है, अपितु उनकी बहुत-सारी ऐतिहासिक परम्परा भी सुरक्षित है।

इस कोटि की स्फुट सूक्तियों का इतिहास बताना कठिन है ; किन्तु ग्रन्थ-रूप में 'चाणक्यशतक' पहिला नीतिग्रन्थ है, जिसमें ३४० श्लोक संगृहीत हैं और सम्भवतया जिसका लेखक सुप्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' का निर्माता एवं चन्द्रगुप्त मौर्य (४०० ई० पू०) का प्रधान सचिव कौटिल्य, चाणक्य, या विष्णुगुप्त ही था। इसी चाणक्य ने 'राजनीतिसमुच्चय' और 'वृद्धचाणक्य' दो ग्रंथ और लिखे। बौद्धों का 'धम्मपद' भी इसी कोटि का ग्रंथ है।

मदुरा के निवासी सुन्दरपाण्ड्य के 'नीतिद्विषष्टिका' के श्लोकों को जनाश्रय (६०० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'छन्दोविचिति' में उद्धृत किया है, जिससे उसका समय पाँचवीं शताब्दी में प्रतीत होता है। कुमारिल (७०० ई०) और शंकराचार्य (८०० ई०) ने भी अपने ग्रन्थों में सुन्दरपाण्ड्य-कृत कुछ नये श्लोकों को उद्धृत किया है, जिससे प्रतीत होता है कि उसने दूसरे नीतिकाव्य भी लिखे। बौद्ध विद्वान् शांतिदेव (६०० ई०) ने इस कोटि का ग्रन्थ 'बोधिचर्यावतार' लिखा, जिस पर लिखी गई अनेक

टीकाएँ उसकी लोकप्रियता का द्योतन करती हैं। इन्होंने ही 'शिक्षासमुच्चय और 'सूत्रसमुच्चय' भी लिखे। गीतिकाव्यों की कोटि में निर्दिष्ट भर्तृहरि वे तीनों शतक-ग्रन्थ, 'नीतिशतक', 'शृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' का उल्लेख नीतिकाव्यों की परम्परा में भी स्थान पाने योग्य है। उनमें भी 'नीतिशतक प्रमुखता से उल्लेखनीय है।

शंकराचार्य के नाम पर जुड़ा हुआ एक दार्शनिक एवं उपदेशात्मक ग्रन्थ 'मोहमुद्गर' इसी परम्परा का है। इसके अतिरिक्त काश्मीर के राजा जयापीड़ (७७९-८१३ ई०) के आश्रित कवि दामोदर कृत 'कुट्टिनीमत' तथा 'शम्भलीमत'; जैनाचार्य अमितगति कृत 'सुभाषितरत्नसंदोह' (रचना ९९४ ई०) एवं 'धर्मपरीक्षा' (रचना १०१४ ई०); क्षेमेन्द्र (११वीं शताब्दी) कृत 'चारुचर्या', 'चतुर्वर्गसंग्रह', 'सेव्यसेवकोपदेश', 'समयमातृका', 'कलाविलास' और 'दर्पदलन'; जैनाचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) का 'योगशास्त्र'; जल्हण (१२वीं श०) का 'मुग्धोपदेश'; शिल्हण (तेरहवीं शताब्दी) का 'शान्तिशतक' और सोमप्रभ की 'शृंगारवैराग्यतरंगिणी' (रचना १२७६ ई०) ने नीतिकाव्यों या उपदेशकाव्यों की परम्परा को समृद्ध एवं समुन्नत किया।

तदनन्तर १४वीं शताब्दी में भर्तृहरि के 'नीतिशतक' के अनुकरण पर वेदान्तदेशिक ने 'सुभाषितनीवि' और 'वैराग्यशतक' के अनुकरण पर 'वैराग्यपंचक'; कुसुमदेव (१४वीं श०) ने 'दृष्टान्तशतक'; घा-द्विवेदी (१५वीं श०) ने 'नीतिमंजरी' प्रभृति ग्रन्थ लिखे। १७वीं शताब्दी में वर्तमान संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार पण्डितराज जगन्नाथ का 'भामिनीविलास' इस विषय का उच्चतम ग्रन्थ है।

इसी परम्परा में नीलकंठ दीक्षित (१७वीं श०) ने 'कलिविडम्बन', 'सभारंजनशतक', 'शांतिविलास', 'वैराग्यशतक'; 'वेंकटाध्वरी' (१७वीं श०) ने 'सुभाषितकौस्तुभ'; कश्मीर के राजा शंकर वर्मा (८८३-९०२ ई०) के आश्रित कवि वल्लाल ने अन्योक्तिप्रधान ग्रन्थ 'वल्लालशतक'; कश्मीर के राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के आश्रित कवि शम्भु ने 'अन्योक्तिमुक्तमाला' और नीलकंठ दीक्षित (१६५० ई०) ने 'अन्योक्तिशतक' ग्रन्थ लिखे। अज्ञातकालीन कवि वीरेश्वर का 'अन्योक्तिशतक' इस श्रेणी के काव्यों में अन्तिम कृति है।

गद्य भाषा का उद्गम और उत्कर्ष

गद्य की प्राचीनता

संस्कृत-साहित्य में गद्य भाषा की परम्परा को वैदिक संहिताओं जितना प्राचीन कहा जा सकता है। पद्य भाषा की अपेक्षा गद्य भाषा को संस्कृत में अधिक सम्मान दिया गया मालूम होता है। गद्य के लिए संस्कृत में एक उक्ति है : 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य भाषा कवियों के कवित्व-बल की कसौटी है। कृष्णयजुर्वेद, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषद्-ग्रन्थों, निरुक्त, महाभारत और महाभाष्य प्रभृति ग्रंथों से संस्कृत भाषा के गद्य को संवर्धनशील परम्परा उपलब्ध हुई। आगे चलकर सैकड़ों टीकाओं-व्याख्याओं, कथाकाव्यों, आख्यायिका-ग्रंथों और चम्पू-नाटक आदि में गद्य भाषा का प्रौढ रूप सामने आया। तत्वज्ञानसंबंधी दर्शनग्रन्थों, विज्ञान-विषयक ज्योतिष-ग्रन्थों और भाषाशास्त्रसम्बन्धी व्याकरण के ग्रन्थों आदि में भी गद्य को फूलने-फलने, और अपना विकास करने की पूरी सुविधाएँ प्राप्त रहीं।

ऐतिहासिक गवेषणाओं से हमें प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अंश वैदिक साहित्य में गाथाओं का अस्तित्व बड़ी प्रभावोत्पादक रीति से स्वीकार किया गया है। ब्राह्मणग्रंथों के अर्थवाद के एक आवश्यक अङ्ग के रूप में वैदिक साहित्य के क्षेत्र में आख्यान, इतिहास एवं पुराणों का स्पष्ट उल्लेख है, जो धार्मिक संस्कारों या यज्ञ के अवसरों पर सुनाए जाते थे।[१] इन आख्यानों में गद्य के साथ जो पद्य भाग मिश्रित है, उसे 'गाथा' कहा गया है। ऋग्वेद में 'नाराशंसी' गाथाओं का उल्लेख दानस्तुति के रूप में हुआ।[२] इनके सम्बन्ध में वहाँ यह कहा गया है कि ये झूठी हैं।[३] इन गाथानाराशंसियों के रचयिता, वक्ता एवं प्रवक्ता तत्तत्कालीन सूत थे। सूतों के अतिरिक्त एक दूसरी श्रेणी कुशीलवों (नट-नर्तकों) की भी थी, जो समाज में इन गीतों को नाच-गा कर सुनाया करते थे।[४]

गद्य भाषा की प्राचीनतम गाथाएँ और आख्यायिकाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं; फिर भी पुराने उपलब्ध ग्रन्थ हमें इस संबंध में पर्याप्त विवरण देते हुए

---

१. शतपथ ब्राह्मण १३।४।३; शांखायन गृह्यसूत्र १।२२।११

२. ऋग्वेद १०।८५।६ ३. गाथानृतं नाराशंसी–काठकसंहिता १४।५

४. एम० विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वाल्यूम १, पृ० ३१४

मिलते हैं। सुप्रसिद्ध वैयाकरण वार्तिककार कात्यायन (४०० ई० पूर्व) हमें आख्यायिका से सुपरिचित जान पड़ते हैं।[1] दूसरे वैयाकरण महाभाष्यकार पतंजलि (२०० ई० पूर्व) के संबंध में ऐसा विश्वास होता है कि वे 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं को अपने हाथ से भली-भाँति उलट-पुलट चुके थे।[2] उनका 'महाभाष्य' गद्य की समृद्धि का प्रौढ़ परिचायक है।

रुद्रदामन् का गिरनार-शिलालेख (१५० ई०), गुप्तकालीन-शिलालेख[3] और विभिन्न स्थानों से उपलब्ध सैकड़ों अभिलेखों[4] को देखकर गद्य के प्राचीन अस्तित्व का सहज में ही अन्दाजा लगाया जा सकता है। कथाकार बाण ने एक सिद्धहस्त गद्यकार भट्टारक हरिश्चन्द्र का नाम उद्धृत किया है।[5] इसी प्रकार जल्हण के कथनानुसार वररुचिकृत 'चारुमती', रोमिल्ल-सौमिल्लकृत 'शूद्रककथा',[6] तिलकमंजरीकार धनपाल के कथनानुसार श्रीपालितकृत 'तरंगवती-कथा'[7] और आंध्रभृत्य सातवाहन राजाओं के समय लिखी गई 'शातकर्णी-हरण' एवं 'नमोवंतीकथा' आदि ग्रंथ भी प्राचीन गद्य की परंपरा का समर्थन करते हैं। इन कथाकृतियों के कारण ही दण्डी, सुबंधु और बाण जैसे अद्भुत गद्यकारों की प्रतिभा को हम पा सके हैं। दण्डी, सुबंधु और बाण ही संस्कृत के गद्य-वैभव के स्वामी हैं; फिर भी यह स्मरणीय है कि इनसे पूर्व भी संस्कृत में गद्य-लेखन की परंपरा विद्यमान थी।[8]

---

१. कात्यायन : लुबाख्यायिकेभ्यो बहुलम् ; आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च।

२. पतञ्जलि : 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' 'बहुलं लुग्वक्तव्यः'—वासवदत्ता, सुमनोत्तरा। न च भवति। भैमरथी। —महाभाष्य ४।३।८७

३. फ्लीट : गुप्त इंस्क्रिप्शन्स तथा गुप्तकालीन शिलालेख

४. डॉ० श्यामसुदरदास : प्राचीन मणिमाला, भाग १, (नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी १९०३)

५. बाण : पदबंधोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबंधो नृपायते॥ —हर्षचरित

६. जल्हण : तौ शूद्रककथाकारौ वंद्यौ रोमिलसौमिलौ।
ययोर्द्वयोः काव्यमासीदर्धनारीश्वरोपमम्॥

७. पुण्या पुनाति गंगेव गां तरङ्गवती कथा। —तिलकमञ्जरी

८. विस्तार के लिए देखिए : एस० एन० व्यास : ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑफ संस्कृत प्रोज, इण्ट्रोडक्शन्स टु संस्कृत गद्यमञ्जरी

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में शास्त्रीय गद्य की अवतारणा करने वाले तीन विद्वानों : शबर स्वामी (४०० ई०), शंकराचार्य (७०० ई०) और जयंत भट्ट (९०० ई०) का नाम उल्लेखनीय है। प्रौढ मीमांसक शबर स्वामी का 'कर्ममीमांसा-भाष्य', अतल प्रतिभा के विद्वान् शंकराचार्य कृत 'ब्रह्मसूत्र', 'गीता' तथा उपनिषदों का भाष्य और सुप्रसिद्ध नैयायिक पंडित जयंत भट्ट कृत 'न्यायमंजरी' आदि दर्शनग्रन्थ गद्य का परिष्कृत एवं सुसंस्कृत रूप उपस्थित करते हैं।

दर्शनशास्त्र के अतिसूक्ष्म एवं रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले उक्त तीनों भाष्यकारों का गद्य असाधारण पारिभाषिक शैली में लिखा गया था। उसमें दुरूहता एवं पांडित्य की अधिकता थी, जिसका प्रयोग किए बिना दर्शन के कठिन विचारों का प्रतिपादन करना संभव नहीं था। अतः भाष्य शैली का यह दार्शनिक गद्य आगे प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता प्राप्त न कर सका। गद्यकाव्यों के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रवृद्धशील, लोकप्रिय और अनुकरणीय गद्य का प्रवर्तन दण्डी, सुबंधु तथा बाण की कृतियों से लक्षित होता है।

आरम्भ में यद्यपि गद्य-रचना को काव्य-कौशल का कारण माना जाने लगा था या गद्य-कृतियों को काव्य न कहा जा कर उसको कवियों की कसौटी माना जाने लगा था, तथापि हम देखते हैं कि इसका परिणाम यह हुआ कि आत्मश्लाघा एवं काव्य-कौशल के लिए कवियों ने ऐसे गद्य का निर्माण किया जो समासबहुल, अतिदुरूह और पांडित्य-प्रदर्शन से भरपूर था। हम देखते हैं कि एक छोटी सी कथा को, विभिन्न प्रसंगों में उलझा कर, इतना जटिल बना दिया गया कि मुख्य कथा को समझना ही दुष्कर हो जाता है।

कथा : आख्यायिका

गद्य का वह वैभवशाली रूप, जिसकी अवतारणा से संस्कृत भाषा को आगे बढ़ने का सुअवसर मिला, हमें दण्डी, सुबंधु और बाण की रचनाओं में मिलता है। किन्तु यह सुनिश्चित सा है कि गद्य की परंपरा दण्डी आदि से भी पहिले की है। आचार्य दण्डी के काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ में गद्य के भेदोपभेदों की विस्तृत चर्चा, गद्य की पूर्वागत परंपरा का विश्वसनीय ब्यौरा उल्लिखित है।[1] आचार्य दण्डी ने गद्य के प्रधान दो भेद किए हैं :

---

१. दण्डी : काव्यादर्श १।२३-३०

(१) कथा और (२) आख्यायिका। कथा, कल्पना की आधारभित्ति पर निर्भर होती है तो आख्यायिका में ऐतिहासिक सच्चाइयों का स्पष्टीकरण रहता है, जैसा कि कोशकार ने भी कहा है।[1] कथा का वक्ता जहाँ नायक होता है, वहाँ आख्यायिका में, उसके विपरीत, नायक ही स्वयं वक्ता होता है। इस दृष्टि से आख्यायिका एक प्रकार से आत्मकथा के अन्तर्गत आ जाती है। आख्यायिका अध्यायों, उच्छ्वासों में विभक्त होती है और कहीं-कहीं उसमें पद्य का भी समावेश रहता है; किन्तु कथा में यह सब नहीं होता है। कथा का विषय अपहरण, युद्ध, वियोग तथा प्रकृतिवर्णन से संबद्ध रहता है; किन्तु आख्यायिका में इन बातों का होना आवश्यक नहीं है। कथा और आख्यायिका में यह मौलिक भेद होते हुए भी वे गद्य के ही दो रूप हैं, और देखा जाय तो संस्कृत की समग्र कथा-कृतियों में किसी भी कथाकार ने आख्यायिका और कथा के इस विभेद का पालन नहीं किया है।[2]

गद्य की कथा-आख्यायिका के शिल्प-स्वरूप का विवेचन दण्डी, सुबंधु और बाण के बाद दिखाई देता है। इन तीनों गद्यकारों ने अपनी-अपनी स्वतन्त्र शैलियों को दिया, जो बहुत ही रोचक थीं; किन्तु जिनको हू-बहू उतारने में बाद के गद्यकार समर्थ न हो सके।

गद्य का समृद्धिशाली रूप

आचार्य दण्डी संस्कृत के प्रथम गद्यकार हैं। 'दण्डी' सम्भवतः एक उपाधि नाम था। उनका वास्तविक नाम अविदित है। दण्डी के देश-काल-सम्बन्धी तथ्यों को खोज निकालने में कुछ दिन विद्वानों के बीच बड़ा अनैक्य रहा है। उनके सम्बन्ध में इतना तो स्पष्ट रूप से सिद्ध हो चुका है कि वे दाक्षिणात्य और सम्भवतः विदर्भदेशीय (बरारनिवासी) थे।[3] पीटरसन, याकोबी, बेलवेलकर और बर्नेट प्रभृति विद्वानों ने दण्डी को विभिन्न तिथियों में रखा है।[4] किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उक्त विद्वानों के मतानुसार दण्डी न तो आठवीं शताब्दी के आस-पास हुए और न ही वे बाण के उत्तरवर्ती थे। दण्डी और बाण के काल-ज्ञान के लिए सबसे बड़ा प्रमाण 'दशकुमार-

---

१. अमरसिंह : आख्यायिकोपलब्धार्था; प्रबन्धकल्पना कथा। —अमरकोश १।५।५, ६

२. विस्तार के लिए देखिए : एस० एन० व्यास : ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑफ संस्कृत प्रोज, इण्ट्रोडक्शन्स टु संस्कृत गद्यमञ्जरी

३. काव्यादर्श १।३४, ४१, ४२ ४. डॉ० बर्नेट : जे-आर-ए-एस, पृ० ८४१, १९०५

चरित' उपस्थित करता है। उसमें जो भौगोलिक चित्रण और राजनीतिक वातावरण है वह सम्राट् हर्षवर्धन (सातवीं शताब्दी) के राज्यकाल से पहिले के भारत का है।[१] इसलिए दण्डी को हम छठी शताब्दी के बाद मानने के पक्ष में नहीं हैं। यही बात अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् स्वीकार करते आये हैं।[२]

दण्डी को तीन ग्रंथों का प्रणेता बताया गया है। इसका आधार 'शार्ङ्गधर-पद्धति' में दिए गए राजशेखर का वह श्लोक है, जिसमें दण्डी के तीन प्रबन्धों को तीन अग्नि, तीन देव, तीन वेद और तीन गुणों के समान तीनों लोकों में विश्रुत बताया गया है।[३] 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' उनके नाम से प्रसिद्ध हैं, यद्यपि कुछ विद्वान् 'दशकुमारचरित' को भी दण्डी-प्रणीत नहीं मानते हैं।[४] किन्तु इस प्रकार के तर्क अब निराधार साबित हो चुके हैं। दण्डी की तीसरी कृति के सम्बन्ध में विवाद रहा है। उन्होंने 'काव्यादर्श' में 'छन्दोविचिति' या 'कलापरिच्छेद' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[५] किन्तु वहाँ इस संबंध में आगे कुछ नहीं बताया गया है। पिशेल महोदय ने 'काव्यादर्श', 'दशकुमारचरित' और 'मृच्छकटिक' का तुलनात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'मृच्छकटिक' ही दण्डी की तीसरी कृति है।[६] किन्तु अपने मत की पुष्टि में उन्होंने जो प्रमाण प्रस्तुत किए हैं वे विश्वास योग्य नहीं हैं।

---

१. कॉलिन्स : दि ज्योग्रफिकल डेट ऑफ दि रघुवंश ऐण्ड दशकुमारचरित, पृ० ४६ (१९०७)

२. मैक्समूलर : इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस, संस्करण १, पृ० ३३२; वेबर : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० २३२; मैक्डोनेल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४३४; कर्नल जेकब : जरनल ऑफ दि रायल एशि०, पृ० २८७ (१८४७); जैकोबी : इण्डियन एण्टिक्वेरी ५, पृ० ६७–७१

३. शार्ङ्गधरपद्धति : त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबंधाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥
तथा पीटरसन : सुभाषित-ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १० का पद्य १७४

४. त्रिवेदी : प्रतापरुद्रयशोभूषण की भूमिका तथा आगशे : इण्डियन एंटीक्वेरी, पृ० ६७ (१९०५)

५. काव्यादर्श १।१२; ३।१७१

६. मिलाइए : काव्यादर्श २।२२६ तथा मृच्छकटिक १।३४

कुछ दिन पूर्व 'मल्लिकामारुत' को दण्डी का तीसरा ग्रन्थ माना जाने लगा था; किन्तु आधुनिक अनुसंधानों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उक्त नाटक दण्डी का न होकर मालावार के किसी उद्दण्ड रङ्गनाथ (१५०० ई०) कवि का है।[1] भोजदेव ने भी अपने ग्रंथ में दण्डी के नाम से द्विसन्धान-पद्धति का एक श्लोक उद्धृत किया है।[2] यह श्लोक गवेषणीय है।

१९२४ ई० में श्री एम० आर० महोदय ने एक अपूर्ण गद्यकाव्य 'अवन्तिसुंदरीकथा' को दक्षिणभारत की ग्रन्थावली में सम्पादित एवं प्रकाशित किया था। इस ग्रन्थ की शैली दण्डी के उक्त दोनों ग्रन्थों से पर्याप्त साम्य रखती है। इसके सम्पादक महोदय ने भी यही प्रमाणित किया कि यह कथा-ग्रन्थ दण्डी-प्रणीत है।[3] इससे पूर्व दण्डी के 'काव्यादर्श' का प्रसिद्ध टीकाकार जंघाल अपनी टीका में 'अवतिसुंदरी' नामक आख्यायिका का हवाला दे चुका था।

आचार्य दण्डी के बाद कथा-काव्य के क्षेत्र में सुबन्धु तथा बाण में से कौन पहिले हुआ, इस संबंध में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वानों की राय है कि सुबंधु ने कई घटनाओं, पदों और यहाँ तक कि शब्दों को भी बाण की रचनाओं से ज्यों-का-त्यों उधार लिया है।[4] इसके विपरीत म० म० काणे ने सुबंधु और बाण के स्थितिकाल के संबंध में जो तर्क और प्रमाण उपस्थित किए हैं, वे अधिक विश्वासयोग्य हैं। काणे महोदय का यह भी कथन है कि बाण के 'हर्षचरित' में जिस 'वासवदत्ता' का उल्लेख किया गया है[5] वह पतंजलि द्वारा उद्धृत कृति न होकर सुबन्धु की कृति 'वासवदत्ता' ही है।[6]

सुबंधु और बाण की समय-स्थिति को स्पष्ट करने के लिए हमारे पास पहिला प्रमाण तो यह है कि कविराज (१२०० ई०) ने अपने महाकाव्य 'राघवपाण्डवीय' में सुबंधु को पहिले और बाण को बाद में रखा है।[7] उनकी

---

१. कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० २५७

२. भोजदेव : उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः॥

३. एम० आर० कवि : प्रोसीडिंग्स ऑफ ओरि० कान्फ्रेंस, पृ० १९३-२०१ (१९२२)

४. एम० कृष्णमाचारियर : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४६९

५. कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥

६. काणे : कादम्बरी की अंग्रेजी भूमिका, पृ० १७-१७

७. कविराज : राघवपाण्डवीय १।४१

यह नामगणना संभवतः कालक्रम पर ही आधारित थी। इसके अतिरिक्त वाक्पतिराज (७३६ ई०) ने अपने प्राकृत काव्य 'गउडवहो' में सुबंधु का नाम तो बड़े आदर के साथ उद्धृत किया है;[1] किन्तु बाण का उसमें कहीं संकेत तक नहीं है; जब कि बहुश्रुत विद्वान् बाण का नाम भी संमान के साथ लिया जाना चाहिए था। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि वाक्पतिराज के समय तक बाण का अस्तित्व था ही नहीं; बल्कि तब तक बाण, सुबंधु जितनी ख्याति अर्जित नहीं कर पाया था।[2]

सुबंधु की 'वासवदत्ता' के उल्लेखों के साथ भवभूति (७०० ई०) के 'मालतीमाधव', सुप्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर (७०० ई०) और बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति (७०० ई०) आदि ग्रन्थकारों के सिद्धान्तों का परिशीलन करके डॉ० कीथ ने सुबंधु के स्थितिकाल की पूर्वसीमा सातवीं शताब्दी के आरम्भ में स्थिर की है।[3] इतिहासकारों की आधुनिक सम्मति यह है कि सुबंधु का समय उद्योतकर-धर्मकीर्ति (६२५ ई०) के बाद और बाण (६५० ई०) के पूर्व किसी भी समय में होना चाहिए।[4]

सुबंधु की कृतियों में 'वासवदत्ता' ही गद्य-काव्य की एकमात्र कृति है। बाण ने अपने ग्रन्थ में जिस 'वासवदत्ता' का उल्लेख किया है वह सुबंधुकृत न होकर पतंजलि (२०० ई० पू०) की पूर्ववर्ती रचना थी।[5]

दण्डी और सुबंधु के बाद बाण का क्रम आता है। बाणभट्ट संस्कृत-साहित्य के उन यशस्वी विद्वानों में—से हुए, जिनके कारण संस्कृत भाषा को विश्व की उच्चतम भाषाओं में स्थान मिला। संस्कृत-साहित्य के उन इने-गिने निर्माताओं में बाणभट्ट का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपने संबंध की भी कुछ बातें कह कर इतिहासकारों की भारी मदद की। 'हर्षचरित' के प्रथम तीन उच्छ्वासों और 'कादम्बरी' के आरम्भ में बाण ने आत्मकथा एवं आत्मवंशपरिचय विस्तार से लिख दिया है।

बाण के आत्मचरित में उनके विद्वान् पुत्र का उल्लेख बड़े महत्त्व का है, जिसने बाण की मृत्यु के बाद उनकी महान् कृति 'कादम्बरी' के उत्तरार्ध

---

१. वाक्पतिराज : गउडवहो, ८००

२. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

३. कीथ : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७७ तथा कीथ : जे० आर० ए० एस०, पृ० ११०२ एच, १९१४

४. पाण्डेय : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

५. वी० वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १९१

भाग की रचना कर अपने पांडित्य का परिचय दिया। इनके भूषणभट्ट या भूषणबाण,[1] पुलिन्द या पुलिन[2] अथवा केवल पुलिन्द[3] आदि अनेक नाम पाये जाते हैं।

कुछ दिन पूर्व बाण के संबंध में एक विस्तृत गवेषणात्मक लेख प्रो० शिवाधार सिंह जी ने लिखा था।[4] अपने इस पांडित्यपूर्ण लेख में उन्होंने विभिन्न विद्वानों के मतों का विश्लेषण और विभिन्न ग्रंथों में सुविचारित बाणसंबंधी सामग्री को प्रमाणरूप में उद्धृत कर यह निष्कर्ष दिया था कि बाण के समय की उत्तरकालीन सीमा ६५०–७०० ई० के भीतर है।[5]

सुविदित है कि बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन की विद्वत्सभा का उज्ज्वल रत्न था।[6] तत्कालीन चीनी यात्री ह्वेनत्साँग, जिसने कि ६२९–६४५ ई० के बीच भारत का भ्रमण किया, हर्ष के राज्य का आँखों-देखा हाल बताया है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों से भी यह विदित हो चुका है कि हर्ष का राज्याधिरोहण अक्टूबर ६०६ ई० में और उसका शरीरांत ६४५ ई० में हुआ था।[7]

लगभग आठवीं शताब्दी तथा उसके बाद तक लिखे गए अनेक ग्रन्थों में बाण का तथा उनकी कृतियों का वर्णन मिलता है। ऐसे ग्रंथों में रुय्यक (११५० ई०) का 'काव्यालंकारसर्वस्व', क्षेमेंद्र की 'बृहत्कथामंजरी' (१०३७ ई०), रुद्रट के 'काव्यालंकार' की नमिसाधु कृत टीका (१०६९ ई०), भोज (१००० ई०) का 'सरस्वतीकंठाभरण', धनंजय (१००० ई०) का 'दशरूपक', आनन्दवर्धन (८५० ई०) का 'ध्वन्यालोक' और वामन (८०० ई०) का 'काव्यालंकारसूत्र' उल्लेखनीय हैं।

बाणभट्ट की कृतियों के आधुनिकतम समीक्षक डॉ० वासुदेवशरण

---

१. पीटर्सन : कादम्बरी की अंग्रेजी भूमिका, पृ० ४

२. एस० आर० भण्डारकर : रिपोर्ट ऑफ दि सर्च फार मैन्यु०, पृ० ३४, १९०४-५-६

३. धनपाल : तिलकमंजरी, श्लोक २६

४. सम्मेलन-पत्रिका : 'बाण और मयूर' पृ० ४८८–४९७

५. बाण के वंशज तथा वासस्थान के सम्बन्ध में एक दूसरा खोजपूर्ण लेख देखिए—माधुरी, पृ० ७२४, आषाढ १९८७ वि०

६. तिलक : गीतारहस्य, पृ० ५६५

७. पीटर्सन : कादम्बरी की अंग्रेजी भूमिका तथा स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चैप्टर १३

अग्रवाल का मंतव्य है कि 'बाणभट्ट का समय सातवीं शती का पूर्वार्ध है। उस समय गुप्तकालीन संस्कृति पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। एक प्रकार से स्वर्णयुग की वह संस्कृति अपनी सांध्यवेला में आ गई थी और सातवीं शती में भी उसका बाह्य रूप भली प्रकार पुष्पित, फलित और प्रतिमंडित था। कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार, विचार आदि की दृष्टि से बाण के अधिकांश उल्लेख गुप्तकालीन संस्कृति पर भी प्रकाश डालते हैं।'[1]

गद्य-काव्य के लिए बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दिए। 'कादम्बरी' संपूर्ण गद्यग्रंथों में सर्वोच्च और सर्वाधिक लोकप्रिय ही नहीं है; बल्कि समग्र संस्कृत-साहित्य में प्रथम श्रेणी के जो ग्रन्थकार हैं उनमें बाणभट्ट की गणना 'कादम्बरी' को दृष्टि में रखकर ही की गई है। डॉ० अग्रवाल ने इसका भी एक सुंदर सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[2]

उत्तरवर्ती गद्य कृतियाँ

उत्तरवर्ती गद्यकारों पर बाण के प्रभाव को देखकर बाण के कृतित्व की परीक्षा सहज ही में ही निखर उठती है। इन अनुकृतियों में धनपाल (१००० ई०) की 'तिलकमंजरी', वादीभसिंह (११०० ई०) की 'गद्यचिंतामणि', सोढ्ल (११०० ई०) की 'उदयसुन्दरीकथा', अगस्त्य (१४०० ई०) का 'कृष्णचरित' और वामनभट्ट बाण (१६०० ई०) का 'वेमभूपालचरित' आदि का नाम उल्लेखनीय है।

वादीभसिंह ने 'क्षेत्रचूडामणि' नामक एक गद्यग्रंथ और लिखा था, जो तमिल भाषा के 'जीवकचिंतामणि' का संस्कृत अनुवाद था। धनपाल की 'तिलकमंजरी' में तत्कालीन कला-कौशल-संबंधी विवरण बड़े ही आकर्षक ढंग से वर्णित हैं।[3]

---

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३, पटना १९५३ (इस ग्रन्थ पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से १९५७ ई० में, हिन्दी का सर्वोच्च मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका है)

२. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८

३. आर्ट नोट्स फ्राम धनपाल्स 'तिलकमञ्जरी', इण्डियन कल्चर, अक्टूबर १९३५, पृ० १९९-२१०

पं० हृषीकेश भट्टाचार्य (१८५०-१९१३) कृत 'प्रबंधमंजरी' के अनंतर गद्यकाव्य के क्षेत्र में सबसे अन्तिम उपलब्ध कृति साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त व्यास रचित 'शिवराजविजय' है। व्यास जी का स्थितिकाल १८५८-१९०० ई० है और उनकी इस कृति का प्रकाशन समय १९०१ ई० है। वाराणसी व्यास जी की जन्मभूमि थी।

इसके अतिरिक्त रामकाव्य-विषयक एक गद्यकाव्य की कृति 'रामकल्पद्रुम' का उल्लेख पीटर्सन साहब ने अपने सूचीग्रन्थ में किया है।[1] यह ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

---

१. संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र

काव्यशास्त्र

परम्परा : प्रत्यालोचना

काव्यशास्त्र

संस्कृत के लक्षणग्रंथों में रीतिशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र और काव्यशास्त्र, ये सभी शब्द प्रायः एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हुए हैं। बहुधा, साहित्य और काव्य को भी एक ही नाम से स्मरण किया गया है। किन्तु संस्कृत के रीतिविषयक ग्रंथों के विकास के बाद यह दृष्टिकोण ठीक तरह से मेल नहीं खाता है। तब हमें लगता है कि अलंकार, रीति, साहित्य और काव्य, इन सभी शब्दों के मूल में एक ही भावना या एक ही उद्देश्य निहित नहीं है। हमें पूर्णतया विदित हो जाता है कि रीति का पर्याय अलंकार नहीं है और इसी प्रकार अलंकार, साहित्य एवं काव्य आदि शब्दों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व, अथ च, अपनी स्वतंत्र परंपरा रही है।

भारतीय काव्यशास्त्र, अर्वाचीन आचार्यों ने जिसको 'साहित्यविद्या' या 'क्रियाकल्प' आदि नामों से स्मरण किया है, प्राचीन आचार्यों के मतानुसार 'अलंकारशास्त्र' के नाम से ही अभिहित होता गया। किन्तु जब काव्यशास्त्र की अनेक विचार-वीथियों का निर्माण हो जाने पर उसका विकास हुआ, तब 'अलंकार' शब्द में उसकी बृहद् काया को समा सकने की क्षमता नहीं रह गई। इसी अर्थ में एक शब्द और देखने को मिलता है: साहित्यशास्त्र। यह शब्द भी उतना उपयुक्त नहीं दिखाई देता है, क्योंकि 'साहित्य' एक शास्त्रविशेष न होकर अनेक शास्त्रों एवं अनेकविध विचारधाराओं का एकीभूत रूप है। उसमें एकदेशीय मान न होकर अन्तर्देशीय व्यापकता है। फलतः आधुनिक विद्वान् संस्कृत की रीतियुगीन विचारधारा को साहित्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र के नाम से न कह कर काव्यशास्त्र के नाम से कहना अधिक वैज्ञानिक समझते हैं। जिस प्रकार हम व्याकरण या दर्शन को एक 'शास्त्र' कहते हैं, साहित्य नहीं, उसी प्रकार रीति भी एक 'शास्त्र' है, 'साहित्य' नहीं।

संस्कृत-साहित्य के काव्य या कविता अंग की विधि-व्यवस्थाओं का विवेचन, समीक्षण करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र है। उससे हमें काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, प्रवृत्ति और उसकी विभिन्न समस्याओं एवं विचार-विभेदों का वैज्ञानिक निरूपण देखने को मिलता है।[1] कविता की अनेकानेक पद्धतियों की समीक्षा और उनकी मूल प्रवृत्तियों के स्वरूप का प्रतिपादन करना काव्यशास्त्र का प्रधान कार्य है। काव्यशास्त्र का अपना स्वतंत्र अस्तित्व और अपनी परंपरा का लंबा इतिहास है। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में आलोचना विषय की सर्वथा नई पद्धति को जन्म देने के कारण काव्यशास्त्र का अपना मौलिक महत्व रहा है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र का अलग-अलग मान है। वे भावाभिव्यंजन की प्रक्रिया पर विचार करने वाले शास्त्र को 'शैलीशास्त्र' (Stylistics) के नाम से पुकारते हैं और उसको गद्य तथा पद्य, दो भागों में विभक्त कर, गद्य की प्रक्रिया-शैली के प्रतिपादक शास्त्र को अलंकारशास्त्र (Rhetoric) तथा पद्य की प्रक्रिया-शैली का निरूपण करने वाले शास्त्र को काव्यशास्त्र (Poetics) की संज्ञा देते हैं[2]; किन्तु भारतीय काव्य-परंपरा की दृष्टि से यह बात उपयुक्त नहीं बैठती है, क्योंकि पाश्चात्यों के इन दृष्टिकोणों का आधार होमरकाव्य था। इसलिए यह सिद्धांत एकांकी है, और यही कारण था कि पश्चिम में ही इन मान्यताओं की आलोचना भी साथ-साथ हुई।[3]

काव्यशास्त्र की प्राचीन परंपरा

काव्यशास्त्र की परंपरा का प्रवर्तन कब हुआ, इसकी ठीक तिथि खोज निकालना अति दुष्कर है। संभवतः काव्यशास्त्र का उदय, कविता के उदय के साथ ही हुआ। भारतीय कविता का मूल उत्स ऋग्वेद में है। ऋग्वेद की उषासंबंधी एक ऋचा में चार-चार उपमाओं की योजना एक साथ

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४–५, लखनऊ विश्वविद्यालय, २००५ वि०

२. जी० एम० गेले : मेथड्स ऐंड मैटिरियल्स फार लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० २४५–२४७

३. डब्ल्यू० वाकर्नगेल : पोइटिक, रिटोरिक ऐंड स्टाइलिस्टिक

देखने को मिलती है।[1] एक दूसरे मंत्र में अतिशयोक्ति का भी सुंदर चित्रण किया गया है।[2] इसी प्रकार उपनिषद्-ग्रंथों में भी रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण देखने योग्य है।[3] वेदों और उपनिषदों में वर्णित अलंकारों के विभिन्न रूपों की समीक्षा पोद्दार जी ने विस्तार से दर्शायी है।[4] इन उद्धरणों से अलंकारों का ऐतिहासिक मान भले ही निर्धारित न हो सके; किन्तु भारतीय साहित्य में कविता की भाँति काव्यशास्त्र का भी चिरंतन अस्तित्व रहा है।

यद्यपि हम वेदमंत्रों में रस, नृत्य, गीत, छंद और अलंकार आदि अनेक विषयों का समावेश पाते हैं; किन्तु वेदों के इन अति क्षीण विचारों को काव्यशास्त्र के प्रसव का कारण मानना, काव्यशास्त्र के संबंध में एक भ्रम पैदा करना है। वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र और षड्वेदांगों तक काव्यशास्त्र की परंपरा के आधार खोजना व्यर्थ ही कहा जायगा।

यास्क का 'निरुक्त' यद्यपि वैदिक धरातल का ही ग्रंथ है, फिर भी उसमें हमें काव्यशास्त्रविषयक कुछ बातें अधिक खुले हुए रूप में देखने को मिलती हैं। अपने इस ग्रंथ में यास्क ने भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा तथा रूपक आदि अलंकारों पर कुछ मौलिक बातें कही हैं,[5] और उसने, साथ ही उपमा अलंकार के लक्षण को अपने पूर्ववर्ती किसी गार्ग्य नामक विद्वान् के नाम से उद्धृत भी किया है।[6] इससे हमें यह विश्वास होता है कि यास्क (७०० ई० पूर्व) से भी पहिले अलंकारों के लक्षण-उदाहरणों पर विचार किया जाने लगा था।

यास्क से भी बहुत पहिले, ऐसा प्रतीत होता है कि, काव्यशास्त्र पर ग्रंथ लिखे जाने लगे थे। सोमेश्वर कवि ने अपने 'साहित्यकल्पद्रुम' ग्रंथ के 'यथासंख्यालंकार' प्रकरण में भागुरि का एक काव्यशास्त्रविषयक मत उद्धृत किया है।[7] आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'ध्वन्यालोकलोचन' में भागुरि

---

१. ऋग्वेद १।१२४।७ २. ऋग्वेद १।१६४।२०

३. कठोपनिषद् १।३।३; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।५; मुण्डकोपनिषद् ३।१।१

४. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० ५–८ ५. निरुक्त ३।१३, १८

६. अथात उपमा यद्-अतद्-तत्-सदृशमिति गार्ग्यः। —निरुक्त ३।१३

७. साहित्यकल्पद्रुम, राजकीय पुस्तकालय, मद्रास का हस्तलिखित ग्रंथों का सूचीपत्र, भाग १, खंड १—ए, पृ० २८९५, ग्रन्थांक २१२६

का एक रसविषयक मंतव्य दिया है।[1] इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भागुरि ने भी काव्यशास्त्र पर कोई ग्रंथ लिखा था; कम-से-कम इतना तो निश्चित है कि भागुरि ने भी काव्यशास्त्र पर कुछ विचार किया। यह भागुरि, वैयाकरण भागुरि ही था, जिसकी गणना वायु, भरद्वाज, चाणक्य आदि पुरातन महर्षियों की कोटि में की गई है।[2]

वैयाकरण पाणिनि (५०० ई० पू०) की 'अष्टाध्यायी' से संस्कृत के लौकिक पक्ष का उदय होता है। 'अष्टाध्यायी' में उपमा के उपमित, उपमान एवं सामान्य आदि धर्मों का उल्लेख हुआ है[3], जिससे यह प्रतीत होता है कि पुरातन शाब्दिकों में उपमा अलंकार की अच्छी चर्चा रही।

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में पाराशर्य, शिलालि, कर्मन्द और कृशाश्वादि द्वारा प्रोक्त भिक्षुसूत्रों एवं नटसूत्रों का उल्लेख मिलता है।[4] पतंजलि के 'महाभाष्य' में भी इसका समर्थन मिलता है।[5] ये भिक्षुसूत्र वास्तव में किस विषय से संबद्ध थे, यह विदित नहीं होता है। कुछ विद्वानों ने इन्हें वेदांत-विषयक और कुछ ने सांख्यशास्त्र से संबद्ध माना है; किन्तु संभवतः ये सूत्र भिक्षुओं के रहन-सहन, आचार-विचार आदि नियमों के सूचक थे, जिनके आधार पर कदाचित्, पीछे चलकर बौद्ध-जैन भिक्षुओं के नियम या विधान निर्धारित हुए। भिक्षुओं की जीविका-साधन भिक्षा पर लिखे गए इस प्रकार के ग्रंथों का संकेत 'अष्टाध्यायी' के एक स्थल पर और भी देखने को मिलता है।[6]

नटसूत्रों के संबंध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त होती है। 'अष्टाध्यायी' में नटसंबंधी किसी आगम का उल्लेख मिलता है।[7] इस दृष्टि से ये नटसूत्र संभवतः भरत के नाट्यशास्त्र जैसे विषय के ग्रंथ रहे होंगे।

दूसरे शास्त्रों से काव्यशास्त्र का तादात्म्य

जब हम काव्यशास्त्र का अध्ययन करते हैं तो सहज ही में हमें यह पता चलता है कि व्याकरण के साथ काव्यशास्त्र का घनिष्ठ संबंध रहा है। काव्य-सज्जा और वाणी-लालित्य के लिए जो सिद्धांत काव्यशास्त्र में स्थिर

---

१. ध्वन्यालोकलोचन, तृतीय उद्योत, पृ० ३८६
२. मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ७०
३. अष्टाध्यायी २।३।७२; २।१।५५; २।१।५६ ४. अष्टाध्यायी ४।३।११०, १११
५. महाभाष्य २।१।५५ ६. अष्टाध्यायी ४।३।७७ ७. वही ४।३।११९

किए गए हैं, उन पर व्याकरणशास्त्र के नियमों का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। आचार्य आनंदवर्धन ने तो व्याकरण को काव्यशास्त्र का उपजीव्य माना है।[1] दोनों शास्त्रों के संबंध की यह बात तब पूरी तरह से समझ में आ जाती है, जब हम भामह, वामन, तथा आनंदवर्धन जैसे काव्याचार्यों के ग्रंथों में व्याकरण की भरपूर दुहाई पाते हैं। काव्यशास्त्र का ध्वनि-सिद्धांत वैयाकरणों के स्फोटवाद से पर्याप्त प्रभावित है।[2]

व्याकरण के अतिरिक्त अन्य विद्याओं से भी काव्यशास्त्र का घना संबंध रहा है। आचार्य राजशेखर ने काव्यशास्त्र को, जिसे उन्होंने अलंकारशास्त्र की संज्ञा दी है, वेदांग मानकर उसे चारों विद्याओं–तर्क, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति–का समन्वय बताया है। न्याय और मीमांसा का शब्दार्थ-विवेचन और काव्यशास्त्र का शब्दशक्ति-विवेचन दोनों की व्याख्यान-पद्धति में बहुत कुछ साम्य है। आचार्य अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद, सांख्य के परिणामवाद से प्रभावित है।

दर्शनों की रचनाप्रणाली, विषय को प्रतिपादन करने की शैली और उनका सैद्धांतिक दृष्टिकोण काव्यशास्त्र के बहुत निकट है। आलोचन-प्रत्यालोचन की दृष्टि से दर्शनकार और काव्यशास्त्री बहुत ही तादात्म्य रखते हैं। दर्शनग्रंथों से जिस रसरूप सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमेश्वर का व्याख्यान है, उसी रस को काव्यशास्त्रकारों ने काव्य की आत्मा माना है।

परंपरा की उत्पत्ति एवं उपलब्धि

काव्यशास्त्र की उपलब्ध परंपरा की वास्तविक सूचनाएँ न तो वेदों में हैं, न वैदिक साहित्य में और न व्याकरण, दर्शन प्रभृति शास्त्रों में ही। भारतीय ज्ञान का विशाल वटवृक्ष धर्म की उर्वर धरती में पनपा और फूला-फला। इसलिए उसकी प्रत्येक शाखा की जीवनदायिनी शक्तियाँ अलौकिक धार्मिक विश्वासों पर आधारित हैं। आचार्य राजशेखर ने काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का संबंध नटराज शंकर से योजित किया है। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' ग्रंथ में नाट्यशास्त्र पर रचे गए भगवान् शंकर के 'योगमाला' नामक ग्रंथ का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि 'योगमाला संहिता' में नटराज शंकर ने विवस्वान् को ताण्डव, लास्य, नृत्त और नर्तन का उपदेश

१. ध्वन्यालोकलोचन, उद्योत १

२. डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ३१ (१९४९)

दिया था।[1] किन्तु राजशेखर का कहना है कि शंकर ने प्रथम ब्रह्मा को दीक्षित किया और तदनु ब्रह्मा ने अपने मानसजात अठारह शिष्यों को उसका उपदेश दिया। इन मानसजात अठारह शिष्यों ने संपूर्ण काव्यशास्त्र को अठारह अधिकरणों में विभक्त कर प्रत्येक अधिकरण पर एक-एक ग्रंथ लिखा।[2]

शारदातनय के 'भावप्रकाशन' के आरंभ में जिन नाट्याचार्यों की नामावली दी गई है उनमें कुंभोद्भव अर्थात् अगस्त्य और नारद का भी नाम है।[3] अगस्त्य का कोई भी ग्रंथ अथवा वचन इस विषय का उपलब्ध नहीं है। बड़ौदा से प्रकाशित 'नारदसंगीत' संभवतः नारद के नाट्यविषयक विलुप्त शास्त्रग्रंथ का ही एक अंश संस्करण है।

ऊपर राजशेखर ने जिन अठारह आदिम नाट्याचार्यों की नामावली दी है, उसके संबंध में अन्यत्र कुछ भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। इस दृष्टि से यह सूची राजशेखर की शब्दावली तक ही सीमित है; फिर भी राजशेखर के उल्लेख को हम निरी कवि-कल्पना नहीं मानते।[4] इस सूची के अठारह पुरातन आचार्यों में भरत और नंदिकेश्वर ही ऐसे हैं, जिनकी कृतियाँ आज उपलब्ध हैं।

आचार्य भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही यद्यपि काव्यशास्त्र की परंपरा का पहिला ग्रंथ है, तथापि उसमें भी सुवर्णनाभ और कुचुमार आदि प्राचीन काव्यशास्त्रियों के नाम उद्धृत हैं[5], जिनकी पुष्टि वात्स्यायन ने भी अपने 'कामसूत्र' में की है।[6] 'नाट्यशास्त्र' की कुछ आर्याएँ पूर्वाचार्यों द्वारा उल्लिखित हैं, जिनको उपयोगी जानकर मुनिवर भरत ने अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर

---

१. भावप्रकाशन, द्वितीय अधिकरण, पृ० ४५

२. अठारह मानसजात शिष्यों को जिन-जिन विषयों में दीक्षित किया गया, उनका क्रम इस प्रकार है:

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेता, यमकं यमः, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नंदिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः।—काव्यमीमांसा, अ० १

३. भावप्रकाशन, प्रथम अधिकरण, पृ० २

४. एस० के० दे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, वाल्यूम १

५. नाट्यशास्त्र ९।१३०; ९।१४४; ९।१६६ ६. कामसूत्र १।१।१३; १।१।१७

लिया, इसकी सूचना हमें अभिनवगुप्त की टीका से मिलती है।[1] मुनिवर भरत का 'नाट्यशास्त्र' संपूर्ण ललित कलाओं अर्थात् संगीत, अलंकार, छंद आदि का कोश है। वह एक संग्रहग्रन्थ है, जो कि समय-समय पर अनेक विद्वानों द्वारा संशोधित, संकलित और परिवर्धित होता गया।

उद्धरणरूप में हमें और भी कुछ पूर्वाचार्यों के नाम मिलते हैं। भामह ने मेधाविन् और दण्डी ने काश्यप, वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी (नन्दिकेश्वर) प्रभृति काव्याचार्यों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है; किन्तु नंदिकेश्वर को छोड़कर इन सभी आचार्यों की कृतियाँ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। शिलालेखों की काव्यमयी प्रशस्तियों और भास, कालिदास तथा अश्वघोष के ग्रन्थों में काव्यशास्त्र की शैलियों एवं सीमाओं का प्रभाव लक्षित होता है।

ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में ही काव्यशास्त्र और काव्य दोनों पर पर्याप्त ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। वे ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उनकी उपलब्धि के प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में बराबर देखने को मिलते हैं।[2]

कुछ दिन पूर्व 'अग्निपुराण' में वर्णित काव्यशैलियाँ, उनके भेद, अलंकार, रस, रीति, गुण, दोष और ध्वनि प्रभृति काव्यशास्त्रीय विषयों को देखकर यह अनुमान किया गया था कि 'अग्निपुराण' ही काव्यशास्त्र का पहिला उपलब्ध ग्रन्थ है; किन्तु अब यह निश्चित हो चुका है कि 'अग्निपुराण' बहुत बाद की रचना है।[3] इसलिए निर्विवाद रूप से भरत और नंदिकेश्वर ही काव्यशास्त्र के पहिले आचार्य हुए हैं। इन दोनों में पहिले कौन हुआ, इसकी समीक्षा हो जानी आवश्यक है।

नंदिकेश्वर और भरत

'नंदि भरत' के संबंध में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का कथन है कि (१) या तो महात्मा नंदि की प्रेरणा से 'नाट्यशास्त्र' लिखा गया; (२) या दूसरे

---

१. ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः। —अभिनवभारती, छठा अध्याय

२. एस० के० दे : स्टडीज इन दि हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, वाल्यूम १, इंट्रोडक्शन, पृ० २१, १९२३; पी० वी० काणे : साहित्यदर्पण, इंस्ट्रोडक्शन, पृ० सी. ३९

३. काणे : साहित्यदर्पण, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३

भरत नाम के आचार्यों से भिन्नता बताने के लिए नाट्याचार्य भरत के साथ 'नंदि' को भी जोड़ा गया; (३) या तो लिपिकर्ताओं की असावधानी से ऐसा हुआ होगा, जैसा कि 'नाट्यशास्त्र' की ४० हस्तलिखित प्रतियों का मिलान करने पर उसके संपादक ने भी (प्रिफेस पृष्ठ ९ में) कहा है।[1]

पोद्दार जी के इस कथन से स्पष्ट है कि नंदि भरत एक ही व्यक्ति हुआ। किन्तु 'अभिनयदर्पण'[2] के प्रकाश में आ जाने के बाद अब यह विदित हो गया है कि नंदिकेश्वर और भरत दो अलग-अलग आचार्य हुए; और साथ ही इन दोनों आचार्यों के संबंध में यह भी विदित हो गया कि उनमें नंदिकेश्वर पहिले हुए।

आचार्य नंदिकेश्वर

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में पुरातन आचार्यों की नामावली देते हुए कहा है 'रूपकनिरूपणीयं भरतः' और इसके बाद 'रसाधिकारिकं नंदिकेश्वरः'।[3] इससे यह ज्ञात होता है कि नंदिकेश्वर रसविषय के पहिले आचार्य थे। कुछ ग्रन्थों में नंदिकेश्वर को अन्य विषयों का आचार्य भी माना गया है। 'रतिरहस्य' और 'पंचसायक' ग्रन्थों में इन्हें कामशास्त्र का आचार्य माना गया है।[4] 'संगीतरत्नाकर' के रचयिता शार्ङ्गदेव ने नंदिकेश्वर को संगीत का आचार्य माना है।[5]

नंदिकेश्वर के नाम से 'योगतारावली', 'नंदिकेश्वरतिलक', 'प्रभाकर-विजय' और 'लिंगधारणचंद्रिका' आदि परस्परविरोधी संप्रदायों से संबंध रखने वाली अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं; किन्तु इन सभी पुस्तकों का रचयिता एक ही नंदिकेश्वर रहा होगा, इसमें संदेह है। मद्रास की खोज रिपोर्ट में नंदिकेश्वर के नाम से 'ताल लक्षण' तथा 'तालादि लक्षण' ग्रन्थों की चर्चा हुई है। इस दृष्टि से ऐसा जान पड़ता है कि उन्हें 'ताल' (वाद्य संगीत) विषय अत्यन्त प्रिय था।[6]

---

१. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० ३६-३७ (१९३८)
२. मनमोहन घोष द्वारा संपादित एवं कलकत्ता संस्कृत सीरीज में प्रकाशित
३. काव्यमीमांसा, कविरहस्य प्रकरण १, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
४. बलदेव उपाध्याय : साहित्यशास्त्र, भाग १, पृ० १३
५. संगीतरत्नाकर, पृ० ५-६, श्लोक १६-१७, आनंद संस्कृत ग्रंथावली
६. घोष द्वारा संपादित अभिनयदर्पण का प्रिफेस

नंदिकेश्वर को तंत्र, पूर्वमीमांसा तथा लिंगायत शैव सिद्धान्तों का अनुयायी बताया गया है। उनके शिव का अवतार[१] होने और कैलाश पर रहते हुए उनका इन्द्र के साथ संवाद होने का वर्णन मिलता है।[२] दक्षिण में नंदिकेश्वर को एक देवता के रूप में पूजा जाता है।[3] इस दृष्टि से संभवतः वह दाक्षिणात्य था। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' के अनुसार नंदिकेश्वर ने शिव की आज्ञा से नाट्यवेद की शिक्षा ब्रह्मा को दी, ब्रह्मा ने भरत और उसके पाँच शिष्यों को उसमें दीक्षित किया।[४]

रामकृष्ण कवि ने नंदिकेश्वर और तंडु को एक ही व्यक्ति माना है। उनके मतानुसार नंदिकेश्वर ने 'नंदीश्वरसंहिता' की रचना की थी, जिसका केवल पात्रसंबंधी परिच्छेद नष्ट होने से बच गया और संभवतः वही अवशिष्ट परिच्छेद वर्तमान 'अभिनयदर्पण' है।[५]

महामुनि भरत को नाट्यशास्त्र के निर्माण की प्रेरणा या शिक्षा नंदिकेश्वर से मिली थी। 'नाट्यशास्त्र' में कहा गया है कि तंडु, अपर नाम नंदिकेश्वर, ने अंगहारों, करणों और रेचकों के अभिनय की शिक्षा भरत को दी थी।[६] इसकी पुष्टि 'अभिनवभारती' से भी होती है। उसमें नंदिन् और भरत के अपर नाम क्रमशः तंडु और मुनि दिये गये हैं।[७] 'नाट्यशास्त्र' और 'अभिनयदर्पण' की विषय-सामग्री का तुलनात्मक विवेचन करने पर भी यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अभिनयदर्पण' पहिले की रचना है।[८] भरत का समय ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी माना गया है। इस दृष्टि से नंदिकेश्वर भरत से भी पहिले हुए अथवा उनके समकालीन थे।

---

१. सौंदर्यलहरी, इंट्रोडक्शन, पृ० १०, संपा० एस० ब्रह्मण्यशास्त्री तथा टी० आर० श्रीनिवास आयंगर
२. अभिनयदर्पण का अंग्रेजी संस्करण, पृ० ३१, आनंद के० कुमार स्वामी द्वारा संपादित एवं अनूदित
३. अभिनयदर्पण, घोष का संस्करण, प्रिफेस, पृ० १७
४. भावप्रकाशन, दसवाँ अधिकरण, पृ० २८५-२८७
५. दि क्वार्टरली जर्नल ऑफ दि आंध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, भाग ३, पृ० २५-२६
६. नाट्यशास्त्र ४।१७, १९, चौखम्बा संस्करण ७. अभिनवभारती, भाग १, पृ० ९०
८. दोनों ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए—त्रिपथगा, जून १९५७ में श्री नगेन्द्रनाथ उपाध्याय का लेख : 'नन्दिकेश्वर' पृ० ७३-७९

महामुनि भरत

नाट्यशास्त्रकार के रूप में महामुनि भरत का व्यक्तित्व साहित्यशास्त्राकाश में एक देदीप्यमान दिनमणि की भाँति प्रकाशित है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' अपने विषय का पहिला सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। काव्यशास्त्र की दिशा में 'अभिनय-दर्पण' के बाद उसी का स्थान है। उसमें अलंकारों की बारीकी पर, छंदों की मौलिकता पर, गुण-दोषों के विवेचन पर और रस की शास्त्रीय मीमांसा पर व्यक्त किए गए विचारों को देखने से जहाँ एक ओर नाट्यशास्त्र की व्यापकता का पता चलता है, वहाँ दूसरी ओर एक विशेष बात यह ज्ञात होती है कि काव्यशास्त्र की परम्परा नाट्यशास्त्र की परम्परा से भी प्राचीन थी।

नाट्यशास्त्रसंबंधी विवाद

'नाट्यशास्त्र' और उसके निर्माता के संबंध का विवाद बहुत पुराना है। जिस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' के वास्तविक प्रणेता का नाम अज्ञात है, उसी प्रकार उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' की वास्तविकता भी संदेहमूलक है। उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' को देखने से यह विश्वास होता है कि मूल 'नाट्यशास्त्र' कदाचित् इससे भिन्न था। 'नाट्यशास्त्र' की अनेक कारिकाओं को स्पष्ट करने के लिए कारिकाकार ने 'अनुवंश्य' श्लोकों की योजना की है। ये 'अनुवंश्य' श्लोक शिष्य-परंपरा से आगत हैं। अतएव उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' न केवल मूल 'नाट्यशास्त्र' से ही भिन्न प्रतीत होता है, प्रत्युत वह एक लेखक की रचना भी मालूम नहीं होती है। उसके संबंध में हमें ऐसा लगता है कि उसकी रचना एक समय में नहीं हुई है। अनेक लेखनियों का स्पर्श पाकर दीर्घकालीन सुधार-संस्कार के बाद वह आज हम तक पहुँचा है।

उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' के तीन रूप हैं: सूत्र, भाष्य और कारिका। निश्चय ही 'नाट्यशास्त्र' का मूलरूप सूत्रात्मक रहा होगा और तदनंतर उसकी व्याख्या एवं कारिकाएँ रची गई होंगी। इस दृष्टि से भी 'नाट्यशास्त्र' की अविकल मौलिकता के संबंध में संदेह होता है। प्राचीन ग्रन्थों में भी नाट्यशास्त्र और उसके रचयिता के संबंध में एक जैसी बातें देखने को नहीं मिलती हैं।[1]

---

१. भावप्रकाशन, पृ० ३६, २८७; दशरूपक ४।२; अभिनवभारती (प्रथम भाग), पृ० ८, २४

काव्यशास्त्र

कुछ दिन पूर्व दे बाबू[1] और काणे[2] महोदय ने 'नाट्यशास्त्र' के दो श्लोकों (३७।१८; ३७।२८) तथा दामोदर गुप्त के 'कुट्टनीमत', कोहलाचार्य के 'ताल' ग्रन्थ, हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' और सिंहभूपाल-कृत 'रसार्णव-सुधाकर' आदि ग्रन्थों के कुछ उद्धरणों को एवं प्रमाणों को समेट कर जोरदार शब्दों में यह मंतव्य प्रकट किया कि 'नाट्यशास्त्र' भरत की कृति न होकर किसी दूसरे की रचना है।

इन दोनों विद्वानों के मतों की विस्तृत आलोचना और उनके दिए हुए प्रमाणों एवं आधारों का संतोषजनक उत्तर श्री पोद्दार जी के ग्रन्थ में देखने को मिलता है। पोद्दार जी का कथन है कि उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' महामुनि भरत की ही कृति है और भरत एक ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं।[3]

नाट्यशास्त्र का समय

'नाट्यशास्त्र' के रचयिता की ही भाँति उसके निर्माणकाल के संबंध में भी अनेक मत हैं। ये मत इतने असमान हैं कि उनका एक साथ अध्ययन करने पर अध्येता को किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने में अत्यंत कठिनाई होती है। कुछ विद्वानों के मत से जहाँ 'नाट्यशास्त्र' के निर्माण की पूर्व सीमा वैदिक काल तक पहुँचती है, वहाँ दूसरे विद्वान् उसके वर्तमान स्वरूप की अन्त्येष्टि आठवीं शताब्दी बताते हैं।

इस संबंध में जिन विद्वानों ने उत्सुकतापूर्वक भाग लिया उनमें प्रो० मेक्डोनेल[4], प्रो० लेवी[5], म० म० हरप्रसाद शास्त्री[6], श्री सुशीलकुमार दे[7],

---

१. एस० के० दे : हिस्ट्री ऑफ पोइटिक्स, वाल्यूम १ (नाट्यशास्त्र)
२. पी० वी० काणे : साहित्यदर्पण, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७, ८
३. कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० ३०-३७
४. मेक्डोनेल के मत से : ६०० ई० —हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४३४
५. लेवी के मतानुसार इण्डो-सीरियन क्षेत्रप के समय,
—इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द ३३, पृ० १६३
६. हरप्रसाद शास्त्री के मत से २०० ई० पूर्व
—जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसा० ऑफ बंगाल, पृ० ३०७ (१९१३ ई०)
७. दे बाबू के मतानुसार ८०० ई० —हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० २७

म० म० पी० वी० काणे[1] और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार[2] का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों की मान्यताएँ फुटनोट में दर्शित हैं।

'नाट्यशास्त्र' की निर्माण-अवधि को निर्धारित करने के लिए उक्त विद्वानों ने जिन आधारों एवं प्रमाणों को उद्धृत किया है, निःसंदेह वे गंभीर गवेषणा के परिचायक हैं; किन्तु इतिहास के सामान्य विद्यार्थी के लिए उनमें से किसी एक को चुनना कठिन हो जाता है। फिर भी मोटे तौर पर यह दिखाई देता है कि अधिकांश विद्वानों की राय 'नाट्यशास्त्र' को ई० पू० प्रथम शताब्दी में रखने के पक्ष में है। उसकी समय-सीमा का पूर्वापर विस्तार २०० ई० पू० से २०० ई० के भीतर बैठता है। इतिहास की जो अद्यतन पुस्तकें हैं उनमें भी यही बात स्वीकार की गई है।[3] सामान्यतः 'नाट्यशास्त्र' का समय ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में रखना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक काव्यशास्त्र की परंपरा निरंतर उत्कर्ष पर रही और इस बीच विभिन्न-मतावलंबी आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धांतों की प्रतिष्ठा के लिए आलोचना-प्रत्यालोचना के क्षेत्र में भाग लिया। पहिले हम कुछ प्रमुख आचार्यों का परिचय देकर बाद में एक सूची जोड़कर, उन आचार्यों का भी संक्षिप्त उल्लेख करेंगे, जिनको काव्यशास्त्र के इतिहास-ग्रंथों में गौण स्थान प्राप्त है, किन्तु जिनके उल्लेख के बिना काव्यशास्त्र के इतिहास की परंपरा अधूरी ही रह जाती है।

काव्यशास्त्र की परंपरा का विकास

मेधाविन्

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मेधावी या मेधाविन् अथवा मेधाविरुद्र नाम के एक प्राचीन आचार्य हुए हैं, जिनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; किन्तु

---

१. काणे साहब के मत से पूर्व सीमा ई० सन् के पूर्व और उत्तर सीमा कालिदास के समय तक—साहित्यदर्पण की भूमिका (अंग्रेजी), पृ० ८–१०

२. पोद्दार के मत से वैदिक काल के बाद और पौराणिक काल से पूर्व
—संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० ५४

३. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, खंड १, पृ० ३१-३३ (२००७ वि०) तथा डॉ० नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १ (२०१३ वि०)

जिन्हें इतिहास में भामह और दंडी के समकक्ष रखा गया है। 'काव्यालंकार'[1], उस पर लिखी हुई नमि साधु की टीका[2] और 'काव्यमीमांसा'[3] आदि ग्रन्थों में मेधावी का उल्लेख मिलता है। मेधावी का स्थितिकाल ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता है; फिर भी इतना निश्चित है कि वह भामह (६०० ई०) से पहिले हुआ।

भट्टि

कालक्रम की दृष्टि से मेधावी के बाद भट्टि का स्थान आता है। महाकवि भट्टि के संबंध की पूरी सूचनाएँ महाकाव्यों के प्रसंग में दी गई हैं। एक काव्यशास्त्री होने की अपेक्षा महाकवि के रूप में ही वह अधिक विश्रुत है। 'भट्टिकाव्य' के १० से १३ तक के चार सर्गों में काव्यशास्त्रविषयक चर्चाएँ मिलती हैं। ये चर्चाएँ काव्यशास्त्र की भूमिका-निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। भट्टि भी भामह से पहिले हुआ।

भामह

आचार्य भामह से काव्यशास्त्र की उन्नत-परंपरा का आरंभ माना जाता है।[4] भामह के ग्रंथ में भी कुछ पूर्वाचार्यों का नाम आया है; किन्तु अपने क्षेत्र का ऐसा पहला उपलब्ध ग्रन्थ उन्हीं का है, जिसमें काव्यशास्त्र की विधियों का वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण किया हुआ है, और उसी ग्रन्थ से, नाट्यशास्त्र की चहारदीवारी से आबद्ध काव्यशास्त्र की बंदी आत्मा को सर्वथा स्वतंत्र दिशा में विकसित होने का सुयोग मिला।

भामह के पिता नाम रक्रिलगोभि था।[5] कुछ विद्वान् उन्हें बौद्ध बताते हैं[6] तो कुछ वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मण।[7] संभवतः वे काश्मीरी थे। पोद्दार

---

१. काव्यालंकार २।४०; २।८८

२. काव्यालंकार–टीका १।२; पृ० २; २।२, पृ० ९; ११।२४, पृ० १४५

३. काव्यमीमांसा, पृ० ११–१२

४. काव्यालंकार १।१३; १।२४; १।३१; २।४; २।६; २।८; २।१९; २।३७; २।४०; २।४५; २।६६; २।८८; २।९३

५. वही ६।६४

६. जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो०, पृ० ५३५, ५४५ (१९०५); इण्डियन एण्टीक्वेरी, पृ० २३५ (१९१२)

७. जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो०, पृ० ५४३ (१९०८)

जी ने भामह के उत्तरवर्ती उद्भट, वामन, दंडी और बाण तथा उसके पूर्ववर्ती न्यासकार, धर्मकीर्ति, भास, कालिदास और मेधावी आदि के ग्रन्थों का अनुशीलन करके यह सिद्ध किया है कि भामह के स्थितिकाल की उत्तरसीमा ६०० ई० है।[1] यही मत दूसरे विद्वानों का भी है।[2]

नारायण भट्ट ने भामह के नाम से कुछ नवीन छन्दों को उद्धृत किया है[3] जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि भामह ने छंदशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था; किन्तु संप्रति उनके नाम से केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है: 'काव्यालंकार'। भामह का यह ग्रन्थ बड़ा ही विद्वत्प्रिय सिद्ध हुआ, क्योंकि उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त और मम्मट ने प्रमाणस्वरूप उसको उद्धृत किया है। उद्भट ने उस पर 'भामहविवरण' लिखा था, जिसका उल्लेख उद्भट के ग्रन्थ 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' की 'लघुवृत्ति' के लेखक प्रतिहारेंदुराज ने किया है[4]; किन्तु यह व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है।

दण्डी

दण्डी, काव्यशास्त्र ने प्रमुख आचार्यों में-से हैं। भामह की अपेक्षा, उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों में दण्डी का कम प्रभाव रहा है। इसका कारण विद्वानों ने यह बताया है कि संभवतः दाक्षिणात्य होने के नाते काव्यशास्त्र की काश्मीर-प्रधान पंडितपरंपरा में उनको नहीं अपनाया गया।[5] दण्डी दाक्षिणात्य थे, यह बात उनके 'काव्यादर्श' के कतिपय स्थलों को देख कर[6] सिद्ध होती है। उनकी कृति 'अवन्तिसुंदरी' के उपलब्ध हो जाने पर उनकी वंशावली का पूरा परिचय उपलब्ध हो गया है। दण्डी का स्थितिकाल छठी शताब्दी ईसवी है।[7]

दण्डी के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं: 'काव्यादर्श', 'दशकुमारचरित' और 'अवंतिसुंदरीकथा'। अन्तिम दोनों ग्रन्थ कथाकाव्य के हैं। 'काव्यादर्श' इनका

---

१. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, खण्ड १, पृ० ११४-१३०
२. उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, खण्ड १, पृ० ४२-४३;
   डॉ० नगेंद्र : भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० ३४
३. वृत्तरत्नाकर, पृ० ६, ७ (काशी संस्करण)
४. काव्यालङ्कारसारसंग्रह-वृत्ति, पृ० १४ (पूना संस्करण)
५. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, खण्ड १, पृ० १३१
६. काव्यादर्श २।१७४; ३।१६५; ३।११४; ३।१६६
७. विस्तार के लिए देखिए इसी ग्रन्थ का गद्यकाव्यों वाला प्रकरण

आचार्यश्रेणी का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर प्राचीन छह टीकाएँ हैं, जिनमें तरुण वाचस्पति की व्याख्या, किसी अज्ञातनामा विद्वान् की 'हृदयंगमा' और नृसिंह-देव शास्त्री की 'कुसुमप्रतिभा' प्रमुख हैं।

उद्भट भट्ट

आचार्य उद्भट प्रथम कोटि के काव्यशास्त्री हुए। उनकी स्थापनाओं को आनन्दवर्धन[१], अभिनवगुप्त[२], राजशेखर[३]; मम्मट[४] और रुय्यक[५] जैसे आचार्यों ने प्रामाणिक मान कर उद्धृत किया है। उद्भट अलंकारवादी संप्रदाय के आचार्य थे। कुछ विद्वानों ने उन्हें रससंप्रदाय का सिद्ध किया है[६]; किन्तु प्रतिहारेंदुराज की कारिकाओं से स्पष्ट हो जाता है कि उद्भट ने रस की अपेक्षा अलंकारों को प्रमुखता दी है।[७]

कल्हण की 'राजतरंगिणी' से विदित होता है कि उद्भट काश्मीर के राजा जयापीड की विद्वत्सभा के प्रमुख विद्वान् थे और उनका वेतन प्रतिदिन एक लक्ष दीनार था।[८] जयापीड का समय ७७९–८१३ ई० था। इस दृष्टि से उद्भट आठवीं शताब्दी में हुए।

उद्भट का प्रधान ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' है, जिसको बूलर साहब ने जैसलमेर (राजस्थान) से प्राप्त किया था। यह ग्रन्थ प्रतीहारेंदुराज की टीका-सहित प्राप्त हुआ था।[९] इस ग्रन्थ पर दूसरी टीका राजानक तिलक की 'उद्भट-विवेक'[१०] और तीसरी टीका 'उद्भटालंकारविवृति'[११] किसी अज्ञातनामा विद्वान् की हैं। उद्भट ने एक टीकाग्रन्थ भी लिखा था : 'भामह-विवरण'।[१२]

---

१. ध्वन्यालोकवृत्ति, पृ० १०८
२. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १०
३. काव्यमीमांसा, पृ० ४०
४. काव्यप्रकाश, नवम उल्लास का श्लेष-प्रसंग
५. अलंकारसर्वस्व १।३।७
६. कर्नल जैकब : जर्नल ऑफ दि रा० ए० सो०, पृ० ८४५, (१८९७)
७. काव्यालंकार—लघुवृत्ति, पृ० ५४
८. राजतरंगिणी ४।४।९५
९. बंबई संस्कृत सीरीज, भण्डारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट और निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित
१०. देखिए अलंकारसर्वस्व, पृ० ११५- २०५ (निर्णयसागर संस्करण)
११. भण्डारकर ओ० रि० इं० पूना से प्रकाशित
१२. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ४०

वामन

आचार्य वामन 'रीति संप्रदाय' के जन्मदाता थे। आलोचना और समीक्षा, दोनों विषयों पर उनका समान अधिकार था। कल्हण ने वामन को भी काश्मीर के राजा जयापीड का मंत्री बताया है।[1] बूलर साहब का भी यही अभिमत है।[2] अतएव वामन का स्थितिकाल आठवीं शताब्दी था।[3] किन्तु उद्भट और वामन ने एक ही राजा जयापीड के आश्रित होते हुए भी एक दूसरे के संबन्ध में कुछ नहीं कहा है। काव्यशास्त्री वामन 'काशिकावृत्ति' के लेखक वैयाकरण वामन से भिन्न थे।

वामन का एक काव्यग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्र' है, जिस पर गोपेंद्र त्रिपुरहल भूपाल की टीका 'कामधेनु' है। इसकी एक महेश्वरप्रणीत 'साहित्यसर्वस्व' नामक टीका का भी पता लगा है।[4]

रुद्रट

'अलंकार-संप्रदाय' के अनुयायी आचार्यों में रुद्रट का प्रमुख स्थान है। रुद्रट की वर्णन-शैली और अलंकारों को वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन करने की विधि सर्वथा मौलिक है। ये काश्मीरी थे। इनका दूसरा नाम शतानन्द था। वाभ्रक भट्ट इनके पिता हुए। बूलर ने भ्रमवश रुद्रट को ११वीं शताब्दी में रखा[5]; किन्तु उनका ठीक स्थितिकाल नवम शताब्दी है।[6] काव्यशास्त्री रुद्रट और 'शृंगारतिलक' के लेखक रुद्र या रुद्रभट्ट दोनों अलग-अलग थे।[7]

रुद्रट का एक ही उपलब्ध ग्रन्थ है: 'काव्यालंकार'। यह पहिला ग्रन्थ है, जिसमें अलंकारों का वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण हुआ है। इस ग्रन्थ पर वल्लभ-देव, नमिसाधु और आसाधर की लिखी हुई तीन टीकाएँ हैं, जिनमें नमिसाधु की टीका विशेष महत्व की थी; किन्तु जो संप्रति उपलब्ध नहीं है।

---

१. राजतरंगिणी ४।४८ २. बूलर की काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ६५

३. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, १, पृ० १५२; डॉ० नगेंद्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका पृ० ६९

४. इण्डिया आफिस कैटलॉग, पृ० ३२१ ५. बूलर की काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ६५

६. पोद्दार का उक्त इतिहास, पृ० १६०; डॉ० नगेंद्र : भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० ९५

७. पोद्दार का उक्त इतिहास, पृ० ६४

आनंदवर्धन

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में आनंदवर्धन का बड़ा नाम है। उन्हें ध्वनिसंप्रदाय का जन्मदाता कहा जाता है। उनकी 'राजानक' उपाधि बताती है कि वे काश्मीरी थे और काश्मीर की पंडित-परंपरा में उनका बड़ा सम्मान रहा। कल्हण पंडित के कथनानुसार आनन्दवर्धन काश्मीर के राजा अवंतिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के राज्यकाल में हुए, जिससे सहज ही में उनका समय नवम शताब्दी के मध्य[१] या उत्तरार्ध[२] में रखा जा सकता है।

आनंदवर्धन का प्रमुख ग्रन्थ 'ध्वन्यालोकवृत्ति' है। उनके वृत्तिग्रन्थ से उनके रचे हुए 'अर्जुनचरित' तथा 'विषयबाण' आदि अन्य ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है।[३] उनका 'देवीशतक' काव्यमाला से प्रकाशित हो चुका है। धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' पर भी इन्होंने एक टीका लिखी थी।

ध्वनिकार और आनंदवर्धन

ध्वनिकार एक कर्तृत्वसूचक नाम है। 'ध्वन्यालोक' के वास्तविक रचयिता का नाम विदित नहीं होता है। 'ध्वन्यालोक' तर्कशैली का ग्रन्थ है। उसके तीन अंश हैं : कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण। इस संबंध में आज इतना भर विदित होता है कि मूल कारिकाओं का लेखक, वृत्तिकार आनंदवर्धन से भिन्न था। वह संभवतः भामह तथा दण्डी का समकालीन रहा हो; किन्तु उसका नाम-काल निश्चित रूप से कुछ भी विदित नहीं है। ग्रन्थ का उदाहरण भाग तत्कालीन परंपरा के अनुसार दूसरे ग्रन्थों से संकलित है।

राजशेखर

अब तक राजशेखर का परिचय एक नाटककार के रूप में ही विश्रुत रहा है; किन्तु उनके काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ के उपलब्ध हो जाने के बाद वे आचार्यों को कोटि में भी गिने जाने लगे हैं। वे बड़े उन्नत वंश के थे।[४] इनकी पत्नी अवंतिसुंदरी चौहानवंशीया क्षत्रियाणी थी।[५] वह भी बड़ी विदुषी थी।[६] राजशेखर संभवतः महाराष्ट्रीय थे।[७] राजशेखर नाम से अनेक विद्वान् हो चुके

---

१. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, खण्ड १, पृ० ६९
२. डॉ० नगेंद्र : भा० का० परं०, पृ०, १०२ ३. ध्वन्यालोक, पृ० १४८, १५२, २४१
४. बालरामायण १।१३ ५. कर्पूरमञ्जरी १।११
६. काव्यमीमांसा, पृ० २०, ४६-५७ ७. वही, पृ० ८

हैं, जिनके संबंध में म० म० गौरीशंकर-हीराचंद ओझा ने विस्तार से प्रकाश डाला है।[1] उनके नाटकों से पता चलता है कि वे कन्नौज के शासक महेंद्रपाल के उपाध्याय और उसके पुत्र महीपाल के भी कृपापात्र रहे।[2] महीपाल का समय ९१७ ई० है।[3] इससे प्रतीत होता है कि ये नवम शताब्दी के उत्तरार्ध या दशम शताब्दी के आरंभ में हुए।

राजशेखर का आचार्य श्रेणी का ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है। इन्होंने 'बालभारत', 'बालरामायण', 'कर्पूरमंजरी' और 'विद्धशालभंजिका' के अतिरिक्त 'हरिविलास'[4] और भुवनकोश[5] की भी रचना की थी। किन्तु ये दोनों अन्तिम ग्रन्थ अब नहीं मिलते हैं।

धनंजय

धनंजय, महामुनि भरत की परंपरा के आचार्य हुए। उनका ग्रन्थ नाट्यशास्त्र की श्रेणी का ग्रन्थ है। धनंजय की विश्रुति विषय-विवेचन के आकर्षक ढंग और सरल, सुन्दर शैली के प्रतिपादन के कारण है। उनके पिता का नाम विष्णु था और वे मालव के परमारवंशीय राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ) की राजसभा के विद्वान् थे।[6] परमारवंशीय राजाओं की वंशावली, बूलर साहब और कीलहार्न साहब ने, विभिन्न प्रशस्तियों के आधार पर तैयार की है।[7] मुंज की राजधानी उज्जैन थी और उसका एक १०३१ वि० (९७४ ई०) का शिलालेख उपलब्ध है।[8] उक्त विद्वानों की सूची के अनुसार वाक्पतिराज मुंज और नवसाहसांक सिंधुराज प्रायः समकालीन बैठते हैं। भोज उनसे एक पीढ़ी बाद हुए, जिनका स्थितिकाल अलबेरूनी ने १०३० ई० दिया है।[9] वाक्पतिराज के जो शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि वे ९७४-९७९ ई० के बीच हुए और

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, पृ० ३६५-३७० (१९८२ वि०)

२. बालभारत, १।५; १।११

३. एपीग्राफिया इण्डिका, वाल्यूम १, पृ० १७१

४. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृ० ३३५

५. काव्यमीमांसा, पृ० ९८

६. दशरूपक, ४।८६

७. बूलर : एपीग्रेफिका इण्डिका, वाल्यूम १, पृ० २२२-२३८; कीलहार्न : वही, वाल्यूम २, पृ० १८०-१९४

८. प्राचीन लेखमाला, भाग १, पृ० १

९. इंडियन एण्टीकेरी, भाग ६, पृ० ५३-५४

९९४ ई० तक बने रहे।[१] इसी बीच, उनके शासन के स्वर्णकाल ९८५ ई० में 'दशरूपक' की रचना हुई।[२]

धनिक

धनंजय के अनुज धनिक ने 'दशरूपक' की कारिकाओं पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी। कुछ दिन पूर्व धनंजय और धनिक को एक ही व्यक्ति समझा जाता था। 'अवलोक' की रचना धनिक ने ९९४–१००० ई० के बीच की।[3]

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त, ध्वनिसमर्थक आचार्य आनंदवर्धन की परंपरा में हुए। वे कवि, काव्यशास्त्री और उद्भट दार्शनिक भी थे। उनके शैवदर्शन के गुरु, लक्ष्मण गुप्त, काव्यशास्त्र के गुरु महेंदुराज और नाट्यशास्त्र के गुरु भट्ट तौत थे।[४] महेंदुराज और प्रतिहारेंदुराज अलग-अलग व्यक्ति हुए। 'गुप्त' अभिनव का वंश नाम था, जैसा कि इन्होंने अपने पितृव्य वामन को भी 'गुप्त' कहा है।[५] ये काश्मीरी थे।

इनकी 'विभीषणी' टीका का रचनाकाल गत कलि ४११५ (१०१५ ई०) है।[६] इनके 'भैरवस्तोत्र' का रचनाकाल भी ९९१ ई० है।[७] इस दृष्टि से इनका स्थितिकाल दशवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बैठता है।[८]

अभिनवगुप्त अपने क्षेत्र के असामान्य टीकाकार हुए। उनकी टीकाओं में मूल ग्रन्थों जितनी योग्यता है। काव्यशास्त्र पर उन्होंने 'अभिनवभारती', 'ध्वन्यालोकलोचन' (सहृदयालोचन या काव्यालोकलोचन) और 'काव्य-कौस्तुभ-विवरण' नामक तीन टीकाग्रन्थ क्रमशः भरत के 'नाट्यशास्त्र', आनंद-वर्धन के 'ध्वन्यालोक' और अपने गुरु भट्ट तौत के 'काव्यकौस्तुभ' पर लिखे। दर्शन और तंत्र पर भी इन्होंने ग्रन्थ लिखे। दर्शन के क्षेत्र में इनकी 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी', 'मालिनीविजयवार्तिक', 'परमार्थसार' और 'परात्रिंशिका-

---

१. डॉ० गोविंद त्रिगुणायत : हिन्दी दशरूपक, भूमिका, पृ० ६, ७
२. वही, पृ० ८ ३. वही, पृ० ३-५, ८ ४. अभिनवभारती, पृ० ३१०
५. अभिनवभारती, पृ० २९७ ६. बूलर : काश्मीर रिपोर्ट, पृ० १५९
७. वही, पृ० १६२
८. पोद्दार का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १९२ तथा डॉ० नगेंद्र का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० २०८

विवरण' प्रसिद्ध हैं। तंत्रशास्त्र पर लिखा हुआ इनका 'तंत्राख्यान' ग्रन्थ अद्भुत एवं अद्वितीय है।

कुंतक या कुंतल

कुंतक एक नये 'वक्रोक्ति-संप्रदाय' के पिता हुए। यद्यपि भामह ने वक्रोक्ति अलंकार को वैशिष्ट्य की संज्ञा अवश्य प्रदान की थी; किन्तु उसको संपूर्ण काव्यशास्त्र का आधारभूत कारण सिद्ध करने की क्षमता कुंतक ने ही दर्शित की। कुंतक का समय ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में निश्चित है।[1] इनका 'वक्रोक्तिकाव्यजीवित' ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध है,[2] जिसका हिन्दी संस्करण डा० नगेंद्र ने किया है।

महिम भट्ट

महिम भट्ट अद्भुत तार्किक और प्रखर आलोचक था। उसकी इस तर्कनाशक्ति एवं आलोचना-पद्धति का रूप उसकी ध्वनि-विरोधी विचारधारा में देखने को मिलता है। ध्वनि-सिद्धान्त को उखाड़ फेंकना ही इनकी ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य था। इनकी 'राजानक' उपाधि इनके पांडित्य और काश्मीर-देशीय होने का प्रमाण है। ये आनंदवर्धन के बाद और क्षेमेन्द्र से पूर्व लगभग ११वीं शताब्दी में हुए।

इनका एकमात्र ग्रन्थ 'व्यक्ति-विवेक' उपलब्ध है। काव्यशास्त्र पर इन्होंने एक दूसरा ग्रन्थ 'तत्त्वोक्तिकोश' भी लिखा था, जो उपलब्ध नहीं है। इनके 'व्यक्ति-विवेक' पर रुय्यक की एक अधूरी टीका उपलब्ध है।

क्षेमेंद्र

क्षेमेंद्र ने अपना दूसरा नाम व्यासदास लिखा है। ये काश्मीरी थे। आरंभ में इन्होंने शैवधर्म स्वीकार किया था; किन्तु सोमाचार्य के संपर्क में आकर वे वैष्णव हो गये। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री अभिनवगुप्त इनके काव्य-गुरु थे।[3]

---

१. डॉ० नगेंद्र : वक्रोक्ति काव्यजीवित, भूमिका, पृ० ८

२. बाबू सुशील कुमार डे द्वारा संपादित एवं ओरियन्टल सीरीज कलकत्ता से प्रकाशित

३. भारतमंजरी, पृ० ८५० तथा बृहत्कथामंजरी, १६।३७

क्षेमेंद्र, काश्मीर के राजा अनंतराज का सभा-पंडित था।[1] अनंतराज मालव-नरेश भोज के समकालीन हुआ।[2] उसका राज्यकाल १०२८–१०८० ई० था।[3] अतः क्षेमेंद्र का स्थितिकाल ११वीं शताब्दी का मध्यभाग ठहरता है।

इनके दोनों ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' और 'कविकंठाभरण' प्रकाशित हैं।[4] इनका पहिला ग्रन्थ आलोचनात्मक शैली का है और दूसरा संभवतः 'काव्यमीमांसा' से प्रभावित है। छंदशास्त्र पर भी इन्होंने 'सुवृत्ततिलक' लिखा, जो कि 'औचित्यविचारचर्चा' का ही अंश है। इनका 'कविकर्णिका' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन्होंने 'शिशुवंश', 'दशावतारचरित', 'बृहत्कथामंजरी', 'भारतमंजरी', 'रामायणमंजरी', अनेक स्तोत्र-ग्रन्थ और नाटक, कोश एवं नीति पर भी कई ग्रन्थ लिखे। ये सर्वतोमुखी प्रतिभा के विद्वान् हुए।

भोजराज

भोजराज उन विरले भाग्यशाली व्यक्तियों में–से थे, जिन पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की कृपा थी। उनके काव्यप्रेम, उनकी उदार प्रकृति और गुणग्राहकता की यशोगाथा कल्हण की 'राजतरंगिणी' में वर्णित है।[5] ये परमारवंशीय एवं धारानगरी के अधीश्वर थे। भोज के ज्योतिषग्रन्थ 'राजमृगांक' का रचनाकाल ९६४ शक (१०४२ ई०) है। उनका एक दानपत्र १०७८ वि० (१०२१ ई०) का उपलब्ध हुआ है।[6] इस दृष्टि से इनका समय ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बैठता है।

इनके काव्यशास्त्रविषयक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं; 'सरस्वतीकंठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश'। पहिले ग्रन्थ को दे बाबू और काणे महोदय ने मौलिक न मानकर संग्रहग्रन्थ माना है।[7] 'सरस्वतीकंठाभरण' के तीन परिच्छेदों पर 'रत्नार्णव' नामक टीका रत्नेश्वर ने राजा रामसिंह की प्रेरणा से लिखी थी,

---

१. कविकण्ठाभरण, सुवृत्ततिलक और औचित्यविचारचर्चा की पुष्पिकाएँ
२. राजतरंगिणी, ७ २५९ ३. काव्यमाला, प्रथम गुच्छक, पृ० ३४, ३५
४. काव्यमाला सीरीज, बंबई से प्रकाशित ५. राजतरंगिणी ७।२५९
६. इण्डियन एण्टीकेरी, भाग ६, पृ० ५३, ५४
७. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, जिल्द १, पृ० १४८; साहित्यदर्पण की भूमिका, पृ० ९५

जिसका समय १४०० ई० है।[1] इनके दूसरे ग्रन्थ 'शृङ्गारप्रकाश' का डॉ० राघवन् ने अपने थीसिस ग्रन्थ में विस्तार से ब्यौरा दिया है।

मम्मट

काव्यशास्त्र के इतिहास में राजानक मम्मट का व्यक्तित्व बड़े संमान से याद किया जाता है। मम्मट बड़ा तार्किक एवं आलोचक विद्वान् हुआ। वह भी काश्मीरी था। 'राजानक' उपाधि उच्च संमान की सूचक थी, जिसको कि काश्मीर की एक महारानी ने प्रचलित किया था।[2] पीटरसन साहब ने मम्मट को कैयट और उव्वट का भाई एवं जैयट का पुत्र बताया है।[3] किन्तु उव्वट ने अपने पिता का नाम वज्रट लिखा है। मम्मट का संभावित स्थितिकाल ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।[4]

मम्मट के ग्रन्थ का नाम 'काव्यप्रकाश' है। यह ग्रन्थ सारे काव्यशास्त्र का प्राण है। उसकी लोकप्रियता इसी से आँकी जा सकती है कि भारत के सभी भागों के लगभग ७० विद्वानों ने उस पर टीकाएँ लिखीं। रुय्यक, विश्वनाथ, जगदीश, नरसिंह, ठक्कुर, नागोजि भट्ट, कमलाकर भट्ट, बलदेव भूषण, माणिक्यचंद, सोमेश्वर, सरस्वतीतीर्थ, जयंत, गोकुलनाथ और वामनाचार्य झलकीकर उसके प्रमुख टीकाकार हुए। निर्णयसागर प्रेस से मम्मट का एक लघुग्रन्थ 'शब्द-व्यापार-विचार' भी प्रकाशित हो चुका है।

रुय्यक

राजानक रुय्यक भी काश्मीरी थे। इसका एक नाम रूचक भी है, जो कि अपभ्रंश शब्द है।[5] राजानक तिलक उसके पिता का नाम था, जिसने कि उद्भट के ग्रन्थ पर 'उद्भटविवेक' या 'उद्भटविचार' नामक टीका लिखी थी।[6] रुय्यक का समय १२वीं शताब्दी का प्रथम भाग निश्चित है।

इनके काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों के नाम हैं: 'अलंकारसर्वस्व', 'व्यक्तिविवेक-विचार', 'काव्यप्रकाशसंकेत', 'सहृदयलीला', 'अलंकारमंजरी', 'अलंकारानुसारिणी',

---

१. काणे : साहित्यदर्पण की भूमिका, पृ० ९७

२. राजतरंगिणी, ६।२१

३. पीटर्सन : काश्मीर की रिपोर्ट, पृ० ९४

४. पोद्दार का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० २३८; डॉ० नगेंद्र का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० ३१८

५. पिशल : शृङ्गारतिलक की भूमिका, पृ० २८–२९

६. अलंकारसर्वस्व की विमर्शिणी-टीका, पृ० ११५–१२४, २०५

'साहित्यमीमांसा', नाटकमीमांसा', और 'अलंकारवार्तिक'। इनके 'अलंकारसर्वस्व' पर अलक, जयरथ, समुद्रबंध और विद्याचक्रवर्ती आदि ने टीकाएँ लिखीं।

मंखक

मंखक, रुय्यक का शिष्य था। उसकी ख्याति 'श्रीकंठचरित' नामक महाकाव्य के कर्ता के रूप में है। वह काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८–११४९ ई०) का मंत्री था।

'अलंकारसर्वस्व' के दो भाग हैं: सूत्र और वृत्ति। कुछ विद्वानों तथा प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने सूत्र और वृत्ति का लेखक रुय्यक को ही माना है और कुछ ने सूत्रों का लेखक रुय्यक तथा वृत्ति का लेखक मंखक को स्वीकार किया है। इस संबंध में पोद्दार जी का कथन है कि सूत्रग्रन्थ का लेखक तो रुय्यक ही था और वृत्ति का लेखक संभवतः न तो केवल रुय्यक ही और न केवल मंखक ही; किन्तु रुय्यक द्वारा लिखे गये वृत्तिग्रन्थ में मंखक द्वारा कुछ परिवर्तन अवश्य किया गया।[1]

वाग्भट प्रथम

वाग्भट प्रथम श्वेताम्बर संप्रदाय के जैन थे। 'वाहट' इनका प्राकृत नाम था। 'नेमिनिर्वाण' महाकाव्य के रचयिता भी यही थे। वाग्भट ने अपने ग्रन्थ में गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह का उल्लेख किया है। जयसिंह का समय १०९३–११४३ ई० है।[2] इस दृष्टि से इनका स्थितिकाल बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध बैठता है। ये संस्कृत और प्राकृत, दोनों भाषाओं के प्रकांड विद्वान् थे। 'काव्यानुशासन' के प्रणेता वाग्भट और 'अष्टांगहृदय' के कर्ता वाग्भट से ये भिन्न थे।[3]

इनके ग्रन्थ का नाम 'वाग्भटालंकार' है। इस ग्रन्थ पर लगभग आठ टीकाएँ लिखी गईं।

हेमचंद्र

जैनाचार्य हेमचंद्र एक सिद्धहस्त वैयाकरण और काव्यशास्त्री थे। ये श्वेताम्बर संप्रदाय के विद्वान् हुए। इनके संबंध में भी जैन-साहित्य के प्रकरण में लिखा जा चुका है। इनका स्थितिकाल १२वीं शताब्दी का मध्यभाग है।

---

१. पोद्दार जी का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १४७ २. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ४

३. इस नाम के चार विद्वानों का वर्णन इसी ग्रंथ के जैन साहित्य प्रकरण में देखिए

काव्यशास्त्र पर इन्होंने 'काव्यानुशासन' ग्रन्थ लिखा और उस पर 'अलंकारचूड़ामणि' वृत्ति तथा 'विवेक' नामक टीका लिखी। इनका यह संग्रहग्रन्थ है। काव्यशास्त्र की अपेक्षा यह ग्रन्थ हेमचंद्र के काव्यप्रेम को प्रकट करता है।

जयदेव

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में जयदेव का ऊँचा स्थान है। 'पीयूषवर्ष' इसकी उपाधि थी।[1] ये मम्मट के बाद और विश्वनाथ से पहिले लगभग १२वीं १३वीं शताब्दी के बीच कहीं हुए। भोजदेव-रामादेवी के पुत्र 'गीत-गोविंद' के रचयिता से ये भिन्न थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'चंद्रालोक' है। इसके पंचम मयूख को परिवर्द्धित करके अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानंद' लिखा। इस ग्रन्थ पर लगभग छह टीकाएँ लिखी गईं। हिन्दी में इसका उल्था 'भाषाभूषण' के नाम से हुआ है।

विश्वनाथ

राजानक मम्मट के बाद कविराज विश्वनाथ को ही स्मरण किया जाता है। विश्वनाथ जैसी बहुमुखी प्रतिभा मम्मट में भी नहीं दिखाई देती है। विश्वनाथ विद्वद्वंश का था। उसका पिता चंद्रशेखर स्वयं महाकवि[2] और पितामह नारायण पंडित[3] बड़े विद्वान् थे। संभवतः वह उत्कल (उड़ीसा) का निवासी था।[4] विश्वनाथ अनेक भाषाओं के जानकार थे। उन्होंने स्वयं को 'षोडशभाषावारविलासिनीभुजंग' कहा है। उनका स्थितिकाल १४वीं शताब्दी में रखा गया है।[5]

'साहित्यदर्पण' विश्वनाथ का आचार्य श्रेणी का ग्रन्थ है; किन्तु उसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्य, काव्य, नाटक आदि अनेक विषयों पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे थे। 'साहित्यदर्पण' काव्यशास्त्र का विश्वकोश है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं और उसके कई संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं।

विश्वनाथ के दूसरे ग्रन्थों के नाम हैं: १ 'राघवविलास' (महाकाव्य), २ 'कुवलयाश्वचरित' (प्राकृत काव्य), ३ 'प्रभावतीपरिणय' (नाटिका), ४ 'चन्द्रकला' (नाटिका), ५ 'प्रशस्तिरत्नावली' (१६ भाषाओं की कृति) और ६ 'नरसिंहविजय' (काव्य)।

---

१. चन्द्रालोक १।१२ १।१६ २. साहित्यदर्पण १०।१००
३. वही, ३।२, ३ ४. पोद्दार का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० २७१
५. डॉ० नगेंद्र : भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० ३१३

भानुदत्त

भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि वे मैथिल थे और उनके पिता का नाम गणेश्वर था। पूर्वापर ग्रन्थों की समीक्षा के आधार पर भानुदत्त का स्थितिकाल १३वीं-१६वीं शताब्दी के बीच बैठता है।

'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' दोनों इनके आचार्य श्रेणी के ग्रन्थ हैं। पहिला ग्रन्थ इनका अधिक प्रसिद्ध है। उस पर लिखी गई लगभग ११ टीकाएँ उपलब्ध हैं। 'अलंकारतिलक' ग्रन्थ भी सम्भवतः इन्हीं का है। इन्होंने 'गीतगोविंद' की शैली पर 'गीतगौरीश' नामक एक गीतिग्रन्थ भी लिखा था।

अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित दाक्षिणात्य थे। अद्वैत वेदांत के क्षेत्र में शैवतत्व का उन्हें अद्भुत विद्वान् माना जाता है। ये 'न्यायचिन्तामणि' के प्रणेता आचार्य-दीक्षित, जो वक्षःस्थलाचार्य के अपर नाम से प्रसिद्ध थे, के पौत्र और रंगराजाध्वरि के ज्येष्ठ पुत्र थे। कहा जाता है कि १६५७ ई० में आयोजित काशी के मुक्तिमण्डप की सुप्रसिद्ध विद्वत्सभा के निर्णयपत्र पर अप्पय दीक्षित के भी हस्ताक्षर थे। इस दृष्टि से ज्ञात होता है कि वे १६५७ ई० तक जीवित थे।

अप्पय दीक्षित बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हुए हैं। उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे। काव्यशास्त्रविषयक उनके तीन ग्रन्थ हैं: 'कुवलयानन्द', 'चित्रमीमांसा' और 'वृत्तिवार्तिक'। तीनों ही प्रकाशित हैं। 'कुवलयानंद' इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है, जिसका आधार जयदेव का 'चन्द्रालोक' है, और हिन्दी के रीति-साहित्य पर जिसका बड़ा प्रभाव रहा है। 'वृत्तिवार्तिक' दो अध्यायों तक ही उपलब्ध है।

पण्डितराज जगन्नाथ इनके प्रबल आलोचक थे। पण्डितराज की आलोचना पुनः अप्पय दीक्षित के अनुज अच्चा दीक्षित के पौत्र एवं नारायण दीक्षित के पुत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने की।

जगन्नाथ

काव्यशास्त्र के इतिहास में पण्डितराज का स्थान बहुत ऊँचा है। वे मम्मट और विश्वनाथ की श्रेणी के विद्वान् हुए। पण्डितराज दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता पेरम भट्ट भी बड़े विद्वान् थे।[1] इसके सम्बन्ध

---

१. रसगंगाधर, पृ० २

में यह कहावत है कि ये किसी यवन सुन्दरी पर आसक्त थे। काशी इनकी कर्मभूमि रही और जीवन का अन्तिम भाग इन्होंने मथुरा में बिताया।

पण्डितराज दिल्लीश्वर शाहजहाँ और उनके गुणी पुत्र दारा के प्रेमपात्र थे। दारा की प्रशंसा में इन्होंने 'जगदाभरण' और शाहंशाह शाहजहाँ के कृपापात्र खानखाना के सम्बन्ध में 'आसफविलास' की रचना की। 'पंडितराज' की उपाधि इन्हें शाहजहाँ द्वारा दी गई थी।[1] पण्डितराज सत्रहवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध तक जीवित रहे।[2]

पण्डितराज ने काव्य, व्याकरण और काव्यशास्त्र, तीनों विषयों पर बहुत ग्रन्थ लिखे। काव्य के क्षेत्र में इन्होंने 'भामिनीविलास', 'आसफविलास', 'गंगालहरी', 'करुणालहरी', 'अमृतलहरी', 'लक्ष्मीलहरी', 'जगदाभरण', 'प्राणाभरण', 'सुधालहरी', 'यमुनावर्णनचम्पू'; व्याकरण के क्षेत्र में मनोरमा के खंडनार्थ 'मनोरमाकुचमर्दन'; और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में 'चित्रमीमांसाखंडन' तथा 'रसगङ्गाधर' लिखे। 'रसगङ्गाधर'[3] उनकी सर्वोच्च कृति है, जो नागेश भट्ट की पांडित्यपूर्ण टिप्पणीसहित अधूरी ही उपलब्ध है।

पण्डितराज जगन्नाथ के समय १७वीं शताब्दी तक काव्यशास्त्र की परम्परा को आगे बढ़ाने में जिन काव्यशास्त्रियों ने प्रमुख भाग लिया उनका निर्देश किया जा चुका है; किन्तु इस बीच और उसके बाद भी अनेक काव्यशास्त्री इस दिशा में प्रवृत्त रहे हैं। काव्यशास्त्र के इतिहास में गौणतया भाग लेनेवाले आचार्यों का उदय लगभग आठवीं शताब्दी में ही हो चुका था और उनकी अटूट परम्परा लगभग आज तक बनी हुई है।

'कुछ और भी काव्यशास्त्री' नाम से हमने यहाँ उन आचार्यों के संबंध में सूत्ररूप से प्रकाश डाला है, जिनकी गणना यद्यपि काव्यशास्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रबल पोषकों अथवा प्रवर्तकों के रूप में नहीं है, तथापि जिनका परिचय प्राप्त किए बिना काव्यशास्त्र के इतिहास का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है।

कुछ और भी काव्यशास्त्री

काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५७–८८४ ई०) के सभा-पण्डित कल्लट भट्ट के पुत्र तथा 'लघुवृत्ति' के लेखक प्रतिहारेन्दुराज के गुरु मुकुल भट्ट

---

१. आसफविलास (काव्यमाला सीरीज) द्वितीय गुच्छक, पृ० ५५

२. डॉ० नगेंद्र का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० ३५४

३. काव्यमाला सीरीज की संख्या १२ में प्रकाशित

कृत 'अभिधामातृका' और दूसरे काश्मीरी विद्वान् भट्ट नायक (१०वीं श०) की अनुपलब्ध कृति 'हृदयदर्पण' इस परम्परा में उल्लेखनीय हैं। भट्ट नायक ध्वनि-विरोधी और भावना-व्यापार के समर्थक विद्वान् थे। सारंगनंदी (११वीं श०) का 'नाटक-लक्षण-रत्नकोश' नाट्यश्रेणी का ग्रन्थ है। इनसे पूर्व रामचन्द्र और गुणचन्द्र (१२वीं श०) ने भी नाट्यशास्त्र पर एक 'नाट्य-दर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा। ये दोनों जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। अमरचन्द्र और अमरसिंह (१३वीं श०) की संयुक्त कृति का नाम 'काव्य-कल्पलता' है। ये दोनों जिनदत्तसूरि के शिष्य थे। इनका ग्रन्थ कवि-शिक्षा-विषयक है, जिसको लक्ष्य मान कर देवेश्वर (१४वीं श०) ने भी 'कवि-कल्पलता' एक दूसरा ग्रन्थ लिखा। कलिंग के द्वितीय राजा नरसिंहदेव या नरसिंह (१२८०-१३३४ ई०) की स्तुति में विद्याधर (१३वीं श०) ने 'एकावली' लिखी, जिस पर सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ (१४वीं श०) ने एक 'तरला' नामक टीका लिखी, जो संप्रति उपलब्ध नहीं है। यह ग्रन्थ मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर आधारित है। एकशिला (आंध्र) के काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव वीरभद्र (१२९५–१३२३ ई०) के आश्रित विद्वान् एवं दक्षिण भारत के लोकप्रिय कवि विद्यानाथ (१३वीं श०) ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की शैली में लिखा। इस पर कुमारस्वामी ने 'रत्नापण' टीका लिखी, जो मूलग्रन्थ के साथ बम्बई संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हो चुकी है। ये कुमारस्वामी सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ सूरि के पुत्र थे। शारदातनय संभवतः काश्मीरदेशीय था और उसका आनुमानिक समय १३वीं श० था। उसने एक नाट्यविषयक ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' का निर्माण किया। 'वाग्भटालङ्कार' के रचयिता के अतिरिक्त एक दूसरे वाग्भट (संभवतः १४वीं श०) भी हुए जिनके पिता का नाम नेमिकुमार था और जिन्होंने सूत्रात्मक शैली के एक 'काव्यानुशासन' नामक अलंकारग्रन्थ के अलावा 'ऋषभदेवचरित' और 'छन्दोनुशासन' नामक दूसरे भी ग्रन्थ लिखे। इनका उल्लेख विस्तार से जैन-साहित्य के प्रसङ्ग में किया गया है।

प्रद्योत भट्ट (१६वीं श०) ने जयदेव के 'चन्द्रालोक' पर 'शरदागम' टीका के अतिरिक्त वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर भी १५७७ ई० में एक टीका लिखी। कुमार के पुत्र और मुकुन्द के पौत्र, चैतन्य महाप्रभु के शिष्य परम वैष्णव विद्वान् रूपगोस्वामी (१६वीं श०) ने 'उज्ज्वलनीलमणि', 'नाटक-चन्द्रिका' और 'भक्तिरसामृतसिंधु' नामक तीन काव्यशास्त्र श्रेणी के ग्रन्थों के

अतिरिक्त 'विदग्धमाधव' और 'उत्कलिकावली' नामक दो काव्यश्रेणी के ग्रन्थ भी लिखे।

वंगदेशीय विद्वान् शिवानन्द सेन के पुत्र एवं चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी तथा श्रीनाथ के शिष्य गोस्वामी कर्णपूर (परमानन्द सेन, जन्म १५२४ ई०) ने एक 'अलङ्कारकौस्तुभ' ग्रन्थ लिखा, जिस पर कि उन्होंने स्वयं ही 'किरण' नामक टीका भी लिखी। इस ग्रन्थ पर दूसरी टीका विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सार-बोधिनी' और तीसरी वृन्दावनचंद्र सेन की 'दीधितिप्रकाशिका' है। 'आनन्द-वृन्दावनचम्पू' और 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक (रचना-काल १५७२ ई०) भी इन्होंने लिखे।

किसी बौद्धाचार्य (१२वीं श०) द्वारा शौद्धोदनि (बुद्धदेव) के नाम से प्राप्त कुछ कारिकाओं के व्याख्यास्वरूप केशवमिश्र ने 'काव्यादर्श', 'काव्यमीमांसा', 'ध्वन्यालोक' और 'काव्यप्रकाश' के आधार पर एक ग्रन्थ 'अलंकारशेखर' लिखा, जो काव्यमाला सीरीज की संख्या ५० में प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने ७ ग्रन्थ और लिखे। अपने इस ग्रन्थ को केशवमिश्र ने काबिल (सम्भवतः काबुल, अफगानिस्तान) के विजेता दिल्ली के माणिक्यचंद्र राजा के लिए लिखा था। इस राजा का स्थितिकाल कनिंघम साहब ने १५६३ ई० बताया है। (आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वाल्यूम ५, पृ० १६०)

अप्पय दीक्षित के पूर्ववर्ती शोभाकर नामक एक विद्वान् (१६वीं श०) ने 'अलङ्काररत्नाकर' लिखा, जो अप्रकाशित है; किन्तु जिसका हवाला पोद्दार जी ने (इतिहास १, पृ० २७८) दिया है। महाराष्ट्रीय विद्वान् ब्राह्मण शिवभट्ट तथा सती के पुत्र नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट ने 'रसगंगाधर', 'रसमञ्जरी', 'काव्यप्रकाश' और 'कुवलयानन्द' आदि ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। ये वाराणसी के थे तथा स्वयं एक वैयाकरण और 'सिद्धान्तकौमुदी' के रचयिता भट्टोजि दीक्षित के प्रपौत्र एवं हरिदत्त के शिष्य थे। नागोजि का समय १७वीं श० का अन्तिम भाग अथवा १८वीं श० का आरम्भिक भाग है।

गुजरातवास्तव्य रामजि भट्ट के पुत्र तथा धरणीधर के शिष्य आशाधर भट्ट (१७वीं श०) ने 'कोविदानन्द,' 'त्रिवेणिका' और 'अलंकारदीपिका' तीन ग्रन्थ लिखे। अल्मोड़ा जिला के पटिया ग्राम निवासी पाण्डेय ब्राह्मण लक्ष्मीधर के पुत्र एवं उमापति के अनुज व्याकरण, न्याय तथा काव्यशास्त्र के निपुण विद्वान् विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं श०) ने 'अलङ्कारकौस्तुभ', 'अलङ्कारमुक्तावली', 'रसचन्द्रिका', 'अलङ्कारप्रदीप' और 'कवीन्द्र-कंठाभरण' आदि

ग्रन्थ लिखे। इनका पहिला ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा 'रसगंगाधर' की श्रेणी का विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। व्याकरण पर इन्होंने 'वैयाकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि' और न्याय पर 'तर्ककुतूहल' तथा 'दीधिति-प्रवेश' लिखे। नरसिंह कवि (१८वीं श०) ने भी 'नन्दराजयशोभूषण' नाम का एक ग्रन्थ इसी के आस-पास लिखा।

कविराजा मुरारिदान (१९५० वि०) के पूर्ववर्ती, एक अज्ञातकालीन विद्वान् ने 'अलंकारोदाहरण' लिखा, जो अभी सम्भवतः प्रकाशित नहीं है। अन्त में महाराज जसवंतसिंह के राजकवि कविराजा मुरारिदान और उनके गुरु सुब्रह्मण्यशास्त्री के उल्लेख के साथ-साथ काव्यशास्त्र की परंपरा की इति हो जाती है। कविराजा कृत हिन्दी संस्करण 'जसवंतजसोभूषण' का संस्कृत-संस्करण शास्त्री जी ने तैयार किया, जो कि 'यशवंतयशोभूषण' नाम से जोधपुर से प्रकाशित हो चुका है। ये दोनों ग्रन्थ १९५० वि० में रचे गए।

ऐतिहासिक अध्ययन का दृष्टिकोण

भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वांगीण अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की बीसवीं शताब्दी तक उसकी परम्परा बनी रही। यह परम्परा यद्यपि बीच-बीच में खंडित होती रही; फिर भी उसका अस्तित्व बना रहा। भामह से लेकर पीयूषवर्ष जयदेव तक के लगभग छह-सात शतकों में भारतीय काव्यशास्त्र की विभिन्न वीथियों का निर्माण हुआ। आलोचना, प्रत्यालोचना और समीक्षा की जिन नवीन विधियों का सूत्रपात इस बीच हुआ, वह भारतीय साहित्य के लिए एक अपूर्व देन थी।

कुछ विद्वानों के मतानुसार ईसवी सन् की छठी शताब्दी से लेकर हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी तक के द्वादश शतक भारत में साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से अवनति के शतक रहे हैं एवं इस बीच गूढ चिंतनशील कृतियों का प्रायः अभाव रहा है।[1] किन्तु काव्य की शिल्पविधियों और काव्य की अंतश्चेतना की व्याख्या करने में काव्यशास्त्रियों की गम्भीर गवेषणाओं को देखते हुए यह बात उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है। काव्यशास्त्र की आत्मा के स्वरूप रस तत्त्व का विश्लेषण करने में काव्यशास्त्रियों ने जिस व्यापक अध्ययन का परिचय दिया है, उसका अपना स्थायी मूल्य है।

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार : इतिहासप्रवेश, भूमिका

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव, विकास और ह्रास की काल-सीमाओं को पाँच युगों में बाँटा है : १ वैदिक काल; २ वैदिक काल के बाद और पौराणिक काल के प्रथम : मध्यवर्ती काल; ३. पौराणिक अर्थात् महाभारत काल; ४. पौराणिक काल के पश्चात् ईसवी सन् के आरम्भ से लगभग १२०० ई० तक; और ५. ईसवी सन् १२०० के पश्चात् लगभग ईसवी सन् १८०० तक।[1] सेठ जी के काल-विभाजन का उक्त दृष्टिकोण कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है; किन्तु आधुनिक गवेषणाओं से उसका ठीक तरह से तारतम्य न बैठने के कारण उसका हमारे लिए थोड़ा ही लाभ रह गया है।

श्री बलदेव उपाध्याय ने काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास के लिए तीन मोटे सिद्धान्त रखे हैं : १. पहली अवस्था वह जब कि काव्यशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत माना जाता था; २. दूसरी अवस्था वह जब कि ये दोनों शास्त्र अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम कर चुके थे और ३. तीसरी अवस्था वह जब कि नाट्यशास्त्र का अन्तर्भाव काव्यशास्त्र में हो चुका था अर्थात्, पहिली अवस्था से एकदम विपरीत।[2]

काव्यशास्त्र का अध्ययन करने पर ठीक तरह से उसकी सैद्धांतिक सीमाओं का निर्धारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें जो मतभेद दिखाई देता है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही युग में होने वाले आचार्यों से संबद्ध न होकर विभिन्न युगों के आचार्यों से संबद्ध है। काव्यशास्त्र के आचार्यों की आलोचना-प्रत्यालोचना की प्रवृत्ति आदि से लेकर अन्त तक एक जैसी असमानता को लिए है; फिर भी समग्र काव्यशास्त्र के उत्कर्ष का अध्ययन हम श्री उपाध्याय जी द्वारा निर्दिष्ट तीन सिद्धान्तों को आधार बना कर सुगमता से कर सकते हैं।

काव्यशास्त्र के बृहद् भाग के निर्माण का श्रेय काश्मीरी विद्वानों को है। प्राचीन काव्यशास्त्रियों में दण्डी ही एक मात्र ऐसे विद्वान् थे, जो काश्मीरी न होकर दाक्षिणात्य थे। और यद्यपि भोज-जयदेव जैसे विद्वान् भी काश्मीरी नहीं थे; फिर भी उनकी गणना शीर्षस्थ विद्वानों की कोटि में न थी। वे एक प्रकार से अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के पोषक मात्र थे। अपने जन्म से काश्मीर भूमि को अलंकृत करने वाले विद्वानों में भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनंदवर्धन, कुंतक, महिम भट्ट, अभिनवगुप्त, मम्मट और रुय्यक आदि प्रमुख हैं।

---

१. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० ३-४ (१९३८)

२. उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, खंड १, पृ० २४ (२००७)

काव्यशास्त्र में संप्रदाय चिंतन

संप्रदायों के आविर्भाव का कारण

काव्यशास्त्र के अभ्युदय का एकमात्र प्रयोजन है काव्य के अन्तस्तत्व का पता लगाना। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य की उस आधारभूत परम सत्ता को अलग-अलग स्वरूपों में देखा। काव्यरूप उस महामनस्वी के विभिन्न अंगों का विवेचन करने के उपरांत काव्यशास्त्री जब उसकी आत्मा की खोज में गए तो किसी ने पाया कि वह अलंकार-स्वरूप है, किसी ने उसको रीतिस्वरूप कहा, किसी ने उसको ध्वनि की संज्ञा दी और किसी ने उसको रसरूप कहा। काव्य के आत्मतत्व के संबंध में काव्याचार्यों का यह मतभेद बढ़ता ही गया; फलतः उसने संप्रदायों का रूप धारण किया।

इन संप्रदायों के संबंध में आचार्य रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' के प्रामाणिक टीकाकार समुद्रबंध ने एक नया प्रकाश डाला है। उन्होंने शब्द और अर्थ में चमत्कार पैदा करनेवाले तीन कारण गिनाये हैं: धर्म, व्यापार और व्यंग्य। धर्म की उन्होंने दो श्रेणियाँ मानी हैं: अनित्य और नित्य। उनके मतानुसार नित्यधर्म की व्याख्या करनेवाला संप्रदाय 'अलंकारसंप्रदाय' और अनित्यधर्म की मीमांसा करनेवाला 'गुणसंप्रदाय' या 'रीतिसंप्रदाय' कहलाया। शब्द और अर्थ में आकर्षण पैदा करनेवाला दूसरा कारण व्यापार-मूलक है, जिसके दो प्रकार हैं: वक्रोक्ति और भोजकत्व। समुद्रबंध के कथनानुसार वक्रोक्ति से 'वक्रोक्तिसंप्रदाय' और भोजकत्व से 'रससंप्रदाय' की प्रतिष्ठा हुई। इसी प्रकार तीसरे व्यंग्यमूलक कारण से 'ध्वनिसंप्रदाय' की नींव पड़ी।

आचार्य नंदिकेश्वर और भरत (ई० पूर्व प्रथम शतक) से लेकर पंडित-राज जगन्नाथ (१७०० ई०) तक काव्यशास्त्र की परंपरा निरन्तर आगे

बढ़ती रही। पंडितराज के बाद भी यह परंपरा लगभग आजतक बनी रही; किन्तु उतने महत्त्व का कार्य बाद में नहीं हुआ। काव्यशास्त्र के उत्कर्ष के इन अठारह शतकों में अनेक वादों, विचारों और संप्रदायों का निर्माण एवं निर्वासन होता गया। उनमें पाँच संप्रदाय ही ऐसे हैं, जिनकी अधिक विश्रुति है, और जिनके अध्ययन से संपूर्ण काव्यशास्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जा सकता है। इन पाँच संप्रदायों और उनके प्रवर्त्तकों का विवरण इस प्रकार है :

१	रससंप्रदाय	:	नंदिकेश्वर, भरत
२	अलंकारसंप्रदाय	:	भामह, उद्भट, रुद्रट
३	रीतिसंप्रदाय	:	दण्डी, वामन
४	वक्रोक्तिसंप्रदाय	:	कुंतक
५	ध्वनिसंप्रदाय	:	आनंदवर्धन

रससम्प्रदाय को छोड़ कर अन्य सम्प्रदायों का क्रम ऐतिहासिक दृष्टि से न होकर विषय की दृष्टि से है। इस सम्प्रदायों के प्रवर्तक और अनुयायी भी ऐतिहासिक दृष्टि से समानता नहीं रखते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य नन्दि और भरत ने जिस रस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी, उसका भामह, उद्भट और दण्डी ने खंडन कर एक नये सम्प्रदाय को जन्म दिया; किन्तु उनके उत्तरवर्ती विद्वान् विश्वनाथ ने पुनः रससम्प्रदाय का ही मंडन किया। यही स्थिति दूसरे सम्प्रदायों के संबंध में रही।

वस्तुतः इस सैद्धांतिक संघर्ष का एक ही उद्देश्य था कि काव्य की वास्तविकता का रहस्य क्या है, अथवा काव्य की आत्मा का स्वरूप क्या है।[१] इन विभिन्न सम्प्रदायों के आविर्भाव के मूल में एक ही भावना विद्यमान रही है कि काव्यरूपी विशाल वटवृक्ष की वह जीवनदायिनी या रसदायिनी शक्ति कौन है, जिससे परिपुष्ट होकर उसकी शाखा-प्रशाखाएँ पुष्पित एवं पल्लवित होकर अपना विकास करती गई।

रससंप्रदाय

काव्य उस विशाल वट-वृक्ष के समान है, जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ शब्द, अर्थ गुण, दोष, रीति, छन्द और अलंकारादि और जिसकी प्राणदायिनी शक्ति

१. ए० बी० गजेंद्र गडकर : काव्यप्रकाश, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३

रस है। गुण-दोषादि काव्य के बाह्य-सौन्दर्योपकरण हैं और उनको संश्लिष्ट कर सचेतन कर देना रस का कार्य है। भारतीय साहित्याचार्यों ने सहस्रों वर्षों के घोर अनुशीलन के बाद अमृतस्वरूप जिस रसतत्त्व को उपलब्ध किया था, उस दिशा में पाश्चात्य मनीषियों का ध्यान बहुत पीछे आकर्षित हुआ।

व्याकरण-व्युत्पत्ति के अनुसार 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से है : (१) रस्यते इति रसः, अर्थात् जो आस्वादन किया जाय वह रस है और (२) सरते इति रसः, अर्थात् जो बहे वह रस है। इस प्रकार रस में स्वाद और द्रवत्व दो धर्म विद्यमान हैं। ऋग्वेद में रस का प्रयोग एक स्थान पर सोमरस के लिए आस्वादन अर्थ में किया गया है।[1] ब्राह्मण ग्रन्थों में उसको मधु के अर्थ में ग्रहण किया गया है, यथा : 'रसो वै मधु।' आगे चलकर उपनिषद्-ग्रन्थों में उसके आस्वादन और द्रवत्व दोनों प्रकार के स्वभावों का वर्णन बहुत ही सूक्ष्म ढङ्ग से किया गया है।[2] रस को चिदानंदस्वरूप परमात्मा कहा गया है और रस से ही ऋग्, यजुः तथा साम की ऋचाओं की उद्भावना बताई गई है।[3] रस शब्द का यह अनेकविध विवेचन दर्शन-ग्रन्थों, 'रामायण' और 'महाभारत' आदि में भी किया गया है; किन्तु काव्य के अनुरूप उसकी सम्यग् व्याख्या पहिले-पहिल आचार्य भरत ने ही की है।

श्रुतियों में, जिस रसतत्त्व को अनन्त, अखण्ड, स्वयंप्रकाश, सच्चिदानंद-घनस्वरूप परब्रह्म की संज्ञा तक दी गई है, काव्यशास्त्रियों ने भी उसी श्रद्धा और विद्वत्ता के साथ रस को सत्वगुणविशिष्ट, स्वयंप्रकाश, चिन्मय, आनन्दस्वरूप और ब्रह्मस्वादसहोदर आदि विशेषणों से काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। प्रत्यक्ष रूप से रसास्वादन मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त आदि षड्रसों द्वारा होता है और अप्रत्यक्ष रूप से काव्यविषयक रसानुभव रति आदि स्थायी भावों के माध्यम से हृदय द्वारा होता है, जिसमें विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कारणस्वरूप विद्यमान रहते हैं। रस-निष्पत्ति के संबंध में काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरत का कहना है कि विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[4]

अपने मानसजात अठारह शिष्यों में ब्रह्मा ने रसविषयक दीक्षा नन्दिकेश्वर

---

१. दधानः कलशे रसम्, ऋग्वेद ९।६३।१३

२. तैत्तिरीय उपनिषद् ११।७।१

३. छान्दोग्य उपनिषद् ४।१७

४. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। —नाट्यशास्त्र, अध्याय ६

को दी : 'रसाधिकारिकं नंदिकेश्वरः।' इस दृष्टि से नंदिकेश्वर रस-सम्प्रदाय के पहिले आचार्य ठहरते हैं। नंदिकेश्वर नाट्य, अभिनव, संगीत आदि के आचार्य होने के साथ-साथ कामशास्त्र के भी आचार्य हैं, और कामशास्त्र में शृंगाररस की प्रधानता होने तथा काव्यशास्त्र में भी शृंगार को 'रसराज' के रूप में स्वीकार किए जाने के कारण नन्दिकेश्वर 'रस' के भी आचार्य हैं।[1] फिर भी रस का पहिला विवेचन सबसे पहिले 'नाट्यशास्त्र' में ही देखने को मिलता है। वस्तुतः रस का स्वतंत्र शास्त्रीय विवेचन न तो भरत के पहिले हुआ है और न भरत ने ही किया है। रस का अर्थ भरत से पहिले साधारणतः शृंगार ही समझा जाता था।[2] नंदिकेश्वर का रसविषयक अभिमत इसी दृष्टिकोण पर आधारित है। भरत का अभिमत नंदिकेश्वर की अपेक्षा अधिक विचारपूर्ण और व्यवस्थित है; किन्तु भरत का दृष्टिकोण नाट्य का विवेचन करना था, रस का नहीं।

आचार्य भरत की रससंबंधी उक्त परिभाषा का खंडन-मंडन काव्यशास्त्र के अन्तिम विद्वान् पण्डितराज जगन्नाथ तक होता रहा है। भरत के रस-सिद्धान्त के पहिले विरोधी आचार्य भामह हुए। भामह ने अलङ्कार-सिद्धांत की स्थापना की। दण्डी, उद्भट और रुद्रट भी अलङ्कारवादी आचार्य हुए। वामन ने काव्य की आत्मा का स्वरूप रीति-सिद्धांत में सिद्ध किया। उद्भट ने भी यद्यपि अलङ्कार-सिद्धांत का ही अनुगमन किया; फिर भी उसकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म थी। उसने भरत और भामह का समान रूप से अनुकरण किया। रुद्रट ने रस को अलंकार की दासता से मुक्त कर रस की सर्वमान्य सत्ता का प्रतिपादन किया।[3] इसके बावजूद भी रुद्रट तक अलङ्कार और रीति की ही प्रधानता बनी रही। इन सारी विविधताओं और विषमताओं का समाधान आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर किया। अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का युक्तिपूर्वक खण्डन करके रस के महत्त्व को सर्वोपरि सिद्ध किया। आचार्य अभिनव उच्चकोटि के दार्शनिक भी थे। उन्होंने रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। महिम भट्ट ने अभिनव की मान्यताओं का खण्डन कर शंकुक के आधार पर रस की स्थिति को सामने रखा। भोज रस-सम्प्रदाय के प्रबल पक्षपाती थे और काव्यशास्त्र के अतलदर्शी प्रतिभा के आचार्यों (मम्मट और विश्वनाथ) ने रस-सम्प्रदाय के

---

१. नागेंद्रनाथ उपाध्याय का लेख 'नन्दिकेश्वर', त्रिपथगा, पृ० ७३-७९, जू० १९५७
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य का मर्म
३. रुद्रट : काव्यालंकार १५।२१

सिद्धांतों को अकाट्य रूप में प्रतिपादित किया। विश्वनाथ के रस-सिद्धांत का उग्र विरोध अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने किया। वे ध्वनि-समर्थक आचार्य थे।[1]

रससंप्रदाय की वैज्ञानिक व्याख्याएँ

रस-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों का बड़ा संघर्ष रहा है। रस-विषयक आचार्य भरत के पूर्वोक्त सूत्र पर अनेक प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ हुईं। भरत-सूत्र के प्रमुख चार व्याख्याकार आचार्य हुए, जिन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से काव्यशास्त्र में चार विभिन्न वादों की प्रतिष्ठा की।

आरोपवाद

भरत-सूत्र के पहिले व्याख्याकार लोल्लट भट्ट हुए। उनके मतानुसार रस के आस्वादन का वास्तविक आनन्द नायक-नायिका को होता है; सामाजिक जनों को नट-नटी के माध्यम से प्रतीतिजन्य आनन्दानुभूति होती है। लोल्लट भट्ट की रसानुभूति की शक्ति और सीमाओं को डॉ० नगेन्द्र ने इस प्रकार समझाया है :[2]

१. लोल्लट भट्ट ने रसास्वादन के मूल तत्व सहानुभूति की ओर सफल संकेत किया है तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस की स्थिति मानकर सौन्दर्य या रस को विषयगत माना है, और इस प्रकार काव्य-विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है।

२. उसने नट में भी रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार करते हुए यह माना है कि अभिनय के समय नट को तन्मय, रस-निमग्न होना ही पड़ेगा, अन्यथा अभिनय सफल नहीं हो सकता है।

३. वह इतना स्पष्ट नहीं कर पाया कि जिस प्रकार सामाजिक, नाटक को देखने से रसानुभव करता है और नट को अभिनय के समय रसानुभूति होती है, इसी प्रकार कवि या नाटककार काव्य या नाटक का निर्माण करते समय रस का पूर्णानंद प्राप्त करता है या नहीं।

४. लोल्लट ने सामाजिक के रसास्वादन को गौण स्थान दिया है।

---

१. विस्तार के लिए डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १६–३९
२. वही, पृ० ४१–४४

लोल्लट भट्ट के मतानुसार विभाव और रस में कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। विभावादि कारणों से ही रत्यादि कार्य भाव उत्पन्न होते हैं और अनुभावों के द्वारा प्रतीतिगम्य होकर वे अभिनेता के रसास्वादन के कारण बन जाते हैं।[1] फिर भी उसके विवेचन से विभावादि और रस की स्थिति की समाधानपूर्वक पूरी अनुभूति नहीं होती है।[2] लोल्लट का मत 'आरोपवाद' के नाम से प्रचलित है, जिसके अनुसार 'शकुन्तला' नाटक के अभिनयावसर पर दुष्यन्तेतर नट को भिन्न समझते हुए भी उस पर दुष्यन्त का आरोप कर सहृदय सामाजिक रसानुभव कर लेता है।[3]

अनुमितिवाद

लोल्लट भट्ट की स्थापनाएँ इतनी निर्बल और एकांगी थीं कि लगभग एक शतक बाद भरतसूत्र के दूसरे व्याख्याकार शंकुक ने उनका तीव्र विरोध किया। शंकुक ने लोल्लट के 'आरोपवाद' के विरोध में अपनी मान्यता दी कि रस उत्पन्न नहीं होता, अनुमित होता है। उसका मन्तव्य है कि किसी दूसरे को रसानुभव में देखकर प्रथम तो दर्शक को रस-प्रतीति होती ही नहीं, और यदि होती भी है तो यह आवश्यक नहीं कि वह अनुकूल ही हो, प्रतिकूल न हो। शंकुक के विचार से रस कार्य-स्वरूप नहीं है, वरन् दर्शक उसके अभिनय के द्वारा स्थायीभाव का अनुमान लगा लेता है। उसकी मान्यता है कि दुष्यन्तधारी नट पर आरोप द्वारा जो रसास्वादन का सिद्धान्त है, वह मिथ्या है, क्योंकि वास्तविक रस नट में न होकर दुष्यन्त में रहता है; किन्तु अनुमान द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है। यह अनुमान भी परिस्थिति के अनुसार सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य, चार प्रकार का होता है, जो सहृदय सामाजिकों द्वारा अनुमापक-अनुमाप्य-भाव या गम्य-गमक-भाव संबंध से अनुभव किया जाता है।

शंकुक का यह सिद्धान्त भी अवैज्ञानिक एवं लोकरुचियों के प्रतिकूल है। यदि हम यह मान भी लें कि अभिनेता के सुंदर अभिनय के कारण दर्शक, नायक की भावनाओं का अनुमान कर लें; तो भी वे भावनायें दर्शक की अपनी नहीं कही जायेंगी। इसलिए मुख्य प्रश्न अधूरा ही रह जाता है।

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २०-२१

२. डॉ० सुशीलकुमार दे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग २, पृ० १४९

३. अवन्तिका : काव्यालोचनांक, पृ० २० (१९५४)

रसानुभूति के संबंध में शंकुक ने एक नये युग को जन्म दिया है। उसके सिद्धान्तों की एकमेव विशेषता यही है कि उसने रस-सिद्धांत को वस्तुपरक स्थिति से उभार कर व्यक्तिपरक स्थिति में रख दिया है।[1] वस्तुतः लोल्लट और शंकुक के मत क्रमशः मीमांसा और न्याय की शैली के हैं[2]; किन्तु उनका संतोषजनक हल, उनके इन अधूरे सिद्धांतों में हमें नहीं मिलता है।

भुक्तिवाद

भरत की रस-विषयक परिभाषा के तीसरे व्याख्याकार भट्ट नायक हुए, जिन्होंने बड़े ही आधारित प्रमाणों को लेकर लोल्लट, शंकुक और ध्वनिकार की स्थापनाओं का खंडन कर यह सुझाया है कि रसानुभूति ज्ञान, उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति से भी परे की बात है। भट्ट नायक का कथन है कि बिना आलंबन के स्थायीभाव की आविर्भूति असंभव है और प्रेम के आलंबनस्वरूप शकुन्तलादि के प्रति सामाजिकों द्वारा रसानुभूति पापाचार की कोटि में गिनी जायगी। अतः निर्विकार, निर्लिप्त उस शब्दस्वरूप रस-तत्व को संकेत, भावना और योग के द्वारा अवगत किया जा सकता है। साधारणीकरण संबंध के द्वारा द्वैत-भावना विलुप्त हो जाती है और सामाजिक तद्गत् होकर रस-निमग्न हो जाता है।

भट्ट नायक के मतानुसार रस की स्थिति न तो नायक-नायिका में होती है और न नट-नटी में ही। वह तो सीधे सहृदय में होती है। उसने अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व, इन तीन शक्तियों के माध्यम से रस-सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। पहिली शक्ति से सामाजिक शब्दार्थ ग्रहण करता है; दूसरी शक्ति से वह अर्थ का भाव ग्रहण करता है। भावकत्व या रस-भावना के द्वारा साधारणीकरण होता है। अर्थात् भाव और विभाव किसी व्यक्ति-विशेष के न होकर सर्वसाधारण के हो जाते हैं और इस तरह नायक-नायिका या नट-नटी के स्थायी भाव या विभाव दर्शकों के अपने स्थायी भाव या विभाव हो जाते हैं। साधारणीकरण के द्वारा भाव, विशिष्ट स्थिति में न रहकर साधारण स्थिति में आ जाता है। तीसरी स्थिति भोजकत्व में विभावों के द्वारा रसानुभव होता है। इसलिए रस की अभिव्यक्ति नहीं, भुक्ति होती है, जिससे कि 'भुक्तिवाद' के नाम से भट्ट नायक का रस-विषयक सिद्धान्त प्रचलित हुआ।

---

१. डॉ० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ४६

२. डॉ० सुशीलकुमार दे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग, २, पृ० १५७

भट्टनायक के संबंध में डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि 'भट्टनायक संस्कृत के बड़े मेधावी आलोचकों में से हैं। उसके विवेचन से रस-शास्त्र अत्यन्त समृद्ध और संपन्न हुआ; इसमें सन्देह नहीं। उसने अभिनवगुप्त से पूर्व रस को विषयगत न मानकर, विषयीगत माना है। उसका साधारणीकरण का सिद्धान्त काव्यशास्त्र के लिये अमर वरदान सिद्ध हुआ, जिसके बिना रस की समस्या सुलझ ही नहीं सकती थी।[1] डाक्टर साहब ने बड़ी ही पांडित्यपूर्ण शैली में विस्तार से भट्टनायक के साधारणीकरण पर भी प्रकाश डाला है।[2]

अभिव्यक्तिवाद

लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के बाद भरतसूत्र के चौथे व्याख्याकार अभिनवगुप्त हुए। भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व नामक जो दो नई शक्तियों का आविर्भाव किया; किन्तु उनकी अनिवार्यता को वह समुचित रूप से नहीं बैठा सका। उसके मत की इस कमी को अभिनवगुप्त ने पूरा किया।

आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार रस की न तो उत्पत्ति होती है, न अनुमिति और न भुक्ति ही; उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है। उसका संबंध आत्मा से होता है; वह विषयगत न होकर विषयीगत होता है। अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के साधरणीकरण के सिद्धांत को अक्षरशः स्वीकार किया है। उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण में वासनारूप में अव्यक्त जो मनोविकार (स्थायीभाव) हैं, व्यञ्जना के अलौकिक विभावन-व्यापार द्वारा जब वे जाग्रत होते हैं, तब जो सुख-दुःखानुभूति होती है, वही रसाभिव्यक्ति या रस-निष्पत्ति है। इसी को भट्टनायक ने भावना का साधारणीकरण कहा है; किन्तु अभिनव गुप्त की दृष्टि से यह भावना का साधारणीकरण न होकर व्यञ्जना का साधारणीकरण है, और वही 'अभिव्यक्तिवाद' है।

अभिनवगुप्त के अनुसार शाश्वत सत्ताधारी आत्मा में सांसारिक अनुभव, पूर्वजन्म या अध्ययन आदि के कारण वासनारूप में विद्यमान रहते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी के कुशल प्रदर्शन से ये गुप्त रूप में आत्मस्थ वासनायें ही उद्‌बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हो जाती हैं।

अभिनवगुप्त विद्वान्, विचारक और आभासवादी वेदान्ती थे। वे भावकत्व और भोजकत्व की जगह व्यञ्जना और ध्वनि की सत्ता स्वीकार करते हैं।

---

१. डॉ० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ४७–४८ २. वही, पृ० ४८–५२

उनकी यह रस-विषयक परिभाषा संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में बड़ी मान्य समझी गई। मम्मट, भानुदत्त, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे परवर्ती उच्चकोटि के काव्यशास्त्रियों ने अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का पूर्ण समर्थन किया।

आचार्य मम्मट ने आचार्य भरत की परिभाषा को और अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित उसकी व्याख्या को स्वीकार करते हुए कहा है कि लोक-व्यवहार में जिन कारण, कार्य और सहकारी कारणों का हम अपने दैनिक जीवन में उपयोग करते हैं, काव्यशास्त्र की दृष्टि से जब हम उनका अध्ययन अथवा अनुभव करते हैं, तब ठीक वे ही कारण क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की संज्ञा प्राप्त करते हैं और उन भावों द्वारा जो स्थायी भाव अभिव्यक्त होता है, वही काव्यात्म-स्वरूप 'रस' है।

आचार्य विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं: 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' उनकी परिभाषा बहुत ही मार्मिक एवं पांडित्यपूर्ण है। उन्होंने अपनी उक्त परिभाषा द्वारा काव्यशास्त्र के सारे अस्तित्व को ही रस-सन्निविष्ट कर दिया और रस की प्रतिष्ठा को आनंद की उस पराकाष्ठा को पहुँचा दिया, जहाँ आनन्द और केवल अनन्त आनन्द की ही अनुभूति है।

पण्डितराज जगन्नाथ की रस-विषयक परिभाषा अभिनव गुप्त और मम्मट से थोड़ी भिन्नता लिए है, यद्यपि उनके प्रमुख सिद्धांत साधारणीकरण के अनुकूल हैं। श्रुतियों में विहित जिस रति-संयुक्त अनावृत चैतन्य को रस-स्वरूप माना गया है, पण्डितराज ने उसी आत्मादि को आलम्बनादि सांसारिक विषयों से युक्त माना है और उसमें समाधिजन्य सुख को गौण कहा है। पण्डितराज ने रति को गौण और चैतन्य को मुख्य माना है; किन्तु अभिनव और मम्मट ने रति की मुख्यता में चैतन्य को गौण रूप से स्वीकार किया है।

अलंकारसंप्रदाय

अलङ्कार-संप्रदाय काव्यशास्त्र का प्रमुख संप्रदाय है। काव्यशास्त्र का पहिला नाम अलङ्कारशास्त्र ही था। अलङ्कारशास्त्र के प्रतिपादक आचार्यों की दीर्घ परंपरा रही है, जिनके मतानुसार लक्षणग्रंथों में वर्णित काव्य, गुण, दोष, रस, शक्ति, अलङ्कार आदि सभी विषयों का समावेश अलङ्कारशास्त्र के अन्तर्गत हो जाता है।

'काव्यादर्श' की टीकाओं से विदित होता है कि काश्यप, ब्रह्मदत्त, वररुचि और नन्दिस्वामी प्रभृति प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कार-संप्रदाय पर विशेष प्रकाश डाला था; किन्तु उक्त आचार्यों की कोई भी कृति इस विषय की देखने को नहीं मिलती है। आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' से ही अलङ्कार-संप्रदाय का आरंभ मानना चाहिए; किन्तु उसमें उपमा, रूपक, दीपक और यमक, इन चार अलङ्कारों का ही वर्णन किया गया है।

अलङ्कार-संप्रदाय का सबसे पहिला ग्रंथ भामह का 'काव्यालङ्कार' है, जिसमें अलङ्कारों की वैज्ञानिक रूप से व्याख्या की गई है और उन्हें संपूर्ण काव्यशास्त्र का सर्वस्व माना गया है। आचार्य भामह के इस सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ से ऐसा प्रतीत होता है कि उससे पूर्व भी अलङ्कारों पर कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, जैसा कि उन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती मेधाविन् आदि अलङ्कारशास्त्रियों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। भामह ने 'काव्यालङ्कार' की रचना कर अलङ्कार-संप्रदाय की विच्छिन्न परम्परा को प्रथित ही नहीं किया, वरन्, भरत के नाट्यशास्त्र की चहारदीवारी से घिरी हुई अलङ्कारों की बन्दी आत्मा को मुक्त कर उसको स्वतन्त्र रूप से प्रशस्त होने का सुयोग भी दिया।

आचार्य भामह ने अपने इस ग्रन्थ में कतिपय ऐसी विशेषताओं को रखा, जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं दिखाई देती और परवर्ती आचार्य भी उस दिशा में प्रायः मौन ही दिखाई पड़ते हैं। शब्द और अर्थ में काव्य की चेतना को प्रतिपादित करना भामह की ही विलक्षण सूझ का काम था। भरत द्वारा प्रतिपादित दशविध गुणों का गुणत्रयी—ओज, माधुर्य और प्रसाद—में ही अन्तर्भाव करना तथा वक्रोक्ति अलंकार को अलंकार-परंपरा एवं काव्य का सर्वस्व समझना भामह की ही तत्वग्राहिणी बुद्धि का परिणाम था।

भामह ने अलंकृति को ही काव्य का सर्वस्व माना है। उन्होंने रस और भाव का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार न कर उनका अन्तर्भाव अलंकारों के ही अन्तर्गत माना है। भामह ने अपने ग्रन्थ में ३८ अलंकारों का प्रतिपादन किया है। भामह के सिद्धान्तों और चिन्तनाओं को उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त और मम्मट जैसे ख्यातनामा काव्यशास्त्रियों ने संमान के साथ अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है।

भामह के बाद अलंकार-संप्रदाय के उन्नायक आचार्य दण्डी हुए। इनका 'काव्यादर्श' पण्डित-मंडली का अत्यधिक प्रिय ग्रन्थ रहा है। इसके द्वितीय-तृतीय परिच्छेद में अलंकारों का और विशेषतः अर्थालंकारों में उपमा

का तथा शब्दालंकारों में यमक का जैसा शास्त्रीय और सारगर्भित विवेचन किया गया है, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। अलंकार-संप्रदाय की प्रतिष्ठा करनेवाले आचार्यों में इनका शीर्षस्थान है। इनकी असामान्य प्रतिभा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इनके 'काव्यादर्श' पर तरुण वाचस्पति की, (एक अज्ञातनामा लेखक) की 'हृदयंगमा टीका', और पंडित नरसिंहदेव शास्त्री की 'कुसुमप्रतिभा' आदि सुप्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गईं।

दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा स्वीकार किया है, जैसा कि अभिनवगुप्त आदि परवर्ती आचार्यों ने माना है। भामह की अपेक्षा दण्डी का दृष्टिकोण अधिक उदार दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने अलंकारों के साथ-साथ गुण और रीति का भी प्रतिपादन किया है।[1] यथार्थ में दण्डी ने अलंकारों की अपेक्षा रीति के विवेचन में अधिक उत्सुकता प्रकट की है।[2] यद्यपि भामह का प्रभाव दण्डी की प्रवृत्तियों पर लक्षित होता है; फिर भी अपनी सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने स्वतन्त्र रूप से मौलिक विचारों की रचना की।[3]

दण्डी के बाद अलंकार-संप्रदाय के तीसरे आचार्य उद्भट हुए। उनके ग्रन्थ का नाम 'अलंकार-सार-संग्रह' है। भामह के 'काव्यालंकार' पर उन्होंने एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या 'भामह-विवरण' नाम से लिखी। अपने ग्रंथों में उद्भट ने यद्यपि भामह के सिद्धान्तों को ही विस्तार से प्रतिपादित किया; किन्तु उसकी सूक्ष्म सूझ और अपने दृष्टिकोणों को रखने की प्रणाली इतनी सुलझी हुई थी कि भामह तक की प्रतिभा को उसने एक प्रकार से पराभूत कर दिया। और यही कारण था कि उसके उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों का ध्यान भामह की कृति की अपेक्षा उद्भट की कृतियों पर ही केन्द्रित हुआ। उसके हाथों से अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन इस कदर हुआ कि उनकी संख्या ५० तक पहुँच गई। अलंकारों के क्षेत्र में उसके वैज्ञानिक वर्गीकरण की पद्धति बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई।[4]

आचार्य वामन ने अलंकारों की महत्ता पर विशेष बल दिया। उन्होंने

---

१. डॉ० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८४

२. पी० वी० काणे : साहित्यदर्पण, इण्ट्रोडक्शन, पृ० २१

३. भामह और दण्डी के तुलनात्मक अध्ययन के लिए-पी० वी० काणे : साहित्य-दर्पण की भूमिका

४. पी० वी० काणे : साहित्यदर्पण, इण्ट्रोडक्शन तथा डॉ० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८५

अलंकारों को न केवल काव्य के बाह्य सौंदर्य का साधनमात्र बताया, वरन्, उनको काव्य के अन्तर्भूत-सौन्दर्य का भी कारण बताया।[1] अलंकारों के इस युग में काव्यानुभूति और काव्याभिव्यंजन के लिए अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा। अलंकारों का महत्त्व यहाँ तक बढ़ा कि रस, ध्वनि, गुण, दोष, रीति आदि सभी विषयों का समन्वय अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत किया जाने लगा।[2]

भामह से लेकर रुद्रट तक अलङ्कार-संप्रदाय का स्वर्ण-युग रहा है। आचार्य रुद्रट के समय तक अलङ्कारों की संख्या ७० तक पहुँच चुकी थी। राजानक मम्मट अलङ्कार-संप्रदाय के प्रख्यात विद्वान् हुए। उनका ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों में–से है। इस एक ही ग्रंथ में भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, भोजराज और महिम भट्ट प्रभृति सभी पूर्ववर्ती दिग्गज विद्वानों के अशेष पाण्डित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है। व्यञ्जना, रस और विशेषतः ध्वनि के प्रतिपादन में तो काव्यशास्त्र के आचार्यों का यह ग्रंथ निर्देशक रहा है।

अलङ्कार-संप्रदाय की आचार्य-परम्परा में प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, भोज, राजशेखर, जयदेव, पण्डितराज और अप्पय दीक्षित का नाम उल्लेखनीय है।

रीतिसंप्रदाय

सुन्दर अभिव्यक्ति के विधान, ढङ्ग या आकर्षक प्रतिपादनशैली को ही रीति कहते हैं। काव्यशास्त्र के प्राचीनतम आचार्य भामह ने रीति-संप्रदाय और उनके बाद आचार्य दण्डी ने भी रीति के दो मार्गों का निर्देश किया है। गद्यकार बाण ने भी 'गौड़जनों को शब्दाडम्बर के लिए कुख्यात' बताकर रीति-संप्रदाय के पूर्वाभास का संकेत किया है। कुछ विद्वानों ने बाण भट्ट को भामह से पहिले रखकर बाण से रीति-संप्रदाय का आरम्भ बताया है[3]; किन्तु बाण तो भामह के बाद हुए थे।

आचार्य वामन रीति-संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण किया है: 'रीतिरात्मा काव्यस्य'; और विशिष्ट पदरचना को उन्होंने रीति माना है: 'विशिष्टपदरचना रीतिः'। एवं

१. कुमारस्वामी: प्रतापरुद्रीय-टीका, रत्नापंण, पृ० ३

२. वामन: काव्यालंकारसूत्र, १।१।२

३. एस० के० दे: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग २, पृ० ९४

रीति का अपरिहार्य धर्म गुणों में स्वीकार किया है : 'विशेषो गुणात्मा'।[1] इस प्रकार रीति-संप्रदाय में गुणों का विशेष महत्त्व लक्षित होता है।

यद्यपि 'अग्निपुराण' में 'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णाति असौ गुणः' कहकर गुण को काव्यातिशोभाकर धर्म बताया गया है और भामह, उद्भट आदि ने भी गुण की सत्ता को इसी प्रकार स्वीकार किया है, तथापि उन्होंने गुण और अलंकारों में कोई मौलिक अंतर स्पष्ट नहीं किया है; क्योंकि आचार्य दण्डी ने भी गुण-विषयक उक्त परिभाषा को ज्यों-का-त्यों अलंकारों में घटित किया है। यद्यपि गुणों का विवेचन रीति के मूल तत्त्व के रूप में दण्डी ने भी स्वीकार किया है; और उससे भी पूर्व भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी दशविध गुणों की सम्यक् व्याख्या की गई है; तथापि रस और अलंकारों की भाँति रीति की परंपरा को एक मुख्य सिद्धान्त के रूप में वामन ने ही प्रतिपादित किया है। गुण और अलंकारों के मौलिक अंतर को स्पष्ट करने में आचार्य वामन ही पूरे सक्षम हुए। उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि केवल अलंकार काव्य के शोभावर्धक नहीं हो सकते। उनकी स्थापना है कि काव्य की शोभा को उत्पन्न करनेवाले धर्म गुण हैं और उनकी वृद्धि के कारण अलंकार।[2]

भामह ने अभिव्यक्ति के जिन दो मार्गों (रीतियों) का प्रतिपादन किया वे थे वैदर्भ-मार्ग और गौडीय मार्ग; किन्तु काव्य के लिए इन दो मार्गों को आवश्यक तो उन्होंने बताया, पर अनिवार्य नहीं। वामन ही एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने रीति-संप्रदाय की स्वतन्त्र सत्ता को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने एक तीसरी रीति पांचाली का निर्माण किया। वैदर्भी में उन्होंने स्व-प्रतिपादित दशविध गुणों का अन्तर्भाव माना, गौडी को ओज एवं कांति-गुणविशिष्ट और पांचाली को माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों का समन्वय बताया। वामन का गुण-विवेचन भरत और दण्डी से भिन्न है।[3]

वामन के उपरांत रुद्रट, कुंतक, भोज, वाग्भट, मम्मट, जगन्नाथ एवं राजशेखर प्रभृति आचार्यों ने काव्यशास्त्र की दिशा में इस नये सिद्धान्त को स्थापित करने में उत्सुकता से भाग लिया, जिसके कारण काव्य के अंगों को

१. वामन : काव्यालंकारसूत्र, १।२।६-८

२. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

—काव्यालङ्कारसूत्र ३।२।१-२

३. डॉ० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १०१

एक सूत्र में बाँधने और काव्य की बारीकियों की गवेषणा करने की ओर अनेक दिग्गज काव्यशास्त्री प्रवृत्त हुए।[1]

आचार्य रुद्रट ने 'अग्निपुराण' की स्थापनाओं के अनुसार वैदर्भी, गौडी, पांचाली के अतिरिक्त चौथी रीति लाटी की भी स्थापना की। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की दृष्टि काव्य के भावात्मक स्वरूप की ओर थी, इसलिए उन्होंने गुण और अलंकार से रीति का पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। कुंतक ने रीति-विभाजन के देशगत आधार को ही अवैज्ञानिक ठहराया। उन्होंने कवि-कर्म के ढंग के रूप में केवल एक ही रीति की आवश्यकता को यथेष्ट बताया। भोज ने मागधी और आवंती नामक दो रीतियों की उद्भावना कर उनकी संख्या छह तक बढ़ा दी; किन्तु उन्होंने रीतियों की जो रूपरेखा तैयार की वह आधारित नहीं थी।

भोज के उपरांत रीति-संप्रदाय की आधारभूमि कुछ हिलती हुई प्रतीत होती है। उद्भट और मम्मट ने स्वतन्त्र रूप से तीन वृत्तियों (उपनागरिका, परुषा और कोमला) की कल्पना की है और उन्हीं में तीन रीतियों का अन्तर्भाव स्वीकार किया है। उनके मतानुसार उपनागरिका में माधुर्य-गुण-विशिष्ट व्यंजनों, परुषा में ओज-गुण-विशिष्ट व्यंजनों और कोमला में शेष व्यंजनों का योग समुचित है। आचार्य मम्मट ने वामन के रीति-संप्रदाय का भरपूर खंडन भी किया और रीतियों की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी इस बात का घोर विरोध किया कि काव्यशास्त्र में जीवनाधार होने की जो महती क्षमता है, वह रीति जैसे एकांगी सम्प्रदाय की सामर्थ्य से सर्वथा बाहर की बात है। यही कारण है कि मम्मट के बाद पंडितराज ने पुनः काव्य के कलापक्ष को प्रकाश में लाने की चेष्टा भी की; किन्तु वे भी सफल न हो सके और रीति-संप्रदाय का अस्तित्व उसके निर्माताओं के साथ ही लुप्त हो गया।

वक्रोक्तिसंप्रदाय

आचार्य भामह ने पहिले-पहिल जिस वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया है उससे उनका अभिप्राय केवल वचनों की अलंकृति मात्र से था। उसको उन्होंने लोकोत्तर चमत्कारक वर्णन के अर्थ में, अर्थात् अतिशयोक्ति के अर्थ

१. एस० के० दे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स २, पृ० ९६

में ही प्रयुक्त किया और अलंकारों का आश्रय माना। आचार्य दण्डी ने भी भामह का ही समर्थन किया। सारांश यह कि भामह और दण्डी ने कथन की उस विचित्र एवं असाधारण शैली को वक्रोक्ति की संज्ञा दी है, जो साधारण इतिवृत्त शैली से भिन्न होती है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और वामनाचार्य ने भी इस सम्बन्ध में कोई नई बात नहीं कही, उस पर अपनी संमति मात्र दे दी। आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति की व्यापकता पर अवश्य कुछ प्रकाश डाला; किन्तु अन्त में उन्होंने भी इसको शब्द का अलंकार मात्र ही सिद्ध किया।

वक्रोक्तिवाद के एक मात्र प्रवर्तक और व्याख्याता आचार्य कुंतक हुए। उनका 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रंथ इस संप्रदाय का एकमेव विद्वत्तापूर्ण बृहद् ग्रन्थ है। कुंतक ने भामह और दण्डी के विरुद्ध वक्रोक्ति को इतिवृत्तात्मक शब्द और अर्थ के उपनिबन्ध में प्रयुक्त किया है। कुन्तक की वक्रता एक विचित्र या असाधारण उक्ति में ही सीमित न रह कर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-रचना तक विस्तारित है।[1] उन्होंने वक्रोक्ति की व्यापकता पर सूक्ष्म विचार किया है। उन्होंने रस और ध्वनि तक के समस्त व्यापारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत घटित होने वाले व्यापार बताये।

डॉ० नगेन्द्र ने इटली के सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद से कुन्तक के वक्रोक्तिवाद की तुलना करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस अभिमत को कि 'अभिव्यञ्जनावाद, वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान था' स्वीकार नहीं किया है। डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल की बात को साधारण अर्थवाद के रूप में स्वीकार कर यह स्पष्ट किया है कि क्रोचे को कुन्तक का ऋणी मानना सर्वथा हास्यास्पद होगा। उन्होंने इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों का संक्षेप में तुलनात्मक विवेचन कर दोनों के महत्व को बारीकी से अलग किया है।[2]

फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि कुन्तक का वक्रोक्तिवाद, क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद का अतिक्रमण कर काव्य की आत्मा तक पहुँचता है। 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' की उद्घोषणा ध्वनिकार आनन्दवर्धन को भी पीछे छोड़ जाती है, क्योंकि ध्वनि केवल व्यंग्यार्थप्रधान है, जब कि वक्रोक्ति के अन्तर्गत वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

कुन्तक ने 'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते' में जिस 'भंगीभणिति' शब्द का प्रयोग किया है, उसमें मन, बुद्धि और चित्त, तीनों को रमा

---

१. डॉ० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ११५   २. वही, पृ० ११८-१२३

देने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। उसमें वाग्वैचित्र्य के साथ-साथ रस-वैचित्र्य भी सन्निहित है। भंगी-भणिति का तात्पर्य था भाषा का वक्र, अर्थात् रमणीय प्रयोग; दूसरे सब्दों में उक्ति-चारुत्व। वैदग्ध्य स्वाभाविक कवि-प्रतिभा-जन्य होता है। इसलिए वक्रोक्ति का प्रयोग भी कवि-प्रतिभा-जन्य हुआ।[1] कुन्तक की वक्रोक्ति को यदि रस और ध्वनि का समन्वयात्मक स्वरूप कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। रुद्रट की वक्रोक्ति जहाँ काव्य-कला के बाह्य आवरण को समलंकृत करती है, कुन्तक की वक्रोक्ति वहाँ काव्य के आभ्यंतरिक भाव अथवा रस से संबद्ध है।

यद्यपि कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद की विरासत भामह से प्राप्त की, तथापि दोनों की स्थापनाओं में मौलिक अंतर है। भामह ने काव्य की कलागत बाह्य-सज्जा के लिए वक्रोक्ति को अपनाया है; किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति में शरीर और आत्मा दोनों को सुसज्जित कर देने का अपूर्व कौशल विद्यमान है। उसमें बुद्धि एवं चित्त को अभिभूत कर देने की क्षमता तो है ही, साथ ही मन की रागमयी वृत्तियों को सम्मोहित कर देने की क्षमता भी निहित है।

काव्यशास्त्र के आचार्यों के रीतिविषयक विचारों की समीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि सुबंधु, बाण और कविराज ने अपने को वक्रोक्तिमार्गनिपुण बताया है[2]; किन्तु उनका दृष्टिकोण रीति की स्वतन्त्र सत्ता के लिए उदासीन दिखाई देता है। इसी प्रकार भामह ने अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति कहा है।[3] और दण्डी ने स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति नाम से वाङ्मय के दो भेद करके[4] क्रमशः उनकी परिभाषाएँ दी हैं।[5] वामन[6], आनन्दवर्धन,[7] अभिनवगुप्त[8], भोज[9] और रुय्यक[10] आदि अनेक आचार्यों ने वक्रोक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है; फिर भी कुन्तक के दृष्टिकोण के समक्ष ये सभी दृष्टिकोण बहुत ही अधूरे एवं बहुत ही हलके प्रतीत होते हैं।

यद्यपि उनका 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' ग्रन्थ उनकी मौलिक सूझ-बूझ का परिचय देता है और निश्चित ही उनका यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है;[11] फिर भी

---

१. वही, पृ० ११५
२. राघवपाण्डवीय १।१४१
३. काव्यालंकार १।६; २।८१; २।८४; २।८५
४. काव्यादर्श २।३६२
५. वही २।८; २।१३
६. काव्यालंकारसूत्र ४।३८
७. ध्वन्यालोक ३।१६
८. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २०९
९. शृङ्गारप्रकाश ८।६; सरस्वतीकण्ठाभरण ५।८
१०. अलंकारसर्वस्व, पृ० १७७
११. पी० वी०, काणे : साहित्यदर्पण, इंट्रोडक्शन, पृ० एल ३५

उनका वक्रोक्तिवाद काव्यशास्त्र की एक शाखा मात्र है। एक स्वतन्त्र सिद्धान्त को प्रतिपादित करने की क्षमता का उसमें अभाव ही समझना चाहिए।[1] इसका परिणाम हमारे सामने है, क्योंकि उनका वक्रोक्तिवाद केवल उन्हीं तक सीमित रहा; परवर्ती आचार्यों द्वारा उसका कोई भी पोषण नहीं हुआ। रुय्यक, समुद्रबंध, और विश्वनाथ प्रभृति परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक का खंडन ही किया और जिस ध्वनि-सिद्धान्त को विफल बनाने के लिए कुन्तक ने अथक यत्न किया था, उसके उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों पर उसकी स्थापनाओं तथा उसके विचारों का विपरीत ही प्रभाव पड़ा।

ध्वनिसंप्रदाय

'ध्वन्यालोक' का अज्ञातनामा कारिकाकार, जिसको कि उसके कर्तृत्वाभिधान ध्वनिकार के नाम से पुकारा जाता है, और जिसका वृत्तिकार आनन्दवर्धनाचार्य है, ये दोनों काव्यशास्त्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इस आचार्यद्वय ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में जिन नये अनुसंधानकार्यों एवं नई विचार-वीथियों का सूत्रपात किया, वही 'ध्वनि-संप्रदाय' के नाम से प्रचलित हुआ। काव्यशास्त्र की व्यापकता और दुर्गमता को बोधगम्य बनाने के हेतु रस, अलंकार और रीति आदि जिन नये वादों-विचारों का निर्माण हुआ, 'ध्वनि-संप्रदाय' उनमें अतिसूक्ष्म वैज्ञानिक प्रणाली का प्रभावशाली मत था।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः' अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है[2], से विदित होता है कि ध्वनिविषयक चिंतन 'ध्वन्यालोक' का निर्माण होने से पहिले भी हो चुका था; किन्तु 'विनापि विशिष्टपुस्तकेषु' से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य ने गंभीरतापूर्वक उस पर स्वतन्त्र विवेचन ग्रंथरूप में उपस्थित नहीं किया। आचार्य भरत के रस-सिद्धान्त से ध्वनिकारों ने अवश्य प्रेरणा प्राप्त की है; किन्तु उस पर सर्वथा आश्रित होकर नहीं। रससंप्रदाय की मान्यता के संबंध में 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' टीका के लेखक अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', इस कारिका की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि 'तेन रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनि-

---

१. वही, पृ० सी० एल० ५ तथा एस० के० दे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २३९ की टिप्पणी

२. ध्वन्यालोक १।१

स्तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते' अर्थात् ध्वनि के त्रिविध प्रकार (वस्तु, अलंकार और रस) रस में ही पर्यवसित हो जाते हैं। इसलिए काव्य की वास्तविक आत्मा रस ही है, किन्तु वह सर्वथा ध्वनिसंपृक्त है।

'ध्वन्यालोक' से काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक नये युग का प्रवर्तन होता है; ऐसे शक्तिशाली युग का कि जिसके अस्तित्व को माननेवाले आचार्यों की एक लंबी परंपरा है। ध्वनि-सिद्धांत एक ऐसा अद्भुत सिद्धांत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उदित हुआ, जिसके कारण दूसरे सभी सिद्धान्त निस्तेज हो गए। 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' टीका के लेखक आचार्य अभिनवगुप्त का काव्यशास्त्र में वही स्थान है, जो व्याकरणशास्त्र में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के व्याख्याकार या भाष्यकार पतञ्जलि का।

ध्वनि-सिद्धांत वैयाकरणों के स्फोटवाद से प्रभावित है। स्फोटवाद के शब्द-साम्य और व्यापारसाम्य के आधार पर ध्वनिकार ने अपने इस वैज्ञानिक विचार पर आधारित सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की।[1] ध्वनिसिद्धांत की सारी आधारभित्ति व्यंजनाशक्ति पर टिकी है। ध्वनिवादियों का यह आधार इतना जमा हुआ और ठोस था कि भट्टनायक और महिम भट्ट जैसे आलोचक यत्न करने पर भी उसकी नींव का एक भी पत्थर हिला-डुला देने में सर्वथा निरुपाय रहे।

ध्वनिवादियों का अभिमत है कि रसानुभूति और भावानुभूति न तो शब्दोच्चारण मात्र से ही सम्भव है और न वाच्यार्थ ही उसका स्पष्टीकरण कर सकता है। अतः अभिधा और लक्षणा से पृथक् व्यंग्यार्थ-प्रतिपादिनी शक्ति व्यञ्जना द्वारा ही रस और भाव की सूक्ष्म आभ्यन्तरिक चेतना से साक्षात्कार किया जा सकता है, ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादन में जिसका प्रमुख स्थान है। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ द्वारा हम बाह्याकृतियों का पता भर लगा सकते हैं। आभ्यन्तरिक चेतना, जिसकी तिरोभूति रस-तत्त्व में है, उसकी गवेषणा या परिचिति अन्तश्चक्षु द्वारा ही हो सकती है, जिसके रहस्य को व्यञ्जना शक्ति ही स्पष्ट करने में सक्षम हो सकती है। रस-सिद्धांत के प्रतिपादन में सांख्यकार भट्ट नायक ने जिस 'भुक्तिवाद' का उल्लेख किया है, उसके द्वारा भी व्यञ्जना को बोधगम्य किया जा सकता है।

---

१. डॉ० नगेंद्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १२७

भट्टनायक, कुन्तक और महिम भट्ट प्रभृति ध्वनिविरोधियों के प्रबल प्रहारों के बाद भी ध्वनिवाद के अस्तित्व को उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने सम्मान के साथ ग्रहण किया। आचार्य मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त का समर्थन ही नहीं किया, वरन्, ध्वनि-विरोधियों का भी प्रबल खण्डन किया। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के मतानुसार वाच्यार्थ की अपेक्षा, अत्यधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य ही प्रकारान्तर से ध्वनि है। कविराज विश्वनाथ के बाद पण्डित-राज जगन्नाथ ने ध्वनि-सिद्धान्त की व्यापक व्याख्या की; और फलतः ध्वनि-सिद्धान्त का यह प्रभाव इतना बढ़ा कि उसके भेदोपभेदों का सूक्ष्माति-सूक्ष्म वैज्ञानिक वर्गीकरण १०,४,५५ संख्या तक पहुँचा।

निष्कर्ष

काव्यशास्त्र के उक्त संप्रदाय यद्यपि उखड़ते-जमते गए और यद्यपि आज उनमें से कुछ की ही सत्ता स्वीकार की जाती है, तथापि काव्यशास्त्र के सर्वांगीण ऐतिहासिक निर्माण एवं विकास के लिए उन सब का एक जैसा स्थान और उनकी एक जैसी मान्यता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों का यह चिर-चिंतन इस बात का प्रमाण है कि उनकी स्वतंत्र विवेचनाशक्ति बड़ी ही प्रखर और विचार की विधाएँ सर्वथा मौलिक थीं।

अनुक्रमणिका

(ग्रन्थ और ग्रन्थकार)

अ

इ

घ

च

ध

प

फ

ब

भ

श